5·5V

5424

श्री

आदरणीय पंडित श्री कैलाशचंद्र जी शास्त्री
को
सादर भेंट

२०-३-८३

भगवान श्री ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) की महान् श्रमण योग परम्परा में

योगानुशीलन

प्रथम व द्वितीय भाग

(EXPLORING THE PINNACLES OF YOGA)

लेखक

कैलाश चन्द्र बाढ़दार एम. ए., एल. एल. बी.

5424

प्रस्तावना

डा० दामोदर शास्त्री

अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग,

श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

प्रकाशक

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र

श्री महावीरजी

प्राप्ति स्थान—

मन्त्री कार्यालय
प्रबन्ध कारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी
सवाई मानसिंह हाइवे
जयपुर ३०२००३

मैनेजर कार्यालय
दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावोर जी
श्रीमहावीरजी
(राजस्थान)
३२२२२०

प्रथम संस्करण १९८२ प्रतियाँ १०००

मूल्य—७५. ०० रुपये

मुद्रक—

मनोज प्रिन्टर्स, जयपुर
७६९, गोदीकों का रास्ता
किशनपोल बाजार
जयपुर–302003

ॐ

सादर समर्पण

प्रातः स्मरणीय विश्वबन्द्य अखिल योगी जनों के आराध्य
परम गुरु योगीन्द्र प्रभु ऋषभ नाथ-हिरणयर्भ
के
पावन पाद-पद्मों में
जो
अपनी अमल आभा से हमें साधना यात्रा में ध्रुव नक्षत्र हैं
एवं
अजस्र, अमित आनन्द और प्रकाश को प्रवाहित करते हैं
यह भावपूजा पुष्प सादर समर्पित

—उमारानी, कैलाश चन्द बाढ़बार

प्रकाशकीय

"योगानुशीलन" को प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में देते हुए हमें प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। यह ग्रन्थ दो भागों में निबद्ध हुआ है, जिसमें प्रथम भाग ६ तथा द्वितीय भाग में ७ इस प्रकार कुल १३ अध्याय हैं।

यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला का २४वां पुष्प है। इससे पूर्व २३ ग्रन्थों का प्रकाशन प्रबन्धकारिणी कमेटी दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थों की सूची ग्रन्थ के पिछले पृष्ठ पर प्रकाशित है। इन प्रकाशनों का जैन साहित्यकारों ने स्वागत किया है। इन प्रकाशनों से जैन साहित्य के शोधकर्त्ताओं को विशेष लाभ हुवा है तथा जैन साहित्य की विशालता एवं समग्रता का परिचय भी हुआ है। साहित्य की धारा लोक जीवन को सदा से अनुप्राणित करती आई है। हर युग का मोड़ नव सृजन की मांग करता है। साहित्य का नव नव वेष में सृजन होता रहना समाज की सक्रिय जीवन्तता का प्रमाण है।

वर्तमान युग में जहां विज्ञान ने भौतिक समृद्धि के नये द्वार खोले हैं वहां मानसिक तनाव व आकुलता को भी अनजाने ही नवजीवन दे डाला है। भौतिक सुखों से उत्पन्न मानसिक अशान्ति के निराकरण हेतु पाश्चात्य अति विकसित कहे जाने वाले देश भी भारतीय संतों की योग और ध्यान की शिक्षा के लिये लालायित हो रहें हैं। भौतिक सम्पन्नता ओर औद्योगिक प्राविधिकी कल-पुर्जे की भांति मानव का अवमूल्यन होने पर योग–विद्या के लिये यह अभूतपूर्व प्यास अप्रत्यासित नहीं है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश में भी योग विद्या के लिये नई चेतना जागी है। इस युग प्रवाह में जैन योग-साहित्य का क्या योगदान है? जैन विद्या में योग व ध्यान विशिष्ट और प्रमुख अंग है। वस्तुतः जैन धर्म योग धर्म ही है। भगवान महावीर के निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् से धीरे–धीरे ध्यान की पद्धति लोप हो गई और केवल मात्र शरीर को कष्ट देना ही धर्म समझा जाने लगा। लोग जैन अध्यात्म विज्ञान का मात्र व्रत उपवास से ही समीकरण करने लगे। यह आम भ्रांति व्याप्त हो गई कि जैन धर्म में योग विज्ञान जैसा कुछ नहीं है। जबकि सत्य यह है कि जैन धर्म पूर्णतः अन्तरंग महायोग है। इसका उत्स योगशासन के रूप में सर्व प्रथम विश्व में हुवा। मूलतः यही इसके धर्म

शासन की चतुः सीमा को भी रेखांकित करता है। यहां योग विज्ञान मात्र आसन या प्रणायाम नहीं है अपितु यह वह विज्ञान है जिससे आत्मा अनुशासित होती है, परम सिद्ध होती है।

इस आशामय दृष्टिकोण को संस्थापित किया है सर्वज्ञ अर्हन्त प्रमुखों ने। उन्होंने सद्दृष्टि के साथ बन्धन मुक्ति और परमानन्द लाभ के लिए पद्धति और क्रम भी दिये है। जैन योग साधना पद्धति की अपनी विशेषता है। इसमें एकान्तिकता नहीं है। अपितु श्रद्धा, ज्ञान व सदाचार का पूर्ण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कोरे ज्ञान को या कर्मकाण्ड को इसमे स्थान नहीं है। जैन साधक को मुक्ति के लिये किसी अन्य की शरण में नहीं जाना पड़ता। स्वयं ही स्वयं की शुद्धिकर परमात्म पद प्राप्त करना होता है। "अयमात्मा स्वयं साक्षात् परमात्मेति निश्चय." (ज्ञानार्णवः)। बुद्धि विचार और भाव ही मानव के बन्धन के निमित्त रहे हैं। पर दिशा बदलने पर ये ही शुद्ध सम्यक् जीवन जीने के लिये व मुक्ति की खोज के लिए उत्कृष्ट तत्वरूप में निमित्त बनते है! मोक्षोपाय और योग एकार्थक है। चेतन आत्मा को अचेतन कर्म-पुद्गल के कालिमा मय वातावरण से मुक्त करने के प्रयोजन में योग शासन व्याख्यात हुआ है।

जैन अध्यात्म में योग का क्या महत्त्व है, क्या विस्तार है, क्या लक्षण व परिभाषाएं है? इसकी प्राचीनता और प्रमाणिकता के क्या आधार है, क्या प्रमाण है? इसकी विश्व को क्या देन है, इसके तत्त्वों की आज के आलोक में क्या संगति है? इन सबको विद्वान लेखक ने प्ररूपित किया है। लेखक ने बहुत से ज्ञात अज्ञात प्रमेयों को देकर नाना प्रकार की व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने का भी सफल प्रयत्न किया है।

सब धर्मों के मूलतः आदि संस्थापक पूर्ण पुरुष हिरण्य गर्भ ऋषभप्रभु रहें हैं। इस स्थापना में योग के प्रथम प्रवक्ता के द्वारा जाति और धर्मों की एकता समन्वय और समादर की दृष्टि लेखक ने दी है जो अनेक संस्कृति व धर्म बहुल भारत में भावनात्मक एकता के लिए उतनी ही उपयोगी है जितनी इस सर्वज्ञ योग विज्ञान की अनेकान्त दृष्टि। इस परिप्रेक्ष्य में जैन विद्या के विशिष्ट योग विज्ञान को प्रतिपादित करने वाली यह रचना बहुमूल्य है। अन्तरंग योग अध्यात्म संस्कृति के प्रांजल गौरव गरिमा स्वरूप को प्रकट करने के लिए पर्याप्त भी है।

स्वर्णकार कंठहार बनाने हेतु कच्चा माल बाजार से ही उपलब्ध करता है परन्तु उसका सौष्ठव बनावट, आकार घड़त, जड़ाई आदि तो उस शिलपकार की अपनी विशिष्ट कला को लेकर प्रगट होती है। श्रीबाढ़दार जी की रचना में अपना ही वैशिष्ठ्य है। कथ्य का चुनाव, भाषा वर्णन की शैली इन सब में उनकी मौलिकता की छाप है। इसके साथ ही उनके अभ्यास अनुभव इस रचना की उपादेयता की वृद्धि ही करते है। लेखक ने हमारे प्राक्काल के पृष्ठों में झांका है जो अति सृजनशील व गौरव गाथामय रहे हैं। जिन साक्षियों तर्कों तथा उद्धरणों को लेखक ने प्रस्तुत किया है वे उस प्रागैतिहास पर नई दृष्टि व नये निष्कर्ष को आमन्त्रित करती है। पाठक इन्हें सद्अभिप्राय सहित निरस्त आग्रह होकर मनन करें।

देश में आज नैतिक अवमूल्यन हो रहा है। इनके पुनर्स्थापन हेतु जन चेतना जागे यह बहुत आवश्यक हो गया है । इस वातावरण को प्रभावित करने में सद् साहित्य का भी योग होता है । इसके लिए आवश्यक है कि हम प्राचीन आदर्शजन व आदर्शों को निष्ठा व आस्था से प्रतिष्ठापित करें तथा अर्हंतों तीर्थंकरों ने शाश्वत जीवन रहस्यों तथा मूल्यों का जो योग विद्या के रूप में प्रतिपादित किया है उनका जीवन्त रूप में निर्वाह करें।

हम श्री कैलाशचन्द्र जी बाढ़दार का धन्यवाद ज्ञापन करते है जिन्होंने अपनी रचना को हमें प्रकाशितकरने का सुयोगप्रदान किया है। "योगानुशीलन" युवा वर्ग व वृद्धजन सबके लिए पठनीय व मननीय है। यह विश्वविद्यालयों के लिये भी संग्रहणीय । आशा है सर्वत्र सभी समुदायों में इसका समुचित स्वागत व सत्कार होगा ।

क्षुल्लक-रत्न श्री सिद्ध सागरजी महाराज मौजमाबाद के भी हम अत्यन्त आभारी है जिनने हमें आशीर्वाद से गौरान्वन्वित किया है। ब्र० कुमारी कौशलजी ने अपने प्रवास काल में ग्रन्थ का अवलोकन कर उत्साहवर्धक सम्मति प्रदान कर हमें कर्त्तार्थ किया है। हमारे क्षेत्र के वयोवृद्ध विद्वान प० मूलचन्द जी शास्त्री के ग्रन्थ के सम्वन्ध में लिखे गये अभिमत के लिए हम उनके भी आभारी है । श्री ज्ञानचन्द जी बिल्टीवाले को भी हम धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिनके इस ग्रन्थ के प्रकाशन में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

योगानुशीलन की प्रस्तावना लिखने हेतु हमने लाल बहाबुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के प्राध्यापक एवं जैन दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० दामोदर जी शास्त्री से अनुरोध किया था। आदरणीय शास्त्री जी ने बड़ा परिश्रम करके वह प्रस्तावना लगभग ३०० पृष्ठ की हमारे पास भिजवा भी दी थी, जिसके लिए हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। निःसन्देह विद्वान लेखक ने इस प्रस्तावना में विस्तार से भारतीय योग परम्ररा का अनुशीलन कीया है किन्तु इसको इस पुस्तक में सम्मिलित करना पुस्तक का वृहद्कार कलेवर को देखते हुए व्यवहार्य नहीं था। इसलिए हमने श्री शास्त्री जी से क्षमा मांगते हुए उनकी रचना को स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करने की स्वीकृति प्राप्त करली है और इस पुस्तक में मात्र औपचारिक अंश ही प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

जयपुर
कार्तिक कृष्णा अमावस्या
वीर निर्वाण सम्वत् २५०९

कपूरचन्द पाटनी
मन्त्री

आमुख-आशीर्वचन

- दुःख मुक्ति की एवं अनाकुल सुखामृत की चाह प्राणीमात्र को अनन्तकाल से है ।

- करुणा मूर्ति दिगम्बर निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर अनन्त काल से प्राणी मात्र को अमृतमयी योग साधना का कृति रूप से उपदेश करते आ रहे हैं । उनका ही योग में शासन रहा है—अन्य सब इसके मात्र अनुशासन है ।

- "एस पडिकम्मण विहि सव्वेहिं जिणेहिं पण्णत्ता,"
  चेतना का बाह्य से अन्तर की ओर, अंतर से परम ऊर्ध्व की ओर प्रत्यावर्तन हो, तीर्थंकर इस प्रतिक्रमण विधि को अनादि से प्रतिपादन करते आ रहे हैं ।

- श्री वर्धमान महावीर प्रभु के गणधर श्री गौतम स्वामी ने ईसा से सात शतक पूर्व अनादि से प्रवाहित आ रही सनातन प्रतिक्रमण विधि के बहुभाग को निवद्ध किया ।

- "चैलं वोस्सरामि, अचैलं मुट्ठेमि" उक्त प्रतिक्रमण में इस उल्लेख द्वारा निर्ग्रन्थ पथ की प्राचीनता का समर्थन है ।

- "दस विह धम्म झाणाणां," "एकादस पडिमासु" तथा "नैगाइयं" का उल्लेख उक्त प्रतिक्रमण में है।

- यास्क के निरुक्त में "उच्चावचैश्च पदार्थानां"--में जैनों की सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ विवेचना का अनेकांतात्मक रूप से माने जाने का समर्थन है ।

- योग शास्ता आदि पुरुष श्री हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ प्रथम तीर्थङ्कर ने इस युग के आरम्भ में सर्वप्रथम इस धरा पर इसी देश में मंगल विहार करके दिव्य-ध्वनि द्वारा दुःख-मुक्ति का "मग्ग" प्रशस्त किया और योग-शासन दिया । उन्होंने 'अप्पाण-धम्म' का प्रवचन किया । अस्तित्व का परम बोध दिया । आत्म-शासन के रूप योग शासन को प्रवाहित किया ।

- उन्होंने आत्म-पुरुषार्थ, करुणा, वीतरागता, समता, स्वातंत्र्य के अलौकिक प्रकाश दिये। उन्होंने आदर्श स्थापित किये—

निर्माण और निर्वाण के
कर्म और निष्कर्म के
बंध और अबंध के
प्रवृत्ति और निवृत्ति के
क्रिया और अप्रतिक्रिया के
योग और अयोग के

- उनका दिव्य स्वर त्रिकाल निनादित है—
स्वयं सत्य खोजो। किसी के अनुकरण या अनुसरण में सत्य नहीं, अपने ही अन्तर में श्रम मय श्रमण मार्ग में वह है।

- उन्होंने अन्तर्दर्शन की विधा दी, सत्य-अन्वेषण की प्रक्रिया दी। ज्ञान-चक्षु दिये। चारित्र पथ आलोकित किया। अध्यात्म-साधना संवर तथा तप के सूत्र दिये और तीर्थ प्रवाहित किया।

- अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्ञान और अन्तश्चरण रूप रत्नत्रयात्मक धर्म-स्वरूप में आत्मा को ख्यात किया अपने चारित्र चिन्हों से सत्य-पथ को रेखांकित किया।

- उन चरण चिन्हों की दिशा में फिर तेवीस दिगम्बर तीर्थङ्कर–प्रभुओं ने भी आत्म-पथ रूप प्रमुक्ति पथ को आलोकित किया और अप्पाण-सद्धर्म के प्रवचन किये। कोटि-कोटि साधक जन उनकी ज्योति के आलोक में पूर्णत्व को प्राप्त करते आ रहे हैं।

निस्सन्देह सामयिक और महत्त्वपूर्ण ही है यह ग्रन्थ-प्रस्तुति। इसमें उस प्राचीन योग-शासन की परम्परा के आध्यात्मिक सत्य एवम् साधना के अनेक आधार तथा स्वरूप नव समन्वय शैली में प्रस्तुत हैं। इस "योगानुशीलन" में इस योग के अनेक अन्तर्तत्त्वों की झांकी तथा समीक्षा आधुनिक सन्दर्भों में दी है। यह अपने आप में एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण रचना का व्यक्तित्व रखती है और योग वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगी यह निस्संदेह है।

यह रचना संग्रह-परक तथा चिंतन परक है। इसमें अनेक प्रमेयों का चिंतन प्रशंसनीय है और हम सुयोग्य लेखक के बहुत आभारी हैं। उन्होंने योग साहित्य में लेखन के मार्ग को प्रशस्त किया है—अतः यह प्रयास स्तुत्य है, आधुनिक युग के सन्दर्भ में बहुत उपयोगी है।

अमृत और अमृत-घट की चर्चा से आरम्भ कर इस अनुशीलन में महा-अमृत-घट प्रभु हिरण्य-गर्भ वृषभेश्वर का योग सन्दर्भ में जीवन वृत्त दिव्य-उपदेश तथा तत्त्व निरूपण का विवेचन है। इसमें योग विद्या की प्राचीनता तथा प्रमाणिकता का विवेचन एक शोध-प्रबन्ध का ही महत्त्व रखता है।

सुयोग्य लेखक साधुवाद का पात्र है कि प्राचीन चिंतन तथा अध्यात्म योग विज्ञान को नये परिवेश में प्रस्तुति का सत्साहस किया है। बहुत अपेक्षणीय लोकोपकारी मंगल मय सद्साहित्य का यह निर्माण है। निर्मल साहित्य धारा सबको ही धन्य करती है।

यह स्तुत्य है कि सुयोग्य लेखक ने योग-ग्रन्थ माला की ही संयोजना अपने पिता श्री की स्मृति के लिए करके पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा गुरु ऋण से विमुक्त होने का कार्य किया है। उस योग माला का यह प्रथम तथा द्वितीय पुष्प है। इन अध्यात्म पुष्पों की सुगंध आत्मोपासकों के चित्त को बहुत काल तक प्रसन्न करती रहेगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

इसमें गुणस्थान, मार्गणा, संज्ञाएँ आदि के विवेचन ज्ञान ध्यान के अनुकूल हैं। श्लोकवार्तिक में गुण स्थान मार्गणा वगैरह में योजित करके चित्त स्थिर करने को धर्म ध्यान के अन्तर्गत माना गया है। समत्व जब ज्ञान में होता है तो समीचीन ध्यान संवर निर्जरा के लिये विशेष रूप है। मुक्ति-मग्गं, पमुक्ति-मग्गं निर्ग्रन्थ मार्ग है—इसे ही भगवान गौतम ने प्रतिक्रमण सूत्र में मोक्खमग्ग कहा है। यह निर्जरा तथा रत्नत्रय रूप स्वात्मोपलब्धि का मार्ग है। यह जिब्भय, निद्दोस, विराग, णिमम, विमोह आदिक रूप से प्रतिक्रमण सूत्र में ख्यात है। प्रतिक्रमण सूत्र प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ है और उसमें परम्परा से प्रवाहित प्राचीनतम निर्ग्रन्थ अध्यात्म पद्धति निबद्ध है। प्रतिक्रमण सूत्र में "अट्ट रुद ज्झाणं वोस्सरामि, धम्म सुक्कज्झाणं अब्भुट्ठेमि" में आर्त व रौद्र ध्यान के त्याग और धर्म और शुक्ल ध्यान ग्रहण करने के उल्लेख है। "शुभमण" यह ज्ञान-ध्यान निखर कर पवित्र केवल ज्ञान रूप होता है, "सम-मण" वीतराग विज्ञान रूप होता है। 'तपपहाण' इच्छा रोध को प्रभावित करने वाला गुण रयणसील सागर यानी गुणरत्न और शीलों का सागर होता है।

निःशल्य व्रत योग ध्यान के लिए आवश्यक है। यह चारित्र रूप वृक्ष का मूल है। संयम इसका स्कन्ध है। यह नियमादि रूप योग-अभ्यास जल से इसका सिंचन होने पर नाना ध्यान-ज्ञान-तप रूपी पत्रों का प्रस्फुटन होकर शिव सुख रूप फल प्राप्त होता है। यह दया और अहिंसा रूपी शीतल छाया से सुशोभित है। पाप के संताप और भव भ्रमण को रोकने वाला यह चारित्र वृक्ष हमारे ही भीतर है। ऐसा चिदात्म चैत्य वृक्ष आत्म-चेतना में ही प्रस्फुटित होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इस चारित्र सम्बन्धी योग साधना का ही विवेचन इस ग्रन्थ में अभिनव व रोचक रूप में हुआ है। यह योगानुशील उत्तरोत्तर निखरता गया है। इसे पढ़कर पुरुष जागता है, अप्रमत्त होता है और ध्यान व ज्ञान से आत्म-मग्नता चाहने लगता है।

इस ग्रन्थ में दर्शन-मार्ग के नाम से आख्यात प्राचीन सर्वज्ञ प्रमाणीक ज्ञान तथा तत्त्वों का अनावरण है। लोक अलोक को जानने वाला ज्ञान-आत्मा का सुन्दर चिन्तन दिया है। यह पुरुषार्थ का

स्वरूप है, जिसे आचार्य अलंक्रन ने इस तरह भी कहा है– अनाकुल स्वसंवेद्य स्वरूप में रह, जाग्रत रह, आग्रह मतकर, प्रमादमत कर, स्वं परम् विद्धि । तथा उसमें भी व्यामोह का छेदन कर-ऐसा बताया है । दर्शन मार्ग होने से यह निष्ठा और आत्मावलोकन का, अतः अन्तर्दर्शन और केवल दर्शन का मार्ग है । अन्तर्दृष्टि साधना की ही आधुनिक संज्ञा प्रेक्षा या सम्प्रेक्षा है और वह इस प्राचीन आर्ष योग मार्ग की आधारभूता साधना है । इसे समझे विना साधना का फल प्राप्त नहीं होता । इस विधा के तथा ध्यान साधना भूमिकाओं के–अभ्यासों के विवेचन इसमें सराहनीय है । अर्हन्तों के निष्कर्ष और विज्ञान के आलोक में विवेचन शरीर शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आधुनिक विज्ञानों के स्पष्टीकरण से आकर्षक और पठनीय हैं । योग और धर्म वस्तुतः एक ही बिन्दु पर अवस्थित हैं और यह सत्य ही है कि योग मोक्षोपाय है, यह रत्नत्रयात्मक है– दर्शन ज्ञान ध्यान-चारित्र सबका इसमें विवेचन है । प्राचीन अर्हत् धर्म गुरुओं के उज्ज्वल अनुपम तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म पद्धति को इसमें आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में दिया गया है । पर अध्यात्म विद्या का विज्ञान लौकिक विज्ञान से भी उच्चतर व उत्कृष्ट है । दोनों के क्षेत्र अलग-अलग भी हैं । पर उस लौकिक ज्ञान के आश्रय अध्यात्म विज्ञान के तत्वों का स्पष्टीकरण आज के समय में आकर्षक है और स्फूर्ति दायक है । विशेषताओं से भरपूर यह ग्रन्थ अति लोक प्रिय होगा, स्वागत सत्कार को प्राप्त होगा । इस भावना सहित शुभाशीर्वाद है ।

सद्धर्म धेनुरखिलोत्सवसंगे
श्री–समागम–सूचन–दूती
देव–मानव–मनोरथ सिद्धि–
–धर्म–वृद्धिरियमस्तु तवैव ।।

—क्षु० सिद्धसागर
मौजमाबाद
(जयपुर राज०)

मेरा अभिमत

श्री महावीराय नमोनमः

अत्यन्त पुलकित तन होकर मैं श्रीमान् वयोवृद्ध कैलाशचन्द्रजी वाढ़दार साहब को अधिकाधिक धन्यवाद इस कारण देता हूँ कि उन्होंने सरस्वती माता के भण्डार में योग दे सम्बन्ध में अनुशीलन कर एक अनुपम नवीन कृति की रचना करके उसे स्थापित किया है।

मैं इस कृति और कृतिकार की सादर एवं गौरव के साथ स्तुति करता हुआ यावचन्द्रार्क इसकी महिमा धरातल पर विराजमान होकर योग विद्या के प्रचार और प्रसार में अपना योगदान करती रहे यही मांगलिक भावना प्रकट करता हूँ। लेखक को कोटिशः धन्यवाद।

चिदुषां वशंवदः
मूलचन्द्र जैन शास्त्री
श्री महावीरजी

योग से अयोग

अत्यन्त रुचिपूर्वक तथा पुलकित मन से मैंने श्रीमान् वयोवृद्ध अध्यात्म रसिक श्री कैलाशचन्द्र जी बाढ़दार रचित योग-विद्या विषयक स्वरूपानुचिन्तन, ध्यानानुचिंतन एवं योगानुशीलन नामक तीनों खण्डों का अवलोकन किया। विभिन्न साधकों एवं लेखकों के ध्यान सम्बन्धी अनेक रहस्यों को आधुनिक सन्दर्भ में उन्होंने सामंजस्य पूर्वक संकलित एवं उद्घाटित करके सचमुच ही साधक समाज एवं सरस्वती भण्डार की सेवा में अपूर्व योगदान किया है। तीनों ही खण्ड पठनीय एवं माननीय हैं। विषय की स्पष्टता एवं सरसता पाठक को बरबस ही अनवरत पढ़ने को विवश करती है।

ध्यान की कला से ही धर्म प्राणवान हो सकता है। आज के विकार एवं तनावग्रस्त मानव को योग विद्या ही मुक्ति दिला सकती है। अर्हंतों की सभी प्रतिमायें ध्यानावस्थित हैं। जैन साधना का मूलसूत्र ही ध्यान है। एक योग-विद्या ही ऐसा स्थल है, जहां सभी सम्प्रदाय आकर एक हो जाते हैं। अतः यह कृति यावत् पृथ्वी पर जीवन है तावत् मानव मात्र को योगविद्या के प्रचार प्रसार में अपना योगदान करती रहेगा। इसी पवित्र एवं मांगलिक भावना के साथ कृतिकार को मेरा आशीर्वाद है कि योग से अयोग की पुण्य यात्रा में उन्हें शुद्धात्मा की पावन अनुभूति हो। शुभम्

ब्र० कुमारी कौशल
प्रवास–जयपुर
१९८१

प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति 'योगानुशीलन' के लेखक विद्वान् श्री कैलाशचन्द्र बाढ़दार हैं। पुस्तक दो खण्डों (भागों) में विभाजित है। प्रथम भाग में छः प्रकरण हैं और द्वितीय भाग में सात प्रकरण हैं। अन्त में तीन परिशिष्ट भी हैं।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का शीर्षक है—स्वरूपामृत प्रदायिनी योग-विद्या (योग-विमर्श) (पृ० ७-३१)। द्वितीय प्रकरण है—तत्त्वों पर विचार : अनन्त सत्ता के परिप्रेक्ष्य में (पृ० ३२–४७)। तृतीय प्रकरण का शीर्षक है—चेतन आत्म-द्रव्य पर विचार-विमर्श (पृ० ४८–८४)। चतुर्थ प्रकरण है—अन्तर्शोधन के विशुद्धि-मार्ग में भावों के मोड़-गुणसंक्रान्तियां (पृ० ८५–११५)। पांचवां प्रकरण है—सर्वज्ञ अर्हन्तों के चिन्तन निष्कर्ष : विज्ञानों के आलोक में (पृ० ११६–१९८)। छठा प्रकरण है—भावोन्मेष ही भावोन्मेषः भावों के खेल और भावातीत (पृ० १९७–२२९)।

द्वितीय खण्ड के सात प्रकरण इस प्रकार हैं—(१) अतीन्द्रिय सुखमय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधियां (पृ० २३५-२९८), (२) उद्‌बोधक योग-मीमांसाएं (पृ. २९३-३५१), (४) योग-शासन की प्रागैतिहासिक तथा वेदपूर्व-परम्परा (पृ. ३५२-४७९), ५) बोधि, सिद्धि और मुक्ति का यह अनुत्तर मार्ग (पृ० ४८०-५२७), (६) योग-संदृष्टियां (पृ. ५२८-५७४), (७) अर्हंत्‌शासन के अन्तरङ्ग विशिष्ट बोध (पृ. ५७५-६१३)।

परिशिष्टों में भगवान् महावीर के परवर्ती आचार्य योगीश्वरों की परम्परा, तथा दिगम्बर जैन संस्कृति के वैश्विक स्वरूप एवं उसका सनातन प्रवाह आदि विषयों पर चर्चा की गई है।

इस प्रकार, लेखक ने भारतीय योग-साधना, विशेषकर जैन साधना के विविध पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जैन साधना से सम्बद्ध ऐसा कोई विषय नहीं रहा है, जो इसमें चर्चित न हुआ हो। जैनेतर धर्मों व दर्शनों में स्वीकृत मान्यताओं का भी प्रसंगानुरूप निरूपण कर लेखक ने व्यापक व उदार दृष्टि अपनाई है, जो सराहनीय है।

प्रकाशक के प्रति आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत कृति 'दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी' द्वारा प्रकाशित की जा रही है, इसके लिये प्रकाशन-संस्था के सभी अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं। सामान्यतः किसी तीर्थ से सम्बन्धित

संस्था का इतना ही कर्तव्य समझा जाता है कि वह तीर्थ में आने वालों की सुविधा का ध्यान रखें, तीर्थ की सुव्यवस्था बनाए रखें या फिर वहां आने वाले यात्रियों की सहायता करें। किन्तु उक्त संस्था, उक्त सामान्य उत्तरदायित्व के स्तर से भी ऊपर उठकर, महनीय कार्य कर रही है, जो स्तुत्य व अनुकरणीय है। 'निश्चय दृष्टि' से यह आत्मा ही तीर्थ है, स्वयं देव है, स्वयं देवालय है, और सद्ज्ञान या सत्साहित्य का प्रचार प्रसार करना उक्त देवरूप आत्मा के कल्याण की दृष्टि से, तथा देवालय की प्राप्ति हेतु साधना दृष्टि से, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है, यह निर्विवाद है। अतः यह संस्था प्रकारान्तर से तीर्थ व देव आदि से ही सम्बद्ध कार्य कर रही है।

संस्था की ओर से इस पुस्तक की भूमिका लिखने का मुझे सुअवसर दिया गया जिसे मैं अपना सम्मान समझता हूँ, और इसके लिए संस्था के अधिकारियों के प्रति, विशेषकर श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका जी के प्रति, मैं अपना सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

मुझे आशा है कि इस पुस्तक के माध्यम से पाठक आत्मसाधना कर, जीवन को परिष्कृत कर सकेंगे।

१५-९-८२

दामोदर शास्त्री

ग्रन्थ-प्रस्तुति

योग विद्या इस भारत धरा की ही उत्कृष्ट और अति प्राचीन काल से आई विद्या है। परम तत्व पारगामी मनीषी अर्हंत्पुरुषों एवं तीर्थंकरों ने जिज्ञासा और विचारणा तक ही न रह कर अन्तरात्म-क्षितिजों के पार स्वयं आनन्द मूर्ति ज्ञान धन रूप में ही अपने को विकसित भी किया था। योग विज्ञान का उत्स प्राणी-जीवन के परिष्कार को, निर्मल सत्य आनन्द स्वरूप को लक्ष्य करके तथा उसको ही समर्पित होकर इस भारत धरा पर उन्होंने किया।

विश्व के अखिल धर्मों का एक ही स्रोत रहा है। सद्धर्म वही है जो मानव को दु.ख मुक्त करके निर्मल आनन्द स्वरूप में धृत रक्खे। मूल सद्धर्म के ही मूल आधार तत्वों को लेकर विभिन्न संप्रदाय परिपुष्ट हुए है। विभिन्न दर्शन-भूमियों पर से ही नानात्व दृष्टिगोचर होता है। निर्मल आत्म स्वरूप की अन्तर्दृष्टि पर तो प्राणी मात्र समान रूप से चेतन तत्व ही दीख पड़ता है। जब परम शिव प्रभु हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर ने इस विश्व को इस युग के आरम्भ में सर्वप्रथम योगशासन दिया तब मानव जाति नाना मतों तथा संप्रदायों में विभक्त न थी। उस योग मय धर्म-प्रवर्तन में एक ही सद्धर्म की दृष्टि थी, एक ही निर्मल आत्म ज्ञान की अवधारणा थी। यह समूची मानव जाति के लिए थी। इसकी सीमाएं किसी एक प्रदेश या कालखण्ड के लिये नहीं थी। यह शाश्वत् धर्म अवतारणा थी।

सर्व योगी-जन, आगम, मनीषी पुरुष तथा प्राचीन संप्रदाय एक स्वर से हिरण्य गर्भ प्रभु को ही आदि पूर्ण पुरुष तथा योग के प्रवक्ता स्वीकार करते हैं। सर्वज्ञ जैन परम्परा उन्हें हिरण्यगर्भ कहने के अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर आदीश्वर आदि भी कहती है। वेद रचना से पूर्व योग विद्या उस योग शासन में परिपक्व हो चुकी थी, यह एक सर्वमान्य तथ्य है। सम्पूर्ण जीवन की विशिष्ट पद्धति रूप यह योग सारे विश्व में प्राचीनतम ही विद्या है। इसके प्राणदायी तत्त्वों को अपनी अपनी धारणा तथा दर्शन मान्यता अनुसार सर्वत्र ग्रहण किया गया है। एक समान सूत्र की तरह यह योग सर्व धर्म-संप्रदायों की एक मूलता को भी प्रकट करता है। यह योग वेद पूर्व प्रागैतिहासिक काल से जुड़ा है। इसमें आत्मा की मौलिक निर्मलता तथा अनेकांत दृष्टि आदि वे तत्व हैं जो मानव के सद्रूपांतरण के लिये मूलभूत हैं, तथा राष्ट्रीय एकीकरण, सर्व धर्म समादर के लिए, मानसिक उत्क्रान्ति के लिए भी आधार भूत हैं।

वेदों की तुलना में उपनिषद्, जैन आगम तथा बौद्ध त्रिपिटक आदि अर्वाचीन समझे जाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि अर्वाचीन समझे जाने वाले आगम साहित्य में आध्यात्मिक चिंतन धारा जो

पाई जाती है, वह अति प्राचीनतम काल से ही चली आ रही है। उसका स्रोत सुदूरवर्ती अतीत में से ही प्रवाहित होता आया है। वही कालान्तर में लिपिबद्ध होकर बहुत अंशों में अद्यावधि सुरक्षित है। यह सुनिश्चित है कि योग शासन के पुरस्कर्ता हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही है जिनकी ऋग्वेदादि में स्तुतियाँ हैं। वेद सूक्तों पर सायण-भाष्य तो अपेक्षतया अर्वाचीन है और यह सचाई है कि सायण ने श्री शंकर पूज्यपाद से प्रभावित और प्रेरित होकर वेद मंत्रों के अर्थ करने के कई जगह प्रयत्न किये हैं। वेद उपदेश ही नहीं, इतिहास भी है, उस इतिहास के साथ भारत की गौरव शाली प्राचीन गाथाएँ भी जुड़ी हुई हैं। उन प्राचीन त्रेषट्शलाका पुरुषों से जुड़ी हैं जिनसे भारत के आलोकमय अध्याय बने। उनसे हमारी धर्म, संस्कृति और सारी विद्याओं के उत्स ही जुड़े हैं।

तीर्थङ्कर और अर्हंतपुरुष वीतरागी और निग्रन्थ रहे, वे मात्र प्रवचन करते थे अतः ग्रन्थ रचनाएं नहीं की। जैन आगम तथा योग रचनाएं बहुत बाद में उस सरस्वतीं काल में आरम्भ हुई जिसका पता मथुरा की कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त सरस्वती एवं जैन मूर्तियों से चलता है। इसके बाद तो दक्षिण और फिर ऊत्तर भारत के कई समर्थ आचार्य गणों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणयन किये। पर यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल में "निविद" नाम से एक लक्ष-श्लोक प्रमाण ग्रन्थ आदि चक्रवर्ती सम्राट भरत, जिनके नाम पर यह भारतवर्ष कहलाया, की शिक्षा-दीक्षा के लिए महाराजा ऋषभदेव द्वारा लिपिबद्ध हुआ था, पर दुर्भाग्य वश आज उपलब्ध नहीं है।

आगम शास्त्र, निरूक्तियों आदि के अतिरिक्त योग विषयक रचनाओं में, ध्यान शतक या ध्यानाध्ययन, ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, योग सार प्राभृत, योग मार्ग, योगामृत, आदि पुराण, समाधि तंत्र इष्टोपदेश, तत्त्वार्थ सूत्र तथा उसकी अनेक टीकाएं, परमात्म-प्रकाश, द्रव्य संग्रह आदि के अलावा प्रवचन सार, समयसार, नियमसार, रयणसार, अष्ट पाहुड़, पंचास्तिकाय, समयसार कलश टीका, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, आत्मोनुशासन आदि दिगम्बर रचनाएं हैं तथा योगसंदृष्टियाँ आदि, हेम योगशासन आदि श्वेताम्बर रचनाएं भी हैं। बाद की रचनाओं में समयसार नाटक, छःढाला, ब्रह्म विलास, अध्यात्म रहस्य ध्यानोपदेश, चिद्विलास, अनुभव- प्रकाश, ज्ञान दर्पण तथा योग प्रदीप आदि अन्य दिगम्बर रचनाएं हैं।

प्रकट ही जैनों में विपुल योग तथा अध्यात्म साहित्य रचनाएं हैं। इनमें वह चिन्तन पर्याप्त प्रस्तुत हुआ है जो मूलतः प्राचीन रहा है। यही कारण है योग स्वरूप के लक्ष्य एवं स्वरूप तथा मोक्षादि तत्त्व प्रतिपादन में जैन दृष्टि एक स्वर से समान ही रहती आई है जो इसकी विशिष्ट मौलिकता है–जब कि यह बात अन्य संप्रदायों में मोक्षादि अवधारणा के सम्बन्ध में नहीं देखी जाती। जैन आध्यात्म परम्परा में अब भी आचार्य एवं मुनिजनों का विहार है, यद्यपि सर्वज्ञ तीर्थंकरों का इस भू-भाग में विहार नहीं है। ये परम्परा चाहे कई शाखाओं में विभक्त हो गई पर फिर भी सिद्धांतादि तथा योग तत्त्वों में मौलिक रूप से एक तथा समान है। समर्थ आचार्यगणों ने परम्परा से प्राप्त तीर्थंकर प्रवचन तथा ज्ञान को अवधारित करके व्याख्याओं आदि के रूप में यथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव से पुनः पुनः विवेचित किया है। सर्वज्ञ तीर्थंकरों के वचन सूक्ष्म रूप में अद्यावधि अपनी सम्पूर्ण ज्योति-शक्तियों के साथ गगन मण्डल में

स्पंदित हैं और साधक यांगीजनों को उन वचनों में निहित महिमा मय सद् संकल्पों के प्रत्यक्ष चित्र मय दर्शन और अनुभव भी होते रहे हैं । उनमें आज भी उनके अभिमुख होने पर मानव को मानवता तथा देवत्व में प्रतिष्ठित करने की क्षमताएं वर्तमान हैं । योग का मार्ग सर्वत्र अर्हत् पुरुषों जिनेश्वरों के चरण चिन्हो से सुस्पष्ट चिन्हित हैं, इसमें स्वपुरुषार्थ से, आत्म शरण लेने से अन्तर्यात्रत होने पर चला जाता है ।

यह योग शासन जैनों मे मुक्ति-मग्ग या मुक्ति मार्ग वा तपोयोग के नाम से जाना जाता रहा है । इसमें जीवन दर्शन के अतिरिक्त ध्यान, चारित्र, तप, अहिंसा आदि अनेक उपाय रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग का कथन है । ऋषिगणों ने इसे श्रेष्ठ विद्या स्वीकार किया —"सा विद्या या विमक्तये"— ऐसा उद्घोष किया ।

अध्यात्म पथ का द्वार चर्चा (विचय) का चर्या (चारित्र) के साथ एकत्व होने पर निश्चितः खुलता है । अन्तश्चेनना का निर्मल रूपांतरण,—जो अध्यात्म में उपादेय है, चर्या से, न कि केवल चर्चा से होता है । (देव) मार्ग का ध्येय एवं लक्ष्य, (गुरु) मार्ग का पथ-प्रदर्शक, (शास्त्र) मार्ग का ज्ञान—इन तीनों तत्त्वों के अन्तर्स्वरूप का जब साधक के अन्तर्भाव में एकत्व घटित होता है, तब यथार्थ अन्तर्ज्ञान ही प्रकाशित हो जाता है । चर्चा आरोपित ज्ञान है, बुद्धि स्तर से अधिक नहीं जाता । योग-चर्या इन्द्रिय प्राण एवं मन-बुद्धि के स्तरों को वेध करके चेतना की अन्तर्दृष्टि उन्मुक्त करके अन्तर अनुभव लोकों में ले जाती है । तब परमानन्द बोध पर पड़े आवरण निर्मलतर हुए भाव-आयामों के उन्मेष पर स्वतः टूटने लगते हैं ।

अर्हत्पुरुषों ने मानव की अभिव्यक्ति को सुधारने हेतु तथा दुःख मुक्ति के हेतु मानव के अन्तर्निहित प्रभु-तत्व को ही बाहर प्रकट करने के प्रयत्न दिये हैं, मानव की वर्तमान चेतना के अन्य परम चेतना में उर्ध्वीकरण के उद्योग किये हैं । उनके निकट वर्ण, जाति, कुल, मत, पन्थ आदि के ग्रहण तथा भेद रेखाएं भी महत्वहीन रही हैं । वे सर्व कृत्रिम भेद सीमाओं से परे, स्वयं मानव के ही परम सत्य के खोजी रहे और प्रवक्ता रहे हैं । यह परम सत्य ही मानव में सदा से विद्यमान रहा है और विकास की प्रतिक्षा में है । उस सत्य का निरावरण, दर्शन और आराधन ही मुख्य तत्व है । उस दर्शन को उन्होंने निर्विकल्प होकर प्राप्त किया । दर्शन का ही विस्तार ज्ञान है । वह ज्ञान समग्र अस्तित्व का है । समग्र अस्तित्व के दर्शन से ही समग्र ज्ञान का प्रतिफल मिलता है ।

अपने दर्शन तथा ज्ञान से बड़ा या उच्चतर न कोई तत्व है, न द्रव्य है । आत्मा स्वयं अपना ईश्वर है, नियामक है । अतः हो वही एक मात्र शरण है । पंचपरमेष्ठी इस आत्मा के ही स्वरूप हैं । परमेष्ठी का अर्थ है जो परम स्वरूप आत्मा में स्थित है । यही तो मानव आत्मा का परम प्राप्तव्य है । यह प्राप्त ही है—मात्र विकसित होने तथा आवरण क्षय होने की ही प्रतीक्षा है । मानव की सर्व इयत्ता अपने परम ज्ञान के उद्घाटन तक ही है—अर्थात् सर्वज्ञता ही इयत्ता है या कहें वही अनन्तता है । स्व तथा पर सब तत्वों तथा द्रव्यों की विद्यमानता ज्ञान तथा ज्ञान के द्वारा ही है । सब पर पदार्थ ही

क्या—स्वयं आत्मा भी अपने अस्तित्व, सत्ता, परिचय, सिद्धि तथा सार्थकता के लिए आत्मा के चैतन्य ज्ञान की ऋणी है ।

एक दृष्टि में ज्ञान मय परम निज आत्म सत्ता में ही सबका अधिष्ठान भी कहा जा सकता है । "अप्पा सो परमप्पा ।" वह परमप्पा आप अकेला, विशुद्ध निर्मल अद्वैत सुशोभित होता है । जब तक अन्य द्रव्य के रागात्मक साथ की स्वीकृति है तो जीवात्मा दुःखी ही रहता है । एक से दो की स्थिति में ही संघर्ष है । इसलिए कर्म विमुक्त निर्मल अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है—वह अविभक्त अवस्था है ।

सत्य धर्म आत्म परक व आत्म धर्म रूप ही हो सकता है, अनात्म पर-स्वरूप रूप हो भी कैसे सकता है ? आत्मा का सहज स्वभाव दर्शन ज्ञान रूप ही है और आत्मा की परिणति तथा उपयोग परिणाम भी चिद्रूप है । इसी के अन्तस्तत्व का प्रवचन अर्हत् तीर्थंकर करते हैं । इसके ही विस्तार मय चिन्तन में आगमों का सर्जन हुआ है और संक्षेप में यह निरक्षर ओंकार ध्वनि रूप है । यही सद् धर्म सदा जीवन्त है । इसका उन्मेष या साक्षात्कार चिन्तन-ध्यान की पराकाष्ठा में निश्चिंतना के कालजयी क्षण में सम्भव होता है ।

आत्मतत्व की मान्यता, निष्ठा-श्रद्धा ही इस योग धर्म का आधार है । यह मान्यता ही अन्तर्प्रविष्ट होकर साकार तथा साक्षात्कार को प्राप्त कराती है । यही आगम चक्षु की सद्दृष्टि को ग्रहण करके परम सत्य के दर्शन को सम्भव कराती है । सम्यक् दृष्टि ही परम सत्य को आविर्भाव करके निरावरण देखती है । इसीलिये उसका स्वरूप सत्य संस्पर्शी होता है । निज अन्तर्यात्रा में -- सम्यक्-चारित्र में—ज्ञान के अनुरूप जीवन स्थिरता में ही स्व संवित्ति रूप परम आत्म तत्त्व का दर्शन समुपलब्ध होता है ।

इस योग विज्ञान में दर्शन ज्ञान और चारित्र की अखण्डता है । चारित्र ही सारे योग अभ्यास की चरम परिणति है । चारित्तं खलुधम्मो । इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही आदर्श वाक्य के तौर पर श्री प्रवचन सार की गाथा इसी सत्य को प्रकट करने को दी है । वह धर्म रूप सत्य समता रूप में ही प्रकट होता है, सब विषमताओं का नाश करके ।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।
णाणस्स पिच्छिदस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।। —अष्ट पाहुड ।।

जिसे जानता है वह ज्ञान, जिसे देखता है—प्रेक्षा करता है वह दर्शन । ऐसे ज्ञान व दर्शन (प्रेक्षा) करने वाले को इनके समायोग से चारित्र होता है । आचार्य श्री ने यह गाथा चारित्र पाहुड और मोक्ष पाहुड दोनों में दी है । ज्ञान व दर्शन (प्रेक्षा) में आत्म योग ही तो चारित्र को शुद्ध करता है ।

योग मार्ग या मग्ग सदा से चिन्तन (ज्ञान) और दर्शन का अतः निर्मल सत्य आत्मा का सुनिश्चित मार्ग रहा है और है । आन्तर मौलिक रहस्यों एवं सत्यों की सम्प्राप्ति कराने वाले तत्वमार्ग

का मग्ग या मार्ग से अतिरिक्त नाम भी क्या हो सकता है ? यह कभी मत या पक्ष के रूप में व्याख्यात भी नहीं हुआ। न इसकी पद्धतियाँ किसी ऐसे प्रयोजन के लिए ही है। यह आत्म आलोक का ही मार्ग है—अतः सर्वकालिक है—सार्वजनीन है, सारी मानवजातियों को सम्बोधि से बोधित करता है।

यह आत्मा को आत्मा के परम स्वरूप में—निर्मल उज्ज्वल स्वरूप में आने का आमन्त्रण देता है, आग्रह करता है। इससे अधिक कुछ भी मंगलकारी नहीं है। यह चारित्र निर्माण करता है—व्यक्तित्व को निखारता है, समृद्ध और पवित्र करता है। मात्र अपेक्षा है इसके तत्वों के व्यवहार की—निष्ठा और जागृति की।

यह आत्मा को आत्मा के निर्मल स्वरूप में योग कराने से सार्थक रूप ही योगविज्ञान है। विविक्त आत्मा के जो अव्यय, नित्य है, परिज्ञान में ज्ञान और सम्प्राप्ति (अवस्थिति) अन्तर्निहित ही है। इस अवस्था को ही विषमता से निवृत्ति और समता में प्रवृत्ति कहा जाता है। यह समना ही समाधि है। यह आत्म-परिस्पंदन रूप योगावस्था से अयोग की उत्कृष्ट अयोगिजिनेश्वर रूप आत्मावस्था में ले जाता है। वही पूर्ण योगावस्था है। यह किसी एक नय या दृष्टि की संकीर्णता से बंधा नहीं है। यह अनेकान्त आत्मा का प्रतिपादक और प्रतिष्ठापक है।

आत्मा विराट है, उसका ज्ञान विराट है, अनन्त है। वह किसी वाणी में नहीं बाँधा जा सकता। वह चिद्रूप है और स्वसंवेद्य है। इसका दर्शन ज्ञान और आनन्द नित्य और नवीन रहता है क्योंकि साधक का स्वरूप आन्तर-वैयक्तिक है। वह अपने ही भावों का उन्मेष करके अपने को निर्मल प्रकट करता हुआ भावातीत के परले पार पहुँचता है। अपने समग्र अस्तित्व ज्ञान की कुंजी सिवाय खुद के और किसी के पास नहीं। बाहर से आया ज्ञान तो इन्द्रिय ज्ञान है, पर का व पराश्रित ज्ञान है। वह खण्ड ससीम तथा नश्वर है। स्वरूप से इन्द्रिय, मन, प्राण, चित्त सब बाहर ही रह जाते हैं।

प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण परन्परा अर्थात् भगवान हिरण्यगर्भ-ऋषभदेव की परम्परा ही बाद के सर्व तीर्थङ्करों के शासन में भी बहती हुई आई है और पडिकम्मण परम्परा और योग विधियाँ इसी के मार्ग से जुड़ी हैं और इसी से ही वस्तुतः हैं। अतः यह योगमार्ग या योग शासन आत्म धर्म या सहज सनातन सद्धर्म या विश्व धर्म रूप है। निर्मल स्वभाव को साधन बनाकर यह निर्मल स्वभाव ध्येय के लक्ष्य को प्रकट करता है, और उसी में अभिन्न होकर केवल रूप कर देता है जो सत्य की परम भूमि है।

निश्चय सत्य की परम भूमि के नीचे व्यवहार की—शब्द की भी सूमि है। यही भूमि निर्मल होती है, प्रांजल बनती है, तब परम की भूमि के दर्शन सम्भव होते हैं। उस सत्य की ही दृढ़ अवधारणा और निष्ठा के लिए एक सशक्त–मननात् मन्त्र रूप शब्द को लेकर चलते हैं। वह आत्म बीज होता है। उससे सम्यक्त्व का जन्म होता है। उसमें उत्कृष्ट भाव प्रकम्पनों का ऐसा ग्रन्थन रहता है कि वह साधक को अति त्वरा से उच्च मनोभूमियों के पार सत्य के निकट पहुँचा देता है—वह चाक्षुषरूप में सकल जिनेश्वर प्रतिमा का अन्तर्हृदय में निर्माण सम्भव कर देता है। वह चिन्मय स्वयं निजात्मा का

ही निर्मल स्वरूप होता है। उसे जिनेश्वर कहो या किसी भी नाम से कहो—कोई फर्क नहीं पड़ता, पर उसके तुल्य अनन्त-अनन्य ज्योतिर्मय स्वरूप का विकास आवश्यक है। ससीम से असीम या अपरिसीम की यात्रा का वह परम अपेक्षणीय बिन्दु है। वह स्वरूप सूर्य सम भासता है और पुरुषाकार है। अखण्ड आत्मसत्ता में पहुँचने का अन्य कोई मार्ग न ऐसा सरल है न सीधा है। यह विज्ञान सब प्रपंचों को हेय करता चलता है। किन्हीं भी अन्य विश्वासों या चमत्कारों को यह स्वीकार ही नहीं करता।

यह संसार व इसके सब तत्त्व परिणामनशील हैं। अतः कोई भी बिन्दु स्थिर दिखने पर भी वस्तुतः स्थिर नहीं है। बुद्धि, द्रव्य प्राण, द्रव्य चित्त सब अस्थिर हैं—और बन्धन मय लोक जीवन में व्यवहार के आधार भी ये ही हैं। एक मात्र निर्मल आत्मा ही अपने आप में बावजूद नश्वर पर्याय अभिव्यक्तियों के अचल अटल को देख पाने के लिए उसका रस अस्वादित करने को योग का शासन है, मार्ग है। द्रव्य कर्मादि पुद्गलों के व रागद्वेष के प्रकम्पनों से परे जो चिदानन्दघन स्वरूप की अनुभूति है वही परम प्राप्तव्य है।

योग मार्ग या मग्ग सर्वकाल तथा सर्वत्र एक सत्य रूप ही है। आन्तरों सत्यों को उद्घाटित करने वाले तत्व तथा मार्ग का अन्य नाम हो भी क्या सकता है? यह तो आत्मा को आत्मा के परम स्वरूप में युक्त करने से योग नाम से सार्थक है, तथा यह अयोग (अयोगी-जिनेश्वर) की स्थिति में ले जाने के कारण आयोग-योग भी कहा गया है। इसे किसी शब्द मात्र में संक्षिप्त किया भी कैसे जा सकता है? सत्य सत्य है, वह अखण्ड और अबाध है। उसे वेदांत, बौद्ध, पांतजल, मुस्लिम या ईसाई सत्य मात्र कहना तो एक अंश, खण्ड को ही कहना या देखना है। यह किसी एक नय या दृष्टि आदि से बंधा नहीं है क्योंकि वह उतना मात्र नहीं है। वह विराट् है, अनन्त है।

उस सत्य की दृढ़ अवधारणा के लिए एक नाम (शब्द) तथा एक निष्ठा भी लेकर चलते हैं और ससीम से अपरिसीम में ही पहुँचने का प्रयत्न भी करते हैं, अन्य उपाय भी क्या है? यह शब्द तो संसार ही है, पर वह सत्य शब्द-परे है, शब्द से शब्दातीत होकर ही उसका साक्षात्कार होता है। शब्द की व्यवहार-भूमि निश्चय परम के लिए सोपान है। परम की प्राप्ति पर कुछ करना शेष नहीं रहता। यह योग विज्ञान परम के लिए अभ्यास रूप से दर्शन, चिन्तन तथा स्थिरता रूप से सीढ़ी रूप है। यह अखण्ड और एक रूप है। किसी लेबिल से उसे सीमाबद्ध करना अयुक्त ही है। इस योग विज्ञान का मूल स्वर आत्म-विशुद्धि है। यह द्रव्य तथा भाव से परम विशुद्धि रूप है। वीतरागता इसका राज पथ है। यह सर्वतः सर्वज्ञ शासन है, सर्वज्ञों का यह पथ है। स्वयं सत्य खोजें—यही उनकी प्रेरणा है। सत्य खोजना, सत्य मात्र ही देखना तथा सत्य मात्र ही जानना और सत्य मात्र ही रहना,—यही पूर्ण योग धर्म का सार है।

आत्म विशुद्धि यही अध्यात्म का केन्द्रीय विषय है। यह विज्ञान अतः मानव व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित करता है। मानव सामाजिक प्राणी है—समाज में वह जन्मता है और समाज में ही शिक्षित

तथा दीक्षित होता है व जीवन व्यापन के साधन पाता है। उसमें जीवन की सार्थकता, अनुशासन, तप, त्याग आदि समाज के माध्यम से ही पनपते हैं। वैसे समाज भी व्यक्ति का ही विस्तार है। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। यह सत्य है कि जो व्यक्ति आत्म केन्द्र का परिचय पा लेता है, वही आत्मा के जीवन की निर्मलता में स्नात हो जाता है और वही समाज में फिर निर्मलता के मूल्यों को, नैतिकता के मूल्यों को स्थापित भी कर सकता है। आत्म ज्ञान बिना व्यक्ति मे सत्ता, धन आदि का मद बढ़ जाता है और वह अपना और समाज की सेवा कर सकने के बजाय अपकार ही अधिक करता है। आत्म ज्ञान की अतः सामाजिक उपादेयता बहुत है। धर्म संस्थापन का आधार यही ज्ञान मानव को परमार्थ के लिए संकल्पवान बनाता है। सर्वज्ञ पुरुषों ने प्रकट किया कि आत्मा के मौलिक निर्मल स्वरूपों के आलेख पहले तो लेश्या-वर्णों में, तदनंतर अलेश्य वर्णों में प्रकट होते हैं—जो आनन्द मग्न कर देते हैं। अर्हत् पुरुषों के संकल्प आज भी वर्ण और अवर्ण रूपों में साधकों को बिम्बित हुए अनुभव में आते हैं और इनकी अनुभूतियाँ ही जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा के रूप में होती है। योग चर्या से ही मानव मानसिक, शारीरिक व्याधियों, चिन्ताओं तथा तनावों से मुक्त होकर चेतना के निर्मलतर स्वभाव में आरोहण कर लेता है। इसकी सन्तचर्या में उन प्रशांत रागद्वेष-मोह-कषाय विवर्जित प्रकंपनों का आकर्षण होता है जो वीतराग निर्ग्रन्थ सर्वज्ञ पुरुषों तथा तीर्थङ्करों की अध्यात्म साधना के निःश्वास रूप अद्यावधि अन्तरिक्षों में विद्यमान हैं। व्यक्ति और समाज दोनों को ही योग-मार्ग कल्याणकारी है। यह व्यक्ति और समाज की टकराहट को दूर करके दोनों में समता के भाव देता है।

योग का मूल शासन भगवान हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ के प्रवचनों से निःसृत है। अन्य सब योग इसी प्राचीन मूल योग शासन के अनुशासन हैं। वर्तमान में सूत्रबद्ध प्राचीन योगग्रन्थ पातंजल योग-प्रदीप या योगदर्शन ही उपलब्ध है। उसकी स्पष्ट प्ररूपणा है वह मात्र अनुशासन है और मूलयोग शासन भगवान हिरण्यगर्भ का है। पातंजल योगदर्शन में तत्त्व अवधारणा सांख्यदर्शन की है। वह अतः प्रकृति को परिणामी और आत्मा को अपरिणामी मानता है। मूलयोग शासन में चेतन व अचेतन दोनों ही तत्त्व परिणामी–अपरिणामी है—सामान्य विशेषात्मक है। पातंजल ईश्वर प्रकल्पना एक सृष्टि बाह्य ईश्वर की है परन्तु योग शासन में आत्मा ही ईश्वर है और अर्हत् परिणत आत्माएँ क्लेश कर्म विपाक से अस्पृष्ट ईश्वर आत्माएँ हैं। आत्माओं की अनन्त संख्या तथा दो तत्त्व मय सृष्टि होना दोनों ही योगों में स्वीकृत है।

वेदान्त तो आत्मा को मात्र अपरिणामी कूटस्थ मानता है—यद्यपि तैत्तरीयोपनिषद् में आत्मा के मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय रूप से परिणामित्व की स्पष्ट स्वीकृति है। वेदान्त आत्मा को ब्रह्म-ईश्वर की ज्ञप्ति मात्र मानता है और उसकी प्ररूपणा है कि ज्ञान स्पंदना मात्र ब्रह्म-ईश्वर में है। शेष आत्मायें उस स्पंदना का ही मात्र अनुभव करती हैं। अतः इस प्ररूपणा में जीव का न स्वतन्त्र अस्तित्व है, न स्वतन्त्र ज्ञान है। सृष्टि रचना भी उस ब्रह्म-ईश्वर की स्फुरणा मात्र है, अतः वह सब माया रूप है, मात्र कल्पना है, वास्तविक नहीं है। ऐसे जगत् ब्रह्म का एक विवर्त है। योग शासन सृष्टि व इसके पदार्थों को वास्तविक और मूलतः अनादि निधन मानता है। मात्र पर्याय के ही रूप

बदलते हैं। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। आत्माओं को योग शासन में निरीह व परतन्त्र नहीं माना है। वे द्रव्य रूप से स्वयं परमात्मा हैं और अपने निर्मल स्वरूप विकास की प्रतीक्षा में ही हैं।

योग शासन में कर्मावरण न केवल भावरूप है—वह द्रव्य प्रत्यय रूप भी है, और उस द्रव्य कर्मावरण की स्थिति नेत्र में स्थित पटल की तरह है, जो मात्र ज्ञान करने से ही नहीं, शल्य क्रिया द्वारा हटाया जाता है। वेदान्त विचार व मनन से, बौद्धिक रूप से ही अज्ञान की निवृत्ति मानता है, मगर योग शासन योग अभ्यास व तपस् द्वारा समस्त अस्तित्व में से आवरण की निवृत्ति को कहता है। पर, तन्त्र जीव प्रकल्पना में कर्मयोगी होने की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है, मुक्ति तथा योग अभ्यास आदि निरर्थक हो जाते हैं। वेदान्त मे एक ब्रह्म की अवधारणा लेकर चलते हैं और उनका यह एक संख्या वाचक है। एक आत्मा की अवधारणा को यंग शासन भी देता है। पर यहाँ एक का अर्थ है—निर्मल, विशुद्ध, अविभक्त। एक ब्रह्म कल्पना में ब्रह्म और ब्रह्मांड—यानी चेतन जीव और अचेतन ब्रह्मांड की भिन्नता समाप्त हो जाती है। वे "हरिरेव जगत् जगदेव हरिः" कहते हैं तो यह तो अस्तित्व-सत् धरातल की ही बात है। वस्तुतः आत्मा कभी अचेतन नहीं होता। वह चिदानन्द धन ही है। वेदान्त आत्मा को चैतन्य मात्र कहता है—वह चिद् वस्तु है पर वह आनन्द वस्तु नहीं है। ऐसा न मानने में चैतन्य से भिन्न आनन्द वस्तु एक और वस्तु होने से दो वस्तु प्ररूपणा हो जाती है। पर औपनिषदिक श्रुतियों में तो आत्मा को सच्चिदानन्द माना है—और योग शासन भी ऐसा हो मानता है।

योग शासन में पुरुषार्थ का स्वर प्रमुख है, पर अन्य योगों में ईश्वर सत्ता का कृपा-प्रसाद प्रमुख है। वह ईश्वर आत्म सत्ता से व विश्व से बाह्य सत्ता रूप प्ररूपित किया गया है। कृपा प्रसाद में दासता का भाव है। योग शासन में आत्मनिष्ठा, आत्मज्ञान और आत्म रमण ही पुरुषार्थ के स्वरूप है। वीतराग शान्त प्रशमरस तथा भाव ही साधन है और साध्य है। यहाँ आराधना में ओम्, अर्ह अर्हंत, णमोकार-पंचपरमेष्ठी पदों का, जो गुणपरक हैं, आत्म परक है, ग्रहण है; तो हिन्दू आराधना में प्रमुखतः व्यक्ति निष्ठ संज्ञायें—यथा राम, सीताराम, गोविन्द, कृष्ण. राधाकृष्ण, सीता. राधा आदि प्रमुख रूप से ग्राह्य हुई हैं। वेदान्त में ओम् निराकार ईश्वर वाचक है। योग शासन में वह परमेष्ठी वाचक है। योग शासन में जिनेश्वर सम आत्मा आराध्य है, साधक जिनेश्वर परम गुरु की ही स्पर्धा व सपृहा करता है, पर वेदान्त निषेध करता हे—'नाद्वैतं गुरुणां सह।" योग शासन में तो जिनेश्वर स्वरूप से अद्वैत होने की हो कामना की जाती है। वही साधना का काम्य है।

पातंजल योग में योग की परिभाषा—चित्तवृत्ति निरोध है—पर योग शासन में मन वचन काया तीनों का निरोध उपदिष्ट है। निरोध को ही संवर कहा है। योग दर्शन बुद्धि तत्व को जड़ मानता है और ज्ञान को बुद्धि का कार्य माना है। अतः कैवल्य प्राप्ति में बुद्धि तत्त्व का भी लय होकर ज्ञान का उपादान न रहने से आत्मा न सर्वज्ञ होता है न अनन्त गुण सागर, बल्कि मात्र अस्ति रूप रहता है, मात्र Vital ही रहता है। योग शासन में तो ज्ञान स्वयं आत्मा का विशिष्ट अन्वय गुण है, आत्मा और ज्ञान की अभेदता है, मात्र एकता भी नहीं। अतः सर्वज्ञ कैवल्य स्वरूप अत्यन्त अलौकिक है।

योग शासन पूर्व कल्पित या आरोपित किसी सिद्धान्त या निष्ठा से प्रेरित नहीं है। अर्हत् पुरुषों ने आत्मा में ही झाँक कर, जानकर और रमण करके—इस विज्ञान के तत्त्व तथा सत्त्वों एवं पद्धतियों को व्यवस्थित किया। यह विज्ञान अतः अनुभव पूत है, और अनुभूत सत्यों से निःसृत है। यह दर्शनोन्मुख होकर प्ररूपित हुआ है। ज्ञान दर्शन से प्रमाणिक हुआ है। दर्शन का मूल अर्थ अन्तर-निरीक्षण रहा है, आत्मावलोकन रहा है। अतः ज्ञान का भी अर्थ यहाँ श्रुतानुश्रुत ज्ञान नहीं है, वह ज्ञान ही है, जो स्व आत्म-दर्शन पर प्रसृत होता है। अतः यह किसी ग्रन्थ या पंथ को प्रमाणिक नहीं करता। यह मात्र अन्तर्ज्ञान को ही प्रमाणिक करता है जो स्व व पर ज्ञान की चरम ज्योति शिखरों की अपनी पुरुषार्थ यात्रा से, दर्शन यात्रा से यात्रित होने पर निष्ठित होता है।

इस योग शासन के लक्ष्य, स्वरूप, उपलब्धि, उपलब्धियों की विधियों तथा अनुभव की विलक्षणताओं से सब ही उल्लसित हो सकते हैं—यदि इसकी शिक्षाओं का अनुपालन करें। आधुनिक विज्ञान प्रसार से उन्मुक्त हुए बौद्धिक स्वतन्त्र वातावरण में तथा युग चेतना की मांग और प्यास के संदर्भों में यह आवश्यक ही है कि इस ज्ञान की शिक्षाओं को आगमीय व शास्त्रीय बस्तों के बंधन से बाहर लाकर पठनीय साहित्य के रूप में, प्रायोगिक अभ्यासों के रूप में, एक नई शैलीमें, शरीर विज्ञान प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान आदि आदि विज्ञानों के संदर्भों सहित परिभाषित तथा व्याख्यात करके प्रकाशित करें ताकि इस विद्या का जीवन्त अलौकिक स्वरूप सर्व समाज के समक्ष प्रकट हों। उन आदर्श 'गुरुणां गुरु' अर्हत् तीर्थङ्कर पुरुषों के उच्च लक्ष्य और प्रकाश मय संकल्पों तथा बिम्बों को रूपायित करने की स्थितियाँ भी इसी पर निर्भर हैं। वैदिक और बौद्ध योग पुस्तकों की विश्व बाजार में बहुत लोक प्रियता इसीलिए है कि उन्होंने अपने विपुल प्रकाशन से लोगों की ज्ञान पिपासा बुझाने का प्रयास किया है। इस पिपासा शान्ति में इस योग शासन का प्रत्यक्ष योगदान अभी तक नगण्य ही रहा है। यथार्थ योग विज्ञान का प्रचार-प्रसार तो दूर—हमारे यहाँ तो इस दिशा में कोई पहल ही नहीं हुई। एक दुःखद सम्पूर्ण रिक्तता ही हमारे यहां रही है, हालांकि यह योगशासन आदि–योग विद्या है। सब योग तदनन्तर इससे ही निःसृत भी हुए हैं।

इस सारे मानसिक चिन्तन में तथा इस विज्ञान की अलौकिकता से उल्लसित तथा अभिभूत मेरे चित्त के एक अन्तर्क्षण ने मुझे इस दिशा में प्रवृत्त किया और मैंने अन्तर्लक्षित किया कि इस अर्हत् हिरण्यगर्भीय विज्ञान का स्वरूप-चित्र योग, ध्यान और स्वरूप में निर्मित है। अल्प-श्रुत और विद्वज्जनों का परिहास धाम मैं अपने किंचित् अभ्यास, अनुभव तथा अध्ययन सम्बल के सहारे अन्तर्गुरु प्रसाद तथा संकल्प से प्रेरित होकर अपने उपयोग शुद्धि का भी लाभ जानकर लिखने का साहस जुटा पाया और जैसा कि कहा जाता है, छोटा आरम्भ भी कभी बड़ा आयोजन बन जाता है वैसा ही मेरे साथ भी हुआ है। मेरे राज्य-सेवा से विश्रान्ति काल के अवकाश में सतत् उद्योग कर मैं (१) योगानुशीलन (२) ध्यानानुचिन्तन और (३) स्वरूपानुचिन्तन—इन तीन वृहद्काय-कलेवर ग्रन्थों में अपने चिन्तन, अध्ययन तथा संकल्प को समेट पाया हूं।

इन तीन ग्रन्थों में प्रस्तुत योगानुशीलन दो भागों में विभक्त है और यह साढ़े छः सौ पृष्ठों में है। अन्य दो ग्रन्थ भी इतने ही आकार के लगभग है। ये सब ६–७ वर्ष पूर्व ही सामान्यतः प्रणीत हो चुके थे और प्रकाशन की प्रतीक्षा में थे। अनुभव यह रहा कि प्रकाशन व्यवस्था तो रचना से भी दुष्कर है और हमारे यहां नये लेखकों की प्रतिभा को यह कुण्ठित और हताश कर देने को पर्याप्त है। ग्रन्थ-प्रकाशकों में स्थिति-पालकता और कूपमण्डूकता के मानस बहुत हैं। नये परवेश तथा नई चिन्तना के साहित्य सृजन का प्रकाशकों में अर्थबिन्दु पर विशेष दृष्टि रहने से स्वागत ही नहीं होता और साहित्य सृजक पाठकों तक पहुँच ही नहीं पाता। मैं अभिनन्दन करता हूँ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी श्री महावीर जी का कि उन्होंने मेरी कृति प्रकाशित कर देने का निर्णय लिया।

योगानुशीलन में योग के विषय, योग के उत्स आदि पर पाठकों को बहुत महत्वपूर्ण सामग्री मिलेगी और बहुत कुछ नया भी जानने का मिलेगा जो एक नवीन कथ्य और कथ्य शिल्प के साथ है। ध्यानानुचिन्तन में ध्यान, और उसके भेद-प्रभेद और पद्धतियों पर विशेष अध्ययन है। स्वरूपानचिन्तन में योग के ही उन अंगों पर विशेष अध्ययन है––जैसे समाधि, उपासना आदि, जो योगानुशीलन में ग्रन्थ विस्तार भय से या तो न दिये जा सके या संक्षिप्त रूप में ही इंगित किये जा सके हैं। उपासना व समाधि विषय पर स्वरूपानिचिन्तन में जो विवेचन है वे योगानुशीलन में अनुपलब्ध हैं। ये तीनों ग्रन्थ वैसे अपने आप में सर्वांगपूर्ण है––और साथ ही परस्पर सम्बद्ध और पूरक हैं और साधक तथा पाठक इन्हें एक दूसरे के बाद अवश्य ही पढ़ना चाहेंगे। बहुत-बहुत दुर्लभ योग विवेचनाएँ तथा अभ्यासों के रहस्य इनमें खुलते पायेंगे साधकजन। ये साधना अभ्यासों के लिए तो साधकों को स्वर्ग ही हैं। लेखन बहुत कुछ संगति, चिन्तन, तुलना और संग्रहपरक है और बहुत विनय पूर्वक यह कहने में भी संकोच नहीं कि मौलिक भी है। ये ग्रन्थ मेरे श्रद्धेय पिता श्री लाधूलाल जी बाढदार की पावन स्मृति में योग ग्रन्थ माला के रूप में मैंने प्रणीत किये है। मैं आशा करता हूं कि योगानुशीलन के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ पुष्प भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुँचेंगे।

योगानुशीलन के विषय का बहुत संक्षिप्त विषय कलेवर एक विहंगम दृष्टि से ही नीचे दिया जा रहा है, पर यह तो अम्थि मात्र ही अवलोकन है और मेरी अनुनय है कि पाठक अध्यायों के अन्तर में ही मनोयोग पूर्वक अवगाहन करके लाभ उठाएँ। ये सब रचनायें मीनियेचर पेंटिंग सी नहीं है—कैनवास पेटिंग सी है, सागर को गागर में भरने के प्रयास रूप हैं। पर फिर भी मेरा सद्-अभिप्राय तथा प्रयास रहा है कि इन तीन ग्रन्थ चोखटों में प्राचीन योग पुरुष––अन्तरंग योग विज्ञान के दिव्य चित्र पाठकों के अन्तर्हृदय में, अन्तर्मानस में उभर सकें, उल्लसित हो सकें। अलोचन-समालोचन से पूर्व पाठक उस उभरने वाले चित्र परिचय को दृढ़ता से धारण करें तो मुझे तथा स्वयं उन्हें भी सन्तोष होगा। मैं अपनी अल्पज्ञता के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ क्योंकि "को न विमुह्यते शास्त्र समुद्रे।"

मैं आशा करता हूँ कि किसी काल बिन्दु पर मेरे इस समस्त प्रयास का वर्तमान कालिक परिस्थिति, पृष्ठ भूमि, चेतना आदि के वृहत्तर सन्दर्भों में तथा अपेक्षाओं के आलोक में, इनकी विशिष्ठ

सार्थकता में तथा सद्-अभिप्राय की संदृष्टि में समुचित मूल्यांकन होगा। अवश्य ही इनका आरम्भरण, अभिमन्त्रण के प्रयास की तरह, कि जो नवोन्मेष दृष्टि--वातायन को उन्मुक्तकर है, लोक मानस को प्रिय लगेगा और यह यथोचित सत्कार पुरस्कार पायेगा। मुझे तो इस रचना काल में जो उपयोग शुद्धि प्राप्त हुई तथा स्वान्तः सुख का आस्वादन हुआ, वह मुझे पर्याप्त ही तृप्त कर रहा है। भावना है सब ही इसके आध्यात्मिक रस से कृतार्थता अनुभव करें। कहीं-कहीं इस प्रयास में पुनरुक्ति प्रतीत हो वह आध्यात्मिक लेखन का दूषण नहीं भूषण ही है। विषय के भाव और लक्ष्य की बुद्धि द्वारा पकड़ तथा स्मृति दोनों ही इससे गहरी अंकित होने में मदद ही मिलती है।

एक संक्षिप्त विषय परिचय

प्रस्तुत योगानुशीलन दो भागों में ग्रन्थित है। पहले में छः अध्याय तथा दूसरे में सात अध्याय हैं।

पाठक पायेंगे कि प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में एक सविस्तार विषय अनुक्रमणिका है। यह ग्रन्थ की विशिष्टता है।

प्रथम भाग—

अध्याय पहला–विषय प्रवेश है अमृत स्वरूप और अमृत घट की चर्चा से। इसमें योग की परिभाषाएं, योग के स्वरूप और लक्षणों की चर्चा है। योग के विस्तार और आयाम, योगियों के भेद, योग साधना में अन्तराय आदि के भी विवेचन हैं। योग विद्या का एक सिंहावलोकन ही इसमें हो गया है। योग परिभाषा की जैन अनुयोगों के साथ अर्थ संगति अवश्य ही पाठकों को मौलिक और नवीन लगेगी। ये अध्याय अनेक आचार्यगणों की विविध विवेचना-वर्णन से परिपूर्ण हैं।

अध्याय दूसरा–इसमें षट्द्रव्य सत्ता का, सप्त तत्वों का अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य में विवेचन है। यह तत्वज्ञान वस्तु स्वरूप के ज्ञान तथा समीचीन ध्यान के लिए आधार देता है। चेतन-अचेतन के स्वरूप का सम्यक् अवधारण आवश्यक है, उस प्रज्ञा-भेद के लिए जिससे आत्म तत्व के ज्ञानतह में पहुँचना सम्भव होता है। पुद्गल के स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद व्ययध्रौव्य, षड्गुणी हानि- वृद्धि, अनन्त गुण मय आत्मा पर्याय उनमें अनन्त गुण स्रोतस्वनियाँ, आत्मा का चमत्कारिक अस्तित्व आदि के आगमिक सार यहां दिये गये हैं।

अध्याय तीसरा–इसमें आत्म तत्व पर विशेष विवेचना है। आत्म द्रव्य के लक्षण, स्वरूप और अवधारणा आचार्य श्री कुन्दकुन्द और आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ताचार्य की गाथाओं की तुलना-सहित दिया है। दर्शन ज्ञान, उपयोग के लक्षण व भेद-प्रभेद, ज्ञानाराधना के अष्टांग सविकल्प-निर्विकल्प, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, निश्चय-व्यवहार, देव-गुरु-शास्त्र की प्ररूपणाएं, जीव संगठन, जीवों की उपलब्धि-स्थान व संचरण, मार्गणाएं, जैन मनोविज्ञान में कषाय-वर्णन, मनोदशाएं, अकषाय दशा, कर्मविपाक और अध्यवसाय, अष्टकर्मावरण की व्यवस्थाएं, चार अनुयोग द्वार, निमित्त-उपादान, संज्ञाएँ,

आत्मा की स्वतन्त्र दृष्टि, नयदृष्टियाँ, वस्तु के नयातीत निर्विकल्प स्वरूप आदि के सार वर्णन दिये गए हैं जिनमें जैन तत्व ज्ञान की कथन-शैली रही है। इनमें ही अध्यात्म तत्वज्ञान की स्पष्टता की जाती रही है।

अध्याय चौथा—इसमें लब्धियों के भेद व स्वरूप दिये हैं। इनमें उन अन्तर्शोधक भाव-मोड़ों का वर्णन है जो जैन योग की विशिष्ट चिन्तना में गुणस्थान के रूप में वर्णित हुए हैं। ये साधक के जीवन में उन्क्रान्ति के मार्ग-चिन्ह हैं। इनमें साधक सिद्धावस्था तक यात्रा करता है। अध्यवसायों के परिष्कार रूप प्रवाह परिणति में गुणस्थान आरोहण होता हैं। ये उपयोगी है साधना-प्रगति को स्वतः जानते तथा नापते रहने के लिए तथा इनका मनन धर्मध्यान के रूप में चित्तस्थैर्य के लिए भी उपयोगी है। अध्यवसाय परिष्कार की यह चर्चा जैन विद्या की मौलिक चिन्तना है और जैनेतर स्थलों में अनुपलब्ध है। कर्मावरण के द्रव्य प्रत्यय व भाव-प्रत्यय रूप में बन्ध की अवस्थाएं व प्रकार आदि के विवेचनों में जैन कर्म-व्यवस्था के विशिष्ट स्वरूप हैं और ये भी जैन अध्यात्म चिन्तन की विशिष्ट देन हैं। आत्मा, आत्मा की आस्था, मोक्ष स्थिति और सिद्धात्मा के वर्णन से भी यह अध्याय संवर्धित है।

मोक्ष का स्वरूप क्या है ? क्या यह मात्र देह छूटना जितना ही है ? यह है आत्मा के दर्शन तथा ज्ञान गुण का निराबाध विकास, उनकी स्थिरता, कर्मश्लेष की साथ ही निवृत्ति। पर्याय में शुद्धि का विकास आत्म चारित्र का विकास है, वही आत्मा की शुद्ध अभिव्यक्ति की चरमता में ले जाता है। इसमें व्यवहार न गौण न निश्चय प्रधान-दोनों का सम सन्तुलन ही साधना यात्रा है। व्यवहार शुद्ध होता है स्वरूप निर्णय से, मिथ्या दृष्टि की निवृत्ति से, आत्म निष्ठा की जागृति से। जिस अनुपात में उपयोग व्यवहार में निर्मल होता है उसी अनुपात में क्रम-मुक्ति भी होती जाती है। उपयोग की निर्मलता प्रथम प्रशस्त निमित्ताश्रय से फिर निमित्तोतीर्ण होकर होती है और अनुत्तर दशा की प्राप्ति होकर प्रमुक्ति होती है। अन्तर्भावों के शोधन क्रम में भावोतीर्ण भावातीत की प्रशंसा है।

पांचवां अध्याय–यह अध्याय अनेक चर्चा प्रकारों से महत्त्वपूर्ण है। जीव और अजीव के शाश्वत जैन ज्ञान की व्याख्या है इसमें आधुनिक विज्ञान के आलोक सन्दर्भों के साथ। शरीर शास्त्र, मानस शास्त्र, मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, प्राणी विज्ञान तथा पदार्थ विज्ञान के आलोकों में अर्हंत प्ररूपणाओं के सत्य निरावृत किये हैं। अर्हंतों के सत्य ज्ञान अपने आप पर अपनी ही सच्चाई पर आधारित है। पर वे आधुनिक विज्ञान के आलोकों में भी खरे हैं।

मानव के भय मृत्यु-भय, मारणान्तिक समय के अनुभव, वैज्ञानिकों के इस सम्बन्ध में शोध व निष्कर्ष, मृत्युपरान्त जीवन, पंच देह, तैजस व कार्माण तत्त्व, जीव और अजीव की समान्तर क्रिया व भाव, चेतन अचेतन का परस्पर संश्लेषण, मन की संरचना, मन से अमृत प्रवाह, भाव इन्द्रिय और मनोलब्धि, अन्तः स्त्राविक ग्रन्थि संस्थान और उनके रस निर्झरण, तैजस देही प्राणकुण्डलिनी, प्राण-स्फोट, शक्ति-स्फोट, शक्तिपात का रहस्य, तैजस देह का उसके निरूपयोग लक्षण के कारण ध्यान में आश्रय-उपादेयता, त्रियोग संवर रूप ध्यान के तीन मौलिक प्रकार, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में कई

संस्करणों में विलुप्त तीन गाथाओं की चर्चा, आदि आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रमेयों की चर्चा इसमें है। सामायिक की और ब्रह्माण्ड की समरसताएं, आत्मा की अमर और निर्मल विराट्ता की एक विन्दु पर व्याख्या, जैन साधना में दो परस्पर पूरक विधाएं, सप्तकोश, जीव की सात मंजिलों की यात्रा, पदार्थवाद पर चेतनवाद की विजय दुन्दुभि आदि रूचिकर वर्णन से यह भरपूर है। अध्यात्म के चिन्तन व आत्म सिद्धियों के समक्ष विज्ञान तो बौना है और अभी अधूरा ही है।

छठा अध्याय–इस भाग का अन्तिम अध्याय है और उत्कृष्ट ही विचार सामग्री से पूर्ण है। जाग्रतादि भाव अवस्थाएं, भावावेश, भावोन्मेष, आस्था से भावातीत में आरोहण, भावध्येय, ध्येयभाव, चारित्र पुरुष की निर्मल उद्भावना, अहिंसक क्रान्त पुरुष की अपेक्षा, सर्वत्र समदर्शन, ज्ञान, भाव, जाग्रत भाव की श्रेष्ठता, रागादि रहित भावान्तरों की अपेक्षा, परमात्मा प्रकाश की भाव व भावातीत पर अनुपम गाथायें हैं। निराकार का सकार में पर्यवसान-अमूर्तिक आत्मा के प्रत्येक्ष दर्शन, पुरुषःकार साक्षात्कार के रहस्य आदि मनोरम विवेचन इसमें पठनीय और मननीय ही हैं।

द्वितीय भाग—

प्रथम प्रकरण–इसमें पढ़िए अतीन्द्रिय आत्म सुख, आत्मरति, शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधि, ध्यान जप के अन्तर्रहस्य, एकाग्रता और धारणा के प्रयास। सम्भोग से समाधि रूप मिथ्या प्रस्थापना का निराकरण, ब्रह्म विहार के नाम पर लोगों की ठगी का पर्दा फास, सप्त सर्वज्ञ मण्डल, अरहन्तों के अन्तरीक्ष मण्डल, औदयिक आदि पंच भाव, कार्य व कारण परमात्मा, कार्य परमात्मा की उपलब्धि, भगवान, ईश्वर आदि की परिभाषाएं और लक्षण इन सब के विवरणों से यह अध्याय साधना पक्ष के लिए बहुत स्पृहणीय है।

द्वितीय प्रकरण–इसमें उन महत्त्वपूर्ण योग मीमांसाओं की चर्चा है जो आचार्य कल्प प० टोडरमल जी के मोक्ष मार्ग प्रकाशक में आई है। साथ ही प० बनारसीदास जी की परमार्थ वचनिका की चर्चा है। प० टोडरमल जी व प० बनारसीदास जी न केवल विद्वान थे वे अध्यात्म के मर्मज्ञ भी थे। रहस्यपूर्ण चिट्ठी जो प० टोडरमल जी की है अतिप्रसिद्ध ही है। मोक्ष मार्ग प्रकाश में स्वरोदय,, प्राणायाम अनहदनाद, अजपा जाप, आदि के निषेध है–इनके मूल प्रयोजन भूमिका भेद, वीतरागता की प्रमुखता के सन्दर्भ आदि यहां स्पष्ट किये गये है। योग, ज्ञान, मोक्ष, अनुभव, परिणाम मग्नता, ध्यान के उत्तरोतर प्रत्यय, सामान्य विशेष, केवल ज्ञान विशेष पर्याय, व्यक्ति दशा का उद्घाटन मोक्ष मार्ग एक, आदि आदि साधनोपयोगी इनके विचारों का सार ही यहां प्रस्तुत किया गया है। साथ ही आजके सन्दर्भ में समयोपयोगी विचार भी जो तप, व्रत महोत्सव-प्रदर्शन तथा अन्तरंग साधना ध्यान की विशेषता ही रखने सम्बन्धी है दिये गए हैं। ये व्यक्ति और समाज की उत्थान की दृष्टि से मूल्यवान हैं।

तृतीय प्रकरण–यह अध्याय इस सारे योगानुशीलन में साधना दृष्टि से अति ही महत्त्वपूर्ण है। यहां योग अध्ययन का सारसर्वस्व ही अभ्यास दृष्टि से उपस्थित कर दिया गया है। साधना-लक्षण; रूचि, तत्व, भेद पद्धति, साधना क्षेत्र का विस्तार, सराग व वीतराग साधना भेद, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा

उपदिष्ट सोहं साधना, हंस, सोहं और परमहंस, कायोत्सर्ग, कायप्रेक्षा, प्राण प्रेक्षा, चित्त प्रेक्षा, चैतन्य चक्र प्रेक्षा और सर्वोपरि स्वात्म परमेष्ठि प्रेक्षा, नाद, चन्द्रलेखा, कला, चित्त की अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति सामायिक-दीप, अन्तर्यात्रा प्रकाश की धाराएं, आभामण्डल, चित्त व चिद् कला अन्तर्शोधन ध्यान की पांच अवस्थाएं, ध्यान की सप्त भूमिकाएं, क्षणोत्तीर्ण अवस्था की विधि, चतुर्भेदक ध्यान और ध्यान की सप्त भूमिकाओं की संगति आदि, उन विषयों की चर्चा यहां है जो उच्च साधना सोपानों के लिए आवश्यक और लाभकारी है ।

आज के मानव परलोक या स्वर्ग या नरक के प्रलोभन या भय से प्रभावित नहीं होते । पर मनोविज्ञान वेत्ता व मानस-शास्त्री आज के इन मानवों को पूर्ण शिथलीकरण कराते हैं, अनेक मानस व्याधियों और तनावों से मुक्ति दिलाते हैं । यह कायोत्सर्ग की ही एक प्रकिया है । अपनी मनो व्यथाओं को अपने आप से या किसी व्यक्ति को कह डालने की विधि को आज प्रसिद्ध किया जाता है । पर वह भो तो आत्म निरिक्षण या आत्म विवेचन जिसे प्रेक्षा कहते है, का ही तो एक रूप है । वैज्ञानिकों ने शोध कर पाया है कि संवेदन शील केन्द्रों पर एलेक्ट्रोड का बिल्ली पर प्रयोग करने पर बिल्ली में अद्‌भुत स्वभाव परिवर्तन होता है । वह इतनी अहिंसक हो जाती है कि चूहे उस पर कूदते रहें पर वह उन्हें कुछ भी क्षति नहीं पहुँचाती । अन्त: स्रावी ग्रन्थियों में रस परिवर्तन चक्र प्रेक्षा में सम्भव है । संवेदन शील चक्रों तथा केन्द्रों के ध्यान स्वभाव परिवर्तन कर देते हैं । इस प्रकार कषाय मुक्ति को विज्ञान के शोध प्रमाणित कर रहे हैं । दूर दर्शक शक्ति जिसे दिव्य नेत्र कहते हैं की पुष्टि विज्ञान ने की है । २६ नवम्बर १९३४ को "रायल यूनिवर्सिटी ऑफ रोम" में मनुष्य के दूर दर्शन शक्ति का प्रदर्शन किया गया । स्नायविक मनोविज्ञान के प्राध्यापक डा० गिसेप कालिगीरस ने एक व्यक्ति के शरीर के कतिपय स्थानों को दबाया और उसने दीवार की ओर मोजूद लोगों और चीजों के बारे में सही-सही जानकारी दे दी ।

वस्तुत: अध्यात्म तो विज्ञान से बहुत बड़ा है । इसके अभ्यासों से मानव की पराशक्तियों का पुन्ज खुल जा सकता है । चैतन्य ऊर्जाओं के विकास की दिशा मानव के लेने पर क्या सम्भव नहीं है ?

योग वस्तुत: चेतना को निर्मल करने की विद्या है, कला है, पद्धति है, विज्ञान हैं । मानव निर्मल हो उसकी दृष्टि निर्मल (सम्यक्) हो, रहनी स्वच्छ हो, उसकी अन्त:सुप्त भावनाएं जागे और विकसित हों यही योग का मार्ग-'मग्ग' है । पर विडम्बना है कि इसे भी एक सम्प्रदाय, मत और मजहब का नाम दे दिया गया है । यह मानव के अन्त:स्वभाव से जुड़ा है और स्वभाव का ही अन्य नाम धर्म है ।

इसी अध्याय में भाव शुद्धियों, अनुप्रेक्षाओं आदि का भी अंकन है जो मानव मानस के सद् संरचना व साम्यभाव के अविर्भाव में सहकारी हैं ! पंचशील भावनाएं, सोलह कारण भावना, दश धर्म भावनाएं संवर व निर्जरा व शुद्ध भाव व नय की अपेक्षा, अहिंसा और करुणा और प्रेक्षा ध्यान की निष्पत्तियां आदि की जानकारी तत्वोदय भावोदय करती है, ज्ञान क्षितिज को आलोकित करती है ।

अष्ट पाहुड के मंगलाचरण में ही पद आया है – 'दर्शन मार्ग' इस दर्शन को निष्ठा व श्रद्धा तक ही तक सीमित न समझें । यह तो अन्तर अवलोकन की विद्या तक विस्तार पाता है और मात्र दर्शन रूप में केवल दर्शन व केवल ज्ञान को संकेतित करता है ।

केवल दृष्टा कब परिणत हो ? द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म के सूक्ष्म प्रकम्पनों एवं भाव लहरियों की प्रेक्षा से उनके क्षेत्र से परे मात्र चैतन्य अनुभूति में स्थिर होकर वह दर्शन है। मन के द्वारा सूक्ष्म मन, सूक्ष्म मन के द्वारा चेतना, सूक्ष्म चेतना द्वारा आत्मा को देखा जाए फिर आत्मा के द्वारा आत्मा देखों यही दर्शन-मार्ग का विकास क्रम है।

योग का मार्ग मन वचन काया के संवर व ध्यान द्वारा साधक को आत्मा के ही सम्मुख कर देता है। प्रेक्षाध्यान अतः अर्हंत तीर्थंकरों की मौलिक ही विद्यो द्या है। अनुभव प्रकाश (पृष्ठ १३) पर स्पष्ट कियागया हैं—

"ज्ञान जानने मात्र, दर्शन देखने मात्र, सत्ता अस्ति मात्र, वीर्य वस्तु निष्पन्न सामर्थ्य मात्र, केवल ऐसा प्रतीत्य मात्र, रुचिभाव की, आस्तिक्यता श्रद्धान चाहिए। तिस तैं उपजी आनन्द कन्द में केलि करि सुखी हों.... स्वरूप में केलि स्वरूप में परिणति रमावणी तिस तैं सुख समूह भया है और इस तैं ऊँचा उपाय नाही। भव्यन को शिवराह सोहली (सरल सहज) यह भगवन्त ने बताई है"।

आचार्य शुभचन्द्रादि ने भी इसी को उत्कृष्ट ध्यान तन्त्र बताया है आज के युग की सम्बोधि के सन्दर्भ में योग मग्ग के सत्व व अस्तित्व को परिभाषित करते हुए इस विद्या का प्रभेद सहित अंकन साधकों को लाभकारी है। पदार्थ प्रतिबद्धता को तोड़कर चैतन्य प्रति बद्धता के दर्शन विधा की आज विश्व को कितनी अपेक्षा है !

चतुर्थ प्रकरण—यह एक विस्तृत बिवेचना मय प्रकरण है। योग के प्रवक्ता भ० हिरण्य गर्भ ऋषभदेव या वृषभनाथ हैं वेदों के अनेक सूक्त, नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त, पुरुष सूक्त आदि के अर्थ नव्य दृष्टि से जो प्रचलित व रूढ़ीगत नहीं है —अर्थ प्रस्तुत करके तथा अनेक पुराणादि के उद्धरण देकर प्रस्थापना प्रस्तुत हुई है कि सर्व धर्मो तथा योग के ज्ञान के मूल स्रोत एक ही है। वह स्रोत भ० हिरण्यगर्भ ऋषभ देव एक मात्र ही है। सर्व धर्म सम भाव व समन्वय की वे आज भी दृढ़ कड़ी है। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराणों के आलोक इस एक ही निष्कर्ष को आलोकित करते हैं। गिरि गुहा और पर्वत मालाओं में ध्यान रत, तपोरत अर्हंत् सर्वज्ञ पुरुषों का प्रवाहित योग मार्ग और उसके दर्शन व ज्ञान मय निर्मल आत्मा के दर्शन एवं चरित्र गठन ही आज भी आग्रह योग्य है। भारतीय ज्ञान और संस्कृति कीं जड़े कितनी ही सूदूर प्रागैतिहासिक काल के गर्भ में से आई हैं। जीवन के प्रति आस्थाएं, जीवन के मूल्य, पद्धतियां उन अर्हंत् पुरुषों ने कितने पूर्व, वेदों से भी पूर्व स्थिर कर दी थी। वे निग्रन्थ थे। ग्रन्थ निर्माण ब्राह्मणों ने किये। वेदों में अतः उनकी स्तुतियां हैं उनके ज्ञान के संकेत हैं। उनके योग मार्ग, ध्यान केवल ज्ञान, अंग शास्त्र आदि के वेदों में उल्लेख है। जो उनके योग शासन को वेद पूर्व बताने को पर्याप्त हैं। वेद में उनके उल्लेखों का अर्थ यह नहीं है कि ये सब वेद से निःसृत है यह कहना वैसा ही होगा जैसे मेरी इस पुस्तक में इस्लाम व ईसाई धर्म का, जो आज ~~मेरे~~ इस काल में मेरे से पूर्व से ही प्रवाहित आ रहे हैं, मैं उल्लेख करूं और मेरे बाद आने वाले यह तर्क करें कि इस्लाम व ईसाई धर्म मेरी इस पुस्तक से निकले हैं। समकालीन या पूर्व कालीन स्थितियों का वाङ्मय में परिचय आता ही है। यह स्वभाविक है।

पंचम प्रकरण–बोधि, सिद्धि और मुक्ति के इस योग मग्ग के अणुत्तर मार्ग के स्वरूप व उत्स का इसमें स्पष्टीकरण है। भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा वर्णित भगवान ऋषभदेव हिरण्यगर्भ द्वारा योग के प्रवचन प्रसंग का तत्वोपदेश का जो श्री गौतम गणधर प्रभु के श्री मुख व परम्परा से आया है वर्णन यहां दिया गया है। योग के महत्त्वपूर्ण षडंगो की परिभाषाएं यहां दी गई है। भगवान ऋषभदेव हिरिण्यगर्भ का जैन सूत्रानुसार संक्षिप्त जीवन वृत और परम्परा का वर्णन किया है।

वस्तु व्यवस्था की ज्ञान रश्मियां, ध्यान प्रकाश के चरण तथा "ध्यानाध्यन" ग्रन्थ के ध्यान तत्वों के सारशं दिये हैं। ये ही धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान प्ररूपणाओं के रूप है। संयम और तप के दश भेदों के भी वर्णन दिये हैं।

छठा प्रकरण–इसमें योग सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी जानकारियां है। आ० हरिभद्र की कृतियों का व योग संदृष्टियों का परिचय दिया है। अष्टविध अमृत कुम्भ व अष्ट विध विष कुम्भ क्या है ? इन्हें भी समझिए। इनका मुक्ति होने में क्या अनुक्रम है ? 'योग मार्ग' के अष्टांग योग के स्वरूप, परिभाषाएं, त्रियोग मय भगवान वृषभदेव की साधना-वर्णन, चतुर्भेदात्मक ध्यान के प्रत्ययों की चतुर्गति के के साथ संगति, धर्मध्यान आदि यहां विवेचित है। योग विज्ञान और उपनिषद् ज्ञान की साम्यता और विलक्षणता, ध्यान प्रक्रिया जो सर्वज्ञ प्रणाली की है, वर्तमान क्षण का केवल किरणों वाले स्वरूप में सतत् निवेदन आदि के महत्त्वपूर्ण विषय हैं जो विवेचन किये गए हैं।

सातवां प्रकरण–इसमें अर्हंत् हिरण्य-गर्भ भगवान ऋषभदेव के योग धर्म शासन के अनेक अन्तरंग विशिष्ट बोधों और प्रेरणाओं का विवेचन हैं। पांच भावों सहित आत्मा का देखना, सर्व धर्म मय अनेकान्त, केवल स्वयं प्रमाण अवलोकन (मात्र देखना), समीचीन आत्म धर्म, शुद्ध शील का सूत्र, धर्म और विज्ञान का समन्वय, अमृत मय केवल किरणों की वर्षा और धाराएं, सर्वोदय धर्म तीर्थ, जैनो के परम तत्व 'सिद्धपद' की भावना तथा गतिशील आचरण-चरण रूप सम्यक् चारित्र की भावना तथा भगवान हिरण्यगर्भ के ज्ञान मय अप्राकृत पुरुषाकार ध्यान द्वारा अमर जीवन आदि का वेदों में संग्रह आदि के साथ तथा अन्य अनेक प्रेरक विवेचन पूर्वक योगानुशीलन का उपसंहार है।

परिशिष्ट १ में भ० ऋषभदेव की वन्दना है। जो अन्त्य मंगल वाचन के रूप में है। परिशिष्ट २ में अन्तिम तीर्थंकर भ० वर्धमान महावीर के बाद में जो दिगम्बर जैन योगीश्वर आचार्य परम्परा का प्रवाह रहा हैं उनमें प्रमुख आचार्यों के नामों की सूचि दी गई हैं। परिशिष्ट ३ में योग शासन के अध्यात्म तत्वों की संख्या आदि के सम्बन्ध से यन्त्र लेखन की विधियों की सूचना दी गई है। चतुर्विंशति तीर्थंकरों, सप्तशत विंशति जिनेश्वर प्रभुओं, त्रेसठ शलाका पुरुषों के नाम आदि को दिया गया है। ये प्रथमानुयोग के विषय है। इस ग्रन्थ में गुण स्थान वर्णन से करणानुयोग, आत्मादि के स्वरूप वर्णन से द्रव्यानुयोग, साधना व चारित्र अभ्यास आदि के वर्णन से चरणानुयोग और त्रेषठ शलाका पुरुषों व सात सो बीस जिनेश्वरों के संकेतों से प्रथमानुयोग देकर यहाँ चारों अनुयोग द्वारों की भावना हमने पूर्ण की

हैं । णमोकार मन्त्र से निष्पन्न तत्व संख्याओं के विस्तार से यह योग धर्म ही सांख्य कहा जाये और भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही यथार्थ प्रचीन ज्ञान योग (सांख्य) के प्रवर्तक हैं—ऐसी मान्यता व विचार प्रस्तुत किया है । अर्थात् भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही योग के प्रवक्ता तथा सांख्य के कपिल हैं, उनसे पूर्व कोई पूर्ण पुरुष नहीं हुआ—यह प्रस्थापना इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के चौथे पांचवें प्रकरण के विषय-विचार विस्तार में है और यह पाठकों को मननीय है ।

चतुर्विंशति तीर्थंकरों की कल्याणक तिथियों में से कई तिथियों के सम्बन्ध में उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, तिलोयपण्णत्ति पदम-पुराण, त्रिलोकसार आदि-पुराण आदि आदि में मत भिन्नता है, मेरे लिए यह बडा मुश्किल था कि मैं इस सम्बन्ध में निर्णय करूं की कौन तिथि सत्य है । मैंने अतः आधार लिया है परम पूज्य आचार्य सूर्य सागर जी महाराज द्वारा संग्रहित "सद्बोध मार्तण्ड" ग्रन्थ का, जो द्वि० संस्क श्रीयुत प० मुन्नालाल जी काव्य तीर्थ ईन्दौर से सम्पादित तथा १९४२ वर्णी में लक्ष्मीचन्द जैन सूर्यसागर संघ द्वारा प्रकाशित है । यह स्पष्टीकरण इस लिए देना अपेक्षित समझता हूं कि इस विषय में किसी को कोइ गलत फहमी न हो । मैंने यह उचित नहीं समझा कि कोई तिथि तथ्य एक पुराण यह का हो या किसी अन्य का किसी एक ही पुराण से लेने पर भी यह कहा जा सकता था कि मैंने इस पुराण से तो लिया, अन्य से क्यों नही । अतः मैंने पुराणोत्तर उक्त संग्रह ग्रन्थ का ही सहारा लेना उचित समझा है । इस में पृ. २७२ २७३ के मध्य एक चार्ट "श्री परम पूज्य १००८ तीर्थंकर देव की संसार व्यवस्था का सामान्यतया दिग्दर्शन" दिया हुआ है । पूज्य आचार्य श्री सूर्य सागरजी महाराज तपस्वी ही नहीं, विद्वान भी थे, उन्होंने संग्रह में जो भी लिखा वह मेरी दृष्टि में तो छानबीन करके ही लिखा होगा और मैंने अतः उसे आदर पूर्वक स्वीकार किया है । नारद के विषय में भी उक्त ग्रन्थ पृ. २८२ पर लिखा गया है कि ये भी कालांतर में नियम से मोक्ष जाते हैं, पर हरिवंश पुराण में नारद का मोक्ष जाना भी बताया जाता है। दृष्टि-भेद पुराणों में पाये जाते हैं । सुसेना या सुषेण या सुप्रतिष्ठित ये भेद मौलिक भेद नहीं है । आचार्य परम्परा जो दी गई है—उसका स्रोत मैंने परिशिष्ट में ही उललखित कर दिया है और वह मान्य सामग्री जानकर ही दी गई है । पाठकगण भूल सुधार कर पढ़ें—यही विनय है । प्रेस की जहां भी त्रुटिया रही है, वे क्षम्य हैं । यह रचना संग्रह परक है और संग्रह-ग्रन्थ में लेखक तथा लेखन की परिसीमाएं रहती ही हैं ।

योग साधकों को स्मरणीय है कि केवल निज आत्मा ही परम प्रभु है परम गुरु है, ज्ञानधन, स्वयं भू और आनन्द रूप हैं । मानवता के परिपूर्ण विकास के बिना इस प्रभु की दिशा में प्रगति नहीं होती । सद्व्यवहार, सद्चारित्र में ही एक मात्र उनके पथ की दिशा हैं। हम वीतरागता के गीत गायें, चर्चाएं करें, उस प्रभु को वीतराग कहें, पर हम संसार के पदार्थों में आसक्ति पूर्वक रत रहें, प्रतिबद्ध रहें परस्पर के शोषण मार्ग में चलें, हिंसा और अहिंसा–करुणा के सूक्ष्म भावों का विवेक न रक्खें, व्यवहार उद्धत और अविवेक पूर्ण हो, समाज में असन्तुलन या अव्यवस्था करने वाले हों, तो यह तो वीतराग का मार्ग नहीं है । तीर्थंकर भगवन्तों से उपदिष्ट और आचरित तत्व, ज्ञान तथा साधनाएं परम शान्ति और प्रकाश के दिव्य स्तम्भ हैं । वे मार्ग दर्शक पाथेय बनने चाहिए । वे प्रभु अमृत से लबालब

भरे महासागर ही परिणत हुए । क्यों न हम अपने घटों को वैसे ही अमृत रस से आपूर्ण भरते ? इस अलौकिक स्वीय आत्मिक परमानन्द का अपनी अक्षय सत्ता का, अपने निर्मल अस्तित्व बोध का आनन्द लें । इस परमानन्द का भावनापूर्ण आस्था से आस्वादन करें । निश्चय ही सर्वत्र तीर्थंकर योगीन्द्रों के ज्ञान प्रभा–मण्डल में चेतना के उर्ध्वारोहण करते ही निज आनन्द पारावार का आस्वादन होता है और ज्ञान–भास्कर का अरुणोदय होता है ।

अब इस कथ्य को समाप्त करता हूं श्री राजेन्द्र अवस्थी सम्पादक कादम्बिनी के आह्वान के साथ—

“आइए हम आह्वान करें अनन्त प्रकाशित शक्ति सूर्य का कि वह हमें ऊर्जा दे और उसे अक्षय बनाये रखें । महारथी सूर्य की छाया चन्द्रमा हमें शान्ति दे और शक्ति भी कि हम स्वयं दीपक बनें ताकि दूसरे हाथ उठें हमारा आह्वान करने के लिए ।”

वास्तव में हमें आत्मा–सूर्य की ऊर्जाओं की शक्तियों की तथा मन चन्द्रमा की शान्ति की बहुत बहुत जरूरत है । अतः आइये अन्तर्दीपों को जलाएं और प्रज्वलित रखें योग मार्ग की मशाल से ।

आभार ज्ञापन

हमारी विशिष्ट संस्कृति में गुरु के अनुदान की महिमा का दर्शन किया जाता है । रचनायें उनके स्मरण से आरम्भ की जाती हैं और समाप्ति पर भी उनका ही स्तवन किया जाता है । पर वस्तुतः गुरु वर्णनातीत तत्त्व है । उनके अनुग्रह तथा उपकार व स्वरूप वर्णन के लिये अखिल शब्द लोक ही दरिद्र लगते हैं । उनके सम्बन्ध में निष्ठा व धारणा हृदय की परम शुचि, परम अमूल्य निधियाँ है । उन्हें हृदय से बाहर लाकर कौन सा हृदय उन्हें आलोचना का विषय बनाना चाहेगा ? वे हृदय की अन्तरतम गुहा में ही पोषणीय हैं । उनके उपकार की यथार्थ परिचय चेष्टा मेरे निकट अक्षम्य घृष्टता नहीं हो तो और क्या हो ? अतः उनके लिए आभार प्रकट करना न सम्भव है, न शक्य हैं ।

ज्योतिपुन्ज ब्रह्मलीन गुरुदेव के स्मरण के अनन्तर मैं आभार प्रकट करता हूं चार विशेष पुरुषों का—(१) स्व० मास्टर मोतीलालजी संघी—जिन्होंने मुझे बड़े स्नेह के साथ “ज्ञानार्णव” योग के महाग्रन्थ को देकर पारायण की सद्प्रेरणा दी और योग रुचि का बीज बपन मेरे हृदय में हुआ । (२) मेरे श्रद्धेय पिता स्व० लाधूलालजी बाढ़दार जिनसे मुझे ध्यान की रुचि और प्रेरणा मिली । (३) मेरे श्रद्धेय नाना साहब स्व० रामसुखजी काला जिन्होंने बचपन में मुझे पावन सम्मेद शिखरजी की यात्रा कराई और वहाँ मुझे आचार्य शिरोमणी श्री शान्तिसागरजी व उनके संघ का प्रभावक दर्शन लाभ मिला तथा (४) मेरे श्रद्धेय श्वसुर स्व० श्री कस्तूरचन्दजी लुहाड़िया इमारत वाले जिन्होंने न केवल दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा कराई साथ ही उन्होंने मुझे जिनालय में जिनेश्वर प्रभु की पूजा विधि में सर्वप्रथम शिक्षित तथा दीक्षित किया । मैंने तब समझा कि खंड भाव से अनन्त अखंड परम आत्मा सत्ता के प्रकाश की उपलब्धि का पथ क्या है ? वस्तुतः जिस हृदय में सकल अंश (खंड) की भक्ति भाव का भी उदय न हुआ हो, वह अखंड सर्वांश परम चिद्भाव की भी आराधना कैसे कर सकता है ?

मैं आभारी हूं आचार्य श्री विमल सागरजी महाराज का जिनके सम्मेदशिखरजी में अहेतुकी अशीष ने मेरे मानस में घूमते स्वप्न को कृति रूप में साकार करने में अवलम्बन दिया ।

मैं आभारी हूं ऐलाचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज का जिन्होंने जयपुर प्रवास में इस लेखन की पाण्डुलिपि का अवलोकन कर साशीर्वाद अनुग्रह किया ।

मैं आभारी हूं दिवंगत काहनजी स्वामी का जिन्होंने धौलपुर में मेरे यहाँ राज्य सेवा निवास स्थान पर ससंघ ठहरने और प्रवचन करने का अनुग्रह कर कृतार्थ किया ।

मैं आभारी हूं आचार्य श्री तुलसीगणी तथा युवाचार्य मुनि नथमलजी का जिन्होंने मुझे लाडनूं में आमन्त्रित करके मेरी तीनों ग्रन्थ पांडुलिपियों का अवलोकन किया और मेरी कृतियों की सराहना की । उन पांडुलिपियों को अवलोकन हेतु करीब २–३ माह रक्खा । तदनन्तर मेरे स्वतन्त्र प्रेक्षा ध्यान की सराहना में मुझे पुलिस अकादमी जयपुर में लगाये दस दिवसीय योग प्रशिक्षण शिविर में आमन्त्रित कर भाग लेने का सुअवसर भी दिया ।

मैं आभारी हूं अपनी सहधर्मिणी उमारानी, सुपुत्र अशोककुमार तथा सुपौत्र चि. शैलेन्द्रकुमार, आलोककुमार एवं सुपौत्री अर्चना कुमारी का जिनके साहचार्य में मुझे इस लेखन में सुगमता तथा वार्धक्य जीवन में खुशी मिली है ।

मैं आभारी हूं प्रो० प्रवीणचन्द्रजी तथा मेरे बड़े भाई समान गांधीवादी श्री जवाहरलालजी जैन का, इन मित्रों से मुझे बराबर सत् प्रोत्साहन मिला है ।

मैं आभारी हूं दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के सदस्यों का जिन्होंने मेरी योग कृतियों के प्रकाशन का निर्णय लिया है । आशा है अन्य कृतियों के प्रकाशन की भी व्यवस्था शीघ्र होगी और वे पाठकों के हाथों में पहुंचेगी ।

इत्यलम् ।

विनीत

कैलाशचन्द्र बाढ़दार

१६–१०–८२.

२, उमा निवास,
अजमेर रोड़,
जयपुर–१

अनुक्रमणिका

(१) समर्पण iii
(२) प्रकाशकीय iv
(३) आमुख–आशीर्वचन vii
(४) मूर्धन्य पं० श्री मूलचन्द्र शास्त्री का अभिमत xi
(५) तपस्विनी व अतिविदुषी ब्र० कुमारी कौशल का अभिमत xii
(६) प्रस्तावना–महामहोपाध्याय पं दामोदर शास्त्री, नई दिल्ली xiii
(७) ग्रन्थ-प्रस्तुति और आभार ज्ञापन आदि xv
(८) अनुक्रमणिका xxxiv

योगानुशीलन प्रथम भाग

(१) आदर्श वाक्य गाथा–(श्री प्रवचनसार)
(२) मंगल वाचन

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
पहला	स्वरूपामृत प्रदायिनी यह योग विद्या (योग-विमर्ष)	५–३१
दूसरा	षड्द्रव्यात्मक अनन्त विश्व सत्ता परिप्रेक्ष्य में तत्व विवेचन ।	३२–४७
तीसरा	चेतन (आत्मा) द्रव्य पर विचार विमर्श ।	४८–८४
चौथा	अन्तर्शोधन के विशुद्धि मार्ग में भावों के मोड़ और गुण संक्रांतियाँ ।	८५–११५
पाँचवाँ	सर्वज्ञ अरिहंतों के चिन्तन निष्कर्ष विज्ञानों के आलोक में	११६–१६६
छठा	भावोन्मेष ही भावोन्मेष, भावों के खेल और भावातीत	१६७–२२६

योगानुशीलन–द्वितीय भाग

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
पहला	अतीन्द्रिय सुखमय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधियाँ, वर्ण अवर्ण लेश्या सहित एवं लेश्यामुक्त ध्यान एवं अन्य महत्वपूर्ण अभ्यास तथा परमात्मा के विकास की विधि	२३५–२६८
दूसरा	उद्वोधक योग मीमांसाएँ, मोक्ष मार्ग प्रकाशक और परमार्थ वचनिका में	२६९–२९२
तीसरा	साधना विमर्श तथा पर्यालोचन। अन्तर्दृष्टि दीप से स्वात्मा की प्रेक्षाएँ और भावनाएँ	२९३–३५१
चौथा	योग शासन की प्रागैतिहासिक तथा वेदपूर्व परम्परा, प्राचीनता और प्रमाणिकता	३५२–४७९
पांचवां	बोधि सिद्धि और मुक्ति का यह अनुत्तर–"मग्ग" (मार्ग) योग शास्ता श्री ऋषभदेव का संक्षिप्त जीवन वृत्त और योग तत्त्वोपदेश	४८०–५२७
छठा	योग संदृष्टियाँ। अष्ट विध विषकुम्भ और अष्ट विद्य अमृत कुम्भ। योग मार्ग और अष्टांग	५२८–५७४
सातवां	इस अन्तरंग योग शासन के विशिष्ट स्वरूप बोध—सर्वोदय तीर्थ एवं विश्व धर्म। अन्त्य मंगल वाचन	५७५–६१३

परिशिष्ट—(१) वंदना ६१४–६१५
(२) भ० महावीर के पश्चात् दि० श्रमण योगीश्वर आचार्य परम्परा ६१६–६१९
(३) दि० जैन संस्कृति के वैश्विक प्रवाह संदर्भ में ६१९–६४५
(४) संदर्भ ग्रन्थ सूची ६४६–६४७
(५) लेखक का संक्षिप्त परिचय ६४८–६४९
(६) शुद्धि–पत्र

5424

योगानुशीलन

प्रथम भाग

आदर्श (गाथा) वाक्य

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।

—श्री प्रवचन सार

चारित्र ही वास्तव में धर्म है । जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा (शास्त्रों में) कहा है । साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम हैं ।

मंगल-वाचन

योगीश्वरान् जिनान् सर्वान् निर्धूतकल्मषान् ।

योगस्त्रिभिरहं वन्दे योग-स्कन्ध प्रतिष्ठितान् ।। —(योगीन्द्र पूज्यपादाचार्य)

प्रणाम करता हूँ उन समस्त योगीश्वर अरहन्त जिनेश्वर-प्रभुओं को मन वचन और काया के त्रय योग पूर्वक, जिन्होंने योग साधना से निज आत्मा पर से सर्व कर्म-कालुष्य को नष्ट किया और जो योग के स्कन्ध (सार-सर्वस्व) रूप निर्मल रूप में प्रतिष्ठित हुए ।

विविक्तमव्ययं सिद्धं स्व-स्वभावोपलब्धये ।
स्व-स्वभाव-मयं बुद्धं ध्रुवं स्तौमि विकल्मषम् ।। —(आ० अमितगति योगीराज)

मैं निज स्वभाव की संप्राप्ति के अर्थ उन सिद्ध-प्रभु का स्तवन करता हूँ जो पवित्र और निर्मल हैं, कर्म व कषायादि मल से रहित हैं, ध्रुव हैं, बुद्ध हैं, अविनाशी नित्य और स्व-स्वभाव-मय हैं ।

परम परं ज्योति कोटि चन्द्रादित्यं किरण सुज्ञान प्रकाशा ।
सुरर मुकटमणिरंजित चरणाब्ज शरणागु प्रथम जिनेशा ।। —(रत्नाकर वर्णी)

हे प्रथम जिनेश ! परं परम-ज्योति कोटि-कोटि चन्द्र और सूर्य किरणों से जो देदीप्यमान हैं, वह सुज्ञान (केवल-ज्ञान) प्रकाश हैं, उन आपके सुचरण सरोजों की शरण ग्रहण करता हूँ—वे सुरगणों की मुकट मणियों द्वारा (सुरगणों के आपके चरणों में वंदना के समय झुकने से) रंजित हुए हैं ।

श्री हिरण्यगर्भ परम पुरुष प्रथम जिनेश ।
नृप नाभि के सुत द्युतिमान् प्रभु ऋषभ नाथ ।
योग-धर्म के शास्ता वर धर्म-चक्रेश,
आदि-शिव आदि-ब्रह्म कैलास के परमार्थ ।।

आदित्य-वर्ण ज्योति-पुंज तम से अतीत,
पुर सृष्टि लिपि धर्म दे, किया जन उपकार ।
अग्रज सर्वज्ञ ऋषिगणों के ध्येय पुनीत,
महामानव केवलि स्वयम्भू समय सार ।।

विश्व पूज्य हैं सदा आपके चरण कमल,
हे चिर पर्याय-प्रवाह-पार, चिर महान् ।
योग-अनुशीलन में मति रहे अमल,
प्रोज्ज्वल रहे वर योग का चारित्र-भान ।।

(१)

विविक्तात्मा-परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योग-निर्धूत पातकैः ।।

—योगसार प्राभृत ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपं रत्नत्रयात्मकः ।
योगो मुक्ति प्राप्तेरूपायः परिकीर्तितः ।।

—योग प्रदीप ।

(२)

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता,
नान्यः पुरातनः ।।

—याज्ञवल्क्य-स्मृति एवं महाभारत ।

(३)

प्राचीनतम हैं क्षत्रिय श्रमणों की ये दो परम्पराएं इस देश में—

योग विद्या में रति
तथा
रण में वीर गति

द्वाविमौ पुरुष-व्याघ्र सूर्य मंडल भेदिनौ ।
परिवाड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ।।

—महाभारत

हे पुरुष सिंह !

सूर्य-मंडल का वेधकर मुक्ति प्राप्ति ये दो ही करते हैं—

एक तो वे जो योगाभ्यास रत मुनिजन हैं, दूसरे वे जो रण में शत्रु से सम्मुख संघर्ष करते-करते वीर गति प्राप्त करते हैं ।

१. स्वरूपामृत प्रदायिनी योग विद्या (योग विमर्श)

- विद्याओं में श्रेष्ठ अमृत दायिनी विद्या
- अमृत अमर परिणामी रस
- अमृत घट वे जिनने अमृत प्रकाश ज्ञानानन्द रस पाया
- मानव की दुःख दुविधा
- पर ज्ञेय में सुखाभास
- एक तृण और चकमक, कस्तूरी मृग, और मृग तृष्णा, एक अबोध शिशु जो निज घर भूला,
- भेड़ों में सिंह शावक
- स्व बोध जागृति और पर पदार्थ स्वांग निवृति
- मानव तेरी परिभाषा क्या
- चैत्य पुंज – चैत्य वृक्ष
- तीन प्रकार के घट—फूटा घट, स्वर्ण घट, और चिन्तामणि घट
- मन से उत्कट
- क्या हेय क्या उपादेय : दिशा बोध
- योग क्या है ? परिभाषाएं
- योग का विषय
- योग का स्वरूप
- योग ऐश्वर्य
- योग के हेतु
- योग के अन्तराय
- योग में स्वरूप लीनता

- चित्त अनांकुलता ध्यान
- ध्येय : जीव की कर्म सम्बन्ध से विमुक्ति
- बहिरन्तर वचनालाप का निरोध
- आत्मा का आत्मा में चिन्तवन
- आत्म ज्योतिर्दर्शन
- रत्नत्रयात्मक मोक्षोपाय
- जीवन की सद् स्वीकारता में औदात्य
- सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का रहस्य
- जीवन की मौलिक तीन प्रवाह धाराएं
- स्व में एकाग्रता : स्व समयसारता
- स्थिरता, समग्रता और समदर्शिता
- अन्तरंगता की विशेषता
- देह देवालय
- योगी कौन ? योगी का स्वरूप
- ग्रन्थि-विमोचन और निर्ग्रन्थता
- प्रारब्ध योगी : निष्पन्न योगी
- आधुनिकता के सन्दर्भ में यह योग
- अमर जीवन और उसका मान
- चेतना की सतत उज्ज्वलता और उर्ध्वीकरण
- अन्तर आलोक से योग का प्रमाण
- अभ्यास की अपेक्षा
- रुचि और दर्शन की महत्ता : आस्था के दीप जलाओ
- योग शास्ता कौन
- अनुभव, स्वरूप प्राप्ति और आदर्श

अथ ।

चंदे हिं णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहिय पहासयरा ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥[1]

सिद्ध परमात्मा सुधा वर्षी सुधाकरों की स्निग्ध ज्योत्सना ज्योति से भी अधिक प्रभा से भासित हैं, वे आदित्यों से भी अधिक प्रखर प्रकाश से प्रोज्ज्वलित हैं, वे महासागरों से भी अधिक गहन गंभीर हैं। उनसे हमें (अमृत स्वरूप) सिद्धि की प्रेरणा प्राप्त हो।

विद्याओं में श्रेष्ठ अमृत दायिनी विद्या

सर्वज्ञ अर्हत्पुरुषों की वाणी है कि सर्व विद्याओं में अमृत दायिनी विद्या की ही श्रेष्ठता है।

आत्म-ज्ञानं परोधर्मः सर्वेषां धर्मचारिणां ।
प्रधानं सर्वविद्यानां, प्राप्यते अमृतं ततः ॥[2]

आत्म ज्ञान उत्कृष्ठ धर्म है। सब धर्मी जनों के लिए उससे परे कोई धर्म नहीं है। समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ स्थानीय आत्मज्ञान है,—क्योंकि उससे अमृत की प्राप्ति होती है।

यह अमृत क्या है, जिसकी प्राप्ति यहाँ कही गई है। अवश्य यह अलौकिक ही वस्तु होनी चाहिए। आत्म-ज्ञान विद्या को उत्कृष्ट क्यों कहा गया है ? वह कैसा रस है जिसे यह देती है ?

अमृत अमरपरिणामी रस

अमृत की प्रकल्पना मानव को अति प्राचीन काल से चली आ रही है। कहा जाता है कि वह एक अलौकिक नित्य परमानन्द स्रावी रस है। आख्यायिका है कि विश्व की दिव्य और अदिव्य शक्तियों ने मिलकर जीवन के महासागर में मंथन किया तो प्रथम तो हलाहल कूट विष की प्राप्ति हुई। तदनन्तर अमृत कलश लिए श्री का आविर्भाव हुआ। उस अमृत-कलश के अमृत का पान करके देवगण अमर हो गए।

---

[1] प्रतिक्रमण पाठ (लोगस्स–सूत्र–7)

[2] योग प्रदीप–19

अमृत अमर-परिणामी रस है। वह रस मंथन-प्रक्रिया से ही उद्भूत होता है। जीवन में स्वयं में यह रस वर्तमान है—अतः ही वह वहाँ प्रकट होता है। पर प्रकट होने के लिए मंथन चाहिए।

"नाभि-प्रदेशे कुंडलाकारं संस्थितममृतं"—नाभि प्रदेश में कुण्डलाकार अमृत की अवस्थिति है। क्या है वह जो अमृत होकर भी कुण्डलाकार है, ऋज्वाकार नहीं है, विषम है, सम नहीं है। योगीजन नाभि प्रदेश के मणिपुर-कमल में उपयोग को एकाग्र करके सूर्य-चन्द्र के मध्य स्वर्णिम अरुणोदय की प्रभा को विकीर्ण करके प्रकाशमय प्राण-सूर्य का साक्षात्कार करते हैं। सामान्य जन उसका साक्षात्कार नहीं कर पाते क्योंकि उनका प्राण कुण्डलाकार है, अपने कुण्डलोंसे मुक्त होकर वही अमृत-किरणों का संचार करने लगता है।

विद्वान् लंकाधिपति रावण की नाभि में अमृत-घट था, यह कहा जाता है। पर वास्तव में क्या प्रत्येक मानव प्राणि की नाभि में अमृत प्राणों का घट विद्यमान नहीं है? वह है। पर फिर भी विडम्बना देखिए, मानव मृत्यु के भँवर जाल में बँधा ही है। क्या मानव अपने अमृत-कलश से परिचित है? नहीं। वह उससे बेखबर है। विषयासक्त होने पर अमृत घटी रावण भी— स्वर्ण लंका के ऐश्वर्य का स्वामित्व रख कर भी दुर्गति को प्राप्त हुआ। एक रावण ही नहीं जो कामासक्त, विषयासक्त रहा है, रावण के समान ही आज का भी मानव विषयासक्त है, स्वर्ण-संग्रह करके अपनी-अपनी छोटी-छोटी स्वर्ण लंकाएं निर्माण कर लेने में जुटा है। उसकी अधिकांश प्रवृत्तियों का एकमात्र ध्रुव नक्षत्र स्वर्ण संचय हो रहा है।

आज तो मानव ने अपनी तथाकथित सुख-समृद्धि के लिए नाना ही भौतिक विद्याओं का प्रकाश किया है। पर देखा जाए तो मानव में न सत्य विद्या की यथार्थता उतरी है और न अमृत का प्रकाश हुआ है। वह नाना व्याधियों तथा तनावों से, चिन्ताओं से ग्रस्त तथा त्रस्त है।

विद् धातु से व्युत्पन्न विद्या शब्द वेदन को, जानने को प्रकट करता है। विद् से ही विद्वान् शब्द बना है। प्रश्न होता है वेदन करने वाला, जानने वाला क्या तत्व है? क्या मानव ने अपने को जाना है, अपना आपा वेदन किया है?

नाभि, सूण्डी (टूण्डी) एक अवयव मात्र है। वह तो देह का एक केन्द्र गत अवयव है, मध्यस्थ अंग है, जहाँ से संवेदन शील नाड़ी समूह सर्वदेह में विस्तृत हुआ है। इस स्थूल अंग को अमृत का स्थान समझ लेना स्थूल बुद्धि है। यह तो स्थूल अर्थ का ही ग्रहण हुआ। यह नाभि प्रदेश ही देवलोक है, और अमृत देवलोक में है —ऐसी भी धारणाएं वस्तुतः निर्मूल है। देवलोक में भी देवगण विनाशशील है।

अमृत घट वे जिन्होंने अमृत प्रकाश ज्ञानानन्द रस पाया

अमृत है बातों की बात, अमृत है संतों के पास। वस्तुतः अमृत रस का पता तो संत जनों ने, अर्हत्पुरुषों और तीर्थंकरों ने, सिद्ध पुरुषो नेही पाया—जो अपने अन्तर में अमृत प्राण प्रकाशों के ज्ञानानन्द रस को पाकर अमृत का आस्वादन करके अमृताप्लावित ही नहीं,—स्वयं अमृत हो गए, अमृत—घट बन गए।

वस्तुतः आत्म ज्ञान स्वयं अलौकिक अमृतरस है। अतः हीं आत्म विद्या समस्त लौकिक विद्याओं से उत्कृष्ट है और आत्मज्ञान सर्व धर्मों से उत्कृष्ट है।

मानव की दुख दुविधा

पर कितनी दुखद दुविधा में है यह मानव प्राणीं ! यह खोज करता है चन्द्रमा, वृहस्पति, शनि आदि अनेक दूरस्थ नक्षत्रों की, तलाश करता है सागर तलों में बैठकर नानाविधि पदार्थों की, पर अपनी खोज करके अमृत घट की खोज····। यह अपने से अनजान ही रह रहा है।

परज्ञेय से सुखाभास

विश्व अनन्त ज्ञेय रूप से पसरा है। इसका, इसकी ज्ञेयता का अन्त न होंने से ही यह सब अनन्त है। अतः उत्कृष्ट सर्वज्ञ पुरुषों ने इसे अनन्त जानकार तथा कह कर इसकी ज्ञेवता का अन्त लिया और स्वज्ञेय की तरफ अभिमुख हुए। मंतव्य यह नहींकी विश्व का ज्ञान न लिया जाए, पर विचारणींय है कि परज्ञेय को जाने तो स्वज्ञेय से क्यों यह अनादिकाल से बेखवर चल रहा है ? पर-ज्ञेय का ज्ञान अपना तो ज्ञान नहीं है। इस चेष्टा से क्या उसे अब तक तृप्ति हुई, आनन्द और विश्राम का सुखद स्थल मिला ? मानव की समस्त चेष्टाओं में भाव तो अपनी सुख प्राप्ति का ही होता है, पर उसकी इन सब बाह्यमुखी चेष्टाओं में उसे न सुख मिला, न वस्तुतः मिल ही सकता है पर— पदार्थ निष्ठ सुख सुखाभास है, मृग तृष्णा है। वह विनाशकारी है, पराश्रित है, शक्ति का निरन्तर व्यय करने वाला है।

एक तृण और चकमक

अनन्त ब्रह्माण्डों कों धारण करने वाले विराट विश्व में एक तृण, जो वायु—प्रताड़ित्त होकर इधर से उधर अनादि काल से उड़ता रहा है, उसका क्या अस्तित्व, क्या उसकी शक्ति ! कल्पना करना ही हास्यास्पद लगता है। परन्तु नहीं। उस नन्हे से तृण को शक्ति का भान नहीं है; वही तृण ज्ञानीजन तथा चकमक के अग्निकण का निमित्त पाकर जब प्रज्वलित हो जाए तों क्या वह रूई के सैकड़ों पुंजों कों जला कर भस्म कर देने की शक्ति नहीं रखता ? तब कैसा कल्पनातीत स्वरूप प्रकट हो जाता है।

तृण में अग्नि है, वह गुप्त है, अव्यक्त है, अतः ही वह व्यक्त होती है, प्रकट होती है। परन्तु प्रकट होने के लिए पुरुष की सन्निकटता की आवश्यकता है। यह ही अर्हंतपुरुषों, तीर्थंकरों व ऋषियों की शिक्षा है कि शुक्ल ध्यान तथा समाधिरूप चकमक के अग्निकण का स्पर्श तथा ज्ञानी पुरुषों के संग के निमित्त को पाकर जब मानव में स्वयं में अन्तर्घर्षण तथा मनन होता है तो स्वयं उसका ही अन्तः स्वरूप अपूर्व रूप से प्रज्वलित और प्रकाशमान हो जाता है।

कस्तूरी मृग और मृगतृष्णा

कस्तूरी-मृग कस्तूरी की खोज में वन-वन गिरि-गिरि भटकता है और आकुल-व्याकुल भाव

से भटकता ही रहता है। उसे स्वयं यह खबर नहीं है कि जिस वस्तु की खोज में वह भटक रहा है, वह तो स्वयं उसकी नाभि में विद्यमान है। उसका भटकना निरर्थक प्रयास है। यह मानव प्राणी अनादि काल से उसी मृग के समान जीवन तत्व की तलाश में इस संसार में भटक रहा है, क्योंकि उसे खबर नहीं है कि जीवन तो उसी के पास है, वह अपने में ही प्राप्तव्य है, उसके लिए भटकने की आवश्यकता नहीं है।

मानव का अनादिकाल से भटकना भी मृग का जल के हेतु मरीचिका के पीछे भागने भटकने के समान ही है। पानी की तलाश में भोला मृग वियावान जंगलों में दौड़ता ही रहता है। मरीचिका से भ्रान्त तथा वृथा भटकने से श्रान्त वह दम ही तोड़ देता है, पर जल नहीं मिलता, नहीं मिलता। सुखाभासों के पीछे भोला जीव उद्भ्रान्त हुआ इस संसार में न तो सुख पाता है, न शान्ति और न निराकुलता।

एक अबोध शिशु जो निज घर भूला

अपने घर से बाहर उतर कर भोला जीव एक अबोध शिशु के समान विश्व की विराटता के मध्य भटक गया है, वह घर वापस कैसे आये ? कौन है जो उसे वापिस निज धाम में पहुंचाये ? क्या वह स्वयं अपने आप अपने घर पर पहुंच जायेगा ? निजधाम की दिशा का निर्देश उसे मिलना चाहिये। उस करुणा पूरित व्यक्ति की करुणा की कल्पना कीजिये जो उसे वापिस निज घर की शीतल सुरक्षित शान्तिपूर्ण शरण में पहुंचा दें।

भेड़ों में सिंह शावक

भेड़ों के समूह में सिंह शावक भटक गया। वह भी उन भेड़ों के समान जंगल-जंगल तृण चबाता भटकता रहा और बड़ा भी हो गया। परन्तु उसे यह कभी ज्ञान न हुआ कि वह भेड़ों से विलक्षण सिंह है। संयोग से सिंह से भेंट हुई तो वह भी अन्य भेड़ों के समान ही भय कातर होकर भागने को तत्पर हुआ। तब उस अन्य सिंह को आश्चर्य हुआ और उसे उस पर दया उपजी। उसने उसे रोका और उसे प्रबोधित किया कि तुम भेड़ नहीं हो, क्यों भागते हो ? पर उसे अपने व्यक्तित्व की पहचान न होने से विश्वास ही नही आया। प्रतीति हो भी कैसे ? कोई भी अपने आपसे अपना चेहरा कैसे देखे ? और बिना देखे कैसे कोई जाने कि उसका स्वरूप क्या है ? वह अन्य सिंह उसे निर्मल तालाब के तट पर ले गया और उसे कहा—इस निर्मल जल में तुम देखो, जो दिखता है वह ही तुम्हारा स्वरूप है। तब उसने जल में अपने बिम्ब को देखा और उस बिम्ब को उस अन्य सिंह की आकृति के ही समान देख कर उसे प्रतीति तथा ज्ञान हुआ कि मैं भेड़ों के समान नहीं, मैं भी सिंह ही हूं।

स्वबोध जागृति और पर पदार्थ स्वांग निवृत्ति

शुद्ध निर्मल मन-दपर्ण में अपने बिम्ब को जिन प्रभुओं के बिम्ब के समान लक्षित करके ही अन्तर में जब स्वबोध की जाग्रति होती है तब ही अनादि की पर पदार्थ के स्वांग की भ्रांति का नाश

होता है और ज्ञान का वह अमृत आलोक होता है कि मैं भी सर्वज्ञ अर्हंत् जिन परमेष्ठी ही हूं। स्वबोध की जागृति स्वस्वरूप की पहचान, प्रतीति तथा रमरग-आनन्द—ये ही अमृत विज्ञान है ज्ञानी सर्वज्ञ अर्हंतपरमेश्वरो का। अपनी पहचान न होने से—अपनेपन की न दिशा है, न विकास है। पर पदार्थ के स्वांग की निवृत्ति इस विज्ञान से ही संभव है। परपदार्थ मय इस अपार संसार की रंगशाला पर यह जीव एक अभिनेता है, परन्तु पर-अभिनय में यह स्व-व्यक्तित्व को ही भूल गया है। यही समझ रहा है कि जिस स्वांग में हूं, मैं मात्र वही हूं। इस व्यक्त ने विराट् अव्यक्त को ढ़क रखा है। बूंद पर्याय—अभिव्यक्ति अपने विराट् केन्द्र-महासागर से भटक गई है। अपने व्यक्तित्व की पहचान निश्चय ही संसार दुःख ज्वालाओं से, अज्ञान के कारागारों से मुक्त करती है। यह विज्ञान और इसका अनुशीलन ही योग विद्या का अनुशीलन है।

योगतो हि लभते विबंधनं, योगतोऽपिकिल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा, बोध्यमेतत्तखिलं मुमुक्षुणां ॥[3]

योग से ही मानव निर्बन्ध होता है, योग से ही निश्चय मुक्ति होती है, परन्तु योग-धर्म वाली गुरु वाणी दुष्प्राप्य है—अतः मुमुक्षु जनों द्वारा यह योग अखिल रूप से बोध्य है, अर्थात् इस योग को परिपूर्ण रूप से जानना ही चाहिये।

मानव तेरी परिभाषा क्या ?

मानव तू क्या है ? क्या तू मात्र हाड-मांस और चाम का जितना पुतला ही है ? आस-पास की सब वस्तुओं से तेरी विलक्षणता क्या है ? अपनी विलक्षणता को जान लेना अपने आप में लौटने का प्रथम चरण है। ज्ञान करने वाला, "मैं" एक विशिष्ट प्राणी हूं—ऐसा निर्णय करने पर मानव की अपने ही प्रति यात्रा का आरम्भ हो जाता है। अपने से प्रश्न करो और समाधान करो कि मैं कौन हूं, क्या हूं।

मानव एक चैतन्य पुंज है, ज्ञान पुंज है। मानव को इसी कारण चैत्य वृक्ष भी कहा गया है। इसे ऋषियों ने—"उर्ध्व मूलमधः शाखामृषयः पुरुषं विदुः" उर्ध्वमूल और अधः शाखा वाला कहा है। (अनगारधर्मामृत) इसका मूल उर्ध्व भाग मस्तक, कण्ठ व जिह्वा है, हस्तादिक अवयव शाखाएं है। जिह्वा आदि से किया गया आहार इसके अवयवों को पुष्ट करता है। जिह्वा व कण्ठ के रस से देह की पुष्टि होती है, वैसे ही जिह्वा व कण्ठ का रस, वाणी व वाक् के रस मन को भी पुष्ट करते हैं तथा इसी की उत्कृष्ट पुष्टि में ही मनुष्यता पुष्ट होती है। तब उत्कृष्ट मन से मन के परे जाने पर उसी केन्द्र की भी उपलब्धि हो जाती है जो स्वयं आत्मा है। अनगार धर्मामृत का उक्त वचन इस प्रकार मात्र देह स्वरूप को ही—मस्तक जिह्वा व कण्ठ आदि को ही इंगित करने को नहीं कहा गया है। यह तो यह स्पष्ट करता है कि मानव का मूल विश्व के उर्ध्व में ही है और इसकी जो शाखाएं नीचे फैली

---

3. सद्बोध चन्द्रोदय–26

है, यह तो इसका अधो भाग है, निकृष्ट भाग है। इसका उत्तम स्वरूप अन्यत्र है और वह अव्यक्त है। वह मूल की भांति अव्यक्त व अलक्ष है। इसका जो व्यक्त भाग लक्षित है यह इसका अधःपतन वाला भाग है। सांसारिक व्यक्त बाह्यात्मा स्वरूप इस मानव का श्रेष्ठ स्वरूप नहीं है। इसके मूल में जो अन्तरात्मा स्वरूप है वह ही श्रेष्ठ है तथा यह भी अर्हत्परमेश्वरो ने पाया कि उस अन्तरात्मा से भी परे, जो परम स्वरूप है, वही श्रेष्ठोत्तम है। मानवात्मा को इस प्रकार ऋषि अर्हत्परमेश्वरो ने तीन स्वरूपों में देखा है, यह ही त्रिविध आत्मा कहा जाता है। आत्मा एक अखण्ड स्वरूप हैं, मगर उसकी चेतना के ही तीन स्तर होने से वह त्रिविध आत्मा कहने में आया। प्रत्येक वस्तु के उर्ध्व, मध्य और अधः ऐसे ही तीन स्तर हो सकते हैं। इन्हें परम, अन्तर और बाह्य कहा गया है। ये ही तीन चिन्मयी, मननमयी और वासना सुखमयी कही जाती है।

तीन प्रकार के घट, फूटा घट, स्वर्ण घट और चिन्तामणि घट

वासना, सुख वाला आत्मा एक ऐसे घट से उपमित किया जाता है जो फूट गया है और उसमें यथार्थ आनन्द और तत्त्वामृत नहीं भरा होता। मननमयी आत्मा अन्तर्मुख होती है और उसे ऐसे घट से उपमित किया जाता है जो स्वर्ण से निर्मित है और स्वर्ण पात्र में ही श्रद्धा-सिंहनी का सुधामयी दुग्ध दुहा जाकर भरा जा सकता है। चिन्मयी आत्मा स्वयं चिन्तामणि निर्मित घट है जिसमें अनन्त चतुष्टय—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख-रूप अमृत लबालब भर जाता हैं और वे ही सिद्ध आत्मा है। वे स्वरूप परिणत आत्माएं हैं। वे निज धाम को प्राप्त हुई हैं। चिन्तन बिना आत्म साक्षात्कार या आत्म ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः जो स्वमनन कर सकते हैं और करते हैं उनका ही मानव होना सार्थक है।

मन से उत्कट

"धवला" में वचन आया है—"मनसा उत्कटः मानुषा"—जो मन से उत्कट होते हैं, वे मनुष्य कहलाते हैं। पंच संग्रह (प्राकृत) में मन से उत्कृष्ट को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णि उण जदो दुय जीवो।
मण उक्कडा य जम्हा ते माणुआ भणिआ ॥[4]

जो मन नित्य ही हेय 'उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म का मनन करता है वह मन उत्कट है' उस उत्कट मन के धारक मनुष्य कहलाते हैं। मननात् मनः, मनन करने से मन है—ऐसे मन की व्युत्पत्ति है।

मानव और पशु की भेद रेखा ही यहां कही गयी है। संस्कारित मन होकर, उत्कृष्ट मन से मानव होता है। वरना वह पशु स्तर पर ही है। मन को यदि शिक्षित नहीं किया गया, तो मानव का भाव-हाव, ज्ञान-मान सब पशु के ही समान रहता है। विवेक से ही मानव मानव नाम का अधिकारी होता है और इस विवेक से ही हेयोपादेय का विचार भी होता है।

---

4. पंचसंग्रह—1/62

हेय उपादेय दृष्टि : दिशाबोध

योग हेयोपादेय के दर्शन से आरम्भ होता है। हेयोपादेय का दर्शन मानव के लिए एक महान् सन्देश को लेकर प्रतिपादित हुआ है। शिव-अशिव, प्रेयस-श्रेयस, प्रशस्त-अप्रशस्त, शुभ-अशुभ, शुद्ध-अशुद्ध आदि नाना प्रकार से जो निरूपित होता है वही हेयोपादेय है।

जो आरोपित हैं, बाहर से आया है वह कभी सहज व सुखद नहीं हो सकता। जो सहज है, स्वभाव है, वही उपादेय है। जो सहज नहीं, स्वाभाविक नहीं,—वही विभाव है और हेय है। जो निर्मल है वह उपादेयहै, जो कर्म, दोष या विकार कालिमा से कलंकित है वह हेय है। अनाकुल आनन्द उपादेय है, आकुल दुःख हेय है। भव दुःख हेय है, पाप-पुण्य भी हेय हैं। स्वतंत्रता तथा स्वावलम्बन उपादेय है। परतन्त्रता परावलम्बन हेय है।

शिक्षित व निर्मल हुए मन का मनन-चिन्तन आत्मा की ओर चलने पर स्पष्ट होता है कि क्या हेय है, क्या उपादेय है और उपादेय ही क्यों इष्ट है। चिन्तन प्रकट करता है कि मानव देहमात्र नहीं है। यह प्रकट करता है कि मानव का अस्तित्व अन्य स्तरों पर उत्कृष्टतर है। उत्कृष्टता की जिस दिशा में चिन्तन जाता है वहां उसकी दिशा स्व बोध की, परम तत्त्व की ही दिशा हो जाती है।

योग क्या है ? परिभाषाएं

अध्यात्म विद्या का एक ही अर्थ है—आत्मा को निज तत्त्व में लगा देना और इसी अर्थ में योग अध्यात्मविद्या है।

जैनों ने योग शब्द का दो अर्थों में प्रमुखतया प्रयोग किया है। आत्म-प्रदेशों का संकोच-विकोच योग है—यह एक लक्षण है तथा योग ध्यान समाधि है—यह अन्य लक्षण है। "जीव पदेसाणां परिफ्फन्दों संकोच विकोचब्भमण सरूवओं" तथा "आत्मप्रदेशानां संकोच विकोचो योगः" (धवला)। "योगः समाधि सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः" (सर्वार्थ सिद्धि) तथा' 'युजेः समाधि वचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यस्यर्थान्तरम्" (राजवार्तिक)

युज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द बनता है। युज् का अर्थ है जोड़ना। चेतन अचेतन दो द्रव्यों के संयोग प्राप्त जीव द्रव्य को अचेतन द्रव्य के पाश से स्वतंत्र करके निज शुद्ध स्वरूप में स्थिर करके भी यानी दो द्रव्यों का वियोग करने पर भी योग की विलक्षणता है कि यह योग ही नाम पाता है।

योग वियोग मात्र नहीं करता। यह निज पूर्ण शुद्ध स्वरूप में ही जीव को एकाग्र तथा तल्लीन भी करता है। अतः युज् एकाग्रता तथा जोड़ने अर्थ को भी करता है और वस्तुतः यही इसका मुख्य अर्थ है। भाव वाच्य में साधित निज स्वरूप में एकता तथा करण (साधन) वाच्य में

है, साधित आत्मा के साथ एकाग्रता व एकाग्रता के लिए आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। अतः साधन की सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली योग शब्द के अन्तर्गत मानी जाती है।

इस योग परम्परा में स्वयं आत्मा ही परम स्वरूप है, परम आत्मा है और आत्मा का आत्मा में ही एकाग्र होना योग है। भिन्न परमात्मा या संसार-रचयिता या नियामक ईश्वर का जैन निषेध करते हैं—अतः किसी पर परमात्मा में योग करना इस योग में अभिष्ट नहीं है, वह होता भी नहीं है, न हो सकता है। अतः इस परम्परा में शुद्धात्मा का साक्षात्कार कराने वाली रुचि, ज्ञान और अभ्यास ही योग विज्ञान है। परमात्मा, ब्रह्म, पर-ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अद्वैत आदि शब्दों के अर्थ जैन दृष्टि में अपने विशिष्ट हैं और वेदान्तिक दृष्टि से भिन्न है।

योग की चरम परिणति आत्मा को उसकी अनादि की कर्म-कालिमा से शुद्ध करके उसकी ही यथार्थ निज निर्मल दशा में नियुक्त कर देती है—जहां फिर आत्म-प्रदेशों का परिस्पंदन सर्वदा के लिए निवृत्त हो जाता है। अतः परिस्पंदनात्मक योग से अयोग स्थिति में, अयोगि जिन परमेश्वर की स्थिति में ले जाने वाला योग ही कहा जाता है। परिस्पंदनात्मक मन वचन काय के योगों का निरोध योग है। आ० श्री हेमचन्द्र ने अपने धातु पाठ गण में "युजृषी योगे" योग का अर्थ जोड़ना तथा गण ४ में "युजिच समाधौ"—कह कर समाधि अर्थ भी कहा है।

बहिः और अन्तर जल्प को रोक कर चित्त निरोध करना—ऐसा भी योग का अर्थ किया जाता है।

विपरीत अभिनिवेश को परित्यक्त करके सम्यक् प्रकार से सर्वज्ञोक्त तत्व ज्ञान में आत्मा को लगाना—उसका निजभाव योग है"—ऐसा आ० कुंदकुंद ने नियमसार (१३२) में कहा है।

योग के महा-ऐश्वर्य के धारी भावी तीर्थंकर श्री समन्तभद्राचार्य ने योग को धर्म का पर्यायवाची मानते हुए इस प्रकार योग धर्म का विवेचन प्रस्तुत किया है—

सद् दृष्टि ज्ञान वृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भव पद्धतिः॥[5]

अर्थात्—धर्मेश्वर तीर्थंकर प्रमुखों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—तीनों को धर्म स्वरूप कहा है और इनके विपरीत के दर्शन ज्ञान और चारित्र को अधर्म कहा है। अर्थात् आत्मा के गुण दर्शन ज्ञान और चारित्र तब ही है, जब ये सम्यक्त्व सहित हों। ये सम्यक् और शुद्ध न रहने पर अधर्म रूप हैं। आत्म स्वरूप का निश्चय, परिज्ञान तथा आत्मस्वरूप में लीन होना—ये क्रमशः तब ही मोक्ष पद्धति होते हैं जब इन तीनों का एकत्व व अखण्ड रूप आचरण हो और ये शुद्ध व यथार्थ हों, मिथ्यात्व रहित हों। इन तीनों के ही सेवन को अमृतचन्द्राचार्य भी मोक्ष मार्ग कहते हैं—

---

[5] रत्न क० श्रा–३

"एवं सम्यग्दर्शन बोध चरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गोभवति निषेव्यो यथाशक्ति ।।[6]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र का नित्य त्रयात्मक स्वरूप मोक्ष मार्ग है और वही निरन्तर यथाशक्ति सेवनीय है ।

मोक्खेण जीयणा ओ जोगा ।[7]

अध्यात्म भावनाऽऽध्यान समता वृति संक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोतरम् ।।८।।[8]

आ० हरिभद्र ने उन सब साधनों को योग कहा है जिनसे कर्ममल नाश होकर आत्म निर्मलता को प्राप्त करके मुक्ति के साथ अपना सहयोग करता है । आध्यात्मिक भावना, समता का विकास करने वाला मनोविकारों का क्षय करने वाला, वृत्तियों का संक्षय या संक्षेप करने वाला तथा मोक्ष से संयोजित करने वाला योग उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । उपाध्याय श्री यशो विजय ने भी यहीकहा है—

"मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।[9]

योग एकाग्रता के अर्थ को प्राप्त होने से मन, वचन तथा काय के व्यष्टि रूप से तथा समष्टि रूप से एकाग्रता को भी योग कहा गया है । तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यान में मन का अस्तित्व नहीं रहता है, अतः अयोग-केवलि को वहां ध्यान बनता नहीं है क्योंकि ध्यान को मन की स्थिरता कहा जाता है, फिर भी अयोग केवलि को ध्यान का अर्थात् योग का अस्तित्व कहा गया है । ध्यान तथा योग यहां एकार्थवाची हो जाते हैं । अयोग-केवलि को कर्म निर्जरा है—अतः ध्यान का अर्थ विद्यमान होने से भी उन्हें ध्यान सद्भाव है । साधारण तौर पर छद्मस्थ संसारी के मन की स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है । केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहा है । क्योंकि जैसें मन से एक प्रकार का योग है, वैसे ही काय का भी एक योग है । तथा वचन की स्थिरता-मौन भी एक योग नाम पाता है तथा मन, वचन, काय तीनों की स्थिरता तथा संवर व इनके अभ्यास भी योग नाम से कहे जाते हैं । काय योग का उदाहरण हठ योग है, मन योग का उदाहरण राजयोग अमनस्क है तथा आत्मा का आत्मा में ही योग, अध्यात्म योग है । योग का मन की स्थिरता के अर्थ में प्रायः प्रयोग हुआ है । परन्तु जोड़ना तथा मन की स्थिरता इन दो अर्थों के समन्वय करने पर यह लक्षण हो जाता है कि योग वह धर्म व्यापार है जो जगदाभिमुखी वृतियों को आत्मा के अभिमुख तथा स्थिर करके मोक्ष का उपाय हो ।

आ० अमितगत्ति (द्वितीय) कहते हैं :—

विविक्तात्म–परिज्ञानं योगात्संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योग निर्धूतपातकैः ।।[10]

---

6. पुरुषार्थ–सिद्धयूपाय–20
7. योगविंशिका —गाथा
8. योगबिन्दु–31
9. द्वान्त्रिशिका
10. योग० प्रा० भृत 9/10

जिस योग से, ध्यान से कर्म-कलंक-विमुक्त आत्मा का परिज्ञान होता है—वह उन योगियों के द्वारा 'योग' कहा गया है, जिन्होंने योगबल से पापों का, घातिया कर्मों का नाश किया है।

जिस योग से, ध्यान बल से आत्मा को अपने स्वभाव स्थित असली रूप में जाना जा सके उसे 'योग' कहते हैं, जो कि ध्यान का पर्यायवाचक है। इससे यह जाना जाता है कि योग शुद्धात्मा का परिचायक ही नहीं, किन्तु आत्मा के ऊपर व्याप्त और उसके स्वरूप को आच्छादन करने वाले कर्म-पटलों का उच्छेदक भी है।

धुनातिक्षणतो योगी कर्मावरणमात्मनि।
मेघस्तोममिवादित्ये पवमानो महाबलः ॥[11]

आत्मा के ऊपर आये हुए कर्मों के आवरण को योगी उसी प्रकार क्षण भर में धुन डालता है, जिस प्रकार तीव्र गति से चलने वाला महाबलवान पवन सूर्य पर आये हुए मेघ समूह को क्षण भर में भगा देता है।

आ० श्री हेमचन्द्र कहते हैं—

चतुर्वर्ग अग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान – चारित्ररूपं, रत्नत्रयं च सः ॥[12]

योग चार पुरुषार्थों में श्रेष्ठ मुक्ति पुरुषार्थ का हेतु है। वह योग ज्ञान श्रद्धान तथा चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है। इस व्याख्या में भी जो साधन मोक्ष का हेतुभूत है, उसी को योग कहा है अथवा योग स्वयं श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्र रूप है।

तस्याजननिरेवास्तु नृपशोर्मोध जन्मनः।
अविद्धकर्णो योयोगइत्यक्षर-शलाकया ॥[13]

"यो–ग" इन दो अक्षर–सलाई से जिसके कान नहीं बिधै हैं या "योग" शब्द जिसके कानों में नहीं पड़ा है, जिसने योग का स्वरूप नहीं सुना–समझा है, वह मनुष्य हुआ भी पशु के समान है। उसका जन्म व्यर्थ है। उसका जन्म न होना ही अच्छा है।

योगी पूर्ण मनुष्य का ही पर्यायवाची हो जाता है। योग का स्वरूप मानवात्मा का चरम विकास है। योग समस्त विपत्ति रूपी लताओं के वितान को काटने के लिए "परशु" के समान, निवृति (मुक्ति श्री) की प्राप्ति के लिए "कामण" के समान हैं। इसमें प्राप्तियां सिद्धियों की भी होती है। दृष्टव्य है योगशास्त्र (१/५–८) जहां आ० हेमचन्द्र ने योग की महिमा कही है।

---

[11] योगसार प्राभृत 9/9

[12] योग शास्त्र–1/15

[13] योग शास्त्र–1/14

आ० श्री सोमदेव ने योग के स्वरूप को इस प्रकार कहा है—

आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः ।
मनोवाक्कायस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ।।[14]

योग के ज्ञाता पुरुष आत्मा के प्रदेशों के हलन-चलन को योग कहते हैं। वह योग मन, वचन, और काय के भेद से तीन प्रकार का होता है और उसी के निमित्त से पुण्यकर्म और पाप कर्म का आस्रव होता है। ज्ञान से इस निमित्त के परे जाने पर पुण्य पाप से परे एक शुद्धात्म अवस्था होती है।

श्री सोमदेव ने ध्यान के अर्थ में भी योग को ग्रहण किया है।

ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्यच ।
अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगबांधवे ।।[15]

यह शरीर योग का सहायक है, इसलिये जो योगी ध्यान रूपी अन्न जल से सन्तुष्ट रहते है और क्षमा रूपी स्त्री में आसक्त होते हैं उनका मन इसी में रमता है, इससे बाहर नहीं जाता। अर्थात् योगीपुरुष अपने मन को ध्यान में लीन रखते हैं और अपनी योग-काया को ध्यान रूपी अन्न-जल से सन्तुष्ट रखते हैं तथा वृत्तियों को क्षमाशील रखते हैं। ध्यान लीनता रूप योग के साधन के लिए आ० श्री सोमदेव ने इन्द्रिय संयम पर जोर दिया है—

रज्जुभिः कृष्यमाणः स्थाद्यथापारिप्लवो हयः ।
कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयते न क्षणम् ।।[16]

रास के खींचते घोड़ा चंचल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षण भर भी ध्यान में लीन नहीं हो सकता। अतः ध्यानी पुरुष को इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये।

तत्वे पुमान्मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ।।[17]

जिसका आत्मा तत्व में लीन है, मन आत्मा में लीन है और इन्द्रियाँ मन में लीन हैं, उसे योगी कहते हैं। जो पर-वस्तुओं की कामना रूप दुष्ट संकल्पों से संयुक्त है—वह योगी नहीं है। अर्थात् "स्व" वस्तु की कामना के संकल्प से जो वासित रहता है वही योगी है। स्व–वस्तु से स्व स्वरूप अर्थ स्पष्ट ही है।

चित्ते ऽनन्त प्रभावे ऽस्मिन् प्रकृत्या रसवच्चले ।
तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये ।।[18]

---

[14] उपासकाध्ययन–353
[15] उपासकाध्ययन–728
[16] उपासकाध्ययन–729
[17] उपासकाध्ययन–870
[18] उपासकाध्ययन–624

चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभाव से ही पारे की तरह चंचल है। जैसे आक के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह चित्त के आत्म ज्ञान में स्थिर होने पर कौन सी ऐसी वस्तु है जो इसे प्राप्त न हो।

इसके आगे भी बड़े मनोहर रूपक से वर्णन किया है

निर्मनस्के मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे।
बोधहंसोऽखिलालोक्य सरो हंसः प्रजायते ॥[19]

मन रूपी हंस जब अपने मनस्क स्वरूप से वर्जित हो जावे तो वह आत्मा रूपी हंस ही हो जाता है तथा उस आत्मा रूपी हंस के स्थिर हो जाने पर वह आत्मा हंस ही ज्ञान-हंस हो जाता है—वह समस्त ज्ञेय रूपी सरोवर का हंस होता है। यहां अमनस्क योग का सूत्र ही दे दिया है।

योग ऐश्वर्य

आ० श्री सोमदेव ने योग से प्राप्त ऐश्वर्य को हेय कहा है—

प्रभावैश्वर्य विज्ञान देवता संगमादयः।
योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥[20]

भूमी जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः।
तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ॥[21]

योग का उन्मेष होने पर प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान तथा देव दर्शन आदि की प्राप्ति होती है, परन्तु तत्वज्ञानी इनसे हर्षित नहीं होते।

योगोन्मेष रूप ध्यान की दुर्लभता को आगे कहा है। भूमि से रत्नों की उत्पत्ति होने पर भी सब ही जगह रत्न पैदा नहीं होते, वैसे ही आत्मा से ध्यान उत्पन्न होने पर भी सभी प्राणियों में ध्यान योग उत्पन्न नहीं होता।

योग हेतु

योग की सामग्री का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

वैराग्यंज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता
ऊर्मिस्मयसहत्वं च पंच योगस्य हेतवः ॥[22]

---

[19] उपासकाध्ययन—625

[20] उपासकाध्ययन—628

[21] उपासकाध्ययन—629

[22] उपासकाध्ययन—634

वैराग्य, ज्ञान, संपदा, निष्परिग्रहता, चित्त की स्थिरता तथा भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मृत्यु तथा स्मय (मद) सहन करना, ये पांच बातें यौग की सामग्री (कारण) हैं।

तत्त्वानुशासन में योग सामग्री इस प्रकार कही है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत धारणम् ।
मनोऽक्षाणी जयश्चेति सामग्री ध्यान–जन्मने ।।[23]

जन-संग का त्याग, कषायों (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का निग्रह, व्रतों (अनुशासन रूप व्रतो) का धारण, मन तथा इन्द्रियों का जय, ये ध्यान होने की सामग्री है।

प्रबोध सार में इस प्रकार कहा है—

तपः स्वाध्याय ध्यान कर्मणि मनसो ऽविचलितत्वम् ।
शारीरः मानसागन्तुक परीषहोद्रेक विजयित्वम् ।
निर्वेदोदय सम्पतिः स्वान्तस्थैर्यंरहः स्थितिः ।
विविधोर्मि सहत्वं तु साधूनां ध्यान हेतवः ।।[24]

अर्थात्—तप, स्वाध्याय तथा ध्यान कर्म में मन को अडिग रखना, आये हुए शारीरिक तथा मानसिक कलेशपरिषहों के उद्रेकों पर विजय रखना, निर्वेदोदय (उदासीन वृति) रूप सम्पत्ति, अन्तःकरण की स्थिरता, एकान्त का वास विविध प्रकार की उर्मियों, क्षोभों (शोकमोहो जरामृत्यु क्षुत्पिपासा षड्र्मयः) का सहन कर लेना, ये निश्चय ही योगियों के ध्यान के हेतु या योग की सम्पदा है।

योग के अन्तराय

योगान्तराय इस प्रकार वर्णित किये गये हैं—

आधि व्याधि विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमाः ।
अलाभः संगिता स्थैर्यमेते तस्यान्तरायकाः ।।[25]

मानसिक पीडा, शारीरिक रोग, अतत्त्व को तत्त्व मानना, तत्त्व को समझने में अनादर करना, तत्त्व को प्राप्त करके भी उस पर आचरण न करना, तत्व और अतत्त्व को समान मानना, अज्ञानवश तत्त्व की प्राप्ति न करना, योग के हेतुओं व सामग्री में मन न लगाना—ये सब योग के अन्तराय हैं।

---

23. तत्वानुशासन–75
24. प्रबोधसार–191
25. उपासकाध्ययन–635

स्वरूप लीनता

यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।
रोषतोषाविषिक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ।।[26]

योगी को किस प्रकार स्थिर तथा निस्पृह रहना चाहिये इसको इस प्रकार कहा है—वह चाहे कांटों से छेदा जाय, चाहे चन्दन से चर्चित किया जाये, इन दोनों दशाओं में ही वह क्रमशः न रोष करे, न प्रसन्न हो, उसे तो प्रस्तर के समान असंप्रक्त व समबुद्धि ही होना चाहिये ।

आ० श्री शुभचन्द्र योग में स्वरूप लयता (आत्म तल्लीनता) को कहते हैं—

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः
अयमात्मा यदासाद्य स्व स्वरूपे लयं व्रजेत् ।।[27]

वह ही ध्यान है, तप है, विज्ञान है, वह तत् स्वरूप परम है, वह ही शास्त्र का श्रवण है—जिसको प्राप्त करके यह आत्मा अपने स्वरूप में लवलीन हो ।

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्वमेव वा ।
येनाविद्यातिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ।।[28]

वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येयतत्व है—जिसके आश्रय से मन अविद्या (मिथ्यात्व—विपरीत धारणा रूप अज्ञान) को उलंघन करके तत्व में, चेतन ज्ञान रूप में प्रतिष्ठित हो जावे, स्थिर हो जाये ।

अपास्य कल्पना जालं, चिदानन्द मये स्वयं ।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तं, सः स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ।।[29]

अपनी कल्पनाओं के विस्तार को दूर करके, अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूप में जो लय को प्राप्त होता है, वह ही रत्नत्रय का पात्र होता है ।

चित्त अनाकुलता : ध्यान

अन्यत्र आचार्य श्री शुभचन्द्र ने ध्यान योग को इस प्रकार कहा है—

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवानाकुलम् ।[30]

---

[26] उपासकाध्ययन–636

[27] ज्ञाना०–1/9

[28] ज्ञानार्णव

[29] ज्ञानार्णव

[30] 40/17

योगी का अनाकुल चित्त होना ध्यान है। चित्त का क्षोभ रहित स्थिर रहना योग का स्वरूप है, वह ही ध्यान है।

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनोषिभिः।
यज्जीव कर्म सम्बन्धा विश्लेषायैव जायते ।।[31]

बुद्धिमान पुरुषों द्वारा एक मात्र वह ही ध्येय है, अनुष्ठेय है तथा चिन्तनीय है जिससे जीव व कर्मों का सम्बन्ध दूर हो, अर्थात् जिस कार्य से कर्म मुक्ति की प्राप्ति हो।

स्वयमेव हि सिद्धयन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम्।
अनेक फल संपूर्णा मुक्ति मार्गावलम्बिनाम् ।।[32]

जो शान्त चित्त हैं, उन्हें स्वयं सर्व सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उन शान्त चित्त वालो को ही मुक्ति के मार्ग का अवलम्बन होता है तथा वह शान्त चेतस् दशा अनेक प्रकार के फलो से परिपूर्ण है।

बहिरन्तर वचनालाप का ~~वि~~निरोध

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरमशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ।।[33]

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा बाहरी बातों को छोड़ कर पूर्णतया अन्तरंग वाणी को भी छोड़ दे, यह अन्तरंग तथा बहिरंग वचनालाप का त्याग ही संक्षेपरीत्या योग है और यह ही परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक प्रदीप है। किसी भी विचार या संकल्प विकल्प का उदय बिना सूक्ष्म वाणी के स्पंदन के नहीं हो सकता। अतः स्थूल व सूक्ष्म वाणी का निरोध योग है।

श्री प्रभाचन्द्र अपनी टीका में इस पर कहते हैं—

बहिर्वाचं पुत्रभार्याधन धान्य लक्षणान्वहि
रर्थवाचक शब्दान् त्यक्त्वा अशेषतः साकल्येन
पश्चात् अन्तर्वाचं, अहं प्रतिपादकः प्रतिपाद्यः
सुखी, दुखी, चेतनोवेत्यादि लक्षणमन्तर्जल्पं
त्यजेदशेषतः एष बहिरन्तर्जल्प त्याग
लक्षणः योगः स्वरूपे चित्त निरोध लक्षणः

समाधिः। प्रदीपः स्वरूप—प्रकाशकः। कस्य। परमात्मनः।
कथं ? समासेन — संक्षेपेण झटिति, परमात्म स्वरूप प्रकाशक इत्यर्थः ।।

31, ज्ञानार्णव—40/11
32. ज्ञानार्णव—40/12
33. समाधि—तंत्र—17

प्रकट है। श्री प्रभाचन्द्र ने "योग" को "बहिरन्तर्जल्पत्याग" लक्षण कहा है तथा स्वलप में फिर चित्त–निरोध होना ही समाधि है—ऐसे समाधि का लक्षण भी कहा है। वह समाधि परमात्म स्वरूप की प्रकाशक है।

आत्मा का आत्मा में चिन्तवन

"इष्टोपदेश" में भी आ० श्री पूज्यपाद ने इस प्रकार कहा है—

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः
आत्मनमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितः ॥[34]

आत्मा पांचों इन्द्रियों के समूह को भली प्रकार बाहरी विषयों से रोक कर चित्त की एकाग्रता से अपने आत्मा में स्थिर होकर अपनी आत्मा द्वारा ही अपने आत्मा को ध्यान में, चिन्तवन करे। अर्थात्—पांचों इन्द्रियों को रोक कर एकाग्र मन से आत्मा का चिन्तन ही ध्यान का स्वरूप है, अध्यात्मयोग है।

आत्म-ज्योति दर्शन

श्री पूज्यपाद ने ही इष्टोपदेश में इस प्रकार कहा है—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥[35]

मिथ्यात्व -विभ्रम के उच्छेदक जो परं तथा विपुल महिमाशाली ज्ञानमय ज्योति आत्मा का प्रकाश है, मोक्षाकांक्षी जनों को उस ज्योति व प्रकाश के विषय में पूछना चाहिये। उस आत्म ज्योति को ढूंढ़ने एवं पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये और उस आत्म ज्योति का साक्षात्कार (दर्शन) करना चाहिये।

'ज्ञानार्णव' का अपरनाम योग-प्रदीप है—मगर यह अनुपम योग-ग्रन्थराज 'ज्ञानार्णव' के नाम से ही प्रसिद्ध है। एक अन्य (योग प्रदीप) भी है जो क्षुल्लक श्री सिद्धसागर से संपादित तथा श्रेयो मार्ग श्री महावीरजी से प्रकाशित है तथा किन्हीं अज्ञातनामा दिगम्बर जैन संतपुरुष या आचार्य की सत्कृति है। आगे "योग प्रदीप" का उल्लेख इसी योग-प्रदीप के लिए है। यह योग-प्रदीप सन् ६५ में कोल्हापुर से भी मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ परन्तु उसमें पाठ अशुद्धियां है। इसमें कहा है—

रत्नत्रयात्मक मोक्षोपाय

ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मकः।
योगो मुक्ति पद प्राप्तेरुपायः परिकीर्तितः ॥[36]

---

[34] इष्टोपदेश–22

[35] इष्टोपदेश–49

[36] योगप्रदीप–111

योग उसे कहा जाता है जो ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है और मुक्ति पद का उपाय है।

वास्तव में जीव की संसार-स्थिति सनिमित्तिक है, अतः इससे मुक्ति भी सविमितिक ही होती है, इसी कारण रत्नत्रय रूप साधन मोक्ष का निमित्त है। साधन उपाय रूप है और यह रत्नत्रय सकल (पूर्ण) और विकल (असंपूर्ण) रूप में वर्णित हुआ है। विकल चारित्र व्रतादिक रूप है।

आ० श्री उमा स्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में सूत्रित किया है—

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः।'

इस परिभाषा सूत्र के विचार में योग विज्ञान तथा मोक्ष मार्ग एकार्थवाचक ही हो जाते हैं। ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक ही योग है और वह ही मुक्ति का उपाय है, मार्ग है। आ० श्री समन्त भद्र व हेमचन्द्र ने भी यही परिभाषा योग की दी है। ज्ञानी जीव के संसार के कारण भूत—आस्रव के नष्ट करने के लिए जो बाह्य व अभ्यन्तर क्रियाओं का निरोध आत्म-निष्ठा पूर्वक होता है, वह श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की समष्टि पूर्वक योग है।

आत्मा स्वयं ही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप है। आत्मा का सम्पूर्ण स्वरूप मानने, जानने तथा आनन्द रूप रहने का है, यह ही कारण है कि इन तीन धाराओं में ही जीवात्मा की समस्त जीवन प्रवृत्ति प्रवर्तित रहती है। इसका ही सम्यक् स्वरूप उसका व्यवहार स्वरूप है। उसका यह व्यवहार भी अखण्ड रूप से है। वह इस व्यवहार में खण्डित नहीं, प्रत्युत उसी का अन्वय स्वरूप ही इसमें प्रकाशित है; उसी का स्वत्व जैसा है वह प्रकाशित होता है।

जीवन कीं सद् स्वीकारता

सामान्यतः जीवन का प्रकाशन निर्मल नहीं है। इसमें विकृतियां हैं—अतः सम्यक्ता की अपेक्षा, सम्यक्ता के आनन्द की तलाश, सम्यक्ता का प्रयास तथा ज्ञान एवं सम्यक्ता के आनन्द की चाह अनादि काल से मानव को आकर्षित करती रही है। अर्थात् मानव के ये मूलभूत प्रश्न जीवन से उसके निजी तत्व से ही जुड़े हैं और एक प्रकार से जीवन स्वयं ही मूलभूत प्रश्न है। जीवन की सद् स्वीकारता में ही जीवन का औदात्य प्रस्फुटित होता है। जीवन को नकारने से तो सब कुछ निष्फल ही हो जाता है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का रहस्य

जीवन को स्वीकार करने अर्थात् उसे एक सद् द्रव्य मानकर ही उसके अक्षय व अनन्त स्वरूप का प्राकट्य किया गया है। उसकी विलक्षणता के ज्ञान में अनन्त का ज्ञान भी समाविष्ट होता देखा जाता है। भारत में बहुत प्राचीन काल में जीवन की गहराईयों में उतर कर उसके प्रत्येक पक्ष पर अति सूक्ष्म प्रज्ञाओं से विचार मनन किया गया है और पाया है कि जीवन सत् चित्त तथा आनन्द का ही एक अखण्ड प्रवाह है तथा समस्त मानवीय गुण व भाव शक्तियों का यह ही एक मात्र महास्रोत है, अपने आप में ज्ञान रूप है, प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है, शक्तिमय है, आनन्द रूप है और महान है।

वह आप ही अपना मित्र है, तथा आप ही अपना शत्रु भी हो जाता है। जीवन धारा के प्रवाह की दिशा में ही सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का रहस्य है।

जीवन की मौलिक तीन प्रवाह धाराएं

जीवन की समस्त साधनाएं जानने, मानने तथा करने में ही वर्गीकृत होती हैं क्योंकि सारा जीवन प्रवाह इन ही तीन स्वरूपों को लेकर प्रवाहित होता है। यह जीवन प्रवाह किससे गंदला हो जाता है? प्रत्येक वस्तु अपने आप में जब निहित रहती हैं, पर–पदार्थ को अपने साथ शामिल नहीं करती, स्वयं में ही स्वतत्त्व में ही रहती है तो वह पावन, निर्मल और शुद्ध रहती है। अतः पर स्वरूप से निवृत्ति करके तथा स्व स्वरूप में प्रवृत्ति करने पर अपने ही असीम स्वरूप का स्पर्श व आस्वाद रहता है, जो अपने आप में अद्वय और अनूठा होता है। पर–पदार्थ की मिलावट ही पर समय होना है। पर–पदार्थ से निर्मल, स्व-स्वरूप रहना ही अतः स्व-समय रूप स्वरूप की ही प्रशस्ति है, पवित्रता है।

स्व में एकाग्रता रूप स्व-समयसारता

आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने परम अध्यात्म ग्रन्थ 'समय-सार' में आत्मा को समयसार कह कर बखान किया है, तथा 'पर समय' रूप जीव जो छद्मवेष धारण करके इस संसार नाट्य शाला में नाना रूप का जो अभिनय किया करता है, को असुन्दर, अस्वाभाविक और विभाव भावी कहा है। उन्होंने निज शुद्ध आत्म स्वरूप में ही जीव को एकाग्रता करने की प्रेरणा की है, क्योंकि वह ही एक मात्र नित्य, शाश्वत स्वरूप है। उस एकाग्रता में ही योग का मार्ग है।

स्थिरता, समग्रता और समदर्शिता

जीवन में जन्म-मरण क्या है? जीव के एक स्थिर भाव की स्थिरता का ही अभाव है। स्थिर भाव का अभाव प्रत्येक जीवन–प्रवृत्ति में असफलता का भी हेतु होता है। यह अस्थिरता क्या प्रकट करती है? प्रकट होता है कि न ज्ञान है, न तन्मयता है, न अपनी शक्तियों का पूरा उपयोग है। अतः स्थिरता ही योग का स्वरूप है।

अपने आप में स्थिर रहना, स्थिर होना, अपने ही केन्द्रस्थ रहना यह ही योग का स्वरूप है। इसी कारण कहा गया है कि 'स्व' को ही मानो, स्व को ही जानो तथा स्व में ही प्रवृत्ति करो, स्व को जाना तो सब ही चेतन प्राणियों को जाना, तो सब ही से जुड़े, तो यह भी जीवन मात्र से जुड़ना हुआ, समग्रता की प्राप्ति हुई—समदर्शीपना हुआ। यह ही अपने आप का समाधान हुआ और परम से संतृप्ति रूप सुख, अक्षय सुख की उपलब्धि हुई। यह ही विद्या है, संपूर्ण योग का स्वरूप है।

अन्तरंगता की विशेषता

रत्नत्रयात्मक आत्मा को साक्षात्कार करने के उद्देश्य तथा विषय को लेकर योग का

विषय निश्चय ही असीम महासागर हो जाता है। ऐसे योग आत्म-ज्ञान का ही विशिष्ट स्वरूप तथा प्रक्रिया हो जाता है। यह प्रदर्शन व चमत्कार का निषेध करता, मानव सुख, मानवहित व कल्याण की ही वार्ता करता है। यहां बहिरंग योग की नहीं, अन्तरंग योग की प्रधानता है।

देहदेवालय

योग देह को मात्र अशुचि नहीं मानता, यह उसे देवालय, जिनालय में परिणत करके जीवन को एक महान् पवित्र अवसर में परिणत कर देने की शिक्षा को खोल कर रखता है। साधक देह के अन्तर स्तरों, सूक्ष्म तत्त्वों के पार, स्व की अलौकिक अनन्त सीमाओं को परिज्ञात करता अपने परम ब्रह्म स्व स्वरूप में एकाग्र होता, प्रकाशित होता, और विहार करता स्वयं परम–आत्मा परिणमित हो जाता है।

योगी कौन ? योगी का लक्षण

'ज्ञान-सार' में योगी का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया है —

कंदर्प दर्प दलनो दम्भ विहीनो विमुक्त व्यापार: ।
उग्रतपो दीप्तगात्र: योगीविज्ञेय: परमार्थत: ।।[34]

कन्दर्प (काम व कामवासना) और दर्प (अभिमान, अहंकार) का जिसने दलन किया है, दम्भ से जो रहित है, जो काया के व्यापार से रहित है, जिसका शरीर उग्र तप से दीप्त हो रहा है, उसी को परमार्थ से योगी जानना चाहिये।

ग्रन्थिविमोचन और निर्ग्रन्थ

योग से काया में, मन में, प्राणमें सबमें दीप्ति होती है, मगर इस योग में तीन बड़े विघ्न है—(1) कामोद्वेग (2) अहंकार और (3) माया यानी कपट व दम्भ। ध्यान की एकाग्र क्रिया जब होने लगती है तो उससे मानव के सब स्तरों के आवरण टूटने लगते हैं। उनकी जड़ हुई शक्ति खुलने लगती है। शक्ति का यह जागरण ध्यान का फल है। इस शक्ति जागरण को ध्यानी यदि सही समझ पाता है और जागृत काम शक्ति को निग्रह करके अपव्यय नहीं करता है तब ही वह आगे उन्नति करता है। योगी से भूल कहां होती है ? सबसे नीचे का स्तर मानव में काम स्तर है, यह बहुत स्थूल भी है और बहुत सूक्ष्म भी है। स्थूल दशा में यह अब्रह्म यानी काम-सेवन अर्थात् विषय-लम्पटता के भावों को भी उग्र करता है, विपरीत लिंग का आकर्षण तीव्र हो जाता है, स्त्री का पुरुष को और पुरुष का स्त्री को यौन आकर्षण का भाव होता है। इस स्थूलता से ध्यानी साधक जब बिना बलात् (दमन) सहज रूप में, ज्ञान भाव से उबर जाता है तो वह काम–शक्ति ही उसके लिए ऐसी प्राणिक शक्ति बन जाती है, जो उसे अन्य उच्च स्तरों के खोलने व प्रकाशित करने में सहायक होती है। सूक्ष्म अवस्था में यह काम ही कामना, आशा, तृष्णा, आदि का स्वरूप है तथा इन सबके मूल में होता है—मानव की अज्ञान दशा। यह अज्ञान ही अनादि का अंधकार है जो जीवात्मा में अन्तर्प्रकाश

---

[34] ज्ञानसार–4

को आवृत्त रखता है। यह अज्ञान प्रकट रहता है—राग और सोह से। राग और मोह जीवन को सदा से विभ्रम में रखते आए हैं। ये ही जीव की भूल व मूर्छा के कारण हैं। ये जीव में सूक्ष्म रूप में रहते हैं और आगे उच्च ध्यान अवस्थाओं में पहुंचने पर ही यह राग व मोह कटते हैं। इसके कटते ही साधक सिद्ध योगी हो जाता है। बलात् दमन परवर्सिटीज को, गन्थियों को पैदा करता है। अतः लक्ष्य ग्रन्थि विमोचन है, न कि गन्थियां बनाना। तब ही निर्ग्रन्थ होते हैं।

यह निर्ग्रन्थ अवस्था काम कोध और मोह रूप सूक्ष्म विकारों पर ज्ञान द्वारा विजय प्राप्त करके ही संभव होती है। समस्त दुःखों के हेतु काम से ही और काम के सूक्ष्म रूप राग और मोह से ही उत्पन्न होते हैं। योगीजन इसीलिये दो ग्रन्थियों का उल्लंघन बड़ा दुर्लभ मानते हैं—'कंचन और कामिनी दुर्गम घाटी दोय'। कंचन वस्तु या पदार्थ निष्ठ मूर्च्छना है। कामिनी पर-जीव-निष्ठ मूर्च्छना है। जिनेश्वर हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे शिव हो, इन सबको काम विजेता माना गया है। काम-जय योगी की सुदृढ़ योग भूमि है। राग व मोह का जय ही अहं का, अहंकार का, अभिमान का जय है। राग का ही भाव द्वेष में भी वर्तमान रहता है। द्वेष राग का ही दूसरा बाजू है। दंभी मानव में भी राग भाव की ही क्रीड़ा रहती है, उसमें राग की प्रधानता है और साथ ही वह कायर भी होता है। अतः वह माया से, छल से, कपट से, काम लेता है। ऐसा करके वह अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता, न स्थिर ही रह सकता है।

प्रारब्ध योगी : निष्पन्न योगी

'द्विविधा ध्यातारौ भवन्ति शुद्धात्मभावना प्रारम्भकाः पुरुषाः,
सूक्ष्म सविकल्पावस्थायां प्रारब्ध योगिनो भवन्ते निर्विकल्प शुद्धात्मावस्थायां पुनर्निष्पन्न योगिन इति'

दो प्रकार के योगी होते हैं—(1) प्रारब्ध योगी—ये शुद्धात्मभावना के प्रारम्भ में और सूक्ष्म सविकल्प में स्थिर हैं। (2) निष्पन्न योगी—ये निर्विकल्प अवस्था में स्थिर रहते हैं।

इन दो अवस्थाओं से ध्यान योगी क्रमपूर्वक योग निष्णात होते हैं। ध्यान योग में प्रवेश के लिए, आत्म-ध्यान के लिए आत्मा तत्व पर विचार, मनन तथा उसकी अवधारणा निश्चय ही आवश्यक है।

आधुनिकता के सन्दर्भ में यह योग

यह सही है कि आज मानव अति अशांत और तनावपूर्ण वातावरण में ही नहीं जी रहा हैं, बल्कि निरन्तर उसकी अशांति का बोझ और तनाव बढ़ते ही जा रहे हैं। इससे मानव को त्राण या विश्राम या शान्ति यदि कहीं है तो वह योग-विज्ञान के ही मार्ग में है। योग धर्म ही एकान्त रूप से मानव का शरण है—क्योंकि यह मानव स्वयं को उसके ही स्वरूप को उसके ही ज्ञान, शान्ति तथा आनन्द को देता है और उसे पर-संवेदना के स्तर पर नहीं, स्व-संवेदन पर ही प्रतिक्रिया रहित

सहज जीवन का रहस्य सिखाता है। यह उसकी चेतना के स्तर को ही बदल देता है। जागरूक और अप्रमत्त बनाता है।

विश्व की आज की परिस्थितियां योग के लिए अनुकूल भी हैं। योग की प्रक्रिया मत मतान्तरों के आग्रह दुराग्रहों से दूर है। अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य में यह ही एक मात्र धर्म है। दार्शनिक ज्ञान से नहीं, मानव को आज यदि स्वयं को टटोलना है, अपने को खोजना है तो योग ही एक मात्र मार्ग है। योग स्व तथा पर अनुशासन को (यम तथा नियमों के रूप में) अर्थात् अणुव्रतों, तथा महाव्रतों के रूप में तथा दश लक्षण धर्म की भावनाओं तथा अनुप्रेक्षाओं में स्पष्ट ही दे रहा है। इतना मात्र भी ज्ञान मानव को मिल जाए तो यह उसको उसके स्व ज्ञान स्वरूप की संचेतना तथा रुचि देकर सच्चरित्र की दिशा देकर देश के चारित्र संकट को दूर करने के लिये परम प्रकाश को दे सकता है। यह मानव को स्वयं आप अपने में विश्वास करे, इस निष्ठा को जगा देता है। मानव की सबसे बड़ी विपत्ति है कि उसने अपने में ही विश्वास खो दिया है।

मानव की सद्वृत्तियों को ही आत्मा के निर्मल आलोक में फिर से संस्थापित करके योग अपना अनुपम योगदान देने की सामर्थ्य रखता है—बशर्ते हम इसके दर्शन व प्रणालियों व प्रक्रियाओं को बौद्धिक चर्चा तक ही सीमित न करके अपने जीवन के अभ्यास में भी ढ़ालें। यह विचार और आचार के समन्वय और संतुलन को देकर समतामय जीवन की कुंजी स्वयं मानव को आप अपने में प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है।

यह मानव को स्वयं उसके ही आत्म-प्रभु के सामने खड़ा करता है। इसका उद्घोष है—मानव आप अपना ही गुरू है, शरण है, प्रभु है। यह कुल जाति, वर्ण, देश या वेष की भेद करने वाली दीवारों को भी नहीं स्वीकार करता। अपने सत्य को अपने में खोजो, स्वयं खोजो, किसी के अनुसरण या कृपा की अपेक्षा नहीं हैं। स्व पुरुषार्थ ही अपना शरण है।

मानव प्रभु तब ही है जब वह प्रभु रूप में प्रतीति (निष्ठा) पूर्वक स्वीकार करे अपने आपको। तब ऐसी स्वीकृति ही योग की आधार धरा है। यह ही आधार धरा फिर निरालम्ब अधरधरा हो जाती है। योग की मांग है केवल स्व-श्रद्धा की और उसी में स्व ज्ञान और स्व-रमण की। स्व ज्ञान से ही सम दृष्टि, सम भाव और विश्व बंधुत्व आता है।

योग मानव को पशु व अज्ञान स्तर से उठाकर उसे महामानव एवं दिव्य बना देता है, प्रभु ही बना देता है। यह ध्यान की सम्पदाओं को उद्घाटित कर तनाव मुक्त सहज जीवन, ज्ञान और श्रद्धामय जीवन को सिखा देता है। क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है ? सद्चरित्र का निर्माण कर देना क्या आज के सन्दर्भ में कम महत्वपूर्ण है ? आज के साइकों-सेमिटिक व्याधियों का तो यही एक मात्र इलाज है।

अमर जीवन और उसका मान

विश्व ब्रह्मांड की तीन शक्तियां है, जिनके अधीन सब पदार्थ हैं। ये हैं—सृष्टि, स्थिति और लय

(संहार)। जो जो रूप या दशा है वह कुछ काल तक रहती है, बाद में क्षीण होकर नष्ट होने लगती है। संहार शक्ति निकाल लेने का अर्थ होगा कि एक ऐसी सृष्टि, जिसका नाश नहीं, जो बनी रह कर सदा बदलती रहेगी। अज्ञान के रहते तो उन्नति के लिए अज्ञान का नाश आवश्यक है। परन्तु ज्ञान में अपने सत्य की दिव्य सृष्टि होने पर किसी भी प्रलय के बिना ही सम रूप से सतत् रूपांतरित होते जाना ही नियम है। वस्तु में दशाएं उत्पन्न होती है, व्यय होती है, पर वस्तु स्वरूप से नित्य ही रहती है। वस्तु इस प्रकार नित्यानित्य का रूप है। नित्य भाव से ध्रौव्य और अनित्य भाव से (स्वरूप से) उत्पाद व्यय है। इस सत्य में अमर जीवन का मान है।

चेतना की सतत उज्ज्वलता और उर्ध्वी करण

अज्ञान का नाश अवश्यम्भावी है। पशु स्तर से ऊपर उठे बिना, अज्ञान के नाश हुए बिना, मानव के वर्तमान व्यक्तित्व के रूपान्तरण हुए बिना, ज्ञान रूप यथार्थ और सच्चे व्यक्तित्व का प्रकाश नहीं होता। अतः मानव को सर्व प्रथम अपनी अज्ञान दशा को पहचान करके ज्ञान दशा में आने के लिए निर्णय करना ही पड़ेगा, उस निर्मल ज्ञान दशा के लिये जो उसका अन्तर और परमोच्च तत्व है। तब अज्ञान से मुख मोड़ कर उसे ज्ञान दशा के अभिमुख होकर उसे ही अपने आप को समर्पित करना होगा और उसी में तन्मय रहने का अभ्यास करना होगा। वास्तव में यह जो योग है, वह एक दिव्य तत्त्व है, दिव्य स्वरूप का तत्त्व है, दिव्यता के लिये तत्त्व है। यह अदिव्यता को तनिक भी स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे नष्ट करता हुआ विशुद्धि का निर्माण करता ही उत्कर्ष करता जाता है। इसमें ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि जो तत्त्व मानव का पतन करता है वह ही मानव को उठाने का भी माध्यम बन जाता है। यहां अखाद्य खाद्य नहीं है, असेव्य सेव्य नहीं है, अपेय पेय नहीं है, निंद्य अनिंद्य नहीं है। वह सिद्धान्ततः यहां अवस्तु और अयथार्थ है। यहां मार्ग एक सीधी रेखा है—जो मुड़ कर कभी वक्र होना नहीं जानता। अतः ज्ञान की, चेतना की उर्ध्वमुखी दिशा को ही लेना होगा। अज्ञान दिशा के विमुख होना पड़ेगा। अज्ञान विषम दशा है, ज्ञान समदशा है। इस योग में चेतना की सतत उज्ज्वलता तथा उर्ध्वी करण ही नियम है, मार्ग है।

जो दिशा पतनोन्मुखी है वह कभी उत्कर्षोन्मुखी हो ही नहीं सकती। दिशा जो उर्ध्वमुखी है वह उर्ध्वमुखी ही रहती है। यदि पतनोन्मुखी दिशा उर्ध्वमुखी बन जाए तो यह भी संभव है कि उर्ध्वमुखी दिशा कभी पतनोन्मुखी बन जाये, तब वस्तु-व्यवस्था क्या रहेगी, तब मानव की आस्था कहां ठहरेगी? यह संभव है कि मानव यहां जहां से चला वहां वापिस पहुंच जाता है, क्योंकि पृथ्वी गोल है। यह बात भी इस निष्कर्ष को देती है कि दिशा का मुख मानव को अपनी वर्तमान स्थिति से बदलने के लिए आवश्यक ही है। वरना बार-बार वहीं के वहीं ही रहोगे। जो अज्ञान को ज्ञान के नाम पर पोषण करते हैं, वे वास्तव में अपने को व अन्यों को भ्रमित ही रखते हैं। अज्ञान के पार्थिव स्तर का नाश आवश्यक है, उसे छोड़ना ही होगा—त्रय गुणों का रूपांतरण होना ही है। अनात्म त्रय गुणों का रूपान्तरण इस प्रकार हो जाता है—

तीनों गुण शुद्ध और बिमल होकर अपनी दिव्य सत्ता को प्राप्त होते हैं, सत्त्व गुण की हो जाती है ज्योति, अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज, रज गुण हो जाता है तप अर्थात् शांति-मय प्रचण्ड दिव्य शक्ति, और तम गुण हो जाता है सम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता-शान्ति।

अन्तर आलोक : योग का प्रमाण

योग की प्रमाणिकता अन्तर आलोक में प्रकट होती है। अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, सम्यग्दृष्टि तथा सम्यक्ज्ञानी पुरुष के अन्तर-तत्त्व की बड़ी प्रशंसा है। योग स्व-अन्तरस्थ, हृदयस्थ ईश्वर के ज्ञान-उद्घाटन पर तथा इसमें ही एक मात्र शरण व समर्पित होने की प्रेरणा करता है। अन्तरात्मा परिणत होकर ही सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान ग्रहण होने पर मानव परम-आत्मा की उपासना करने, ध्यान आराधना करने योग्य होता है और तब ही वह तद्रूप परम आत्मा भी परिणमित होता है।

अभ्यास की अपेक्षा

जो योग मानव को प्रभु-परिणत करने के सक्षम है, क्या वह वर्तमान में मानव को मानव नहीं बना सकता है? अवश्य यह बना सकता है मगर उद्योग चाहिये। अभ्यास चाहिये। उस स्वरूप में एकाग्रता की चेष्टा होनी चाहिये। थोड़ी भी इस दिशा में मानव की चेष्टा महती फलवती हो सकती है।

अभ्यास तथा साधना से क्या नहीं हो सकता? मानव का श्रम, पुरुषार्थ क्या नहीं कर सकता है? नित्य अभ्यास से बड़े-बड़े पहाड़ भी चूर्ण कर दिये जाते हैं, नदियों के प्रवाह परिवर्तन कर दिये जाते हैं, तब मानव अपने सतत चिन्तन तथा अभ्यास द्वारा स्व स्वभाव की दिशा को भी क्यों नहीं बदल सकता? अर्थात् वह अवश्य बदल सकता है पर प्रथम तो उसे उस स्वभाव का परिचय, रुचि तथा आस्था चाहिये कि जो उसका स्वयं का शुद्ध व मूल रूप है, निर्मल स्वरूप है। अपने निर्मल स्वरूप की आस्था की जागृति और प्रतिष्ठा होने पर ही मानव का अभ्यास, स्वभाव-एकाग्रता का अभ्यास उसे मानव ही नहीं अति मानव, साक्षात् कर्म—कलंक रहित प्रभु ही परिणमित कर दे सकता है। तब उस दिव्य रूप परिणत मानव को नित्य ही स्व-आत्मा के वैभवों के महान् महोत्सव प्राप्त होते हैं। पृथ्वी के उत्तम पुरुष ही क्या, भवन व अन्तरिक्ष वासी देव प्राणी भी उसके आगे परम शान्ति के लिये नत-शिर होते हैं और शरणापन्न होते हैं और भक्ति-भाव से अपने ही अन्तर को परमानन्द के भावों से आर्द्रित और विमल कर लेते हैं। परन्तु इस सब में प्रश्न अपनी आत्मा की ही आस्था का हैं, वह सम्यक् भाव से जाग जानी चाहिये।

रुचि और दर्शन की महत्ता, आस्था के दीप जलाओ

योगका उत्स वास्तव में स्व-आत्मा का यथार्थ विकास तथा स्व अध्यात्म स्वरूप की ही अन्तर रुचि तथा दर्शन में हैं। योग तब ही मानव को उसके उज्ज्वलतम ज्योति स्वरूप व परमानन्द परम स्वरूप में प्रतिष्ठित करने में सफल होता है और यह सर्वदा इस ही प्रकार सफल हुआ है और

होगा । स्व ग्रास्था ही मानव को निर्विकार एवं उज्ज्वल बनाती है, कषाय व राग से रहित होने की प्रेरणा देती है । कषाय ग्रौर राग से रहित होने में ही ग्रात्मा-पुरुष ग्रपने सहज निर्मल ज्ञान-स्वभाव में, ग्रर्हत् रूप में, परमेश्वरत्व में जाग उठता है ।

योग शास्ता कौन ?

इस ग्रास्था की शिक्षा किससे प्राप्त हो सकती है ? सो स्पष्ट ही है कि यह ग्रास्था उसी मानव पुंगव से प्राप्त हो सकती है, जिसने स्वयं में उस ग्रास्था को परिपूर्ण जागृत किया हो, प्रतिष्ठित किया हो, स्वयं इस स्वरूप सिद्धि के मार्ग पर चला हो, ऐसा ही ग्राप्त पुरुष कालातीत ऐतिहासिक योगेश्वर तथा धर्म संस्थापक पुरुष हो जाता है । ऐसा ग्रादि पुरुष पूर्व में, ग्रति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में इसी भारत में भगवान हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ वृषभेश्वर हुए ।

ग्रनुभव, स्वरूप प्राप्ति ग्रौर ग्रादर्श

सिद्धि, साधना ग्रौर साधक के एक निर्मल ग्रात्मा-केन्द्र पर एकत्व हो जाने पर ही शुद्ध बुद्ध ग्रौर सिद्ध स्वरूप की सिद्धि होती है ग्रर्थात् यही एक मात्र सिद्ध स्वरूप है । स्वरूप सिद्धी के लक्ष्य की स्थिरता के ही ग्रर्थ सिद्धों की वंदना भी की जाती है ग्रौर वही इस योग यात्रा का ग्रनंतर प्रकर्ष बिन्दु है । यानी वह स्वरूप प्राप्ति ही चरम बिन्दु है, स्व खोज का चरमोत्कर्ष है ।

खोज का स्वरूप शब्दात्मक नहीं है, वह ग्रनुभवात्मक है । गुरु का उपदेश शब्दात्मक है; उस उपदेश से प्राप्त निष्ठा ग्रौर ज्ञान को जब ग्रनुभवात्मक बनायेंगे, तब ही वह निष्ठा तथा ज्ञान हमारी निष्ठा, हमारा ज्ञान होगा ग्रौर यह ग्रनुभव का मार्ग खुलेगा—ग्रपने ही ग्रन्तंखोज करने से, ग्रात्म ध्यान करने से । ग्रतः ध्यान स्व के खोज की ही एक विधि है, मार्ग है, साधन है । यह ध्यान ही योग विज्ञान है । इस खोज व ध्यान से ही स्व स्वरूप की, स्व तत्व की सिद्धि या साक्षात्कार है । ध्यान में ग्रनुभव रूप स्वाद तब ही ग्रायेगा जब स्व तत्व में तन्मय हो जाग्रोगे । तब वहां न श्रद्धा होगी न ज्ञान, न चारित्र होगा । तब वहां होगा मेरा ही निर्मल 'हूं', ग्रहं–स्वरूप, ग्रात्मा-स्वरूप, परम शान्त व सुख रूप । एक ग्रद्वैत दशा होगी वह । तब वह शान्त स्वरूप श्रद्धा, ज्ञान ग्रौर चारित्र का ग्रभिन्न ग्रखंड ग्रास्वाद रूप होगा । उस ग्रवस्था में साधक, साधना ग्रौर सिद्धि एक केन्द्र पर एक होकर स्वयं ग्रात्मकेन्द्र में ग्रात्म-निर्विकल्प हो जाता है । वह ग्रपूर्व ग्रौर ग्रद्वय ग्रवस्था ही सिद्धि का निदर्शन है, ग्रात्म प्रभु का निदर्शन है, स्वरूप प्राप्ति का निदर्शन है । इसमें युगपत् सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान ग्रौर सम्यक् चारित्र ग्रखण्ड विराजमान रहते हैं । ग्रतः यह योग शासन रूप शान्ति, निर्मलता ग्रौर सुख का मार्ग, मोक्ष का मार्ग, या धर्म मार्ग इन तीन विशिष्ट गुणों का त्रयात्मक स्वरूप है । ग्रात्मा के परम (निर्मल) स्वरूप का ग्रन्तरंग ग्रनुभव ही में सारा रहस्य है । इस मार्ग में प्रथम जिनेश भ० हिरण्यगर्भ ऋषभ तीर्थंकर स्वरूप तथा सिद्ध परमात्मा स्वरूप ही हमारे ग्रादर्श हैं ग्रर्थात् सकल व निष्कल ग्रात्म-स्वरूप ही क्रमशः ग्रर्चनीय है । उनकी सी ग्रात्मिक शान्ति तथा सुख ही हमारा लक्ष्य बिन्दु है । यह

लक्ष्य तद्वत् परिणमन या रूपान्तरण चाहता है। हम में चिति शक्ति की तद्वत् अभिव्यक्ति हो। पर्याय के अभिप्राय तथा भावों में पूरा-पूरा समग्र और अखंड रूप से परिष्करण की यह लक्ष्य माँग करता है। जीवन दिशा में क्रान्ति बिना यह संभव भी नहीं होता। इस दिशा की प्राप्ति होती है सहज पुरुषार्थ से, जो निज शुद्ध स्वभाव में एकाग्र होने रूप है। इसी के उपायों का विवरण इस योग विज्ञान में है। अपने स्वभाव की निर्मलता, आनन्द और ज्ञान और उसी में रमणता रूप स्थिरता-ये ही क्रम और दिशा है इस योग विज्ञान की। इसमें ही कर्मावरणों तथा संस्कारों का क्षय होकर विशुद्ध स्वरूपामृत की प्राप्ति होती है।

अर्थ-संगति

योगः सन्नहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु—(अमरकोष)

(१) योग सन्नहन है, क्षत्रिय श्रमणों की भाषा में जीवन संग्राम में युद्ध रत होने के लिए योग कवच का धारण कर लेना सहन्न (सन्नद्ध) होना है जिससे कर्मशत्रुओं को जय किया जाए। कारणानुयोगी गोम्मट सार, पंचप्रकृति आदि में वही कर्मनिर्जरा के विज्ञान रूप में कहा गया है।

(२) योग उपाय है मोक्ष-प्राप्ति का और इसे रत्नत्रयात्मक रूप में कहा गया है।

(३) योग ध्यान है, ध्येय (इष्ट) दर्शन की प्रक्रिया है—जिसका चरणानुयोगी "ज्ञानार्णव" आदि में अस्फुट व्याख्या है।

(४) योग संगति है वाह्यात्मा जीव अन्तरात्मा रूप में विशुद्ध रूप विकसित होकर निज परम स्वरूप में संगति करें, इस विवेचन से पूर्ण है जैन आगम।

~~इस विवेचन से पूर्ण है जैन आगम।~~

(५) योग युक्ति है। विविध युक्ति दी गई है—

(१) जीव मात्र निर्मल चिदानन्द है, अतः जीव मात्र में आत्मवत समभावना, अहिंसा, करुणा की चर्चा यथाख्यात चारित्र रूप उपदिष्ट हुई है। अहिंसा जैन धर्म और योग का पर्यायवाची हो गया है।

(२) जीव संसार-रंगशाला में आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष के स्वांग भरता है ये अभिनेता के ओढे रूप है, निज रूप नहीं है, संयोगी द्रव्य से असंपृक्त मुक्त ही है जीव, समयसार है। द्रव्यानुयोगी समयसारादि ग्रंथों में यही विशेष युक्ति है।

(३) दृष्ठा-ज्ञायक की ज्ञानवृत्ति सदा ही विकार-विमुक्त व अस्पृष्ट है। ये ही "जल में में कमल वत्" चर्या है। ज्ञान वृत्ति कुशल वृत्ति है—इसे ही श्री कृष्ण ~~(भावी तीर्थंकर)~~ ने "योग: कर्मसु कौशलम्"—कहा हैं।

वस्तुतः योग में ये सब ही अर्थ संगति पूर्वक समाहित है। यह स्वरूपामृत से युक्त करता है। अर्थात् केवल (परम शुद्ध) आत्मा से जोड़ता है। वहीं तो योग अयोग की चरम परिणति रूप अयोगि जिन अवस्था है जो योगियों की आराध्य, परम प्राप्तव्य है।

२. तत्वों पर विचार अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष में

- यत् तत् और तत्त्वार्थ की मीमाँसा
- द्वैतात्मक सत्ता—चेतन अचेतन सत्ताएँ
- चेतना लक्षण जीव
- अनन्त सत्ता : षट् द्रव्यात्मक विराट् सत्ता-समष्टि
- पांच अचेतन द्रव्य
- पंचास्तिकाय
- अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य में सम्यक्त्व
- चेतन जीव समष्टि : संसारी और मुक्त आत्माएं
- आत्मा चिदात्म पुरुष : ज्ञान चेतना, कर्म-चेतना और कर्मफल चेतना।
- आत्मा की शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र अवस्थाएं
- जैनों का परमाणुवाद (पुद्गल-वर्णन)
- मन एक आभ्यन्तर इन्द्रिय
- मनोयोग
- मुमुक्षु की पांच जिज्ञासाएं
- त्रैकालिक प्रश्नों का समाधान
- जीव द्रव्य के गुण और पर्याय
- तत्त्व ज्ञान का प्रयोजन आत्म-प्रकाश
- सामान्य विशेष धर्म
- स्वभाव विभाव पर्याय
- षड्गुणी वृद्धि-हानि।
- द्रव्य, गुण, पर्याय की सिद्धि
- स्व सत्ता अवलम्बन से ज्ञान
- सत्ता के 'है' की महिमा
- वस्तु स्वातन्त्र्य
- असंख्य प्रदेश–प्रति प्रदेश अनंत शक्ति
- अनन्त गुण–प्रतिगुण अनंत शक्ति पर्याय
- आत्मा की रस स्रोतस्वनियां

यत्‌तत्‌ और तत्त्वार्थ की मीमांसा

आधुनिकता के संदर्भ में मंद बुद्धि का क्या उपयोग ? वैसे ही अध्यात्मिकता के संदर्भ में भी चिन्तन की योग्यता से रहित का कोई उपयोग नहीं। वस्तु स्वरूप के चिन्तन से ही अध्यात्म का आरम्भ होता है। विश्व में यावन्-मात्र जो 'यत्' रूप अवस्थित है उसके निर्मल तत्त्वस्वरूप का चिन्तन ही तत्त्वार्थ है जिसमें आत्म साधना के सूत्र मीमांसक विवेक की प्राप्ति होती है। मानव की पशु से भेद रेखा चिन्तन, कल्पना शक्ति और विवेक से ही खिंची हैं। योग साधना में अतः भली प्रकार तत्त्व विचार करना, वस्तु निर्णय करना ही पहली शर्त है और वह अनिवार्य ही है।

जो सत्–सत्ता रूप है—वही वस्तु है। यह विश्व अनन्त वस्तुरूप अनन्त सत्तात्मक है। इस विश्व में एक सत्ता नहीं—अनन्त सत्ता है। सत् वस्तु अनादि और अनन्त है।

द्वैतात्मक सत्ता विवेचन

श्रमण-योगियों ने आज के भौतिक विज्ञान से कहीं पहले वस्तु चिन्तन करके संपूर्ण विश्व सत्ता को चेतन और अचेतन ऐसे दो प्रमुख विभागों में द्वैत रूप में व्यवस्थित लक्षित किया है। वस्तु इस विराट् विश्व में अतः या तो चेतन है या अचेतन—इन दो प्रमुख तत्त्वों से (द्रव्यों से) सारा विश्व ब्रह्माण्ड आपूर्ण व्याप्त है। अनन्त शक्तियों (गुणों) का एकमेक अखण्ड समुदाय ही द्रव्य, वस्तु या तत्त्व नाम पाता है। द्रव्य में इस प्रकार गुण हैं और गुण के परिणमन रूप अवस्वाएं हैं, जिन्हें पर्याय कहते हैं। इस प्रकार सत्-द्रव्यगुण-पर्याय युक्त है। अचेतन द्रव्य अनन्त हैं—और चेतन पदार्थ भीं अनन्तानन्त है।

चेतना लक्षण जीव

"चेतना लक्षणो जीवः स्याद् जीवस्तदन्यक:" (सर्वदर्शन संग्रह)—चेतना लक्षण जीव है और जीव के अतिरिक्त अन्य सब अचेतन है। उपयोगो जीव लक्षणम्—(तत्त्व : सूत्र) में कहा है। जीव का जानने व देखने रूप उपयोग है—देखने जानने की शक्ति एवं सुख दुःख की दशा को जानना—यही चेतन्य गुण है।

अनंतसत्ता

अनन्त सत्ता काल और पंचास्तिकाय की ही समष्टि है। अजीव द्रव्य को पांच उपभेदों में वर्णित किया गया है। विज्ञान की दृष्टि से भी लोक रचना का यह विवेचन बहुत महत्वपूर्ण है। आत्म परक विज्ञान में यद्यपि आत्मा पर प्रमुख रूप से चिंतन किया गया है, पर अचेतन पदार्थ पर भी यह सुक्ष्म विवेचन मूल्यवान तथा महत्वपूर्ण है।

(१) पुद्गल—रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण वाले द्रव्य पुद्गल है—समस्तरूपी व मूर्त सत्ता पुद्गल है।

(२) धर्म—यह जीव और पुद्गल के गतिशील रहने में निमित्त (Medium) तेजोवाही ईथर

(Ether) द्रव्य है। यह गति सहायक द्रव्य है। यह लोक प्रमाण अमूर्तिक एक द्रव्य है।

(३) अधर्म—यह जीव और पुद्गल की स्थिति में क्षेत्र (field) स्थापकत्व का सूक्ष्म निमित्त (medium) है। यह स्थिति सहायक द्रव्य है। यह भी लोक प्रमाण अमूर्तिक एक द्रव्य है।

धर्म और अधर्म—ये तत्व-विवेचन के निगूढ शब्द हैं। वस्तु के स्वभाव रूप धर्म से ये भिन्न अर्थ रखते हैं। ये द्रव्य जैन तत्त्व विचार की सूक्ष्मता से मान्य हुए हैं और वर्तमान विज्ञान से भी ये सम्मत हुए हैं। जीव और पुद्गल को ही क्रियावान होने से धर्म व अधर्म द्रव्य की सहायता की अपेक्षा रहती है-अन्य द्रव्यों को नहीं।

(४) काल—यह वर्तना लक्षण तत्त्व है। वस्तु का पर्याय परिणमन वर्तना कहलाता है। वर्तना जिसमें होती है वह काल (टाइम) है। यह लोक के एक एक प्रदेश पर स्थित एवं परमाणु मात्र असंख्यात है।

(५) आकाश—उपर्युक्त चार द्रव्यों व चेतना द्रव्य की स्थिति के लिए अवकाश देने वाला है। ये पांच अचेतन द्रव्य तथा चेतन द्रव्य मिलकर षट् द्रव्य कहलाते हैं। आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य पाये जाते हैं वह लोक और लोकाकाश कहा जाता है, बाकी को अलोक व अलोकाकाश कहते हैं।

पंचास्तिकाय

काल द्रव्य को छोड़ कर पांचों द्रव्य (जीव समेत) प्रचय रूप होने व प्रदेश काय होने से—अर्थात् भावात्मक प्रदेश पदार्थ होने से पंचास्तिकाय कहे जाते हैं। अणु-पुद्गल में प्रचय-शक्ति होने से उसकी पंचास्तिकाय में गणना है।

अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य में तत्त्व विवेचन

षट् द्रव्यात्मक यह विश्व यथार्थ और अनादि निधन है और षट् द्रव्य अनन्त है और अनादि है, इनका आदि कारण नहीं है। रूपात्मक इस विश्व में नाम व रूप (पर्याय) बदलते हैं—पर षट् द्रव्य ध्रुव हैं और अनन्त हैं। षट्-द्रव्यों का समुदाय ही लोकालोक रूप विश्व समुच्चय कहा जाता है। विश्व समुच्चय का विराट् अनन्त आकार न केवल आश्चर्यजनक है, वह वस्तुतः विस्मय कारक है। विशेष प्रकार से 'स्मय' हर्ष व आनन्द को उत्पन्न करने वाला ही इसका ज्ञान है। यह विस्मय जीव में आश्चर्य भाव से इस तरह विलक्षण है कि आश्चर्य में तो जीव बहिर्मुख होता है—मगर विस्मय में जीव अन्तर्मुख होता है और इसलिए विस्मय का भाव योग की एक प्रथम भूमि होती है। विस्मय होकर विशेष तर्कणा रूप वितर्क, विचार, व चिन्तन भूमि को आविर्भूत करता है। विस्मय का आह्लाद ही चित्त की ग्रन्थियों का विभेदक होता है और उसी में दर्शन व ज्ञान का कभी उदभव भी होता है, और दर्शन ज्ञान उपयोग मय स्वयं जीव चेतन पदार्थ है—अर्थात् विस्मय, वितर्क, और ज्ञान

आत्म साक्षात्कार के ही तत्त्व हैं । जब जीव को अपने अस्तित्व का तथा अपने अनन्त ज्ञान का ज्ञान होता है तो परमानन्द का आविर्भाव होता है—वही समाधि जनक भी होता है । वस्तु व्यवस्था यानी कार्यकारण के बोध, संसार की दशा, उत्पाद, व्यय, नित्यता एवं बोध, मोक्ष के कार्य कारण के बोध से यथार्थ सुख का मूल हेतु 'सम्यक्त्व' प्राप्त होता है । अनंत सत्ता के परिप्रेक्ष्य में तत्व का यही महत्त्वपूर्ण वरदान है ।

चेतन जीव-समष्टि : संसारी और मुक्त आत्माएं :—

चेतन जीव की दो श्रेणियां हैं । कहा है—'संसारिणो मुक्ताश्च'(तत्त्वार्थ सूत्र २/१०)।संसारी जीव प्राणी रूप में मूर्त (रूपी) अचेतन द्रव्य के माध्यम से देह युक्त व्यक्त होता है—यह दुःखी परतन्त्र तथा जन्ममरण वाला होता है । यह संसारी जीव शुद्ध रूप नहीं है । शुद्ध जीव अचेतन द्रव्य से असंग होकर मात्र सुखी अवस्था में लोकोत्तर स्थान में उर्ध्वगमनशीलता से हैं और मुक्त हैं । ये मुक्त जीव इस जागतिक लोक में फिर अनात्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप—परावर्तन के लिए नहीं लौटते । वर्तमान में जितने मुक्त व सिद्ध (शुद्ध) जीव हैं वे भी भूतकाल में देह युक्त रहे थे और वर्तमान में जितने देह युक्त जीव हैं—वे भी अनादि भूतकाल से देह युक्त चले आ रहे हैं । देह परम्परा अनादि है—पर सान्त है क्योंकि संयोगी है ।

संसारी प्राणी या तो समनस्क हैं या अमनस्क हैं । मन वाले समनस्क और बिना मन वाले अमनस्क हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति काया वाले प्राणी स्थावर और एकेन्द्रिय हैं । शेष संसारी जीव द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक त्रस हैं ।

विश्व में समस्त द्रव्य ही अनादि और अनन्त है और जीव द्रव्य भी अनन्त और अनादि है । अनादि है अतः वह अमर, अवध्य, अक्षय, अज, अव्यय और अनन्त (न अंत होने वाला) भी कहा जाता है । वह उपयोग शक्ति से अभिन्न है—उपयोग और चैतन्य एकार्थक है ।

आत्मा चिदात्मा पुरुष

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः ।
गुण पर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।[1]

पुरु रूप उत्तम चैतन्य गुण में जो शेत स्वामी होकर प्रवृत्ति करने वाला यह चिदात्मा पुरुष है—यानी चेतना लक्षण है । यह चेतना अनात्म द्रव्य के गुणों से रहित है। चेतना पदार्थों को जब सामान्य निराकार रूप से प्रदर्शित करे तो उसे दर्शन चेतना, जब उन्हें विशेषता से साकार रूप दिखाए तो उसे ज्ञान चेतना कहते हैं । परिणामन अपेक्षा चेतना—ज्ञान चेतना, वह है जो शुद्ध ज्ञान स्वभाव रूप परिणामन करती है, कर्म चेतना वह है जो रागादि कार्य रूप परिणामन करती है और तीसरी कर्मफल चेतना वह है जो सुख दुःखादिरूप परिणामन करती है । चेतना के अनेक व विविध रूप होते हैं, मगर जीव में

---

[1] पुरुषार्थ सिद्‌ययूपाय–1

चेतना का कभी व कहीं भी अभाव नहीं होता। जीवात्मा अनादि स्कंध रूप पुद्‌गल द्रव्य में अहंकार ममकार रूप प्रवृत्ति करता है अतः स्पर्श रस, गंध और वर्ण से विर्वजित विशेषण से चिदात्म पुरुष की विलक्षणता प्रकट की गई है। गुण पर्याय समवेत विशेषण से आत्मा कोगुण पर्यायमय द्रव्य कहा है।

गुण का लक्षण है वह शक्ति जो द्रव्य के साथ है, जो द्रव्यों में सहभूत हो,सदा काल पाया जाए। ये गुण दो प्रकार के हैं—

(1) साधारण—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयात्वादिक गुण हैं—ये अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं। (2) असाधारण—ज्ञान दर्शनादिक असाधारण गुण हैं—क्योंकि आत्मा द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं हैं।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है—द्रव्यों में जो अनुक्रम से उत्पन्न होवें। नरनारकादि या सिद्धाकृति रूप तो व्यंजन पर्याय और रागादिक परिणमन रूप व षट् प्रकार की हानि वृद्धि रूप अर्थ पर्याय है। इन गुण पर्यायों से आत्मा की तादात्मक एकता है—इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जाता है। नवीन अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद, पूर्व पर्याय के नाश को व्यय और गुण की अपेक्षा और पर्याय की अपेक्षा आत्मा के शाश्वत पने को ध्रौव्य कहते हैं—अतः आत्मा को "समुदय व्यय ध्रौव्यैः समाहितः" कहा गया है।

आत्मा की शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र अवस्थाएं

संसारी आत्मा अशुद्ध है, पर उसमें शुद्ध होने की योग्यता भी है। शुद्ध होने पर ही वह सिद्धात्मा होता है—मुक्त हो जाता है। शुद्ध होने की संभावना जिस जीव में प्रकट होती है या रहती है—वही भव्य जीवात्मा कहा जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की रुचि प्रकट होने से जिसे सम्यक्त्व कहते हैं—जीव मोक्षगामी होने की अर्हता प्राप्त करता है और इस अर्हता को कार्य रूप में परिणत किया जाता है योगाभ्यास रूप आत्म साधना से। भव्य संसारी जीव में शुद्धता की संभावना है—अर्थात् वर्तमान में शुद्ध नहीं है। यथा बीज को अनुकूल परिस्थिति तथा सामग्री का लाभ मिलने पर वृक्ष रूप में विकसित होने की संभावना होती है—वैसे ही संसारी जीव को भी सद् गुरु और सद् चारित्र रूप योगाभ्यास-दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप स्वरूप का आचरण आदि अनुकूल सामग्री तथा साधना पर अशुद्ध आत्मा को विशुद्ध सिद्ध आत्मा में विकसित तथा परिणत होने की संभावना है। इस संभावना को ही भव्य गुण कहा जाता है।

सर्वं विवर्त्तोतीर्णं यदा स चेतन्यमचलमाप्नोति।
भवति,तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धिमापन्नः ।।[2]

जब अशुद्ध आत्मा संपूर्ण विभावों (राग मोहादि भावों) से पारंगत होकर निष्कंप चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तब ही यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है।

आत्मा और अशुद्धता का स्वर्ण कीटिकावत् अनादि सम्बन्ध है—अतः वह ज्ञान स्वभाव

---

[2] पुरुषार्थ सि०–11

को विस्मरण कर उदयागत कर्मपर्यायों में इष्टानिष्ट भाव से रागादिक रूप परिणमन करता है। ये परिणाम चेतन जीव के ही हैं तथा आत्मा के साथ इनके व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध हैं अतः इनमेंभोग्य-भोक्ता सम्बन्ध भी आत्मा में घटित होता है। जब सर्व विभाव-भावों का क्षय होकर अक्षोभमय सागरवत् शुद्धात्म स्वरूप में लवणवत् परिणाम लय, लीन हो जाते हैं—तब ध्याता और ध्येय का विकल्प नहीं रहता। तब मैं शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान करता हूं ऐसा नहीं जानता, किन्तु आप ही तादात्म्य वृत्ति से शुद्धात्म स्वरूप होकर निष्कर्म परिणमन करता है—उस समय आत्मा कृत्यकृत्य होता है। वही पुरुष-आत्मा के कार्य की सिद्धि है।

शुद्ध और अशुद्ध इन दो जीव कोटियों के मध्य मिश्र जीव कोटि भी कही जाती है। जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुण कुछ निर्मल हुए हों और कुछ समल हों—ज्ञानादि गुणों की कुछ शक्तियां शुद्ध हुई हो—अवशेष सर्वअशुद्ध हो—और परिणति उनकी कुछ शुद्ध रूप परिणमन करती हो—वे मिश्र जीव कहे जाते हैं। अशुद्ध जीव अनादि से ही अशुद्ध है। मिश्र जीव सादि मिश्र हैं—वे अनादि से अशुद्ध थे पर कालान्तर में अब अपेक्षतया ही अशुद्ध हैं। शुद्ध जीव अनादि से अशुद्ध थे और अब द्रव्य और गुण और पर्याय रूप में—समग्र रूप से शुद्ध है और अब भविष्य में कभी अशुद्ध न होंगे। उनके अशुद्धि के निमित सर्वतः, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वकाल के लिए समाप्त हो गए।

जैनों का परमाणुवाद (पुद्गल वर्णन)

पुद्गल स्पर्शादि चार गुणों से संयुक्त अणु और स्कन्ध दो भेद वाला है। एकाकी अविभागी परमाणु, अणु और अनेक अणुओं का समूह स्कन्ध कहा जाता है। इन दो भेदों के अतिरिक्त छः भेद और भी कहे जाते हैं —

(1) स्थूल-स्थूल, जो काष्ठ, पाषाणादि के समान छेदे भेदे जा सकें।

(2) स्थूल—जो जल दुग्धादि द्रव-पदार्थों के समान छिन्न भिन्न होने पर पुनः मिल सकें।

(3) स्थूल-सूक्ष्म—जो आतप चांदनी अंधकारादि परमाणुओं के समान दृष्टिगत होवें परन्तु पकड़े न जा सकें।

(4) सूक्ष्म स्थूल—जो शब्द गंधादि के परमाणुओं के समान दिखाई न दें परन्तु श्रवण नासिकादि अन्य इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकें।

(5) सूक्ष्म—जो कार्माण वर्गणादिक बहुत-परमाणुओं के स्कन्ध हों और

(6) सूक्ष्म-सूक्ष्म—अविभागी परमाणु

पुद्गल के चार गुणों के भी उपभेद हैं—

वर्णया रूप गुण के पांच भेद—श्वेत, रक्त, पीत, नील और श्याम हैं।

रस गुण के तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय ये पांच भेद हैं।

गंध गुण के (1) सुगन्ध और (2) दुर्गन्ध दो भेद हैं।

स्पर्श गुण के आठ भेद—(1) मृदु, (2) कठिन, (3) लघु, (हल्का), (4) गुरु, (भारी), (5) शीत, (6) उष्ण, (7) स्निग्ध और (8) रुक्ष हैं।

पुद्गल के गुणों की इस प्रकार बीस जातियां हैं—इनमें मृदु, कठिन, लघु और गुरु के अतिरिक्त सोलह जाति के गुण ही पुद्गल परमाणु में होते हैं। एक साथ एक समय में शीत या उष्ण स्निग्ध या रुक्ष, तथा वर्ण (रूप) में से एक तथा रस में से एक ही पुद्गल परमाणु में गुणोपभेद प्रकट होते है। इन गुणों के उपभेदों (जतियों) में परस्पर अदल-बदल भी होते रहते हैं। ये बीस जातियां वस्तुतः गुण नहीं है। एक धातु दूसरे धातु में रूपांतरण स्पर्श गुण के हल्के भारी गुणांशों के हीनाधिक रूप परिणमनों के निमित्त से होता है। लघुत्व गुरुत्व गुणांश में हो जाता है। रस के अम्ल गुणांश मधुर गुणांश रूप हो जाते हैं। गंध के सुगन्ध गुणांश दुर्गन्ध गुणांश रूप हो जाते हैं—वर्ण में लाल गुणांश श्याम गुणांश रूप हो जाते हैं—आदि आदि।

पुद्गल परमाणु एक प्रकार के शुद्ध व अनन्त संख्या में है—पुद्गल एक प्रदेशी घन चोकोर आत्यान्तिक सूक्ष्म होता है। पुद्गल स्कन्ध पुद्गल परमाणु की विकारी (अशुद्ध) दशा संख्यात और असंख्यात प्रदेशी होती है—सूक्ष्म पुद्गल स्कंध भी असंख्यात प्रदेशीं और आत्यान्तिक (कम से कम) स्थूल होता है। परमाणु अचिन्त्य शक्ति वाला होता है। परमाणु विस्फोट जिसे आज विज्ञान कहता है—वह सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों का ही स्फोट है। परमाणु व सूक्ष्म पुद्गल स्कंध इन्द्रिय—अगोचर है—जो इन्द्रिय गोचर होता है वह परमाणु पुद्गल नहीं, स्थूल स्कन्ध पुद्गल होता है। पुद्गल स्कंधों के—शब्द बंध सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप (विद्युत्) और उद्योत (प्रकाश) रूप दस दशाएं या पर्याय होते हैं। स्कंध बनते हैं, बिगड़ते हैं, और फिर बनते रहते हैं। पुद्गल स्कंध की बाईस प्रकार की वर्गणाएं पाई जाती हैं—इसमें से आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, तैजस वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्माण वर्गणा रूप स्कन्ध ही देह युक्त संसारी जीव में पाई जाती हैं। स्कन्ध टूटने से परमाणु होते हैं। मंद गति परमाणु एक समय में आकाश के एक प्रदेश को पार करता है, तीव्र गति वाला पूरे असंख्यात प्रदेशी आकाश को एक समय में पार कर सकता है। पुद्गल परमाणुओं के परस्पर बंधने में स्पर्श गुण के दो अधिक स्निग्ध और रुक्ष गुणांश कारण है—वैसे ही देह बद्ध जीवों के साथ पुद्गल बंध होने के कारण उन जीवों के रागी-द्वेषी (स्नेही रुक्ष) कषाय कारण हैं और उनके होने से पुद्गल के स्पर्श गुण के दो अधिक् स्निग्ध और रुक्ष गुणांश परस्पर देह के साथ बंधते हैं। पदार्थ विद्युत रूप है—उनके गुण ऋणांश और धनांश आधिक्य ही आकर्षण के कारण है और इनका वजन व भार भी इसी पर निर्भर करता हैं। पुद्गल के विस्तारपूर्बक जानने से पुद्गल के ज्ञाता जीवात्मा की विशेषता और विलक्षणता की समझ स्पष्ट होती है। जीव पुद्गल वर्ण रूप रस गंध शब्दादि से भिन्न मात्र ज्ञायक ज्ञान आत्मा है—यह निष्कर्ष होता है। जैनो ने अणु को अविभागी मात्र माना है। विज्ञान ने अणु स्फोट कह कर प्रोटोन, न्यूट्रोन और एलेक्ट्रोन—तीन मूलभूत अणु पायें—इसके बाद तो अब मूल भूत अणुओं की संख्या बीस तक पहुंच गई है और संभावना है कि यह संख्या और भी बढ़ जाए। अतः यह निष्कर्ष होता है कि आज के बैज्ञानिकों के लिए परमाणु अभी तक पहेली ही बना हुआ हैं।

आज के यन्त्र युग में जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ है तो उस युग में जब प्रयोग

शालाएं और यान्त्रिक साधन नहीं थे तो परमाणु की सूक्ष्मता, पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, धर्म और परमाणु की अनन्त धर्मात्मकता आदि विषयों की असीम निश्चलता में कैसे जाना—वही प्रश्न जिज्ञासाशील मानव को इन्द्रिय प्रत्यक्ष की छोटी तलैया से निकाल कर आत्म-प्रत्यक्ष के लहलहाते महासागर की ओर झांकने को उत्कण्ठित कर देते हैं।" (डा. मुनि नगराज)

मन एक आभ्यन्तर इन्द्रिय

पंचेन्द्रिय व अनेक कोषी देह युक्त मानव प्राणी के मन रूप विशेष आभ्यंतर इन्द्रिय होने से वह समनस्क कहा गया है।

मन रूप आभ्यंतर इन्द्रिय दो प्रकार का है (1) द्रव्य मन और (2) भाव मन। हृदय स्थान में आठ पंखुड़ी के कमल का आकार वाला अंगोपांग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न पुद्गल की विशेष रचना द्रव्य मन है। द्रव्य संग्रह टीका के अनुसार नाना विकल्प जाल को मन कहते हैं। रूपादिक होने से द्रव्य मन पुद्गल द्रव्य की पर्याय है—ऐसा 'सर्वार्थ सिद्धि' का वचन है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियागोचर है। भाव मन का 'सर्वार्थ सिद्धि' में यह लक्षण है—'वीर्यान्तराय तथा इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव-मन कहते हैं। भाव मन ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान जीव का गुण होने से इसका आत्मा में अन्तर्भाव होता है। लब्धि और उपयोग लक्षण वाला भाव-मन है। दोनों मन ही कदाचित् मूर्त और पुद्गल है। केवल आकारवान को नहीं बल्कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को मूर्त या रूपी माना गया है। मन में दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थ नियमित है तथा संकल्प विकल्प करना मन का कार्य है। भाव–मन पुद्गलों के अवलम्बन से होता है—अतः पौद्गलिक भी है।

मनुष्य का व्यवहार मन का कार्य है। मैं मनुष्य हूं—शरीरादि की समस्त क्रियाओं को मैं करता हूं, सभी पुत्र धनादि के ग्रहण त्याग का मैं स्वामी हूं—आदि मानना मनुष्य के मन का व्यवहार है। सारे कार्यों का आरम्भ मन से होता हैं। मन की शक्ति से ही प्रसन्नता, शान्ति तथा एकाग्रता की प्राप्ति होती है। मन देह की आरोग्यता तथा अध्यात्म में अमृत प्राप्ति का हेतु है।

मनोयोग

मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं—ऐसा 'धवला' में कहा है। समीचीन पदार्थ के विषय करने वाले मन को सत्य मन और उसके द्वारा जो मनोयोग हो उसे सत्य मनोयोग तथा इससे विपरीत को मृषा-मनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषा हो उसे सत्य-मृषा मन कहते हैं; जो मन न सत्य हो और न मृषा हो उसे असत्यमृषा मन कहते हैं, इसके द्वारा मनोयोग को भी असत्यमृषा मनोयोग कहते हैं।

हिंसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुद्ध मनोयोग है और अर्हन्त-भक्ति, तप–रुचि, श्रुत

विनयादि विचार शुभ मनोयोग है। घृणा और क्रोध से पेट में, गुर्दे में तथा हृदय में विकार हो जाते हैं। कामना, वासना, स्वार्थ भावना तथा ईर्ष्या से यकृत तथा प्लीहा खराब हो जाते हैं। अशुभ मनोयोग दुखद व पाप रूप है।

समनस्क मनुष्य गति उत्तम इसलिये कही गई है कि इसमें ही तप, महाव्रत, ध्यान तथा मोक्ष की प्राप्ति है। यह मनुष्य गति इसी कारण दुर्लभ है। इसी में आत्म साधन कार्य संभव होता है। यह हित साधन न हुआ तो अमूल्य रत्न खो देने के समान हानि है। यह तभी संभव है जब मानव के मनोयोग प्रशस्त और शुद्ध (निर्मल) हों। मन का प्रवाह पाप के लिए अथवा पुण्य के लिए हो सकता है और निर्मल प्रवाह तो अक्षय सुख रूप मुक्ति के लिए होता है। निर्मल का अर्थ है—जो राग-द्वेष, कषाय से रहित है।

इसीलिए कहा गया है धन्य है वह—जिसका शरीर तप रूप बेलि के ऊपर पुण्य रूप महा फल को उत्पन्न करके इस प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार के कच्चे फल के अग्र भाग से फूल नष्ट हो जाता है तथा जिसकी आयु संन्यास रूप अग्नि में दूध की रक्षा करने वाले जल के समान ध्यान रूपी समाधि की रक्षा करते हुए सूख जाता है।

पुरुषार्थ की दिशा जब ज्ञान व स्वभाव की तरफ होती है तब मानव अपनी निर्मल सर्वोच्चता की तरफ प्रयाण करने लगता है। पुरुष (आत्मा) और अर्थ (स्वभाव) की अभिन्नता में परिपूर्ण चेतनत्व व साक्षित्व है, वह चित्त के संकल्प व विकल्प के अतीत व नित्य है तथा परम वीतराग है।

मुमुक्षु की पांच जिज्ञासाएं

मुमुक्षु जीव की पांच अनादि जिज्ञासाएं होती है—

कोहं ममास्रवःकस्मात्, कथं बंधः, क्व निर्जरा।
का मुक्तिः विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यतेः ॥

अर्थात्—(१) मैं कौन हूं—मेरा क्या स्वरूप है (२) मुझे कर्मों का आस्रव किस कारण से है (३) कर्मों का बंध किस प्रकार से होता है (४) निर्जरा कैसे होती है और (५) मुक्ति और विमुक्त पुरुष का स्वरूप क्या होता है?

इस पांच अनादि जिज्ञासाओं की गवेषणा ने सात तत्त्वों को जन्म दिया है। इन सात तत्त्वों में चेतन जीव द्रव्य और अचेतन पुद्गल अजीव प्रमुख दो द्रव्य है और शेष पांच तत्त्व (आस्रव बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष) जीव और अजीव (पंचभूत-पुद्गल वर्गणा) के परिणाम हैं। इनमें आस्रव और बंध तो संयोगी तत्त्व है और संवर, निर्जरा, और मोक्ष वियोग तत्त्व है। तथा जीव और अजीब दोनों ही जीव के ज्ञेय तत्त्व है तथा जीव स्वयं ज्ञायक तत्त्व है।

पूर्वोक्त पंच तत्त्व जिज्ञासाएं तीन मौलिक प्रश्नों में ही समाविष्ट हैं (१) मैं कौन हूं

(२) वर्तमान में क्या हो रहा है और (3) भविष्य में क्या हो सकता है ? मैं कौन हूं—प्रश्न में ही यह भी जुड़ा है कि किस अतीत से वर्तमान में आया हूं ? ऐसे ये तीन प्रश्न त्रैकालिक प्रश्न है।

संयोग और वियोग तत्वों की जानकारी में ही जीव का हेयोपादेय मय विवेक ज्ञान गर्भित है। जो संयोग से आया द्रव्य है वह हेय है तथा जो वियोग द्रव्य है वह भी हेय है ज्ञेय तत्व में ज्ञायक तत्व मात्र ही उपादेय रह जाता है।

त्रैकालिक प्रश्नों का समाधान

त्रैकालिक प्रश्नों के समाधान इस प्रकार इस योग विज्ञान में दिये जाते हैं—

[१] 'मैं कौन हूं' ? हे जीव ! तू चैतन्य है, ज्ञान पिंड है और अनादि काल से ऐस ही है—अतीत में भी यही था, अब भी है और यही तू भविष्य में भी रहेगा।

[२] 'क्या हो रहा है' ? हे जीव ! तू वर्तमान में राग द्वेष मोह जन्य कर्म (क्रिया) का कर्ता बना विकारी हो रहा है और अनादि से मिथ्यात्व कर्म से बंधा अपने स्वरूप से बेखबर है। अपने कर्म विपाक का भोक्ता होकर भव भ्रमण में दुखी हो रहा है।

[३] 'क्या हो सकता है' ? हे जीव ! तू पर-द्रव्य का राग द्वेष मोह कषाय छोड़ कर—अपने संयोगी विभाव विकार और कर्म विकार से मुक्त होकर अपने निर्मल चैतन्य स्वस्थ स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

उक्त संभावनाओं की दृष्टि करके ही योगीश्वर अर्हत् पुरुषों ने बार-बार उपदेश दिया है कि यह जीव अपने विराट् ज्ञान चैतन्य स्वरूप की पहचान करे—प्रतीति करे और उसी में स्थिर हो। इसी उपदेश में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र [स्थिरता] रूप समस्त योग विज्ञान के उपदेश का सार है, संक्षेप है। इसका ही विस्तार से योग विज्ञान के अध्ययन में विवेचन होता है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

वृक्ष बीज में छुपा हुआ है, देखो अन्तर्मन से।
नर में नारायण सोया है, जागेगा चिंतन से।

तत्त्व-चिन्तन आत्म ज्ञान के द्वार को खोल देता है। जीव के कषाय रस को निर्मल अमृत रस में रूपांतरित करने के लिए आत्म चिन्तन ही रसायन है।

यथा ही सूर्य मेघों से आच्छन्न हो जाता है, उसका प्रकाश मंद या विलीन रहता है—वैसे ही कर्मावरण से व रूपी या मूर्ति के भाव पदार्थों के लेप (लेश्या) से आत्मा का प्रकाश (गुण-प्रकाश) मंद व विलीन रहता है। जीव अपने अज्ञान भाव से बंधता हैं, अतः वह अज्ञान का कर्ता और अज्ञान का ही भोक्ता भी है। स्वयं बंधा है और स्वयं ही आत्म चिन्तन एवं पुरुषार्थ से मुक्त भी हो जाता है। बंधन

व मुक्ति स्वयं जीव के ही अधिकार व अधीनता में है—वह स्वयं जिम्मेवार है और स्वशक्ति से स्वतंत्र भी है। अतः वह आप अपना अपने लिए ईश्वर है। स्व स्वतन्त्रता का यह ज्ञान जीव की सहज शक्तियों को उन्मुक्त कर देता हैं। अर्थात् जीव की मुक्ति का रहस्य इस तत्त्व में अन्तर्गभित है। जीव के साथ पुद्गल का सम्बंध उसके अपने विभाव से है।

जीव द्रव्य के गुण और पर्याय

जीव अनन्त गुण-प्रतिच्छेदी है और अनन्त गुण का धारक है। "गुण पर्ययवत् द्रव्यम्" कह कर आ० उमा स्वामी ने द्रव्य का स्वरूप कहा है। यह आत्म-द्रव्य भी गुण तथा पर्यायों को लेकर है–पर्याय अपेक्षा अनित्य तथा गुण अपेक्षा अभिन्न अखण्ड स्वरूप है, नित्य है। प्रदेश व प्रदेशों के संकोच विस्तार से जीव नित्यानित्य है। गुण और गुणों की पर्याय व स्वयं द्रव्य और द्रव्य की पर्याय से यह नित्यानित्य है। 'सत् और उत्पाद–व्यय को लेकर यह नित्यानित्य है। जीव न केवल विभु है, न अणु, न नित्य, न अनित्य,—वह अलग-अलग दृष्टियों में ऐसा प्रतीत होता है और नय-निरपेक्ष तो वह है जैसा ही है यथावस्थ स्व-स्वरूप में अवस्थित है और स्व संवेद्य है। गुण अपेक्षा वह एक नय या दृष्टि से भेद और अन्य किसी नय या दृष्टि से अभेद है—यानी जीव गुण से भी भिन्नाभिन्न ही है। जीव अनेक धर्म, गुण व स्वभाव या शक्तियों वाला होने से अनेकांत स्वरूप है। विभिन्न नय व दृष्टियों से कही जाने वाली यह पद्धति स्याद्वाद या अनेकाँत प्ररूपणा कही जाती हैं। अनेकांत आत्मा का स्वरूप है और नय उसे साक्षात् करने की दृष्टियां। अनेकांत पद्धति वस्तु को (आत्मा सहित सब ही वस्तुओं को उनके स्वरूप, गुण, द्रव्य, पर्याय सहित) यथावत् प्ररूपित, लक्षित तथा साक्षत् कराती है—कारण आत्मा स्वयं अनन्त गुण राशि तथा अनेकांत स्वरूप स्वयं ज्योति है। शुद्ध दृष्टि में जिसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं आत्मा मुक्त-ध्रुव, नित्य सातिशय घन-आनन्द-पिण्ड है।

तत्त्व ज्ञान का प्रयोजन आत्म प्रकाश

यहां तत्त्व ज्ञान का अर्थ केवल पदार्थों का विचार दृष्टि से देखना, इतना मात्र नहीं स्वीकार किया गया है। तत्त्व ज्ञान का वास्तविक अर्थ तो आत्मा के प्रकाश को प्रकाशित कर लेना है। तत्त्ववेत्ता तीर्थंकर अर्हत्पुरुषों ने न केवल तत्त्वों को जाना और न केवल उन्हें प्रतिपादन करके ही मौन रहे, उन्होंने साथ ही योग की ऐसी प्रक्रियायें भी प्रसारित की हैं जिनसे आत्म-बोध तथा आत्मप्रकाश के स्तर खुल जाते हैं और उस परिपूर्ण सत्य व शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होती है, जिसे केवल ज्ञान या निज स्वरूप में परमात्मस्वरूप का दर्शन व उपलब्धि कहा जाता है। अतः उन्होंने समयसार शुद्ध-आत्मा को जो द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नो कर्म (देह) से रहित होने से निर्मल, 'एक' स्वरूप, पवित्र है नमस्कार किया और रहस्य उद्घाटित किया कि यह शुद्ध सत्ता भाव-स्वरूप वस्तु अन्य सब अनात्म भावों का उच्छेद करके चिन्मय स्व स्वरूप भाव को उदित करती, अनुभव रूप क्रिया से प्रकाशित होती है। आत्मा चेतन् द्रव्य है, अतः उसमें ज्ञायक गुण है, चेतन द्रव्य से दूसरे सब जड़ अनात्मा द्रव्य हैं और उनमें ज्ञेय गुण है। वे ज्ञायक आत्मा द्रव्य से जाने जाते हैं।

सर्वज्ञ, वीतरागी, शुद्ध आत्मा अपने चरम स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से परमेष्ठी हैं—उसे ही परमात्मा, परम ज्योति, परमेश्वर, पर-ब्रह्म, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अनन्य, शुद्ध, बुद्ध

अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परम पुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानन्द, जिन, आप्त, भगवान, प्रभु–आदि अनन्त नाम से कहा है, वे सब नाम दृष्टि भेद से ही हैं और इनमें वस्तु रूप से कोई विरोध नहीं है। शुद्ध निर्मल ज्ञान स्थिति में ही पारमैश्वर्य है।

सामान्य विशेष धर्म

जो शक्ति या धर्म द्रव्य के आश्रय-समग्र प्रदेश में व्यापक रहे और प्रत्येक समय ही साथ रहे वह गुण कहा जाता है। सामान्य और विशेष ऐसे दो भेद से गुण हैं। इनमें सामान्य गुण तो सभी जाति के द्रव्यों में पाये जाते हैं—विशेष वे हैं जो एक ही जाति के द्रव्यों में पाये जाते हैं।

वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि धर्म गुण हैं। गुणों की तीन काल में समय-समय पर प्रकाशावस्था होती रहती है, ये पर्याय हैं और ये पर्यायें अनन्त ही हैं। वस्तु में एकत्व अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्ध, अशुद्ध आदि अनेक धर्म हैं। सामान्य धर्म तो वचन गोचर है किन्तु अन्य विशेष अनन्त धर्म हैं जो वाक् गोचर नहीं, ज्ञान गम्य है। आत्मा के अनन्त धर्मों में चेतनत्व असाधारण धर्म है—यानी यह ऐसा धर्म है जो वस्तु का सामान्य धर्म नहीं है, आत्मा में ही असाधारण रूप से है और अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है। चेतना गुण से ही आत्मा ज्ञाता दृष्टा है—बिना इन्द्रिय व मन आदि के आश्रय-ज्ञान स्वरूप है। ज्ञाता दृष्टा शक्ति आत्मा का उपयोग स्व स्वरूप में होता है तो वह शुद्ध स्वरूप का ही भोग करता है, पर जब पर (अनात्म) पदार्थ की ओर लक्ष्य रख कर पर-भाव में एकता को दृढ़ करता है तो वह भाव ही संसार का भाव या संसार का बीज है। अतः जीव का उपयोग 'स्व' के अभिमुख या पर के अभिमुख इन दिशाओं के अभिमुख होकर उधर ही एकत्व भाव करके तदनुसार ही शुद्ध या अशुद्ध दशाओं को भोगता रहता है—तीसरी इसकी कोई अवस्था नहीं होती। संसारी प्राणी की निम्न अवस्था अशुद्ध अवस्था ही है।

निगोद अवस्था से लेकर सिद्ध अवस्था तक जीव उपयोग लक्षण ही रहता है—भेद इतना मात्र ही है कि संसारी जीवों का उपयोग 'पर' की तरफ लग कर पर-भाव में राग से एकाग्र है और सिद्ध आत्माओं का उपयोग शुद्ध वीतराग स्वभाव में ढ़ला है—वे स्वरूप-एकाग्र हैं।

स्वभाव व विभाव पर्याय

स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा जीव एवं पुद्गल दोनों द्रव्य परिणामी है। शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हैं। ये समान जातीय और असमान जातीय अनेक द्रव्यात्मक एकरूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गल में ही होती हैं तथा अशुद्ध ही होती है। क्योंकि ये अनेक द्रव्य के परस्पर संश्लेष रूप सम्बन्ध से होती है। धर्मादिक द्रव्यों की परस्पर संश्लेष सम्बन्ध से पर्याय घटित नहीं होती, इसीलिए परस्पर सम्बन्ध से अशुद्ध पर्याय भी उनसे घटित नहीं होती।

धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्यों के विभाव गुण पर्याय नहीं होते हैं । आकाश के घटाकाश महाकाश इत्यादि की जो कहावत है—वह उपचार मात्र है ।

गुण एवं पर्याय का सम्बन्ध

पर्याय क्रमवर्ती और गुण अक्रम तथा युगपत् हैं । गुण की सिद्धि पर्याय से ही होती है, अगुरुलघु गुण की सिद्धि पर्याय के बिना नहीं हो सकती । वैसे ही सब गुणों के विषय में यह बात है । अगुरुलघु गुण का विकार षड्गुणी वृद्धि-हानि है, यदि षड्गुणी वृद्धि-हानि न हो तो अगुरुलघु गुण भी न होगा । पर्याय साधक है और गुण सिद्धि है ।

ज्ञान का लक्षण 'जानपना' है और ज्ञान जानपने रूप परिणमन करता है। जानपने बिना ज्ञान का अभाव होता है और परिणमन के बिना जानपने का अभाव होता है । 'ज्ञान पना' गुण है और परिणमन पर्याय है । पर्याय के बिना गुण नहीं और गुण के बिना पर्याय नहीं हो सकती । गुण और पर्यायों का अविनाभावी संवंध है । इन दोनों से द्रव्य सत्ता है इसी कारण सूत्र है—"गुण पर्ययवद् द्रव्यम् ।"

षट्गुणी वृद्धि हानि

अगुरुलघु गुण का सूक्ष्म परिणमन ही यह है और वह परिणमन आगम गम्य है, वचन अगोचर है । ४७ शक्तियो में भी इस गुण का वर्णन समयसार में आया है ।

दृष्टान्त रूप इसका यह कथन दिया गया है—जैसे सिद्ध परमेश्वर अपने शुद्ध सत्ता स्वरूप में परिणमन करते हैं—ऐसा आचार्यों का कथन है । उनके अनन्त गुणों में एक सत्तागुण भी आया जो अनन्त गुणों का अनन्तवांभाग हुआ । उस परिणमन की जो वृद्धि हो [१] अनन्त भाग वृद्धि कही गई । भगवान् में असंख्य गुण की विवक्षा से जब यह कहा जाता है भगवान् द्रव्यत्व गुण रूप परिणमन करते हैं तो द्रव्यत्व गुण असंख्य गुणों में से एक होने के कारण असंख्यातवां भाग हुआ, उस परिणमन की जो वृद्धि सो [२] असंख्यात भाग वृद्धि कही गई है । सिद्ध के जो आठ गुण कहे हैं उनमें से जब यह कहा जाता है कि सिद्ध सम्यक्त्व रूप परिणमन करते हैं तब [३] संख्यात भाग वृद्धि कही जाती है। सिद्ध आठों गुण रूप परिणमन करते हैं तब जो आठ गुण परिणमन की वृद्धि होती है उसे [४] असंख्यात गुणी वृद्धि कहते हैं । सिद्ध असंख्यात गुण रूप परिणमन करते हैं तब असंख्यात परिणमन की जो वृद्धि होती है उसे [५] असंख्य गुणी वृद्धि कहते हैं । सिद्ध सनन्त गुण रूप परिणमन करते हैं तब अनन्त गुण परिणमन की जो वृद्धि होती है उसे [६] अनन्त गुणी वृद्धि कहते हैं ।

इस प्रकार छः प्रकार की वृद्धि के द्वारा हुये परिणाम वस्तु में लीन हो जाते हैं—तब छः प्रकार की हानि हुई.और जब यह षट् स्थान पतित वृद्धि हानि हुई तभी अगुरुलघु गुण होता है। अगुरुलघु से वस्तु की सिद्धि होती है वरना वस्तु बिखर जायेगी । अगुरुलघु धर्म सब द्रव्यों में है । आत्मा में भी है, अतएव

ही आत्मा को सर्व द्रव्यों की ज्ञायकता संभावित होती है, ऐसा कहा जाता है। अगुरुलघु धर्म न हो तो द्रव्य बिखर जायेगा।

द्रव्य, गुरण, पर्याय की सिद्धि

गुरण की सिद्धि गुरण पर्याय से, द्रव्य की सिद्धि द्रव्य पर्याय से और पर्याय की सिद्धि द्रव्य गुरण से होती है। द्रव्य पर्याय की सिद्धि द्रव्य से होती है और गुरण पर्याय की सिद्धि गुरण से होती है। द्रव्य से पर्याय उत्पन्न होती है। द्रव्य न हो तो परिणाम (पर्याय) उत्पन्न न हो। द्रव्य परिणमन किये (पर्यायों) बिना द्रव्य रूप कैसे हो सकता है?

"द्रव्यत्वयोगाद्-द्रव्यम्'—गुरण पर्यायों के द्रवित हुए बिना द्रव्य नहीं हो सकता। द्रवरण द्रव्य का गुरण ही है। द्रवित होने से गुरण पर्याय में व्याप्त होकर पर्याय को प्रकट करता है। अतः द्रव्य से पर्याय की सिद्धि होती है।

'द्रव्यं सत् लक्षरणं'—सत् लक्षरण वाला द्रव्य है। वह स्वतः परिणमन करता है तथा गुरण-पर्याय द्रव्य को द्रवित करते हैं, अतः द्रव्य को द्रव्य नाम सार्थक है।

द्रव्यं के आश्रय से गुरण और पर्याय रहते हैं, लेकिन गुरण के आश्रय से गुरण नहीं रह सकते। अतः 'द्रव्याश्रय निर्गुणा गुरणाः' ऐसा सूत्र आया है। प्रत्येक गुरण अपने-अपने स्वभाव को लिए रहता है, अन्य गुरण भाव में नहीं मिलता—यथा दर्शन का गुरण भाव ज्ञान से या ज्ञान का भाव दर्शन से नहीं मिलता। वैसे ही अनन्त गुरण है, कोई भी गुरण अन्य गुरण से नहीं मिलता और गुरण गुरणी के बिना नहीं होता।

द्रव्य के बिना ज्ञान आदि गुरणों को ही वस्तु मानने लगें तो एक द्रव्य के अनन्त गुरण ही अनन्त वस्तुयें कहलाने लगेंगी जो युक्ति संगत नहीं। सभी गुरण की आधार जो आधारभूत वस्तु—वह ही द्रव्य कही जाती है। वस्तु सामान्य और विशेष का ही एकान्त रूप है यानी द्रव्यत्व के द्वारा द्रव्य रूप हुई वह द्रव्य ही वस्तु है। 'द्रव्यं द्रव्यात् गुण्यते ते गुरणाः उच्यते'।

वस्तु में गुरण अनन्त हैं—जब जीव निज वस्तु के परिणाम का वेदन करता है तब वस्तु के अनन्त गुरणों का भी वेदन होता है—इसलिए गुरण और गुरणी (वस्तु) दोनों का वेदना करता है, यानी स्व वस्तु अवलम्बन से निजात्मा का अनुभव होता है और उस अनुभव में अनन्त गुरणों का और अनन्त गुरणमय आत्म वस्तु का दोनों का ही अनुभव है। यह अनुभव ही स्वानुभव है।

स्व सत्ता अवलम्बन से ज्ञान

शुद्धात्म वस्तु के लक्षरण में अतः शुद्ध आत्मा का ही वेदन होना चाहिए। उसके अनन्त गुरण पिंड ही अभेद व निर्विकल्प वेदन होने चाहिए। ऐसा अनुभव स्व सत्ता अवलम्बन से होता है। क्योंकि

स्व सत्ता में सर्व अनन्त गुणों की भी सत्ता है, द्रव्य की भी सत्ता है और पर्यायों की भी सत्ता है। स्व सत्ता में द्रव्य गुण (ध्रौव्य) और पर्याय (उत्पाद, व्यय) सबका विलास है और ज्ञान में ही वह विलास प्रकट होता हैं।

सत्ता के 'है' की महिमा

सत्ता ही सब द्रव्य गुण और पर्याय का आधार है और वह अनन्त ही है। सत्ता के ही आधार से द्रव्य गुण पर्याय है। सत्ता का यह 'है' अस्ति भाव विलक्षण ही है। इसी 'है' में अहं-सोहं आदि सब हैं। इसी में अज्ञानी का विभाव परिणमन और ज्ञानी का स्वभाव परिणमन है। सत्ता के शुद्ध 'है' के लक्ष्य को रख कर पर्याय निर्विकार होता है। सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता और गुणपर्ययवत्ता—ये द्रव्य लक्षण के ही तीन प्रकार हैं। वस्तु और सत्ता (अस्तित्व) अभेद रूप हैं। गुण सह भूत और अविनाशी है, पर्याय क्रमवर्ती और विनाशीक है।

वस्तु स्वातंत्र्य

द्रव्य गुण पर्याय में निज उपादान (योग्यता) शक्ति है। अतः इस तत्त्व ज्ञान में वस्तु-स्वातंत्र्य का उद्घोष है। और यह इसकी बड़ी विलक्षणता भी है।

असंख्य प्रदेश और प्रति प्रदेश अनन्त शक्ति

संपूर्ण वस्तु सब प्रदेशों का एक अखंड पिण्ड है। संपूर्ण आत्म वस्तु असंख्य प्रदेशमय हे और ज्ञान मय है। एक प्रदेश लोकालोक को जानता है और वही सब प्रदेश भी जानते है। पर सब प्रदेशों का एकत्व भाव वस्तु है और प्रत्येक प्रदेश का अस्तिस्व अपने अपने प्रदेश में है। चेतना की अभिन्नता के कारण सब प्रदेश अभिन्न सत्ता रूप है।

गुणों का प्रदेश अभेद प्रकाश रूप है—उसमें भेद व अंश कल्पना होने पर भी अभेद है। प्रदेशों में सर्वज्ञ शक्ति व सर्वदर्शिक शक्ति है। वे अपने यथावत् स्वरूप रूप होते है—तत्त्व शक्ति लिये होते हैं परन्तु पर-प्रदेश रूप नहीं होते और जड़ता रहित हैं। अतः चैतन्य शक्ति को धारण किये रहते हैं। ऐसे ही यह अनन्त अनन्त शक्ति को भी धारण किये रहते हैं। वस्तु में प्रदेश-शक्ति अनंत महिमा को ही धारण किये रहती है।

द्रव्य अपने स्वरूप से अन्य द्रव्य रूप होकर नहीं परिणमता, आप सरीखा ही रहता है। वह निमित्त सम्बन्ध में ही अन्य पर्याय रूप होता है। द्रव्य अपेक्षा वस्तु स्थिर ही है। अतः अस्थिर पर्याय से हर्ष विषाद क्यों?

अनन्त गुण और प्रति गुण अनन्त शक्ति पर्याय

वस्तु में अनन्त गुण हैं—और उनमें से प्रत्येक ही गुण तीनों द्रव्य, गुण और पर्याय का

विलास करता है। प्रत्येक गुण में अनन्त शक्ति पर्याय हैं। प्रत्येक पर्याय में सब गुणों का वेदन है। उस वेदन में अविनाशी सुख रस है। इस सुख रस के पान में जागृत होकर जीव चिदानन्द अजर अमर होकर निवास करता है।

आत्मा की रस स्रोतस्वनियां

आत्मा अनन्त और महासागर है जिसमें अनगिनत रस-स्रोतस्वनियाँ बराबर गिरती रहती है। ज्ञान आत्मा स्वयं एक यथार्थ विमल हकीकत (Reality) है। जिसकी नित्यता (Eternity) अनन्तता (Infinity) और शुद्ध शुचिता (Purity) कीं गहनतम अनुभूति—अक्षय अबाध सुखानुभूति रूप परिणति में ही इस शुद्ध जीवात्मा का ज्ञायक अन्तर्तत्त्व उल्लसित होता है।

चिंतन की अबाध धारा में जब जीवात्मा स्वयं चिंतन रूप परिणत हो जाता है तब निश्चिंतता के महासागर में आत्म तत्त्व अमित सुखानुभव रूप प्रकट होता हैं। चिंतन भेद रूप है तो निश्चिंतन अभेद रूप। इन ही में सविचार और निर्विचार समाधि ज्ञान और सुख का अनुभव है। निरन्तर मनन तथा स्मृति से आत्म-ज्योति प्रोज्वलित रहती है वरना बहुत संभावना हैं कि स्व सत्य का, स्व व पर ज्ञान का प्रकाश ही बुझ जाए। चिंतन और निश्चिंतन का समन्वय साधक को सदा आलोक में स्थिरता का मार्ग प्रशस्त करता है।

भेदाभेद रूप चिद्स्वभाव का अभ्यास होते-होते स्थिर नित्य अभेद स्वरूप के केन्द्रस्थ हो जाते हैं। वह ज्ञान आत्मा की उत्कृष्टतम तथा गहनतम विशुद्ध अवस्था है, चिन्मात्र अवस्था हैं, पूर्ण सर्वज्ञत्व है।

३. (चेतन) आत्मा द्रव्य पर विचार विमर्ष

- आत्मा द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा
- आत्मा द्रव्य के स्वरूप लक्षण
- उपयोग लक्षण
- दर्शन और ज्ञान
- चतु ~~पंच~~ भेदात्मक दर्शन और पंच भेदात्मक ज्ञान
- प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके भेद। परोक्ष प्रमाण व उसके भेद (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम)।
- नय और उसके भेद
- युक्ति
- स्याद्वाद—सापेक्ष सत्य
- ज्ञान नेत्र—ज्योति प्रकाश
- ज्ञान के दोष-संशय विपर्यय और विमोह
- ज्ञानाराधना के अष्टांग
- पंच प्रकार क्रिया भेद से पंच ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ज्ञान)
- प्रमाण ज्ञान के भेद, सविकल्प और निर्विकल्प, तथा संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात
- निश्चय और व्यवहार

[२]

- देव गुरु शास्त्र की प्ररूपणाएं
- जीव-संगठन (जीव समास)
- जीव संचरण के स्थान (मार्गणाएं)
- मार्गणाओं के १४ भेद
- जैन मनोविज्ञान और कषाय विवेचन
- चार प्रकार की कषाओं की मनोदशा
- अकषाय शुद्ध दशा
- मनोभाव : लेश्या ग्रन्थि रस, निर्झरण, कर्म विपाक और केवलि योग —
- अष्ट कर्म व्यवस्था
- चार अनुयोग द्वार
- उपादान निमित्त, निमित्त नैमित्तिक के तटबंधों में अध्यात्म सरिता।
- अपराध के चार हेतु—आहार, भय, परिग्रह, मैथुन
- स्वातन्त्र्य दृष्टि में आत्मा
- नय दृष्टियां : वस्तु नयातीत, निर्विकल्प

आत्मा द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा

सब ही भारतीय दर्शन सिवाय चार्वाक दर्शन के आत्म तत्त्व को स्वीकार करते हैं। अतः भारतीय चिन्तन अध्यात्मवादी और आत्म परक है। यहां के सब ही दर्शनों में आत्मा के बंध और मोक्ष पर विस्तार से विचार हुआ है। दर्शन में एकात्मवादी या अनेकात्मवादी ऐसे भेद है तथा अन्य अन्य दृष्टियों में अनेक अन्य भी भेद संभव है।

जैन दृष्टि अनेकात्मवादी, अनेकांतवादी और स्वभाववादी है और दृष्टि ही योग पद्धति का आधार है। अतः यहां चेतन आत्मा की विशिष्ट अवधारणा है। अचेतन और चेतन द्रव्य के मध्य चिन्तन ही भेद रेखा है और आत्मा ही चिन्तन (ज्ञान) द्रव्य है। आइये इस चिन्तन द्रव्य के विविध स्वरूप अंगों को समझें।

आत्मा-द्रव्य, स्वरूप लक्षण

आ० श्री कुंदकुंद ने अष्टपाहुड में जीव तत्त्व का छः विशेषणों में विवेचन किया है तो आ० श्री नेमिचन्द्र सिद्धांताचार्य ने द्रव्यसंग्रह में सप्त लक्षणों से आत्मा का वर्णन किया है।

कत्ता भोई अमुत्तो सरीरमित्तौ अणाइनिहणो य।
दंसणणाणुवओगा, जीवो णिदिट्ठोजिणवरेंदेहि ॥[1]

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[2]

जीव—(१) कर्त्ता (२) भोक्ता (३) अमूर्त (४) शरीर प्रमाण (५) अनादिनिधन और (६) दर्शन ज्ञान उपयोगमयी है।

जीव—(१) उपयोग मय है (२) अमूर्तिक है (३) कर्ता है (४) भोक्ता है (५) देह प्रमाण है (६) संसार में स्थित है अथवा सिद्ध है और (७) उर्ध्वगमनशील है।

इन लक्षणों में प्रकट है कि आ० श्री कुंदकुंद और नेमिचन्द्र की जीव की अवधारणा में कोई मूलगत भेद नहीं है। आ० श्री कुंदकुंद ने जीव के अनादि स्वरूप को उल्लेखित किया है, वहां आ० श्रीनेमिचन्द्र ने जीव की दो अवस्थायें—संसारी और सिद्ध बताई है और जीव के उर्ध्वगमनशील गुण को प्रकट किया हैं—बाकी लक्षण दोनों ही में समान है।

---

[1] अष्ट. पा. 5/148

[2] द्रव्य सं० 2

(१) जीव कर्ता है—जीव निश्चय दृष्टि से अपनी अज्ञानावस्था में अपने अशुद्ध भावों का स्वयं कर्त्ता है। व्यवहार दृष्टि से वह ज्ञानावरणादि अष्ट पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। शुद्ध दृष्टि से जीव अपने शुद्ध भावों का कर्ता है। कर्त्ता लक्षण से यहां सांख्य मान्यता 'अकर्ता' का निषेध हैं।

(२) जीव भोक्ता है—जीव निश्चय दृष्टि से दर्शनमयी चेतना भाव का भोक्ता है। व्यवहार दृष्टि से पुद्गल कर्म विपाक—सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। भोक्ता विशेषण से बौद्ध मान्यता 'क्षणिक' जिसमें कर्म करने वाला और कर्मफल भोगने वाला और है का निषेध है।

वृहदारण्यकोपनिषद में भी एक स्थल में जीव को भोक्ता स्वीकार करते हुए कहा है—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति; साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहः काम मय एवायं पुरूष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते—तदभिसंपद्यते—अर्थात् मनुष्य जैसा काम करता है और जैसा आचरण रखता है, वैसा ही फल पाकर वैसा बन जाता है—अच्छा काम करने वाला अच्छा बन जाता है, पाप करने वाला पापी। अतः मनुष्य कामनाओं से बना है—जैसी जिसकी कामना होती है, वैसा वह निश्चय करता है। जैसा निश्चय करता है वैसा काम करता है और वैसे ही फल पाता है, फल भोक्ता है। उपनिषद् के इस कथन से भी आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व का विषय शंका रहित ठहरता है।

जीव के कर्त्ता और भोक्ता लक्षण में आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा है और नियतिवाद की निरर्थकता भी। इसी लक्षण में जीवात्मा का सातत्य रूप से जीवित रहना भी परिलक्षित है कि जिससे वह सदा जीवित रह कर कर्त्ता भोक्ता होता है—सदा जीवित रहने से ही जीव नाम सार्थक भी है।

(३) जीव अमूर्त है—निश्चय दृष्टि से तो स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द पुद्गल के गुण पर्याय है और जीव इनसे रहित अमूर्तिक है। व्यवहार दृष्टि से जीव जब तक देहस्थ है, मूर्तिक है—तब तक ही वह मूर्तिक कहा जाता है। मीमांसको की जीव को मूर्तिक और शरीर रहित मान्यता का यहां निषेध है।

(४) जीव देह प्रमाण है—निश्चय दृष्टि से जीव असंख्यात प्रदेशी लोक प्रमाण है। परन्तु संकोच विस्तार मय अवगाहन गुण के कारण देह से कुछ कम प्रदेश मात्र प्रमाण के आकार से रहता है। व्यवहार दृष्टि से तो देह प्रमाण है ही। देह प्रमाण कह कर जीव की नैयायिक, वैशेषिक, वेदांती आदि सर्वथा व्यापक मान्यता का यहाँ निषेध है। असंख्यात प्रदेशवाला है तो भी अखंड द्रव्य है। इसके प्रदेश सब अभिन्न है। तथा सम्पूर्ण अन्य द्रव्यों से भिन्न है, तथापि उनके बीच में स्थित है।

आत्मा देह प्रमाण है—ऐसी मान्यता उपनिषदों में भी स्वीकृत है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है —जैसे छुरी अपने म्यान में, अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर में नख से शिख तक व्याप्त है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय कोषों

में स्थित माना है—यह जीवात्मा को देह परिमाण मानने पर ही घटता है। आत्मा लोकालोक प्रकाशक है, लोकालोक व्यापक नहीं है। वेदान्त आत्मा को लोकालोक व्यापक मानता है। आत्म प्रदेश परिस्पंदन रूप योग के समय आत्मा संकोच विकासशील होता है।

(५) जीव अनादिनिधन है—यद्यपि पर्याय (व्यवहार) दृष्टि से जीव जन्म मरण (उत्पाद व्यय) शील हैं, परन्तु द्रव्य दृष्टि से वह सदा नित्य, अविनाशी, अज और अव्यय है—अतः अनादि निधन है। बौद्ध मान्यता "क्षण-स्थायी' का यहां निषेध है। जीव स्वतः सिद्ध है, न आदि है, न अंत है। दर्शन ज्ञान सुख वीर्य रूप अनन्त धर्ममय है।

(६) जीव दर्शन ज्ञान उपयोगमय है—जीव देखने जानने रूप उपयोग स्वरूप चेतना रूप है। इस विशेषता में सांख्य मान्यता ज्ञान-रहित चेतना मात्र का तथा नैयायिक तथा वैशेषिक मान्यता—ज्ञान गुण और जीव गुणी के सर्वथा भेद की मान्यता तथा बौद्ध मान्यता विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान मात्र की तथा वेदान्ती मान्यता 'अनिर्वचनीयता (ज्ञान का कुछ निरूपण ही नहीं हो सकता) इन सब का यहां निषेध किया गया है।

जीव ज्ञान दर्शन उपयोग मय है पर अनादि पौद्गलिक कर्म संयोग से इसके ज्ञान दर्शन गुणों की पूर्णता प्रकट नहीं है। अतः अल्प ज्ञान और अल्प दर्शन ही अनुभव में आ रहा है। अज्ञान के निमित्त से इष्टानिष्टबुद्धि रूप राग, द्वेष, मोह से ज्ञान दर्शन में कलुषता व सुख दुःख आदि अनुभव में आते हैं। पर सर्वज्ञोक्त तत्त्व भावना से स्वस्वरूप निर्णय करके योगमार्गी होकर दर्शन और ज्ञान के सम्यक्त्व की प्राप्ती की जा सकती है।

जीव उर्ध्वगमन शील है—जीव ऊपर जाने के स्वभाव वाला है, यथा अग्नि की शिखा ऊपर को ही जाती है तथा जैसे कोई हल्की वस्तु तुंबी आदि पानी में अपने स्वभाव से ही आप ऊपर आ जाती हैं। गति में सहायक द्रव्य धर्म द्रव्य हैं जो तीनलोक में ही है, अतः तीन लोक के शिखर तक शुद्ध सिद्ध जीवात्मा स्वतः ही अपने उर्ध्वगमन गुण से गमन करके वहां विराजमान हो जाते हैं—क्योंकि गति सहायक धर्म द्रव्य यहाँ से आगे नहीं है। यद्यपि उर्ध्वगमन गुण आत्मा का है पर सहकारी धर्म द्रव्य के वहां नहीं होने से अलोक में नहीं जाते हैं, वहां तनु वातवलय में अधर्म की सहायता से ठहर जाते हैं।

संसारी तथा मुक्त अवस्था—दो ही अवस्थाएं जीव की है अर्थात् जीव या तो अशुद्ध है या शुद्ध हैं। शुद्ध मुक्त जीव के अतिरिक्त सब ही अशुद्ध जीव है। ये सब अनन्तानन्त हैं। वेदान्त भी एक प्रकार से जीवों की दो कोटि मानता है—एक जीव (संसारी) तथा दूसरा ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप। पर वेदान्त अनन्त सिद्धात्माओं को स्वीकार नहीं करता—वह एक ब्रह्म को ही मानता है और संसार के सब जीव एक ब्रह्म के ही अंश हैं। वेदान्त में ब्रह्म के अनन्त अंश रूप जीव हैं—तो जैन आत्मा के गुण व पर्यायों से अनन्त भेद व प्रकार मानते हैं। जीवात्मा के स्वरूप में अतः विभिन्न दर्शनों में अवधारणात्मक conceptual विभिन्नता है। पर वस्तुतः वह अचेतन अनात्मा द्रव्यों से भिन्न देखने जानने

वाला तत्त्व है,ऐसा सर्व मान्य ही होता है—चाहे उसे किसी भी नाम से कहो । वह तत्त्व है अतः अपना विशिष्ट स्वरूप भी रखता है और अपने शुद्ध पूर्ण स्वरूप में वह निर्मल सर्वदृष्टा व सर्व ज्ञाता भी होगा ही । मुक्त आत्मा में दर्शन ज्ञान वीर्य (शक्ति) और सुख अनन्त और अनावृत रहते हैं, संसारी में ये कर्माच्छन्न और परिमित । आत्मा अनादिनिधन, अज, स्वाधीन प्रभु तत्त्व है, उसके उत्तर अन्य कोई तत्त्व नहीं है । यह ज्ञानघन सर्वज्ञ रूप ही है ।

उपयोग

"उपयुज्यते वस्तु परिच्छेदं प्रति व्यापर्यंते जीवोऽनेनेत्युपयोगः' जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद यानी बोध के प्रति व्यापार करे, प्रवृत्त हो उसे उपयोग कहते हैं । दर्शन और ज्ञान उपयोग के ही दो प्रकार हैं । उपयोग शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का भी होता है । अशुद्ध शुभ और अशुभ ऐसे फिर दो उपभेद पूर्वक होता है । आत्मपरक उपयोग शुद्ध उययोग है—आत्म विमुख उपयोग अशुद्ध है । आर्त रौद्र भाव मय-कषायी रागी द्वेषी मोही उपयोग अशुद्ध है; दया करुणा शान्ति भक्ति आदि शुभ परिणामों में लगा उपयोग शुभ है । निराकार अवस्था में उपयोग दर्शन पदवाच्य और साकार अवस्था में ज्ञान पद वाच्य है ।

दर्शन और ज्ञान

दर्शन—दर्शन का अर्थ हैं वस्तु का प्रतिभास-अनाकार देखना-बोध करना कि कुछ है—परन्तु वस्तु की कल्पना नहीं उघड़ती । यह सेन्सेशन (sensation) मात्र है ।

ज्ञान—ज्ञायते अनेन अस्माद्वा इति ज्ञानं—जिसके द्वारा व जिससे जाना जा सके, वह ज्ञान है । जब वस्तु का बोध हो जाता है कि वह क्या है तो यही ज्ञान है । भेद रहित निर्विकल्प सत्ता मात्र प्रतिभास दर्शन है, तो भेद सहित सविकल्प सविशेष बोध ज्ञान है ।

घाती कर्म क्षय न हो जाए तबतक दर्शन और ज्ञान युगपत् उदित नहीं होते ।

चतुर्भेदात्मक दर्शन और पंचभेदात्मक ज्ञान

दर्शन के चार भेद—(१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन (३) अवधि दर्शन और (४) केवल दर्शन है । ज्ञान के पांच भेद (१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्यय और (५) केवल हैं । सम्यग् दृष्टि अपेक्षा-मतिश्रुति अवधि ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मिथ्या दृष्टि के ये ही कुमति कुश्रुत और कुअवधि हैं—अर्थात् मिथ्या दर्शन में ये ज्ञान भी अज्ञान रूप परिणमते हैं । अज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो मोह कषाय युक्त हो ।

'तत्प्रमाणे' (तत्त्वा.सू.) वचन से सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है और वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद वाला होता है । मति श्रुत कुमति कुश्रुत—ये परोक्ष ज्ञान हैं । अवधि कुअवधि मनः पर्यय और केवल

ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। आंख से वस्तु का प्रतिभास चक्षुदर्शन है, नेत्रातिरिक्त इन्द्रियों व मन से प्रतिभास जो मति ज्ञान से भी पूर्व हो अचक्षु दर्शन हैं। अवधि द्वारा (रूपी) पदार्थों की सत्ता मात्र प्रतिभास अवधि दर्शन है। केवलि को समस्त पदार्थ का सत्ता मात्र का भान केवल दर्शन है—पर उसे केवल दर्शन और केवल ज्ञान युगपत् ही होता है। ज्ञान आत्मा का अंतरंग धर्म है और ज्ञान का सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी भाव पर निर्भर है। भाव की विकृति से जो ज्ञान होता है वही अज्ञान है।

प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं—(१) पारमार्थिक प्रत्यक्ष—जो ज्ञान केवल आत्मा ही के अधीन रहकर, जितना अपना विषय है उतना स्पष्टता से जाने। (२) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष—जो नेत्रादिक इन्द्रियों से वर्णादि को साक्षात् ग्रहण काल में जाने।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—(1) एक देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष-अवधि, और मनः पर्यय ज्ञान एक देश पारमार्थिक है। (२) सर्व देश प्रत्यक्ष केवल ज्ञान है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को व्यवहार दृष्टि से प्रत्यक्ष कहा गया है—वह परमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है—क्योंकि इससे सर्वथा स्पष्ट जानना ही नहीं होता।

परोक्ष

परोक्ष प्रमाण—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान से जो कुछ जाना जाता है, सब परोक्ष प्रमाण है। इसके मुख्य पांच भेद हैं—

(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, और (५) आगम।

(१) स्मृति—पूर्व में जो पदार्थ जाना था उसका स्मरण मात्र स्मृति है।

(२) **प्रत्यभिज्ञान**—पूर्व वार्ता का स्मरण कर प्रत्यक्ष पदार्थ के निश्चय करने को कहते हैं। यथा, कोई पुरुष जंगल में कभी गाय सरीखे पशु को देख कर जाने कि गाय सरीखा प्राणी पहले सुना था वह यही है—इस ज्ञान में 'वह' इतना मात्र ज्ञान-स्मृति है, 'यह' इतना मात्र ज्ञान-अनुभव है। और स्मृति और अनुभव मिश्रित 'वह यह है' इतना ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

(३) **तर्क**—व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं। एक के बिना एक न होवे, उसे व्याप्ति कहते हैं। यथा अग्नि के बिना धुआं नहीं है, आत्मा के बिना चेतना नहीं है, इस व्याप्ति का जानना तर्क है।

(४) **अनुमान**—संकेतों (चिन्हों) से पदार्थ के निश्चय को अनुमान कहते हैं। यथा-पर्वत में धुवां निकलते देखकर निश्चय करना कि पर्वत में अग्नि है।

(५) **आगम**—आप्त वचनों के निमित्त से पदार्थ के निश्चय करने को आगम कहते हैं। यथा—शास्त्र से लोकादिक का जानना आगम ज्ञान है।

नय—प्रमाण के अंश को नय कहते है। प्रमाण द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ के एक धर्म को मुख्यता से जो अनुभव कराता है नय है। प्रमाण सिद्धान्त है, नय कथन प्रणाली है, शैली है।

नय भेद—नय के दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय, जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव करावे। (२) पर्यायार्थिक नय—जो द्रव्य की मुख्यता से नहीं, उसकी पर्याय की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव करावे। शैली वस्तुतः दो ही हो सकती हैं। या तो शैली होगी सूत्र (सूक्ष्म) रूप यानी निखालिस द्रव्य रूप, या होगी विचार या विशेष रूप, अपने पर्याय रूप, व्याख्या रूप।

युक्ति—नय और प्रमाण के संयोग को युक्ति कहते हैं। इसका यथार्थ ज्ञान में बहुल काम पड़ता है।

द्रव्यार्थिक नय के भेद—तीन है—(१) नैगम—संकल्प मात्र से पदार्थ का ग्रहण है। (२) संग्रह-सामान्य रूप से पदार्थ का ग्रहण है, यथा षट् द्रव्यों के समूह को 'द्रव्य' कहना। (३) व्यवहार—सामान्यरूप से कहे हुए विषय को विशेष करना—यथा द्रव्य के षट् भेद करना।

पर्यायार्थिक नय के भेद चार हैं—(१) ऋजुसूत्र-जिस नय से वर्तमान पर्याय का ग्रहण किया जावे—यथा देव को देव और मनुष्य को मनुष्य कहना। (२) शब्द-व्याकरणादि से शब्द की अशुद्धियां दूर करना (३) समभिरूढ़—पदार्थ में मुख्यता से एक अर्थ को आरूढ़ करना—यथा 'गच्छतीति गो' यानी गमन करे सो गाय परन्तु सोई या बैठी को भी गाय कहना यह समभिरूढ़ नय है। एवंभूत नय—वर्तमान क्रिया जिस प्रकार से हो उसी प्रकार से कहने को एवंभूत नय कहते हैं। यथा—जिस समय गमन करती हो तभी गाय कहना, सोती या बैठी अवस्था में गाय न कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—कुल सात नय हैं। स्याद्वाद जैन दार्शनिकों के द्वारा सप्त भंगी आदि के रूप में तार्किक पद्धति से व्यवस्थित हुआ है। ये प्रत्येक वस्तु को स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्ति है मानती "है" और पर द्रव्य-क्षेत्र काल भाव से नास्ति (नहीं है) कहती है। ऐसे यह है और नहीं हैं—देश काल से सापेक्ष रूप कथन शैली है। सापेक्ष वाद को आइंस्टीन ने खूब संवारा है। उन्होंने कहा है—हम केवल आपेक्षिक सत्य ही जान सकते हैं—संपूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात है। वस्तु को जैन दार्शनिकों ने अनेक धर्मात्मक माना है—हम जब उसे कहने का उद्योग करते हैं तो एक धर्म को प्रमुख व अन्य अनेक धर्मों को गौण करके ही कहते हैं या कह सकते हैं। ऐसा हमारा सत्य का कथन आपेक्षित हीं संभव है क्योंकि अन्य धर्मों की अपेक्षा से वह अन्य प्रकार भी होता हैं।

स्याद्वाद सापेक्ष सत्य कथन

डा० राधाकृष्णन ने स्याद्वाद पर कहा कि स्याद्वाद निरपेक्ष या संपूर्ण सत्य की कल्पना किये

बिना तर्क के धरातल पर नहीं ठहर सकता। इस पर डा० मुनि नगराज ने इस प्रकार विचार प्रकट किया है —

स्याद्वाद स्वयं ही अपने आप में इतना पुष्ट है कि डा० राधाकृष्णन का तर्क उसे हतप्रभ नही कर सकता। स्याद्वाद भी तो यह मान कर चलता है कि निरपेक्ष सत्य विश्व में कुछ है ही नहीं तो हमारे मन में उसका मोह क्यों उठता है। धर्म कीर्ति ने कहा है—यदि पदार्थों को स्वयं यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बताने वाले कौन होते हैं? सापेक्ष सत्य के विषय में जो संदेहशीलता विचारकों को लगती है—उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य व वास्तविक सत्य से परे सोच लिया जाता है किन्तु वस्तुतः सापेक्ष सत्य उनसे भिन्न नहीं है। हर एक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है कि नारंगी छोटी है या बड़ी।

ज्ञान नेत्र : ज्योति प्रकाश

आ० शुभचन्द्र ने तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय संयुक्त पदार्थ जिसमें सातिशय प्रतिभासित हो—उसे ज्ञान कहा है—यह ज्ञान सामान्य से पूर्ण ज्ञान का स्वरूप है। कहा गया है कि यही ज्ञान योगीश्वरों का नेत्र है और सत्यार्थ है। केबल ज्ञान में समस्त लोकालोक प्रकाशमान होते हैं—इसे योगीश्वरों का ज्योति प्रकाश कहा गया गया है।

स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम्।[3]

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानना—अर्थात् पदार्थ जिन अनेक स्वभावों से संयुक्त है उनको भलीभांति जानना सम्यक् ज्ञान है और ऐसा ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है। यह ज्ञान संशय विपर्यय विमोह रूप तीन भावों से रहित होना चाहिए। तीन भाव पर-द्रव्य अपेक्षा दोष रूप है, वरना ज्ञान में दोष नहीं होता

ज्ञान के दोष संशय विपर्यय और विमोह

(१) संशय—विरुद्ध द्विविधा रूप ज्ञान को संशय कहते हैं, यथा रात्रि में किसी को देखकर संशय करें कि यह वस्तु मनुष्य है या प्रेत।

(२) विपर्यय—अन्यथा इकतरफी ज्ञान विपर्यय होता है, यथा मनुष्य में प्रेत की प्रतीति।

(३) विमोह—'कुछ है' इतना ही जानना विमोह ज्ञान है। यथा गमन करते समय तृण का स्पर्श।

ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, कमबेश जानना यह दोष प्रतिपक्षी ज्ञानावरणीय कर्मोदय के निमित्त से है।

---

[3] ज्ञाना० 7/10

ज्ञान आराधना के आठ अंग

(१) शब्दाचार—शब्द शास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर पद वाक्य का पठन पाठन यत्न पूर्वक शुद्ध करना। व्यंजनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची हैं।

(२) अर्थाचार—यथार्थ शुद्ध अर्थ का अवधारण करना।

(३) उभयाचार—अर्थ और शब्द दोनों से शुद्ध पठन पाठन करना।

(४) कालाचार—जो सर्गकाल [मध्यान्ह से दो घड़ी पहले और सूर्योदय से दो घड़ी पीछे], अपरान्हिक काल [मध्यान्ह के दो घड़ी पश्चात् और रात्रि से दो घड़ी पहले] प्रदीप काल [रात्रि के दो घड़ी उपरांत और मध्यान्ह रात्रि से दो घड़ी पहले] विरात्रिकाल (मध्य रात्रि से दो घड़ी पश्चात् और सूर्योदय से दो घढ़ी प्रथम] इन चार उत्तम काल विभागों में पठन पाठनादि स्वाध्याय करना कालाचार है। चारों संध्याओं की आदि व अन्तिम दो-दो घड़ियों में दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्र धनुष‘ सूर्य चन्द्र-ग्रहण,तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों में सिद्धान्त ग्रन्थ के पठन का निषेध है। आराधना, धर्म कथा आदि के ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं।

(५) विनयाचार—शुद्ध जल से हस्तपादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थान में पर्यंकासन (पद्मासन) से बैठ कर विनय नमस्कार पूर्वक शास्त्र अध्ययन करना है।

(६) उपधानाचार—उपधान सहित, अर्थात् विस्मृत न होने सहित अध्ययन को कहते हैं।

(७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक और शिक्षक का पूर्ण आदर करने को कहते हैं।

(८) अनिन्हवाचार—जिस गुरु, जिस शास्त्र से ज्ञान उत्पन्न हो उसको न छुपाना है। इन आठ अंगों सहित ज्ञान का आराधन करना कहा गया है।

वस्तुतः आत्म ज्ञान तो जीवात्मा के स्वयं ही आत्म-किरणों का प्रस्फुटन है—तब उसे सारा जगत ही अपनी किरणों से प्रस्फुटित हुआ भासता है। क्रिया—भेदनिमित्त से ज्ञान के मति, श्रुत, मनः पर्यय, अवधि आदि भेद करके कहते हैं।

पांच प्रकार क्रिया भेद से ज्ञान विवेचन

मतिज्ञान—पांचों इन्द्रियों तथा मन से जो कुछ जाना जाता है इसे ही शास्त्रीय भाषा में इस तरह कहा जाता है। पराश्रय की बुद्धि छोड़ कर दर्शन उपयोग पूर्वक स्व सम्मुखता से प्रकट होने वाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। स्व बुद्धि से जो ज्ञान प्राप्त होता है जिसे अंग्रेजी में मेण्टल नोलेज कहते हैं वह मति ज्ञान है। इस ज्ञान में इन्द्रिय और मन निमित्त है। बुद्धि [मति] के चार प्रकार कहे गये हैं—१. औत्पत्तिकी २. वैनयिकी, ३. कार्मिकी और ४. पारिणामिकी। जन्मान्तरीय संस्कारों के क्षयोपशम की तीव्रता से वस्तु के मर्म को ग्रहण करे व योग्य

उपाय करे–वह औत्पत्तिकी है। जो बुद्धि उस शास्त्र के विमर्श से प्रकट हो वह वैनयिकी, जो स्व अभ्यास से हो कार्मिकी, जो अनुभव से प्रकट हो परिणामिकी मति है

श्रुत ज्ञान—मति ज्ञान से वस्तु को जानकर उसी जानी हुई बात के सम्बन्ध में अन्य बात का जानना, यानी अन्य पदार्थ को जानने वाला श्रुत ज्ञान है। जैसे त्वचा इन्द्रिय द्वारा शीतल पवन स्पर्श से शीतलता का ज्ञान मति ज्ञान है—परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभकारी या हानिकारक है श्रुतज्ञान है। आत्मा की शुद्ध अनुभूति रूप श्रुतज्ञान को भाव श्रुत कहते हैं—अर्थात् आगम से प्राप्त भाव श्रुत ज्ञान है। श्रुत ज्ञान के शास्त्र में १४ भेद विस्तार से कहे गये हैं।

मति तथा श्रुत— ये दोनों ज्ञान तारतम्यता से प्रत्येक जीव में रहते है। लब्धि अपर्याप्तक निगोद जीव को भी एक अक्षर का अनन्तवां भाग सूक्ष्म श्रुत-ज्ञान होता है। जीव में इनका अभाव नहीं होता? मति ज्ञान के चार भेद या क्रम है—[१] अवग्रह [२] ईहा [३] अवाय और [४] धारणा। जानने योग्य पदार्थ को ग्रहण करना अवग्रह है। यह क्या है—ऐसा विचार ईहा है। यह अमुक वस्तु है — ऐसा निर्णय अवाय है और उसका अवधारण करना, स्मरण रखना धारणा है।

अवधि ज्ञान—इन्द्रियों के आश्रय बिना, स्व शक्ति से रूपी (पौद्गलिक) पदार्थ को जानना अवधि ज्ञान है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान अवधि ज्ञान है। यह देव नारकी और तीर्थंकर प्रभु को जन्म दिन से ही रहता है। जो जन्म से हो वही भव प्रत्यय तथा जो तप व गुण के कारण ज्ञान हो—वह गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहा जाता है। अवधि ज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती, और अप्रतिघाती—ऐसे ६ भेद कहे गये हैं।

मनः पर्यय ज्ञान—द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव की मर्यादा लिये हुए दूसरे व्यक्ति के मन में स्थित रूपीविषय को जानना मनःपर्यय ज्ञान है। किसी मनुष्य ने जो कुछ मन में चिन्तवन किया, कर रहा है वा आगामी को चिन्तवन करेगा उसका ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है। छठे से १२ वें गुणस्थान के मुनि व योगी को यह ज्ञान हो सकता है। अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में वस्तुतः मन की सहायता ली जाती है। क्षायोपशम ज्ञान तक अर्थात् १२ वें गुण स्थान तक अज्ञान भाव रहता ही है। अतः मन की सहायता नियम से ली ही जाती है।

केवल ज्ञान

केवल ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थों का तथा उनके अपेक्षित अनन्त धर्मात्मक सर्व गुण पर्यायों का प्रत्येक समय यथा-स्थिति परिपूर्ण स्पष्ट एवं एक साथ ज्ञान केवल-ज्ञान (Pure Spiritual Wisdom) है। केवल ज्ञानी प्रभू सर्वज्ञ (Eternally Wise) होता है। इसे अनेकात्मक प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है। उसका ज्ञान यथावस्थ होता है—तथा पर्याय जैसे जैसे वस्तु में परिणमती है उसे वैसे वैसे ही जानते हैं। वस्तु की पर्याय निजी योग्यता से परिणमती है— न कि केवल ज्ञानी के ज्ञान के कारण। वे वस्तु मात्र के मौलिक अन्तर्ज्ञान-उत्पाद व व्यय सहित ध्रौव्यत्व के विवेक से सम्पन्न

हैं—न कि केवल वस्तु के सतही व बाह्य स्वरूप मात्र की जानकारी रखने वाले विवेक से, अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान बिना इन्द्रियाश्रय ही साक्षात् रूप से आत्म शक्ति से होते हैं। अतः प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। मति ज्ञान व श्रुत ज्ञान दोनों इन्द्रियों के द्वारा होने से परोक्ष कहलाते हैं—यहां अक्ष का अर्थ आत्मा है। परोक्ष ज्ञान आत्मा से नहीं, आत्मा से परे इन्द्रियों के निमित्त से है। मति ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं—क्योंकि यह इन्द्रिय व्यवहार से प्रत्यक्ष है—यहां अक्ष का अर्थ इन्द्रिय लिया गया है। केवल ज्ञान सामूहिक रूप से एक ही समय में त्रिकाल तथा निकट व दूरस्थ विषयों का ग्रहण करता है।

आत्मा का वह ज्ञान जो स्वयं आत्मा के ही आश्रय होता है—स्व-संबेद्य रूप से होता है—जो फिर न न्यून होता, न अधिक, परिपूर्ण स्थिर यथावस्थ ज्ञान होता है। वह ज्ञान ही प्रमाण, यानी प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान होता है। केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है—इसके उदय होने पर प्राणी सिद्ध अरिहंत केवली हो जाता है। अवधि तथा मनः पर्यय एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान है। द्रव्य क्षेत्र काल भाव की सीमा (अवधि) लिये ज्ञान जो पुद्गल द्रव्य अथवा संसारी जीव का, रूपी वस्तुओं का ज्ञान है अवधिज्ञान है। जीवों का यह अवधि ज्ञान आत्मा के एक देश से जानता है। परन्तु तीर्थंकर, देव तथा नारकी को सर्वांग अवधि ज्ञान होता है। मति व श्रुत ज्ञान इन्द्रिय मन तथा स्थूल प्रकाश और उपदेशादिक निमित्तों के आश्रय होते हैं। केवल ज्ञान निरवधि ज्ञान है, असीम और अमर्याद होता है। मनः पर्यय ज्ञान चिन्तित और अचिन्तित दोनों प्रकार के मनोगत अर्थ (पर्याय या विषय) में विद्यमान ज्ञान को विषय करता है। यह भी इन्द्रियों से अनुत्पन्न होने से अवधि ज्ञान के समान ही एक देश प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सविकल्प और निर्विकल्प : संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात

प्रमाण ज्ञान के दो भेद और किये जाते हैं। वे (१) सविकल्प तथा (२) निर्विकल्प है। जो विचार या इच्छा सहित ज्ञान है वह सविकल्प कहा जाता है। यह प्रज्ञा सहित होने से सम्प्रज्ञात भी कहा जा सकता है। यह ज्ञान ही चार प्रकार का है—मति श्रुत अवधि तथा मनःपर्यय यह। चारों प्रकार सविकल्प या सम्प्रज्ञात ज्ञान के अन्तर्गत है।

मन रहित अथवा विचार या इच्छा-प्रयत्न रहित निर्विकल्प ज्ञान में प्रज्ञा चेष्टा भी मौन रहती है—वह ज्ञान निर्बिकल्प व असम्प्रज्ञात कहा जाता है। केवल ज्ञान इस अर्थ में निर्विकल्प ज्ञान है, निर्विचार निरीच्छुक अबाध ज्ञान है।

लौकिक ज्ञान की सीमा सविकल्प ज्ञान है। केवल ज्ञान लोकोत्तर तथा सकल वस्तु ज्ञान है। वह सर्वांश ज्ञान है, निर्विकल्प, अमर्याद व अखण्ड ज्ञान है। विकल्प तथा विचार की सत्ता, निर्विचार तथा निर्विकल्प ज्ञान भूमि तक न पहुंचने तक बराबर रहती है। अतः ही जब तक निर्विचार तथा निर्विकल्प भूमि में आरोहण न हो आत्म वस्तु का निरन्तर चिन्तन तथा मनन उपदिष्ट है। केवल ज्ञान निर्विकल्प है, वह परमावधि ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है। यह भी है कि केवल ज्ञान आत्मा के उपयोग की सहज अवस्था है।

निश्चय और व्यवहार

द्रव्य और गुण का नाम स्थूल रूप से निश्चय है और द्रव्य और गुण की अवस्था (पर्याय) का नाम व्यवहार है। अन्य द्रव्य से अनपेक्ष स्वाभाविक अवस्था को जब द्रव्य अथवा गुण धारण करे तो वह शुद्ध व्यवहार और जब पर-द्रव्य की पर्याय के अधीन होकर अवस्था धारण हो तो उसे अशुद्ध व्यवहार कहते हैं।

देव शास्त्र गुरू की प्ररूपणाएं

इस अध्यात्म योगविज्ञान रूप धर्म में तीन मौलिक अवधारणाएं हैं। ये तीन प्रकर्ष तत्त्व हैं। ये देव, गुरू और शास्त्र रूप से प्ररूपित हैं। इन तीन तत्त्वों के ज्ञान तथा अवलम्बन या आराधना इस अध्यात्म विज्ञान में है। सच्चे देव, सच्चे गुरू और सच्चे शास्त्र के सिद्धान्त बिना जीव का कभी निस्तार नहीं हो सकता। इनके ही यथार्थ ज्ञान न होने से जीव इस संसार में नाना अंध विश्वास, नाना मूढ़ताओं और अज्ञान में फंसा रहता है और चारों पुरुषार्थ से वंचित रहता है।

देव

सच्चे देव को ही आप्त कहा जाता है। आप्त का स्वरूप आ० श्री समन्तभद्र ने इस प्रकार कहा है—

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथाह्याप्तता भवेत्॥[4]

धर्म के मूल कथाकार भगवान आप्त देव हैं। उनके तीन गुण—निर्दोषपणा, सर्वज्ञपणा, तथा परम हितोपदेशपणा है। इनके क्षुधातृषादिक अठारह दोष नष्ट हो गये हैं। वे परमेष्ठी, परं ज्योति विरागी, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त, सार्व हैं। ये अरिहंत आप्त अपनी ख्याति, लाभ, पूजादिक के प्रयोजन बिना तथा राग और पक्षपात भाव के बिना उपदेश देने वाले हैं—वे वैसे ही अपेक्षा रहित है जैसे मृदंग। मृदंग किंचित् भी अपेक्षा किये बिना ही वादक के हाथ के स्पर्श मात्र से ही नाना शब्द करता है—वैसे ही इन देव पुरुषों की वाणी सहज ही भव्य जीवों के सान्निकर्ष से ध्वनित होती है। ये देव स्वरूप शुद्ध आत्म-वस्तु रूप परिणत हैं। इनके ज्ञान से साधक को निज आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है। इनकी आराधना आत्म गुणों की आराधना है। जिसको देव का द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप का ज्ञान नहीं होता उसे स्वयं आत्मा का भी ज्ञान घटित नहीं होता और उसे मोक्ष भी नहीं हो सकता।

---

4. रत्न करण्ड श्रा०–5

आ० कुंदकुंद कहते हैं—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहि ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।[5]

सर्वज्ञ वीतराग देव का जानना और आराधन मोह का नाश कर देता है और आत्म स्वरूप की ही प्राप्ति करने वाला है ।

गुरू—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान ध्यान तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।[6]

सद्गुरू तपस्वी है—वह पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा से निवृत्त रहता है । वह षट् काय जीवों के घात करने वाले आरम्भ से रहित और अन्तरंग व बहिरंग सर्व प्रकार परिग्रह-ममता मूर्छा वासना से रहित रहता है । और वह ज्ञान, ध्यान, और तप में सदा लगा रहता है । इन चार विशेषणों सहित जो होता है वही सच्चा गुरू है । आ० कल्प पं० टोडरमलजी ने कहा है कि गुरु का स्वरूप निर्ग्रन्थ है और जो निर्ग्रन्थ है वही वन्दनीय है ।

शास्त्र

आप्तोपज्ञमनुल्लंध्यमदृष्टेष्ट विरोधकम् ।
तत्त्वोपदेश कृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।[7]

सच्चे शास्त्र के छः विशेषण बताये हैं—(१) वह सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा (उपदेश) के अनुसार है (२) वादी प्रतिवादी द्वारा उल्लंघन न किया जा सके (३) दृष्ट और इष्ट का उसमें विरोध न हो (४) वस्तु स्वरूप तत्त्व का उपदेश हो (५) सर्व जनों के हित रूप हो तथा (६) मिथ्या मार्ग का निराकरण करने वाला हो । यह शास्त्र न तो परस्पर विरोधी बातें कहता, न एकान्त कथन करता है और इसकी शैली स्याद्वाद और अनेकांत से मुद्रांकित होती है । देव शास्त्र और गुरु के श्रद्धान में स्पष्ट किया गया है कि पाखंड, भेष, मिथ्याधर्म आराधनीय नहीं हैं । अतः साधक जनों को यहां परीक्षा-प्रधानी तथा विवेकी बनने की प्रेरणा दी गई है और किसी भी ऐसे देव गुरु और शास्त्र की मान्यता

---

[5] प्रवचन सार० गा०–8०

[6] रत्न० क०श्रा०–10

[7] वही–9

का निषेध किया हैं जो रागी 'द्वेषी' कषायी, मोही, हिंसक, व हिंसा के प्ररूपक हो और जो आत्म निष्ठ (आत्म-परक) श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता को दूषित करता हो। सत्यार्थ स्वरूप के अर्थी जनों को सत्यार्थ देव गुरु और शास्त्र ही अवलम्बनीय है। आ० हेमचन्द्र ने कहा है कि यदि सरागी देव हो जाए, अब्रह्मचारी गुरु हो जाए, दयाहीन धर्म हो जाए तब हाय ! इस जगत् की क्या दुर्दशा होगी।

जीव के संगठन अर्थात् जीव समास

जिन धर्म विशेषों के द्वारा नाना जीव और इनकी नाना प्रकार की जातियां अथवा जीव संगठन जाने जाते है उन धर्म विशेषों को जीव समास कहते हैं। जीव समास के संक्षेप से चोदह भेद है। तथा विस्तार से इनके तीस, इक्कतीस, बत्तीस, छत्तीस, अड़तीस, अडतालीस, चोवन और सत्तावन भेद हैं। इन सब भेदों का वर्णन पंच संग्रह के प्रथम प्रकरण में है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रीय असंज्ञीपंचेन्द्रिय और संज्ञीपंचेन्द्रिय—ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप होते हैं। इस प्रकार जीव समास के १४ भेद कहे गये हैं।

प्राणों के कारणभूत शक्ति की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते हैं। पर्याप्तियां छः प्रकार की होती है—(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छवास पर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

एकेन्द्रिय जीवों के प्रारम्भ की चार, विकलेन्द्रिय जीवों के प्रारम्भ की पांच और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छः पर्याप्तियां होती है। कहा गया है कि जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं—उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं। पूर्ण जीवों को पर्याप्त और अपूर्ण जीवों को अपर्याप्त जाना जाता है। यहां पूर्ण शब्द सिद्ध शुद्ध जीवात्मा के लिये नहीं है।

पर्याप्तियों के कार्य रूप इन्द्रियादि के उत्पन्न होने को प्राण कहते हैं। प्राणों के दस भेद हैं—(१) स्पर्शेन्द्रिय (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय (५) कर्णेन्द्रिय (६) मनोबल (७) वचन बल (८) काय बल (९) आयु और (१०) श्वासोच्छ्वास।

पौद्गलिक द्रव्येन्द्रियों का व्यापार बाह्य प्राण क्रिया है। बाह्य प्राण के निमित्त भूत ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशमादि से बंधे चेतन व्यापार को आभ्यन्तर प्राण कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के प्राणों के सदभाव में जीव में जीवितपने का और वियोग में मरण हो जाने का व्यवहार होता है। इसलिए इन्हें प्राण कहते हैं। ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियों के कार्य रूप हैं और पर्याप्ति कारण रूप है—क्योंकि गृहीत पुदगलस्कंध विशेषों को इन्द्रिय वचन आदि रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति और वचन व्यापार आदि की कारण-भूत शक्ति को तथा वचन आदि को प्राण कहते हैं।

काय बल इन्द्रियां और आयु—ये प्राण सभी पर्याप्त और अपर्याप्त जीवों के होते हैं। श्वसोच्छ्वास पर्याप्त स्थावर और त्रस जीवों के होता है। वचन बल पर्याप्त त्रस जीवों के तथा मनोबल संज्ञी पर्याप्त जीवां के होता है। पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रियों के दश प्राण होते हैं। शेष पर्याप्त जीवों के एक-एक प्राण कम होता जाता है।

पूर्वोक्त प्राण-प्ररूपणा श्वासवायु रूप प्राणों के भेद—(१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान (५) व्यान (६) कृक्कल (७) धनंजय (८) नाग (९) कूर्म (१०) देवदत्त से भिन्न हैं। प्राण तत्त्व इन प्राण भेदों से भी भिन्न है। यह देह में विद्युत्मय तेजस् तत्त्व है जो उक्त दस प्राणों में भी अन्तर्हित हैं—जिसे न्यूट्रानिक कहा जा सकता हैं और जिसके सहारे जीवात्मा के भाव-प्राण भी टिके व व्यक्त होते हैं। पर वह प्ररूपणा अन्य दृष्टि से है। इन्द्रियादिक दश प्राणों को पौद्गलिक रचना होने से द्रव्य-प्राण कहते हैं तथा जीव के सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणों को भाव-प्राण व निश्चय प्राण कहा गया है।

जीव संचरण के स्थान अर्थात् मार्गणाएं

जिन अवस्था विशेषों में जीवों का अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं। इन अवस्था विशेषों में ही संसारी जीवों का संचरण रहता है। अर्हत्पुरुषों ने जीव तत्त्व को अपेक्षाकृत विकसित वनस्पति में ही नहीं देखा—उन्होंने मिट्टी, पानी में भी जीवन देखा है। इन जीवों का श्वसन, आहार, भय, संवेदन आदि प्रवृत्तियों पर जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया है वह अपने आप में वहुत महत्वपूर्ण है।

एकेन्द्रिय जीवों में भाषा और मन के अतिरिक्त चार पर्याप्तियें होती हैं। दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय चौइन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में भाषा और होकर पांच पर्याप्तियां होती हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय में मन मिलकर छःओं पर्याप्तियां होती हैं।

मार्गणाओं के चोदह भेद

(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) दर्शन (८) ज्ञान (९) संयम, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व (१३) संज्ञा, (१४) आहार मार्गणाएं हैं।

१, गति = चार हैं—(१) नरक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य, और (४) देव

२. इन्द्रिय = पांच हैं—(१) स्पर्श, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) श्रोत्र

३. काय=छः हैं—(१) पृथ्वी काय (२) जल काय (३) अग्नि काय (४) वायु काय (५) वनस्पति काय, (६) त्रस काय ।

४. योग = का अर्थ है व्यापार या प्रवृत्ति, आत्म प्रदेशों का स्पंदन उनका व्यापार या प्रवृत्ति है। संयोग मिलने से आत्म प्रदेश स्पंदित होते हैं, वरना सिद्धों के समान स्थिर रहते हैं। योग

के तीन भेद मन के नाना प्रकार के व्यापार मनोयोग, वाणी या वचन के व्यापार वचन योग, और काया के व्यापार काय योग हैं। कर्म बंध में इन योगों का महत्वपूर्ण भाग होता है। इनके भेद इस प्रकार हैं। योग बल का प्रमाण अनन्त होने से योग स्थानक असंख्य प्रकार के संभव है। इनके अनुसार ही जीवात्मा कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करता है। मन वचन काया से युक्त जीव के भीतर पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से जो कर्मों को खींचने में कारण शक्ति है उसको योग कहते हैं। क्रिया रहित निर्विचार और चैतन्य ज्योति रूप में निस्पंद आत्मप्रदेश अयोग रूप होते हैं।

१. मनोयोग के चार भेद—सत्य, असत्य, उभय, और अनुभय है। इन योगों का निमित्त पाकर जीव के प्रदेशों में कर्म प्रत्यय एक क्षेत्रावगाह करते हैं।

२. वचन योग के चार भेद—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय है।

३, काययोग के सात भेद—औदारिक, औदारिक मिश्र (मनुष्य और तिर्यञ्च के) वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र (देव नारकियों के) आहारक तथा छठे गुणस्थान तक के आहारक मिश्र तथा केवल समुद्घात में एक ऐसे योग मार्गणा के १५ भेद हैं। योगों के तीव्र परिणमन से अधिक कर्म वर्गणाएं तथा मंद परिणमन से कम कर्म वर्गणाएं आती हैं। वर्गणाओं की गणनाओं को ही प्रदेश बंध कहते हैं। योग प्रकृति तथा प्रदेश बंध के कारण हैं तथा कषाय स्थिति तथा अनुभाग के कारण है।

५ वेद—पुरुष, स्त्री, नपुंसक ऐसे वेद के भेदों के तीन प्रकार हैं।

६ कषाय—चार (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ हैं। इनमें से हर कषाय के (१) अनंतानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानावरणीय (३) प्रत्याख्यानावरणीय और (४) संज्वलन—ऐसे चार भेद हैं। नो कषाय—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा (ग्लानि) (७) पुरुष वेद यानी स्त्री से भोगेच्छा, (८) स्त्री वेद-पुरुष से भोगेच्छा, (९) नपुंसक वेद-पुरुष और स्त्री दोनों से भोग की इच्छा। नो का अर्थ यहां न्यून का है। ये चार कषायों से कम हैं पर उनको जन्म देने वाले हैं। वेद का अर्थ काम संज्ञा है।

कषाय (जैन मनोविज्ञान) = कषायों के विवेचन में जैन मनोविज्ञान का रहस्य

प्रत्येक कषाय चार-चार भेद को प्राप्त होता है। (१) अनन्तानुबन्धी—जो सम्यक्त्व को न होने दे (२) अप्रत्याख्यानावरणीय—जो एक देश-चरित्र रूप ग्रहस्थी श्रावक का धर्म भी न होने दे (३) प्रत्याख्यानावरणीय-जो एक देश चारित्र तो होने दे मगर सकल चारित्र मुनि धर्म न होने दे (४) संज्वलन-सकल चारित्र तो होने दे मगर यथाख्यात चारित्र न होने दे। चार कषाय के चार भेद से १६ भेद तथा नो कषाय मिलकर पच्चीस भेद कहे जाते हैं। तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मंद भेद से कषायों के चार चार भेद किये गये हैं।

यथा वट वृक्ष आदि का कसैला रस स्वच्छ वस्तु को भी काला कर देता है—वैसे ही कसैले रस के समान ये कषाय आत्मा की निर्मलता को मलीन कर देते हैं। क्रोध का विपरीत क्षमा, माया का विपरीत आर्जव, मान का विपरीत मार्दव तथा लोभ का विपरीत भाव संतोष है।

क्रोध कषाय

(१) क्रोध जो पत्थर की लकीर के समान बहुत समय बीतने पर बना रहे—प्राणी को नरक का हेतु होता है।

(२) पृथ्वी की लकीर जैसे बहुत समय बाद मिट जाती है—इस समान क्रोध प्राणी को पशु गति में ले जाता है।

(३) धूली की लकीर के समान जो कुछ समय बाद बीतने वाला होता है मनुष्य गति में ले जाता है।

(४) पानी की लकीर के समान तुरन्त मिटने वाला क्रोध देव गति में ले जाता है।

(५) क्रोध को क्षमा से मिटा कर साम्यभाव करने से आत्मा का स्वभाव निर्मल होता है। क्रोध दियासलाई के समान स्वयं प्राणी को ही जलाती है,—दूसरे जिस पर क्रोध किया गया हो चाहे जलाये या न जलाये।

मान कषाय

(१) जो मान पत्थर के स्तंभ के समान—जो कभी नमता नहीं नरक गति में ले जाने वाला होता है।

(२) हड्डी के समान जो बहुत काल बीतने पर नमने योग्य होता है—वैसा मान कषाय प्राणी को पशु गति में ले जाता है।

(३) गीली लकड़ी के समान मान जो थोड़े काल में नमता है, शांत होता है—मनुष्य गति में ले जाता है

(४) जो मान बेंत के समान जल्दी ही नम जाये, देव गति का कारण होता है। मान मानव के विवेक नेत्र को ढ़क देता है। विनय-गुण के चिन्तन से मान को जय किया जा सकता है।

माया कषाय

(१) जो बांस की जड़ के समान—जिसके बहुत शाखा प्रशाखायें होती है—अनेक छल छिद्र वाला नरक गति का निमित्त होता है।

(२) बकरी के सींग सा टेढ़ापन लिये माया मय व्यवहार पशु गति में ले जाता है।

(३) बेल सा टेढ़ापन लिये माया मनुष्य गति में ले जाता है।

(४) जो चामर ढोने के समय जैसा टेढ़ापन जो तुरन्त ही सीधा हो जाता है देव गति का निमित्त होता है।

लोभ कषाय

(१) किरमिच के रंग (2) नील के रंग (3) कीचड़ के रंग (4) हल्दी के रंग का जो लोभ कषाय हो, क्रमशः चार गति का कारण होता है। लोभ को अपरिग्रह या संतोष के चिन्तन से जय करना चाहिये।

चार प्रकार के कषायों की मनोदशा

(१) फल के लिए पूरे वृक्ष को समूल काट लेना—अनंतानुबंधी कषाय को उदाहृत करता है। फल के लिए पूरे डालों को काट दें, वह प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का स्वरूप है। जो कोई गुच्छों को तोड़ कर फलों को ले वह अप्रत्याख्यानावरणीय कषायी मनोदशा है तथा जो फलों को बीन कर खाना चाहे वह संज्वलन कषाय है। इस प्रकार इन पुरुषों में भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। ऐसे ही लेश्याओं के भाव भी उत्तरोत्तर शुद्ध हैं।

अकषाय शुद्ध दशा

जिनको अपने आपको, पर को, उभय को बाधा देने और असंयम के आचरण में निमित्त भूत क्रोधादिक कषाय नहीं है तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मन से रहित हैं ऐसे लोगों के लिए यह अकषाय और शुद्ध मनोदशा है। अकषायमय शुद्धयोगों से एक मात्र सातावेदनीय के योग्य कर्म वर्गणाओं का ग्रहण होता है। आयु कर्म को छोड़ कर पाप व पुण्य कर्मों की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मंद कषाय से कम पड़ती हैं।

क्रोध कषाय से मनुष्य के सारे संयम आदि व्यर्थ हो जाते हैं। मन में जलने वाले व मद में भरे अहंकारी में कभी न कोई सद्‌गुण रहते, न सद्‌गुण प्रकट होते। मायाचारी के हृदय में किसी बात का प्रकाश न ठहरता, न प्रकट होता। लोभ सब पापों का जनक है। लोभी की संचय-वृत्ति में अशान्ति तथा तृष्णा आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। सब कषाय मानव की द्वेष मनोवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। जहाँ राग है वहाँ उसी के बाजू में द्वेष भी रहता है। दोनों का एक ही मूल है, और वह मोह का भाव है। यह मोह ही आत्मा के स्वरूप को विमोहित रखता है, उसे आवृत्त रखता है। विमोह से ही मूर्च्छा का जन्म होता है। मूर्च्छा परिग्रह है। मोह से ही परवस्तु में राग होता है तथा मोह ही सब कषाय भावों का हेतु है। हिंसा का भाव भी इसी मोह-मूर्च्छना से उत्पन्न होता है।

जितनी संख्या में एवं जितने भी प्रकार की वस्तुयें या संसारी जीव हैं उनसे भी अनंतानंत गुणी पुद्गल वर्गणाएं (Molecules) संसार में है। ये प्रमुखतः तेईस प्रकार की वर्गीकृत है। इन वर्गणाओं में ही कर्मवर्गणा है तथा शब्द-वर्गणा भी है। कर्म-वर्गणाएं संसार में सदा ही प्रवाहित हो रही हैं और प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करती है और निकलती रहती है। अतः मानव शरीर में भी ये सदा ही प्रवाहमय है। इन कर्मवर्गणाओं के प्रवाह में से प्राणी मात्र ही कर्म-वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं। शरीर में उत्पाद एवं व्यय का सदा प्रवाह चलता रहता है। भावों के अनुसार तथा निमित्त से कर्म-वर्गणायें विशेष रूप परिणमन होती है। प्राणी के भावानुसार सूक्ष्म आकाश में से वर्गणायें आकर्षित होती हैं और कर्म-संस्थान में भावों की सच्चिक्कणता के अनुसार स्वतः बंधती हैं।

आयुर्वेद जगत् के महान् ऋषि चरक ने भी यह माना है कि जब मानव में क्रोध, मोह, लोभ और अहं (मान) कषाय होते हैं तब वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि और आकाश में वर्तमान सब ही तत्त्व स्पंदित तथा विकृत हो जाते हैं। और इस विकृत अवस्था की स्थिति में जो भी इनका उपयोग करता है वह भी उन विकृतियों को ग्रहण कर लेता है।

मानव मनोवर्गणा में बड़ी मौलिक शक्तियां है और उनसे ही कर्म-वर्गणाएं खिच कर आती है व बंधती है। मनो-भावों की विकृतियां देह में ग्रन्थियों को क्षुब्ध करके रसायनिक विक्रियायें तथा विषों को भी उत्पन्न कर देती हैं।

मानव के भाव और रंग

अतः मानव के भाव अमूर्त (abstract) मात्र नहीं है। जब मानव में राग, मोह या कषाय के विभाव होते हैं तो वे विकृतियों के ही रूप में उदित होते हैं और उद्विग्न और उद्वेलित करने वाले चक्र बनाते हैं। तालाब में जैसे पत्थर डालने पर एक वृत्त पत्थर के गिरने के स्थल के केन्द्र से निकलकर पूरे ही तालाब तक फैलता चला जाता है,—वैसे ही भावों का चक्र मानव में व विश्व में अपने आघात वृत्त को फैलाता जाता पराकाष्ठा पर जाकर समाप्त होता है। मूर्त रूप होने से मानसिक भाव वर्णमय, (रंगमय), चित्रमय होते हैं। इससे ही भाव-लेश्या का प्रादुर्भाव होता है—इनका ही निमित्त लेकर कर्म प्रत्ययद्रव्यलेश्या रूप से जीव के साथ बंधते हैं।

अर्हन्त या केवली पुरुषों के सहज परम अकषाय, अहिंसा तथा प्रशांत व लेश्या रहित शुद्ध भाव है उनसे विश्व का समग्र वातावरण निर्मल भाव स्पंदनाओं से भर कर निर्मल हो जाता है। तब प्रशम रस, प्रेमभाव, सहानुभूति, दया, करुणा का ही अमृत रस सर्वत्र फैलता रहता है। यदि ऐसे भावों का प्रवाह विश्व प्राणियों को प्राप्त न हो तो सारे प्राणियों का जीवन रस कटुता से ही भरा रह जाए। अर्हत् तीर्थंकर पुरुषों की निर्मल ज्ञान भाव की स्पंदना त्रिकाल ही विश्व में प्रवाहित रहती है और जब ऐसे भावों के प्रति मानव अभिमुखता करता है तो ये उसे प्राप्त भी होते हैं। अतः मुख्य बात ऐसे भावों की, उनके गुण-स्वभाव या स्वभाव गुणों के प्रति-रुचि, तथा अभिमुखता करके उन गुणों को

अपने में अवधारण करने की है। मनोभाव देहस्तर पर मानव अंतःस्रावी ग्रन्थि संस्थान को प्रभावित करते हैं, अशुभ, शुभ या शुद्ध आशय के अनुसार ये ग्रन्थियों के कटु आदि रसों के निर्माण के हेतु होते हैं और इनको निमित्त करके कर्मों का उदय या बंध होता है।

आज के युग में क्रोध, मान, माया, लोभ और हिंसा का ही लोगों में बाहुल्य होता जा रहा है, और विकृत मनोवर्गणाओं का प्रवाह फैलता जा रहा है; फलतः विश्व के जनों का भाव-वातावरण दूषित होता जा रहा है जो वायु प्रदूषण के समान ही मानव के लिए भयंकर बात है। मानव में तथा प्रकृति में दोनों में ही विषमतायें बढ़ रही है जो प्रलय और विघटन को जन्म देने वाली है। यह स्मरणीय है कि जीव अपने शुभ तथा शुद्ध भावों से विश्व में उपकार तथा निकृष्ट अशुभ भावों से अपकार का विस्तार करता है तथा स्व तथा पर का परम शुद्ध उपकार तो प्रशांत व मोह रहित ज्ञायक ध्यान भावों से ही होता है। शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तनावों से भी मुक्ति ध्यान से सम्भव होती है।

योगी केवलि पुरुषों की कृपामयी करुणा-पूर्ण अमृतमयी वीतरागी भाव वर्षा की मानव को कितनी आवश्यता है! वह अमृत मयी वर्षा लौकिक तथा परमार्थिक रसायन रूप में होती है। वह अकषाय तथा अहिंसामय वृत्तियों का जीवन सार है। वह अनन्त समता का, सर्व समता का अमृत निर्झर है। इन योगी पुरुषों का अतः अनन्त ही उपकार है कि इनसे जीवों को अपने स्वरूप की अमृतमयी दृष्टि को प्राप्ति की प्रेरणा मिलती है। सब ही कषाय उद्विग्न-कर, चंलल-कर, क्षुब्ध कर एवं दुःख कर हैं—ये विकृतियां हैं। इनसे अपने को सुरक्षित करके ही हम स्व पर का कल्याण कर सकते हैं। जीवों का यही परस्पर उपग्रह है। वस्तुतः आत्मा आप ही अपना कल्याण है, कल्याण-कर है।

अष्ट कर्म व्यवस्था

कर्म प्रत्ययों का ग्रहण मन वचन काय के परिस्पंदन द्वारा होता है परन्तु कर्म प्रत्ययों का बन्ध अशुद्धोपयोग रूप भावों के निमित्त से होता है। अशुद्धोपयोग भाव पदार्थों में इष्टानिष्ट रति द्वेष मोह से विकृत भावरूप होता है। कर्म-प्रत्यय शरीर की ग्रन्थियों के इस विपाक को आश्रय करके अपना फल देते हैं। देह ग्रन्थियां ही कर्म विपाक के लिए निमित्त बनती हैं और सुख दुःख के भावों, कषाय, मोह के भी निमित्त बनती हैं।

कर्म की मूल प्रकृति आठ हैं—इन्हें ही अष्ट कर्म कहा गया है। आत्मा के सब गुणों में ज्ञान प्रमुख है अतः ज्ञान को रोध करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय प्रथम है। ज्ञान के बाद दर्शन का स्थान है—अतः दूसरे नम्बर पर दर्शनावरणीय कर्म है। ये दोनों कर्म अपना फल दिखाते समय सुख दुःख वेदनीय विपाक के हेतु हैं अतः तीसरे स्थान पर वेदनीय कर्म है। इसके उदय होने पर कषायादि जीव को होते हैं इसलिए चौथे मोहनीय कर्म है जिससे पीडित जीव नाना प्रकार के आरम्भ समारम्भ

करता है और नरकादि की आयुष्य को बांध लेता है—अतः मोहनीय कर्म के बाद आयुष्य कर्म है। देह बिना आयुष्य नहीं भोगा जाता—अतः फिर नाम कर्म का नम्बर है। नाम कर्म के उदय होने पर उच्च नीच गोत्र का उदय-अवश्य होता है अतः नाम कर्म के बाद गोत्र कर्म प्राप्त होता है। गोत्र कर्म के उदय पर अनुक्रम से दान, लाभ आदि का उदय तथा नाश होता है—इसलिए गोत्र कर्म के बाद अन्तराय कर्म का क्रम रखा गया है। योगों में कषायों के उदय से सातवें गुण स्थान तक आठों कर्मों के योग्य, नवमे तक आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों के योग्य व दसवें में मोह को छोड़ कर मात्र छः कर्मों के योग्य वर्गणाओं का ग्रहण होता है। कषायोदय न हो तो मात्र सातावेदनीय कर्मवर्गणा का ग्रहण होता है। आयु कर्म के योग्य कर्मवर्गणाओं का ग्रहण त्रिभाग आयु में ही सम्भव है। कषायों में जो शक्ति है उसी से कर्मों की स्थिति व अनुभाग पड़ते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम होगा उतना ही आत्मा को ज्ञान होगा। छः कारणों से इस कर्म का उपार्जन होता है—(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान-साधनों से शत्रुता के विरोध भाव (२) ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना (3) ज्ञान ज्ञानी व ज्ञान साधनों का नाश करना (४) ज्ञान ज्ञानी व ज्ञान साधनों से द्वेष करना (५) ज्ञान ज्ञानी और ज्ञान साधनों की अशातना करना (६) ज्ञान, ज्ञानी व ज्ञान साधनों में जो रत हों—उनमें अंतराय डालना।

जिन छः कारणों से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को बांधता है उन्हीं छः कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांधता है—अन्तर इतना ही है यह दर्शन व दर्शक के विरोध, द्वेष, वा अशातना वा अंतराय से बांधता है।

वेदनीय—साता तथा असाता प्रकार का है। आधि उपाधि और व्याधि से घिरे जीव को जो दुःख होता है वह असाता वेदनीय कर्म है। निरोग देह, अनुकूल धन कुटुम्व व संयोगों के रूप जो सुख का अनुभव होता है वह साता वेदनीय कर्म बंध का फल है।

गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत-पालन, संयम-योग पालन, कषाय विजय, दांत तथा धर्म में दृढ़ता—इनसे सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है। इनसे विपरीत असातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

जिस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में लिप्त होता है—उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मदिरापान के समान यह कर्म मनुष्य के विवेक को हर लेता है। अज्ञान में ही मोह का (वेहोशी का) जोर रहता है अतः स्व ज्ञान के लिए सदा सजगता से तत्पर रहना चाहिए। मोह कर्म के दो भेद हैं, दर्शन मोहनीय—जो मान्यता विश्वास और श्रद्धा को विकृत करे,—तथा चारित्र-मोहनीय जो चारित्र को—वर्तन को, आचरण को विकृत करे। दर्शन मोहनीय से मिथ्यात्व आता है और सम्यक्त्व का रोध होता है अतः यह चारित्र मोहनीय से भी भयंकर है। उन्मार्ग यानी सन्मार्ग व मोक्ष मार्ग से विपरीत का उपदेश दर्शनमोहनीय का बंध करता है।

जिस कर्म के कारण आत्मा को एक शरीर में अमुक समय तक रहना पड़े वह आयु कर्म है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक आयु उत्तरोत्तर अधिक दुःखदायी हैं। मंद कषाय से देव मनुष्य व तिर्यञ्च आयु की स्थिति अधिक तथा तीव्र कषाय से कम पड़ती है। नरकायु की स्थिति मंद कषाय से कम, तथा तीव्र कषाय से अधिक पड़ती है।

नाम कर्म जीव को शुभ-अशुभ देहादि धारण कराता है। यह अच्छा बुरा रूप, रंग, अवयव, यश-अपयश सौभाग्य-दुर्भाग्य का निर्माता है। गोत्र कर्म से जीव को उच्चता-नीचता प्राप्त होती है और वह उच्च व नीच गोत्र भेद से है। स्व-निंदा, पर-प्रशंसा, अपने सद्‌गुणों का उत्थापन पर के असदगुणों का उद्‌भावन, दिव्य नम्रता, मद रहित पठन पाठन की प्रवृत्ति से उच्च गोत्र बंधता है। इनसे विपरीत नीच गोत्र बंधता है।

जिस कर्म के कारण आत्मा की लब्धि (शक्ति) में अन्तराय पड़े-वह अन्तराय कर्म है—(१) दानान्तराय (२) लाभांतराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय पांच प्रकार के अन्तराय कर्म हैं। आठ कर्मों में पहले चार घातियां तथा अन्त के चार अघातियां कहे जाते हैं—घातिया नाम इसलिए है कि वे आत्मा के मूलगुणों—ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य का घात करते हैं। आत्मा की लड़ाई घाती कर्मों से ही है—ये नष्ट हो जाएं तो केवल ज्ञान व केवल दर्शन प्रकट हो जाए और फिर शेष कर्म भी अन्त में नष्ट हो जाएं। जीव पुरुषार्थ करे और शुद्ध अध्यवसाय का बल वढ़ाए तो पूर्व बंधे पाप पुण्य कर्मों का कालक्षय तथा नये कर्मों का संवर होता है। वेदान्त का आवरण घातिया कर्म के समान है और विक्षेप अवातिया कर्म के समान है। वेदान्त आवरण और विक्षेप रूप अविद्या का कथन करता है।

(८) संयम—यम नियम का सम्यक् प्रकार से पालन ही संयम है। संयम चारित्र पांच प्रकार का है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार-विशुद्धि (४) सूक्ष्म सांपराय और (५) यथाख्यात। यह संयम ही चारित्र है। संयम इन पाँच भेदों के साथ असंयम और देश-संयम (संयमासंयम) मिल कर सात भेद संयम मार्गणा के होते हैं।

(१) सामायिक—का स्वरूप सूक्ष्म में राग द्वेष का त्याग तथा क्षमा व समता भाव के अवलम्बन पूर्वक कषाय मुक्ति तथा आत्म ध्यान का अभ्यास है। यह चारित्र का मूलभूत तथा प्राथमिक और अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है।

(२) छेदोपस्थापना—छेद कहते हैं—त्रुटियां व दोष को, सामायिक चारित्र ग्रहण के बाद किसी प्रमाद से संकल्प विकल्प आदि विकार हो जाने से अनर्थक पाप रूप (सावद्य) व्यापार से हुए दोष या त्रुटि के छेद को पूरा करके फिर से संभल कर, प्रायश्चितादि करके दोष विमुक्ति करके अपने को आत्मा में स्थिर करना छेदोपस्थापना है।

(३) परिहार–विशुद्धि—सामायिक क्रिया तथा चारित्र की अधिक—अधिक विशुद्धि को

करना, सावद्य योग तथा संकल्प विकल्प का त्याग होते जाना, आत्मिक निर्मलता का बढ़ते जाना ही विशुद्धि है। विशिष्ट प्रकार से प्राणी घात का परिहार करते हुए दोषों का परिहार होता जाता है और विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

(४) सूक्ष्म सांपराय—सांपराय लोभ कषाय है। आत्म परिणामों की निर्मलता बढ़ते-बढ़ते जब सूक्ष्म (नाम मात्र का) कषाय ही बाकी रह जाये वह दशा सूक्ष्म सांपराय कही जाती है।

(५) यथाख्यात—यह चारित्र विशुद्धि का परम भाव है। इनमें जैसा निष्कम्प तथा शुद्ध एवं कषाय रहित आत्मा का भाव स्वरूप इस सर्वज्ञ आम्नाय में जैसा कहा गया है वैसा ही हो जाना यथाख्यात है। यथा का अर्थ है—जैसा अर्थात् वस्तु का जैसा शुद्ध स्वरूप है उसी का ख्यात होना प्रसिद्ध हो जाना, प्रकट हो जाना यथाख्यात है। यह यथाख्यात ही साध्य का स्वरूप है।

संयम का धारण कतई न हो तो वह असंयम है। कुछ संयम तथा कुछ असंयम हो ऐसी मिश्र अवस्था यानी एक देश संयम को संयमा-संयम कहा जाता है। गृहस्थ श्रावक इस संयमासंयम की स्थिति में होता है। श्रावक को आवश्यक है कि सावद्य (पाप) क्रिया से उपरति के लिए सामायिक अर्थात् आत्म ध्यान का अभ्यास करे। श्रावक इस प्रकार योग-विज्ञान का उपासक है, आरम्भी योगी है। अतः उसे सचेलक त्यागी या क्षुल्लक मुनि भी कहा जाता है। वह ही जिनमार्ग का मार्गी अर्थात् जैन भी कहलाने का अर्हता रखता है। जन्म से कोई जैन या श्रावक नहीं होता। श्रावक की नैष्ठिक व व्रती—इस प्रकार दो श्रेणी है। नैष्ठिक = मात्र योग-मार्ग की निष्ठा यानी तात्विक निष्ठा रखने से, मिथ्यात्व भाव की निवृत्ति से तथा परोक्ष सम्यक्त्व के कारण से भी जैन हुआ जाता है। व्रती श्रावक के (११) सोपान है—जिन्हें प्रतिमायें कहते हैं। संयम धारण की योग्यता की क्रमशः वृद्धि के लिए उत्तरोत्तर (११) प्रतिमायें है। इससे गृहस्थ की जीवन-प्रवृत्ति में से निवृत्ति का योग होता है कि वह आत्म-स्वरूप के उद्घाटन के मार्ग पर क्रमिक रूप से अग्रसर होता चला जाए।

(८) दर्शन—चक्षु-अचक्षु-अवधि तथा केवल के स्वरूपों का ऊपर वर्णन आ चुका है।

(९) ज्ञान—के आठ भेदों का कथन ऊपर हो चुका है।

(१०) लेश्या—ये छः प्रकार की है—कृष्ण, कापोत, नील, पीत, पद्म, और शुक्ल वर्ण (रंग) रूप है। कषाय सहित योग (आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन) होने—अर्थात् कषाय सहित मन, वचन, व काया की प्रवृत्ति होने से लेश्या का आत्मा पर वर्ण, रंग निर्माण होता है।

लेश्या एक प्रकार का श्लेष हैं—पेण्ट (Paint) है, अनुरंजन है जो परिणामों के अनुसार उत्पन्न हो जाता है, जो आत्म प्रदेशों पर रागात्मक भावों के वर्ण के अनुसार चढ़ता है। लेश्या से ही कर्मबंध है। भावों और मनोवर्गणाओं को हम ऊपर बता आये हैं। लेश्या दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। ये शुभ हो या अशुभ हो लेश्या मात्र ही आवरण करने वाली है। आत्मा स्वरूप निर्मलता में लेश्या मुक्त, अवर्ण यां शुद्ध होता है। लेश्या अशुभ व शुभ होने से पाप पुण्य रूप कही जाती है। जिस प्रकार कोई पुरुष

किसी पेड़ के फलों को जड़मूल से उखाड कर, कोई स्कन्ध से काट कर, कोई गुच्छों को तोड़कर, कोई फलों को चुन कर तथा कोई गिरे हुये फलों को बीन कर खाना चाहे—तो उसके भाव जैसे क्रमशः उत्तरोत्तर विशुद्ध है उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओं के भाव भी क्रमशः उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं। इस निरुपण से यह प्रकट होता है कि कषायों में जैसे अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और संज्वलन की जैसे क्रमशः उत्तरोत्तर शुद्धि है, वैसे ही इन कृष्णादि लेश्याओं में भी शुद्धि का वृद्धि क्रम रहता है। सकषाय और लेश्या युक्त तथा अकपाय और लेश्यानिर्मुक्त दशाओं का भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोण से ये दो वर्णन हैं।

लेश्या विज्ञान से मानव को आत्मविशुद्धि का, अध्यवसाय विशुद्धि का ऐसा ज्ञान हस्तगत होता है कि जिससे यह बंधन मुक्त हो सकता है तथा स्व व पर का कल्याण कर सकता है।

बौद्ध आगमों में अभिजातियों के वर्णन लेश्या वर्णन के समान ही है और तुलनीय है। डा० मुनि नगराज का निष्कर्ष है कि उनका यह वर्णन जैनों से प्रभावित है।

(११) भव्यत्व—जो सम्यग्दर्शनादि भाव रूप से मोक्ष जाने की योग्यता वाले हैं, वे भव्य है। जिन्हें ऐसी योग्यता नहीं वे अभव्य है।

(१२) सम्यकत्व—यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि स्व वस्तु व पर वस्तु रूप आत्मा व अनात्मा की पहचान होकर आत्मा का सही श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। श्रद्धान स्व आत्मा की रुचि व निष्ठा है। ये अपने यथार्थ स्वरूप के अस्तित्व भाव की प्रतीति है। अपने स्वरूप का ईखान या ईमान रहना ही सम्यक्त्व की पहचान है।

सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यात्व है—इससे यह विपरीत मान्यता होती है कि मैं अन्य जीव को या अन्य जीव मुझे सुखी दुःखी कर सकते हैं। मिथ्यात्व में स्वरूप की विपरीत धारणा होती है।

सम्यक्त्व के छः भेद कहे हैं—वे (१) औपशमिक (२) क्षयोपशमिक (वेदक) (३) क्षायिक, (४) मिथ्या दृष्टि (५) सासादन और (६) मिश्र है। ऐसे प्रथम तीन भेद पक्ष तथा बाद के तीन भेद विपक्ष-सम्यक्त्व मार्गणा के ६ प्रकार है।

(१३) संज्ञी—संज्ञी तथा असंज्ञी भेद से संज्ञी मार्गणा दो प्रकार है। संज्ञा (Sentience) कही जा सकती हैं।

(१४) आहार—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियक और आहारक) और ६ पर्याप्ति के योग से आहार वर्गणाओं के ग्रहण करने का नाम आहार है। आहारक और अनाहारक के भेद से आहार मार्गणा भी दो प्रकार है। मरने के वाद जीव विग्रह गति में एक से तीन समय तक अनाहारक रहता है। केवल समुद्धात में अनाहारक रहता है और सिद्ध भगवान अनाहारक है। अन्य अवस्थाओं में जीव आहारक होता है। मूल शरीर को छोड़कर कार्माण और तेजस् देह सहित आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर

निकलना समुद्घात है। कभी-कभी योगी के जीवात्मा को स्व-शरीर से बाहर प्राणोत्क्षेपन व प्राणों का उद्गमन होकर गगन विहार होता है। सात कर्मों की स्थिति अधिक और आयु की कम रहने पर उनमें समता के अर्थकेवली के आत्म प्रदेशों में संकोच विस्तार होते हैं। इसमें आत्मप्रदेश लोक व्यापी होकर वापिस देह में आकर शरीर प्रमाण हो जाते हैं। संसारस्थ जीवों की कुल पर्याय—अर्थात् कुल जीव समास इन चोदह मार्गणाओं के साथ व अन्तर्गत हैं। शुद्ध जांव पौद्गलिक पर्यायों से रहित मात्र शुद्ध पर्यायों वाला होता है। शुद्ध जीव के मात्र शुद्ध ज्ञान पर्याय अनन्त गुणों को लिये होती रहती है।

चार अनुयोग द्वार

जैन शास्त्रों में श्रुत ज्ञान विषय की वर्णन शैली चार विशिष्ट अनुयोगों में विभाजित है—ये चार अनुयोग (१) प्रथमानुयोग (२) चरणानुयोग (३) करणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग है। जैन शास्त्रों का सार यह है कि वीतरागता होकर आत्म-ज्ञान हो जाए। वीतरागता और आत्मज्ञान का साहचर्य है।

(१) प्रथमानुयोग में सरल कथाओं से पुण्य पाप के फलाफल का वर्णन है जिसमें सावद्य (पाप) क्रिया से उपरत होकर जीव अपनी परिणति को प्रशस्त यानी पुण्य रूप बनाये—यह जीवों को हिताहित मार्ग का ज्ञान कराकर कल्याण मार्ग में प्रवृत्ति के लिए उत्साहित करता है। यही इस अनुयोग का मुख्य कार्य है।

(२) चरणानुयोग—इस अनुयोग में संयम और त्याग की विशेपता से वर्णन है क्योंकि जीवात्माओं के रागादि परिणाम बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से होते हैं। वस्तु बंध नहीं करती, पर जीवों के वस्तु अवलम्बन से ही अध्यवसाय होते हैं और अध्यवसाय से कर्म बंध पड़ता है। अतः रागादि भावों को छुड़ाने के लिए इस अनुयोग में सब पदार्थ के त्याग का मुख्यता से उपदेश है। इस अनुयोग में इतनी सूक्ष्मता से कहा गया है कि एक सूत मात्र परिग्रह रखने से भी ग्रहस्थावस्था हो जाती है। इस अनुयोग में निर्ग्रन्थ मुनि उत्तम है अर्जिका, ऐलक, क्षुल्लक तथा व्रती श्रावक मध्यम हैं और अव्रती—जो चौथे गुणस्थान वर्ती यानी सम्यग्दृष्टि है जघन्य हैं।

इस अनुयोग में सत्य देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान से सम्यग्दृष्टि होता है। इसमें मात्र निग्रन्थ मुनि ही वंदनीय हुए हैं तथा वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त परमेश्वर तीर्थंकर आप्त व देव है— तथा अनेकांत व स्याद्वाद चिन्ह से मुद्रित व एकान्त का कथन न करने वाला व परस्पर विरुद्ध बातें जिसमें न हों, वीतरागता का निरुपण जिसमें हो यानी सर्वज्ञोक्त वाणी का उसका आशय हो—वही शास्त्र है। चरणा नुयोग में भक्ति व उपासना की विशेषता है जो स्वरूपाचरण के लक्ष्य लिए हो।

(३) करणानुयोग—यह प्रधानतया संयोग सम्बन्ध को स्वीकार करके कर्म प्रकृति तथा तीन लोक की रचना का ज्ञान कराता है, कर्म प्रकृति को छोड़कर आत्म-परिणाम को शुद्ध रखने का उपदेश देता है क्योंकि कर्म प्रकृति पर पदार्थ है। कर्म प्रकृति जिस अध्यवसाय (परिणाम) से बंधती है उस परिणाम को नहीं करना यही कर्म प्रकृति का त्याग है। कर्म जड है अतः वह जीव को दुःख नहीं दे

सकता—आत्मा अपने ही रागादि नैमित्तिक परिणामों से दुःखी होता है। इन भावों और कर्म प्रकृतियों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथार्थ वस्तु स्वभाव में कर्म जीव को दुःख नहीं देता, उसका दुःख देना जो कहा जाता है वह तो उपचार मात्र है। कर्म ग्रन्थों की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान से जीवात्मा सीधा चतुर्थ पंचम और सप्तम गुणस्थानक परिणाम प्राप्त कर सकता है—यह कथन करणानुयोग से है पर चरणानुयोग में निर्ग्रन्थ अवस्था न हो तब तक छठा गुण स्थान नहीं हो सकता। इस अनुयोग में क्रिया की नहीं—परिणामों की विशेषता है।

४. **द्रव्यानुयोग**—संयोग को गौण करके जीवात्मा के शुद्ध द्रव्य की प्रधानता से इसमें उपदेश है। इसमें आत्म निष्ठ दृष्टि है। आत्मा स्वयं आप ही सुखी व दुःखी होता है—अन्य कोई भी सुखी या दुःखी नहीं करता। आत्मा स्वयं आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु होता है। इस अनुयोग में संवर व निर्जरा भी गौण है।

गुणों की दो ही अवस्था मानी है। चाहे शुद्ध परिणमन करे या अशुद्ध। एक वक्त में एक ही अवस्था होती है। ज्ञान परिणमन शुद्ध भाव है—अज्ञान परिणमन अशुद्ध। जब तक चारित्र गुण में विकारी परिणमन है आत्मा तब तक संसारी व रागी ही होता है—शुद्ध परिणमन पर ही आत्मा वीतराग शुद्ध व मुक्त होता है।

निर्जरा के भेद यहां नहीं है, वे करणानुयोग के भेद हैं। गुण स्थान मार्गणा आदि भी द्रव्यानुयोग में नहीं है। इस अनुयोग में आत्मा सदा शुद्ध मुक्त है—न बंध है और न मोक्ष। अतः उसका कोई मोक्ष नहीं है। सब मोक्षोपाय अभ्यास साधनादि चरणानुयोग के विषय हैं। परिणाम विशुद्धि रूप उपाय करणानुयोग के विषय हैं।

द्रव्यानुयोग में पर-पदार्थ के त्याग का उपदेश नहीं है—यह तो दुःख के कारण मिथ्यात्व रागादि परिणामों को छोड़ने का उपदेश देता है। पर पदार्थ को साधक बाधक समझना मिथ्यात्व है। साधक बाधक समझना अन्य अनुयोगों का कार्य है। अज्ञान का अर्थ है मोह सहित ज्ञानोपयोग और यही बंध का कारण है। अर्थात् मोह और कषाय ही विकार और अशुद्धता के कारण हैं।

छद्मस्थ जीव का उपयोग पांच इन्द्रियों के अधीन है। जिस इन्द्रिय द्वारा जीवात्मा ज्ञान प्राप्त करता है वह उस समय उस इन्द्रिय-ज्ञानोपयोग रूप होता है। तब उस समय शेष सब इन्द्रियों का ज्ञान लब्धि रूप होता है। क्लोरोफार्म सुंघाने पर इन्द्रियां काम नहीं कर सकती—तब आत्मा का इन्द्रिय-उपयोग-ज्ञान कार्य नहीं करता और उस समय पराधीन ज्ञान होने से उस जीव का ज्ञान लब्धि रूप ज्ञान है। लब्धि को ही क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम-लब्धि होने पर भी बाह्य निमित्तों के मिले बिना पदार्थोपयोग ज्ञान नहीं हो सकता।

छद्मस्थ अवस्था में आत्मा का पराधीन रहना होता है—उसे पांच इन्द्रिय और मन की सहायता पड़ती है। अतः ज्ञान व दर्शन गुणों में ही लब्धि और उपयोग रूप भेद पड़ता है—बाकी अनन्त गुणों में उपयोग रूप भेद नहीं होता—क्योंकि उनमें मन और इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। छद्मस्थ का ज्ञान आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक समय उपयोग रूप हो, परन्तु श्रद्धादि गुण प्रत्येक समय परिणमन शील है। वस्तुतः केवल ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान पराधीन अर्थात् सापेक्ष ज्ञान हैं। अवधि और मनःपर्यय कों अल्प विषय सापेक्ष होंने से अतीन्द्रिय देश प्रत्यक्ष कहा गया है, इनमें अन्य इन्द्रियों के अवलम्बन की अपेक्षा नहीं होती। छद्मस्थ जीव के ज्ञान में आवरण है और इन्द्रियों की सहायता रहती है।

जीव को पर की अपेक्षा का भाव रखना ही मिथ्यात्व भाव है। दर्शन ज्ञान और चारित्र का यथार्थ निरुपण और रुचि होना एक बात है और इस रूप यथार्थ परिणति हो जाना और बात है। आत्मा से भिन्न सब नोकर्म है—और नो कर्म को अच्छा बुरा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व कर्म के उदय होने पर जीव मिथ्यात्व रूप ही परिणमन करता है—चाहे उस वक्त वह समवशरण में भगवान की दिव्य ध्वनि सुन रहा हो।

यह धारणा असत्य है कि आत्मा तीन काल में उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता। संसार-अवस्था में तो जीव अपने योग और उपयोग दोनों का ही कर्त्ता है—उसे मन वचन काय के हीनाधिक यानी विषम स्पंदन—विक्षोभ आदि होते ही हैं। योग में जो क्रिया आत्मा की होती है वह सकम्प क्रिया है और यह आत्मा में ही होती है—यह क्रिया पर द्रव्य की क्रिया नहीं है इसे पर द्रव्य की क्रिया मानना मिथ्यात्व ही है। आत्मा की इस क्रिया का निरोध करना ही संवर है।

वस्तुतः जीव योग और उपयोग दोनों का ही स्वयं कर्त्ता है। आत्मा संसार अवस्था में योग और उपयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता—यही श्रद्धेय बात है। मोक्ष अवस्था में जीव के मात्र उपयोग ही रहता है—योग की तब अविद्यमानता में उसके प्रदेश अकम्प रहते हैं और उपयोग युगपत् रहता है—ज्ञान दर्शन एक साथ रहते हैं।

उपादान निमित्त और निमित्त नैमित्तिक के तट बंधों के मध्य अध्यात्म सरिता

प्रत्येक द्रव्य अपने स्व भाव में स्थित है—उसका मूल कर्तव्य उसी का है किसी दूसरे पदार्थ का नहीं है क्योंकि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में व्याप्त नहीं हो सकता—वह दूसरे पदार्थ में परिणमन करने लगे तो पदार्थ का स्व स्वभाव ही नष्ट हो जाए। अतः परिणमन में कर्तृत्व उपादानपरक है तथा अन्य पदार्थ की तो सहायक सहकार मात्र उपस्थिति होती है। अब प्रश्न है कि क्या उपस्थिति मात्र से निमित्त कर्त्ता हो सकता है। वस्तु व्याख्या में निमित्त को गौण और उपादान को मुख्यता से बतलाया जाता है

परन्तु उपादान की कर्तृत्व की मुख्यता की बात से मानव की अधम पर्याय यानी

भ्रष्ट आचरण की जिम्मेदारी की दृष्टि ओझल हो जाती है। वस्तुतः चारित्र संकट के इस काल में देश को पर्याय दृष्टि की भी द्रव्य दृष्टि के ही समान प्रमुखता की जरूरत हो गई है।

कर्तृत्व निमित्त में भी होता है यह भी समझने की जरूरत है। बिना निमित्त उपादान से तो ऐसे जो कर्तृत्व होता है वह सदा समान-समान ही होता है। जगत् में जितने विशेष या विषय परिवर्तन होते हैं सबका कर्तृत्व निमित्त में है उपादान में नहीं। द्रव्य कर्म रूप निमित्त के बिना जो भी उपादान में परिवर्तन होते हैं वे शुद्ध एक सरीखे होते हैं—उनमें विविधता नहीं आती। अशुद्धि, नानात्व का कारण निमित्त ही है।

आत्मा जब शुद्ध मुक्त हो जाता है तब उसमें जो ज्ञप्ति-परिवर्तन होते हैं सब समान-समान होते हैं, उनमें विषमता नहीं होती—क्योंकि तब मुक्त जीव को कोई कर्मरूप निमित्त भी नहीं होते। संसारी जीव में जो परिवर्तन होते हैं, उनमें विविधता या विषमता रहती है। क्योंकि यहां पौद्गलिक कार्माण शरीर निमित्त है—यदि कार्मण देह का निमित्त न रहे तो मन वचन काय का भी निमित्त न होगा। तब योग (परिस्पंदन, विक्षोभ, सकम्पता) का भी अभाव होगा और इन निमित्तों के न रहने से परिणमन मुक्त जीवों के समान ही सम-सम ही होगा।

यह ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ रूप परिणमन नहीं करता, चेतन अचेतन रूप परिणमन नहीं करता—मिट्टी का परिणमन अचेतन मिट्टी रूप में ही होता है। मिट्टी घट रूप बनती है—न कि कुम्हार। कुम्हार के हाथ से चाक घूमता है, मिट्टी पर आघात लगता है जिससे वह इधर-उधर गति करती है और उस गति से घट बनता है। निमित्त का काम यही है कि वह वस्तु से अलग रह कर—उसके निकट जाकर या दूर रहकर यथायोग्य गति प्रदान करे। गति के लिये वह आघात न करे तो न तो गति हो और न कार्य ही हो। इस प्रकार कार्य-कारण समझने के लिए जिस अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति की जरूरत है वह निमित्त में और कार्य में पूर्ण है और इसीसे निमित्त में कर्तृत्व सिद्ध होता है।

यदि निमित्त में कर्तृत्व न हो तो संसार के प्राणियों में विषमता भी न होगी। यहां विषमता इसीलिए है कि किसी ने पहले पुण्य किया—किसी ने पाप किया। पुण्य तब ही कहलाता है जब कोई संसार को सुखी करता है और पाप तभी कहलाता है जब कोई संसार को दुःखी करता है। अगर निमित्त में कर्तृत्व न होता तो संसार में पुण्यात्मा और पापी भी न होते और सब प्राणियों में विषमता भी न होती।

मानव में जो अच्छी बुरी भावनाएं होती है वे भी निमित्त कारण के द्वारा होती है—चाहे वे निमित्त (कारण) कर्म पुद्गल हों चाहे सांसारिक अन्य घटनाएं।

मिट्टी का जब घडा बनता है तो उसका कर्तृत्व मिट्टी में ही नहीं कुम्हार में भी है। घड़े का छोटा बड़ा आकार बनाना, कच्चा पक्का बनाना, या अच्छा बुरा बनाना कुम्हार के हाथ में है—मिट्टी के हाथ में नहीं है।

किसी के घर में डाकू आकर परिवार के सदस्य को गोली मार दें तो क्या आप यह कहेंगे कि डाकू तो निमित्त मात्र थे, उनकी तो उपस्थिति मात्र थी—हत्या की जिम्मेदारी, हत्या का कर्तृत्व डाकूओंका नहीं था ? क्या उस वक्त यह कहा जायगा कि मरने वाले का ही उपादान कर्तृव्य ऐसा ही था और हत्या में हत्यारे डाकुओं का कोई कर्तृत्व नहीं था। आप वस्तुतः यह भी नहीं कह सकते कि वह तो क्रमबद्ध पर्याय ही थी, होने ही वाली थी और होने वाली को बदला भी कैसे जा सकता था ? अतः जिसे बदला नहीं जा सकता था तो उसकी जिम्मेदारी डाकुओं पर है क्या ? ऐसे में तो डाकू नियति के ही मात्र औजार रह जाते हैं। इसमें उनका कर्तृत्व क्या ? ऐसे तर्कों में तर्काभास व शब्द छल ही ज्यादा हैं।

होने वाले का अर्थ तो है जो भविष्य में हो। भविष्य भी तब के निमित्तों पर ही निर्भर होगा। भविष्य आज का अंग नहीं है। अतः जो घटित होता है वह निमित्त के कर्तृव्य के अनुसार ही घटित होता है। भविष्य ही वर्तमान बनता है और वर्तमान होने में निमित्त ही कर्त्ता होता है। वर्तमान होने पर ही यह कहा जाता है कि ऐसा होने वाला था, अर्थात् निमित्त से ही कर्तृत्व इसी प्रकार कार्य रूप होने वाला होता हैं। कार्य उपादान में होता है, पर कार्य की रूप रेखा—अच्छा बुरा आदि सब निमित्त रूप कर्त्ता पर ही आश्रित है। निमित्त को मात्र उदासीन कर्ता मानने से जगत् में काम नहीं चलता।

जीवात्मा का आस्रव, व बंध व निर्जरा मोक्ष सब न केवल स्वयं आत्मा पर ही निर्भर है, इनमें निमित्तादि के कर्तृत्व का भी योग रहता है। निमित्त और उपादान दोनों ही कार्य होने में आवश्यक रहते हैं। इससे किसी को गौण या प्रधान (मुख्य) करके एकांतिक रूप से नहीं चला जा सकता। शुद्ध जीव में ही निमित्तों का न अवलम्बन रहता, न कर्तृव्य रहता। निरालम्बन और निष्क्रियता लक्ष्य हैं, साध्य है शुद्धता की परिणति न होने तक आलम्बन और सक्रियता निमित्तों को, निमित्तों के कर्तृव्य को स्वीकार करने के अलावा संसारी जीवात्मा को कोई त्राण नहीं है। निमित्त का कर्तृव्य न मानने पर षट् द्रव्यों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता—जीव अजीव ज्ञेय तत्त्व, बंध और आस्रव हेय तत्त्व और संवर निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व में न केवल स्वयं जीवात्मा का ही कर्तृव्य होता है उसमें निमित्त का भी कर्तव्य है और इसीलिये निमित्तों का अवलम्बन भी स्वीकृत हुआ है।

परमार्थ की प्राप्ति की प्रक्रिया के मध्य तो निमित्त का कर्तृत्व आत्मा की उपादान कर्तृत्व शक्ति के साथ स्वीकार करना ही होता हैं, और जब परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है तब निमित्त आवश्यक भी नहीं रहता; तब आत्मा की मात्र उपादान शक्ति ही रह जाती है और उपादान का ही कर्तृत्व होता रहता है।

योगाभ्यास में इस प्रकार निमित्त और उपादान का समन्वय है, एकान्त पक्ष नहीं है। श्रद्धा पक्ष में उपादान का कर्तृव्य होता है—चारित्र पक्ष में निमित्त के कर्तृत्व की प्रधानता करके हो चलते हैं और यही कारण है कि आत्मा का पुरुषार्थ एक साथ श्रद्धा गुण की तरह फलित नहीं हो जाता। क्रम

२ ही कर्तृत्व की अधिकता रहती है और निमित्त की इस बाधा को क्रमशः ही हटाया जा सकता है। आलम्बन से निरालम्बन क्रमशः ही हुआ जाता है। आरम्भ में निरालम्बन होता ही नहीं क्योंकि आरम्भ में जीव शुद्ध हैं ही नहीं,—अशुद्ध होने का अर्थ ही यह हैं कि इसमें कर्म विपाक के कारण सुख दुःख का अनुभव हैं और कर्म विपाक के ही कारण वह विकारी रूप से—अज्ञान रूप से परिणमन भी कर रहा है।

संयोग का ज्ञान करणानुयोग में होता है, द्रव्यानुयोग संयोग संबंध स्वीकार नहीं करता। द्रव्यानुयोग तो मात्र परिणाम और परिणामी सम्बन्ध (कर्ता-कर्म) सम्बन्ध स्वीकार करके कथन करता है। निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध करणानुयोग वताता है। एक अपेक्षा से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध साबित होता हैं। इसी का खंडन द्रव्यानुयोग से, कर्ता कर्म सम्बन्ध से कोई करता है तो ऐसे खंडन करने वाले को वस्तुतः अनुयोगद्वारों से शास्त्र की कथन शैली का ज्ञान नहीं हैं—क्योंकि अलग-अलग अपेक्षा से अलग-अलय कथन हैं। द्रव्यानुयोग उपादान का अर्थात् कर्ता-कर्म, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है, जबकि करणानुयोग निमित्त अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है। अतः कौन अनुयोग किस प्रकार कथन करता है द्रव्य–चिंतक को इसका भले प्रकार ज्ञान होना चाहिए। एकांगिक ज्ञान प्रमाण ज्ञान नहीं होता।

सामान्य और विशेष का ज्ञान करना ही प्रमाण ज्ञान है। द्रव्य दृष्टि मात्र सत्—सामान्य ज्ञायक को ही ग्रहण करती हैं, अखंड द्रव्य को ही लेती है। कोई द्रव्य दृष्टि से कहे कि आत्मा ज्ञायक स्वभावी है और प्रति समय वीतराग दशा की ओर जा रहा है तो यह यथार्थ द्रव्य दृष्टि का ज्ञान नहीं है। आत्मा प्रति समय वीतराम दशा को जा रहा है यह पर्याय दृष्टि का कथन है—यह पर्याय दृष्टि का ही ज्ञान कराती है। इस प्रकार नय की —द्रव्य व पर्याय दृष्टियां कथन की ही अलग अलग शैली है। वस्तुतः द्रव्य तो जैसा है वैसा ही है। निमित्त से कथन करना पर्याय या व्यवहार से कथन करना है। ऐसे ये कथन शैलियां है। द्रव्य है तो व्यवहार है, पर्याय है—और पर्याय हैं तो द्रव्य है। पर्याय न कहो तो मोक्ष मार्ग में शुद्धि का प्रकरण ही नहीं रहता।

वाणी पुद्गल की अवस्था है, जीव उसका उपादान कर्ता नहीं है। इस अपेक्षा से इतना मात्र ही कहा जाये तो दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव तक की सब की वाणी सहज खिरती माननी होगी। वाणी रूप पुद्गल तो जड़ की अवस्था है—उसको तो ज्ञान नहीं तब सत्य, हित, मित वचन बोलना, सत्य महाव्रत अंगीकार करना, भाषा समिति का पालन करना, वचन गुप्ति धारण करना ये उपदेश किसके लिये हैं? जड़ तो अंधा है—उसे उपदेश देने से क्या लाभ? अब यदि कोई छद्मस्थ जीव कहे कि जो वाणी आने वाली है वही आयेगी तो यह तो मात्र छल व दंभ है। बोलना तो इच्छा पूर्वक ही होता है पर कहना कि जो वाणी आयेगी वही आयेगी—यह तो मात्र मायाचारी है।

छद्मस्थ जीवों की वाणी नियम से स्वाधीन अवस्था में बुद्धि पूर्वक खिरती है—इच्छा विना वाणी खिरती है तो वह किसी पराधीन व विवश दशा में ही खिरती है—यदि वाणी के साथ में आत्मा

का कोई सम्बन्ध नहीं है तो पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता क्यों कही ? वाणी के और आत्मा के योग-उपयोग कर्ता–कर्मपणे का अभाव है तो भी निमित्त नैमित्तिक भाव से दोनों ही का कार्य देखा जाता है। इसलिये छद्मस्थ की वाणी सहज नही बुद्धि पूर्वक खिरती है।

इसी प्रकार वचन और काया की भी चेष्टा जीवात्मा के बुद्धि पूर्वक होती है—सहज अनिच्छुक पणे नहीं होती। मन वचन काय की क्रिया बुद्धि पूर्वक होने से ही इनकी क्रिया का संवर उपदिष्ट है और संभव भी है। मन की परिणति के ही कारण स्वयं मन व वचन व काया की चेष्टा या सकम्पता या विक्षोभ हलन चलन बंध का कारण है। केवलि भगवत् को मन की परिणति नहीं रहती—अतः वचन व काया का बिहार बंध का कारण नहीं है।

आत्मा का कर्म के साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही नहीं हैं—क्योंकि एक क्षेत्रावगाही तो सब द्रव्य ही रहते हैं—जिस आकाश क्षेत्र में आत्मा है वहीं धर्म अधर्म आदि सब द्रव्य तथा अनन्त पुद्गल वर्गणा और अनंत जीव भी रहते हैं। अतः कर्म के साथ जो संयोग सम्बन्ध है, उसे उभय बंध कहा गया है। "स्पर्श के साथ पुद्गल का बंध है, रागादि के साथ जीव बंध है, और पुद्गल जीव का अन्योन्य अवगाह उभय बंध कहा जाता है।" प्रवचन सार ज्ञेयाधिकार—(गा०—177)

जीव के अशुद्ध होने में कर्म का संयोग कारण है और इस संयोग के कारण का अभाव हो जाने पर जीव शुद्ध होता है और फिर कभी अशुद्ध होता नहीं। शुद्ध अवस्था होने के बाद जीव क्रियावान् नहीं होता। संसारी आत्मा नियम से क्रियावान् ही रहता है—ऐसा नहीं कि कभी-कभी क्रियावान् हो, वह तो अपनी अशुद्ध अवस्था में क्रियावान् ही रहता हैं। जीव भी कर्म के संयोग से हलन चलन रूप होता हुआ नवीन कर्म, नोकर्म रूप पुद्गल से मिलता है और कभी पुराने कर्म नोकर्म से बिछुड़ता है—इस कारण उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित क्रिया वाला है। (प्रव० ज्ञेयाधिकार गाथा ३७ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य)

आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध दो ही अवस्था होने से एक काल में एक ही अवस्था होती है और जब तक आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध है तब तक क्रियावती शक्ति नियम से अशुद्ध ही परिणमन करती है। संसार अवस्था का परिणमन कभी पूर्ण शुद्ध कभी पूर्ण अशुद्ध होता है—यह मान्यता गलत है। आत्मा का रागादिक परिणाम यानी भाव कर्म के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के रागादिक परिणामों का निमित्त (कारण) पाकर कार्माणवर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप परिणमन को प्राप्त होती हैं। नोकर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है—परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध है। अर्थात् निमित्त नैमित्तिक संम्बन्ध कर्म कें उदय में ही होता है और निमित्त उपादान सम्बन्ध कर्म की बुद्धि पूर्वक उदीरणा में होता है। निमित्त उपादान सम्बन्ध में उपादान उपादान ही रहता है, निमित्त निमित्त ही रहता है।

निमित्त नैमित्तिक में दोनों उपादान भी है और दोनों निमित्त भी है। यानी दोनों निमित्त भी है और नैमित्तिक भी है। जीव की ओर से कथन में वही उपादान है और अन्य निमित्त। जिस पदार्थ की ओर से कथन हो वही नैमित्तिक पदार्थ और अन्य निमित्त पदार्थ है। इस लिए इसमें एक पदार्थ अन्य पदार्थ का निमित्त है। कर्म का उदय आत्मा के रागादिक के लिए निमित्त है और आत्मा का रागादिक परिणाम कर्म के उदयमें नैमित्तिक है और वही परिणाम कर्म की नवीन बंध अवस्था का निमित्त है। ऐसी अवस्था निमित्त उपादान सम्बन्ध में नहीं होती।

आत्मा और कर्म के उदय को छोड़ कर संसार के अन्य सब पदार्थ-अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल वर्गणा धर्म आदि द्रव्य, देव, गुरु, शास्त्र सब नोकर्म है। नोकर्म दो प्रकार के हैं। बद्ध नोकर्म तो शरीरादि है और बाकी के पदार्थ अबद्ध नोकर्म हैं। बद्ध नोकर्म की क्रियावती शक्ति के साथ आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—अबद्ध नोकर्म के साथ निमित्त उपादान सम्बन्ध है।

निमित्त प्रेरक और उदासीन दो प्रकार के हो सकते हैं। निमित्त को जब कर्ता कहा जाता है तो उसका अर्थ यह नहीं कि वह अन्य पदार्थ में प्रवेश करके उसके स्वचतुष्टय में जाकर कुछ करता हो। वस्तु निमित्त और उपादान दोनों में ही अपनी-अपनी योग्यता से सहज सामान्य अवस्था एक समान होती है। जब ऐसी अवस्था होती है तब वहां मौजूद निमित्त प्रेरक निमित्त कहा जाता है ऐसे निमित्त की मौजूदगी नियम से ही उपादान की कमजोरी को दिखाती है। प्रेरक निमित्त के विवेचन में तीन दृष्टांत इस प्रकार दिये जाते हैं।

(१) जब कर्म का उदय हो तब आत्मा के गुण विकास नहीं कर सकते। यह विकसित न कर सकना स्वयं जीव के अपने गुणों की हीन योग्यता के ही कारण है। यानी जितना ही आत्मा के गुणों में विकार आया होगा, उतना ही द्रव्य कर्म नियम से निमित्त रूप से होगा—यथा जितनी डिग्री बुखार देह में हो, उतनी ही डिग्री थर्मामीटर से आयेगा।

(२) ज्ञानावरणीय कर्म के अंशों में जितने भेद पटल या भेद पटलों के अंश क्षयोपशम हो जाते हैं उतना ही ज्ञान प्रकट रूप में आता है।

(३) जितने अंश में रागादिक भाव होते हैं उतने ही अंश में कार्माण वर्गणा नियम से कर्म रूप परिणमन कर जाएगी। यद्यपि आत्मा का कोई अंश न कर्म में चला जाता, न कर्म का कोई अंश आत्मा में चला जाता तो भी आत्मा का रागादिक परिणाम कार्माण वर्गणा के लिए कर्म होने में प्रेरक निमित्त है। यथा स्फटिक मणि आप शुद्ध है पर वह दूसरे लाल पीले द्रव्य के सन्निकर्ष होने के निमित्त से लाल पीले रंग रूप परिणमती है। इसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है—वह स्वयं रागादि भाव से नहीं परिणमता है पर अन्य जड़ कर्मो में रागादिकत्व से रागादि रूप हो जाता है। यह ही विभाव द्रव्य कर्म का निमित्त है। कर्म के उदय का नाम ही प्रेरक निमित्त है। यह प्रेरक निमित्त रूप कर्म प्रति समय उदय में होता रहता हैं। जो कर्म सत्ता में पड़ा है वह प्रेरक निमित्त नहीं है, परन्तु कर्म का उदय ही प्रेरक

निमित्त है। अतः जब तक आत्मा अनात्म कर्मप्रत्ययों के निमित्त से बनती और बिगड़ती है तब तक ही वह आत्मा अज्ञानी मिथ्या दृष्टि असंयत है। जब आत्मा अनन्त कार्माण विपाक (फल) को छोड़ देता है, उधर से दृष्टि हटा लेता है उस समय बंध से रहित हुआ ज्ञाता दृष्टा संयमी होता है—(समयसार—सर्व विशुद्ध अधिकार गा० ३१४–३१५)

आ० श्री पूज्यपाद ने इष्टोपदेश श्लो० ३५ में कहा है कि आत्मा और कर्म के उदय के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ—नोकर्म धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्त हैं। यानी संसार में कोई भीं नोकर्म पदार्थ आत्मा के लिये न इष्ट है न अनिष्ट है, परन्तु मोहादिक के वश होकर आत्मा स्वयं उससे रुचि करके बुद्धि पूर्वक इष्टानिष्ट कल्पना करता है। ऐसी रुचि या श्रद्धा ही मिथ्यात्व है और यही आत्मा का अपराध हैं। नोकर्म जबरदस्ती नहीं करता कि आत्मा उसे देख कर इष्टानिष्ट कल्पना करे। पर होता यह है कि जीव एक तरफ तो यह मान्यता करे कि परद्रव्य मेरा कदाचित् भी नहीं है पर फिर भी वह उसे भोगता है, जो अपना नहीं उसे भोगता है। अतः ही यह जीव पर द्रव्य के अनधिकार भोग से तथा भोगने की इच्छा करके हीं भोग सकने से बुद्धि पूर्वक अपराधी है और यही संसार का बंधक है। जीवात्मा से यह अपराध छठे गुणस्थान तक होते हैं—यानी ऐसे समस्त अध्यवसाय या परिणाम छठे गुणस्थान तक होते हैं। ऐसे परिणाम की निवृत्ति होने पर आगे गुण स्थान श्रेणी में आरोहण होता हैं। ऐसे यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी नोकर्म बंध के कारण नहीं है परन्तु आत्मा ही अपने परिणाम बिगाड़ कर अपने अपराध द्वारा बंध का स्वयं हेतु या कारण होता है।

अपराध के चार हेतु

आत्मा बुद्धि पूर्वक ऐसा अपराध चार हेतुओं से करता है। ये चार हेतु चार संज्ञाए (१) आहार (२) भय (३) परिग्रह (४) मैथुन हैं। इन संज्ञाओं से सम्पूर्ण पाप रूप अपराध हो जाता है। इन सब में जीवात्मा की स्वयं की इच्छा परिणमती है और ऐसी इक्छा करने में वह अपने स्वभाव से जो मात्र देखना व जानना है अर्थात् ज्ञाता दृष्ठा मात्र है, उससे च्युत हो जाता है। नाना प्रकार के भयों के सम्मुख जीव स्वयं रक्षा या रक्षक का या अशरण आदि के बुद्धि पूर्वक ही भाव अपने में उत्पन्न करता है और ज्ञायक स्वभाव से भ्रष्ट होता है। ऐसे ही दस प्रकार के परिग्रहों को देखकर उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है और वासना उत्पन्न करता है, राग द्वेष करता है—रति अरति भय जुगुप्सा हास्य शोकादि रूप स्वयं परिणमन करके नोकर्म को निमित्त बना लेता है। यद्यपि कोई नोकर्म इस प्रकार रति अरति हास्य जुगुप्सा आदि रूप नहीं है—पर वह नोकर्म को ऐसा मान लेता है और ऐसे अज्ञान से नोकर्म को निमित्त बना लेता है। जब तक जीवात्मा ऐसा निमित्त बनाता रहेगा, तब तक उसे संसार का अभाव नहीं हो सकता। ऐसे ही मैथुन संज्ञा में स्त्री व पुरुषों में, पुरुष और स्त्री के रूप देखकर दोनों को परस्पर रमण का भाव होता है। यह भी जीव का बुद्धि पूर्वक अपराध है। वह सुन्दर असुन्दर का विकल्प करके नोकर्म को कर्म बन्ध का निमित्त बनाता है। तीव्र मोह के ही उदय

से ये चार संज्ञायें होती हैं और तीव्र कषाएं के उदय से ही जीवात्मा पर भोग प्रवृत्ति से कृष्ण नील कापोत लेश्याओं का आलेप हो जाता है।

आ० कुंदकुंद ने कहा—

सण्णाओ य तिलेस्सा इन्दियवसदा य अट्ठरूद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥

चार संज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियों के आधीन होना, आर्त व रौद्र ध्यान, सत् क्रिया के अतिरिक्त असत्क्रिया में ज्ञान लगाना दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के समस्त भाव—ये सब पाप रूप आस्रव के कारण है।

प्रवचन सार में ज्ञानाधिकार (गा० ८१–८२) में कहा है—जिस आत्मा ने मोह को दूर कर दिया वह यथार्थ स्वरूप प्राप्त करता है तथा जिसने राग-द्वेष रूप प्रमाद भाव त्याग दिया वह जीवात्मा निर्मल निज स्वरूप को प्राप्त करता है। इसी प्रक्रिया से जिन्होंने कर्मो के अंश नष्ट किये है ऐसे सब भगवंत तीर्थंकर भी इसी प्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए हैं।

निश्चय और व्यवहार के तट बंधों के मध्य जैन आचार्यों ने अध्यात्म सरिता की पावन निर्मल ज्ञानाम्बुराशि को प्रवाहित किया है।

स्वातन्त्र्य दृष्टि में आत्मा

जीव स्वातन्त्र्य दृष्टि में स्व सहायी हैं, पराधीन नहीं है। जब तक जीव निमित्त का आश्रयी है, इसी संसार में ही भ्रमण शील रहता है। निमित्त जब उठ जाता है तो व्यवहार व संसार भी समाप्त हो जाता हे। तब जीवात्मा भिन्न ही हो जाता है। इस योग विज्ञान का यही उपदेश है कि निमित्त को जान तो लो परन्तु कुछ स्थितियों में लाभकारो मान कर भी उनमें रुके न रहो। निमित्त का साथ एक विवशता है—अतः उससे छूटना ही होगा। उसको लाभकारी मानते ही रहोगे तब तक निमित्त कभी छूटेगा नहीं, निमित्त से अलग होना होगा नहीं। निमित्त (व्यवहार) का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये, वह ज्ञेय मात्र ही रहे—उसमें इष्टानिष्ट बुद्धि न हो, स्वयं निमित्त रूप नहीं होना चाहिए। जब जीव किसी अन्य द्रव्य का निमित्त बनना चाहे तो स्वाश्रयी दृष्टि की हानि ही है। जल का प्रवाह जहाज के चलने में निमित्त हैं, पर वह जहाज के अन्तर (अन्दर) वेहद में चला जाए तो जहाज़ डूब जाता है।

जीव की दृष्टि दो ही रूप हो सकती हैं। जब स्व में दृष्टि हो व स्व का आश्रय हो तो

(पंचास्तिकाय-—140)

सम्यक् दृष्टि है, परन्तु जब "पर" के ऊपर दृष्टि हो और स्वेच्छा से "पर" का आश्रयी बने तो वह सम्यक्-दृष्टि से विपरीत ही है। प्रथम दृष्टि पुरुषार्थी बनाती है, तो दूसरी विकल्प का कर्त्ता एवं पराधीन। ज्ञानी को विकल्प होता है मगर वह उस विकल्प को जान लेता है, वह उसका कर्त्ता नहीं बनता। उसमें एकत्व नहीं करता। ऐसे ही ज्ञानी का निमित्त रहे तो रहे, मगर वह निमित्त का (निमित्त में अहं-बुद्धि करके) कर्त्ता नहीं बनेगा। यदि ज्ञानी विकल्पों एवं निमित्तों में अहं बुद्धि करके उनका कर्त्ता बने एकत्व करे तो उसे परस्वरूपपणा होगा, विकारपणा होगा। ज्ञानी को भी योग और उपयोग रहता ही है—और निमित्त भी रहते हैं—पर वह इनमें अपना एकत्व न करके तटस्थ, दृष्टा व ज्ञायक भाव ही रखने की चेष्टा में रहता है। ऐसे आत्मा को दृष्टा भाव के अभ्यास में पर द्रव्य के निराश्रय, स्व द्रव्य का आश्रय हो कर स्व द्रव्य के ज्ञान की प्राप्ति, निर्मल स्वरूप की प्राप्ति होती है।

द्रव्य का चिन्तन और योग विज्ञान की प्रक्रियाएं रूप व्यवहार, अनादि पर-द्रव्याश्रयी जीव को क्रमशः अशुभ निमित्तों वा भाव कर्मों के कर्तापन—अहं-पने को अतः विकारी पने को छुड़ा कर स्वाश्रयी स्व वस्तु के शुद्ध अनुभवन में ले जाता है।

व्यवहार को आ० श्री अमृतचन्द्र ने कलश गाथा ५ में ज्ञानी का भी हस्तावलाम्व कहा है। हस्तावलम्ब का अर्थ है जैसे कोई नीचे पड़ा हो तो हाथ पकड़ कर ऊपर लेते हैं। गुण-गुणी रूप भेद कथन ज्ञान उपजने का अंग है और इससे पुद्गल अचेतन द्रव्य से अपनी अभिन्न पने की प्रतीति उपजती है। इसलिये जब तक अनुभव नहीं होता है तब तक गुण गुणी भेद रूप कथन ज्ञान का अंग है अज्ञानी जीव के लिये, जो द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप जानने का अभिलाषी है और भेद रूप कथन का जिज्ञासु है। परन्तु ज्ञानी तो शुद्ध जीव वस्तु को अन्तर-विलोकन करके प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं—अतः वे तो द्रव्यकर्म-भाव-कर्म और नोकर्म से विरहित उत्कृष्ट अखंड वस्तु के ज्ञान अनुभव को प्राप्त रहते हैं। उन्हें व्यवहार सहज ही छूटा रहता है।

> उभय नय विरोध ध्वंसिनि स्यात् पदांके, जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
> सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै—रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

जो शुद्ध जीव वस्तु को प्रत्यक्ष अवलोकन करने वाले आसन्न भव्य अतिशय उच्च परम ज्योति-ज्ञानज्योति रूप अनादि सिद्ध व अनय पक्ष से अखंडित शुद्ध स्वरूप को ही अनुभव करते हैं, वे भगवान जिनेश्वर के दिव्य प्रवचन रूप वाणी में ही—जो दोनों नयो द्रव्यार्थिक नय और व्यवहार नय को, द्रव्यानुयोग और करणानुयोग व चरणानुयोग द्वारों के परस्पर विरोध को विध्वंस करने

(कलश० गा०—5)

वाली है, रमण करते हैं। ये स्याद्वाद और अनेकांत रूप से निर्भेद वस्तु मात्र, अनन्त गुण व धर्मों के एक अखण्ड़ शब्द वस्तु स्वरूप में जो सब प्रकार के नय—विकल्पों का समाहार करके निर्विकल्प रूप होकर मोह का अन्त करते हुए रमण करते हैं।

आ० अमृतचन्द्र ने कलश गाथा १२४ में खुलासा किया है कि शुद्ध स्वरूप के अनुभव काल में जीव काष्ठ के समान जड़ नहीं होता, वह तब सामान्यतया विकल्पी जीव के समान विकल्पी भी नहीं होता, भाव श्रुत ज्ञान के द्वारा फुद्ध निर्विकल्प वस्तु मात्र को अवलम्बता है, अवश्य अवलम्बता हैं। ज्ञान ज्ञेय को जानता है और जानना विकार का कारण नहीं है। विभाव परिणति से ही विकार है और अपनी शुद्ध परिणति से निर्विकार हैं। ज्ञान धारा स्वभाव धारा है—वह मोक्ष धारा रूप ही है। ज्ञान आत्मा अनन्त अपार क्षितिज है, जिसमें अनन्त ज्ञान सूर्यप्रकाश निरन्तर उदित रहता है।

नय दृष्टियां: वस्तु नयातीत व निर्विकल्प

संस्कृत व्याकरण में नय, नीति आदि शब्द एक ही मूल धातु से नि:मृत है और उसका अर्थ है ले जाना। दृष्टि करना नेत्र इन्द्रिय का कार्य है—वह दृष्टि जिधर जाती है उपयोग को अपने साथ ले जाती है और हमें पदार्थ का दर्शन होता है। एक एक दृष्टि एक एक नय है। पदार्थ को हम अनेक दृष्टियों से—अर्थात् अनेक नयों से देख सकते हैं। पदार्थ का वर्णन भी इसी प्रकार अनेक दृष्टियों या नयों से होता है—इस अर्थ में नय नाम शैली का हैं।

जैन आचार्यों ने कथन-शैली को विकसित करके सप्त भंगी न्याय की रचना की हैं और कथनशैली को स्यादवाद कहा गया है। सत्य का दर्शन अनेक नयों व दृष्टियों से होता है तथा उसका कथन भी अनेक नयों व दृष्टियों से किया जा सकता है—क्योंकि वस्तु का स्वरूप अनेक धर्मात्मक है। "वत्थु सहावो धम्मो"—ऐसा जैन तीर्थंकरों का समीचीन सनातन धर्म का उद्घोष है। अतः धर्म का व्याख्यान वा आत्मावस्तु का भी व्याख्यान नय भेद से किया जाता रहा है।

ये नय भेद द्रव्य, गुण, पर्याय रूप भी हैं तथा निमित्त उपादान, व्यवहार निश्चय रूप भी। तीन मुख्य नय है—"व्यवहार, अशुद्ध निश्चय, तथा शुद्ध निश्चय। मात्र पर्याय का ग्रहण व्यवहार नय है। व्यवहाराभास नय वाले को मिथ्या दृष्टि कहा गया है—इसी प्रकार मात्र द्रव्य का कथन, निश्चय का ही कथन भी मिथ्या दृष्टि है—क्योंकि यह भी एकान्त दृष्टि है जो मिथ्या दृष्टि है। आत्मा या वस्तु द्रव्य तथा पर्याय का एकत्व स्वरूप है—ऐसा निरुपण ही शुद्ध निश्चय दृष्टि है।

व्यवहार (अभिव्यक्ति-पर्याय) तथा निश्चय (नित्य-अपरिणाम) वस्तु में अभिन्न हैं—अलग-अलग नहीं, कथन में ही अलग-अलग कहे जाते हैं। अतः इनमें किसी एक को प्रधान या गौण मान लेना यथार्थ दृष्टि नहीं है। ये दोनों युगल अभिन्न हैं—परस्पर विवाहित हैं—इनमें प्रथम कौन या प्रधान कौन कैसे कहा जा सकता है। वर वधु विवाहित होते हैं तो क्या यह कहा जा सकता है कि इनमें से पहले कौन विवाह को प्राप्त हुआ है? निश्चय व व्यवहार अथवा निमित्त नैमित्तिक या

उपादान में कौन प्रमुख है; यह विचार करना भी समीचीन नहीं है। नय भेद दोनों ही हैं—और नय भेद इस लिए हैं कि इन नयो द्वारा अर्हंत्परमेश्वर व तीर्थंकर भगवन्तों ने मानव को उसके स्वरूप को पहचानने तथा प्राप्त करने की दृष्टियां प्रस्तुत की हैं।

नय भेदों में—व्यवहार को स्टील का चम्मच, अशुद्ध निश्चय नय को चांदी का चम्मच तथा शुद्ध नय को स्वर्ण का चम्मच कहा जा सकता है पर जब इन चम्मचों से खीर का भोजन किया जाए तो क्या खीर के आस्वावन में भिन्नता होती है? जब मानव साधन अभ्यास द्वारा शुद्ध निर्मल आत्म रस को प्राप्त करता है तो नय रूप चम्मच सब मुख से बाहर ही रह जाते हैं। उस निर्विकल्प आनन्दानुभूति के साथ चम्मच रूप नय रहते ही नहीं है। निर्विकल्प का अर्थ ही यह होता है कि उसमें किसी निमित्त के आश्रय की बात तो दूर, निमित्त की संकल्पना तक नहीं होती। जैन साधना का अतः मूल स्वर निराश्रित स्व पुरुषार्थ का है तथा लक्ष्य परम विशुद्ध वीतराग स्व आत्म-प्रभुका परम प्रकाश।

४. अन्तर्शोधन के विशुद्धि मार्ग में भावों के मोड़–गुण संक्रांतियाँ

- उपाय और उसके पर्याय । उपाय में सम्यक् दर्शन की प्रमुखता ।
- कारण और करण ।
- उपशम सम्यक्त्व ।
- लब्धियां : पांच भेद ।
- अन्तःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के विवेचन
- अन्तर्शोधन के १४ मोड । (गुण स्थान या गुण-संक्रान्तियां)
- १–मिथ्या दृष्टि
  - २–सासादन
  - ३–सम्यक् मिथ्यात्व
  - ४–अविरत सम्यक्त्व
  - ५–देश-विरत सम्यक्त्व
  - ६–प्रमत्त विरत सम्यक्त्व
  - ७–अप्रमत्त विरत
  - ८–अपूर्वकरण
  - ९–अनिवृत्ति करण
  - १०–सूक्ष्म सांपराय
  - ११–उपशांत मोह (कषाय)
  - १२–क्षीण मोह (कषाय)
  - १३–सयोगि केवलि
  - १४–अयोगि केवलि ।
- कर्म बन्ध की अवस्थाएं—
  - (१) बंध
  - (२) सत्व
  - (३) उत्कर्षण
  - (४) अपकर्षण
  - (५) संक्रमण
  - (६) उदय
  - (७) उदीरणा
  - (८) उपशम
  - (९) निधत्ति
  - (१०) निकाचना ।
- निकाचित और अनिकाचित कर्मबन्ध ।
- कर्म बंध के प्रकार—प्रकृति-बंध, प्रदेश-बंध, स्थिति-बंध और अनुभाग-बंध ।
- सिद्ध आत्मा : मोक्ष स्थिति ।
- त्रयात्मक आत्मा और सम्यक् आस्था का महत्व ।

उपाय और उसके पर्याय : उपाय में दर्शन की प्रमुखता

उपाय, साधन. हेतु, कारण, एवं मार्ग–ये सब एकार्थक हैं। मोक्ष का मार्ग जीव को अनादि काल से दुर्लभ रहा है, वरना प्रत्येक जीव ही शुद्धात्मा परिणत होकर सिद्ध हो गया होता। जैन-दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता को मोक्षोपाय कहता है। उपायों के विषय में नाना प्रकार के विसंवादों से ही नाना सम्प्रदायों का भी उद्भव हुआ है। जैन दृष्टि से मोक्षोपाय में सम्यक्-दर्शन की प्राथमिकता है।

कारण और करण

कारण और कार्य का क्या परस्पर सम्बन्ध है ? क्या मोक्ष का उपाय काल लब्धि आने पर या भवितव्यतानुसार या मोहादिक के उपशमादिक होने पर या पुरुषार्थ पर बनता है ? ऐसा प्रश्न उठा कर आचार्यकल्प श्री टोडरमल जी ने समाधान किया है कि "एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं–सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं, और नहीं बनता वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमें काल लब्धि या होनहार तो कोई वस्तु नहीं है। जिस काल में कार्य बनता है—वही काल लब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार; तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं वे पुद्गल की शक्ति हैं–उनका आत्मा कर्ताहर्ता नहीं है। पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो आत्मा का कार्य है। इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।"

यहाँ कारण और करण–इन दो संज्ञाओं का भी भेद विचारणीय है। जिसके होने पर कार्य हो जाए–अथवा नहीं भी होवे–किन्तु जिसके बिना नहीं होवे–यानी कार्य में कारण रहे ही–उसे कारण कहते हैं, तथा जिसके होने पर नियम से कार्य हो ही हो–वही कारण न कहा जाकर करण कहा जाता है–अर्थात् करण कारण का विशिष्ट स्वरूप है। यह करण ही साधकतम कारण है।

वस्तुतः कारण हेय या उपेक्षणीय नहीं है, न वह सर्वथा अकिंचत् कर या नगण्य ही है—क्योंकि कारणों के बिना करण-लब्धि असम्भव कही गई है।

उपशम सम्यक्त्व

"सर्वार्थसिद्धि" में उपशम सम्यक्त्व या प्रथमोपशम के कारणों का समाधान करते हुए कहा है, चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं–कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। इनमें से कषाय वेदनीय के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व तीन भेद–इन सात के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। आ० पूज्यपाद ने भी कहा है—"काल-लब्ध्यादि निमित्तत्वात्"–काल लब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है।

काल लब्धि

काल लब्धि को "सर्वार्थ सिद्धि" में पृ० १०७ पर इस प्रकार कहा है—"कर्म युक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्ध पुद्गल परावर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है। उनमें अधिक काल के शेष रहने पर नहीं होता—यह एक काल लब्धि है। दूसरी काल लब्धियों का सम्बन्ध कर्म-स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर, या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता।………एक काल लब्धि भव की अपेक्षा होती है जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है—वह प्रथम सम्यकत्व को उत्पन्न करता है।"

काल लब्धि के बिना सम्यक्त्व नहीं होता—ऐसा कह कर भी लब्धियाँ पाँच प्रकार की कहीं गई हैं और ये पाँच लब्धियाँ आवश्यक हैं ही—ऐसा कहा गया है। जब मात्र काल लब्धि कही जाती है तो पाँचों प्रकार की लब्धियाँ उसमें अन्तर्हित समझी जाती हैं।

लब्धियाँ : पाँच भेद

पाँच लब्धियाँ—(१) क्षयोपशम (२) विशुद्ध (३) देशना (४) प्रायोग्य और (५) करण हैं।

एक काल लब्धि प्ररूपित है और उसमें ये पाँच लब्धियां कैसे सम्भव हैं? इसका समाधान धवला पु० ६ पृ० २०५ में इस प्रकार दिया है—

"प्रति समय अनन्त गुणहीन अनुभाग की उदीरणा का, अनन्त गुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का, और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का, उसी एक काल लब्धि में होना सम्भव है। अर्थात् उक्त चारों (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य) लब्धियों की प्राप्ति काल लब्धि के आधीन है। अतः वे चारों लब्धियाँ काल लब्धि में अन्तर्निहित हो जाती हैं।"

पाँच लब्धियों का वर्णन सिद्धान्त चक्रवर्ती आ० नेमिचन्द्र प्रणीत "लब्धिसार" में तथा "धवला" टीका के प्रणेता आ० श्री वीरसेन द्वारा तथा पं. टोडरमल जी के मोक्ष मार्ग प्रकाश के सप्तम अधिकार में भी हुआ है।

जाति स्मरण, वेदनानुभव, धर्म श्रवण, जिन विम्बदर्शन, जिन महिमादर्शन और देवर्द्धि निरीक्षण भी पाँचों लब्धियों में अन्तर्गभित है।

(१) क्षयोपशम लब्धि—जिसके होने पर तत्त्व विचार हो सकें, ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हो—यानी उदय काल को प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकों के निषेकों के उदय का अभाव रूप क्षय हो जाए तथा अनागत काल में उदय आने योग्य उन्हीं का सत्ता रूप उपशम हो तो—इस प्रकार ऐसी देश घाती स्पर्द्धकों के उदय सहित कर्मों की अवस्था क्षयोपशम है और इसकी प्राप्ति क्षयोपशम

लब्धि है। जिस काल में समय-समय अनन्त गुणा घटता हुआ अशुभ ज्ञानावरणादि कर्म समूह उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

(२) विशुद्ध लब्धि — पहली लब्धि से अशुभ कर्म का अनुभाग घटकर संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की प्राप्ति की वृद्धि होती है। सो प्रथम लब्धि से उत्पन्न साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्त भूत और असाता आदि कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है—उसकी प्राप्ति ही यह लब्धि है। इस भाव में संसार दुःख ज्वाला संतप्त व भयभीत जीव कल्याण मार्ग व तत्त्व विचार का भाव करता है। ऐसा भाव होना ही विशुद्धि लब्धि है। मंद कषाय से विशुद्धि लब्धि होती है।

(३) देशना लब्धि — उक्त भाव के होने पर जीव कल्याण मार्ग में परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारणा शक्ति के समागम के लिये खोज करता है और सद्गुरू की शरण जाता है और सर्वज्ञोक्त या उपदिष्ट छः द्रव्य और नव पदार्थ रूप तत्वोपदेश को धारण करता है। वह सद्गुरू की धर्मतत्त्व वाणी सुनकर अपने स्वरूप का विचार करता होता है और उस विचार से, स्वरूपमहिमा के भाव से भाव विह्वल, आनन्द मग्न और विस्मय भाव मय होकर अपने इस पुरुषार्थ-जागृति से मूल मोह व राग की ग्रन्थि को किंचित् शिथिल कर देता है—यही देशना लब्धि की प्राप्ति है।

देशना लब्धि में सद्गुरु के प्रज्वलित ज्ञान के ही कण मानों जीव के अन्तर में उतर जाने से जीव की प्रमाद-जडित प्राण शक्ति प्रज्वलित हो जाती है, प्रकाश और स्फूर्ति को प्राप्त होती है। देशना लब्धि ही वस्तुतः शक्तिपात है। यह उपदेश के निमित्त बिना भी, पूर्व भव संस्कार से भव-प्रत्यय रूप भी हो सकती है, तथा नरकादि गति में यह पूर्व संस्कार से होती ही है। छः द्रव्य और सात तत्त्वों रूप सर्वज्ञ शासन का उपदेश इस लब्धि में प्राप्त होता है। श्री सद्गुरु का यह उपदेश जीव की भव-ज्वालाओं तथा जिज्ञासा को अमृत के समान शान्ति को देता है और उसे उपदिष्ट स्वआत्म स्वरूप में एकाग्रता करने का भाव होता है। उस काल में वस्तु का परोक्ष ज्ञान हो जाता है और वह अब स्व आत्म वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान की भावना करता है और तदनुकूल पुरुषार्थ करने का संकल्प करता है। देशनालब्धि जिनवाणी की गाढ़ रूचि रूप होती है। गाढ़ रुचि ही ग्रन्थि भेद करके तदनन्तर शक्तिपात रूप होती है।

(४) प्रायोग्य लब्धि — जीव जब स्व तत्त्व का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वभाव मय सहज धर्म की प्राप्ति के लिए परिणाम (भावों) को करता है—अपने संकल्प और निर्णय को लेकर पुरुषार्थ सम्मुख होता है—ऐसे इन भावों में उस जीव की कर्म-सत्ता स्थिति क्षय होकर अन्तः कोड़ा-कोडी सागर प्रमाण ही रह जाती है। अब जो भी नवीन बन्ध पड़ेगा उसे ऐसे विशुद्ध भावों के कारण इतनी ही प्रमाण सत्ता पड़ सकेगी। नवीन कर्म का बन्ध उन विशेष परिणामों की शुद्धि होने से संख्यात भव मात्र बन्ध करता है। अब कितनी ही पापी प्रकृतियों का बन्ध कट जाता है तथा कम स्थिति और कम अनुभाग वाले ही नवीन कर्मबन्ध पड़ते हैं।

"तथा कर्मों की पूर्ण सत्ता अन्तः कोडा कोडी प्रमाण करके उसके संख्यातवें भाग मात्र हो; वह भी उस लब्धि काल से लगा कर क्रमशः घटती जाए और कितनी ही पाप प्रकृतियों का वन्ध क्रमशः मिटता जाए–इत्यादि अवस्थाओं का होना प्रायोग्य लब्धि है"—(पं. टोडरमल जी)। यह प्रायोग्य लब्धि परिणामों की विशुद्धता रूप होती है।

उक्त चार लब्धियां तो भव्य और अभव्य दोनों ही आत्माओं को प्राप्त हो सकती है। भव्यत्व और अभव्यत्व आत्मा के गुण नहीं है—ये तो श्रद्धा गुण की परिणति के विशिष्ट परिणमन है। जैसे मूंग या चने का दाना सीझकर अच्छी तरह पकने वाला होता है–तो उसमें स्पर्श गुण की विशिष्ट प्रकार की स्नेहिल अवस्था होती है, ऐसी ही भव्य जीव में श्रद्धा गुण की विशेष अवस्था होती है और वह आत्मा सीझकर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। अभव्य जीव में श्रद्धा गुण का वैसा परिणमन नहीं पाया जाता। यह वैसा ही संयोग है जैसे कोरडू मूंग या चने की अवस्था में है, जिसे कितना ही सिझाया जाये कभी पकता नहीं। अभव्य जीव में दर्शन ज्ञान आदि सब गुण अन्य सब जीवों के ही समान है और गुण अपेक्षा वह सिद्ध परमात्मा समान ही है पर श्रद्धा गुण की विशेष परिणति वैसी रहने से कभी कर्म निवृत्त होकर मुक्त जीव नहीं हो सकता।

एवं पवयणसारं पँचत्थिय संगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि राग दोसो सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।। (पंचास्ति०–१०३)

यह आ० कुंदकुंद ने भव्य के लिए कहा है—जो भव्य पंचास्तिकाय को संक्षेप (सर्वज्ञ की द्वादशांगीय वाणी का रहस्य) को भली प्रकार जानकर पर-पदार्थों में इष्टानिष्ट, प्रीति-द्वेष को करना छोड़ देता है—यही पुरुष संसार के दुःखों से मुक्ति को प्राप्त करता है।

चार लब्धियाँ प्राप्त होने के बाद भी मोक्ष की योग्यता कराने वाला सम्यक्त्व जीव को प्राप्त हो ही जाए यह आवश्यक नहीं होता। सम्यक्त्व अब हो तो हो, और न हो तो न हो ऐसा लब्धिसार गाथा ३ में कहा गया है। तो प्रकट होता है कि तत्त्व विचार महत्त्वपूर्ण होता है तब भी तत्त्व विचारक को सम्यक्त्व प्रकट होने का नियम नहीं है–क्योंकि तत्त्व विचारक को अन्यथा विचार होने या अन्य विचार में लग जाने के कारण तत्त्व निर्धारित नहीं भी हो सकता है और तव प्रतीति भी नहीं हो सकती। ऐसे उसे तब सम्यक्त्व रूप तत्त्व की अन्तः रूचि कैसे हो या कैसे रहे? विचार मंथन तथा विचार एकाग्रता पर जब उसे यह प्रतीति हो कि यह तत्व ऐसा ही है–तब यही प्रतीति अनादि मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व करती है। यह तत्त्व इसी प्रकार है ऐसी प्रतीति रहित जीवादि तत्त्वों का स्वरूप भासित न हो, और जैसे पर्याय में अहं-बुद्धि है वैसे केवल आत्मा में अहं बुद्धि न आये, स्व हिताहित रूप भावों को न पहचाने तब तक सम्यक्त्व की सन्मुखता नहीं होती—यह तो मिथ्यादृष्टि ही है। तत्व के विषय में जो निष्ठ होगा वही जीव अल्प काल में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा चाहे इसी भव में हो या अन्य भव-पर्याय में हो। अभ्यास के बल से मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग हीन हो जाता है और जब

मिथ्यात्व कर्म का उदय न हो वही तब सम्यक्त्व हो जाता है। सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) निसर्गज हो या अधिगमज हो वह दोनों ही प्रकार हो सकता है–पर नियम है कि बिना तत्त्व विचार यह सम्यक्त्व होता नहीं है। तत्त्व विचार होने पर ही सम्यक्त्व का अधिकारी जीव हो पाता है।

(५) करण लब्धि = प्रायोग्य लब्धि वाले का उद्यम तो तत्व विचार करने तक है। पर पाँचवी करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व अवश्यमेव हो ही हो—ऐसा नियम है। उक्त चार लब्धि के बाद और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसे सम्यक्त्व होना है—उसी को करण लब्धि होती है। यह करण लब्धि अनन्त गुण परिणामों की विशुद्धि को समय-समय बढाने वाली होती है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है।

इसका उद्यम इस प्रकार होता है—वह तत्व विचार में अपने उपयोग को ऐसी तन्मयता से लगाए कि तद्रूप उपयोग होते ही करण लब्धि हो जाए। इसी से समय-समय पर परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जब तत्व विचार निर्मल रूप चलता है—यानी सविचार धर्म-ध्यान में तत्वोपदेश रूप ध्यानी मग्न हो जाता है तो अन्तर में प्रकाश होकर अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्ति होती है जिससे शीघ्र श्रद्धान प्रकट हो जाता है।

भावो-परिणामों का निर्मलतारतम्य प्रवाह तो सर्वज्ञ ही को दृष्ट है और उनका निरूपण करणानुयोग में है और इन ही परिणामों के मोड़, आत्म शोधक जीवन के मोड़ ही चोदह गुण-श्रेणी या गुण संक्रान्ति के रूप में वर्णित किये गये हैं।

करण नाम परिणाम का है। इसके तीन भेद हैं—(१) अधःकरण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्ति करण। ये परिणामों की विशुद्धिकरण में मोड़ रूप हैं। इन चोदह गुणस्थानों तथा तीन करणोंकी करणलब्धि का वर्णन कर्म-ग्रन्थों में विशदता से हुआ है।

अधः प्रवृत्ति :—जहाँ पहले और पिछले समयों में परिणाम समान हो—उस भाव अवस्था को अधः प्रवृत्ति करण परिणाम कहते हैं—यह लब्धि सार गाथा ३५ में स्पष्ट किया गया है।

उक्त तीन करणों के विवेचन से पूर्व संक्षेप में यहाँ पंच लब्धियों को इस प्रकार समझें—

(१) जीव में तत्त्व विचार की योग्यता की प्राप्ति का होना क्षयोपशम लब्धि है।

(२) जीव में तत्व विचार योग्यता के अनन्तर तत्व विचार को करने का भाव हो जाना से भाव की प्राप्ति होना विशुद्धि-लब्धि है।

(३) तत्त्व विचार करने के भावोदय के अनन्तर गुरु सन्निकटता से तत्व की प्राप्ति हो जाने देशना लब्धि है। इसमें शक्तिपात होकर पुरुषार्थ जागता है, शक्ति जागती है।

(४) जीव जब गुरु से प्राप्त तत्त्व का विचार, मनन, मंथन करके सम्यग्दर्शन के निकट होता है, यही प्रायोग्य लब्धि है।

(५) तथा जब जीव प्राप्त तत्त्व का विचार-मनन करता २ तत्त्व रूप (तद्रूप) परिणत होता है—तो यही करण लब्धि है। अभिधान चिंतामणि में बुद्धि के गुण बताये हैं—

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
उहोपोहार्थ विज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः॥

अर्थात् सुनने की इच्छा, सुनना, सुनकर ग्रहण करना, फिर उसे हृदय में धारण करना, तर्क-वितर्क रूप विचार के बाद निश्चय से उस तत्त्व को अन्त में उसे विशेष ज्ञान "विज्ञान" की तरह प्राप्त होना बुद्धि के गुण हैं। इन बुद्धि के गुणों के विकास में पंच लब्धियों का ही मार्ग प्रशस्त होता है। मोक्ष मार्ग प्रकाशक में तीन करणों का विवेचन हुआ है।

तीन करणों का विवेचन :—

(१) अधः प्रवृत्ति करण—जैसे किसी जीव के परिणाम उस करण के पहले समय में अल्प विशुद्धता सहित हुए, पश्चात् समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से चढ़ते गये तथा उसमें द्वितीय, तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम हों वैसे किन्हीं अन्य जीवों के प्रथम समय में ही हों और उनके परिणाम समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से बढ़ते हों—इस प्रकार अधः प्रवृति करण जानना।

(२) अपूर्व करण—पहले और पिछले समयों में परिणाम समान न हों, अपूर्व हों—वह अपूर्वकरण है। जैसे कि उस करण के परिणाम जैसे पहले समय में हो, वैसे किसी भी जीव के द्वितीयादिसमयों में नहीं होते हैं, बढ़ते ही होते हैं। जिन जीवों के करण का पहला समय ही हो उन अनेक जीवों के परिणाम परस्पर समान भी होते हैं। इसी प्रकार जिन्हें करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों उनके उस समय वालों के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं, परन्तु ऊपर के समय वालों के परिणाम उस समय सर्वथा समान नहीं होते—अपूर्व ही होते हैं।

(३) अनिवृत्ति करण—जैसे उस करण के पहले समय में सब जीवों के परिणाम परस्पर समान ही होते हैं उसी प्रकार द्वितीयादि समयों में परस्पर समानता होती है, तथा प्रथमादि समय वालों से द्वितीयादि समय वालों के अनन्त गुणी विशुद्धता सहित होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्ति करण होता हैं।

ध्यान काल में पहले अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अधः करण ही होता है। इस काल में अधः करण में चार विशेषताएँ घटती है—

(१) समय-समय अनन्त विशुद्ध का होना।

(२) एक-एक अन्तर्मुहूर्त से नवीन कर्म बंध की स्थित्ति के घटने रूप "बंधापसरण" का होना।

(३) समय-समय प्रशस्त प्रवृतियों के अनुभाग का बढ़ना।

(४) अप्रशस्त प्रवृतियों के अनुभाग बंध का समय-समय अनन्तवें भाग घट कर हीन होना।

इन चार विशेषताओं के बाद अपूर्व करण होता है और उसका काल अध: करण के काल के संख्यातवें भाग होता है। इस अपूर्व करण में ये विशेषताएँ और घटती हैं—

(१) स्थिति कांड घात—एक एक अन्तर्मुहूर्त कर्म की जो भूतपूर्व स्थिति थी उसे घटा देता है।

(२) अनुभाग कांड घात—तथा उस परिणाम (अध:करण) के काल में पूर्व कर्म का जो अनुभाग छोटा हुआ उसे भी घटा देता है।

(३) तथा गुण–श्रेणी काल में क्रम से असंख्यात गुणा प्रमाण लिए कर्मों को निर्जरित होने योग्य कर देता है। इसे गुण श्रेणी निर्जरा कहा जाता है।

अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्ति करण का क्रम है। इसका काल अपूर्व करण के काल का संख्यातवां भाग मात्र होता है।

अनिवृत्ति करण में अन्तर करण और उपशम करण होते हैं। अनिवृत्ति करण में उपरोक्त विशेषताओं सहित कितने ही काल जाने के बाद जीव अन्तर करण करता है। "जय धवला" में इसे ऐसे कहा है—

"विवक्षित कर्मों की अध:स्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़ कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त स्थितियों के निषेकों का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तर करण कहते हैं।"

उपशम करण :—अन्तर करण होने के बाद जीव उपशम करण करता है। इसमें अन्तरकरण द्वारा अभाव रूप किये हुए निषेकों को ऊपर वाले मिथ्यात्व-निषेकों को भी उदय में आने योग्य बनाता है। अनिवृत्ति करण के अन्त समय के अनन्तर जिन निषेकों का अभाव किया था उनका काल जा आये तबतक निषेकों के बिना उदय किसका आये? बस यहां ही मिथ्यात्व का उदय न होने से प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उपशम श्रेणी से चढ़े हुए अनिवृत्तिकरण में एवं अन्तरकरण के बीच के काल में जीव अपने विशुद्धि परिणाम से मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है—(१) शुद्ध पुंजसम्यक्त्व नाशक शक्ति का अभाव (२) मिश्र पुंज और (३) अशुद्ध पुंज। जब जीव के मिश्र (अर्ध विशुद्धि) पुंज सामने आता है तो जीव की निर्णायक शक्ति नही रहती, वह मूढ़ सी रहती है। यह पुंज अन्तर्मुहुर्त रहता है फिर या तो शुद्ध पुंज या अशुद्ध पुंज का उदय होता है।

इस प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के तीन टुकड़े हो जाते हैं—(१) मिथ्यात्व (२) मिश्र मोहनीय और (३) सम्यक्त्व मोहनीय। अनादि मिथ्यात्व में सम्यक्त्व मोहनीय

और मिश्र मोहनीय की सत्ता नहीं होती। अतः ही एक मिथ्यात्व का ही उपशम करके उपशम सम्यक दृष्टि होता है।

जब कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट हो जाता है तो कुछ काल बाद मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना मिथ्यात्व प्रकृति रूप हो जाने पर उसकी दशा अनादि मिथ्या दृष्टि की ही हो जाती है। अन्तर करण और उपशम करण अलग लब्धियां नहीं है, अनिवृत्ति करण के ही अंग है।

जो फिर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाता है वह सादि मिथ्यादृष्टि होता है। उसके भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्ति में उक्त पांचों लब्धियां होती हैं।

श्रद्धान के न होने में मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का मूल कारण मोह है, जो दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म रूप होता है। दर्शन मोहनीय कर्म रूप मिथ्यात्व तो सम्यक्त्व (सम्यक् श्रद्धान) के उदय से कट जाता है और सम्यक्त्व-उदय से ही आध्यात्मिक जीवन का आधार तथा आरम्भ जीव को होता है—इसे इससे पूर्व नहीं। मिथ्यात्व के उदय काल में तो–चाहे विचारादि कारण मिलें या न मिलें, आप ही सम्यक् श्रद्धान का अभाव रहता है। मिथ्यात्व का उदय जब न हो, तब अन्य कारण मिले या न मिले स्वयमेव ही सम्यक्-श्रद्धान हो जाता है। समय समय संबंधी अन्तरंग परिणामों की सूक्ष्मता को जानना छद्मस्थ संसारी पुरुष को नहीं हो पाता, अतः अपनी मिथ्या या सम्यक् श्रद्धान अवस्था में सूक्ष्म निर्मलता के तारतम्य का निश्चय किस प्रकार हो—इस अपेक्षा से गुण-श्रेणियों की संक्रान्ति रूप भावों के, गुणों के स्थानों का वर्णन करुणा पूर्ण आचार्य भगवन्तों ने जीवों के हितार्थ किया है।

अन्तर्शोधक जीवन के मोड (चौदह गुण स्थान या गुण संक्रान्तियां)—ये मोड जीव के अध्यवसायों के मोड हैं—भावों की विशुद्धिरूप हैं।

मोह और योग-स्पंदनों के निमित्त से होने वाले परिणामों के तारतम्य रूप क्रम विकसित भूमिकाओं को गुण स्थान कहते हैं। ये परिणाम विशुद्धिमार्ग में अन्तर्शोधक अध्यात्म जीवन या योग मार्ग के चौदह महत्वपूर्ण मोड़ हैं। अन्तर्शोधन में जीव ध्यानावलम्बन द्वारा आत्म लक्ष में रहकर निरंतर अपने परिणामों को ज्ञान सम उज्ज्वलता में मोड़ता है।

ये मोड (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) सम्यग्-मिथ्यात्व (४) अविरत सम्यक्त्व (५) देश विरत सम्यक्त्व (६) प्रमत्त विरत गुणस्थान (७) अप्रमत्त विरत (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण (१०) सूक्ष्म सांपराय (११) उपशान्त मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोग केवलि और (१४) अयोग केवलि हैं।

गुण स्थानों का वर्णन समल मिथ्यात्व दशा के वर्णन से ही आरम्भ होकर निर्मलतम दशा के उद्घाटन के वर्णन तक आता है। यद्यपि मिथ्यात्व गुण श्रेणी नहीं है–तथापि अनादि से जीव मोह भ्रष्ट

होकर मिथ्यात्व कर्म से ही लिपटा रह कर अशुभ परिणामों में ही बंधा रहता है—अतः मिथ्यात्व विवेचन से ही चौदह गुण स्थानों का विवेचन आरंभ किया है।

दर्शन मोहनीयादि कर्मों के उदय उपशम क्षय क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं उन्हें सर्व दर्शियों ने गुण स्थान कहा है। ये गुणस्थान "मोहयोग भवाः" हैं, मोह और योग के तारतम्य से होते हैं।

मिथ्या दृष्टि—श्रद्धान का न होना या विपरीत होना, स्थूल बहिर्मुखी जागतिक दृष्टि जो तात्त्विक दृष्टि को नहीं होने देती। मोहनीय कर्म के उदय होने पर भी जीव का श्रद्धा गुण सर्वथा नष्ट नहीं होता—वह अशुद्ध और आंशिक यथार्थ ही रहता है। आत्मिक गुणों का अल्पतम आविर्भाव अवस्था का नाम मिथ्या दृष्टि हैं जिसमें जींव को न अन्तर्मुखी दृष्टि होती न सर्वज्ञ कथन की रुचि या प्रतीति होती—न वह रागादि को अधर्म समझता और न स्व पर का विवेक होता। यह अपनी देह—पर्याय को ही स्व मानता है। इसे दर्शन-ज्ञान स्वभाव, आत्मा के स्वभाव का जो अल्पतम प्रकाश रहता है—उससे ही किंचित् जानना देखना है। इसके कर्मोपाधि से हुए कषायादि (क्रोधादिक भाव) के भाव पाये जाते हैं, और इन्द्रियों तथा इन्द्रिय विषयों में प्रीति रहती है। इसे उपदेश मिलने पर भी श्रद्धा दुर्लभ रहती है। तथा बिना उपदेश ही अधर्म व पाप मार्ग में प्रवृत्ति रहती है। यह मिथ्या दर्शन संसार में भव भ्रमण का प्रमुख कारण है।

मिथ्या दृष्टियों की तीन कोटिया होती हैं—(१) वे जो अनादि से मोह-जंजाल में फंसे हैं (२) वे जो अन्य के उपदेश से स्वच्छन्दी और मिथ्यामार्ग पर आरूढ़ हैं और (३) वे जो संशय ग्रस्त हैं—यानी जो यह सही है या कि यह नहीं हैं—ऐसे संशय पाश में ही बंधे रहते हैं। मिथ्यात्व कर्म को अनुभव करने वाले जीव को धर्म नहीं रुचता जैसे ज्वर युक्त मनुष्य को मधुर (मीठा) रस नहीं रुचता। परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन मनुष्य जाति में ही सम्भव है। इसके पांच विभाग हैं—(१) एकान्त (२) विपरीत (३) संशय (४) वैनयिक और (५) अज्ञान हैं।

मिथ्या दृष्टि पांच लब्धियों पूर्वक उत्कर्ष करके एक दम चौथे गुण स्थान—सम्यक्त्व गुण स्थान को प्राप्त कर लेता है।

(२) सासादन—कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वहां जघन्य एक समय उत्कृष्ट छः आवलि प्रमाण काल रहता है। इसमें अनन्तानुबंधी का उदय तो रहता, है, पर मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। यह श्रेणी सम्यक्त्व से सासादना पूर्वक यानी विराधना (च्युति) होने पर बीच के परिणाम की है। यह ऊंचे चढ़ते हुए जीव को नहीं, नीचे गिरते हुए जीव को आती है। इसके परिणाम की दशा सूक्ष्म होने से वचन गम्य नहीं है और यह अति सूक्ष्म काल मात्र होती है।

जीव को प्रथम बार सम्यक्त्व की स्पर्शना से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। राग द्वेष की अति निबिड ग्रन्थि को शिथिल व भेद कर सम्यक्त्व के निकट हुआ जाता है। जीव के दुष्प्रवृत्ति से

सद्वृत्ति की ओर ढ़लना ही यथा प्रवृत्ति करण बा अधः प्रवृत्ति करण है। और रागद्वेष की ग्रन्थि भेद की क्रिया करना ही वस्तुतः अपूर्व करण है। रागद्वेष की ग्रन्थि भेद की क्रिया से सम्यक्त्व के सन्मुख होना अनिवृत्ति करण है। इसमें अन्तरकरण की क्रिया करने पर मिथ्यात्व का उदय समाप्त होकर उपशम सम्यक्त्व होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक ही स्थिर रहता है। इस काल को उपशान्ताद्धा या अन्तरकरण काल कहते हैं। इस काल के बाद यदि जीव अशान्त होकर, अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होकर मिथ्यात्वी रुचि और प्रवृत्ति की ओर झुकता है तब वह सासादन गुण श्रेणी पर आकर ठहरता है।

जो उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ—यानी जिसकी दृष्टि न सम्यक्त्व, और न मिथ्यात्व रूप है और न उभय रूप ही है—वह सासादन गुण श्रेणी में है।

उपशम सम्यक्त्व समस्त भव-भ्रमण में जीव को श्रेणी में अधिक से अधिक चार बार सम्भव होता है—क्षयोपशमिक सम्यक्त्व अंसख्यात बार हो सकता है और क्षायिक सम्यक्त्व एक बार ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व संज्ञी व मानव जीव श्रेणी में ही किसी किसी को होता है। यह सम्यक्त्व एक बार होने के बाद जाता नहीं। जिसे एक बार भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाता है, उसका संसार अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक नहीं रहता।

नदी धौत पाषाण न्याय से अध्यवसाय के बल चिति (ज्ञान) शक्ति का जागरण होकर कर्मावरणों में कुछ मंदता (हीनता) होकर फिर कभी जब उत्कृष्ट आत्म-परिणाम की दशा प्राप्त होती है कि जिसमें मोहनीय कर्म के द्वारा पुनः न बंध सके और वह जीव शुद्ध वीतराग परमात्मा की आराधना के योग्य हो—ऐसा सिद्धि दायक आत्म-परिणाम 'अपुनर्बन्धक' कहा जाता है।

सादि मिथ्या दृष्टि के थोड़े काल मिथ्यात्व का उदय हो जाए व तत्त्वों का अश्रद्धान व्यक्त न हो, तब थोड़े विचार या बिना विचार ही पुनः सम्यक्त्व हो जाता हैं और यदि बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो अनादि मिथ्या दृष्टि की सी दशा हो जाती है। वह तब गृहीत मिथ्यात्व को भी ग्रहण करता है और निगोदादि में ही चला जाता है।

(३) सम्यग्मिथ्या (मिश्र) गुणस्थान—कोई-कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिश्रगुण स्थान को प्राप्त होते हैं। यहां मिश्र मोहनीय का उदय रहता है। इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यानी इसका भी काल बहुत अल्प है और परिणाम भी सूक्ष्म होने से केवल ज्ञानी के गम्य है। इस दशा में तत्त्वों का यानी तत्त्व को तत्त्व तथा अतत्व को भी तत्त्व समझ श्रद्धान व अश्रद्धान एक ही काल में रहता है अतः मिश्र दशा है—ऐसे दही और गुड़ के मिश्रण के स्वाद की विलक्षण जात्यन्तर दशा होती है। कई लोग जिन देव और अन्य देव सर्व ही वंदन करने योग्य हैं—ऐसा कहते हैं—यह मिश्र गुणस्थानक मिश्र श्रद्धान नहीं है—यह तो विपरीत हैं—इसमें विनय मिथ्यात्व तो प्रकट ही है। मिश्र गुण स्थान में विवेक शक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता। यह जीव जल्दी ही मिथ्या दृष्टि में चला जाता है अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्यक्त्व में भी आ जाता है।

मिथ्या दर्शन के वर्णन का प्रयोजन यह है कि जीव इसको पहचान कर अपने दोष दूर करके सम्यक्-श्रद्धानी हो। इसका यह अर्थ नहीं कि औरों के ही ऐसे दोष देख-देख कर कषाय भाव करना। वस्तुतः अपना भला बुरा तो अपने परिणामों से है। इस लिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है, मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबंधी का अभाव होकर इकतालीस कर्म-प्रकृतियों का तो बंध मिट ही जाता है, स्थिति अन्तः कोडा कोडी सागर की रह जाती है—अनुभाग थोड़ा रह जाता है और शीघ्र मोक्षपद प्राप्त होता है। मिथ्यात्व का सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष मार्ग नहीं मिलता। मिथ्यात्वी के (१) अविरति (२) कषाय (३) योग (४) प्रमाद और (५) मिथ्यात्व—ये पाँचों ही बंध के हेतु विद्यमान रहते हैं।

अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरणीय कषायों के उदयरूप सद्भाव में सभी प्रकार की अविरति पाई जाता है। यह भी है कि आगे-आगे के बंध हेतु होने पर पूर्व-पूर्व के बंध हेतु होते भी हैं और नहीं भी होते जैसे प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुण स्थान से सम्बन्ध रखने वाली अविरति है तो मिथ्यात्व होता हैं अन्यथा नहीं होता। जिसको अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय कषायों का उदय न होकर प्रत्याख्यानावरणीय का उदय है उसे त्रस-विषयक अविरति का अभाव हो जाता है। अविरति वह है जिसमें इन्द्रिय विषयों में तथा छः काय जीवों की हिंसा से निवृत्ति नहीं होती।

वास्तव में तो सासादन व मिश्र दृष्टि मिथ्यात्व के ही अवान्तर भेद हैं।

(४) अविरत-सम्यक्त्व (असंयत सम्यग्दृष्टि)—इस गुण स्थान में आते ही जीव की महिमा हो जाती है क्योंकि इसे जिनोक्त आज्ञा तथा तत्त्वों का श्रद्धान पाया जाता है।

इसमें आत्म परिणाम में आत्म स्वरूप की पहचान होती रहती है। दृष्टि आत्म परक तथा अन्तर्मुखी होती है। स्व तथा पर का ज्ञाता यह अन्तरात्मा-परिणत होता है। अतः पर-द्रव्य में ममत्व व मोह भी नहीं रहता। विषय भोग भी इच्छापूर्वक या इच्छावश नहीं भोगता। इस दशा में विषय प्रवृत्ति होती है, मगर वह चारित्र मोह के उदय वश होती है—भोगना चाह कर विषय नहीं भोगता—कर्मोदयवश भोगता है। इसके न कर्म चिन्तना रहती न कर्मफल चिन्तना। चारित्र मोह के कारण यह त्रस स्थावर जीव हिंसा तथा विषयों से विरत न होने से अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वह जैनों का कर्म-योगी है। गुण संक्रान्ति आरोहण प्रक्रिया सम्पूर्णतः सम्यक् दर्शन पर ही आधारित है। साधक अवस्था अतः सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्रम विकास की अवस्था है। जिसमें बोधि रूप रत्नत्रय क्रमशः अन्त में केवल ज्ञान और अभेदरत्नत्रय को प्राप्त करता है।

आचार्य पद्मनन्दी इसके लिए इस प्रकार कहते हैं—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हिश्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो, भावी निर्वाण भाजनम्॥

अर्थात्—जिस जीवात्मा ने अपने चेतन्य स्वरूप की बात भी श्रद्धापूर्वक (शाँत चित्त से) सुन ली, निश्चय ही वह भव्यात्मा आने वाले समय में निर्वाण प्राप्त कर लेगा। यहां तक के चारों गुण स्थान चारों गतियों के जीवों के होते हैं।

अनादि मिथ्या दृष्टि के मात्र एक मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता होती है—अतः उपशम सम्यक्त्व के काल में मिथ्यात्व के परमाणु मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणमते हैं। उपशम सम्यक् दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है इसलिए अन्तर्मुहूर्त काल के बाद उपशम सम्यक् दर्शन नहीं रहता—और तब यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उदय आए तो क्षयोपशम सम्यक्त्व अवस्था हो जाती है और मिश्र मोहनीय का उदय आए तो मिश्र रूप एवं मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आए तो मिथ्यात्व रूप जीवात्मा हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व काल में सूक्ष्म मल सहित श्रद्धान रहता है। सम्यक्त्व मोहनीय की प्रवृत्ति देशघाती होती है अतः सम्पूर्ण सम्यक् दर्शन का घात नहीं होता—किंचित् मलिनता ही हो जाती है। जब मिथ्यात्व की प्रकृत्ति वर्तमान काल में उदय में आए बिना ही निर्जरित हो जाए तो इसे क्षय कहते हैं तथा उस प्रकृति का आगामी काल में उदय आने योग्य निषेक की सत्ता रहती है तो उसे उपशम कहते हैं तथा सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होना ही क्षयोपशम है। जब मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के सर्व निषेकों का नाश हो जाता है—यानी तीनों प्रकार की मिथ्यात्व कर्म प्रकृत्ति के सर्व निषेकों का नाश होता है तब निर्मल क्षायिक सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है।

क्षायिक सम्यक् दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म का अभाव है अतः वह परम निर्मल है—यह प्राप्ति के काल से लेकर अनन्त काल तक यानी मुक्त अवस्था में भी निर्मल ही रहता है। क्षायिक सम्यक्त्वी को ही भगबान जिनेश्वर का लघुनन्दन कहा जाता है। यह क्षायिक सम्यक्त्वी निज पर के स्वरूप का ज्ञाता रहकर अपने ही ज्ञायक भाव में एकाग्रता का अभ्यासी होता है। उस अभ्यास के प्रकाश में अनन्त चतुष्टय प्रकट हुए बिना नहीं रहता है। यह अर्थ और काम की आसक्ति से निवृत्त हो कर वीतराग होने की भावना तथा आराधना करता है और शुद्ध संयम मार्ग की चाहना व भावना करता हैं—निर्मल परिणतियों के प्रवाह के साथ निरन्तर स्वरूप एकाग्रता के अभ्यास में आगे बढ़ता जाता है। जब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब स्वानुभव करने की लब्धि प्राप्त हो जाती हैं, ज्ञान वैराग्य की लब्धि हो जाती है, संवेग अनुकंपा आस्तिक्य भाव पैदा हो जाता हैं।

दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुवंधी के उदय से होने वाली अविरति पाई जाती हैं—इसमें मिथ्यात्व के अभाव से १६ कर्मप्रकृत्तियों का संवर होता है। तीसरे गुणस्थान अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से—तत्सम्बन्धी होने वाले २५ कर्मप्रकृतियों का भी अभाव हो जाता है।

इस चौथे गुण स्थान में अप्रत्याख्यानावरणीय के उदय से प्राप्त होने वाली अविरति पाई जाती है।

(५) देश विरत (देश संयम) गुणस्थान साधक—सम्यक्त्व सहित एक देश चारित्र का पालन करता है। जिन भगवान् में ही मति (श्रद्धा) रखता हैं। ये स्थावर हिंसा से विरत न होकर

भी त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता है। इन्द्रिय विषयों से एवं स्थावर जीवों के घात से विरक्त नहीं है। प्रति समय विरता-विरत रहता है। इस गुण-श्रेणी में अप्रत्याख्यानावरणीय के उदय से होने वाली अविरति का अभाव हो जाता है। अतः उसे अप्रत्याख्यानावरणीय व अविरति के निमित्त से होने वाले १० कर्मों का आस्रव भी संवरित हो जाता है। इसके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन शेष हैं—दूर नहीं हुये हैं—अतः यह संयतासंयत माना जाता है। यह गुण स्थान देव और नारकियों के नहीं होता—मनुष्य और तिर्यग्गति जीव इस गुण-स्थान के धारक हो सकते हैं। विशेषताएं ये कही गई हैं कि चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु देवायु और तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होना सम्भव है। इस पांचवे गुण-स्थान में प्रत्याख्यानावरणीय के उदय से प्राप्त होने वाली अविरति पाई जाती है। इसी गुण स्थान के नाम देश विरत, उपासक किंचित् त्यागी व श्रावक आदि कहे जाते हैं। श्रावक के १२ व्रत और ११ प्रतिमारूप ११ सोपान भी कहे गये हैं। इस गुणस्थान में आत्मिक शक्ति का थोड़ा विकास होने से ही आंशिक सम्यक्-चारित्र यानी आत्मस्थिरता का पालन होता हैं। यह आंशिक या स्थूल चारित्र ही अणुव्रत कहलाते हैं। यह व्यवहार चारित्र भेद से है। स्थूल संकल्पी हिंसा, असत्य, अस्तेय, परिग्रह तथा अब्रह्म का मोटे तौर पर त्याग रूप अणुव्रतों का व्यवहार चलता है।

इस गुण-श्रेणी में यह व्यवहार चारित्र भी हेय रूप से (विकल्प रूप से) ही चलता है। उपादेय तो अपना आत्म स्वरूप ही माना जाता है। यहां आत्म स्वरूप की स्थिरता अल्पकाल रहती है। अतः व्युत्थान काल में व्यवहार चारित्र का विकल्प चलता हैं। यानी परिणाम शुद्ध से नीचे उतर कर शुभ विकल्पों पर ठहरता है। पाप व पुण्य के उदयाधीन, आप ही विना इच्छा रहता है। ऐसे इस गुण-श्रेणी में निश्चयनय गर्भित व्यवहार चारित्र रहता है पापों से सर्वथा अलग रहते हुए भी गृही को अनुमोदन के कारण रहते भी है ही। पर यहां पर आत्मा पर लक्ष्य व दिशा रहती है और समय क्षेत्र की मर्यादा आचरण में बांधने रूप में आरम्भ हो जाती है।

इस गुणस्थान में जीव को सम्यक्त्व रूप विवेक प्राप्त होता है पर चारित्र मोहनीय के प्रबल प्रभाव से वह विवेक क्रिया में परिणत नहीं होता। सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होकर फिर श्रावक के बारह व्रत अंगीकार होते हैं। शृणोति जिन वचनमिति श्रावकः, गुरु से जिन प्रवचन सुनने पर श्रावक नाम सार्थक होता है। इस गुण स्थान के आर्त व रौद्र ध्यान मंद होते हैं। श्रावक के षट् कर्म, ग्यारह प्रतिमाएं, १२ व्रतों के पालन रूप मध्यम प्रकार का धर्म ध्यान होता है। यहां तक की साधना का लक्ष्य है श्रेष्ठ श्रावक के जीवन की रचना तथा आगे के संयत जीवन को दृढ़ आधार देना।

(६) प्रमत्तसंयत या सर्वविरत—इसमें पंच महाव्रत सत्य अहिंसा अचौर्य अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का सकल देश पालन आरम्भ होता हैं। वह सर्व सम्यक् चारित्र का आरम्भ है। यहां श्रावक अनागार श्रमण या मुनि कहलाता है। वह स्थूल भावों से भी आगे के सूक्ष्म भावों की ओर गतिमान रहने लगता है। पर फिर भी सर्वथा विशुद्ध चारित्र की पालना व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद होने के कारण नहीं हो पाती। होश बाहर बाहर व ऊपर ऊपर ही रहता है। चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक प्रणय रूप पन्द्रह प्रकार के प्रमाद के ही कारण यह अवस्था प्रमत्त संयत

कही जाती है। संयत का अर्थ है जिसने संयम के अर्थ पंच महाव्रतों को अंगीकार किया है। दोषों से व प्रमाद या असावधानी से यह आत्मोपयोग में अनुद्यत रहता है। यह साधक नीचे भी आ पड सकता है—वरना भावोत्कर्षों की परिस्थिति के अनुसार अपने को ऊपर सातवें गुणस्थान में चढ़ा ले जा सकता है। इसमें परिणामों की निर्मलता की तारतम्यता कारण होती है। इस गुणस्थान में ही साधक के एक हाथ प्रमाण स्फटिक—प्रभामय सूक्ष्म आहारक शरीर बाहर निकलता है। इस गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का अभाव होने से उसके निमित्त से होने वाले कर्मों का संवर हो जाता है और आगे भी आस्रव नहीं होता। संयत आत्मा व्रतों की रक्षा के लिए पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ठ प्रवचन मातृका का पालन करते हैं। संसार दुःखों से भीत प्राणियों का संयम धर्म दीक्षा (प्रव्रज्या) ही दुःखों से मुक्त होने में कारणभूत होती है। इस भूमिका में मंद रागादि के रूप में प्रमाद रहता है, प्रमाद की छाया पूर्व से रहे संस्कारों के कारण अचेतन मन में रहती हैं।

(७) अप्रमत्त संयत— प्रमत्त संयत गुण स्थान में रहे व्यक्त अव्यक्त सब प्रकार के प्रमाद का अभाव होकर गुणश्रेणी का आरोहण अप्रमत्त विरत कहा जाता है। यहाँ पांच महाव्रतों, मूल गुणों, और शील रूप उत्तर गुणों का पालन प्रमाद रहित होकर होता है। यह स्व—पर के ज्ञान से युक्त है। इसमें साधक की आत्म साधना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधना एक रस परिणामी बन जाती है। यह कषायों का अनुपशमक या अक्षपक होते हुए भी ध्यान में निरन्तर लीन रहता है, प्रमाद दोष के परिहार से आत्मसाधना में अब संलग्नता होने लगती है। ऐसा यति जीवन सर्वस्व त्याग में ही सम्भव होता है। वह दश प्रकार के धर्म, आठ प्रकार की शुद्धि और तेरह प्रकार के चारित्र में उद्यम शील होता है। छः गुण स्थानों को उल्लंघन कर अप्रमत्त गुणस्थानी आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बंध को करता है।

वाह्य तथा अन्तर—इन दोनों परिग्रहों का त्याग हुए बिना विरत (यति) साधना सम्भव नहीं होती। यति अनंत चतुष्टय आत्मा की अखंड साधना में अपने को समर्पित किये रहते हैं। यह उनकी सर्व संलग्नता शुद्ध देव, शुद्ध गुरु तथा शुद्ध धर्म मय निज आत्मास्वरूप के रमण में रहती है या रहनी चाहिये। देशविरत का स्थूल त्याग तथा सर्वविरत का सूक्ष्म त्याग यानी सर्व रूप से त्याग त्रय शल्यों से रहित त्याग होकर व्रतों का पालन होता है। गृहस्थ जन, राजा, व क्षत्रिय तो व्रतों का एक देश लेकर ही पालन कर सकते हैं। तथा अणुव्रती को आरम्भी हिंसा का त्याग होता है, मगर उन्हें युद्धादि के निमित्त विरोधी हिंसा का त्याग नहीं होता। सर्व विरत (प्रमत्त संयत) बाह्य तथा अन्तरंग दोनों प्रकार से विभाव भावों को निवृत्त करके निर्ग्रन्थ हो जाता हैं। वह पाणी पात्र शुद्ध भोजन ग्रहण करने वाला, सर्व आरंभ क्रियाओं का त्यागी, एकांत सेवी, आत्मध्यान तत्पर, शास्त्र तथा स्वाध्याय एवं धर्मोपदेश में निरत रहने वाला होता है। ऐसा साधु मुनि होकर भी आत्म—स्वरूप में जो सावधानी—अप्रमाद होना चाहिये, नहीं हो पाती—उसे भी आहार लेना, गमनागमन करना, आदि रूप से प्रमाद या असावधानी रहती है, अतः ही वह प्रमत्त संयत कहा जाता है। छठे व सातवें

गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। ध्यान में परम विशुद्धि पर यही ऊपर के गुण स्थान में चढ़ सकता है।

जब इसे प्रमाद नहीं रहता, परिपूर्ण सावधानता रहती है तो यह अप्रमत्त विरत होता है। इसके भी दो भेद होते हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त।

(१) स्वस्थान अप्रमत दशा वाला जीव छठे से सातवें में और सातवें से छठे गुण स्थान में इस प्रकार चढ़ने उतरने रूप झूला झूलता रहता है।

(२) सातिशय अप्रमत्त दशा वाला यहां से ध्यानस्थ होकर ऊपर-ऊपर ही चढ़ता है। उसके ऊपर चढ़ने के दो प्रकार होते हैं। उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी। मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय के लिए यह अधःप्रवृत्तकरण का आरम्भ करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम आठवें व नवें गुणस्थान में होते है।

(१) उपशम श्रेणी—चढ़ने वाला जीव चारित्र मोह का उपशम करके क्रमशः ८, ९ और १० गुण श्रेणियों को पार करता हुआ, ११वीं गुणश्रेणी उपशांतमोह पर पहुंच जाता है। परन्तु फिर उसका ऊपर चढना रूक जाता है। उसका मार्ग दबे हुए चारित्रमोह के कारण अवरूद्ध होता है और प्राकुतिक नियम से उसे वापिस लौटना पड़ता है। क्योंकि जो कषायें विद्यमान और शांत थी, उदय में आ जाती हैं। जीव की निर्मलता के परिपाक के लिए यह आवश्यक ही है। ऐसा मल पाक साधक के ही हित के लिए होता है, वरना उनका मार्ग आगे कभी खुल नहीं सकता है।

(२) क्षपक श्रेणी—इस श्रेणी में साधक आत्म निरीक्षण के द्वारा अपने समस्त कषायों को उप शांत नहीं, ज्ञान भाव से क्षीण करके, नाश (क्षय) करके ८, ९, १० वें गुण स्थान में चढ़कर नियम से एकदम १२ वें गुणस्थान "क्षीणमोह" में जा चढ़ता है और फिर वहां से वापिस नहीं लौटता। वह १३वें गुणस्थान की तरफ ही परिणामशुद्धि के साथ आगे बढ़ता जाता है। श्रेणी चढ़ते समय परिणामों की तीन अवस्थायें होती हैं। (१) अधः प्रवृत्त (२) अपूर्व और (२) अनिवृत्त।

गुण श्रेणी आरोहण में जीव के क्रमिक विकास की बात नहीं है—अर्थात् यह (Evolutionary) विकास क्रम नही है। यहां परिणामों की निर्मलता का ही वर्णन है। परिणाम आत्मा के चढ़ते उतरते हैं। अतः यहां विकासवाद के क्रमिक विकास जैसा कुछ नहीं है। पर्याय का उत्पाद ही क्रमिक चलता है और सिद्धों की पर्याय ही सर्व निर्मलता को लेकर उत्पन्न होती रहती है। इस के प्रवाह में ही स्व आत्म लक्ष्य से निर्मलता का प्रवाह होता रहता है। यह निर्मलता भावों या परिणामों के स्वरूपों की होती है। तथा इस निर्मलता का स्वरूप वीतरागता, निःसंगता, निर्लेपिता रूप होता जाता है और इसी कारण आत्मा के स्वरूपज्ञायकता में भी अधिकाधिक स्थिरता होती जाती है। कषाय तथा ममता का क्षय होता जाता है। इनके क्षय होने का क्रम यह है कि कषायों में भी पहले क्रोध का ही क्षय होना आरम्भ होता है और लोभ सब के अन्त में कहीं जाकर निर्बीज होता है तथा ऐसे ही

इनमें पहले अनन्तानुबंधी तथा अन्त में संज्वलन के नष्ट होने का क्रम रहता है। स्व आत्मा के लक्ष्य से अपने परिणामों के स्वरूपों के निरिक्षण, परीक्षण तथा परिष्कार में साधक को सदा जागृत ही रहना चाहिए।

अधः प्रवृत्ति में जीव के परिणामों की विशुद्धि न्यूनाधिक होती है—जीव के आगे के परिणाम पीछे के परिणाम सदृश हो जाते है— यह अधः प्रवृत्ति है। ऐसे ही पीछे से चढने वाले जीवों के परिणाम आगे के जीवों के परिणामों के सदृश हो सकते हैं और भिन्न समयवर्ती जीवां में सदृश हो सकते हैं। अधः प्रवृत्ति करण का अर्थ है नीचे के परिणाम काल की अपेक्षा आगे के परिणामों के समान भी होते हैं। जहां पहले नहीं प्राप्त हुए ऐसे विशुद्धि वाले परिणाम अपूर्व या अपूर्व करण कहे जाते हैं। इस अपूर्वकरण में अपूर्व—अपूर्व परिणाम प्राप्त होते रहते हैं। जहां एक समय वालों के एकसे परिणाम होते हैं उसे अनिवृत्ति करण कहते हैं।

अप्रमत्त संयम में प्रमाद का अभाव होकर ६ कर्मों का संवर होता है—वे असातावेदनीय अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति हैं और अगले किसी गुण स्थान में इनका फिर आस्रव नहीं होता है। देवायु का आस्रव इस गुणस्थान तक सम्भव है। यानी इस स्थान तक धर्म—ध्यान सम्भव होता है।ध्यान में निर्मलता की सातिशयता ही परिणामों में सातिशयता का हेतु होती है। छठे और सातवें गुण स्थान के संयत जीव धर्म ध्यान का विशेष आश्रय लेते हैं अतः वैसी ही विशेष आत्मशुद्धि कर सकते हैं। धर्म ध्यान को अतः सविस्तार व भेद सहित जान लेना अति अति आवश्यक है।

(8) अपूर्वकरण संयम गुण स्थान—इसे निवृत्ति गुण स्थान भी कहते हैं। इसमें साधक सातवें से ऊपर अपनी विशुद्धता में अपूर्व रूप से उन्नति करता है। अध्यवसाय अधिक होते हैं। इस गुणस्थान में जीवात्मा की पांच वस्तुओं की भूमिका तैयार हो जाती है। आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करते समय राग द्वेष की ग्रन्थि का भेदन करता है, उसे भी अपूर्व करण कहते हैं—पर यह अपूर्वकरण गुण स्थान उससे भिन्न है। विभिन्न क्षणवर्ती जिन जीवों के परिणाम अपूर्व हैं और एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हों और विसदृश भी हों—उन्हें अपूर्वकरण कहा गया है। इसमें परिणाम केवल मोहनीय कर्म के उपशमन और क्षपण करने के लिए उद्यत होते हैं—किसी कर्म का उपशमन या क्षपण नहीं होता पर उनकी भूमिका की तैयारी होती है। यह भूमिका निम्न पांच बातों की होती है। साधक में यहां न चेतन मन में, ऊपर ऊपर और न अचेतन मन में भीतर ही प्रमाद रहता है, अतः साधना पूरी हो जाने से अपूर्व अपूर्व अनुभव होने लगते हैं।

(१) मोहकर्म की स्थिति का घात।
(२) रस घात।
(३-४) गुण श्रेणी स्थापन व संक्रमण।
(५) अपूर्व स्थिति बंध।

5424

इन पांच वस्तुओं को जीव ने पहले कभी नहीं किया इसलिये इन्हें अपूर्वकरण कहा जाता है। यह गुणस्थान और इससे आगे बारहवें गुणस्थान तक सब गुणस्थान ध्यानावस्था में ही होते हैं और इनका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

पिछली दो वस्तुओं का अर्थ है कि बंधे हुए कर्म जो उदय में आने वाले तथा रस देने वाले हैं—उन्हें अपवर्तनकरण के द्वारा नियत समय से पूर्व हटा देना और उनके स्थितिकाल को घटा देना तथा तीव्र विपाक रस को मंद कर देना।

गुणश्रेणी स्थापना का अर्थ है कि जिन कर्मों के दलों की स्थिति को घटा कर स्थिति घात किया है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त में स्थापित करना।

गुण श्रेणी के संक्रमण का अर्थ है कि जिन शुभ कर्म प्रकृतियों का बंध अभी हो रहा है—उसमें पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृति को शुभ में मिला देना और ऐसे अशुभ को भी शुभ में संक्रमित कर लेना।

अपूर्वस्थिति बंध का अर्थ है कि जीवात्मा साधक पहले की अपेक्षा अत्यन्त अधः स्थिति के कर्मों को ही बंधने दें।

ये पांच विधान नीचे के गुण स्थानों में भी काम करते हैं—परन्तु इस गुणस्थान में आकर इनकी भूमिका की तैयारी अपूर्व होती है। यहीं इनकी प्रवृत्ति बहुत तेजी से होती है। साधक उपशमन से बढ़ेगा या क्षीण कषाय मार्ग से बढ़ेगा यह इस गुणस्थान में निर्णय हो जाता है। संक्रमण क्रिया में मूलकर्मों का बदलाव नहीं होता। आयुकर्म की प्रकृति नहीं बदलती। इसके स्थिति अनुभाग में ही भले ही फेर बदल हो जाये। दर्शन मोहनीय का चारित्रमोहनीय में फेर बदल नहीं होता। दोनों की अलग 2 अवस्था है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाएं एवं स्वरूप—

कर्म की विविध अवस्थाएं दस हैं—

(1) बंध, (2) सत्व, (3) उत्कर्षण, (4) अपकर्षण, (5) संक्रमण, (6) उदय, (7) उदीरणा, (8) उपशम, (9) निधत्ति, और (10) निकाचना।

(१) बंध—यह कर्मवर्गणाओं का आत्मप्रदेशों में परस्पर एक क्षेत्रावगाह बंधना है। इसमें कर्म वर्गणा का ग्रहण तो मन वचन काय की क्रिया (योग) द्वारा होता है। बंध वस्तुतः अशुद्धोपयोग रूप भावों, इष्ट या अनिष्ट राग द्वेष के निमित्त से होता है। बंध भाव-बंध और द्रव्य बंध दो प्रकार से होता हैं। बंध के चारे भेद हैं—(1) प्रकृति, (2) स्थिति, (3) अनुभाग और (4) प्रदेश। कर्म का स्वभाव उसकी प्रकृति है—यथा ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान को आवृत्त करना है। स्थिति

कालमर्यादा को कहते हैं। जघन्य व उत्कृष्ट रूप होने के अलग-अलग नियम है । अनुभाग फलदान की योग्यताशक्ति है। प्रत्येक कर्म में रस अनुभव न्यूनाधिक रहता है। प्रति समय बंधने वाले कर्म परमाणुओं की परिगणना प्रदेश बंध में की जाती है। एक क्षेत्रावगाही संश्लेषण संबंध होना भी प्रदेश बंध है। जीवात्मा अपने निकटस्थ कर्म-स्कंधों को योग द्वारा अपनी ओर खींचता है और अपने प्रदेशों में ओतप्रोत कर लेता है। नये कर्म–परमाणुओं में चिकनाहट होती है, अतः वे जीवात्मा के पुराने कर्मों से चिपट कर बंध जाते हैं। योग वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मों को ग्रहण करता है।

(२) **सत्व**—आत्मा के साथ कर्म बंधने के बाद तत्काल काम न करके जब तक वहीं सत्ता में वर्तमान रहता है उसे सत्व कहते हैं। वह कब से काम करने लगेगा, वह भी नियमित होता है। जब तक काम नहीं करत्ता उसे आबाधा काल कहते हैं। उदीरणा को छोड़कर साधारण नियम से ही सत्व का कार्य होता है। आबाधाकाल के बाद प्रति समय–एक-एक निषेक काम करता है और विवक्षित कर्म के पूरे होने तक वह चालू रहता है। आयु कर्म की आबाधा का क्रम जुदा कहा जाता है। शेष क्रम समान हैं।

(३) **उत्कर्षण**—कर्म की स्थिति और अनुभाग बढ़ाने की क्रिया उत्कर्षण क्रिया है—यह क्रिया कर्म बंध के समय उस समय सम्भव होती है जब विवक्षित कर्म का पुनः बंध हो रहा हो—तब उसमें बंधे हुए कर्म का नवीन कर्म बंध के समय स्थिति व अनुभाग बढ़ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हैं।

(४) **अपकर्षण**—स्थिति और अनुभाग के घटाने को अपकर्षण कहते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर किसी भी कर्म की स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता है। शुभ परिणामों से अशुभ कर्मों की स्थिति और अनुभाग कम हो जाता है। तथा अशुभ परिणामों से शुभ कर्मों की स्थिति व अनुभाग कम हो जाते हैं।

(५) **संक्रमण**—एक कर्मप्रकृति के परिणामों का सजातीय दूसरी प्रकृति हो जाना संक्रमण है, यथा असाता के परमाणुओं का साता रूप हो जाना। पर मूल कर्मों का परस्पर संक्रमण नहीं होता—यथा ज्ञानावरणी कर्म दर्शनावरणी नहीं हो सकता। आयु कर्म के अवान्तर भेदों का परस्पर संक्रमण नहीं होता, न दर्शनमोहनीय का चरित्रमोहनीय से और न चारित्र-मोहनीय का दर्शनमोहनीय से ही संक्रमण होता है। एक-एक कर्म के भेदों में ही संक्रमण होता है। आयु कर्म का अपने भेदों में भी संक्रमण नहीं होता। ज्ञानावरणी कर्म के पांच भेदों में संक्रमण हो जायेगा, परन्तु मोहनीय के दो भेद दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय में आपस में संक्रमण नहीं होता।

(६) **उदय**—प्रत्येक कर्म का फल-काल निश्चित रहता है। इसके प्राप्त होने पर कर्म के फल देने रूप अवस्था की उदय संज्ञा है। फल देने के बाद उस कर्म की निर्जरा हो जाती है। जितने जाति के कर्म बंधे रहते हैं वे सब एक साथ अपना काम नहीं करते जैसे—साता वेदनीय के समय असाता

वेदनीय काम नहीं करता—तब असाता भी प्रति समय साता रूप ही परिणमन करता रहता है और फल भी साता रूप ही होता है। आबाधा काल के बाद कर्म की स्थिति जितनी समय होती है उतने ही विभाग कर्म परमाणुओं के होकर एक भाग को निषेक कहते हैं। एक-एक निषेक एक-एक समय में आता रहता है और फल देकर नष्ट होता रहता है। संक्रमण रूप क्रिया उदय काल के एक समय पहले ही हो लेती है।

(७) उदीरणा—जो निषेक अभी तक उदय में आने योग्य नहीं हैं, उनको पहले ही उदय में लाकर उदय में आने वाले निषेक में मिला देना उदीरणा है। अर्थात् कर्म को जल्दी उदय में लाकर खिरा देना है। उदीरणा उन्हीं कर्मों की होती है, जिनका उदय है। अनुदय प्राप्त कर्मों की उदीरणा नहीं होती, तथा किसी को साता का उदय है तो अपकर्षण साता और असाता दोनों का ही होता है—मगर उदीरणा साता की ही होती है। यदि उदय बदल जायें तो उदीरणा भी बदल जाती है।

(८) उपशम—कर्मों की वह अवस्था जिसमें वह निषेक जो अभी उदय में आने योग्य नही हुए हैं तथा जिनकी उदीरणा नहीं हो सकती है, वे उपशांत कहलाते हैं। उपशांत अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण अपकषंण और संक्रमण हो सकता है, मगर उदीरणा नहीं हो सकती।

(९) निधत्ति—कर्म की वह अवस्था जो उदीरणा और संक्रमण के अयोग्य होती है—निधत्ति कहलाती है। निधत्तिअवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण तथा अपकर्षण हो सकता है, किन्तु उसकी उदीरणा नहीं हो सकती, न संक्रमण होता है।

(१०) निकाचना—कर्म के वे निषेक जो अभी उदय में आने वाले या संक्रमण होने वाले या उत्कर्षण अपकर्षण होने वाले नहीं है, परन्तु उनकी उदीरणा हो सकती है, निकाचित कहलाते हैं। कर्म की यह अवस्था निकाचना कहलाती है।

कर्म की एक प्रकृति दूसरी प्रकृति में बदल सकती है। इसे संयोजना भी कहते हैं।

स्पष्ट होता है कि जिन आकाश–प्रदेशों में आत्म-प्रदेशों का अवगाहन रहता है इन्हीं आकाश प्रदेशों में कर्म पुद्गल स्कन्ध भी रहते हैं इन्हें ही जीव ग्रहण कर सकता है। जो कर्म प्रत्यय ऐसे आकाश प्रदेशों में हैं जिनमें आत्मा ने अवगाहन नहीं किया, उनका जीवात्मा के कर्म रूप में ग्रहण या परिणमन भी नहीं होता, जीव उन्हें ही ग्रहण करता है जो वहां स्थित व स्थिर हों।

कर्म बंध : निकाचित और अनिकाचित—

जीव का कर्म बंध दो प्रकार से होता है—निकाचित और अनिकाचित। कर्म बंध के समय कषाय का तीव्र परिणाम तथा तीव्र लेश्या हो तो निकाचित कर्म बंध और मंद परिणाम व मंद लेश्या

हो तो अनिकाचित कर्मबंध होता है। अनिकाचित कर्मबंध हो और बादमें जीव के परिणाम (भाव) बदल जाए तब तप ध्यान आदि से पहले के बंधे अनिकाचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती हैं।

अनिकाचित कर्म बंध तीन प्रकार का होता है स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त। जो कर्म बंध अति शिथिल हो वह स्पृष्ट शिथिल हो वह बद्ध और कुछ गाढ़ा हो वह निधत्त कहा जाता है। जो कर्म बंध सामान्य पश्चाताप आदि से टूट जाये वह स्पृष्ट, जो विशेष आलोचना आदि से टूटे वह बद्ध और जिसे तोड़ने में विशेष अभ्यासादि करना पड़े वह निधत्त कर्म जानना चाहिये। जिस कर्म बंध का बिना फल भोगे छुटकारा न हो वह निकाचित कर्म बंध होता है। अशुभ कर्म का निकाचित बंध हो तो जीव को बहुत ही प्रकार की यातना सहन करनी पड़ती है जो कर्म हंसते-हंसते बाँध लिए उनसे रोते-रोते ही कभी छुटकारा होता है। अतः निकाचित कर्म बंध से बचना चाहिए। तीव्र अध्यवसाय (परिणाम) से निकाचित कर्म बंध होता है। अनिकाचित कर्म बंध में शुभ परिणामों द्वारा परिवर्तन हो सकता है पर निकाचित में बंध के बाद कोई परिवर्तन नहीं होता—अतः तीव्र अध्यवसायों के प्रति सावचेत रहने को ज्ञानी पुरुषों की शिक्षा है। मोह तथा राग एवं कषायों को अशुभ तथा शुभ भावा-आकाशों में विचरण ही भव-संसार में विचरण का हेतु है, क्योंकि इन अशुभ व शुभ भाव-आकाशों में ही आत्म प्रदेशों के साथ अनात्म कर्म—पुद्गल संघात तथा परमाणुओं का अवगाहन है अतः उनमें अस्तित्व तथा बंध सम्भव होता है। जब आत्मा शुद्ध निस्पृह निर्लिप्त वीतराग भाव गगनों में विहार करता है—जो मात्र शुद्ध ज्ञायक व ज्ञान गगन है तब वहां कर्मास्रव तथा कर्मबंध सम्भव ही नहीं होते वहां तब असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा ही घटित होती है और सम्पूर्ण कर्मनिर्जरा के उपरांत मात्र शुद्ध तथा अबंध (कर्मश्लेष रहित) दशा ही सर्वदा के लिए रहती है। बंध का फिर कोई हेतु भी शेष नहीं रहता—तब भव भ्रमण सदा के लिए समाप्त ही हो जाता है।

जैन शास्त्रों ने पौद्गलिक कर्मवर्गणाओं, मनोवर्गणाओं और मन के संयम-नियन्त्रण आदि का सूक्ष्म अध्ययन करके इस अध्ययन का, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग अर्थ वाले निषेक समूहों के आगमन, संचय, विलयन, परिवर्तन, निर्गमन उदय सम्बन्धी चित्रण गणितीय जानकारी में किया है। जैन कर्म व्यवस्था वस्तुतः मौलिक है, आज के मनोविज्ञान की गवेषणाओं से भी समर्थित है। यह कर्म व्यवस्था वैदिक उपज नहीं, जैन दर्शन की ही देन है, क्योंकि वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना भी नहीं थी—ये भी जैन चिंतन से उपनिषद् काल में स्वीकृत हुई है।

अपूर्वकरण गुण-स्थान के समय जीव पांच वस्तुओं का विधान करता है। यह ऊपर कहा गया है। जब परिणाम (भावों) की अपूर्वता होती है तो ऐसी आत्म शुद्धि की प्राप्ति होती है। कि वहां रहा सहा मोहबल क्षीण या उपशमन किया जा सकता है और इसका उद्यम भी होता है। इसमें भावों की अर्थात् अध्यवसायों की विषयों की ओर से पलटने की क्रिया विद्यमान रहती है। अतः इसे निवृत्ति गुण-स्थान भी कहते हैं। इसमें परिणामों की विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही रहती है। अतः अपूर्वकरण नाम भी है। भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों की अपेक्षा विसदृश्यता रहती है। लेकिन एक समय वर्ती जीव

में सदृश्यता तथा विसदृश्यता दोनों ही सम्भव होती है । छठे और सातवें गुण स्थान में धर्म ध्यान सुसिद्ध होने के बाद इस गुण स्थान से शुक्ल ध्यान की भूमिका का आरम्भ होता है । शुक्ल ध्यान का सम्बन्ध आगे के गुण स्थानों के साथ भी है ।

देवायु का आस्रव सातवें गुण स्थान तक सम्भव होता है—आगे नहीं इसलिए आठवें गुणस्थान में उसका संवर होता है ।

निद्रा और प्रचला का आस्रव आठवें गुण स्थान के कुछ भाग तक सम्भव है—आगे उसका संवर हो जाता है । हास्य, रति, भय, जुगुप्सा,—इनका आठवें गुण स्थान के अन्तिम भाग तक आस्रव होता है । अतः इनका संवर आगे के गुण स्थान में होता है ।

देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, समुचतुर्स्र संस्थान, वैक्रियक आंगोपांग, आहारक आंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरूलघु, अपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इनका आठवें गुण स्थान के कुछ और आगे के भागों तक आस्रव सम्भव है और आगे इनका संवर हो जाता है ।

९. अनिवृत्तिकरण संयत (बादर सांपराय) गुणस्थान

यह गुण स्थान आठवें से भी अधिक उन्नतिशील होता है । अध्यवसायों की भिन्नता नहीं होती अतः अनिवृत्ति कहा गया है । यहां एक स्थानवर्ती जीवों के प्रति समय एक समय एक ही परिणाम होते है । भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा विषमता होती है । बादर का अर्थ है स्थूल, तथा सांपराय का अर्थ है कषाय । इस श्रेणी में दृष्ट, श्रुत और भुक्त की विषयाभिमुखता नहीं होती, भाव पुनः विषयों के तरफ नहीं लोटते । बादर (स्थूल) कषायों के शमन या क्षपण में आत्मा के तत्पर रहने से इसे अनिवृत्ति बादर सांपराय कहते हैं । इस गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त प्रमित काल में से विवक्षित किसी एक समय में अवस्थित जीव संस्थान (शरीर का आकार) आदि की अपेक्षा जिस प्रकार निवृत्ति या भेद को प्राप्त होते हैं, उस प्रकार परिणामों की अपेक्षा परस्पर निवृत्ति को प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् वे सब समान होते हैं । आठवें गुणस्थान में तो अध्यवसाय विविध प्रकार के रह सकते हैं । परन्तु इसमें जीवात्मा सम समयवर्ती होता है, इसके अध्यवसाय एक से ही होते हैं उनमें भेद या विषमता नहीं होती । भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा विषमता होती है पूर्व के गुणस्थानों से आगे-आगे के गुण स्थानों में विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होती जाती है । इस विशुद्धि के बढ़ने के कारण अध्यवसायों की विबिधतायें, भिन्नतायें कम होती जाती हैं । इस गुण स्थान के प्राप्त करने वाले या तो उपशम क्षेणी के होते हैं, या क्षपक (क्षय करने वाली) श्रेणी के होते हैं । इस गुण स्थान के जीव अपने निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखाओं से मोह रूप शत्रु का क्षय करते हैं या उपशम करते हैं । परिणामों की विशुद्धि समान रूप से बढ़ती जाती है । भिन्न समयवर्ती जीवों में

विसदृश्यता तथा एक समयवर्ती जीवों में सदृश्यता ही पायी जाती है। समकाल पर आये हुए सब जीवों के परिणाम परस्पर समान होते हैं। इस तरह हर समय अनुक्रम से अनंत गुण विशुद्ध अध्यवसाय समान ही होते हैं। इसमें नवें गुणस्थान में होने वाले परिणामों से आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गुण श्रेणी निर्जरा, गुण-संक्रमण, स्थिति-खंडन और अनुभाग खंडन होता है और मोहनीय कर्म के बादरकृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि आदि अनेक कार्य होते हैं। यहां मोह रूपी महा चट्टान के छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते हैं। समता का बोध उत्पन्न होता है और इस समता से विशेष विशुद्धता आती हैं। यहां अभेद आरम्भ होता है, व्यक्तिगत भेद समाप्त होकर सभी साधक समान हो जाते हैं।

इस नोवें गुण स्थान तक यथा सम्भव पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का आस्रव रहता है—इसलिये इससे आगे इनका संवर हो जाता है। यहां एक संज्वलन लोभ ही शेष रहता है। मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बंध को यह नवमा गुणस्थान अनिवृत्तिकरणधारो करता है।

१०. सूक्ष्म सांपराय संयत गुणस्थान—

इसमें परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि होती है। मोहकर्म का अवशिष्ट कषाय उपशम या क्षय को प्राप्त होता है। केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से बाकी रह जाती है, अतः ही इसका नाम सूक्ष्म सांपराय है। इस गुण स्थान में उपशम तथा क्षायिक दोनों श्रेणी वाले आते हैं। इसमें चारित्रमोह कर्म के लोभ कषाय के अलावा अन्य कषायों का उदय ही नहीं होता। जिस प्रकार धुलने के बाद भी कसुमली रंग वाले वस्त्र में भीतर से सूक्ष्म रक्त-लालिमा की छाया सी रहती ही है वैसे ही सूक्ष्म राग सहित जीव को सूक्ष्म कषाय (सांपराय) का पूर्व संस्कारों का अवचेतन मन में रहना जानना चाहिए। दसवें गुण स्थान तक पांच ज्ञानावरण, शेष चार दर्शनावरण, यशः कीर्ति, उच्च गोत्र और पांच अन्तराय इन १६ प्रकृतियों का आस्रव होता है—अतः आगे के गुण स्थानों में इनका संवर होना कहा जाता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय—इन छः कर्मो को उत्कृष्ट बंध यह दसवें गुणस्थानवर्ती आत्मा करता है। यहां उत्कृष्ट योग होता है।

साधक विशेष चारित्रबल से प्रमाद-अप्रमाद के संघर्ष में विजयी होकर अप्रमत्त होता है। फिर अपूर्वकरण में अपूर्वता से मोह–बल को नष्ट करता है। फिर स्थूल कषाय नष्ट होते हैं व अन्त में सूक्ष्म कषाय। अप्रमत्त के योग से अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमहोनीय, सम्यक्त्व मोहनीय सातों कर्म प्रकृतियां को क्षय करके चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस प्रकृतियों को जिनमें आत्मा का अनन्त चारित्र ढका है, क्षय करने की तैयारी के समय वह अपूर्वकरण गुणस्थान का स्वामी हुआ। फिर आठवें में मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों को वह निर्बल करता है। इनमें से २० का तो नवें में नाश ही कर देता है, और इक्कीसवीं का अधिकांश भाग भी यहां नवें में नष्ट कर देता है। बाकी बचे २१ वीं प्रकृति के भाग को इस १०वीं गुण श्रेणी में नष्ट कर देता है। इस गुणस्थान की भी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

११ उपशांत मोह या उपशांत कषाय गुणस्थान

इसे वीतराग छद्मस्थ गुण स्थान भी कहते हैं। कतक फल सहित जल या शरद काल में सरोवर का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार जिसका संपूर्ण मोहकर्म सर्वथा उपशांत हो गया है ऐसा इस गुण स्थान वर्ती जीव निर्मल परिणाम वाला होता है। इस श्रेणी में जीव की उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जब साधक कषायों को नष्ट न करके मात्र शांत करके आगे बढ़ता है और मोह व विषय वासना क्षय न होकर उपशांत व दबी सी ही रह जाती है, यानी सत्ता में कषाय विद्यमान रहती है, तब उसका उदय हो जाता है और साधक जीवात्मा अपने परिणाम व गुण श्रेणी से नीचे पतित हो जाता है। उपशम से होने वाली आत्म-परिणाम-विशुद्धि कुछ काल तक ही रहती है, अनन्तर परिणामों में कषाय व मोह का उदय होकर अशुद्धि का होना अवश्यंभावी हो जाता है तब साधक नीचे श्रेणी में गिरता है। यहां से गिरने वाला छठे, सातवें, पांचवें चौथे या पहले गुणस्थान तक में पहुंच जाता हैं।

१२ क्षीण–मोह या क्षीण-कषाय गुणस्थान

यहां कषायें व मोह बिल्कुल क्षीण व नाश हो जाते हैं। जिसका चित्त स्फटिक के समान या विमल भाजन में रक्खे हुए सलिल के समान स्वच्छ हो गया हैं—ऐसे निर्ग्रन्थ साधु को क्षीण कषाय संयत कहा गया है। जिस प्रकार निर्मली, फिटकड़ी आदि से स्वच्छ किया हुआ जल शुद्ध स्वच्छ स्फटिक मणि के भाजन में नितरा लेने पर सर्वथा निर्मल व शुद्ध होता है उसी प्रकार इस गुणस्थान में जीव निर्मल स्वच्छ शुद्ध परिणाम वाला होता हैं। यहां चारित्र यथाख्यात होता है, पर अभी केवल ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। उपयोग में आनंद, स्थिरता और विशुद्धता बहुत बढ़ जाती है। इस गुण स्थान तक ही आत्मा साधक एवं अन्तरात्मा रहता है। अब वह उर्ध्व चढ़ाई को ही करेगा—वापिस नीचे पतन का कोई हेतु नहीं रहता। यहां तक धर्म-मेघ समाधि हो जाती है—अर्थात् आत्मा के विशुद्ध भावों के धर्म रूप मेघ वर्षा लूम झडियों की तरह निरन्तर बरसते हैं। यहां प्रज्ञा प्रखरतर हो जाती है। बाहर की तरफ प्रज्ञा न होने से यह असंप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। तब प्रज्ञा का मुख स्व आत्मा के ही स्वभाव में ही संलीन रहता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्तमुर्हूर्त है। इसके अन्त समय में शेष तीन घाती कर्मों का नाश होता हैं। चरम शरीरी के तीन आयु की सत्ता का स्वतः अभाव हैं।

क्षपक श्रेणी का क्रम (संक्षेप में)—

(१) चौथे गुण-श्रेणी से सातवें गुण श्रेणी (अप्रमत्त विरत) तक अनन्तानुबन्धी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) तथा दर्शनत्रिक् (मिथ्यात्व, मिश्र और समयक्त्व मोहनीय) इन ७ प्रकृतियों का क्षय होता है।

(२) आठवें में किसी प्रकृति का क्षय नहीं होता है।

(३) नोवें गुण स्थान में ३६ प्रकृतियों का क्षय होता है, तेरह नाम कर्म की क्षय होती है, चार प्रत्याख्यानावरणी और चार अप्रत्याख्यानावरणी का क्षय तथा नपुंसक, स्त्रीवेद, व पुरुष वेद व संज्वलनक्रोधमान माया का भी क्षय होता है। स्त्यानगृद्धि त्रिक् दर्शनावरण की तीन क्षय होती हैं।

(४) दसवें में संज्वलन लोभ का शेष भी क्षय हो जाता है।

ऐसे बारहवें "क्षीण मोह" गुणस्थान में सम्पूर्ण कषाय व मोह का नाश होकर वीतरागता का उदय होता है। यहां संसार के प्रमुख कारण "मोह" का नाश हो जाता है।

छठे गुण स्थान तक वन्द्य वन्दक या पूज्य पूजक भाव रहता है, सातवें अप्रमत्त गुण स्थान में आत्म भाव का परिचय तथा अनुभव ऐसा हो जाता है कि प्रमत्त भाव होता नहीं। और मैं वन्दक या वन्द्य ऐसा भाव नहीं रहता। मैं वन्दना करने वाला और वह परमेष्ठी मेरा वन्द्य ऐसा भाव केवल प्रमत्त गुण स्थान पर्यन्त ही रहता है। असाता की उदीरणा की व्युच्छति भो छठे गुण स्थान में है। सातवें में क्षुधादि वेदना का अभाव है। जिस समय ध्याता योगी श्रेणी चढ़ता हैं तो सातिशय अमप्रत्त गुणस्थान में अधः करण के प्रारम्भ में ४ बातें अवश्य ही होती है। (१) प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि (२) स्थिति बंध का घटना (अपसरण) (३) सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों में अनन्त गुणकार रूप रस का वर्धित होना ओर (४) असाता आदि अशुभ प्रकृतियों का रस अनन्त गुण घट कर दो स्थान रूप रह जाना।

इसके बाद अपूर्वकरण में चार बातें अवश्य होती हैं। (१) निर्जरा, (२) गुण श्रेणी संक्रमण (३) स्थिति खण्डन (४) अनुभाग खण्डन, इनका ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके प्रभाव से असाता आदि अप्रशस्त कर्म प्रकृति का रस असंख्यातवार अनन्तवां भाग तक घट जाता है तब मंद शक्ति हुए असाता वेदनीय कर्म में परीषह उपजाने की सामर्थ्य नहीं रहती, तथा नवीन असाता कर्म का बंध होता नहीं, अतः सप्तम गुणस्थान से आगे एक साता वेदनीय का ही बंध रहता हैं और असाता का वन्ध होता नहीं। इस स्थान पर अति मंद उद्यम वाला असाता कर्म अपना कार्य करने में वैसे ही समर्थ नहीं होता, जैसे मंद उदयरूप संज्वलन कषाय अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रमाद नहीं उपजा सकता तथा जैसे अति तीव्र वेदनीय के उदय में उपजी मैथुन संज्ञा मंद वेद का उदय रूप गुण स्थान में नहीं होती। तथा निद्रा प्रचला का उदय तो बारहवें गुण-स्थान तक द्विचरम समय पर्यन्त है परन्तु उदीरणा के बिना निद्रा नहीं कर सकती है। जागृत अवस्था के बिना आत्मानुभव रूप ध्यान नहीं बन सकता है। वैसे ही असाता की उदीरणा बिना असाता कर्म क्षुधातृषादिक को भी नहीं उपजा सकती है। अप्रमत्त साधु तो इच्छा मात्र भी नहीं कर सकता है। अप्रमत्त साधु इच्छा मात्र भी करेगा तो प्रमत्त हो जाता है।

जीव को स्व सुख का आधार स्वयं ही है। पर जब तक जीव सुख के आधार को अपने से भिन्न पर–पदार्थ को या व्यक्ति को जान कर योग (मन वचन काय की चेष्टा) और कषायों (मनोगत

क्रोधादि भावों) को करता रहता हैं, तो इन ही की परिकलनाओं में अपने लिए अनन्त भवों की शृंखलाओं को उत्पन्न करता रहता है। ये ही निष्कर्म कर्म सिद्धांत का रहस्य है। जीव की प्रशस्ति योग और कषायों की मंदता और क्षय (शून्यता) में हैं, उनकी तीव्रता में हर्गिज नहीं।

संक्लेश सूक्ष्म मनो वर्गणा की उदय उपशम और क्षय-तीन प्रकार की दशा है। इनमें से उदय रूप में चित्त के विमोहित होने से और योग प्रदेश-स्पंदन रूप क्षेत्रों के भंवर में फंस जाने से कर्मावरण चिरकाल तक अपनी लीला दिखाता रहता है। मनो वर्गणाएं मंद रागद्वेष रूप उपशमित होने पर ही ज्ञान की ओर जिज्ञासा पर अपेक्षतया विशुद्धि की द्वार तक आती हैं—इनमें आस्रवादि साता रूप चिरकाल तक के लिए होना संभव होता है।

जब न योग व न कषाय ही जीव में रहते, तो अबन्ध निर्मल व कर्मकालिमा रहित मनोवर्गणाओं से परे जीव अपने ही आत्म लोक का सुख भोगता है। कर्म और जीव का सम्वन्ध उन परमाणुओं के प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग, और स्थिति के सम्वन्ध हैं, जो जीव ने स्वयं आप ही बोये, कमाये, संग्रह किए और वेदे हैं। ज्ञानी इसी रहस्य को जान कर इनको वेदता नहीं, वह न कर्म चेतना में होता, न कर्म फल चेतना में—वह तो अपने को ज्ञान चेतना में जागृत रखता है। अतः वह नये प्रकार का दल दल उत्पन्न नहीं करता जिसमें वह स्वयं फंसे। ऐसे जो भी कर्म पुद्गल वर्गणाओं की गणित को जान लेता है वह अपने चैतन्यता के ज्ञान के ही आधार पर टिकने का प्रयास करता है। ज्ञान में न इच्छा है, न राग है, न द्वेष है—न मोह है, न कषाय है। ज्ञानी अतः अप्रमत्त हो जाता है, मोह के मद से रहित अप्रमत्त हो जाता है, यानी अपने आप में पूर्ण जागृत हो जाता है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म की तरफ दृष्टि भी नहीं डालता,—न उनके विपाक से हुए सुख दुःख साता असाता पर टिकता, वह तो ज्ञान से इतर किसी भी द्वार पर टिकना ही नहीं चाहता। कर्म विपाक के उदय का अनुभव जीव के उद्धार को सम्भव नहीं होने देता। उपशम और क्षय के हेतु वे भाव हैं जो पंच-लब्धि रूप कहे गए हैं। ज्ञानी का ज्ञायक भाव ही क्षायिक भाव है। ज्ञानी अपनी अप्रमत्त दशा में अनुद्विग्न, इच्छा रहित निरिच्छुक पणें रह कर—दृष्टा व ज्ञाता बन कर विचरण करता है। क्षीण मोह व क्षीण कषाय गुणस्थान का जीव वीतरागी कहलाता है। वीतरागी के सुख की कोई उपमा नहीं है।

१३. सयोगी केवली (सदेहमुक्त) गुणस्थान

ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय तथा अन्तराय कर्म का नाश होने से ज्ञान की परिपूर्णता तथा निर्मलता होती है। यहाँ साधक दशा समाप्त हो जाती है। केवल ज्ञान दिवाकर की किरणों के समूह से जिनका अज्ञानान्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, जिन्होंने ९ केवल लब्धियों के उदगम से "परमात्मा" संज्ञा प्राप्त की है और जो परसहाय से रहित केवल ज्ञान—दर्शन के सहित है, ऐसे योग युक्त, केवली भगवान को सयोगी जिन कहा गया है। इन्हें राग द्वेष अब नहीं होता—उनके इस कारण नवीन कर्म बंध भी नहीं होता। जिस प्रकार सूखी भित्ती पर आकर लगी हुई बालुका तत्क्षण

झड़ जाती है इसी प्रकार योग के सद्भाव से आया हुआ कर्म भी कषाय के न होने से तत्क्षण झड़ जाता है। इस दशा में केवली-प्रभु की वाणी खिरती है, धर्मोंपदेश होता है। मन, वचन काय रूप त्रियोग का संवर तो चोदहवें गुण स्थान में होता है। यहां योग प्रवृत्ति होने से ही सयोगी कहा जाता है। ये सर्वज्ञ परमात्मा परम गुरु साधकों के आराध्य, ध्येय और उपास्य हैं। रूपस्थ ध्यान में ये ही ध्येय होते हैं।

संसार बंध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कहे गये हैं—इनका गुण श्रेणी आरोहण में संवर हो जाता है। मिथ्यात्व में तो आस्रव के सब ही निमित्त होते हैं। सासादन में मिथ्यात्व का अभाव होता है। अविरति का अभाव छठे गुण स्थान में होता है। प्रमाद का अभाव सातवें गुण स्थान से होता है। कषाय का अभाव ग्यारहवें गुण स्थान से होता है। योग का चोदहवें गुण स्थान में अभाव होता है। आस्रव का निरोध ही संवर है। तेरहवें गुणस्थान तक योग का सद्भाव रहता है।

गुण श्रेणी आरोहण में कर्म प्रकृतियों का बंध, अबन्ध, तथा सत्त्व-व्युच्छित्तिया "पंच-संग्रह" आदि कर्म ग्रन्थों में बड़ी विवेचनाएं अंक संदृष्टियों सहित दी गई है। ये जैन संतों तथा आचार्यों की सूक्ष्म तथा अतिवेधक मनीषा दृष्टि को इंगित करती हैं। जीव-समास, मार्गणास्थान, तीनों योग तथा गुणश्रेणियों में कर्मप्रकृति की सत्ताएं किस प्रकार बन्धती हैं, किस किस प्रकार अबंध रहती हैं, और किस-किस प्रकार वह कितनी कितनी व्युच्छित्तियां (निर्जरा) को प्राप्त होती हैं, इन सबका स्पष्टीकरण इन ग्रन्थों में है।

तीसरे गुण स्थान, बारहवें गुणस्थान और तेरहवें गुणस्थान में जीव का मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानों में होता है। पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन और चौथा अविरति गुणस्थान मरण के समय जीवके साथ जाते हैं—शेष गुणस्थान मरते समय जीव के साथ नहीं जाते।

१३वें गुण स्थान के सामान्य केवली भव्य जीवों को उपदेश देते हुए गांव गांव विहार करते हैं, केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले अर्हन्त तीर्थंकर तीर्थ स्थापना करके भव्य जीवों के संसार पार होने का एक महान साधन बना देते हैं।

वस्तुतः जो गुणस्थानों का क्रम समझ कर उत्तरोत्तर ऊंचे गुणस्थानों को प्राप्त करेंगे, वे अनन्त सुख के धाम को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दर्शन (रूचिरूप) चौथे गुणस्थान से चारित्र की प्राप्ति बारहवें गुणस्थान के पहले समय में, केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान के आदि में होने पर भी यानी दर्शन ज्ञान की एकता होने पर भी आत्मा का मोक्ष नहीं हुआ। इसका समाधान यह है कि बारहवें गुण स्थान में आत्मा के अनन्त गुणों में से यहां चारित्र गुण की ही शुद्धता हुई है—और अन्य बहुत से गुणों का

विकारी परिणमन शेष रहने से मोक्ष दशा नहीं हुई—अतः सम्यक् चारित्र का अर्थ मात्र एक चारित्र गुण को ही न समझें, बल्कि अव्याबाध, अवगाहना, अगुरूलघुत्व, सूक्ष्मत्व, आदि गुणों का शुद्ध परिणमन भी जानना चाहिये। ऐसे सम्यक् रूप दर्शन ज्ञान और चारित्र की एकता पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

१४. अयोगी—केवली या विदेह-मुक्ति

जो जीव शैल के समान स्थिर परिणाम वाले हैं या जिन्होंने अठारह हजार शील भेदों के स्वामित्व रूप शीलेशत्व को प्राप्त किया है, जिनका आस्रव निःशेष होकर सर्वथा रुक गया है, जो कर्म रज से विमुख हैं और योग से रहित हैं ऐसे केवली भगवान को अयोगी केवली कहते हैं। वे लेश्या से रहित हैं।

विशुद्ध और परिपूर्ण ज्ञान-ज्योति के स्फुट विकास रूप केवल ज्ञान होने के पश्चात् योग की प्रवृत्ति ही बंद हो कर अपने समस्त योग सुमेरू पर्वत की तरह निष्कम्प करके, विशुद्ध शुक्ल परिणाम ज्वाला रूप व्याप्त होकर अनन्त चतुष्टय के विकास सहित, देह से आत्म प्रदेशों का वियोग होकर, सहज उर्ध्वगमनशीलता से सिद्धालय में पहुंच कर स्थिर हो जाते हैं, तब यही विदेह या अशरीरी मुक्ति है। उनकी संसार स्थिति सदा काल के लिए समाप्त हो जाती है और वे अनन्त अव्याबाध शाश्वत अलौकिक आत्म सुख कैवल्य को प्राप्त करते हैं। सयोग से अयोग-केवलि गुण स्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ पांच स्वर-वर्णों के उच्चारण काल जितना ही अल्पकाल होता है। इस गुण-स्थान में आयु कर्म तथा अघाती कर्म अधिक हों तो वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की स्थितियों को समुद्घात द्वारा केवलि अयोगक्रिया से पूर्व ही सम कर लेते हैं।

महात्मा भगवानदीन ने इन १४ गुण स्थानों की संज्ञाओं के भावों को सरल नाम देकर इस प्रकार कहा है—

(१) जड़ मूर्ख (२) गिरने की हालत में (३) ढ़िलमिल यकीन (४) आजादी की लगन वाले (५) कर्त्तव्य शील (६) आराम रूप आलस्य (७) निरालस (८) आत्म-दर्शी (९) समदर्शी (१०) आजादी के लालची (११) दबी हुई खुदी (१२) खुदी का खात्मा (मोह नाश) (१३) जीवन्मुक्त (१४) सिद्ध—ये गुणस्थानातीत हैं, अलेश्य हैं।

सिद्ध (मोक्ष स्थित) आत्मा

णिक्कमा अट्ठगुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएंहि संजुत्ता ।।१४।।[1]

आठ कर्मों से विवर्जित, आठ गुणों से विभूषित और अन्तिम शरीर से कुछ ऊन—वे सिद्ध हैं। उर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र-भाग में स्थित हैं, नित्य तथा उत्पाद व्यय संयुक्त, केवल

---

[1] द्रव्य संग्रह–14

पर्यायों सहित हैं। अर्थात् वे अपरिणामी-परिणामी इस प्रकार सर्व विशुद्ध व परिपूर्ण आत्मा द्रव्य स्वरूप हैं। उनके आठ गुण, सम्यक्त्व, ज्ञान. दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु और अव्याबाध हैं। ये सब अनन्त रूप हैं। उनके अनन्त ही गुण हैं। परन्तु विशेष कर अष्ट गुणों की विशेषता से अष्ट गुण के धारक उन्हें कहा जाता है। उनकी केवल-पर्याय अनन्त गुणों का रस लिये समान-समान रूप से बिना हीनाधिकता, सदा प्रवाहित रहती है। ये सब अत्यन्त शांतिमय, निरंजन, नित्य हैं—कृतकृत्य हैं और लोक के अग्र भाग पर निवास करते हैं।

अयोग केवली के योग का निरोध क्रम—

(१) पहले तो स्थूल काययोग से स्थूल मनोयोग, व स्थूल वचन योग का निरोध करते हैं।

(२) इसके अनन्तर सूक्ष्म काय से स्थूल व सूक्ष्मकाय के योगों को रोक देते हैं। तथा उससे ही मनोयोग तथा वचन योग के भी सूक्ष्म रूपों का निरोध करते हैं।

(३) तत्पश्चात् सूक्ष्म क्रियानिवृत्ति शुक्ल-ध्यान में प्रवृत्त होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म काय योगों को भी निरुद्ध कर देते हैं।

(४) इस ध्यान के आश्रय आत्म प्रदेश शरीरावयवों से आकर्षित होकर ऊपर देह के तीसरे हिस्से मात्र में ही समाये रहते हैं। समस्त चेतना प्रदेश वहीं एकत्र हो जाते हैं। आत्म प्रदेश इससे उदर, हृदय, मुख, तथा ब्रह्मांड में ही स्थिर हो जाते हैं कि जो देह के भीतर पोले भाग हैं।

(५) फिर समुच्छिन्न क्रिया यानी अप्रतिपाति शुक्ल-ध्यान धारण करते हैं। तथा शैलेशीकरण करके वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करते हैं। इस आयु कर्म के छेदन होने से आत्मा ऋजु गति से उर्ध्व की ओर गमन करके सिद्धालय में विराजती है। केवल-समुद्घात के बाद वे शरीर में वापिस सर्व व्याप्त होते हैं। तथा पांच स्वर उच्चारण काल जितने अल्प काल में फिर देह में से देहाकार हुए घन प्रदेशों से ही मुक्ति का वरण कर लेते हैं। उनके पुरुषाकार प्रदेश देह से स्वतः विमुक्त होकर उर्ध्वगामी हो जाते हैं। वे अशरीरी सिद्ध नित्य मुक्त आत्मा हैं।

सम्यक् आस्था का महत्त्व और त्रयात्मक आत्मा

गुण स्थानों के इस क्रम में आत्मा की तीन अवस्थाएं लक्षित होती हैं। (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। गुणस्थान एक से तीन तक में जीव बहिरात्मा होता है। गुणस्थान चार से बारह तक वह अन्तरात्मा सम्यक् ज्ञानी रहता है। गुण स्थान १३ व १४ में वह परमात्मा परिणत होता है।

यह वर्णन आत्मा का भेद पूर्वक या व्यवहार का है। वास्तव में तो आत्मा सदा ही सर्वथा ही निश्चय दृष्टि से निर्मल तथा चिन्मय ही रहता है। विकार या कर्म कालिमा पर्याय में होते हैं जो भाव रूप अज्ञान-दशा है तथा द्रव्य-रूप कर्म-बन्धन है। जीव का अपने निर्मल स्वरूप की तरफ पलटना तब ही सम्भव होता है जब उसे अपने स्व निर्मल स्वरूप की सम्यक् आस्था, निष्ठा तथा रुचि जागृत होती है। यह रुचि ही उसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी बनाती है। यह ही उसके अन्तरात्मा होने का प्रथम सूत्र बनती है। यह ही मूल भित्ति है—स्व साधना की। यह गुण स्थानों में चौथी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। प्रथम तीन भूमिकाएं तो अध्यात्म भूमिकाएं नहीं है, मगर सम्यक्त्व से विपरीत या अपूर्ण दशाएं हैं।

जीव की यथार्थ में सम्यक् आत्म आस्था के बाद ही अन्तर यात्रा करते-करते १२ वें गुण स्थान में जाकर यथार्थ विश्रान्ति की प्राप्ति होती है। दसवें गुण स्थान में मोहनीय कर्म के मोहोदय तथा रागद्वेष कषायों की सूक्ष्मतम परिणतियों को नष्ट करके जीवात्मा भव-भ्रमण के बीज से मुक्त होता है। मोहनीय घाती कर्म के क्षय हुए बिना बाकी के तीन घाती कर्मों से भी छुटकारा नहीं होता। आठ कर्मों को ही मूल प्रकृति कहते हैं। इनके अनेक उत्तर भेद भी कहे गये हैं। मोहनीय कर्म का नाश ही समस्त साधना का रहस्य है—मोहनीय कर्म के नष्ट करने के लिए ही शुद्ध चारित्र की साधना योगानुष्ठान की आवश्यकता है। ज्ञान और वीतरागता का अवरोधक यह मोहनीय कर्म ही है।

जब आत्म उपयोग को स्थूल रूप से ब्रह्मरन्ध्र में तथा सूक्ष्म रूप से स्व ज्ञान स्वभाव में—अपरिणामी नित्य तत्त्व में एकाग्र तथा स्थिर कर देते हैं तो ध्यानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। अहं ही सोऽहं से भी आगे विस्तृत होकर मात्र ज्ञायक व ज्ञान भुवन हो जाता है और मोह का लेश भी तब कुछ नहीं रहता। नित्य द्रव्य व गुण तथा पर्याय का एकत्व निर्मल स्वरूप ही परम सत्ता (Universal Reality) है। प्रत्येक आत्मा ऐसी ही परम (Universal) सत्ता है और अनन्त ही आत्माएं हैं।

लोक में अनन्तानन्त चेतन आत्माओं का एक सतत प्रवाह चला आ रहा है और अनन्त ही आत्माएं निर्वाण पथ की पथिक बन कर अनन्त अक्षय आनन्द धाम सिद्धालय में विराज गई—अनन्त आत्माएं अभी प्रवाह में हैं और वे अपनी स्वच्छन्द गति की प्राप्ति की चेष्टा में है। ये जीवन के विभिन्न प्रगति-बिन्दु स्तरों पर अभी हैं। यह सत्य है कि ये अनादि निर्वाण पर कभी आकर अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति के उन्मुख होंगी और स्व लक्ष्य की ओर उन्मुख होकर ही वे निश्चित ही कालान्तर में लक्ष्य बेध करके शुद्ध सिद्धावस्था की प्राप्ति करेंगी। सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण का मार्ग—उपासना, ध्यान, समाधि और ज्ञान का मार्ग इन्हें अवश्य पवित्र सिद्धावस्था में ही ले जाएगा। जो स्वरूप उन्मुख हो जाते हैं, ज्ञान-ध्यान से अपने को निर्मल परिणमित करने लगते हैं, वे लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन ही कृतार्थ कर लेते हैं। वे स्व तथा पर रूप समग्र विश्व को दर्पण में प्रतिफलित प्रतिबिम्ब के तुल्य अक्रम से, एक ही क्षण में ज्ञान करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करके परमात्मपद को अधिष्ठित करते हैं।

स्व समय

जो आत्मा एक ही निर्मल भाव से निर्मल गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर सदा निर्मल परिणमन करता है, वही सिद्धात्मा है—वही स्व समय है। समयते इति समयः—एक निर्मल भाव से परिणमन करने वाला आत्मा अपने ही समय में है, और वह समय ध्रुव समय है—नित्य समय है। उस समय में भूत वर्तमान या भविष्यत् ऐसे काल खण्ड अभिन्न रहते हैं। वह समग्र अखण्ड (Eternal) स्वरूप है। अतः उसमें फिर स्व संवाद ही है—स्व रमणता ही है, पर-संवाद से उत्पन्न बंधकथा कभी होती नहीं। इसलिये वह ही परम सौन्दर्य भी है। वह ही परम अनन्त सत्ता का सत्य है, परम कल्याण रूप है, और परम सौन्दर्य है। सत्यं शिवं और सुन्दरं—गुण भी उसमें आप ही परिपूर्ण उल्लसित है। उन गुणों की अनन्त शोभा भी उसी से है तथा उसी स्व को प्राप्त करके है। वह वस्तुतः इन सब से भी अधिक ही है, क्योंकि वह अनुपम है, अपूर्व है। किस से उसकी उपमा की जाये ? शब्द सब इस विश्व के ही तत्त्व रह जाते हैं। वह विश्वोत्तीर्ण अनन्त (Eternal and Infinite) है। ऐसी अनन्त अनन्त आत्माएं कर्म क्षय करके सिद्ध परिणमित होकर अपनी Eternal, Universal Reality में Eternal Phenomenon सहित सम रूप परिणमन करती हुई विराजमान हैं। तथा अनन्त ही आत्माएं अपने इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मार्ग में है, अथवा मार्ग में आने के लिए प्रतीक्षारत हैं। निश्चय ही धन्य हैं वे जो स्व स्वरूप की निर्मलता को प्राप्त हो गये हैं। वे ही समग्र रूप से लोक की सब चैतन्य आत्माओं के लिये प्रकाशरतम्भ हैं—अतः वन्दनीय हैं—शत शत वन्दन हैं उन्हें। वे संसार से विरत होकर संसारातिवर्ती हैं, उन्हें उपकार वा अपकार का कोई भाव नहीं है—पर फिर भी वे आदर्श रूप में प्रेरणा स्तम्भ हैं—परम श्रद्धा के लिए आलोक-लोक हैं। ●

५. सर्वज्ञ—अर्हन्तों के चिन्तन–निष्कर्ष विज्ञानों के आलोकों में

- जीव का मृत्यु-भय और अनादिकाल का प्रश्न
- अमृत जीवन का वरण
- मारणान्तिक अनुभवः विज्ञान के शोध
- कर्म सिद्धांत और पुर्नजन्म (एडगर केसी द्वारा जीवन के पठन) अमर जीवन की आस्था और जिजीविषा
- जीवनः चार आयामी
- त्रिविध देह बंधन और विश्व संरचना के समान तत्त्व
- गतिशील चार तत्त्व
- अज्ञान और प्रमाद : बंधन के प्रमुख हेतु
- प्रकम्पन और अप्रकम्पन तत्त्व : बंधन और संवर तत्त्व । काया का ध्यान, प्राण-ब्रह्म का ध्यान, वाचा ध्यान और मन के ध्यान
- देह तत्त्व
- देह पांच प्रकार की—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण
- मन एक अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति
- अपरा ऋद्धि-सिद्धि का निषेध
- सूक्ष्म देहों की संख्या, स्थिति
- सोपभोग और निरुपभोग देह
- मूल तत्त्व अणु पुद्गल, न कि पंच भूत
- प्राण तत्त्व
- व्यक्त जीवन शक्ति—द्रव्य व भाव प्राण रूप ।
- प्राण प्राण-वायु से भिन्न ।
- तैजस देह

- कार्माण देह
- चेतन अचेतन का समानान्तरण व परिपूरक सम्बन्ध और सप्त व पंच तत्त्व निरूपण
- चेतन अचेतन में तीन प्रकार की शक्ति
- अणुओं में स्वैर गति स्वयंभू है
- जीवाणु विभावी अनादि काल से
- अणुओं में शक्ति-तरंगें
- प्राणाणु और कर्मवर्गणा
- तैजस और कार्माण देह : क्रमबद्ध प्रशांत प्रदेशस्थिति रचना, पदार्थ शास्त्र और रसायन शास्त्र
- उदान प्राणवायु का पर्याय
- मन: लब्धि और उपयोग (भावेन्द्रिय) और द्रव्येन्द्रिय
- देह यन्त्र का संचालक मस्तिष्कीय विद्युत प्राण
- भाव और क्रिया का परस्पर समानान्तरण: अजीव तत्त्व का जीव प्रदेशों में संश्लेषण
- प्राण क्या हैं ?
- ज्ञेय और ज्ञायक
- जीव संरचना और विज्ञान का आलोक
- जीव विकास की मंजिले और सप्त तत्त्व-कोष
- मानव विकास की दो और मंजिलें
- प्राकृत (विभाव) धारा और अप्राकृत (प्रतिस्रोत गामी) स्वभाव धारा
- सामायिक, और वैश्विक (ब्रह्मांडीय) तथा आत्मिक संरचना
- मन की संरचना और अमृत प्रवाह का रहस्य
- भाव दशा और देह-ग्रन्थियों का रस निर्भरण के निमित्त से कर्म प्रत्यय के विपाक रस का निर्जरण
- चेतना का उर्ध्वीकरण (रूपांतरण) और देह और मन के द्रव्य और भाव रसों की महत्ता
- देह की उपकारी उपयोगिता
- हाइपोथेलमस, तथा पेरा-सिम्पेथेटिक तथा सिम्पेथेटिक सिस्टम और ध्यान द्वारा अमृत-निर्भरण

- शरीर विज्ञान का आलोक, और तैजस प्राण कुंडलिनी की अमृत रस स्रावी प्रकाश वर्षा
- देह यन्त्र का अद्‌भुत नाडी और ग्रन्थि संस्थान—उसके केन्द्र-अवयव और दिव्य कार्य
- प्राण स्फोट से प्राण गर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन
- विज्ञान—ज्ञान की योग विज्ञान में संगति और व्याख्या
- आत्मा की अमर एवं निर्मल विराट्ता
- साधना की दो विधाएं और उनकी परस्पर पूरकता
- अध्यवसाय निर्मलता से निर्मल ज्ञान स्वरूप और आनन्द
- ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप और भूमिकाएं
- अज्ञानी और ज्ञानी का लोह और स्वर्ण रूपक से चित्रण
- आ० कुंदकुंद की तीन महत्त्वपूर्ण गाथाएं
- ध्यान-अभ्यास के क्रम चरण की अपेक्षा
- दृश्य में रमण का भावः संसार का बन्धन
- ज्ञेय और ज्ञायक, ये दो चुनौतियां ज्ञान की
- सत्य की स्वयं खोज करो और उसे प्राप्त करो
- योग की विशेषता : यथावस्तु वस्तु निरूपण (वस्तु को मात्र देखना।)
- लय बद्ध क्षण की खोज
- अन्तंप्रकाश की अन्तर्यात्रा
- आत्म तत्त्व और तीन वाक्, काय, और चित्त सक्रिय तत्त्व
- विज्ञान के आलोक और अर्हंतों के ज्ञान निष्कर्ष
- पंच परावर्तन शील संसार
- पदार्थवाद का नहीं, चेतनावाद का विजय घोष

जीव का मृत्यु-भय और अनादि काल का प्रश्न

प्राणी जगत् में दुःख के दो ही विशेष हेतु हैं एक तो अभाव का होना दूसरा भय का होना। प्राणी मात्र में जीने की वासना जिसे जिजीविषा कहते हैं अनादि काल से ऐसी दृढ़ रही है कि इसके कारण ही वह अभावों की प्रतीति करता है और संरक्षण के लिए भयभीत रहता है। देह का अनादि काल से ऐसा सम्बन्ध चला आ रहा है कि प्राणी को देह के अतिरिक्त अपनी कोई अन्य अस्तित्व की कल्पना भी कठिन लगती है और इसलिए इस देह रूप के लिए अभावों की पूर्ति व इसके रक्षण में ही निरन्तर पचता ही रहता है। देह ऐसा तत्त्व है कि वह "देहि मे, देहि मे" कहता हुआ कभी थकता नहीं। कितना भी इसे दो, सजाओ और परितुष्ट करो यह बनकर सदा बिगड़ता व बिछुड़ता और फिर प्राप्त होता रहता है। इसका तत्त्व ही ऐसा है कि प्राणी नव देह को जिस क्षण से प्राप्त करता है उसी क्षण से इसके साथ विघटन तत्त्व भी कार्यशील होता है। देह-तत्त्व और सांसारिक-तत्त्व एक ही है, जैसा पिण्ड में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में है। अतः चाहे पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, इस विश्व में उत्पाद और व्यय को लेकर एक सतत् प्रवाह ही चल रहा है। अनादि के अज्ञान के प्रवाह तथा अनात्म द्रव्य मय कर्म के प्रवाह में पड़ा चेतन द्रव्य अनादि काल से भव-भ्रमण के दुःखों को—जागतिक जीवन व अभावों को, और भयों को भोगता ही चला आ रहा है। आत्म विमुखता रूप अपराध के ही कारण जीव को भय रूप दण्ड भोगते ही रहना होता है। दुःखों और भयों में मारणान्तिक दुःख व भय ही अत्यन्त तीव्र होता है—

> इह लोक पर लोक भय मरन वेदना जात।
> अनरक्षा अगुप्ति भय अकस्मात् भय सात।

इस प्रकार सात भयों से भयाकुलित प्राणी को मृत्यु-भय ही सबसे अधिक दुःखकारी प्रतीत होता है। इस तीव्र मृत्यु भय से मुक्ति कैसे हो? यह प्रश्न मानव प्राणी के समक्ष अनादि काल से ही है।

अमृत जीवन का वरण

मृत्यु पर अर्हत पुरुषों ने अपने योग-कौशल से विजय पाई। जब प्राणी मरता है तो मात्र देह ही छूटती है, पर जीवात्मा तो तब भी अन्यत्र वर्तमान ही रहता है। अतः देह छूटने रूप मृत्यु का भय अपने लिये निर्मूल है। जीवात्मा अमर है और मृत्यु तो मात्र देह परिवर्तन है। देह ही छूटती है और छूटे ही गी—क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न एवं आगंन्तुक (संयोगी) वस्तु व्ययशील है। देह से अपनीं भिन्नता और विशिष्टता के परिज्ञान ने योगनिष्ठ अध्यात्म पुरुषों को देह छूटने के काल

(समयसार—नाटक)

में कभी विचलित ही नहीं किया है। वे इसे एक साधारण घटना के समान ही लेकर—अपने ही तत्त्व में समाये अमृत तत्त्व का अनुभव कर गये हैं। वे अनुभव कर गये हैं कि यह जीवात्मा तो उक्त सातों भयों से मुक्त निशंक निर्भय अव्यय व आप अपना रक्षक एवं शरण है। इस अनुभव में ही मृत्यु पर विजय है। जिसे मृत्यु कहा जाता है वह तो मृत्यु पर एक नव जीवन के हेतु यात्रा है—और योगी मृत्युविजय के लिए समाधि मरण करते हैं, अक्षय अमृत जीवन का वरण करते हैं। मृत्यु तो जीवन से तुच्छ ही है। योग जीने व मरने की यथार्थ कला सिखाता है। "मौत है इक नाम बेमानी, जिसको मारा हयात ने मारा"।

मरणान्तिक अनुभव : विज्ञान के शोध

विज्ञान ने अब मृत्यु-विषय को भी अपना शोध का विषय बना लेने में पहल की है और अब भौतिक शास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य शोध कर्त्ता सैंकड़ों ही ऐसे व्यक्तियों के जो किसी दुर्घटना अथवा रोग के कारण व परिणाम स्वरूप मरणासन्न हुए या हृदय-गति बंद व श्वास गति बंद होने पर क्लीनीकली मृत घोषित होने के बाद भी जीवित हो उठे, के अनुभवों को संग्रह कर रहे हैं और इनसे कुछ निश्चित परिणामों पर आ रहे है। अब इन वैज्ञानिकों को मृत्यु के सम्बन्ध में अपने पूर्व विचारों को भी बदलना पड़ रहा है।

डा० एलीजाबैथ कूब्लर रास शिकागो में साइकिएट्रिस्ट (मनो वैज्ञानिक) है। उन्होंने सैंकड़ों ही मृत्यु-सन्निकट व्यक्तियों के अनुभवों को एकत्रित किया है और वे अब मृत्यु विषय पर विश्व ख्याति प्राप्त आथेरिटी हैं। वे अब कहती हैं कि मृत्यु विषय पर कार्य आरम्भ करने से पूर्व मैं मृत्यु के उपरांत कोई जीवन होने पर कतई विश्वास नहीं रखती थी, परन्तु अब मेरा ऐसा विश्वास है और यह विश्वास संदेह के लेश मात्र से भी परे है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में मरणोत्तर जीवन के वर्णन स्वर्ग तथा नरक की स्थितियों में किये गये हैं। वे बड़े विशुद्ध और संशय रहित वर्णन हैं। जीवन की स्थितियां या तो अच्छी हो सकती हैं या बुरी ही—अथवा इनके ही आस पास या मिश्र। इन परिस्थितियों से परे वह स्थिति है जहां न अच्छाई है न बुराई है,—इन दोषों के सम्बन्ध से ही परे है। वह स्थिति ही अमर-स्थिति मानी गई है। अतः अध्यात्म पुरुषों ने उद्घोषणा की कि पुण्य (स्वर्ग) और पाप (नरक) अर्थात् अच्छाई व बुराई दोनों से ही अतीत, मात्र स्व की अवस्था है—अपनी ही निर्विकल्प शुद्ध अवस्था है। इस शुद्ध अवस्था को उन्होंने मुक्ति कहा है। इस प्रकार जीवन की तीन स्थितियां-स्वर्ग ब नरक की तथा इस संसार की मरण शील जीवन की स्थितियां और मुक्त जीवन स्थिति हैं। सांसारीक स्थितियां नित्य स्थितिया नहीं है, इनमें जन्म मरण का सिलसिला रहता हैं, अर्थात् ये अनित्य जीवन हैं। इस प्रकार जीवन के दो ही वर्ग हैं—एक अनित्य जीवन दूसरा नित्य जीवन। जैन विज्ञान ने इसीलिये कहा है—"संसारिणो मुक्ताच"—संसारी अनित्य जीवन है, और मुक्त नित्य जीवन है। ऐसे जीवात्माओं के दो वर्ग निश्चित किये गये हैं। संसारी अनित्य जीवन है। अतः इसमें पूर्व जन्म की मान्यता अनिवार्य रूप से होती हैं और पूर्व जन्म सिद्धान्त की मान्यता की सत्यता सैंकड़ों ही बार इस संसार में बहुत

से लोगों को अपने पूर्व जन्म की कहानियों की सत्यता के विश्वसनीय प्रमाण से सिद्ध भी होती रहती हैं । पूर्व जन्म वृत्त को अनावृत्त करके तीर्थंकर प्रभु लोगों में जीवन के सातत्य में आस्था की स्थापना करते रहे हैं—यह उनकी विशेष शैली रही है । अतः अध्यात्म में पूर्व-जन्म की महत्ता विशेष रही है और पूर्व जन्म की स्वीकारता में मरणोत्तर जीवन की स्वीकृति निहित ही है । पूर्व जन्म के अनावरण से मानव की अनित्य जीवन की वासना क्षीण होती है अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण वाले संसार में परिभ्रमण के जीवन से आसक्ति समाप्त हो जाती है और नित्य अमर सिद्ध जीवन में जी उठने की जिज्ञासा तीव्र हो जाती है । जिनमें ऐसी इच्छा प्रकट न हो उनमें भी इससे मृत्यु-वेदना अवश्य कम हो जाती है क्योंकि वे यह भी जान लेते हैं कि मृत्यु तो मात्र परिवर्तन है और अगली यात्रा का शुभारम्भ है । हां, जो व्यक्ति तीव्र पापों व कषायों में ही जी रहे होते हैं वे अगली यात्रा से अधिक भयभीत होते हैं, क्योंकि उनके पास कोई अच्छाई की आशा-किरण नहीं होती और वे अन्धकार को ही प्रतीत करते हैं ।

डा० रेमण्ड ए० मूडी ने अपनी पुस्तक "जीवन के बाद जीवन" (Life after Life) जिसका सार रीडर्स डाइजेस्ट अगस्त, ७७ में भी छपा है, में सैंकड़ों व्यक्तियों के अनुभव व अनेक घटनाओं का उल्लेख करके मेडीकल सोसायटी को रिपोर्ट दी है । डा० मूडी ने भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारा है और यह कहना न होगा कि डा० मूडी को न अन्ध-विश्वास है, न मिथ्या प्रचार ही उनके अध्ययन का उद्देश्य है ।

पेट का शल्य-चिकित्साधीन एक रोगी मर गया और वह २० मिनट तक उसी स्थिति में रहा और इसके बाद उसमें फिर से जीवन लौट आया । पुनः जीवित होने के बाद उसने बताया कि मृत्यु के समय उसे लगा जैसे सिर से भिनभिनाने की एक तेज ध्वनि हो रही है । एक अन्य स्त्री ने भी मृत्यु समय ऐसी ही ध्वनि होने का उल्लेख किया । एक और व्यक्ति ने मृत्यु अनुभव को इस तरह बताया कि उसे लगा कि वह अचानक ही किसी गहरी अन्धेरी खाई में चला गया है और जैसे उस खाई में एक मार्ग है और वह तेजी से उस पर चला जा रहा है । ऐसे अन्धकार का उल्लेख प्रायः सभी मरने वालों ने किया है । एक हृदय पीड़ित स्त्री का जो अस्पताल में आई थी अनुभव इस तरह डा० मूडी ने लिखा है—

"मुझे लगा जैसे मेरा श्वास रुक गया और हृदय की धड़कन भी बन्द हो गई । मैंने प्रतीत किया कि मैं अपनी देह से निकल गई और पलंग की पाटी पर होती हुई फर्श पर और फिर धीरे-धीरे ऊपर उठकर छत की तरफ चली गई हूं । वहाँ पहुंच कर मैं काफी समय तक अपने शरीर को सीधा बिस्तर पर पड़े व डाक्टरों के कार्य को देखती रही । मेरी देह के चारों ओर डाक्टर थे और वे उसे जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे तभी ही उन्होंने एक मशीन से मेरी देह की छाती पर धक्के देने शुरू किये । उन झटकों से मेरा देह ऊपर उछल रहा था और मैं देह की हड्डियों की चटक साफ सुन रही थी । इसके बाद मैंने शरीर में कैसे प्रवेश किया इसका ज्ञान मुझे नहीं है ।"

एक अन्य महिला ने जो बच्चा जन रही थी और बहुत रक्त निकल चुका था अपना अनुभव यों बताया—

"डाक्टर ने मेरे बचने की आशा छोड़ दी थी और इसकी सूचना मेरे सम्बन्धियों को दे दी थी। जब डाक्टर यह बता रहा था तब ही मुझे लगा जैसे मैं देह से बाहर निकल रही हूं, देह से बाहर आकर मैंने देखा कि कमरे की छत के पास मेरे से वे सभी सगे सम्बन्धी परिचित और मित्र मेरे स्वागत करने को उपस्थित हैं जो मुझसे पहले संसार छोड़कर चले गये थे। मैंने अपनी दादी और और उस लड़की को पहचान लिया जो स्कूल में मेरी सहेली थी। मैं उन सब की उपस्थिति महसूस कर रही थी और वे सभी खुश थे। मुझे अनुभव हो रहा था जैसे वे मेरी रक्षा करने और मुझे स्वागत के साथ घर वापिस ले जाने आये हैं। सममुच ही वे बड़े सुखद क्षण थे।"

डा० मूडी ने जिनका अध्ययन किया उनमें से अधिकांश ने यह बताया कि मृतक अवस्था में उन्हें एक अलौकिक ज्योति के दर्शन हुए, उन्हें लगा जैसे यह ज्योति एक ज्योति ही नहीं, एक व्यक्तित्व है—ममता, स्नेह और स्वागत से भरा अनोखा व्यक्तित्व। एक व्यक्ति ने उन्हें बताया—

"मैंने सुना डाक्टरों ने मुझे मृतक घोषित कर दिया। दूसरे ही क्षण मैं एक प्रकार के अन्धकार में उड़ रहा था। वह एक तरह की एक खाई थी और चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा था। तब ही मुझे एक ज्योति दिखाई दी। इस ज्योति का आकार आरम्भ में छोटा था किन्तु ज्यों ज्यों मैं उसके समीप गया वह अलौकिक ज्योति महा प्रकाश रूप हो गई। यह ज्योति बड़ी सुन्दर व सुखद थी। पृथ्वी पर ऐसी ज्योति की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी व्यक्ति का आकार उस ज्योति में समाहित नहीं था, यह तो एक सम्पूर्श स्नेह और सम्पूर्ण सुख की ज्योति थी।"

डा० कूब्लर रास ने भी कहा है कि मृत्यु कालीन यह अनुभव हैल्यूसीनेशन (मानसिक भ्रान्ति) नही है। "जब एक महिला जो अस्पताल में मृत करार दे दी गई वह पुनः जीवित होकर आपको यह बता सकती है कि उसके मरने के बाद उसके कमरे में कितने व्यक्ति आये, कितनों ने उस पर कार्य किया तो ऐसे में यह निरा हैल्यूसीनेशान कैसे कहा जा सकता है? उस स्त्री के मरने पर न श्वास जारी था, न हृदय या मस्तिष्क में स्पंदन ही शेष रहे थे।"

डा० मूडी ने अनुभवों को अलौकिक, अवर्णनीय व अमिट पाया। डा० मूडी ने लिखा है—

"What is perhaps the most incredible common element in the accounts I have studied & is certainly the element which has the most profound affect upon the individual, is the encounter with a very brilliant being. It was a very definite personality. The love & warmth which emanates from this being to the dying person are utterly beyond words & he feels completely surrounded by it & taken in it, completely at ease & accepted in the presence of this being."

अर्थात् मेरे द्वारा इन अधीत अनुभव कथनों में जो सब में समान रूप से अधिकतम अकल्पनीय और अचरज भरा जो पाया गया और जो निश्चित ही व्यक्ति पर अधिकतम गहरा व दृढ़ प्रभाव छोड़ता है वह यह है कि एक अति प्रकाश—दैदीप्यमान जीवात्मा से साक्षात्कार होता है। एक भी व्यक्ति को इसमें किसी प्रकारका जरा भी धोका या संदेह नहीं कि वह एक प्रकाशमय जीवात्मा (Being of light) था। इतना मात्र ही नहीं, वे इसे एक साकार मूर्त (Personal) व्यक्ति भी कहते हैं। वह एक बहुत निश्चित रूप-स्थ (मूर्तीमंत) व्यक्तित्व लिये था और इस प्राणी सत्ता से जो सुखद स्नेह, अनुराग व प्रेम के भाव व सम्पूर्ण ही सुख की आभा मरने वाले व्यक्ति के प्रति प्रवाहित व संवेदित होती है वह सब तो शब्दातीत ही है। मृत व्यक्ति उस ज्योतिर्मय प्राणी की समक्षता में ऐसा उससे आवृत व उसमें समाविष्ट सा हो जाता है कि सर्वतः निश्चल शान्ति को प्राप्त होकर समर्पित और अभिन्न हो जाता है।"

डा० मूडी की कृति पर समीक्षा करते हुए डा० नोईस ने "दी ह्यूमेनिस्ट" में प्रकट किया कि डा० मूडी के अनुभवों का दस्तावेज बहुत व्यापक तथा अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक निष्ठाओं की तथा मृत्यु सम्बन्धी दो धारणाओं की जो बचपन से अधेड़ अवस्था तक बरकरार रहती है कि मृत्यु तो एक किसी दूर स्थान की यात्रा मात्र है तथा मरने के बाद भी जीव रहता है यद्यपि तब वह हमारे नजर व सम्पर्क से परे है, परिपुष्टि करता है। डा० मूडी के ये लोग जो मृत्युपरांत जीवित हुए हैं अब निश्चित तौर पर जान चुके हैं कि अगली दुनिया का क्या रूप है, क्योंकि ये वहां हो आये हैं। उनके लिये उनका अनुभव प्रामाणिक और इस सम्बन्ध में उनका निश्चय व निर्णय अमिट व अकाट्य है।

इन अनुभवों के समक्ष आज वैज्ञानिकों के पास आत्मा को इन्कार कर देने जैसी कुछ नहीं हैं। वे अब भी आत्मा का अस्तित्व नहीं मानें—पर अब इन्कार भी नहीं कर सकते। विज्ञान के पास आज ऐसे यथेष्ट औजार नहीं है जिनसे मृत्यु पर सीधे शोध हो सके। विज्ञान की प्रगति व इस दिशा में नई रूचि के विकास से ऐसे यंत्रों का चाहे विकास सम्भव हो या न हो पर यह तो है ही कि इन अनुभव अध्ययनों से बीमार या स्वस्थ्य व्यक्तियों को भी बहुत सीमा तक पर्याप्त शान्ति का सूत्र मिल सकेगा। इनका महत्व इसलिये भी माना जाने लगा है कि यह हमें इस बात के लिए भी विचार करने को विवश करते हैं कि हम अपना जीवन अच्छा या बुरा (सदाचार से या दुराचार से) किस प्रकार के तरीके से बनाते हैं। अर्थात् अंतिम परिणति में यह निर्णय आता है कि प्राचीन अर्हत् व आप्त पुरुषों ने जो चारित्र गठन के नैतिक नियम बनाएँ और आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि दी उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय मानव के सुख के लिए नही है। यहाँ जो मृत्यु सम्बन्धी उद्धरण दिये है वे लारेन्स गाल्टेन के एक लेख से साभार लिये गये हैं।

कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म (एडगर कैसो द्वारा जीवन के पठन) आस्था और जिजीविषा

कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म के बारे में पश्चिम में एडगर कैसी को लेकर बड़ी हलचल मची थी। सन् १८७७ में एडगर कैसी अमेरीका के केन्टकी प्रान्त के होपकिन्स जिले में जन्मा था। इसके

आश्चर्यजनक अनुभवों के बारे में कई पुस्तकें यथा डा० जीना सुरजीनारा की "मेनी मेनशन्स" प्रकाशित हुई है। कैसी तन्द्रा की अवस्था में किसी व्यक्ति के पूर्व जन्म का इतिहास पूर्ण विवरण के साथ बताता था—वह यह भी कहता था कि उस अमुक व्यक्ति का नाम यह था और पूर्व जन्म में उसके माता-पिता थे, आदि-आदि जो शत-प्रतिशत सही निकलते थे। कैसी ने सहस्त्रों ही लोगों के जीवन को पढ़ कर बताया कि मनुष्य की वर्तमान की हालत के लिए उसके पूर्व जन्म के कर्म ज़िम्मेदार हैं—जैसा बोओगे वैसा पाओगे। जीवन का एक उद्देश्य है, यह एक सिलसिलेवार आत्माश्रित कड़ी है। मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति से अपने भाग्य को बदल सकता है। मानव का जीवन कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से नियमित है। यह सिद्धान्त सर्व व्यापी स्व प्रेम की मांग करता है—सभी समस्याओं का समाधान स्वयं मानव के ही भीतर है। कैसी ने अनेक लोगों के जीवन को पढ़कर उनको वताया कि वे किस प्रकार अपने पूर्व जन्म के कुकृत्यों का परिणाम अब भोग रहे हैं। डा० गौरीशंकर का कैसी पर लेख—"अनुभव एक अमेरीकी सिद्ध पुरुष का", गणतन्त्र विशेषांक—१९७७ साप्ताहिक हिन्दुस्तान में देखिए।

पुनर्जन्म की सिद्धि वैज्ञानिकों को आत्मा और आत्मा की मृत्यु के बाद भी विद्यमानता पर विचार करने को बाध्य करती है। अमेरिका के विलसा क्लाउड चेम्बर में जीव पर शोध करके पाया गया कि मृत्यु के बाद भी जीव का अस्तित्व विद्यमान रहता है। वह मनोरंजक प्रयोग वर्णित हुआ है। जीव का प्राण तत्त्व ही जीवन के समस्त कार्य-कलाप को नियमित करता है। प्राण तत्त्व सूक्ष्म है पर फिर भी उस सहित जीव पूर्ण रूप से निर्मल और शुद्ध नहीं है। वह प्राण तत्त्व जीव के भाव तत्त्व (ज्ञान भाव तत्व) सहित सूक्ष्म पौद्गालिक आधारों को लेकर ही प्रकट तथा व्यक्त होता है, अतः उसका चित्रण इलैक्ट्रोनिक फोटोग्राफी से सम्भव भी होता है। अमेरीका के प्रयोग में भी यही हुआ है। अपनी अमर कथा की आस्था—जो आज अब पाश्चात्य जगत् में प्रकट हो रही है वह पूर्व जगत् में बहुत पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। पूनर्जन्म की आस्था भी इसी से दृढ़ होती है तथा पुनर्जन्य की अनेक बार अनेक जगह स्मृतियों को प्रकट कर देने वाले मानव जन्म की घटनाएँ असत्य भी नहीं हैं। मानव जानता है कि जन्म हो तो मृत्यु भी निश्चित है—पर फिर भी उसको जीने की अदम्य लालसा और दृढ़ निश्चय रहता है। वह वृद्धावस्था तथा मरण से संघर्ष करता है। यह जिजीविषा भी प्राणी में उसके मौलिक अमृत स्वभाव व पद का संकेत भर करती रहती है।

जीवन चार आयामी

योगीजन अपने हृदय की धड़कने बन्द कर देते हैं—बाह्य जीवन के चिन्ह समाप्त हो जाते हैं और उन्हें क्लीनिकल रूप से मृत घोषित करने के अलावा कोई चारा नहीं दिखता, पर वे फिर अपने को सचेष्ट और सजीवित कर देते हैं। यह चाहे थोड़े काल के लिए ही हों, पर होते हैं आश्चर्य-जनक। वस्तुतः मस्तिष्क में स्थित प्राण ही मानव के जीव को समस्त देह में व्याप्त कर रहने का आधार देते है—जब प्राण मस्तिष्क में सिमट जाते हैं तो हृदय की धड़कने बन्द हो जाती है। मस्तिष्कीय कोशिकाएँ प्राण तन्त्र से संजीवित रहकर प्राणों को आधार देती है। जब तक मस्तिष्क की कोशिकाएँ

तथा हृदय पिंड अक्षुण्ण रहते हैं—प्राणों को तथा रक्त को संचरित होने के आधार मिल जाते हैं और आघात से और दुर्घटना में अकस्मात् बाहर निकल जाने वाले प्राण हृदय गति आदि बन्द हो जाने पर भी उपयुक्त उपचार जारी रहने पर कई अवसरों में देह में वापिस संचरित हो जाते हैं। अमेरिका में प्राणों की मृत्यु पर जो छवि अंकन किया गया उसका ब्यौरा इस तरह कहा गया है—

"इस प्रयोग के अन्तर्गत एक ऐसा बड़ा सिलेण्डर लिया जाता है जिसकी भीतरी परतें विशेष चमकदार होती हैं। फिर उसमें कुछ रासायनिक घोल डालें जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप विशेष प्रकार की चमकदार और हल्की सी प्रकाशीय गैसें फैल जाती हैं। इस गैस की ~~विवेचना~~ विशेषता है कि यदि कोई परमाणु या इलेक्ट्रान इसके भीतर प्रवेश करे तो उसका चित्र शक्तिशाली कैमरे से उतार लिया जाता है।

लम्बाई चौडाई मोटाई रूप तीन आयामी स्थूल पार्थिव जीवन के अतिरिक्त अन्य चौथा आयामी जीवात्मा का स्वरूप होता है। यह कार्ल जुंग जो विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए है, ने अपने एक निजी अनुभव के पश्चात् प्रकट किया है और माना है। सन् १९४४ में दिल के दौरे में जब वे मृत्यु-सन्निकट दशा में थे और उन्हें कैरोमीन के इन्जेक्शन और आक्सीजन दिये जा रहे थे उन्हें अनेक विचित्र अनुभव हुए। वे लिखते हैं—"मैं नहीं कह सकता उस वक्त मैं अचेतावस्था में था या स्वप्नावस्था में, पर मुझे स्पष्ट अनुभूति हो रही थी कि मैं अंतरिक्ष में लटका हूं और अपने से लगभग १००० मील नीचे स्थित येरुशलम नगर को देख रहा हूं। फिर मुझे लगा कि मेरा सूक्ष्म शरीर एक पूजा-गृह के प्रकाश युक्त कक्ष में प्रवेश करने लगा है। मुझे लग रहा था कि मैं निःसीम इतिहास का एक खण्ड हूं और अंतरिक्ष में कहीं भी विचरण की शक्ति रखता हूं। तभी मुझे मेरे ऊपर मंडराती एक छाया दिखाई दी जो वास्तव में मेरे डाक्टर की थी। मुझे लगा मुझसे वह कह रही थी कि मुझे शीघ्र अपने भौतिक शरीर में वापिस लौट आना है। जैसे ही मैने इस आदेश का पालन किया, मुझे पता लगा कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूं और मेरा बन्दी जीवन पुनः आरम्भ हो गया है। इस अलौकिक अनुभव के कारण जो अन्तर्दृष्टि मुझे प्राप्त हुई उसने मेरे सब संशयों का अन्त कर दिया और मैंने जान लिया कि जीवन की समाप्ति पर क्या होता है। इसका तात्पर्य है कि अवश्य ही एक ऐसा चौथा आयाम है जो अनोखे रहस्यों से ओतप्रोत है।"

कार्ल जुंग ने इस प्रकार जिस चौथे आयामी जीवन सत्ता को प्रकट किया और अनुभव किया, वह भी पूर्ण निर्मल शुद्ध स्वतन्त्र आत्म सत्ता नहीं थी—यह स्पष्ट ही है,—वरना पुनः परतन्त्र जीवन के आरम्भ का अवकाश ही कहाँ था। मगर यह भी आत्मा के सापेक्ष सद्-सत्ता का निदर्शन तो था ही—और इससे भी संशयों की ग्रन्थि का विमोचन संभव हो गया और आत्मा वस्तु की असंदिग्ध दृढ़ आस्था प्रकट हुई कि पृथ्वी लोक के जीवन के बाद भी अमर जीवन विद्यमान ही रहता है और इस जीवात्मा का जीवन असीम अनन्त इतिहास है—अर्थात् यह कालातीत अक्षय तत्त्व है। कार्ल जुंग को—(१) निःसीम इतिहास के एक खण्ड रूप स्व का बोध (२) अंतरीक्ष में उर्ध्वगमनशीलता का बोध (३) शून्य में कहीं भी विचरण की स्वतन्त्र सामर्थ्य का बोध—ये आत्मा के सापेक्ष निर्मल गुणों

का ही अनुभव था। डाक्टर के विचारों की छाया, विचारों के उत्प्रक्षेपण को तथा उसके आदेशों का पालन विचारों की शक्ति सामर्थ्य को भी प्रकट करते हैं। विचार तरंगे अन्तरीक्ष को भी पार करके समस्त विश्व-मण्डल में एक साथ फैल जाती हैं। सारे विश्व में व्याप्त हैं सूक्ष्म शब्द वर्गणायें, और विचार तरंगे उन वर्गणाओं पर वहन होती-होती सर्वत्र फैल जाती हैं। उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि पर व्यक्ति या पर वस्तु के प्रति राग भाव (आकर्षण भाव) अपने में सूक्ष्मतम रूप में भी होने पर, उसके अनुरोध से परतन्त्र जीवन आरम्भ हो जाता है।

त्रिविध देह-बन्धन के तत्त्व और विश्व संरचना के समान तत्त्व :—

भौतिक बंधनमय जीवन के तत्त्व और विश्व संरचना के तत्त्व एक ही है। जीवन का बंधन त्रयात्मक देह रूप है। स्थूल देह, सूक्ष्म देह और कारण देह—ऐसे ये त्रयात्मक पाश हैं, देहें हैं। जैन परिभाषा में स्थूल देह नो कर्म कही जा सकती है। सूक्ष्म देह द्रव्य कर्म-वर्गणा रूप है और कारण देह भाव-कर्म रूप है। इन्हें स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम देह भी कह देते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने भी स्थूल देह के अतिरिक्त सूक्ष्म देह का कुछ परिचय पाया है और उन्होंने न्यूट्रानो के सूक्ष्म कणों से इस सूक्ष्म देह का निर्मित होना पाया है। न्यूट्रोनों के कण अदृश्य व आवेश रहित और इतने हल्के पाये गये हैं कि इनमें मात्रा और भार शून्यवत् से ही है। ये कण सदा चंचल हैं, प्रकाश की तीव्रगति से सदा चलते रहते हैं। इलैक्ट्रोनिक माइक्रोस्कोप ने इलेक्ट्रोन अणु में कण और तरंग अर्थात् नित्यपदार्थ और शक्ति या प्रकाश या विद्युत् तरंग की विद्यमानता को प्रकट किया है, यानी अपरिणामी और परिणामी दोनों तत्त्वों की एक साथ ही ध्रुवता को प्रकट किया है।

आश्चर्यजनक ही है कि प्राचीन अर्हंत्पुरुषों ने "द्रव्य" जो आपूर्ण विश्व में व्याप्त है, को कितने सार्थक रूप से द्रव्य शब्द से ही प्रकट किया है। द्रव्य अर्थात् जो द्रवता है और पूरता है अर्थात् द्रवित होकर भी सदा नित्य और अक्षय रहता है—जो अनादि निधन है और किसी के द्वारा रचित नहीं है—वही द्रव्य है। अचेतन द्रव्य पुद्गल है उसका भी अर्थ है जो पूरता है, गलता है और फिर पूरता है—अर्थात जिसकी निरन्तर प्रजातियाँ हैं यानी प्रवाह रूप स्थिरता भी है। अणु-परमाणु रूप द्रव्यों से द्रव्यसंघात या पिंड या स्कन्ध बनता है। वह पिंड कभी भेद द्वारा बिखर भी जाता है। अर्हंत्पुरुषों का यह वर्णन आधुनिक विज्ञान से सम्मत होता है। अणु समुदायों के गर्भ में स्वत: या परत: गति उत्पन्न होती है तब अणु गति-केन्द्र की ओर आकर्षित होते हैं और संकर्षण होकर केन्द्र सन्निकट अणु घनीभूत होकर संघात या स्कंध बन जाते हैं। वह स्कंध अन्य अणुओं को आकर्षित करता बढ़ता ही जाता है और गर्भ केन्द्र पर दबाव की वृद्धि होती है—इसके साथ ही बढ़ते दबाव से उत्ताप बढ़ता जाता है और फिर वह स्कन्ध अग्नि वृद्धि के साथ प्रोज्वलित हो जाता है। अग्नि-उत्ताप से अणु स्कंध फ़िर भेद को प्राप्त होता है, विस्फोटों के साथ प्रोटोन और इलेक्ट्रोन अणु उस उदजन अणु संघात में

से बिखरने लगते हैं। विस्फोटों की शृंखला आरम्भ होती है और एक प्रोटोन के साथ एक इलेक्ट्रोन की स्थिति का अन्त होकर फिर नये अणु-संघात का बनना आरम्भ होता है। प्रोटोन और इलेक्ट्रोन एकाकार हो जाते हैं और न्यूट्रोनों का तब निर्माण होने लगता है। ऊपर से प्रवाहित अणुओं के साथ इन न्यूट्रोनों का संघात होता है और इस संघात से द्वयणुओं की रचना होने लगती है। पुद्गलों के वर्णन में पूर्व में बतला आये हैं कि पुद्गल-स्कंध बनते हैं और बिगडते हैं और पुद्गल परमाणुओं के परस्पर बंधने से स्पर्श गुण के दो अधिक स्निग्ध और रूक्ष गुणांश कारण होते हैं।

सृष्टि-रचना में, पार्थिव स्थूल देह से लेकर, बड़े से बड़े सौर मण्डलों, नक्षत्र–मालाओं और ब्रह्माण्डों की रचना में इन पुद्गल–अणु–परमाणुओं तथा उनके स्कंधों की ही क्रियाशीलता, परिणमन-शीलता और स्पंदनशीलता है। आकर्षण-विकर्षण (ग्रेवीटेशन) के सिद्धान्त के समान या उससे भी गहन तथा विस्तृत द्रव्य की स्पदंनशीलता का सिद्धान्त है। प्रत्येक द्रव्य (पुद्गल) परिणामी है और स्पदंनशील है। स्पदंन के कारण ही द्रव्य में ऊर्जा है और कहा जाता है द्रव्य ऊर्जा का सपिंडन है। दो अधिक स्निग्ध और रूक्ष गुणांश ही संभवतः द्वयणु है जिसे आधुनिक विज्ञान न्यूटेरोन कहता है। ड यह दो अणुओं का एकीकरण है। इलेक्ट्रोन प्रदिक्षणारत रहता है और प्रोटोन केन्द्रस्थ या नाभिस्थ रहता है जिसके साथ न्यूट्रोन संयुक्त होकर नया न्यूक्लोन बनाता है। न्यूट्रोन में विद्युदावेश शून्य होता है पर न्यूक्लोन में विद्युदावेश होता है। ऐसे द्वयणु में विद्युदावेश अणु-समान ही रहता है यद्यपि न्यूक्लोन अणु अपेक्षा भार वाला हो जाता है। सृष्टि रचना में अधिकतर अणुओं के न्यूक्लोनों में प्रोटोनों की अपेक्षा न्यूट्रोनों की संख्या अधिक रहती है। ये न्यूट्रोन ही दो प्रोटोनों के मध्य शून्य-विद्युदावेश होने के कारण आधार रूप होते हैं। प्राचीन मुनिजन इस प्रकार अणु-परमाणुओं के विज्ञान और सृष्टि विज्ञान के रहस्य से परिचित ही रहे हैं। पुद्गल परमाणु की रचना, गुण, स्व भाव, गति, संश्लेषण, विश्लेषण आदि के बारे में उन्होंने विस्तार से चर्चा की है, वह अन्यत्र अलभ्य है।

गतिशील तत्त्व

मानव प्राणों में चेतन आत्मा के साथ गतिशील चार तत्त्व,— देह, द्रव्य प्राण, द्रव्य मन और वाणी (शब्द–वर्गणा) है। मानव जीवात्मा अपनी देह में इन तत्वों सहित बंधन में है अर्थात् उसका बंधन द्रव्य रूप से इन तत्वों का और भाव रूप से स्वयं अपने ही अज्ञान मय, विमोही, कषायी राग द्वेषी भावों का बंधन है। इन द्रव्य तत्वों में चिरतन गतिशीलता से,—स्पदंनशीलता के कारण यह जीवात्मा संसारी देहस्थ अवस्था में कभी शांति को प्राप्त नहीं होता। मानव का व्यवहारी बंधन-जीवन इन ही स्पदंनशील चार तत्वों से संचालित रहता है। अर्हंतपुरुषों ने अतः मानव जीवात्मा के शांति के पथ को इन तत्वों की संवर अवस्था में यथार्थ ही खोज निकाला है। मानव व्यक्ति या वस्तु के प्रति राग-द्वेष अनुकूल-प्रतिकूल भावासक्त होकर अपने निर्मल ज्ञान मात्र भाव मण्डल में भावोद्वेलित होता है तो उसके द्रव्य मन, द्रव्य प्राण, वाणी और देह में भी हलचल होती है और वैश्विक कर्म-वर्गणाओं में से कर्म-वर्गणायें तदनुकूल आकर्षित होकर बंधती है देह, प्राण, मन में और

शब्द-वर्गणामय वाणी में। ऐसे देह, द्रव्य प्राण, द्रव्य मन और वाणी मानव के बंधन में निमित्त रहते हैं। ये निमित्त बनते हैं इस कारण से कि मानव अज्ञानी है, मोही है, उसे निज तत्त्व की न पहचान है, न निज तत्त्व में स्थिरता है।

अज्ञान और प्रमाद बंधन के प्रमुख हेतु

बंधन के अज्ञान और प्रमाद (अस्थिरता) अन्य कारणों में प्रमुख हेतु हैं, अनात्म चार तत्वों के प्रकम्पनों को करने तथा ग्रहण करने में और स्वयं के विभाव—ये ही स्वयं को विक्षुब्ध करने में विशेष हेतु हैं। संचित कर्म-वर्गणाओं के उदय से—अर्थात् कर्म-विपाक पर उसके सुख दुःख रूप प्रकम्पनों से भी अज्ञानी जीव अपने को सुखी दुःखी समझता है। निमित्तो को ग्रहण न कर—उनसे तटस्थ, उदासीन या मध्यस्थ रहकर जब उन निमित्तों की स्पदंनशीलता से जीव अपने को विर्वजित प्रतीत करें तब ही उसे उसकी अनात्म-विमुक्त शुद्ध स्वनिष्ठ अवस्था के आस्वादन का अवसर हो सकता है। तब अपने ही निर्मल ज्ञान व आनन्द भावों में परिणत रहते, स्व छन्द से स्पंदित तथा पर छन्द से विर्वजित निराकुल स्व ज्ञानानन्द अवस्था आस्वादित हो सकती है। यह अवस्था पर से संवरित तथा स्व में निष्ठ शुद्ध आत्म ध्यान अवस्था में संभवती है।

प्रकम्पन और अकम्पन तत्व : बंधन और संवर तत्व : काया का ध्यान, प्राण ब्रह्म का ध्यान, वाचा ध्यान और मन के ध्यान

पर पदार्थों के राग से अप्रकम्पित रहना संवर है। अपने में प्रकम्पनों को बंद करना और बाहर के प्रकम्पनों को भी ग्रहण न करके तटस्थ रहना, मात्र दर्शक ही रहना—यही संवर है। संवर से ही ध्यान का स्वरूप बनने लगता है। एक आसनस्थ निश्चल रहना, स्थूल देह प्राण और इन्द्रियों को स्पदंनशील न होने देना, यह स्पदंन रहित काया का संवर है, काया का ध्यान है। प्राणायाम द्वारा अथवा प्राणअपान की गति पर वृत्ति को स्थिर कर देने के फलस्वरूप प्राण-वायु की सम तथा फिर अस्पदंनशील अवस्था में लेजाना प्राण का संवर है—प्राण-ब्रह्म का ध्यान है। यह भी कायिक ध्यान का ही अन्य अपेक्षतया सूक्ष्म रूप है। वाणी का बाह्य-अन्तर मौन जिसमें सूक्ष्म शब्द वर्गणा का भी आकर्षण तथा विकर्षण न हो वाचा-संवर है, वाचा-ध्यान है। मन जो सदा मैं और मेरे रूप संकल्प-विकल्पों से स्पदिंत रहता है–को प्रथम किसी एक ही प्रशस्त भाव में आविष्ट करके तथा फिर उस संकल्प भाव का भी परित्याग करके स्थिर निश्चल करना मन का संवर है—मन का ध्यान है। ये सब ध्यान मन वचन काया रूप अचेतन द्रव्य के ही ध्यान है। पर इन ध्यानों में अभिप्राय अचेतन वस्तु नहीं है, अभिप्राय है अपनी ही शुद्ध निज आत्म वस्तु का साक्षात्कार। ध्यान में अपने अन्तःकरण गृह के द्वार बन्द किये जाते हैं ताकि न भीतर से बाहर कुछ जाए, न बाहर से भीतर कोई आए। तब आप अपने आप में अकेले केवल रूप ही रह सकें।

जैन ऋषि-योगी जनों ने मन वचन काया के परिस्पंदनों को योग कह कर, इन योगों से मुक्ति रूप अयोग-स्थिति को अध्यात्म की पूर्ण-स्थिति के हेतु बहुत आवश्यक और बहुत निकट माना है। योग का अर्थ जुडना है, जुडना शब्द कपाट जुडने के अर्थ में, बन्द करने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और इस अर्थ में संवर योग ही है। मन वचन काया के प्रकम्पनों को, परिस्पंदनों को रोक देना, बन्द कर देना, संवरित कर देना अयोग रूप योग स्थिति है। साधक को अभ्यास काल में जो मन वचन काया का संवर होता है वह पूर्ण व अखण्ड संवर नहीं होता,—सापेक्ष ही संवर होता है। पूर्ण निरोध —जो स्थूल सूक्ष्म सर्व प्रकार तथा सर्वथा रूप होता है वह देह से विदेह कर दे सकता है और इस जीवन की समाप्ति हो जाएगी। स्तंभन की दशा जो कभी ध्यान में आती है—वह स्थूल स्तंभन ही है, सूक्ष्म क्रिया तब भी अन्तर में, मन में, काया में, और भाव में रहती ही है। आत्मा के प्रदेश इन उक्त चार तत्वों या तीन तत्वों के परिस्पंदन से सापेक्ष मुक्त होते ही अचेतन से विमुक्त, भेद विज्ञान मय अवस्था का भान होता है। तब स्व वस्तु के परिचय व बोध से स्व आनन्द में स्थिर तथा निश्चल होने लगते हैं। उस अवस्था में जीव अपने को सब बाधाओं से निर्मुक्त, जागतिक वस्तुओं से भिन्न, देश काल भाव भव के भावों से अपरिच्छिन्न प्रतीत करता है, तब वर्ण, कुल, जाति, लिंग आदि के कोई भाव नहीं होते।

अर्हंतपुरुषों का कथन है कि सारा विश्व ही सतत् ही पुद्गल द्रव्य से तथा उसके प्रकम्पनों से आपूर्ण व्याप्त है—अतः जीव सदा ही उनके सम्पर्क में है,–वे तो निरन्तर व्याप्त ही हैं, तब उनसे छुटकारा किस रहस्य से हो. तो कहा है कि प्रकम्पन यद्यपि निरन्तर बाहर-भीतर वर्तमान ही है, पर यदि हम उन प्रकम्पनों को ग्रहण न करें—उनसे तटस्थ रहें—उनमें रूचि न लें, अपने अभिप्राय को न बिगाड़ें, सम व मध्यस्थ रहें—मात्र दर्शक रहें–तो उनके रहने पर भी हम तो अप्रभावित ही रहेंगे। वस्तुतः हम तो अपने ही भावों के अनुसार वैश्विक व अनात्म प्रकम्पनों को ग्रहण करके प्रभावित होते हैं। यदि हमारे भाव अशुभ (कलुषित, रागी-द्वेषी, कषायी) होगें तो पाप रूप असाता कर्म-वर्गणा ग्रहण कर हमारा जीवात्मा दुःख भोग के सम्मुख हो जाता है। शुभ भाव-प्रशस्त दया, करूणा, अहिंसा, सत्य, भक्ति व अर्चना आदि रहे तो पुण्य रूप साता कर्म-वर्गणा ग्रहण कर हम लौकिक सुख के सम्मुख होते हैं। मगर इन पाप व पुण्य स्थितियों में हम निराकुल भी कहाँ होते हैं—सदा उद्वेलित ही रहते हैं–आर्त व रौद्र न भी रहें तब भी पुण्य में मंद कषायी तो रहते ही हैं। पाप व पुण्य स्थितियों से भी अतीत होकर ही स्व में प्रशांत और आनन्द रूप विराजमान रहना होता है। पाप व पुण्य दोनों ही लौकिक भव-स्थितियाँ है—यानी भोतिक तथा अति–भौतिक नरक व स्वर्ग की स्थितियाँ है और साता व असाता का मिश्र स्वरूप इस मध्य लोक पृथ्वी लोक के मनुष्य गति की स्थिति है। अतः उपदेश दिया गया है कि अचेतन पदार्थों की मूर्च्छा को तोड़ फेंको—ये ही भव स्थिति में बांध रखती है। रागादि भावों के सम्मुख ही न होवो। मानव वस्तु-उपयोग भले ही करे—पर उसका उपभोग न करे—उसमें राग न करे—आनन्दभाव न करे, आसक्ति न करे,—वासना न हो—उसके प्रकम्पनों से अछूता रहे,—रूचि न ले।

ध्यान में अचेतन के प्रकम्पनों को अस्वीकार करते हैं और मात्र उसके दृष्टा ही रहने का अभ्यास होता है। उनके प्रति अकिंचन रहने तथा वीत मोह व वीतराग रहने का समय और स्थिरता ही बढ़ाते रहते हैं। तब उनके क्षेत्रों का, भावों का अतिक्रमण होकर स्व शुद्ध भावों का,—ज्ञायक ज्ञान मय भाव का पता मिलता हैं। उनमें ही अपनी निश्चलता बढ़ानी होती है। भाव प्राण तथा भाव मन को शुद्ध तथा स्थिर रखो। इस स्थिरता के परिज्ञान के अर्थ ही देहों का, मन का, प्राण का, शब्दादि का विज्ञान तथा रहस्य प्राप्त करना चाहिए। पर पदार्थ तथा पर पदार्थ के भोग के फल तथा इनके परिज्ञान मानव को अपने हित में जानना आवश्यक ही है। प्रत्येक मानव पीढ़ी वर्तमान में जीना चाहती है, अतीत जीवी नहीं होना चाहती, वर्तमान की ही समस्याओं का साक्षात्कार तथा समाधान चाहती है। पर समाधान और साक्षात्कार कर सकने की यथार्थ योग्यता तथा सामर्थ्य उसके अपनी ही शक्ति-बोध व सौन्दर्य बोध से भी अन्तिम निष्पत्ति में जुड़ा ही रहता है और यह बोध जैसा भी कच्चा-पक्का या हल्का या गहन होता है उसके अनुसार ही उस पीढ़ी का अपना युग बोध होता है,—अपनी संस्कृति तथा सुकृति होती है। वह युग बोध अपनी आस्था व आस्था के इतिहास से नितान्त टूटा हुआ भी नहीं हुआ करता, उसकी जड़े अव्यक्त रूप से गहरी भूमिगत ही रहती है। कृत्रिम रूप से इन जड़ों को उखाड़ फेकने में तो वह समुदाय बिखर ही जाएगा और आत्महंता हो जायगा। मानव जीवात्मा सदा के लिए अपने निज तत्त्व से टूटा रह ही नहीं सकता, बंधनकारी विसदृश तत्त्व से संघर्ष कर उसे कभी न कभी निज तत्त्व के प्रति आना ही होता है। मानव जीवात्मा के अनन्त जीवन इतिहास में युग परिवर्तन अनेक बार आए हैं—युग बोध कई बार बदले हैं—पर वह उसका आत्म-बोध जो अग्र परम पुरुष भ० हिरण्यगर्भ ऋषभ प्रभु ने योग-शासन में प्रकट किया है,—सार्वकालिक तथा सार्वभौम होने से सदा अडिग और अचल है।

अचेतन चार तत्त्व या तीन तत्त्वों का संवर मानव के व्यवहारिक जीवन में भी अपना संदर्भ रखता है—संवर से इन तत्वों की ऊर्जाएँ अपव्यय होने के स्थान में संचय को प्राप्त होती है, और मानव अपने व्यवहार में अधिक दक्ष तथा कुशल भी हो जाता है। बिखरा हुआ स्टीम किस काम के उपयोग का हो सकता है—मगर एक स्थान पर निरोधित तथा संचित होने पर वह बड़े-बड़े यान तथा इंजिनों को चालू करने और कार्य करने में सक्षम कर देता है। एकाग्र तथा योगस्थ होकर मानव बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्य तथा शोध आदि कर सका है और करते रहने में वही रहस्य भी रहेगा। क्रिया की पराकाष्ठा यानी सफलता स्व शक्ति को संयम से सुनियोजित करके लगाने पर ही संभव हुआ करती है। संदर्भ भी, कहीं भी क्यों न हो, मन वचन काया के निरोध किसी न किसी रूप में क्रियाशील न रहने पर सफलता हो ही नहीं सकती तथा जहाँ भी सफलता होती है इन तत्वों की क्रियाशीलता होती ही है और वह निरोध व संवर रूप में ही होती है।

सूक्ष्म न्यूट्रान कणों से निर्मित सूक्ष्म देह में भी मन बुद्धि प्रमुख तत्व है। मन Mind और Psyche दोनों का ही वाचक है और वह इन्द्रियों को संचालित करता है। इन्द्रिय विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को भोगने में उसी की विभावी भूमिका है अर्थात् मन ही विभावी आत्मा है,

वहिरात्मा है और अन्तरात्मा भी है—पर वह शुद्ध परम स्वरूप आत्मा रूप नहीं है—उसका चिद् स्वरूप परिणमन हो जाना ही आत्म स्वरूप में एकत्व है, अभिन्नता है। जीव का बंधन तथा मोक्ष उसके भावानुसार ही स्वतः निर्मित होता है। जीव की दशा आ० श्री कुंदकुंद ने ज्ञानी और अज्ञानी दो ही भेदों को स्वीकार करके वर्णित की है। पूर्ण अज्ञानी पुरुष को योग-धर्म का साधन हो ही नहीं सकता तथा पूर्ण ज्ञानी को योग-धर्म साधन की आवश्यकता भी नहीं रहती। वस्तुतः जो अभी अज्ञान और ज्ञान की मिश्र अवस्था में है—यानी जिन्हें अनादि का अज्ञान तथा मोह गुरुपदेश या आगम के पठन-पाठन या श्रवण से कथंचित् शिथिल हुआ है या पूर्व जन्म संस्कार से स्वतः शिथिल हुआ है ऐसे बीच की अवस्था वालों के लिए ही यह योग शासन है—उन्हें ही क्रमबद्ध गुण संक्रांति तथा मार्गणा का मार्ग खोज से मिलता है। इस मार्ग में आत्मा अनात्मा तत्वों तथा उनके रागादि से परिष्कृत होकर, विकसित होकर केवल ज्ञान तथा केवल सुख रूप प्रकाशमान होता है।

आत्मा तत्त्व को अनात्मा तत्त्वों से पृथक् विभक्त करके अनुभूत करने को ही योग-भाषा में भेद विज्ञान कहा जाता है। क्रम से मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में आना तथा फिर केवल स्वरूप में आना होता है। चतुर्थ गुणस्थानक सम्यक् दृष्टि इस सीमा तक अचेतन कर्म वर्गणा से अबंधक है कि वह राग द्वेष के अभाव में मात्र अनन्तानुबंधी राग व तत्संबंधी कषायादि का ही अबंधक है। वही जब देशव्रती संयम धारी हो तो कषाय के अभाव की बढ़ती तारतम्यतानुसार ही उसकी अबंधता भी बढ़ती है अर्थात् वैसे-वैसे ही वह अचेतन प्रकम्पनों से अप्रभावित होता जाता है और पूर्ण वीत मोह, वीतकषाय व वीतराग होकर, स्पंदन-रहित अयोग-अवस्था में पूर्ण अबंधक होता है और तब पुनः बंधन में पड़ने के निमित्तों का शेष अभाव भी हो जाता है, पूर्ण मुक्ति ही, स्व स्वतन्त्रता ही निष्पन्न हो जाती है। स्व तथा पर वस्तु में सम्यक् दृष्टि रूप सम्यक्त्व के उपरांत क्रम-मार्ग रूप संयम की, चारित्र की, आत्म-अभ्यास की अर्हत्पुरुषों ने बड़ी महिमा की है, तथा उस संयम में भी सम्यक्त्व की महिमा है। सम्यक्त्व की यथार्थता (सम्यक् दृष्टि) ही केवल-दर्शन तथा केवल ज्ञान में विकसित होती है। तब जीवात्मा का उपयोग क्रम नहीं, युगपद् निराश्रय रहता है, दर्शन और ज्ञान युगपद् रहते हैं, अबाध रहते हैं। सम्यक्त्व की भूमिका में ही साधकत्व विवर्धमान होकर सिद्धत्व की भूमिका आती है। अन्तर-सम्यक् दृष्टि शब्दात्मक नहीं, अनुभवात्मक होती है, अनुभव ही रहस्य है। अनुभव के अर्थ ही विस्तार से अचेतन तत्वों तथा रागात्मक विकारी भावों को जानना चाहिए और उनसे पृथक् अपने अविकारी निराकुल ज्ञायक आत्म तत्त्व की पहचान कर लेनी चाहिए।

प्राण, मन, इन्द्रिय तथा शब्द या वाणी जो आत्म द्रव्य से भिन्न है उनकी अतः आइए थोड़ी विस्तार से ही विवेचना कर लें।

देह-तत्त्व

शुभाशुभ नाम कर्म के उदय से देह निष्पन्न होती है। यह पंच भौतिक तत्वों की या अणु-परमाणु रूप पुद्गल स्कंधों की रचना है। सूक्ष्म देह में भी सूक्ष्म अणु-परमाणुओं का ही विलास है। परमाणु तीनों ही देहों में आते हैं,—बंधते हैं और जीर्ण होकर निकलते रहते हैं। वैज्ञानिकों ने पाया

है सूक्ष्म देह के निर्मापक न्यूट्रान अणु हैं। ये न्यूट्रान अणु इतने सूक्ष्म हैं कि ये किसी भी भौतिक वस्तु को, दीवार को पार कर अन्तरिक्ष में चल सकते हैं। कोई भी भौतिक वस्तु इन्हें प्रतिघात नहीं कर सकती। इन्हें किसी भी दूरी और परिमाण में प्रकट व पुनर्लय हो सकने में कोई रुकावट नहीं होती। अतः सूक्ष्म शरीर की गति तथा सामर्थ्य भी विश्व में अप्रतिहत और अबाध पाई जाती है और जब अचेतन सूक्ष्म प्रदेशी अणु-परमाणु रचित स्कंध की भी ऐसी चमत्कारिक गति तथा शक्ति है तो स्वयं शुद्ध चिद्-आत्मा की ज्ञान शक्ति की सामर्थ्य ~~जो~~ कल्पनातीत ही हो—तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

देह के पांच प्रकार

बंध-फल के अनुभव के आधार-भूत शरीरों की संख्या–पांच बताई है। "औदारिक वैक्रियिकाहारक तैजस कार्माणानि शरीराणि" (तत्त्वार्थ सूत्र २/३६) में (१) औदारिक (२) वैक्रियिक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्माण—इस प्रकार पांच प्रकार के शरीरों की गणना की गई है। जो विशेष नाम कर्म के उदय से प्राप्त होकर "शीर्यन्ते" अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं—ऐसी शरीर के अर्थ की व्युत्पत्ति है। स्थूल और उदार शब्द पर्यायवाची है—उदार से ही औदारिक शब्द बना है–अतः औदारिक शरीर और स्थूल शरीर एकार्थक हैं।

औदारिक शरीर को हमारी इन्द्रियां भी जानती हैं—परन्तु आगे चार शरीरों को इन्द्रियां नहीं जानती। इन चार शरीरों के लिए "परं परं सूक्ष्मं" ऐसा वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में आया है। इसका अर्थ है कि औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, उससे (वैक्रियिक से) आहारक शरीर सूक्ष्म है तथा आहारक से तैजस शरीर सूक्ष्म है और तैजस से भी कार्माण शरीर और सूक्ष्म है। कार्माण शरीर अन्त्य शरीर है—वह अति सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओं से निर्मित है।

ये शरीर सब अलग-अलग हैं, सूक्ष्म-सूक्ष्म अन्वय गुण सहित हैं। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य-मय हैं और उत्तरोत्तर असंख्यात गुण प्रदेश वाले भी हैं—प्रदेश अपेक्षा उत्तरोत्तर हीन नहीं हैं। ये अनात्म सूक्ष्म शरीर ही जब इस प्रकार अनन्त प्रदेशी तथा असंख्यात गुण-प्रदेश मय है—तो इन सब को अवगाहित कर विराजने और जानने वाला चिन्मय आत्मा तो अनन्त गुण प्रदेशी ही होना चाहिए और वस्तुतः ऐसा ही है या कहिए प्रत्येक प्रदेश ज्ञान, दर्शन व सुख रूप ही है।

अर्हत् सूत्रकार ने आगे स्पष्ट किया है कि परवर्ती शरीरों में तैजस शरीर प्रदेश अपेक्षा अनन्त गुणा है और कार्माण तैजस शरीर से भी अनन्त गुणा है। आगे "अप्रतिघाते" (२/४०) सूत्र द्वारा इन दो शरीरों को अप्रतिघात वाला कहा है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि न्यूट्रान कणों से निर्मित सूक्ष्म देह की भी प्रकृति अप्रतिघात कही जाती है। जैन परिभाषित तैजस और कार्माण शरीरों में यह गुणघटित है। लौकिक किसी भी वस्तु में प्रतिघात को प्राप्त न होने से इन तैजस तथा कार्माण देह का विच्छेद क्या किसी लौकिक या भौतिक वस्तु से संभव हो सकता है ?

आत्म साधना जिसमें इन शरीरों का विच्छेद होता है अतः अलौकिक ही है—वह कोई

लौकिक या भौतिक साधना रूप हो भी नहीं सकती। तैजस ज्ञान-आत्मा के द्वारा ही तैजस तत्वों मय तैजस शरीर का वेध होता है।

विचार सूक्ष्म शब्दात्मक है अतः वह लोक का ही तत्व है। पर भाव-आत्मा तो चिद् भावात्मक शक्ति कार्माण वर्गणाओं से अनन्त गुण प्रदेशी तथा अन्वय गुण में भी अनन्त गुणा होने से कार्माण देह को भी अतिक्रांत करने में सक्षम है। बाहर-भीतर के अनात्म प्रकम्पनों को रोकने के अनन्तर स्व स्वतन्त्रता तथा बंधन-मुक्ति का अव्यर्थ उपाय भाव-आत्मा का ध्यान ही है। भावात्मक चिद् चिंतना (Sustained Thought of self, spirit) में ही निमग्न और तन्मय होकर स्वयं भावक व निश्चित (चिंतना स्पंदन से रहित) ज्ञान मात्र ज्ञायक आत्म तत्त्व पर ही पहुंचा जाता है और यही योग का परम रहस्य भी हैं। प्रतिघात का क्या अर्थ है ? कहा गया है—

एक मूर्तिक पदार्थ का दूसरे मूर्तिक पदार्थ के द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतिघात कहते हैं। वैसे वैक्रियिक और आहारक शरीर का भी प्रतिघात नहीं होता—परन्तु तैजस और कार्माण का तो लोक पर्यन्त सर्वत्र ही प्रतिघात नहीं होता। यह बात वैक्रियिक और आहारक शरीर में नहीं है। तैजस और कार्माण शरीरों का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है, अतः वैज्ञानिक इन शरीरों को जीवात्मा के स्व शरीर कहते हैं। इन सहित जीवात्मा सशरीर है यानी ये दो शरीर तो सब ही संसारी जीवों के होते हैं। इस बात को तत्वार्थ सूत्रकार ने—"सर्वस्य" (२/४२) सूत्र से कहा है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने जिस सूक्ष्म प्राण शरीर का छाया-अंकन लिया है वह कौन सा सूक्ष्म शरीर है यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। न्यूट्रानों के कणों से निर्मित कौन सा शरीर है ये अभी निश्चित नहीं कहा जा सकता। मगर एक बात निश्चित है कि तैजस शरीर तैजस कणों से—तैजस अणुओं से ही निर्मित है।

तैजस (न्यूट्रानिक) देह जैन ऋषियों को बहुत प्राचीन काल से ही विदित रहा है और वह मूर्तिक व रूपी होने से फोटोग्राफिक भी हो सकता है। सूक्ष्म शरीर को जैन भी आधुनिक मनो वैज्ञानिकों के समान प्रतिघात रहित ही मानते हैं।

तैजस व कार्माण का तो वज्रपटलादिक में भी व्याघात नहीं माना गया है। तैजस शरीर की इनकी व्याख्या ही यह है—जो दीप्ति का कारण है, या तेज से उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते हैं (सर्वार्थ सिद्धि)।

वैक्रियिक शरीर अणिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बन्ध से—अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार की विक्रिया रूप से होता है अर्थात् यह योगैश्वर्य से उत्पन्न अष्ट सिद्धियों के प्रतिफल द्वारा विक्रिया रूप होता है।

आहारक शरीर प्रमत्त संयत योगी की इच्छा से—जो या तो सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिये या असंयम की निवृत्ति करने के लिये होता है। वैक्रियिक तथा आहारक शरीर का प्रकट होना

अतः योगी की योग-सिद्धि की प्राप्ति पर अथवा देव नारकियों को जन्म जात सिद्धि पर निर्भर करता है और दोनों शरीर एक साथ नहीं हो सकते।

आहारक शरीर तो एक पुतले के रूप में निकलता है जो अनुग्राहक अथवा निग्राहक—कैसा भी हो सकताहै। आधुनिक मनो वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म शरीर के दूर व परिणाम में प्रकट व पुनर्लय होता मानते हैं, वह सम्भवतः आहारक शरीर हो सकता है जो पुरुष की इच्छा पर मन सहित बाहर निकल कर (Project होकर) इच्छित स्थान व दूरी पर जाकर वहां का विवरण देखकर वापिस स्थूल शरीर में लौट आता है और तब मन उसका पूरा विवरण भी सुना दे सकता है।

रूसी वैज्ञानिक किरलियान द्वारा लिए गये रंगीन चित्र वस्तुतः लिंग शरीर के प्रभा मण्डल के नहीं पाये गए है, उन रंगीन चित्रों का आधार प्रभा मण्डल नहीं—त्वचा की नमी है।

मन एक अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति

स्टेनफोर्ड में इंगो स्वान और पेट प्राइस नाम के व्यक्तियों के साथ उनके दूरस्थ दृश्य देखने की मानसिक शक्ति पर कई प्रकार के अनुसंधान किये गये हैं, और अब अमेरीकी सुरक्षा व्यवस्था को चिन्ता है कि मानसिक शक्ति के उपयोग द्वारा मन भेदिया का काम कर सकता है तथा ऐसी मनः शक्ति के उपयोग से परमाणु अस्त्रों को चालू करने वाला बटन भी दबा दिया जा सकता है। इंगोस्वान और पेट प्राइस को रूस व चीन के कई स्थलों को देखने को कहा गया और इसके द्वारा दिये गये दूर स्थलों के वर्णनों की पुष्टि तदनन्तर उन दूर देशों में तईनात जासूसों द्वारा की गई। Para psychology (अति मनोविज्ञान) तथा Para Sensory Vision की वैज्ञानिक स्वीकृति मानसिक शक्ति की अलौकिक व असाधारण प्रकृति की ही मान्यता है, जो अब पाश्चात्य वैज्ञानिकों में स्थिर होती जा रही है।

अब यह चिन्ता फैल रही है कि मनः शक्ति के सामरिक उपयोग से कहीं मनो वैज्ञानिक अथवा मानसिक महायुद्ध का सूत्र पात तो नहीं हो जायेगा।

अपरा ऋद्धि सिद्धि का निषेध

प्राचीन अध्यात्म विद्या ने इन अपरा सिद्धियों व ऋद्धियों के प्रयोग का निषेध अतः मानव जाति के उपकार व कल्याण और सुरक्षा की दृष्टि से तो किया ही, साथ ही इनके प्रयोग अध्यात्म में आगे उन्नति में भी बाधक माने। मनः शक्ति के एकाग्र और निग्रह करने पर जो अति शक्ति का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है उसे अध्यात्म साधक को पचाकर मात्र आत्म-साक्षात्कार की धुन रखनी चाहिये—यह बार-बार सूचित किया गया है। यह भी कहा गया है कि जो साधक इन कायिक ऋद्धियों को प्राप्त कर लौकिक प्रयोग करके दुरुपयोग करते हैं वे इनका ज्यादा दिन तक उपयोग भी नहीं कर सकते—ये ऋद्धि व सिद्धि कालान्तर में या तो स्वतः क्षीण हो जाती हैं, अथवा मानव हित में रत अन्य उच्चतर आध्यात्मिक साधकों द्वारा निष्क्रिय भी कर दी जाती हैं। ये शक्तियाँ आत्मिक-शक्ति नहीं हैं

आगन्तुक व संयोगी शक्ति हैं, द्रव्य (मूर्तिक) शक्ति हैं। अब यह विचारणीय ही है कि अचेतन लब्धियाँ ही इतनी बलशाली हैं—तो चेतन आत्मिक शक्तियां तो अवर्णनीय रूप से ही शक्ति वाली होनी ही चाहिये।

सूक्ष्म देहों की संख्या : स्थिति

सूक्ष्म शरीरों के सम्बन्ध में कहा गया है कि एक साथ एक जीव के तैजस कार्माण को लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं—अर्थात् एक जीवात्मा के दो शरीर (तैजस व कार्माण) हो सकते हैं और किसी अन्य के औदारिक, तैजस और कार्माण, अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्माण, ये तीन शरीर अथवा अन्य किसी के औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण—ये चार शरीर हो सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक दोनों ऋद्धियों की प्रवृत्ति तपोबल की ऋद्धि है—अतः दोनों की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती।

सोपभोग और निरुपभोग देह

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों में इन्द्रियों की रचना रहती है अतः इनके द्वारा अपने-अपने विषयों का ग्रहण होता है, अतः ये तीनों शरीर ही सोपभोग है। तैजस शरीर यद्यपि सब ही संसारी जीवों के पाया तो जाता है मगर आत्म-प्रदेश परिस्पंद में यह शरीर कारण नहीं है, अतः इन्द्रियों द्वारा विषयों के ग्रहण करने में इस शरीर को उपयोगी नहीं माना गया। इस शरीर के लिये यह प्रश्न भी नहीं होता कि यह शरीर निरुपभोग है या सोपभोग, परन्तु अन्त्य शरीर यानी कार्माण शरीर तो निरुपभोग ही है। कार्माण काययोग केवलि को ही होता है तथा ऐसा योग प्रतर व लोक पूरण समुद्घात व विग्रह गति पर होता है। केवल ज्ञान रहने से इन समुद्घातों में बाह्य उपभोग का प्रश्न नहीं रहता—तथा विग्रह गति में भावेन्द्रियाँ तो होती है मगर द्रव्येन्द्रियां नहीं,—अतः तब शब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं होता। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक जिस सूक्ष्म शरीर की चर्चा करते हैं और जिस पर अनुसंधान किये जा रहे हैं—तैजस व कार्माण नहीं है तथा वे आहारक और विक्रियिक ही हो सकते हैं।

ध्यान में तैजस देह क्यों

आध्यात्म विद्या की यह मान्यता है कि आहारक वैक्रियक देह ऋद्धि, तपोबल, व ध्यान-शक्तियों से प्रकट होते हैं। तैजस शरीर निरुपभोग होने से इस शरीर में इन्द्रिय व्यापार नहीं होता—अतः ध्यान काल में जब साधक इन्द्रिय स्तर तथा मन स्तर से परे चला जाता है तो उसे ज्योति व प्रकाश का जो प्रथम आविर्भाव प्रकट होता है वह तैजस शरीर की ही दीप्ति है।

आत्मा का तैजस शरीर के मध्य ध्यान करने पर ध्यान तल्लीनता में साधक इन्द्रिय व मन से परे (विषयानन्द से परे) चला जाता है और इस शरीर के मध्य अपने को ज्ञान मात्र व भगवान्

हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) सम प्रकाशमय देखकर साधक परम आह्लाद (आत्मानन्द) को प्राप्त हो जाता है और ऐसे आह्लाद की प्राप्ति,—क्षयोपशम विशेष की प्राप्ति होती है और लब्धि रूप होकर सम्यक्-दर्शन की हेतु हो जाती है। ऐसे तैजस देह के वेध से आत्म-परिचय होकर आत्मानन्द फिर क्रमशः ब्रह्मानन्द तथा परमानन्द होकर अन्त्य शरीर की निवृत्ति ही एक मात्र बाकी रह जाती है।

कार्माण संस्थान के निर्माण के हेतु राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद आदि से निवृत्त होकर परावैराग्य या वीतराग सर्वज्ञ सम अपना ध्यान जब साधक करता है, तो शुद्धोपयोग की स्थिरता से ऐसी पीत पद्म और शुक्ल ध्यानाग्नि एवं ज्ञानाग्नि रूप आध्यात्मिक ऊर्जाएं प्रकट होती हैं जो उस कर्म—संस्थान को भी शनैः शनैः शीर्ण कर देती हैं।

अतः अर्हन्त परमेश्वर तीर्थंकरों की ही यह खोज है कि किस प्रकार ध्यान-प्रक्रिया से मानव अपने अनादि देह-बंधन से—कार्माण पाश से भी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अभी सूक्ष्म शरीर व मनः शक्ति के ही अनुसंधान में लगे हैं, मगर मनः शक्ति के भी, जो अपने को "मैं" रूप में विलक्षण व अद्भुत शक्ति रूप में प्रकट करती है, पृष्ठ भाग में जो निर्मल ज्ञान चेतना चिति शक्ति है उसकी खोज तो इनके लिए अभी बहुत दूर है।

मनः शक्ति द्रव्य रूप से मस्तिष्क शक्ति है मगर भाव रूप से स्वयं भावक व चेता चिति शक्ति व उपयोग मय आत्मा की ही शक्ति है। यह देह यंत्र की सीमा में कर्म-प्रत्ययों की सघनता की तारतम्यता के अनुसार ही अपना प्रकाश कर पाती है। परिपूर्ण निर्मल व शुद्ध सिद्ध आत्माओं में इन पार्थिव शक्तियों, द्रव्येन्द्रियों या भावन्द्रियों की भी अपेक्षा नहीं होती। ध्यान के द्वारा ही शक्तियों का व आत्म तत्व का निर्मल प्रकाश होता है। चेतना के प्रति स्वयं जीवात्मा का यह अपराध रहता है कि वह इसके प्रति उन्मुख नहीं रहता और इस अपराध के ही कारण वह क्षुब्ध व भय ग्रसित रहता है।

मूल तत्त्व पंच भूत नहीं, अणु पुद्गल

प्रकृति (अनात्म, अचेतन) लोक में पुद्गल सूक्ष्मतम रूप से परमाणु रूप है। सूक्ष्मतम परमाणु अति सूक्ष्म हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश (शब्द) ये पाँच भौतिक तत्व हैं पर ये मूल तत्व नहीं हैं। मूल तत्व अणु-पुद्गल हैं। तत्वों में गंध रस रूप स्पर्श और शब्द यथा क्रम एक से एक अधिक सूक्ष्म हैं। स्थूल व सूक्ष्म अनात्म जगत् अणु-परमाणु व इनके संघात से बना है। दृश्य जगत् सब अणु संघात है।

प्राण तत्त्व

प्राण तत्व चेतन तत्व का व्यक्त रूप है और यह भाव रूप प्राण है, प्राण वायु तत्व से भी अधिक

सूक्ष्म है, वह आकाश तत्व के समान निर्लेप असंख्यात प्रदेशी है परन्तु देही होकर देह-प्रमाण रहता है। अनन्त आत्माएं व्यक्त सूक्ष्म प्राण रूपों में, इस विश्व में—विश्व के संघातों को एवं विश्व के अणु-परमाणु को आपूर्ण अवगाहित व व्याप्त कर विद्यमान हैं।

प्राण रूप चेतन तत्व तीनों लोक में व्याप्त हैं अर्थात् यह पृथ्वी पर हैं, अन्तरिक्ष में हैं और द्युलोक में हैं। पर जो शुद्ध चैतन्य तत्व—सिद्धात्मायें हैं वे इन तीनों लोक से परे सिद्धालय में हैं।

द्युलोक स्थित प्राणी (जीव) पृथ्वी पर सूर्य किरणों द्वारा उतरतें हैं। अंतरिक्ष स्थित प्राणी पृथ्वी पर पर्जन्य द्वारा उतरते हैं। अंतरिक्ष लोक में पर्जन्य और तैजस (रवि) तत्व के आश्रय वे वापिस भी जा सकते हैं। देव लोक में क्रमोन्नत स्तर हैं। तैजस एवं वायु तत्व की कमी व पार्थिव अंश की उत्तरोत्तर बढ़ती सघनता में जीव क्रमशः पृथ्वी व उसके तल व अतल प्रदेशों में ही रह जाते हैं, जिन्हें निकृष्ट नरक व निगोद लोक कहा गया है जिनमें जीवात्मा का ज्ञान विशेष प्रच्छन्न होता जाता है।

व्यक्त जीवन शक्ति, द्रव्य व भाव प्राणकी समष्टि

चेतन पदार्थ की देही (व्यक्त) दशा में जीवनी शक्ति प्राण रूप रहती है जो द्रव्य व भाव रूप है। वास्तव में प्राणी में भावमयी तत्व ही अमृत है, अमरण धर्मा है। प्राणशक्ति मात्र वायु रूप नहीं है,—गर्भाशय में तो वायु मिलने का साधन नहीं भी होता फिर भी सातवें महीने में गर्भस्थ प्राणी हिलने डुलने लगता है जिससे सिद्ध होता है कि वायु न मिलने पर भी प्राण-तत्व पर ही जीवन आधारित रहता है। मृत शरीर में वायु आता जाता है पर फिर भी वह जी नहीं उठता। मूर्च्छित, जलमग्न, सुंघाकर स्मृति खोया व समाधि में मनुष्य मृत के तुल्य रहता है, श्वास-प्रश्वास भी नहीं होता, परन्तु प्राण तो मौजूद रहता है, अतः उनमें श्वास-प्रश्वास की गति फिर चालू हो जाती है।

सिद्ध होता है कि प्राण, प्राण-वायु से एक स्वतन्त्र चेतन व तेजो मय तत्व है। इसका तेज भौतिक तेज मात्र नहीं, चेतन व ज्ञानमय तेज ही विशेष है। प्राण-वायु और प्राण-परमाणु भिन्न-भिन्न हैं—प्राण परमाणु ही प्राण कोष का संघटक है। प्राण द्रव्य रूप से तेजोमय (Neutronic) है और भाव रूप से ज्ञान मय—चैतन्य है।

तैजस देह

प्राण शरीर तेजोमय होता है इसे ही तैजस देह कहा जाता है और इसी तैजस देह में कार्माण देह का बंधन हैं जो चैतन्य-ज्ञान मय तत्व को आवृत्त रखता है।

कार्माण देह

चैतन्य प्राण एक स्वयंभू शक्ति है और भाव रूप है। वह संसारस्थ अवस्था में देह में अतः

द्रव्य-प्राण देह में भी अवगाहित कर रहता है। देहों में कार्माण देह मूल देह है। कार्माण देह कार्माण वर्गणा से निर्मित है उसका कारण है स्वयं जीव का विभाव भाव, मोह भाव या राग भाव अथवा अज्ञान दशा। अज्ञान दशा में किए गए शुभ-अशुभ भाव कर्म ही कर्मावरण का निर्माण करके कर्म-संस्थान रूप देह का निर्माण करते हैं। आत्मा तैजस प्राण तत्व में कार्माण देह सहित बंधा रहता है। निर्मल आत्मा का निज देह चिन्मय चैतन्य मात्र होता है।

चेतन अचेतन का समानांन्तर या परिपूरक सम्बन्ध और सप्त व पंच तत्त्वों का निरुपण

चेतन व अचेतन तत्व का व्यक्त प्राण अवस्था में समानान्तर या परिपूरक सम्बन्ध रहता है। विभाव दशा में आत्म प्रदेशों में राग युक्त हलन चलन होता है तो देह-प्रदेशों में भी अचेतन कर्माणुओं का आना जाना,—आना, बंधना या छूटना होता रहता है। इस रहस्य ज्ञान को लेकर जैन सप्त तत्त्वों का कथन करते हैं—इसी में आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप पांच तत्व हैं और स्वयं जीव व अजीव मिलकर सप्त तत्व होते हैं। जीव के अजीव से सम्बन्ध होने या मुक्त होने में इन ही सप्त-तत्वों का क्रियाकलाप रहता है। बंध बन्धने में विभाव व अज्ञान (अविद्या) निमित्त है और उपादान स्वयं भाव कर्मरूप अचेतन द्रव्य की ही शक्ति है जिससे कर्म द्रव्य अनादि के मलीन जीव के साथ संयोग पाकर बन्धता है।

चेतन अचेतन में तीन प्रकार की शक्ति

द्रव्य की तीन प्रकार की शक्तियों का प्राचीन ऋषियों ने पता पाया और द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित कहा। यह सार्वभौम लक्षण जीव व अजीव दोनों में ही घटित पाया गया। दोनों ही चेतन व अचेतन तत्वों में ही अपनी-अपनी स्व शक्ति है। एक में चेतन शक्ति यानी ज्ञायक शक्ति है तो दूसरी में अचेतन अर्थात् मात्र ज्ञेय होने की योग्यता। शक्ति में आकर्षण (उत्पाद) विकर्षण (व्यय) होता है। चेतन तत्व में ज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है, व्यय होती है। फिर भी उस चेतन में ज्ञान गुण नित्य, अर्थात् उत्पाद एवं व्यय सहित वह स्थिर एवं नित्य है।

अचेतन द्रव्य भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त है। भौतिक अणु पूरा एक सौर-मण्डल है, सूर्य-ग्रह मालावत् ही वह कहा जाता है। सौर-मण्डल में जैसे मध्य में स्थिर सूर्य है वैसे ही अणु में धन विद्युत् केन्द्र प्रोटोन (Proton) है और उसके चारों तरफ ऋण-विद्युत्कण (Electron) अत्यन्त वेग के साथ वर्तुल गति से घूमा करते हैं। धन विद्युत् कण बाहर से तेजो शक्ति मय न्यूट्रोन को भीतर खींचता है और अन्दर से बाहर फैंकता है। जब वह शक्ति को बाहर फैंकता है उस समय ऋण विद्युत्-कण बाहर की कक्षा से भीतर कूद आते हैं और जब वह धन-विद्युतकण बाहर से शक्तिन्यूट्रान को भीतर खींचता है उस समय ऋण विद्युतकण अन्दर से बाहर उछल पड़ते हैं।

अणुओं में स्वैर गति स्वयंभू

पाया गया है कि ऋण विद्युत्कणों का जो आकर्षण व विकर्षण रूप बाहर से भीतर व भीतर से बाहर कक्षा में भ्रमण रूप होता है वह किसी नियम के बद्ध नहीं है—वह क्रिया अबाध स्वैर वृत्ति रूप है। अतः कोई ऋण विद्युत्कण कब किस समय किस गति से चलेगा इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, यद्यपि ऋण विद्युत्-अणुओं के बड़े समूह के सम्बन्ध में कुछ नियम जाने भी गये हैं। अणुओं की यह मौलिक स्वैर गति स्वयंभू है।

जीवाणु दशा अनादि से विभावी

जब अणुओं की ही गति को अदृष्ट पाया गया है तो चैतन्य प्राणी के विभाव या स्वभाव भाव तो अदृष्ट ही हैं और पुद्गल अणु और मन के आद्य कर्म का कारण अदृष्ट ही है—अतः जीवाणु को अनादि काल से विभावी ही माना गया है। यथा खान से निकला धातु अन्य पदार्थ युक्त, मल युक्त ही देखा जाता है, वैसे ही जीवाणु भी द्रव्य-प्राण देह युक्त ही अनादि से देखा गया है। कोई आदिकाल में निर्दिष्ट ऐसा बिन्दु नहीं है जहां इसके सम्बन्ध का आदि देखा जा सके।

अणुओं में शक्ति तरंगे

ऋणाणु व धनाणु दोनों में से शक्ति की तरंगें निकला करती हैं। ऋणाणु व धनाणु दोनों शक्ति-तरंगों के केन्द्र हैं और शक्ति तरंगों से ही इनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान हो सका है पर इन ऋणाणु व धनाणुओं में शक्ति का आविर्भाव कैसे व क्यों कर होता है—यह पता नहीं चला है, पर इन प्रोटोन, इलेक्ट्रान व न्यूट्रान की तरंगों की जो भी जानकारी हुई है, इससे इतना ही पता चला है कि इनकी विश्लेषण गति में शक्ति का विस्फोट होता है।

प्राणाणु और कर्म वर्गणा

जैसे ऋणाणु और धनाणु और न्यूट्रान—ये पुद्गल परमाणु के मूर्तरूप हैं, वैसे ही द्रव्य प्राण परमाणु भी ऋणाणु, धनाणु और न्यूट्रान रूप में द्रव्य रूप होता है।

प्राण जीवात्मा भाव रूप है, परन्तु द्रव्य कर्मप्रत्ययों के साथ बन्ध कर ही व्यक्त होता है। द्रव्य प्राण एवं जीवात्मा द्रव्य परमाणु से भी कहीं अधिक सूक्ष्म तत्व है और अधिक गति वाला, कार्य-क्षमता वाला है।

द्रव्य प्राण जो भावों के निमित्त से देह के साथ बन्धता है विद्युतात्मक है अतः इनसे बने प्राण कोष भी जो तैजस देह बनाते हैं, प्रकाशात्मक होते हैं। इस तैजस देह के भीतर अन्य सूक्ष्मतम देह कर्म प्रत्यय देह है—उसे कार्माण वर्गणायें (Karmic Molecules) जो अति तैजस वायु (गैस) रूप हैं

बनाती है। जीव के साथ कार्माण वर्गणा से बन्धा पहला खोल अनादि से है। इन सूक्ष्मतम द्रव्यों के ही साथ फिर अन्य सूक्ष्मतम फिर स्थूल पंच भौतिक तत्व बन्धते हैं। और सूक्ष्मतम देह पर सूक्ष्म देह का और सूक्ष्म देह पर स्थूल देह का खोल निर्माण हो जाता है। ऐसे देह बन्ध का मूल जीव का अज्ञान भाव है और द्रव्य रूप से मूल कारण कार्माण तत्व ही है।

प्राण क्या है ?

भौतिक देह में मानव के विद्युदाकर्षण (ह्यूमन मैंग्नेटिज्म) को भी प्राण कहते हैं। तथा जीव का जो तैजस तत्व, मेटाबोलिक तत्व है,—उसे भी कई प्राण नाम से ही मानते हैं। कुछ अन्य जीवन रस (Protoplasm) व अव्यक्त जीवन रस (Ectoplasm) को प्राण मानते हैं पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये द्रव्य स्वयं प्राण नहीं है, प्राण से उत्पन्न गुण परिणमन है। विद्युतात्मक प्राण के ही खोल में चैतन्य जीव का भावप्राण है।

भाव-प्राण जैसा कि स्पष्ट होता है चैतन्य शक्ति का ही एक परिणमन है पर्याय है और यह भाव शक्ति प्रत्येक प्राणी (जीवात्मा) में स्वधीन व स्वयंभू है। ऐसी अनन्त चैतन्य आत्माएं समस्त ब्रह्माण्ड में आपूर्ण अनन्त रूप व्याप्त हैं और अव्यक्त हैं और द्रव्य प्राण शरीर में यह व्यक्त होती है। परिपूर्ण निर्मल पुरुष अवस्था में यह अशरीरी चिन्मय पूर्ण चिद् शक्ति ज्ञान मात्र होती है। तब फिर इस शुद्ध जीवात्मा का किसी काल में देह में बन्ध कर जन्म-मरण रूप आवागमन नहीं होता। आत्मा तब ब्रह्माण्ड से अतीत, सर्व ब्रह्माण्डों के शिखर, (Eternal) नित्य सिद्ध भूमि पर चला जाता है।

भाव-प्राण शक्ति ही अज्ञान दशा के विभाव के कारण अनात्म द्रव्याणुओं से संयुक्त होती है। भावातीत होने या ज्ञान–भाव स्थिर होने पर उनसे वियुक्त होकर निर्मल हुए आत्मा को फिर वापिस अनात्म द्रव्य से बन्धने के कोई कारण भी विद्यमान नहीं रहते। प्रश्न अतः भाव मुक्ति का ही विशेष रहता है।

तैजस और कार्माण देह : पदार्थ और रसायन विज्ञान शास्त्र : क्रमबद्ध प्रशांत प्रदेश का रहस्य

तैंजस तत्व मय शरीर और कार्माण शरीर का आपस में अनादि व सादि सम्बन्ध है–और ये जीव के साथ अनादि व सादि रूप से हैं। कार्य कारण भाव की अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा से सादि सम्बन्ध है। जब तैंजस तत्व का वेध हो जाता है तो प्राण आकाश तत्व में वायु रूप होकर पहुंचते है।

प्राण जब सूक्ष्म वायु रूप होते हैं तो वे तैंजस तत्व का वेध करके ही होते हैं और उसके पश्चात् ही निर्मल अन्तर आकाश मण्डल से सम्बन्ध होता है। वहीं सूक्ष्मतम कार्माण वर्गणायें हैं। ये

इतनी अधिक सूक्ष्म—अर्थात् सूक्ष्मतम होती हैं कि इनका वेध मूर्तिक किसी भी पदार्थ से सम्भव नहीं होता। अतः इनका वेध जीवात्मा विचार व विचार के अनन्तर निज चिंतन शक्ति से ही करता है। यह वेधक या क्षायिक शक्ति परम प्रशांत निर्मल (निमित्त विवर्जित) उपयोग रूप चैतन्य सत्ता से ही उत्पन्न होती है।

प्रशांत अवस्था में उत्तेजना या उद्दीपन (Excitation) शून्य हो जाता है तथा एक ज्ञान निर्विचार Catalyst (उत्प्रेरक) रूप में कार्यशील रहता है, जो आत्म प्रदेशों में समता व क्रमबद्धता को प्रस्थापित करता है जिससे कर्म-प्रत्ययों का स्वतः पृथक्करण होता है। Excitation और Catalyst के सिद्धान्त पदार्थ विज्ञान तथा कैमेस्ट्री के हैं। उच्च तापमान से उत्तेजित होने पर धातु के इलेक्ट्रान अक्रम (Disordered) हो जाते हैं। वे उस उत्तेजना के कम या हटने पर वापिस तरतीब में आ जाते हैं—यह थर्मोडनैमिक्स की बात है। रसायन शास्त्र में Catalyst रसायन का सिद्धान्त (Chemical principle) है। मानव देह में ये दोनों सिद्धांत भी कार्यशील हैं—परिणामतः आत्मा के अक्रम अव्यवस्थित प्रदेश देह की, मन की और वचन की शांति और निरोधक्रिया के निमित्त स्वतः क्रमबद्ध और शांत होते हैं। आत्मा के प्रदेशों का सम रूप होना—यही ध्यान का भी सिद्धान्त है और यही ध्यान से प्राप्त परिणाम भी। इससे यह भी निष्कर्ष सहज प्राप्त होता है कि मन, वचन, काया के योग परिस्पंदन के अभाव होने पर जीवात्मा की भाव पर्याय (अभिव्यक्ति) स्वतः क्रमबद्ध समव्यवस्थित हो जाती है, Disordered नहीं रहती, विषमता नहीं रहती, अव्यवस्थित नहीं होती।

उदान वायु प्राण वायु का पर्याय

प्राण वायु का ही एक पर्याय उदान वायु है। यह उदान वायु एक शक्ति प्रवाह की तरह है जो स्नायुओं में प्रवाहित होता है और फेफडों व देह के उर्ध्व भागों,—कण्ठ से मस्तिष्क तक के भागों को क्रियाशील करता है। जब इस उदान वायु पर योगी नियन्त्रण व अधिकार प्राप्त कर लेता है तब वह योगी पुरुष घन भौतिक तत्वों से अत्यन्त हल्का हो जाता है। आकाश तत्व में संयम करके तैजस तत्व व सूक्ष्म तन्मात्राओं का आकर्षण तथा संयोग करके सिद्ध योगी इच्छा मात्र से वस्तु निर्माण भी कर सकता है, और इच्छा मात्र से कहीं भी जा आ सकता है। योगी उदान वायु का विजय करके न जल में डूब सकता, न कांटे या धारदार कोई शस्त्र उसे बींध सकता न अग्नि उसे जला सकती है—वह योगी इच्छा मात्र से स्थूल देह को छोड़कर सूक्ष्म देहस्थ होकर अन्तरीक्षचारी हो सकता है। त्वचा और श्रोत्र से भी आकाश तत्व का विशेष सम्बन्ध हैं।

आकाश (शून्य) तत्त्व में ही अन्य भौतिक तत्त्वों को निर्माण का आधार मिलता है तथा वह देह की त्वचा के बनने में प्रमुख कारण है और अन्य तत्व इस निर्माण में विक्रिया रूप से सहायता करते हैं। आकाशीय तत्त्व ही में कार्माण बर्गणाएँ हैं जो कार्माण देह बनाती हैं। तैजस तत्त्व की प्रमुखता से तैजस देह तथा फिर अन्य सूक्ष्म स्थूल देह भी पृथ्वी, जल, वायु आदि पंच तत्वों

के एकत्व व संयोग से बनती है। आकाश में ही जीवात्मा के शुभ अशुभ भाव-अध्यवसायों की स्पंदनाएं स्पंदित होने के बाद भी बहुत काल तक विद्यमान रहती है और उनके निमित्त से ही पौद्गलिक तत्त्वों का आस्रव व बंध होकर सूक्ष्म स्थूल देहों का निर्माण स्वतः उपादान शक्ति से होता है।

मन : लब्धि और उपयोग (भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय)

देह निर्माण में मूल उपादान आकाशीय कार्माण वर्गणाएं ही है। इस निर्माण में कोशिका का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है और इस कोशिका में जो सुव्यवस्थित कार्य करने की क्षमता है, ज्ञान है, वह स्वयं जीवात्मा का ही क्षायोपशम ज्ञान है। ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षायोपशम प्राणी में जब होता है तो वह ही लब्धि कहा जाता है। लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रियां हैं और इन सहित ही मन है। द्रव्येन्द्रियों के दो रूप होते हैं। लब्धि के संसर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिये उद्यत होता है। उपयोग को भावेन्द्रिय इसलिये कहा जाता है कि कारण का धर्म कार्य में देखा जाता है। इन्द्रिय का अर्थ हैं आत्मा रूप इन्द्र का लिंग या पहचान। इन्द्रिय शब्द का यह अर्थ उपयोग में मुख्य होने से उपयोग को भी भावेन्द्रिय कह दिया गया। द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति व उपकरण रूप कहा गया है—निवृत्ति का अर्थ है रचना। प्रति-नियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्म-प्रदेशों की रचना,—आभ्यंतर रचना, और इन्द्रिय नाम वाले उन ही आत्म-प्रदेशों में प्रतिनियत आकार रूप व नाम कर्म के उदय से विशेष अवस्था प्राप्त जो पुद्गल प्रचय, वह बाह्य रचना कही जाती है। इस प्रकार से जो आभ्यंतर व बाह्य रचना (निवृति) का उपकार होता है उसे ही उपकरण कहा गया है। ये भी निवृति के समान आभ्यंतर व बाह्य दो भेद से होता है। नेत्रेन्द्रिय में कृष्ण व शुक्ल मण्डल आभ्यंतर उपकरण है तो पलक व बरोनियाँ आदि बाह्य उपकरण हैं। ऐसा शेष सब ही इन्द्रियों में है।

आगम में संसारी जीव के प्रदेश सामान्यतः चलाचल बतलाये हैं। केवल मध्य के अष्ट प्रदेश आकुंचन प्रसरण विस्तार व संकुचन से रहित कहे गये हैं—शेष प्रदेश सब संकोच विस्तार वाले चल हैं। ऐसी अवस्था में नियम से आत्म प्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रिय रूप बने रहते हैं—यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु प्रदेश परिस्पंद के अनुसार प्रति समय अन्य-अन्य प्रदेश आभ्यंतर निवृति रूप होते रहते है। जिसके जितनी इन्द्रियां होती हैं उसके उतने इन्द्रिय अन्य-अन्य इन्द्रियों व उपकरणों का भी काम करती देखी गई हैं। देह यंत्र में कभी किसी भाग में कोई स्नायु या केन्द्र विकृत हो जाते है और वे न सुधर सकते हैं, न नये बन सकते हैं तो आसपास के अन्य स्नायु या केन्द्र उन विकृत स्नायु व केन्द्रों का कार्य संभालने लगते हैं। यह सब जीवात्मा की ही जीवनी-शक्ति पर निर्भर करता है। इससे प्रकट होता है कि जीवाणु का केन्द्रक ज्ञान-शक्ति मय ही होता है, और उस शक्ति से ही मनः शक्ति आदि का विभाव व स्वभाव रूप परिणमन होता है अर्थात् इसी से संकल्प एवं इच्छाएं निःसृत होती हैं या मात्र ज्ञान रूप स्पंदनाएं ही निःसृत होती है।

देह यंत्र का संचालन मस्तिष्क विद्युत प्राण धारा से

देह तो मात्र एक यंत्र है, जीव को एक सीमा में बद्ध रखने का एक कारागार है, पिंजरा है। शरीर की ठठरी को खड़ा करके विद्युत् के झटकों से शरीर के अवयवों को हिलते चलते व सिगरेट का धुवां निकालते प्रदर्शनियों में आयुर्विज्ञान के वेत्ताओं द्वारा दिखाया गया है। अब यह प्रमाणित है कि मानव-देह यंत्र का नियंत्रण व संचालन करने वाले तत्त्व मस्तिष्कीय विद्युत्-मय प्राण है। अतः मस्तिष्क और प्राणों के संयम के उपरांत ही इस देह-पिंजरे का द्वार खोलने की ज्ञान-कला हस्तगत होती है, और देह-पिंजरे का द्वार खुलकर ही उससे बाहर स्वतंत्र व असीम रूप में जीव बाहर आ या जा सकता है। ऐसा होने पर शरीर में रहते हुए भी वे सब प्रतिबंध शिथिल हो जाते हैं या टूट जाते है जो जीव को असाह्य-सा बद्ध किये हुए है। स्वैच्छिक विचरण में ज्ञान-शक्ति ही आश्रय है। ज्ञान शक्ति से विचार की तरंगे प्रवाहित होती हैं और विचार की अति सूक्ष्मता पर ही स्वैच्छिक गति से सूक्ष्म देहस्थ योगी का इच्छानुसार भ्रमण संभव होता है। ज्ञान-शक्ति जब केन्द्रस्थ हो जाती है तो विचार तरंगे शून्यवत् सूक्ष्म हो जाती हैं—तब जो गति होती है वह स्वतः शुद्ध (बिना संकल्प) उर्ध्वगति होती है और ऐसी उर्ध्वगति निष्णात जन "मुक्त" कहे जा सकते हैं। शुभाशुभ विचार तरंगों की चलाचल विद्यमानता में जीव का भौतिक व अति भौतिक विषयों से सम्बन्ध रहता ही है। वह अभी संसार में ही भ्रमण कर रहा होता है। योगी को अतः उपदेश होता है कि हृदय और मूर्धा को सम-सूत्र करके निश्चल होकर अपने प्राण वायु को नाभि से उठाकर हृदय होकर शीर्ष के मध्य और शीर्ष के ऊपर प्रेरित करके स्थिरता का अभ्यास करें।

भाव और क्रिया का परस्पर समानान्तरण : अजीव तत्त्व का जीव प्रदेशों में संश्लेषण

संकल्प व विचारों का घनीभूत स्वरूप ही सूक्ष्म वस्तु के सूक्ष्म निर्माण का हेतु होता है और विचारों की विरल व शून्य अवस्था में वह संयोगी वस्तु विलय या प्रलय भी होती है। प्रकृति लोक में जीव के अन्तः भाव चित्रों के रूप में—लेश्या के रूप में निर्मित होते हैं। ये सब मानसिक रचना की बात है। कार्माण संस्थान की भी रचना एक प्रकार अशुद्ध भावों के कारण ही है। उन भावों की रचना में वर्णों (रंगों) के अनुरूप ही द्रव्य-रचना होती है जो विभिन्न वर्ण-कृष्ण कापोत नील पीत पद्म आदि वर्णरूर से होती है। इससे प्रकट होता है कि भाव व द्रव्य रूप से रचनाएं अन्तः क्रियात्मक व समानान्तर रूप हैं।

परस्पर समानान्तरण व पूरकता का यह सिद्धांत जैन ऋषियों को असाधारण रूप में ज्ञात था। उनके विषय (द्रव्य) और विषय के भावक की पूरकता के, स्वाधीन समानांतरता के तथा उपादान और निमित्त के कारण कार्य के और साथ ही निमित्तों की उपस्थिति तथा जीव के रागादि स्नेह के कारण अजीव तत्त्व का जीव-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाने के सिद्धांत के ज्ञान आश्चर्यजनक हैं।

आज के विज्ञान की विषयी निरपेक्षता ही मानव के लिये संकट का कारण बन रही है। विषय के भावक के भाव में जो बहिष्कार आज के विज्ञान ने कर रखा है इसी कारण इसमें आत्मा, नैतिक सत्य,

प्रेम, सौन्दर्य, कल्याण, हित व शिव आदि का स्थान नहीं है और इसी कारण प्राकृत विज्ञान के बढ़ते चरणों में मानव आज अनास्था को प्राप्त हो रहा है, चारित्र विहीन होता जा रहा है, सदाचार तथा प्राणि-कल्याण के लिये कोई आधार नहीं मिल रहा है।

ज्ञेय और ज्ञायक विश्व तथा प्रेक्षण और प्रेक्षकवत् निरीक्षण प्रणालियां :

इस विश्व में वस्तु-सत्ता एक नहीं दो या अनेक हैं। प्राकृत व अध्यात्म ऐसे दो विश्व मानने ही होंगे। विज्ञान अतः ज्ञेय (दृश्य व अदृश्य जगत्) का एक पहलू ही है और संपूर्ण वस्तु-सत्ता तो ज्ञेय व ज्ञायक ऐसे दो पहलुओं को लेकर है। ज्ञेय में निरीक्षण पर ईक्षण रूप प्रेक्षण प्रणाली है तो ज्ञायक की स्व निरीक्षण रूप प्रेक्षक प्रणाली है। पहली में सब भौतिक प्रक्रियाओं का हम अनुसरण करते हैं तथा दूसरी में हम प्रेक्षण करने वाले प्रेक्षक पर स्वयं ही लौट जाते हैं। वहां प्रेक्षण प्रणाली अंततः अर्थहीन व समाप्त हो जाती है। प्रेक्षकवत् मात्र निरीक्षण प्रणाली को ही अपना कर प्रतिक्रिया रूप विचार तरंगों को अनुत्पन्न रखते हुये, राग व द्वेष से उपरत होकर इस अति मानसिक शक्ति को तो पहचानते ही हैं—उस जीव के स्वयं स्वरूप, "ज्ञान मात्र" व "स्व व पर प्रकाशक" स्वरूप पर भी, अनात्म द्रव्यों व अनात्म भावों से अतीत होकर पहुंच सकते हैं।

यह प्राचीन अर्हंत् तीर्थंकर ऋषियों ने जाना व प्रकट किया है। अब यह शुभ संकेत प्रकट हो रहा है कि विज्ञान ने मनोविज्ञान क्षेत्र में प्रवेश करके यह मान लिया है कि अनात्म विज्ञान की रचना और रहस्यमयी मनोमय प्रवृत्तियों की रचना एक दूसरे की निकट उपस्थिति में समानान्तर चलती हैं। इसी संदर्भ में जैनो का लेश्या वर्णन व कर्म निर्माण के सिद्धांत आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक मनोविज्ञान के तत्त्वों से भी प्रकृष्टतर हैं। अनात्म तत्त्व का जीव के साथ आस्रव, बंध तथा विलोम रूप में संवर और निर्जरा का विशिष्ट विज्ञान जैनों की प्रज्ञा की विशिष्ट ही देन है। सूक्ष्मतम निगोद काय के जीवों की उनकी खोज व वर्णन को भी आज का विज्ञान संपुष्ट करता है। एक कोशिका देह रूप निगोद में भी जीव की चैतन्यता, ज्ञान और जीवनी शक्ति अद्भूत ही है। यह अवश्य है—वहां स्वाधीन कर्म शक्ति नहीं, मात्र भोग-देह की ही प्राप्ति रहती है—तथा आयुर्बल अत्यन्त हीन होता है पर फिर भी उनका देह अन्य-अन्य जीवोत्पत्ति के लिए एक निरंतर शृखंला चक्र निमित्त को लेकर होता है—जिससे उस निगोद काय में भी जीवन के लिए अन्तर संघर्ष की तथा निरन्तर जीने की लालसा की अभिव्यक्ति है—जो बाद मे उच्चतर सुसंगठित देहों की प्राप्ति होने पर भी वैसे ही लालसा जिजीविषा के रूप में व्यक्त रहती है। बद्ध जीव वह चाहे कैसी भी देह में हो–देहाध्यास लेकर वैसा ही सदा जीता रहना चाहता है—क्योंकि शुद्ध जीव तत्व के स्वरूप से-स्वाधीन जीवत्व से वह अपरिचित ही सदा रहा है।

जीव संरचना और विज्ञान के आलोक

जीव प्राणी कितना भी छोटा, अल्प व सूक्ष्म आकार वाला हो इसमें जो चिद्अणु है वह कभी संपूर्ण आवृत्त या क्षीण नहीं होता—उसके ज्ञान का क्षयोपशम कुछ न कुछ विद्यमान रहता है। देह-निर्माण में कोशिका गर्भस्थ चिद् अणु की आश्चर्यकारी अर्थमयी भूमिका इसी कारण है। जीव के देह की पुनर्उत्पत्ति (जो पुनर्जन्म पर होती है) की प्रक्रिया का जन्म कोशकीय विखण्डन से होता है। कोशिका

(सेल) के एक इंच में एक हजार से अधिक कोशिकाएं होती हैं और एक इंच वर्ग में ११ लाख ६० हजार चार सौ होती हैं। एक एक कोशिका पूरा एक विशाल कारखाना होता है। इन कोशिकाओं के ही सुनियोजित व्यवस्था से ही सारे अंगों का निर्माण होता है। वह सुनियोजित व्यवस्था जीवाणु में भी ज्ञान व चैतन्य गुण की विद्यमानता सूचित करती है। एक इंच लाइन में करीब ५०० कारखाने काम करते हैं, इस कारखाने का एक शासन-केन्द्र केन्द्रक है जहां से कारखाने में होने वाली प्रत्येक गतिविधि का नियंत्रण व नियमन होता है। यहीं से आदेश कोशिका के प्रत्येक हिस्से को दिये जाते हैं। यह कहा जाता है कि प्रत्येक कोशिका विखंडित होकर एक से दो, दो से चार इस क्रम में स्वयं अपनी उत्पत्ति करती है और अंग विशेष की प्रत्येक कोशिका अपनी ही सही प्रतिलिपि होती है—आकार प्रकार पदार्थ सब एकसा होता है—ऐसा समस्त जीव जगत् में—वनस्पति आदि में भी वही प्रक्रिया है। जैविक संरचना की यह प्रकिया बड़ी सूक्ष्म और अद्भूत है। इसे जैनों ने निगोद, नित्य-निगोद, सूक्ष्म वेक्ट्रिया (जीवाणुओं) के रूप में वहुत प्राचीन काल में ही जान लिया था।

मानव का जन्म एक अकेली कोशिका शुक्राणु से प्रारम्भ होता है और फिर अनात्म प्रकृति की स्वयं निजी उत्पादन शक्ति उस शिशु के सब अंगों का विकास आकार व वृद्धि आदि—वृद्धावस्था तक की सभी प्रक्रियाओं को कोशिकाओं के निमित्त से करती है। प्रकृति किन कठोर निर्माण मापकों के हिसाब से इन सब अंग विकास व वृद्धि के कार्य को संपादित करती है, उन्हें जैन ऋषियों ने नाम. आयु और गोत्र आदि कर्म सिद्धांत में विवेचित किया है। कोशिका न केवल जीवात्मा का देह धारण करने का साधन है—वह जीवन की चेतना का वाहक भी है।

वर्तमान में जीव विज्ञान ने प्रकट किया है कि जीव चेतना की अनादिकाल की अपनी विकास यात्रा में अपनी कोशिका में अपने ज्ञान अभिलेखागार में अंग विशेष के निर्माण के सारे मानकों के नक्शे उनके संकेत, चिह्न और भविष्य की आवश्यकताओं का ब्योरा (लेखा-जोखा) बड़ी सूक्ष्मता व साफ-2 सूक्ष्म संस्कारों के रूप में रहता है। कोशिका के अभिलेखागार में तमाम सूचनाओं, नक्शों व साँचों की सच्ची प्रतिलिपि विखण्डन से जन्मने वाली कोशिकाओं को प्राप्त हो जाती है। आनुवांशिक व वंशानुगत सूचनाएं इनमें ही होती हैं। न केवल अमूर्त गुण या दुर्गुण बल्कि नाक-नक्शा, रंग बाल-सूरत और सीरत आदि के लक्षणों के आदेश भी कोशिकाओं को दिये जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि इनका यह सब लेखा-जोखा वाले सूचनाओं का भंडार कर्म सिद्धाँत के नियमों से नियमित है। इन सब लक्षणों, सूचनाओं तथा संस्कारों के अनुसार प्रकृति से तत्त्व ग्रहण करके कोशिकायें स्वयं अपने आकार प्रकार को बनाती या बिगाड़ती (सृष्ट या संहार) करती रहती हैं। यह पाया गया है कि शारीरिक प्रक्रियाओं के वंद हो जाने पर भी मस्तिष्क की कोशिकाएं दस सैकेण्ड से पांच छः मिनट तक क्रियाशील रहती हैं। मृत्यु मस्तिष्क के नष्ट होने, निष्क्रिय होने-वहां की कोशिकाओं की क्रियाएं बिगड़ जाने पर हो जाती हैं। कोशिकाओं को हृदय से आहार मिलता है—मगर हृदय के वंद होने पर भी कोशिकाएं कुछ काल तक नष्ट नहीं होती–और ऐसा होने से ही बंद हुई हृदयक्रिया कभी-कभी फिर सक्रिय की जा सकती है।

अक्टूबर 77 में यार्क शायर (इंग्लैंड) में कैरोल विल्किन्सन नामक १६ साल की लड़की को

प्रेम, सौन्दर्य, कल्याण, हित व शिव आदि का स्थान नहीं है और इसी कारण प्राकृत विज्ञान के बढ़ते चरणों में मानव आज अनास्था को प्राप्त हो रहा है, चारित्र विहीन होता जा रहा है, सदाचार तथा प्राणि-कल्याण के लिये कोई आधार नहीं मिल रहा है।

ज्ञेय और ज्ञायक विश्व तथा प्रेक्षण और प्रेक्षकवत् निरीक्षण प्रणालियां :

इस विश्व में वस्तु-सत्ता एक नहीं दो या अनेक हैं। प्राकृत व अध्यात्म ऐसे दो विश्व मानने ही होंगे। विज्ञान अतः ज्ञेय (दृश्य व अदृश्य जगत्) का एक पहलू ही है और संपूर्ण वस्तु-सत्ता तो ज्ञेय व ज्ञायक ऐसे दो पहलुओं को लेकर है। ज्ञेय में निरीक्षण पर ईक्षण रूप प्रेक्षण प्रणाली है तो ज्ञायक की स्व निरीक्षण रूप प्रेक्षक प्रणाली है। पहली में सब भौतिक प्रक्रियाओं का हम अनुसरण करते हैं तथा दूसरी में हम प्रेक्षण करने वाले प्रेक्षक पर स्वयं ही लौट जाते हैं। वहां प्रेक्षण प्रणाली अंततः अर्थहीन व समाप्त हो जाती है। प्रेक्षकवत् मात्र निरीक्षण प्रणाली को ही अपना कर प्रतिक्रिया रूप विचार तरंगों को अनुत्पन्न रखते हुये, राग व द्वेष से उपरत होकर इस अति मानसिक शक्ति को तो पहचानते ही हैं— उस जीव के स्वयं स्वरूप, "ज्ञान मात्र" व "स्व व पर प्रकाशक" स्वरूप पर भी, अनात्म द्रव्यों व अनात्म भावों से अतीत होकर पहुंच सकते हैं।

यह प्राचीन अर्हत् तीर्थंकर ऋषियों ने जाना व प्रकट किया है। अब यह शुभ संकेत प्रकट हो रहा है कि विज्ञान ने मनोविज्ञान क्षेत्र में प्रवेश करके यह मान लिया है कि अनात्म विज्ञान की रचना और रहस्यमयी मनोमय प्रवृत्तियों की रचना एक दूसरे की निकट उपस्थिति में समानान्तर चलती हैं। इसी संदर्भ में जैनो का लेश्या वर्णन व कर्म निर्माण के सिद्धांत आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक मनोविज्ञान के तत्त्वों से भी प्रकृष्टतर हैं। अनात्म तत्त्व का जीव के साथ आस्रव, बंध तथा विलोम रूप में संवर और निर्जरा का विशिष्ट विज्ञान जैनों की प्रज्ञा की विशिष्ट ही देन है। सूक्ष्मतम निगोद काय के जीवों की उनकी खोज व वर्णन को भी आज का विज्ञान संपुष्ट करता है। एक कोशिका देह रूप निगोद में भी जीव की चैतन्यता, ज्ञान और जीवनी शक्ति अद्भूत ही है। यह अवश्य है—वहां स्वाधीन कर्म शक्ति नहीं, मात्र भोग-देह की ही प्राप्ति रहती है—तथा आयुर्बल अत्यन्त हीन होता है पर फिर भी उनका देह अन्य-अन्य जीवोत्पत्ति के लिए एक निरंतर शृखंला चक्र निमित्त को लेकर होता है—जिससे उस निगोद काय में भी जीवन के लिए अन्तर संघर्ष की तथा निरन्तर जीने की लालसा की अभिव्यक्ति है—जो बाद मे उच्चतर सुसंगठित देहों की प्राप्ति होने पर भी वैसे ही लालसा जिजीविषा के रूप में व्यक्त रहती है। बद्ध जीव वह चाहे कैसी भी देह में हो–देहाध्यास लेकर वैसा ही सदा जीता रहना चाहता है—क्योंकि शुद्ध जीव तत्व के स्वरूप से-स्वाधीन जीवत्व से वह अपरिचित ही सदा रहा है।

जीव संरचना और विज्ञान के आलोक

जीव प्राणी कितना भी छोटा, अल्प व सूक्ष्म आकार वाला हो इसमें जो चिद्अणु है वह कभी संपूर्ण आवृत्त या क्षीण नहीं होता—उसके ज्ञान का क्षयोपशम कुछ न कुछ विद्यमान रहता है। देह-निर्माण में कोशिका गर्भस्थ चिद् अणु की आश्चर्यकारी अर्थमयी भूमिका इसी कारण है। जीव के देह की पुनर्उत्पत्ति (जो पुनर्जन्म पर होती है) की प्रक्रिया का जन्म कोशकीय विखण्डन से होता है। कोशिका

(सेल) के एक इंच में एक हजार से अधिक कोशिकाएं होती हैं और एक इंच वर्ग में ११ लाख ६० हजार चार सौ होती हैं। एक एक कोशिका पूरा एक विशाल कारखाना होता है। इन कोशिकाओं के ही सुनियोजित व्यवस्था से ही सारे अंगों का निर्माण होता है। वह सुनियोजित व्यवस्था जीवाणु में भी ज्ञान व चैतन्य गुण की विद्यमानता सूचित करती है। एक इंच लाइन में करीब ५०० कारखाने काम करते हैं, इस कारखाने का एक शासन-केन्द्र केन्द्रक है जहां से कारखाने में होने वाली प्रत्येक गतिविधि का नियंत्रण व नियमन होता है। यहीं से आदेश कोशिका के प्रत्येक हिस्से को दिये जाते हैं। यह कहा जाता है कि प्रत्येक कोशिका विखंडित होकर एक से दो, दो से चार इस क्रम में स्वयं अपनी उत्पत्ति करती है और अंग विशेष की प्रत्येक कोशिका अपनी ही सही प्रतिलिपि होती है—आकार प्रकार पदार्थ सब एकसा होता है—ऐसा समस्त जीव जगत् में—वनस्पति आदि में भी वही प्रक्रिया है। जैविक संरचना की यह प्रकिया बड़ी सूक्ष्म और अद्भूत है। इसे जैनों ने निगोद, नित्य-निगोद, सूक्ष्म वेक्ट्रिया (जीवाणुओं) के रूप में बहुत प्राचीन काल में ही जान लिया था।

मानव का जन्म एक अकेली कोशिका शुक्राणु से प्रारम्भ होता है और फिर अनात्म प्रकृति की स्वयं निजी उत्पादन शक्ति उस शिशु के सब अंगों का विकास आकार व वृद्धि आदि—वृद्धावस्था तक की सभी प्रक्रियाओं को कोशिकाओं के निमित्त से करती है। प्रकृति किन कठोर निर्माण मापकों के हिसाब से इन सब अंग विकास व वृद्धि के कार्य को संपादित करती है, उन्हें जैन ऋषियों ने नाम. आयु और गोत्र आदि कर्म सिद्धांत में विवेचित किया है। कोशिका न केवल जीवात्मा का देह धारण करने का साधन है—वह जीवन की चेतना का वाहक भी है।

वर्तमान में जीव विज्ञान ने प्रकट किया है कि जीव चेतना की अनादिकाल की अपनी विकास यात्रा में अपनी कोशिका में अपने ज्ञान अभिलेखागार में अंग विशेष के निर्माण के सारे मानकों के नक्शे उनके संकेत, चिह्न और भविष्य की आवश्यकताओं का ब्योरा (लेखा-जोखा) बड़ी सूक्ष्मता व साफ-2 सूक्ष्म संस्कारों के रूप में रहता है। कोशिका के अभिलेखागार में तमाम सूचनाओं, नक्शों व साँचों की सच्ची प्रतिलिपि विखण्डन से जन्मने वाली कोशिकाओं को प्राप्त हो जाती है। आनुवांशिक व वंशानुगत सूचनाएं इनमें ही होती हैं। न केवल अमूर्त गुण या दुर्गुण बल्कि नाक-नक्शा, रंग बाल-सूरत और सीरत आदि के लक्षणों के आदेश भी कोशिकाओं को दिये जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि इनका यह सब लेखा-जोखा वाले सूचनाओं का भंडार कर्म सिद्धाँत के नियमों से नियमित है। इन सब लक्षणों, सूचनाओं तथा संस्कारों के अनुसार प्रकृति से तत्त्व ग्रहण करके कोशिकायें स्वयं अपने आकार प्रकार को बनाती या बिगाड़ती (सृष्ट या संहार) करती रहती हैं। यह पाया गया है कि शारीरिक प्रक्रियाओं के वंद हो जाने पर भी मस्तिष्क की कोशिकाएं दस सैकेण्ड से पांच छः मिनट तक क्रियाशील रहती हैं। मृत्यु मस्तिष्क के नष्ट होने, निष्क्रिय होने-वहां की कोशिकाओं की क्रियाएं बिगड़ जाने पर हो जाती है। कोशिकाओं को हृदय से आहार मिलता है—मगर हृदय के वंद होने पर भी कोशिकाएं कुछ काल तक नष्ट नहीं होती–और ऐसा होने से ही बंद हुई हृदयक्रिया कभी-कभी फिर सक्रिय की जा सकती है।

अक्टूबर 77 में यार्क शायर (इंग्लैंड) में कैरोल विल्किन्सन नामक १६ साल की लड़की को

अस्पताल में लाया गया तब उसका सिर बुरी तरह से कुचला हुआ था परन्तु दिल काम कर रहा था—डाक्टरों ने उसे साँस लेने की मशीन के नीचे रखा मगर होश नहीं था उसको। तब डाक्टरों ने मशीन हटा ली और उसकी मृत्यु हो गई। डाक्टरों का कहना था कि मशीन लगाए रखने से कोई लाभ नहीं—क्योंकि उसकी मृत्यु तब ही हो गई जब उसका मस्तिष्क नष्ट हो गया था। मामला न्यायालय में गया और रायल मैडीकल कालेजों की कान्फ्रेन्स ने इस बात की पुष्टि की कि मृत्यु तब ही होती हैं जब मस्तिष्क नष्ट हो जाता है और सिर्फ दिल के काम बंद कर देने से मृत्यु नहीं होती।

योगी जब प्राणों को मस्तिष्क में ले जाकर वहां स्थित कर लेते हैं तब हृदय-धड़कनें या तो मंद हो जाती हैं या बंद हो जाती हैं। ऐसे ही श्वास गति भी मंद या बंद हो जाती है। हृदय धड़कन व श्वास गति बंद होने पर जीवन के बाह्य चिन्ह नहीं देखे जाते, फिर भी वह समाधिस्थ योगी जीवित रहता है और समाधि से उत्थित होने पर हृदय गति व श्वास गति पुनः पूर्ववत् चालू हो जाती है। समाधिस्थ योगी के प्राण सुषुम्ना मध्य होकर ही अथवा सामने से हृदय होकर सीधे कण्ठ में होकर मस्तिष्क में एकत्रित होते हैं। प्राणों का ऐसा वहां पहुंचना ही समाधि का बाह्य रूप है। बाह्य स्थूल सृष्टि से तब वह योगी बेभान रहता है मगर देह को विशेष कष्ट होने पर—उस कष्ट को अपने अन्तः करण में प्रतीत कर सकता है। हां संपूर्ण देह से प्राणों के पूरी तरह उत्क्रमण पर जीव विदेह हो जाता है और जीव वापिस देह में न आए तो देह मृत ही हो जाता है। विदेह अवस्था में भी जीव का अपने संकल्प भावना से देह के साथ सम्बन्ध संभव रहता है और इस भाव-सूत्र के रहने पर—इस पर आघात पड़ने पर देह का सम्बन्ध विदेह हुए प्राणों से टूट जाता है—तब देह मृत हो जाती है। कई मर्तबा ऐसा भी संभव है कि जीव समाधिस्थ होकर अनंत आकाश में चला जाये और काफी लम्बे समय तक न लौट पाये तो उसे मृत समझकर उसकी देह को जला दिया जाए। पर एक फर्क है योगी देह के साथ जब भाव सम्बन्ध भी न हो तो देह वस्तुतः मर जाती है और सड़ने लगती है मगर यदि भाव सम्बन्ध रहता है—तो देह निष्क्रिय ही होती है—मरती नहीं—सड़ती नहीं। सुषुम्नान्तर्गत संचित (Condensed neutronic) द्रव्य प्राण-आहार लम्बे समय तक वर्तमान रहता है और उसी के कारण समाधिस्थ योगी की मस्तिष्क कोशिकाएं संजीवित रहती हैं। समाधि काल में मस्तिष्क कोशिकाएं मरती नहीं सुप्त ही हो जाती हैं। सुषुम्ना मेरूदण्डान्तर्गत एक नाली मात्र ही नहीं—वह एक सूक्ष्म देह भी है और इसमें प्राण प्रकाश रूप में परिणत रहता है और प्रकाश की चादर में लिपटा जीवात्मा सूर्य-प्रकाश सा ही चमकता दिखता है और जीव द्रव्य-प्राण तत्त्व प्रकाश तैजस तत्त्व के आहार को वनस्पति आहार से, जल से, वायु से, सूर्य प्रकाश से पाता ही रहता है—मगर जब प्रकाश रूप तैजस देह तथा सूक्ष्म कारण (कार्माण) देह भी नहीं रहती है तब वह सृष्टि के किसी भी तत्त्व के निराश्रय स्वयं आप अपने ज्ञान-आश्रय ज्ञान रूप ही सर्वगत ज्ञान रूप में विद्यमान रहता है और भार मुक्त होने से विश्वोत्तीर्ण होकर विश्व शिखर सिद्धालय पर चला जाता है।

वस्तुतः जीव अभौतिक चिन्मय है और देह चाहे कोई भी हो भौतिक जड़ तत्त्व है और देह व देह के कारणों से मुक्त जीव अन्तिम पुरुष देह के आकार मात्र होकर सिद्धालय के प्रति उर्ध्वगामी हो जाता है। अरस्तु ग्रीक तत्त्व-वेत्ता जो

सिकन्दर के साथ भारत में आकर यहाँ के तत्व वेत्ताओं के सम्पर्क में आया था का कहना है कि शरीर भौतिक पदार्थ है, आत्मा शरीर के आकार रूप में है। देह और आत्मा में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मोम व मोमबत्ती में—मोम एक भौतिक पदार्थ है और मोमबत्ती उसका आकार क्षेत्र है। ऐसा ही जैनों का कथन है। ज्ञानावर्ण में कहा है—"ऐसी मूसिका जिससे मोम निकल गया हो—उसके उदर में जैसा आकाश का आकार है—वैसा आकार निर्मल आत्मा का है। [ज्ञानार्णव ४०–२५]

जर्मनी के प्राणी शास्त्री आगुस्त बीजमान ने पृथ्वी पर जीव की अभिव्यक्ति या आविर्भाव एक कोशीय अमीवा से मानी है—जैनो ने एकेन्द्रिय कोश व प्राण तत्त्व से। और प्राण दस तक हो सकते हैं। यह अमीवा धरती का सरलतम एक कोशीय जीव है। इस अमीबा की वृद्धि कोशिका-विभाजन से होती है और विभाजन होकर भी निरन्तर इनकी वृद्धि होती रहती है और विभाजन से किसी की मृत्यु नहीं होती। बीजमान के अनुसार विकास के क्रम में जब जीव में रीढ़ की हड्डी एवं मस्तिष्क बने तब उनकी नश्वरता के कारण मृत्यु का आविर्भाव हुआ। वे तब मरकर फिर नये देह को प्राप्त होने लगे। मृत्यु इस दृष्टि में पुनर्जन्म का माध्यम हो गई। जीव का एक देह यंत्र छूटता है, इसलिए उसे दूसरे देह यंत्र की प्राप्ति होती है।

मस्तिष्क तथा रीढ़ की हड्डी का विकास जीव को मात्र मृत्यु का ही निमित्त रहा हो ऐसा नहीं। मनीषी पूर्ण पुरुष ने इसका उपयोग बार-बार जन्म लेने व मरने के दुश्चक्र को तोड़ देने के लिए भी जाना। रीढ़ की हड्डी के मध्य ही सुषुम्ना नाड़ी है और मस्तिष्क से ही जीव के प्राणों का संचालन है। इन दोनों के रहस्यों को जानकर अजीव तत्त्व को भेद कर पूर्ण पुरुष अर्हत् परमेश्वरों ने संसार के भव व मृत्यु के पार चले जाने की विद्या को पाया। उन्होंने पाया कि तब जीव उस जीवन में चला जाता है जिसमें बार-बार जन्म नहीं होता, न मृत्यु होती, न देह पिंजरे की कैद, प्रत्युत पूर्ण ज्ञानानन्द रूप ही जीव रह जाता है। मस्तिष्क का व रीढ़ की हड्डी के मध्य तरल पदार्थ से मानव जीव के प्राणों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मस्तिष्क को यही तरल अमृत पदार्थ उत्कृष्टतम आहार के रूप में सुषुम्ना नाड़ी होकर प्राप्त होता है और उसी से मस्तिष्क के उच्चतम व उत्कृष्टतम केन्द्र जीवित एवं जागृत रहते हैं जिनसे मानव को देह पिंजरे के द्वार खोल लेने और निकल जाने के भेद या रहस्य भी खुल जाते हैं। तथा यह सुषुम्ना तभी खुलती है जब योगी राग-रहित ज्ञान मात्र भावातीत अपनी आत्मा के ध्यान का अभ्यास करता है। उस अवस्था में अभ्यास परिणत निर्मलतम प्राण अथवा उच्चतम मस्तिष्कीय प्राण ही परमेश्वर होते हैं। योगी के तब प्राण ब्रह्माण्ड में स्थिर होते हैं। ब्रह्माण्डीय आकाश-तत्व में संयम होने पर पंच-भौतिक द्रव्यों की सघनता से मुक्त होकर तथा संसार व देह के राग से मुक्त होने से ज्ञान मात्र होने की अपनी प्रतीति को पा लिया जाता है तब कर्म-भारहीनता में जीवात्मा का उर्ध्वगमन-शीलता का स्वकीय गुण उन्मुक्त हो जाता है।

कोशिकाओं की कुण्डली-नुमा लड़ों में समस्त चैतन्य जीव की अपनी संरचना सम्बन्धी सूचनाएँ संजोई हुई रहती हैं और कोशिका में साइटोप्लाज्मा द्रव में उत्पादन के लिए उत्तरदायी कार्मिकों के

समुदाय विद्यमान रहते हैं। अमरीकी विज्ञान लेखक जार्ज गैमो ने आनुवांशिकी सूचना व्यवस्था में चार निर्माण समूह खण्डों की तुलना ताश के चार पत्ते—हुक्म, चिड़ी, ईंट तथा पान के पत्तों से की है—चार पत्तों की चौकड़ी चार प्रकार के निर्माण खण्डों का प्रतीक होती है। प्रत्येक आनुवांशिकी मोल्यूकूलर को ताश के हजारों पत्तों का एक क्रम (सीक्वेन्स) कहा जा सकता है। इन क्रमों में वह सूचना होती है जिससे गुलाब की कोशिका केवल गुलाब और आदमी की कोशिका केवल आदमी का निर्माण करती है। इन मोल्यूकूलर ताश की गड्डियों की विशेषता यह देखी गई कि इसमें चिड़ी के पत्तों की संख्या पान के पत्तों के बराबर है तो ईंट के पत्तों की संख्या पान के पत्तों की संख्या के समान है—और फिर ये पत्ते जोड़ा (युगलिया) बनाते हैं। युगलियों की यह रचना भोग-भूमि के युगलियों की याद दिलाती है। इस रचना-स्तर पर ये जीव स्वाधीन नहीं हैं, वे तो एक यन्त्र के समान ही युगलियों की रचना करते हैं। इनकी देह ही इनकी भोग-भूमि है न कि स्वाधीन कर्म करने की कर्म-भूमि। ये युगलियों (जोड़ों) को बनाते हैं तो सिर्फ अपने ही वर्ण के युगलियों के साथ। यथा चिड़ी केवल हुक्म के साथ और ईंट केवल पान के साथ जोड़ा बनाता है। जब इनका विखण्डन होता है तो ये जोड़े टूटते हैं और अपनी प्रतिकृति बनाकर प्रकृति में लीन होते हैं पर फिर भी उस प्रतिकृति में जीवन को शाश्वत बनाते जाते हैं। ये जोड़े जोड़ों के रूप में ही तमाम सूचनाओं के साथ विखण्डित होते हैं और अपनी प्रतिकृति तैयार कर देते हैं। युगलियों की रचना में जैनों के भोग-भूमि के युगलियों के वर्णन की साम्यता तुलनीय ही है।

कोशिका एक प्रकार की रासायनिक फैक्ट्री है जिसमें चोबीस प्रकार के प्रोटोन का उत्पादन होता है और पाया गया है कि अलग-अलग प्रकार की कोशिकाएँ अलग-अलग प्रकार के प्रोटोनों का उत्पादन करती है। इन्हीं में निर्माण योजना के कार्यक्रम की भाषायी वर्णमाला सन्निहित है और इससे ही जीव की चैतन्य ज्ञान गुण की अभिन्नता ही लक्षित होती है। यह क्या कम ज्ञान की बात है कि जीव की संचित सूचनाएँ अनगिनत होती हैं। पाया गया है कि प्रत्येक जीव का स्वयं अपना स्वैर नियम है—अतः गुण अनन्त हैं और ये अक्रम रूप से व्याप्त रहते हैं। अतः उसके समस्त नियमों की जानकारी असम्भव है। कब किस नियम से कौनसा जीवाणु अपने किस गुण में किस प्रकार सक्रिय या प्रतिक्रिय होता है—उसके भौतिक जगत पर क्या घात-प्रतिघात तथा रिफ्लेक्स हो सकते हैं—यह ठीक निर्धारित नहीं किया जा सकता। जीव के अनन्त गुण और उन गुणों की अनन्त ही पर्यायें तथा उनके निमित्त तथा पर्यायों की निजी शक्तियां तथा परिणाम भी अनन्त हैं और उनका विश्लेषण मोटे तौर पर ही सांकेतिक रूप में सम्भव है। यही कारण है कि जीव की अभिव्यक्ति अनन्त-अनन्त प्रकारों की हो सकती है। अतः पूरे रहस्य कभी नहीं पाये जा सकते। पर यह जरूर पाया गया है कि जीवाणु कोशिका की जो रासायनिक भाषा है—वही मानव-कोशिका की है, जिससे प्रकट होता है कि मानव देह की कोशिकाएँ जीवाणु कोशिकाओं का ही रूप है। विज्ञान आज तो संश्लेषित जीव विकास की दिशा में कार्यरत हैं और इसी दिशा में श्री हरगोबिन्द खुराना ने भी नाम पाया है। आज यह सम्भव पाया जा रहा है कि किसी कोशिका में बाहर से एक डी० एन० ए०. खण्ड को प्रविष्ट कराकर—वहां वर्तमान जीव से किसी नये प्रोटीन (जो बीस एमीनो एसिड की क्रमिक लड़ी से बनता है) को बनाकर कोशिका में नया गुण पैदा

किया जा सकता है। वस्तुतः ये सब खोज स्वयं जीव-तत्त्व में तो नहीं, पर जीव की पर्याय जो अजीव तत्त्व के सम्बन्ध निमित्त से है में ही विशेष है। व्यक्त जीव के आकार व मानसिक संरचना पर भी प्रभाव सम्भव हो सकते हैं मगर स्वयं जीव का जो ज्ञान मय आत्म तत्व है उसका इनमें सूत्र नहीं पाया जा सकता। क्योंकि विभिन्न अनात्म तत्त्व से ज्ञान तत्त्व का रहस्य हस्तगत नहीं हो सकता। रासायनिक प्रक्रिया के जीवात्मा के अनात्म देह के कोष बनते हैं और बिगड़ते हैं मगर स्वयं आत्मा तत्त्व का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अनात्म पदार्थ भिन्न जातीय चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकता—हां उन-उन प्रयोगों में द्रव्य निमित्तों के अनुसार अपनी योग्यतानुसार जीव वहां बाहर से आकर बंध सकते हैं, पर उनकी अन्तःक्रिया या समानान्तरण क्रिया का रहस्य अलक्ष ही है।

जीव विकास की मंजिलें और सप्त तत्वकोष

जीव अपनी अशुद्ध अज्ञान अवस्था में पुद्गल और अपने चेतन द्रव्य की अन्तःक्रिया अवस्था में संश्लेषित रहकर नाना प्रकार के दैहिक और मानसिक व्यवहार स्तरों पर अपना जीवन जीते रहते हैं। पर फिर भी जीव की परम निर्मल स्थिति जो पुद्गल व अनात्म द्रव्य व भावों से निरावरण और शुद्ध हो—सम्भव होनी समझ में आती है। इस स्थिति में यह अनन्त अभेद्य तेजोपुंज प्रकाश व ज्ञान पुंज रूप है। इसे ही सर्वज्ञ अर्हत् पुरुषों और तीर्थंकरों ने अपनी निष्कलंक निर्मल ज्ञान अवस्था में जाना। यह आत्मा की उच्चतम उत्कृष्ट निर्मल अवस्था है। ऐसे ही जीव की एक निकृष्टतम अवस्था भी समझ में आतीं है कि जिसमें जीव का आलोक ऐसा अल्पतम हो कि जड़वत् प्रतीत होने लगे—जो यद्यपि जड़ तो नहीं हो जाता। इस अल्पतम जीव अवस्था को ही एक कोषीय निगोद-काय अवस्था कहा जाता है। जीव इसमें व्यक्त तो है पर अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं से करीव-करीब च्युत और भ्रष्ट है। यही जीव अपनी जीवंत उत्क्रान्ति के लिए अनन्त काल से प्रतीक्षारत रहता है। यह जीव इस निगोद स्थली में एक श्वास काल में अठारह-अठारह बार जन्म व मरण लेता रहकर दुःख भोगता रहता है। यह जीव इतनी छोटी देह में रहता है कि एक अणु जितने स्थान में तो असंख्यात जीव व्याप्त व अवगाहित रहते हैं। जिन सूक्ष्म अन्तःक्रियाओं व व्यवहारों को लेकर जीव अणु-अचेतन द्रव्य को लेकर बंधता व अभिव्यक्त होता है उसका प्रायोगिक लेखन कभी न सम्भव हुआ, न हो ही सकता है। संश्लेषित जीव विकास में संलग्न विज्ञान वेत्ता भी यह नहीं कर सकते हैं।

निगोद से कभी जीव काल लब्धि पाकर काकतालीय न्याय के प्रमाण एक कोशीय देह से छूट कर बहु कोशीय एकेन्द्रिय जीवावस्था में आता है। यहीं से उसकी जीवन विकास की यात्रा (दौड़) आरम्भ होती है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रियों के विकास में असंख्य काल व्यातीत हो जाता है और पंचेन्द्रियों का विकास ही जीवन की पांच लम्बी दौड़ें हैं। अब जीव पहले असंज्ञी और फिर संज्ञी मन वाला जीव के रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति ने अब जीव को ऐसा देह यंत्र प्रदान कर दिया कि जो अनात्म विकास में अनुत्तर व उत्कृष्टतम है। स्व-संचालित मन वचन और काय का यह (सेल्फ रिपेयरिंग तथा ओटोमेटिक) स्व-चलित यंत्र है—जिससे उत्तर अब कोई देह नहीं हो सकती। अब तो इस देह यंत्र से ही

उत्तीर्ण होने का प्रश्न रहता है। इसी यन्त्र में रहस्य है कि वह इसमें से अपनी मुक्ति और चिद् विकास की यात्रा—अन्तिम चरण यात्रा को पूरा कर ले। मानव ऐसे देह यन्त्र को पाकर यदि अपना बन्धन मुक्त नहीं करता तो प्रकृति के पास पुनर्जन्म और पुनर्मरण के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता और यह भी आवश्यक नहीं कि ऐसी उत्कृष्ट जीवन देह बार-बार मिले ही। अब तक जीव भिन्न-भिन्न जीवन स्तरों पर नाना योनियों में ही भ्रमण करता रहा था—पर उसने खोज ही नहीं की और न कर ही सकता था कि वह देह से विशिष्ट मात्र ज्ञान पिंड चैतन्य द्रव्य है। जीव का देह तो मात्र वस्त्र रूप ही होता है—जो जीर्ण होता है, मृत होता है और फिर निर्मित हो जाता है। ये देह वस्त्र ही मानो उस जीव को यह कह रहे होते हैं कि मैं तो पुनः पुनः आता हूं पर तू तो सदा से वही है। ऐसे ये देह वस्त्र जीव के ज्ञान किरणों मय मूल स्वरूप को आवृत्त करके उसे निरन्तर देह से अतीत ~~सब~~ स्व के जानने के लिये प्रेरित करते हैं कि तू मुझ में क्यों एकत्व करता है, अपने में ही देख—वही तेरी आत्मा है—और यह जो तू देख रहा है यह तो तुझ से भिन्न ही है।

मानव व उसकी देह रचना में मोटे तौर पर तत्त्व (कोष) की जो तत्त्व विभाग के अनुसार हैं और पार्थिव जीवन में गहरे गुंथे हैं—तथा जिनमें साइकिक व परा-साइकिक स्तर भी हैं, सात स्थितियाँ कही जाती हैं। वे कोष सेल्स (Cells) नहीं है। ये Planes (स्तर) हैं। सेल्स (Cells) की बनावट तो स्थूल देह में पूर्ण हो चुकी है। ये Planes बद्ध जीव चेतना के उत्तरोत्तर आधार स्तर हैं और स्वयं आत्म-चेतना तो चरम उर्ज्जस्वल ज्ञान पिंड मात्र है—तथा ये विभिन्न स्तर planes ही उसके संसार में संचरण की भूमिका को देते हैं।

स्वभाव धारा–निर्जरा धारा तथा आस्रव-बंध धारा–विभावधारा

१–स्थूल देह
२–द्रव्य प्राण
३–काम (इच्छा, मन, वासना)
४–अधम मनस् (राग-द्वेष, मोह)
५–उत्तम मनस् (निर्मल प्रेम, अनुरक्ति)
६–बुद्धि (भाव प्राण, विवेक, निर्णय-स्थिरता)
७–जीवात्मा (ज्ञानादि गुण पिंड)

१–बुद्धि सहित जीव का स्थूल देह के इन्द्रिय-स्तर की तरफ बहिर्मुखी होना विभाव धारा है।

२–स्थूल देह को तथा द्रव्य प्राण व काम (सूक्ष्म देह) को संवरित करके और अधम और उत्तम मनस् (राग, द्वेष, प्रिय-अप्रिय व भाव कर्म) से उपरत हो कर बुद्धि (विचार, चिंतन, मनन रूप अन्तर्जल्प) से संवरित होकर यानी काया, प्राण, मन और वाणी के संवर के बाद ही आत्मा के निकट अर्थात् स्व भाव धारा में हुआ जाता है।

आत्मा को ही अंग्रेजी में स्प्रिट कहते हैं, और उसका स्वयं का विश्व स्प्रिच्युअल विश्व है। इस विश्व में आत्मा का निकटतम सम्बन्ध बुद्धि के साथ है। इसके अनन्तर नीचे उतर कर उत्तम मनस्

और फिर आगे यह जीवात्मा नीचे-नीचे स्तरों पर अनातमा में एकत्व करता मात्र अपने को देह समझता बहिर्मुखी व भौतिकवादी ही रह जाता है। मनस् क्षेत्र को मैन्टल क्षेत्र या लोक कहते हैं—तो काम या वासना प्रधान देह को एस्ट्रल लोक तथा ठोस स्थूल प्राण व देह स्थिति को फिजिकल अवस्था कहते हैं। प्राण को ईथीरियल वस्तु कहते हैं क्योंकि यह ईथर के समान ही सूक्ष्म वायु रूप होता है। इस प्रकार की सृष्टि में सात लोक को चार प्रकार के तत्त्व लोक में विभाजित करके देखा जा सकता है—ये चार विभाग हुए- (१)स्प्रीच्वल (रूहानी या आध्यात्मिक) जिसमें स्वयं जीव व बुद्धि हैं (२) मनस् (मानसिक) (३) एस्ट्रल-काम व वासना लोक, और (४) फीजिकल (भौतिक-प्राण देह और स्थूल देह)। विचार और भाव (Thought & Feelings) साइकोलाजी के विषयहैं, फीजियोलाजी के नहीं हैं। वे मैटर कनसैप्ट नहीं है। अतः मनस् और बुद्धि और कामनादि अनात्म जड़ तत्त्व मात्र नहीं हैं, उससे भिन्न ही तत्त्व हैं। ये द्रव्य व भाव दो तत्त्व रूप हैं।

इस तत्त्व विभाग योजना से भी यह बात भी प्रकट होती है कि मानव जीवात्मा प्रकृति से रचित उत्तम देह को प्राप्त होकर भी स्वयं अचेतन प्राकृत तत्त्वों से विलक्षण ही है तथा प्राकृत तत्त्वों में राग, द्वेष के प्रभाव से जैसे-जैसे वह अपने को मुक्त करता है, वैसे-वैसे ही वह अपने शुद्ध स्वरूप के निकट होता जाता है। यहाँ प्रभाव शब्द को ही जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है क्योंकि प्राकृत तत्त्व प्रत्यय का कम व ज्यादा होना इतना अर्थ नहीं रखता जितना जीव का स्वयं उनसे राग, द्वेष रूप परिणमन कर प्रभावित होकर —अपने भाव से आप स्वयं जडित होने रूप प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। भाव बन्धन ही वस्तुतः उसका बन्धन है—और इस भाव बन्धन के ही कारण तदनुरूप प्राकृत तत्त्वों का उसके साथ आना व बन्धना भी होता है। इन तत्त्वों के विचार में ही सर्वज्ञ आम्नाय में जीव व अजीव दो तत्त्वों के बाद अजीव का जीव के प्रति आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों का विचार प्रस्तुत हुआ है जो वैज्ञानिक दृष्टि से तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंधने की प्रक्रिया में जो सिद्धान्त तथा प्रक्रिया है उसी से विलोम रुकने, छूटने और मुक्त हो जाने के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया है। अतः सर्वज्ञ योग विज्ञान इस ही आधार पर जीव की मुक्ति की चर्चा करता है। इसी कारण वह प्रकृष्टतम तथा सरलतम विज्ञान भी है। जीव का स्वयं का भाव ही जब राग, द्वेष से जड़वत् होता है यानी पार्थिव लोक सम्बन्धी होता है तब वह आप स्वयं को उस पार्थिव लोक के ही घेरे में आ जाने के लिये विवश करता है। अतः जीव के स्वयं के भाव व ज्ञान ही वे तत्त्व हैं जो उसके बंधन व मुक्ति के हेतु होते हैं। काया के संवर रूप तप, मन का संवर (निग्रह व निरीक्षण) रूप स्वाध्याय तथा प्रकाश मय ओंकार के मध्य पंच परमेष्ठी रूप ईश्वर-स्मृति,—यही क्रिया योग है। इसके अनन्तर आत्म ध्यान यानी अध्यात्म योग का उदय होता है। क्रिया योग में ही संयम का स्वरूप है।

निम्नतम कोटि का जीव एक कोषीय रूप में प्रथम विकसित होता है। बहुत काल के अनन्तर वह दो कोषीय, फिर तीन कोषीय आदि रूप से अनेक कोषीय होता है, और इन्द्रियों का विकास होता है। पंच इन्द्रियों का विकास और फिर मन रूप सूक्ष्म अति-इन्द्रिय तथा मस्तिष्क के विकास पर

प्रज्ञा प्राप्ति के पूर्ण होने पर सम्पूर्ण देह यन्त्र में मानव रूप से जीव विकास पाता है। विकास की यह चढ़ाई सीधी सपाट नहीं होती—अनेक बार मानव देह प्राप्त होकर भी कई बार नीचे मानवेतर देहों की गतियों में भी भ्रमण होता रहता है। पर प्रज्ञा और मन के विकास पर ही इनके आश्रय जीवात्मा को अपने पूर्ण शुद्ध अलौकिक स्वरूप के प्रकाश करने का अवसर मिलता है—क्योंकि अन्य योनि गतियों में उसका चैतन्य तत्त्व प्रायः जड़ रूप ही रहता है और उसे वापिस पूर्ण चैतन्य कर लेने का अवसर ही नहीं मिलता। पर मानव सम्पूर्ण विकास प्राप्त देह को प्राप्त करके भी संसार में अनादि अज्ञान भव भ्रमण संस्कार से देहाध्यासी तथा बाह्यात्मा रहता है, मोह के वश मिथ्यात्वी रहता है। पर यह अवश्य है कि जीव के देह की विकास की पाँच मंजिलें—पंचेन्द्रिय विकास के साथ पूरी हो जाती हैं। वस्तुतः ये विकास जीवत्व का विकास नहीं—अनात्म देह यन्त्र का ही विकास है। उत्तम सम्पूर्ण देह यन्त्र रचना पुद्गल परमाणुओं (प्रकृति) की देन है—और निकृष्ट एक कोणीय देह यन्त्र भी प्रकृति की ही देन है। वस्तुतः प्रकृति को रचनाकार कहना भी उपचार से ही है—जीव अपने ही चैतन्य गुणों को अनात्म कर्मों से आवृत्त करता है और आप ही उनसे अपने को निरावृत्त भी करता है। अपने भाव एवं परिणामों के अनुसार वह प्रकृति के कर्म-परमाणु को आकर्षण तथा विकर्षण करता प्रकृति के साथ रमता रहता है। अज्ञान के कारण ही अपनी उस निम्न स्वरूप—स्थिति में जाता है, जहाँ वह कम चैतन्य रहता है। ज्ञान में चैतन्य का रूप विकसित होकर देखना, जानना और जीना होता है और वह जड़ता के विविध सोपानों को पार करके अपनी चरम ज्ञान चैतन्य अवस्था में आ पाता है।

मानव-विकास की दो और मंजिलें

मानव रूप में जीवात्मा के आने पर भी विकास का क्रम समाप्त नहीं होता, हाँ प्रकृति के देह रचना के कौशल की सम्पूर्णता हो जाती है। अब मानव को विकास की दो दौड़ें और पूरी करनी होती हैं और वस्तुतः ये ही उसके कम चैतन्य स्वरूप के पूर्ण चेतन स्वरूप को उघाड़ने वाली होती हैं। उसे अब बाह्यात्मा से अन्तरात्मा (अन्तर्मुख आत्मा) और अन्तर्मुखी से उर्ध्वमुखी (परम-आत्मा) बनने की यात्रा पूरी करनी होती हैं। तब कहीं वह अनात्मा के साथ संकल्प रूप अन्तः क्रिया तत्त्व आस्रव व बन्ध रूप समानान्तर क्रिया करने से उपरत होकर उससे मुक्त स्वाधीन शुद्ध स्व-क्रिया यानी परिणमन करने वाला होता है और इस तरह अपने स्वरूप के निर्मल प्रकाश की सात मंजिली दौड़ें (यात्राएं) उसे पूरी होती हैं। जीव में चिर कालीन भव यात्रा में क्रमशः विकास प्रक्रिया द्वारा उसकी प्रज्ञा में उन सब पदार्थों की जो उससे बाहर हैं, अपने में अंकित करने की Symbolic Imagination की रचनात्मक अलौकिक शक्ति उन्नत हो पाती है। इस शक्ति के उन्नत होने पर भेद विज्ञान होने से प्रकृति के वे सब आवरण जिनमें वह बन्धा हुआ संघर्षशील रहा है, टूटने लगते हैं, और उसे उन सब आत्माओं का भी परिचय व स्वरूप भान होता है जिनके मध्य रह कर वह उन्नति करता आ रहा है और वह अनातम प्रकृति तथा अपने स्वरूप को भी जानने लगता है—ऐसा करते-करते प्रज्ञा विकास में भेद-विज्ञान करके ब्रह्म विद्या या आत्म विद्या के रहस्य को भी खोजने लगता है। उसे फिर स्वभाव की तादात्म्यता से

पूर्ण ज्ञान होने लगता है जो समाधि विज्ञान में ही उसे फिर सम्भव होता है। बुद्धि तत्त्व से भी कहीं लोकोत्तर स्वयं जीवात्मा का वह ज्ञान है। वह इसलिए लोकोत्तर है कि आत्मा स्वयं ही पूर्ण ज्ञान पिंड है और उसका आप अपना अबाध निरालम्ब ज्ञान होता है। निरालम्ब ज्ञान न होने तक प्राकृत तत्त्व मय, द्रव्य मन और द्रव्य बुद्धि के भी आश्रय तथा निमित्त रहते ही हैं। पर इस ज्ञान पिंड आत्मा की केवल ज्ञान किरणें तो प्रथम ध्यान तथा समाधि में ही अवलोकित होती हैं—मात्र उन समाधि तथा ध्यान भूमियों में जब जीवात्मा अनात्म-तत्त्वों को नीचे छोड़ कर स्वयं आप अपने तत्त्व में निमग्न हो जाता है। ये सब निरे आनन्द, परम आनन्द रूप ही होती हैं, स्व मुक्ति या स्वतन्त्रता स्वावलम्बी स्वाश्रय जीवन तत्त्व रूप से होती है। अपने अन्तर में सुषुप्त व मोहित उस चैतन्य तत्त्व को ही जागृत, पूर्ण चैतन्य करना होता है।

प्राकृत (विभाव) धारा और अप्राकृत (प्रति स्रोतगामी) स्वभाव धारा

सामान्यत: संसारी मानव के सब व्यवहार तथा व्यापारों के संचालन बुद्धि, विचार, तथा मन के भाव द्वारा होते हैं। इन्द्रियां तो मन के आधीन, मन बुद्धि के आधीन और बुद्धि-क्रिया चैतन्य पुरुष आत्मा के आधीन है। वैचारिक तथा भाव धाराएं जब जगत् व जागतिक विषयों, व्यक्तियों के राग से मलीन होती है तो ये सब विभाव धारा रूप होता है—ये केन्द्र से परिधि की तरफ केन्द्र से जितनी दूर व जितने बड़े दायरे विस्तार रूप होती हैं जीव आप अपने से उतना ही दूर होता, आप अपने से टूटता चला जाता है। मन और बुद्धि की धाराएं जब परिधि से स्व केन्द्र की ओर बहती हैं तो वह स्वभाव धारा कही जाती है। स्व, नित्य स्वभावके साथ समीकरण, करने से ही स्वाश्रित निरालम्ब स्वभाव धारा मिलती है, स्वतन्त्र गति में ही आत्मवस्तु का शुद्ध तथा आनन्द रूप स्वरूप अनुभव में आता है।

उपनिषद का ब्रह्म-जीव "एकोऽहं बहुस्याम्"—बहिर्मुखी विभाव धारा में प्रवाहित होकर अपने लिये संसार जाल की रचना करता है—यह प्रवृत्ति धारा है। अर्हंत् शासन की धारा अन्तर्मुखी है। यहां बहुमुखी व बहिरात्मा नहीं रहता, न वह ऐसा होना चाहता, क्योंकि उसे संसार-सृष्टि घटित नहीं करना है। उसे तो अपनी स्वतन्त्रता सहित अपने ही पूर्ण स्वरूप का निर्माण या विकास करना है, जहां वह राग व मोह से अनेक रूप विभक्त न होकर, पर-वस्तु आवरण से मुक्त, निर्मल व अद्वय और सुन्दर होता है।

अर्हंत् योग विज्ञान की विशिष्टता स्वभाव धारा की है। यह प्रतिस्रोतगामी और विलोम गति के अनन्तर सहज रूप से ही आती है। इसमें तब पुरुषार्थ का ही आश्रय रहता है, और अपने मौलिक ज्ञान शक्ति (गुण) की प्रसिद्धि रहती है। तब इसमें अभ्यास व चित्त के अवलम्बन भी नहीं होते। इस भूमि में आने से पूर्व तो अनादि की विकल्प आश्रयता की आदत जीव को रहती है। वह आदत व विकल्प आश्रयता न छूट जाये तब तक कुछ काल कतिपय विकल्पों का, अन्य सब विकल्पों के विसर्जन के अर्थ

ग्रहण रहता है। उनसे विकल्प निग्रह की क्षमता साधक में होती है। योगाभ्यासों में ऐसी साधना तथा प्रयोगों की चर्चा है। कारण स्पष्ट है कि हीरे से ही हीरा काटा जाता है। स्वेच्छा से कुछ शुभ विकल्प और अभ्यास लेकर अनादि के असंख्य विकल्प और कर्म-चेष्टा की अहं मन्यता, अहंकार भी काट दिये जाते हैं। यह जीव की विवशता है—उस जीव की जो अभी शुद्ध नहीं है, छद्मस्थ है, कर्म-बंधन में बंधा है और ऐसे जीव में विवशता रहनी ही है और वह इस विवशता में अपने पुरुषार्थ को जैसा चाहिए जागृत भी नहीं कर पाता। ज्ञानी जीव ज्ञान प्राप्त करके एक साथ कर्म-बन्धन तो नहीं तोड़ देता—कर्म-बन्धन का टूटना भी शनैः-शनैः होता है और शनैः-शनैः ही निर्मलता का प्रवाह प्रखर होता है। पर ज्ञान के होने पर ज्ञानी अपने देह बन्धन की विवशता को भी जानता है, उपाधि को उपाधि ही जानकर समाधि की ओर गति करने की चेष्टा करता है—कर्म-बन्धन में होकर भी कर्मोदय को मात्र देखता व जानता ही है, सुख दुःख नहीं करता। समाधि में अपनी समता और शांति के रहस्य को जानकर—सब ओर से बुद्धि को विकल्पों से—राग व मोह से विमुक्त करके सम रखता है। सम बुद्धि होना ही फिर वस्तुतः समाधि है। मुक्ति के लिए वस्तुतः जीव को अपनी सम्पूर्ण शक्ति को विभाव से विपरीत दिशा प्रतिस्रोत अभिमुखी करने में ही दृढ़ता से लगाना होता है और जब स्वभाव धारा में जा पहुंचे तो सब कुछ विश्राम हो जाता है, अनन्त यात्रा का अवसान तथा अनन्त शांन्ति व आनन्द के राज्य में प्रवेश हो जाता है। आत्मा ही आप अपने लिए शुद्ध दशा में अतः चिन्तामणि, अमृत कुम्भ, कामधेनु, नन्दन वन है और वह ही अज्ञान दशा में अपने लिए वैतरणी और कूप शाल्मली है।

प्राकृत प्रवाह से अप्राकृत अमृत प्रवाह की ओर आने में सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति का उपयोग तथा विकास आवश्यक होता है। इसी में प्रमत्त से अप्रमत्त, बुझे-बुझे प्रमादशील एवं निष्क्रिय से रहने के स्थान में जागरूक और बहुत कर्मण्य रहना होता है। संसार में प्रवृत्ति ही कर्मण्यता मांगती हो और मुक्ति के लिये मात्र निवृत्ति ही या निष्क्रियता ही आवश्यक हो—यह समझना एक भारी भ्रांति है। साधक के चित्त का उर्ध्व-मुख हो जाना तथा उसके शुक्र विन्दुओं का उर्ध्व संचरित हो जाना अति आवश्यक है। उर्ध्व-मुखी भावों की स्थिरता भी उर्ध्व संचरणशील शुक्र बिन्दुओं के बिना नहीं रह सकती वरना वह सघन ऊर्जा सहज ही नीचे की ओर प्रवाहित होती है, और उसे निर्मल सूक्ष्म व उर्ध्वमुख करने के लिये प्रयत्न करना होता है. तप करना होता है। आन्तरिक संपदा भी बिना श्रम रूप मूल्य चुकाए प्राप्त नहीं होती। शक्ति का सही उर्ध्वमुख उपयोग ही स्व संपदा को प्रकट करता है। स्व शक्ति स्रोत का उपयोग न कर मानव आंतरिक रूप से दरिद्र का दरिद्र ही रह जाता है। उपयोग करने के लिए विवेक चाहिए और चाहिए स्फूर्ति। अज्ञान और प्रमाद—ये दो बड़े शत्रु हैं। अतः इस अर्हत् योग परम्परा में कहा गया कि अपने को जानो तथा अप्रमत्त बनो। व्यावहारिक जीवन स्व घर के बाहर का आंगन है और अध्यात्म जीवन स्व घर का भीतर का आंगन और इन दोनों आंगनों को देहरी पर स्थित दीपक की भांति ध्यान, ज्ञान तथा अप्रमाद से ही प्रकाशित रखना होता है।

सामायिक क्रिया और वैश्विक (ब्रह्माण्डीय) और आत्मा की सम~~स्याएं~~ रसताएं

अर्हत् योग विज्ञान ने इसी हेतु आत्माराधन की विधा को सामायिक रूप में सरल और सुबोध करके प्रस्तुत किया। "सामायिक" जैनों का निगूढ़ संज्ञा-शब्द है और इसी में ध्यान और समाधि भी अन्तर्भूत कर दिए गए हैं। आत्म-प्रदेशों को सम स्थिर करने के अभ्यास के लिए सामायिक का विधान है। इसमें साधक प्राकृत विभावी प्रवाह से बाहर निकल कर स्वभावी ज्ञान प्रवाह में अपने को स्थिर करता है। आत्मा की क्या सम अवस्था है और क्या विषम अवस्था है—इस पर बहुत चिन्तन किया गया है। सामान्य विशेषात्मक द्रव्य में विशेष रूप प्रत्येक पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और व्यय होती है और इसके साथ ही सामान्य रूप में आत्म द्रव्य सदा समान, स्थिर और ध्रुव रहता है। प्राकृत प्रवाह में आत्मा द्रव्य परक्षेत्री होने से अशांत, अव्यस्थित और सदा क्षुब्ध रहता है-और पर्यायों में असंतुलन रहता है और इसी कारण आत्म-प्रदेशों में भी विषमता रहती है यानी सम अवस्था व समरसता नहीं होती। ब्रह्माण्डीय तत्त्वों की क्रिया तटस्थ रूप से स्वतः समरस रहती है। प्रकृति की शक्तियों में यथा संतुलन रूप व्यवस्था एक विराट् सत्य है, वैसे ही चैतन्य द्रव्य में भी चैतन्य गुणों का सम विकास होकर संतुलित स्थिरता का एक बृहत्तर सत्य प्रतिष्ठित होता है। जीवात्मा के चरम जीवन विकास के संदर्भ में यही बृहत्तर सत्य उन्मेषित होता है। संसारी प्राणी की सब क्रियायें अधिकतर प्रकृति की सीमा में, पर क्षेत्र में और पर काल प्रवाह में निबद्ध रहती है। पर्यावरण, परिवेश, वातावरण और सब निमित्त (साज सामग्री) के साथ वह कभी निरपेक्ष संतुलन न रखते हुए आत्मनिष्ठ, आत्म संयत और आत्म स्थिर नहीं रहा। प्रकृति में एक नियोजन बद्ध पूर्व स्थापित संतुलन हैं—समरसता है जिसे वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने प्रीएस्टेब्लीश्ड हारमोनी कहा है। प्राकृत तत्वों में एक संतुलित सह-अस्तित्व है। पर मानव प्राकृत सीमा (दिक्) की लम्बाई, चौडाई और ऊंचाई रूप तथा काल की लम्बाई रूप प्रकृति के चार आयामों पर दखल देता हुआ ब्रह्माण्डीय तथा आत्मीय क्षेत्रों में अव्यवस्था और असंतुलन को उत्पन्न करता रहता है। पर, क्षेत्र, पर काल में अतिक्रमण व दखल का प्रयास ही उसका अज्ञान है, अपराध है। इसी से उसे कषाय, राग, मोह और वासनाओं के विकार उत्पन्न होकर विषमता को जन्म देते रहे हैं। अतः मानव मनीषी अर्हत्पुरुषों ने सत्य के इस प्रकार दर्शन किए कि अकषाय भाव से वीतराग स्व ज्ञान क्षेत्र में ही रमण करते रहने में ब्रह्माण्डीय और आत्मिक संतुलन का दर्शन संभव है, इसी में स्व तथा पर सबकी स्वतन्त्रता है—समरसता और शुचिता है। आइन्स्टीन ने जहां फोर डाइमेन्शन्स मय ब्रह्मांडीय समरसता का कथन किया—वहीं इस प्राचीन योग विज्ञान ने मन, वचन और काया के संवर के साथ आत्म स्थिरता के रूप में चतुः आयामिक आत्मिक समरसता का रहस्य हस्तगत किया। जहां इसने उत्पाद (सृजन) रूप से अ, ध्रौव्य रूप से उ और व्यय (संहार) रूप से म को प्रतिनिधि करके आत्म द्रव्य के परम स्वरूप का वाचक ओ३म् स्थिर किया, वहीं उन्होंने सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्व रूप के संतुलित और समरस विकास में उसी आत्म द्रव्य की बोध की दिशा देखी। जब मन श्रद्धा सलिल से आर्द्र, बुद्धि ज्ञानलोक से प्रोज्ज्वलित और चित्त स्वयं आत्मा की सत्ता-सम्पूर्णता में समर्पित होकर सम और स्थिर हो जाए तो उस सम रस का निर्झर होता है जिसमें स्नात होकर जीव अर्हत्-स्वरूप में

रूपान्तरित होता है। कामायनी में मनु और इडा (मन और बुद्धि) की समरसता को श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य धरातल पर प्रकट किया—वस्तुतः इसी समरसता को कलाकार सौंदर्य बोध में, दर्शनकार उत्पाद व्यय सहित ध्रौव्य की अवधारणा में, आगम शास्त्र सामान्य विशेशात्मक स्वरूप में तथा अध्यात्म पुरुष सामायिकी समता में प्रकट करने का प्रयास करते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में यही सम रस ऋषियों का मधु है, सोम पान है और यही शारदीय पौर्णमासी शीतल ज्योत्सना के रूप में साधक हृदयों में बरसता रहता है। इसी साम्य रस की प्राप्ति हेतु, स्वभावी प्रवाह में निश्चल सम अवस्थिति हेतु, जिसे आत्म-प्रदेशों की सम अवस्था कहते हैं, सामायिक का विधान है। तत्त्व चर्चा में वाद प्रतिवाद या पक्ष विपक्ष होना सम्भव है—मगर "सामायिक" में जीवात्मा शांत होकर समभाव में स्थिर होकर आप अपने में बैठता है, उसमें क्या कोई वाद प्रतिवाद या पक्ष विपक्ष कुछ हो सकता है ? अतः यही योगशासन की मत मतान्तर व मजहब आदि से निरपेक्ष आत्मिक क्रिया है और इसी के कारण अर्हत् योग शासन विश्व-धर्म भी है। यह इसके सार्व-भौम और त्रैकालिक स्वरूप को प्रकट करती है।

मन की संरचना और अमृत प्रवाह का रहस्य

सामान्यतः मन की दो दिशाएं है। जब वह स्व सम्पूर्ण शक्ति के साथ समन्वित होता हैं तो यह समनस्क दिशा है। जब वह अपने को सम्पूर्ण शक्ति के साथ समन्वित न कर सकने पर अन्यमनस्क रहता है—तो यह दूसरी दिशा है। तीसरी भी दिशा है—जिसमें न समनस्कता होती, न अन्यमनस्कता प्रत्युत स्वयं मनस्कारिता से परे साधक स्वयं आप अपनी संपूर्ण शक्तियों सहित स्व आत्मिक शक्तियों की चिदाकारता में ही मग्न रह जाता है। अन्यमनस्कता अज्ञानी की दशा है, समनस्कता विवेकी की दशा है—मनस्कारिता से विवर्जित अमनस्कता में स्व से संतुलित,–स्व में ही समवस्थित ज्ञानी की दशा है। अमनस्कारता की जागृति में मन के रहने या न रहने का प्रश्न ही नहीं रहता, मन तब क्षोभ-विक्षोभ से रहित होता है। अमनस्कारता की उपलब्धि में भी मन स्वयं ही सहयोग करता है। विवेकशील समनस्कता के अभ्यास में ही मन की वशीकारता का सूत्र होता है। अन्यमनस्कता में मन किसी भी क्रिया में जुड़ ही नहीं पाता—वह तब किसी भी कार्य को सम्यक् रूप से करने में सफल नहीं होता। समनस्कता से अमनस्कता में आकर मन की पूर्ण चैतन्य जागरूकता ही नहीं, मन की पूर्ण तन्मयता भी रहती है। जागरूक मन की दशा में साधक जागे या सोये,–मन सदा जागता रहता है, उसका ज्ञान सदा उदित रहता है। साधक तब प्रमत्त या गाफिल नहीं होता, अचेतन नहीं होता; अविवेक पर पर्दा नहीं गिरता। यही है आत्म संतुलित सामायिकी अवस्था की भूमिका जिसमें सर्वत्र समरसता का रस झरता रहता है।

इस योग-विज्ञान में आत्म-पुरुषार्थ की प्रसिद्धि है। स्व पुरुषार्थ स्वभाव धारा की ओर किया गया प्रयत्न ही पुरुषार्थ है, बाकी सब तो मोह, राग व कषाय की ही क्रियायें हैं, अर्थात् विभाव के प्रयत्न है—वह जागरूकता नहीं है। जागरूकता और पुरुषार्थ अतः साथ-साथ चलते हैं। अजागरूक व्यक्ति का प्रयत्न छेद वाली बाल्टी से ही पानी निकालते रहने के समान है, राग, मोह व आसक्ति के बन्धन रख

कर जागरूकता व संतुलन नहीं होता। अनन्त के सागर में विहार करने के लिये जीवन नौका के केवल पाल तान लेना काफ़ी नहीं—उसके तट के बन्धन भी जागरूक रहकर खोलने होंगे। यदि वह वहीं बंधी है तो सारी उम्र भी डांड चलाने पर वहीं है, वहीं रहती रहेगी—एक इन्च भी नौका आगे न सरकेगी। मन और बुद्धि संतुलित होने पर यानी हृदय और मस्तिष्क में संतुलन सूत्रता होने पर ही योग का आरम्भ होता है और यह सम सूत्रता तब होती है जब सुषुम्ना सूत्र से हृदय का अनाहत पद्म और मस्तिष्क का सहस्रार पद्म परस्पर ग्रथित हो जाते हैं।

जागरूकता अपने आप नहीं होती। यह जागरूकता ज्ञान का ही दूसरा पक्ष है तथा ज्ञान की परिभाषा यह है,—ज्ञान वह है जो तन्मय होकर सम रूप परिणमन करे। अतः जागरूकता और तन्मयता—दोनों साथ ही संतुलित रूप में चलने चाहिए,—और चलते हैं—तभी स्व विकास का पथ अन्तर में खुलता है। जागरूकता से ही अप्रमत्त दशा भी आती है। साधना में तथा संसार व्यवहार में भी मानव का सर्व सहायक मन ही रहता है, वही जीव का या तो मित्र है या शत्रु। संतुलित मन ही मानव का मित्र है और उसे लेकर साधक साधना में उतर पाता है। मन की ही अशुभ, शुभ और शुद्ध —तीन अवस्थायें दृष्टिगत होती हैं और मन की इन अवस्थाओं में जीवात्मा बुरा, अच्छा और पवित्र (निर्मल) भी संज्ञित होता है। वर्तमान में मेडीकल विज्ञान ने हिप्नोथिरेपी का आरम्भ करके मानव ब्रेन (मस्तिष्क) पर एक प्रकार से एक ऐसे वातायन को उन्मुक्त कर दिया है जिसमें से मानव के इस अद्‌भुत अंग की सूक्ष्मताओं तथा पेचीदगियों पर वैज्ञानिक दृष्टि डाल सकेंगे, और नाना रोगों से मुक्ति का तथा मन की आदतों के परिवर्तन का मार्ग भी खुलेगा।

भावदशा और ग्रन्थियों के रस निर्झरण और कर्म प्रत्ययों का विपाक रस

जब मानव व्यक्ति **हिप्नोसिस** संमोहन के प्रभाव में होता है तो उसके ब्रेन से कुछ ऐसे अपेक्षणीय एवं ज़ाति रसायनिक रसों (यथा ऐंकीफालनिस Enkephalnis) का निर्झरण होता है जो मानव के गहरी जड़ों वाले मिजाजों–तबियतों (Attitudes) को भी वांछित परिवर्तनों में ढ़ालने में निमित्त होता है। मानव की टेवों को यथा शराब की नशे की टेवों को सामान्यत: औषधियां, आत्म-सूचनाओं, ग्रुप थैरेपी एवं शुद्ध संकल्प द्वारा ठीक किया जाता रहा है—इस सब के साथ अब हिप्नोसिस को भी जोड़ लिया गया है। तथा हिप्नोसिस के प्रभावों से अब जो परिणाम प्रकट होंगे उन्हें वैज्ञानिक आशातीत होने की भविष्य-वाणी कर रहे हैं।

हिप्नोसिस का ही एक तरीका **सैल्फ-हिप्नोसिस** (आत्म संमोहन या आत्म-द्योतन) भी सम्भव है। मानव अपने स्वभाव में आत्म-द्योतन या सैल्फ-हिप्नोसिस से परिवर्तन कर सकता है। योग में जो भावना का तरीका है वह सैल्फ हिप्नोसिस ही तो है।

भावना व चिन्तन के द्वारा मानव ब्रेन में किस प्रकार के रसायनिक रूपांतरण होते हैं और

उस रूपांतरित रस के क्या तत्त्व हैं—इसमें तो अभी खोज नहीं हुई है मगर अब सम्भावनायें खोज की बहुत विस्तृत होती जा रही हैं ! अध्यात्म में देह की क्या भूमिका है ? क्या मानव को मात्र एक शुद्ध आत्म-तत्त्व के रूप में ही आरम्भ से ही देखा जाय ? इन प्रश्नों पर विज्ञान ने चुनौतियां कर दी हैं। कहा जाता है कि देह और जीवात्मा किस तरह परस्पर सम्बद्ध हैं इस पर पुनः मूल्यांकन तथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा है।

वास्तव में विज्ञान को अभी Psyche और Spirit (आत्मा) के भेद परिचय को प्राप्त करना ही शेष है। आत्मा Psyche मात्र नहीं है, Psyche (चित्त या मन) द्रव्य रूप में कार्य कर रहता है—यद्यपि भाव रूप से आत्मा से जुड़ा है। ऐसे मानव जीवात्मा चेतन द्रव्य होकर भी अचेतन के साथ द्रव्य चित्त और भाव मन (Mind and Psyche) के साथ होने से परस्पर निमित्त, नैमित्तिक रूप से प्रभावित व सम्बन्धित है। आप इसे चाहे रोगी जीव का भाव कहें, या अज्ञानी जीव का भाव, पर यह जीवात्मा अनादि से असंदिग्ध रूप से ऐसा ही जुड़ा चला आ रहा है।

मानव के भाव (मन-स्पंदना) देह-रसों (neuro-harmones) को प्रभावित करते हैं और देह-रस (neuro-harmones) neuro endocrine system से निःसृत होते हैं। मानव का मन, उसके भाव (Psyche) राग, विराग व आवेग आदिरूप प्रभावित होते हैं। स्पष्ट होता है कि चेतन व अचेतन दोनों तत्त्व देही मानव जीवात्मा में समानान्तर क्रियाशीलता के सिद्धान्त से ही हिप्नोसिस व सैल्फ हिप्नोसिस का रहस्य समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चेतन व अचेतन के मध्य Psyche जिसे गलत तौर पर अवचेतन कहा जाता है बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह दोनों के मध्य बीच की कड़ी है और वह ध्यानादि व आत्म-द्योतन से क्रियाशील होता है,—वह मानसिक स्थितियों को बनाता व निर्मल करता है और मन के निर्मल होने पर ही अमनस्कारता में योग व अध्यात्म के उच्च स्तर खुलते हैं।

छद्मस्थ प्राणी में जागरूकता व ज्ञान का प्रकाश तथा मन की तन्मयता—ये सब स्वयं मानसिक स्थितियों तथा संरचना और ग्रन्थि रसों के निर्झरण पर बहुत निर्भर करता है। मन के द्वारा भावित करते-करते ही तथा अन्तर मन पर आदेश प्रयोग करते-करते ही मानव ब्रेन में रासायनिक संरचना में रस परिणमन होकर मानव मन की प्रकृति व उसकी शख्सियत (स्वभाव, व्यक्तित्व) की बनावट में भी रूपांतरण होता है। इस संरचना को बाह्य निमित्त से बदल कर मानव में नव व्यक्तित्व परिणति की सम्भावना होती है। उसी से मन की निर्मलता (दोष व विकारों व विक्षोभों की निवृत्ति) तथा जागरूकता की, और मन की चैतन्यता की अभिव्यक्ति भी की जा सकती है।

वास्तव में जो जो जिस समय जीव की जैसी भाव-अवस्था होती है, उस समय उस अवस्था के निमित्त रूप वैसे ही कर्म-प्रत्यय के रस का भी उदय रहता है। उस प्रकार जीव की मानसिक अवस्था और उस अवस्था के निमित्त रूप कर्म का उदय रहकर देह-परमाणुओं तथा देह-रसों का स्वतः

परिवर्तन या परिणमन होने लगता है। ऐसे जीव की भाव-अवस्था व कर्म रूप अचेतन (पुद्गल द्रव्य) का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—इसे ही समानान्तर भाव सम्बन्ध कहते हैं। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग व स्वाधीन है पर फिर भी इस मानव प्राणी में दोनों की कार्यशीलता समानांतर चलती है। इसे ही समझकर उस पुद्गल कर्म प्रत्यय से विभक्त व निर्मुक्त होने के हेतु अर्धचेतन, अवचेतन व चेतन चित्त रूप विभक्त आत्मा के लिये अखण्ड निर्मल ज्ञान सत्तात्मक चिदानन्द आत्म-प्रभु के ध्यानादि की योग प्रक्रियाएँ हैं—कि वह उस रूप अखण्ड व समरूप निज अनन्त सत्ता में समवस्थित रह सके। अचेतन 'पर' के चिंतवन तथा रमण की अपेक्षा अपनी आत्मा में ही सम रूप स्थिर होने का चिंतवन करना चाहिए। स्व आत्मा में स्थिर होते ही 'पर' का चिंतवन तथा 'पर' का साथ आप ही मिट जाता है।

चेतना के उर्ध्वीकरण और देह व मन के द्रव्य रस तथा भाव रसों की महत्ता

मन की निर्मल जागरूकता, तन्मयता और समरसता ऐसी अवस्थायें हैं जो व्यवहार तथा परमार्थ दोनों में ही समान रूप से उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं। अर्थात् जागरूकता और तन्मयता रूप मन की क्रियाशीलता व व्यवहार से ही परमार्थ का भी आरम्भ होता है। मन की परिणति ही जीव की दशा है, शुद्ध रूप में शुद्ध, शुभ या अशुभ रूप में शुभ या अशुभ, और इन अवस्थाओं में देह में भी तदनुरूप ही रस-परिवर्तन व कर्माणु-प्रत्ययों का परिवर्तन होता जाता है।

कोई भी मन की क्रिया देह पर बिना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये नहीं रहती; अतः ही योगी जन मन की निरख-परख और मन के हरख की और साम्य रस की प्रधानता करते हैं। निरख-परख का अर्थ है आत्म परीक्षण, हरख का अर्थ है आत्मा की निर्मलता और सम रसता रूप निर्मलता से आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार व्यवहार से परमार्थ का आरम्भ होता है, अर्थात् आरम्भ में व्यवहार व परमार्थ में भेद रेखा नहीं होती, और तब व्यवहार प्रशस्त रूप ही होता है।

अशुभ से निवृत्त शुभ की सीमा १२वें गुणस्थान तक चलती गई है और शुद्ध का पूर्ण उदय यानी परमार्थ का उदय तेरहवें गुणस्थान में होता है। तब जीव छद्मस्थ भी नहीं रहता। जो आरम्भ में ही परमार्थ मात्र को आगे करके चलना चाहते हैं, उनके लिए तो साधारणतः किसी भी भूमिका या गुणस्थान संक्रमण का प्रश्न ही नहीं होता।

योग का मार्ग उनके लिए है जो परमार्थ रूप से आत्मा के निर्मल स्वभाव की प्रतीति को ग्रहण करके क्रम-क्रम उस निर्मल स्वभाव रूप परमार्थ में अपने को परिणत करते चलते हैं, और इसके लिए धारणा, ध्यान व समाधि के उपायों को ग्रहण करते हैं और इन उपायों से आत्मा में ही तन्मय होने का निरन्तर उद्योग करते हैं।

बिना किसी भूमिका या मार्ग में चले केवल परमार्थ स्वरूप की कल्पना करके बैठे रहना

अथवा मात्र चर्चा में ही रस लेते रहना और अपनी आत्मा को निर्मल मानकर संतोष कर लेना, तन्मयता व आत्मैकाग्रता का कुछ भी उद्योग न करना छद्मस्थ जीव का अपने आप को ठगने जैसा ही है। मानसिक संवेदनाओं में असंग रहकर पर्याय में रूपांतरण करना होगा, चेतना का तब ही उर्ध्वीकरण भी होगा। यह जब तक न हो तो क्या परमार्थ और क्या ज्ञान चर्चा? मात्र प्रकल्पना के संसार में ही विचरण करना और इसे ही परमार्थ समझ लेना यह तो अलग ही बात है। जब तक आंतरिक रूपांतरण ग्रन्थियों के सम रस प्रवाह से नहीं हो जाता और चेतना का उर्ध्वीकरण नहीं होता तब तक सब निरी कल्पना है।

देह व मन को आरम्भ में तो सम रस तथा सम सूत्र करना ही होता है। देह और मन जीवात्मा के साथ सम्बन्धित हीनहीं हैं, जीवात्मा तात्कालिक दशा में अभी निर्मल व अस्पृष्ट ही है,—ऐसा मान कर चारित्र चरण में निष्क्रिय बैठ रहने से इस योग मार्ग में नहीं चला जा सकता।

देह की उपकारी उपयोगिता

मानव देह में विकसित मन व मस्तिष्क का बड़ा उपकार है। विकसित मस्तिष्क की प्रज्ञा ही भेद-विज्ञान भी करती है। इसी कारणतो प्राणी इस पृथ्वी लोक में विकासशील मस्तिष्क वाले मानव देह को पाकर मुक्ति को घटित करता है वरना अन्य देहों में या योनियों में या लोकों में केवल ज्ञान क्यों नहीं घटित होता? मानव प्राणी की वह मानसिक स्थिति, जिसमें वह मुक्ति की कामना या इच्छा करता है और अपनी इस इच्छा के अनुकूल उद्योग करता है, प्रयोग करता है वह सब मानव देह में ही क्यों सम्भव होता है? क्यों मानव प्राणी की मानसिक स्थितियों के अनुकूल व उसके ध्यानादि प्रयोगों के अनुकूल देह में द्रव्य तथा चित्त में भाव निर्जरा आदि तत्त्व क्रियाशील होते हैं? देव लोक के ऋद्धिचारी प्राणी भी आखिर क्यों इस पृथ्वी पर उत्तम देह-संस्थान वाली मनुष्य योनि की कामना करते हैं?

हाइपोथैलमस तथा पैरा सिम्पैथेटिक तथा सिम्पैथेटिक सिस्टम, और ध्यान द्वारा अमृत निर्झरण

मानव की देह-ग्रन्थियों तथा मस्तिष्क के रसायनिक रस-क्रिया निमित्त से मानव की मानसिक बनावट व प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है—यह विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है। इन रसों की गुण-प्रकृति पर भी मानव का रागी, द्वेषी, कषायी आदि होना अथवा अरागी, अद्वेषी अकषायी होना भी निर्भर करता है, तथा रागादि व कषायादि भाव निर्मल आत्मा के न होने से जड़ भाव भी कहे जाते हैं। मानव में राग, द्वेष व कषाय होने पर देह की ग्रन्थियों तथा मस्तिष्क रसों में भी तदनुकूल अशुभ गुण परिणमन होता है। इसी प्रकार अरागी आदि भाव होने पर तदनुकूल ग्रन्थि रसों में अमृत रस रूप रस-निर्माण होता है। जीव के भाव विकास या भाव हीनता में देह का भी बड़ा योग है जब तक कि जीव स्व शक्ति भाव की स्वतन्त्रता का उन्मेष न कर लें। स्व शक्ति की सर्वोच्चता स्थापित हो जाने पर देह यन्त्र

फिर गौण हो जाता है, पर इससे पूर्व नहीं। बाहरी चिंता, तनाव, उत्तेजना, भय आदि से सिम्पैथेटिक सिस्टम में लडो या भागो (Fight or Flight) के आवेश रस होते हैं। वैज्ञानिक शोध से पाया गया है कि "ध्यान" से हाइपोथेलेमस क्रियाशील होते हैं, उससे पिट्यूटरी और एड्रीनिल प्रभावित होती हैं। इससे पैरा-सिम्पैथेटिक सिस्टम में F.O.F.के विपरीत प्रतिक्रिया भाव होते हैं। जो नोवेल पुरस्कार विजेता डॉ० वाल्टर आर हैस के शब्दों में ट्रोफोट्रोमिक व डॉ० हर्बटवेन्सन् के शब्दों में रिलेक्शेशन रैस्पांस (प्रतिक्रिया) ध्यान से मानव मन में से रंज, भय, चिन्ता, तनाव, आवेश आदि सब दूर होते हैं, उसकी आनन्द संवेदनशीलता बढ़ती है। ध्यान के द्वारा इस प्रकार अमृत रस निर्झर होना सिद्ध हुआ है। विज्ञान ने जहाँ Endocrine glands ग्रन्थियां कही हैं—वहीं योग विज्ञान चैतन्य केन्द्र तथा चक्रों को बताता है और ध्यान से ये ग्रन्थियां एवं चक्र सक्रिय होते हैं।

मन को निर्मल व क्षोभ-विक्षोभ रहित करके ही आत्म-द्रव्य के स्वरूप के निकट हुआ जाता है,—यह योगी जनों का सिद्ध अनुभव है। आज जो शुक्ल-ध्यान के हेतु शुद्धोपयोग की वर्तना नहीं पाई जाती, इसका कारण भी यह ही है कि मन के क्षेत्र से उर्ध्व होने का प्रयत्न नहीं किया जाता। मन को कैसे जागरूक रखते हुये भी चैतन्य आत्मा में तन्मय कर सकें,—यह रहस्य हस्तगत होना आवश्यक है। इस रहस्य का पता ध्यान व धारणा की प्रक्रियाओं में है जिनसे देह व मन में वांच्छित रस निर्झरण व रूपांतरण होते हैं और उनसे तत् प्रकार शोधन के साथ ही जीव भावशुद्धि को प्राप्त होता है और अशुद्ध उपयोग निर्मल होता है और आत्म-ध्यान की शुद्धोपयोग की स्थिति बनती है—यानी व्यवहार अभ्यास ही निश्चय का सोपान है।

अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की रस निर्झरण की उपादान शक्ति : भाव अन्तरिक्ष और स्वरूप ज्ञान

प्रतीत होता है कि मानव देह,—विशेष कर मानव मस्तिष्क जिन परमाणुओं से बनता है उनमें ऐसे रस निर्झरण की उपादान शक्ति है तथा मानव मन की भी भावों के उन विशेष व अलौकिक भाव अन्तरिक्षों में जाने की शक्ति है जिनमें पहुंचने के बाद साधक अति-मानसिक क्षेत्र को पार कर अपने स्वरूप-ज्ञान में संस्कारित हो जाता है।

विशेष परमाणु संरचना का उदाहरण तीर्थंकर देह

भगवान् वृषभेश्वर की स्तुति करते हुए स्तोत्रकार योगीश्वर मानतुंगाचार्य ने विशुद्ध परमाणु-संरचना से भगवान के देह-रचना होने की कल्पना की है—

यैः शान्त राग रूचिभिः परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितास्त्रिभुवनैकललाम भूत।
तावन्त एव खलु तेप्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।।[1]

—1 [आदिनाथ स्तोत्र 12]—

हे प्रभो ! आप जिन शान्त राग-रूचि वाले परमाणुओं से त्रिभुवन में एक मात्र ललामभूत निर्मापित है, पृथ्वी में वे अणु भी उतने ही मात्र हैं, और इसी कारण आपके अतिरिक्त अन्य किसी का ऐसा रूप ही लक्षित नहीं होता। अर्थात् पृथ्वी के समस्त शान्त राग रूचि वाले परमाणुओं से ही प्रभु आपके देह स्वरूप का निर्माण हुआ है।

अर्हंत् तीर्थंकर प्रभु की (देह रूप) रचना में इस प्रकार विशेष प्रकार की परमाणु-संरचना का संयोग होना योग-वाङ्मय में स्वीकार हुआ है। सूक्ष्म निर्मल अनात्म परमाणुओं की निर्मल भात्र-परमाणु के साथ स्थिति समानान्तर ही रहती है।

पर वर्त्ती सूक्ष्म स्पंदन और ऊर्जाएं :स्व में निष्ठता से स्पंदनाओं तथा लेश्याओं से निर्मुक्ति

पुद्गल अणु-परमाणु रूप है। एक पुद्गल का परमाणु एक समय में १४ राजू प्रमाण गमन कर सकता है और वह सदा ही स्पंदनशील है। प्रकम्पन-स्पंदन का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से भी गहन और विस्तृत है और अद्भुत रूप से परावर्ती है। जीवात्मा और पुद्गल पदार्थ—दोनों ही परिणमन शील व स्पंदनशील हैं। स्पंदना होती रहना पुद्गल का स्वभाव है—इसी स्पंदन के माध्यम से वस्तु की अभिव्यक्ति है—यानी इसी में वस्तु की द्रवणशीलता है, रूप-अभिव्यक्ति है। वस्तु में रूपांतरण (परिणमन) निराश्रय स्व योग्यता से रहे तो वह वस्तु शुद्ध और सुन्दर ही रहेगी, और पराश्रय और पर-निमित्त से परिणमन होने लगे तो वह वस्तु विकार को प्राप्त होगी। खगोलवेत्ता प्रो० प्रोक्टर ने भी स्वीकार किया है—"हमारे सौर मण्डल के दूरातिदूर ग्रह के छोटे से छोटे परमाणु का कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रकम्पन-स्पंदन भी ऐसा नहीं जो इस पृथ्वी पर हमारे मानव जीवन के अन्तरंग को प्रभावित न करता हो और उससे घनिष्ट सम्बन्ध न रखता हो। यद्यपि अनेक प्रकम्पन-स्पंदन हमारी सीमित प्रतीति से परे हैं जैसे इनफारेड तथा अल्ट्रा वायलेट किरणों के तरंग-प्रकम्पन हमारी नेत्र-दृष्टि की क्षेत्र-सीमा से परे होते हैं, फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि ये प्रकम्पन उतने ही शक्तिशाली नहीं जितने कि वे प्रकम्पन हैं जिन्हें हम अधिक आसानी से जाँच सकते हैं। वस्तुत: परावर्ती अति सूक्ष्म कर्म वर्गणाओं के स्पंदन अति शक्तिशाली हैं। प्रकम्पनों का सम्बन्ध हमारी देह, मन, वाणी और प्राण सबसे है। मन से भी है,—अत: हमारे विचार और संकल्प, विकल्प तथा चिंतन आदि से भी है। ये ऊर्मियों के रूप में सदा हमारे ऊपर बरसते ही रहते हैं। हम सदा ही उनके प्रभाव क्षेत्र में ही हैं। हम उन ही स्पंदनों तथा ऊर्मियों से प्रभावित होते हैं और बन्ध को प्राप्त होते हैं जो हमारे स्वयं के मन, वचन और प्राण के तत् तत् समय के भावों के स्पंदनों के अनुरूप होते हैं।

जीव अत: ही अपने राग, द्वेष, मोह, कषाय—रूप भावों के अनुसार ब्रह्माण्ड में वर्तमान कर्म वर्गणा—अणुओं के स्पंदन तथा बन्धन को लेश्या रूप से प्राप्त करता रहता है। कर्मावरण का सिद्धान्त इन स्पंदनों के आकर्षण विकर्षण रूप बन्ध और निर्जरा में है। जीव राग द्वेषादि से रहित निर्मल भात्र रूप यदि स्थिर रहे तो ब्रह्माण्ड के स्पंदन होते रहने पर भी जीव उनके निमित्त से अप्रभावित ही रहता

है और लेश्या निर्मुक्त होता है। पर से निवृत्त और स्व में निष्ठ रहने का सिद्धान्त अतः इसी वस्तु-स्पंदन विज्ञान से निःसृत है और यह आश्चर्यजनक है कि ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राचीन काल के ये अर्हत् पुरुष निर्मित कर सके। स्व तत्त्व में जागरूकता और स्व तत्त्व में ही तन्मयता का विज्ञान उन आध्यात्मिक विचक्षण पुरुषों के विवेचन की देन है। आत्मा को पर-पदार्थों के साथ भाव एकाग्रता करने से बन्धन है—तो उनसे निस्पृह हो जाने में ही मुक्ति है। आत्म-तन्मयता तथा मन की जागरूकता अति अपेक्षणीय ही है।

मानव-मन के भावानुसार ही परमाणु रूप कर्म वर्गणाओं का देह में प्रतिसमय आगमन (आकर्षण) व निगर्मन (विकर्षण) अर्थात् उत्पाद व व्यय होता रहता है और मन के भावानुसार ही उनका बन्ध व निर्जरा भी होती है। कर्म वर्गणा भावातीत दशा की पूर्ण अवस्थिति में देह से पूर्ण निःशेष हो जाती है तब आत्मा में मात्र चिन्मय स्व प्रदेश ही रहते हैं। ये लेश्या रहित होते हैं। आत्मातिरिक्त भाव लेश्या युक्त होते हैं। अतः प्रशस्त व अप्रशस्त मन के साथ लेश्या भी रहती है। अतः ही मन के भावों के प्रति जागरूकता के यानी पर-पदार्थ से व पर भाव से तटस्थता और स्व आत्मा में तन्मयता के प्रति योगी जन सजग रहते हैं। वही स्व विवेक रूप आत्मा की जागृति है। मन, वचन और काया के स्पंदन रूप योगों से विवर्जित होकर तथा राग-द्वेषादि से रहित निर्मल स्थिर आत्मा प्रदेश रूप अयोग स्थिति ही यह योग विज्ञान है—यह बहुत स्पष्ट हो जाता है।

साधना के महत्त्वपूर्ण अंग

ग्रन्थि रस निर्झरण के सक्रिय हेतु चक्रध्यान तथा जागरूकता और तन्मयता ये तीन साधना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनके माध्यम से ही मनुष्य विकास के पथ पर अग्रसर हुआ है। जब प्राचीन भारत में स्व जागरूकता और तन्मयता का स्वर गूंजता था तब आत्म समरसता और संतुलन से भारतीय जनों का विश्व के मान चित्र पर मूर्धन्य स्थान था। तन्मयता, तादात्म्य, तद-रूपता, लक्ष्य की सिद्धि लक्ष्य के साथ धारा रूप तन्मय होने पर होती है। जागरूकता के साथ रहना जीव की सफलता का महत्त्वपूर्ण चरण है। भाव धारा में स्व में भाव रूप तथा गति में स्वयं गति रूप हो जाना ही पूर्ण सफलता देता है। जितने भी बड़े काम हुए हैं वे सब तन्मयता की साधना के द्वारा हुए हैं और होंगें। सफल खिलाड़ी वही होता है जो स्वयं खेल बन जाता है, सफल विद्यार्थी वही होता है जो स्वयं पढ़ना बन जाता है। पढ़ने व पढ़ने वाले में (कार्य और कर्त्ता में) जब तक दूरी बनी रहती है तब तक सफलता के चरम शिखर को नहीं छुआ जा सकता। चक्रध्यान वर्णन "स्वरूपानुचिंतन" में दृष्टव्य है। चक्रों पर ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तनावों, संवेदनाओं पर नियन्त्रण प्राप्त होता है, जिससे मानव व्यक्तित्व, चेतना और स्वभाव बदले जा सकते हैं। पर पदार्थों से संवेदित न होकर स्व आत्मा में ही संवेदित रहना—यही आध्यात्म का सार है।

मानसिक तन्मयता एवं जागरूकता के लिए पर्याप्त शुक्र शक्ति व संकल्प शक्ति चाहिए।

अध्यात्म मार्ग की तन्मयता तो अति मात्रा में ओजस् शक्ति चाहती है। प्रत्येक क्रिया जो देह में होती है संकल्प तथा शुक्र शक्ति के ही संचालन से होती है। योगाभ्यास में समस्त देह के समस्त ही सप्त धातु संतप्त होते हैं, तब शुक्र बिन्दु ऊपर मस्तिष्क की तरफ आकर्षण को प्राप्त होकर उर्ध्व संचरणशील होता है। उर्ध्व संचरणशील होने पर ही साधक ब्रह्मचारी कहा जाता है। गृहस्थ मर्यादित व संयत जीवन के कारण एक निष्ठ ब्रह्मचारी होता है। अतः उसके बिन्दु रस का अपव्यय या दुरुपयोग नहीं होता और वह आत्म साधना में साधारणतः अग्रसर हो सकता है; पर फिर भी आगे गहन साधनाओं के लिए उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा को ग्रहण करना होता है जो गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं में है। और उसके उपरांत ही वीतरागी जीवन या योगानुष्ठान के लिए, सम्पूर्णतः समर्पित जीवन के लिये वह योग्य होता है।

शक्ति स्फोट और शक्ति पात (देशना लब्धि) का रहस्य

मूलाधार की मूल "परा"—स्वरूप-अग्नि में जब शुक्र-बिन्दुओं की अन्तर्मुखी आहुति साधना-अभ्यासों से पड़ने लगती है तब उस मूल-अग्नि में उस संयोग से द्रव्य-प्राण स्थिति में तथा उस निमित्त से भाव-प्राणों में भारी स्फोट होता है। द्रव्य-परमाणु के स्फोट में चार पर्यायों के परिणमन का दर्शन होता है, (१) स्फोट (Blast)(२,३) उष्णता व ऊर्जा (Heat & Energy), (४) विकिरण (Radiation)। मूलाधार के उस स्फोट में भी ये ही चारों पर्याय घटित होते हैं। स्फोट के अनन्तर उष्ण—तेज व ज्योति प्रकाश रूप ऊर्जा ज्वाजल्यमान रूप में सुषुम्ना-मेरूदण्ड मध्य स्नायु मण्डल में दृष्ट होती है। इसी तैजस शक्ति के विकिरण में रवि-किरणों का प्रकाश प्रकाशित होता है और इन तीन पर्यायों के उपरांत जो अन्तिम चौथी पर्याय होती है वह है किरणों की वर्षा जिसे वैज्ञानिक भाषा में फाल आउट कहा जाता है। यह शीतल श्वेत प्रकाश किरणों की अनुपम वर्षा सी अनुभव में आती है, योगी उसमें तन्मय हो जाते हैं और चित्त के संकोच व विकार नष्ट हो जाते है और दिव्य उन्मेष की स्फुरणा होती है, भावोन्मेष होते हैं, चेतना उर्ध्वमुखी हो जाती है। द्रव्य रूप से यह घटना प्राण द्रव्य व चित्त द्रव्यों तथा भाव में है।

प्राणाणुओं में स्फोट से जब भेद-क्रिया (विखण्डन क्रिया) होती है तो ऐसे अनुभव निर्जरा तत्त्व की क्रियाशीलता को लेकर होते हैं। पुद्गल को जैनों ने "स्पर्श रस गंध वर्ण वन्तः" (तत्त्वार्थ-सूत्र ५/२३) कहा है। फिर भेद के उपरांत अवशिष्ट पुद्गल विकारों (परिणमनों) को "शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेदतमश्छायातापोद्योतवन्तश्च" (तत्त्वार्थ सूत्र ५/२४) कहा है। प्राण-द्रव्य में जो चार परिणमन स्फोट होने पर दृष्टिगत होते हैं वे स्थूल स्कंध भेद से आतप व उद्योतवन्त पर्याय परिणमन रूप वर्णित हुए हैं।

आज वैज्ञानिक जिस अणु का स्फोट होना कहते हैं, वास्तव में वह अणु नहीं, अणु-संघात है। जैन सूत्रकार ने छाया आतप उद्योत को भी स्थूल सूक्ष्म स्कंध रूप ही माना है। अणु की परिभाषा यह

है कि वह सूक्ष्मतम है अतः भेद से परे हैं। वह एक प्रदेशी है, सूक्ष्मतम की परा अवस्था होने से कहा गया है कि वह ही आदि है, वह ही मध्य है और वही अन्त है।

अत्तादि अत्त मज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि॥

जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु जानों।

पुद्गल अनन्त भेद वाला है, तो भी दो वर्गों में उसे तत्त्वार्थ सूत्र ने बताया है। अणु जाति व स्कंध जाति ये दो मोटे भेद (प्रकार) कहे गये हैं। स्कंधों की उत्पत्ति अणुओं से होती है और अणु "भेदादणु" (तत्त्वा. सूत्र-३/२७) भेद से अणु उत्पन्न होता है और "स्निग्ध रूक्षत्वाद् बन्धः–" (तत्त्वा. सूत्र. ५/३३)—स्निग्धत्व व रूक्षत्व से बन्ध होता है। स्निग्ध पुद्गल का चिकना गुण पर्याय स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गल का रूक्ष गुण पर्याय रूक्षत्व है। मगर जिनका शक्त्यंश निकृष्ट होता है ऐसे पुद्गलों का बंध नहीं होता तथा तुल्य जाति वाले पुद्गलों का बन्ध नहीं होता। "द्वयाधिकादि गुणानां तु" (तत्त्वार्थ सूत्र ५/३६)—दो अधिक आदि शक्त्यंश वालों को तो बन्ध होता है और "बंधेऽधिको पारिणामिकौ च" (तत्त्वा० सू० ५/३७) अधिक गुण वाला परिणमाने वाला होता है। बन्ध स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होता है। और इस बन्ध की शर्त है कि दो अधिक शक्त्यंश के साथ ही बन्ध होता है और वह दो अधिक शक्त्यंश ही परिणमन कराने वाला होता है। जैसे अधिक मीठे रस वाला गीला गुड़ उस पर पड़ी धूली को अपने गुण रूप से परिणमाने के कारण पारिणामिक होता है। अल्प शक्ति कीट को अधिक शक्ति वाला भृंग पारिणामिक होता है। यह ही कारण है कि अधिक ओजस् शक्ति सम्पन्न गुरुजन अल्प शक्ति वाले शिष्य के लिये पारिणामिक होते हैं। शिष्य की ओजस् शक्ति को वे अपनी मैग्नेटिक शक्ति से अपने रूप परिणमन के लिये उत्प्रेरित कर देते हैं। यही रहस्य जैनों के–"परस्परोपग्रहो जीवानां" सूत्र में कार्यशील है।

जीवों में देशना से जो लब्धि की प्राप्ति कही जाती है वह इसी प्रकार की होती है। यह एक भ्रम है कि जीव का जीव से उपकार नहीं होता। जैनेतर आम्नाय वाले इस उपकार को शक्ति-पात कहते हैं। उसे जैनलब्धि (देशनालब्धि) कहते हैं। यह लब्धि भाव-प्राण में होती है। शक्ति-पात द्रव्य-प्राण में होता है। इसमें गुरु के द्रव्य-प्राण का द्रव्यांश मानव मैग्नेटिक धाराओं के रूप में संकल्प-शक्ति के साथ निःसृत होकर शिष्य के द्रव्य प्राण को चार्ज करके उसके लिए पारिणामिक हो जाता है। "परस्परोपग्रहो जीवानां" सूत्र इसी उपकार को संकेत करता है। कहा है—"संसारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकारं वितन्वते" (ओ०प्राभृत–२/१६) संसार वर्ती जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हैं।

परिणाम स्वभावी होने के कारण अल्प शक्ति द्रव्य में अधिक शक्ति वाले द्रव्य के निमित्त से उसके पारिणामिक होने से शक्ति स्फोट आदि परिणमन होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में द्रव्य-स्फोट (द्रव्य भेद) को इस प्रकार कहा गया है "भेद संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते" स्कंधों की उत्पत्ति भेद संघात से, तथा न केवल भेद या केवल संघातसे यानी दोनों से होती है। यद्यपि अणु केवल भेद से ही उत्पन्न होते हैं। स्कंधों की उत्पत्ति दो प्रकार की होती है,—वे चाक्षुष तथा अचाक्षुष होते हैं। जो इन्द्रिय-गोचर न हो वे अचाक्षुस हैं। चाक्षुस स्कंध "भेद संघातेभ्यः चाक्षुषः"—भेद और संघात दोनों के मिलने से ही होते हैं। द्रव्य प्राण पंच भौतिक तत्त्व मय होता है अतः वह संघात रूप है।

वाक् रूप अक्षर ईंधन के शुक्र बिन्दु के साथ द्रव्य-प्राण-संघात में आहूति के रूप से पड़ने से भेद व वेध होकर स्फोट घटित होता है और वह चाक्षुष स्कंध रूप ही होता है। अतः भेद और संघात से उत्पन्न हुआ पुद्गल स्कंध पर्याय उस आणविक क्रिया में तेज एवं आतप व उद्योत (ज्योतिंप्रकाश) रूप में चाक्षुष रूप में प्रकट होता है जो अन्तर्नेत्रों को लक्षित होता है। इससे प्रकट होता है कि यह सब पुद्गल स्कन्ध संघात में होता है और ये सब पुद्गल स्कन्ध की ही पर्याय हैं, अभिव्यक्तियाँ है। प्राण व चित्त द्रव्यों में निर्मलतर उत्पन्न होती पर्यायों के अन्तः दर्शन योगी को आनन्दित कर देते हैं। इसमें दृष्टा भाव रखकर योगी अपने ही ज्ञान-गुण का प्रसार करता है। जैसे अपने ही वाक्-अक्षर ईंधन के सुमेल से ऐसा परिणाम घटित होता है, वैसे ही गुरु के प्रज्वलित मैग्नेटिक अंश की प्राप्ति पर भी परिणमन घटित होता है। वे आतप उद्योत पर्यायें जो घटित होती हैं, वैस्रसिक नहीं है, प्रायोगिक हैं अर्थात् चैतन्य पुरुष के प्रयोग के निमित्त से ही होती हैं। यानी ये चैतन्य शक्ति के ही विभिन्न आधारों से उत्पन्न पर्याय हैं। शक्ति चेतना से भिन्न नहीं है।

पुरुष के स्वयं के प्रयोग योग-भाषा में साधना, अभ्यास या ध्यान आदि कहलाते हैं, तथा सद् गुरु के संकल्प से स्फुरण स्फूर्ति की प्राप्ति होना शक्ति-पात या देशना लब्धि कहे जाते हैं। कुण्डलिनी के जागरण में कुण्डलिनी की जो प्रकाश-सूत्र सी अभिव्यक्ति होती है वह या तो स्वयं साधक के ही प्रयोग से अभिव्यक्त होती है, या गुरु के प्रयोग से। इन परिणमनों में द्रव्य-प्राण व द्रव्य-चित्त का स्थौल्य (स्थूल पर्याय) ही सौक्ष्म्य (सूक्ष्म पर्याय) को ग्रहण करता है। स्व या पर चैतन्य चित के प्रयोग द्वारा उद्योत होने से ये चिति ही के दर्शन हैं और मात्र मार्गीय अनुभव हैं। ये चैतन्य जीवात्मा की उपस्थिति, प्रयोग व निमित्त से होने के कारण उनका आत्म-साधना मय योग मार्ग में स्थान है। इनके दर्शन विकल्प से ही आत्म-दर्शन माने गये हैं। वास्तव में द्रव्य-प्राण व द्रव्य-चित्त में से ही द्रव्य-सघनता नष्ट होकर, अर्थ-प्राण (ज्योति-उद्योत आदि) व फिर भाव प्राण में से रागादि विवर्जित होकर शुद्ध भाव-प्राण, व निर्मल चित्त, तथा तदनन्तर बोधि रूप चिति मात्र ही आत्म-विभक्त होकर आत्म दर्शन होता है। ऐसे आत्मा में से अनात्म चित्तांश विभक्त होकर ही बोधि रूप भेद-विज्ञान घटित होता है। इस क्रिया कलाप में जीवात्मा पर आवरणकरने वाला आलेप रूप घनकर्मद्रव्य, अपेक्षतया विरल व पतला होता है और अन्ततः समाप्त होता जाता है। इस ही प्रक्रिया में स्वयं उसकी ज्ञान ज्योति विकसित व शुद्ध होती जाती है।

आत्मा शक्ति परमा शक्ति है। वह नित्य, सहज, शिववत् निर्मल ही स्थित है, पर मल व कर्मादि के कारण वह संवृत रहती है, दोष के परिपक्व होने पर और गुरु से सम्बोधित होने पर वह जब सुव्यक्त होती है तो यही देशना लब्धि या शक्ति का उद्बोधन या शक्ति-पात कहा जाता है।

शरीर विज्ञान का आलोक और तैजस प्राण कुण्डलिनी और उसकी अमृत स्रावी प्रकाश वर्षा

तैजस तन्तु रूप से कुण्डलिनी के दर्शन महत्व को जैनेतर आम्नाय में विशेष कहा जाता है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि यह साधक के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना होती है। इससे भावोन्मेष प्राप्त होता है। यह साधना यात्रा में एक मील के पत्थर–चिन्ह के समान संकेत रूप है। पर योग का कार्य-कलाप इतना मात्र ही नहीं है,—यह तो यात्रा का आरम्भ-बिन्दु ही है। इनका भी महत्त्व इसलिये है कि इससे भावों का दिव्य उन्मेष होता है। प्राणों की परिणति सूक्ष्म होने लगती है—चित्त की परिणतियों में भी रूपांतरण होता है। तैजस तत्त्व उद्दीप्त होकर जब साधक के पिण्ड देह से ब्रह्माण्ड देह में जा पहुंचता है तो वह ही विराट् प्राण प्रखर स्वरूप,—सूर्य मण्डल सा वा आदित्य वर्ण सा उर्ध्वमुख होकर चमकने लगता है। नाभि के सूर्य का प्रकाश ही हृदय से आगे कण्ठ व भ्रू मध्य चमकने लगता है और उसका प्रकाश भ्रू मध्य पहुंचकर सोम रूप में—चन्द्र मण्डल के रूप में चमकता है। इसे ही अमृत-प्रकाश से चमकने वाला या पीयूष वर्षी ज्योत्सना को विस्तीर्ण करने वाला चन्द्रमा कहा जाता है। सुधामयी ज्योति जो अन्तर में बरसती अनुभूत होती है, वह सब स्वयं प्राण की ही पर्याय अभिव्यक्ति है। वह ही आदित्य रूप में अभिव्यक्त है तो वह ही अमृत स्वरूप अमृतस्रावी है, अमृतस्रावी चन्द्रमा के रूप में है, और यह ही उच्चतम ब्रह्माण्ड व पार ब्रह्माण्ड मण्डल में मानव के शीर्षस्थ केन्द्रों में पहुंचकर केवल रवि चिति शक्ति रूप ही अनुभूत होती है।

देह यन्त्र का अद्भुत नाडी और ग्रन्थि संस्थान—उनके स्थान और उनके दिव्य कार्य

चन्द्रमण्डल से निकलने वाला वह अमृत वास्तव में मस्तिष्क सौषम्न द्रव्य (Cerebro-Spinal fluid) है। यह सुषम्ना मेरु-दण्ड के मध्य सुरक्षित है। स्नायु जाल सुषुम्ना नाडी के द्वारा आनखशिख देह का मस्तिष्क से सम्बन्ध जोडती है। सुषुम्ना में ही गुदा, उपस्थ, नाभि, वक्षस्, ग्रीवा—पांच प्रदेशों से सम्बन्धित पांच स्नायु चक्र हैं। भ्रू मध्य में जहां वाम और दक्षिण भाग के स्नायु एक बिन्दु पर मिलते हैं—वहां आज्ञा नाम का चक्र है, तथा वहां से स्नायु दक्षिण से वांये की ओर व वांये से दक्षिण की ओर ऊपर ब्रह्माण्ड में चले जाते हैं और वहां सहस्रार चक्र को बनाते हैं। नाभि की मांस पेशियों का कंद जो नीचे कुण्डलिनी को धारण किये रहता है—अधः सहस्रार कहा जाता है। यह मांस पेशी एक अंगुल लम्बी व चार अंगुल मोटी बताई जाती है। इसके ही मध्य केन्द्र में प्राण शक्ति कुण्डलिनी के सुप्त हो जाने यानी जड़ व प्रमाद रूप अवस्थित होने का स्थान है। अर्थात् प्राण शक्ति को जागृत करने का यही बिन्दु स्थान हैं।

समूचे प्राण समस्त नाडियों से खिंचकर इस शक्ति बिन्दु स्थान में एकत्र होते हैं, और तदन्तर यहां से ही सुषुम्ना में प्रवेश कर उर्ध्व गमन शील होते हैं। अतः यह अति महत्त्वपूर्ण है और चक्र ध्यान यहीं से प्रारम्भ कराया जाता है।

भ्रू मध्य से ऊपर कपाल-प्रदेश में सुषुम्ना का उर्ध्व भाग चार प्रदेशों में बंट जाता है :—

(१) सबसे नीचे का भ्रू मध्य वाला अधो भाग जो है, इसे मोड्यूला आबलेंग्टा अंग्रेजी भाषा मे कहा जाता है।

(२) इसके ऊपर पश्चात् मस्तिष्क सेरीबैलम या हाइण्डब्रेन हैं। इसे कपाल कंद या मोटा मस्तिष्क कहते हैं। यह कपाल कंद पांचों ज्ञानेन्द्रिय व स्वप्न नाडियों का केन्द्र व मनश्चक्र कहा जाता है।

(३) तीसरा ब्रह्मरन्ध्र है जिसे थर्ड वैन्ट्रीकल कहा जाता है। यह सहस्रार (सेरीब्रम) के मध्यवर्ती भाग है, और कपाल कंद इससे भी जुड़ा है—सुषुम्ना का मध्यवर्ती विवर इन्हें आपस में जोडता है।

(४) ब्रह्मरन्ध्र के नीचे कपाल कंद के सामने एक कपाल-रन्ध्र है जो त्रिकोणाकृति है। यह चौथा भाग फोर्थ वैन्ट्रीकल कहा जाता है यह पीछे से सामने की ओर विस्तीर्ण है।

ब्रह्मरन्ध्र पर एक पुल (Siphon) सा है,—जिसे सुषुम्ना पथ से आने वाले स्नायु समूह स्पर्श करके फिर सारे मस्तिष्क (Cereberum) के विभिन्न केन्द्रों में विस्तार पा जाते हैं। यह स्नायु प्रसार ही सहस्रार है—इसे ही संत मत वाले ओंधी कुइया कहते हैं। यह महाकमल सर्व दिव्य शक्तियों का—अपरा सिद्धियों का केन्द्र कहा जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र के पिछले भाग पर सहस्रार से ही जुडती "पीनियल" ग्रन्थि है। इसे दिव्य दर्शन शक्ति सम्पन्न माना है। यह देह धड़ की सब ग्रन्थियों की नियन्त्रक होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कंठ से लेकर मस्तिष्क तक की ग्रन्थियां मानव के आचरण को प्रभावित तथा नियन्त्रित करती हैं। इन ग्रन्थियों के चक्रों का ध्यान इन ग्रन्थियों के रस के स्वभाव को बदल देते हैं। इस प्रकार मानव का स्वभाव, चेतना, व्यवहार भी बदल जाते हैं, स्वतः रूपांतरित हो जाते हैं।

सामने भ्रू मध्य से अन्य ग्रन्थि पिटीट्यूरी है जो ब्रेन के आधार (Base) में हैं। ये दोनों ग्रन्थियां अलौकिक रस का निर्झरण करती हैं और दिव्य अति मानसिक शक्ति मय हैं। इन्हें ही योग-शक्ति देने वाली कहा जाता है। भ्रू मध्य तथा मस्तिष्क को केन्द्र बनाकर ध्यान करने से ये दोनों ग्रन्थियां सक्रिय हो जाती हैं और योगी को तेजस्वी बनाती हैं। कण्ठ में थाइराइड ग्रन्थि अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है जिसके निष्क्रिय होने पर व्यक्ति निस्तेज पुरुषत्व हीन, निद्रालु, स्थूल, सुस्त व मूर्ख हो जाता है। वाक्-

शक्ति का वैखरी स्वरूप यहां ही होता है और वाक् यहां से ही उतर कर नीचे हृदय व नाभि होती हुई सूक्ष्म "परा"—स्वरूप में मूलाधार में आ जाती है। और वहां उसके साथ नीचे आया प्राण भी आणविक स्फोट से सूक्ष्म होता है। तब वह प्राण प्रज्जवलित होकर उर्ध्व गमन के लिए सुषुम्नापथ में प्रेरित हो जाता है।

सुषुम्ना में ७२ हजार नाडियों का जाल है। जिनमें प्रमुख वज्रा, चित्रा और ब्रह्म नाडी हैं। इस ब्रह्मनाडी को विरजा भी कहते हैं। सुषुम्ना का बांया भाग इडा—दांया भाग पिंगला–व मध्य भाग स्वयं सुषुम्ना है। इडा व पिंगला जो "सिम्पैथैटिक कालम्स" कहलाती हैं,—के ही सम्बन्धित एक स्वतन्त्र नाडी और है। उस नाडी विभाग को "आटोनोमस-सिस्टम" कहते हैं। जैसे पांचों ज्ञानेन्द्रियां व उनके गोलकों से सम्बन्ध रखने वाली नाडियों का निकास कपाल कंद से है, वैसे ही इस स्वतन्त्र नाडी का भी वहीं से निकास है। यह नाडी ग्रीवा प्रदेश से उतर कर छाती उदर कटि भाग में गुदा तक जाती है। इसे योग वाले कूर्म, कूहू, विश्वोदरी आदि नाम से व अंग्रेजी में इसे वैगस नर्व के नाम से कहते हैं। इस नाडी की दक्षिण शाखा विभाग में वक्ष उदर व कटि भाग हैं। इसमें वक्ष में प्राण-वायु, उदर में समान वायु और नीचे कटि भाग में अपान वायु के स्थान हैं। यह नाडी स्वतन्त्र इसलिये है कि इसका सम्बन्ध मन से नहीं है, यह मन के अधीन कार्य नहीं करती।

प्राण का सम्बन्ध सूर्य से है—यानी वह सूर्य के समान प्रभा वाला स्वयं-प्रभ है, और मन का सम्बन्ध चन्द्र से है अतः वह प्राण के प्रकाश से ही प्रकाशित रहने वाला है। और प्राण में स्वयं आत्मा ही भाव मय प्रकाशित रहता है। प्राण कभी सोता नहीं,—सदा जागृत रहता है। मन ही सोता व जागता है—यह मन भी चैतन्य की ही विशेष परिणति है।

वेगस नाडी का सम्बन्ध दक्षिण की पिंगला से है,—न कि वाम भाग की इडा से। सूर्य का सम्बन्ध पिंगला से व चन्द्रमा का इडा से सम्बन्ध रहता है। अतः ही इन्हें सूर्य व चन्द्र नाडी भी कह देते हैं। पांच प्राणों में प्राण वायु का सम्बन्ध वैगस नाडी से है—अतः इसका कार्य मन के आधीन नहीं है।

प्राणायाम क्रिया से पांचों प्राण वायु पर संयम व निग्रह होता है और प्राण-तत्व सतेज होता है और उस प्राण तत्व का प्रकाश चमकने लगता है—इसे ही कहा जाता है—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणं" अर्थात् प्राणायाम से प्रकाश पर पड़ा आवरण क्षीण होता है। जैन इसे ज्ञानावरण का क्षीण होना मानते हैं; परन्तु वे इसे द्रव्य प्राण से होना नहीं मानते, राग-द्वेष विवर्जित हुये भाव-प्राण की क्रिया से होना मानते हैं क्योंकि वे द्रव्य की प्रधानता न कहकर भाव की ही प्रधानता से कहते हैं।

मस्तिष्कस्थ ब्रह्माण्ड में सहस्रार का जहां से सब नाडियों ने नीचे देह में विस्तार पाया है—अनुपम प्रदेश है। इसका ही शीर्ष भाग सिद्धालय से सम्बन्धित है। ब्रह्मरन्ध्र को खोलकर शीर्ष स्थान को उत्क्रमण कर लेने पर सिद्धालय तक प्राण गति हो जाती है तब विदेहस्थ (देहातीत) हुये प्राण ही सिद्ध

प्राण हैं। और वह सिद्धात्मा परिणत होकर सिद्धालय का सिद्धात्मा होता है। देहातीत होने पर ही सर्वगत, सर्वज्ञ और देह व संसार के राग से मुक्त, परम शुद्ध व सिद्ध होना सम्भव होता है।

सहस्रार अति-उच्च स्तरीय दिव्य केन्द्रों का स्थान है और वहां पर योगी जन अपने-अपने इष्ट व आराध्य का ध्यान करते हुए अपने उपयोग को शुद्ध एवं स्थिर करते हैं। यहां पिण्ड-स्थानीय सब प्राण खिचकर एकत्रित व समष्टि रूप होते हैं और निर्मल तत्वातीत होकर ज्ञान-प्राण रूप परिणमित होते हैं। ब्रह्माण्ड के गगन में प्राण पहुंच कर ही वैश्विक ज्ञान ऊर्मियों व ज्ञान-प्रवाहों को प्राप्त करते-करते—मनः पर्याय ज्ञान व अवधि ज्ञान की भी प्राप्ति होती है। तदनन्तर विश्वोत्तीर्ण होकर स्व ज्ञान केन्द्र का पता पाकर योग सिद्धि की परम अवस्था में परिणत होते हैं। प्राण जब तक द्रव्य, अर्थ तथा प्रशस्त भाव रूपात्मा रहते हैं, वे इसी संसार में ही भ्रमण करते हैं। प्रशस्त शुभोपयोग रूप भाव भी संसार-बंधन का ही कारण है। मगर जब विश्वोत्तीर्ण भाव हो जाते हैं तो वीतरागता की चरम परिणति में ध्याता जीवात्मा भावातीत एवं सर्व गुण सम्पन्न केवल-ज्ञान रूप हो जाते हैं। वह कैवल्य ही योग प्राप्ति का कलश है।

प्राण स्फोट से प्राणगर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन

जैसे स्फोट (Blast) द्वारा पृथ्वी के गर्भ तत्त्वों का अनुसंधान होता है वैसे ही योग में भी द्रव्य प्राण के स्फोट से ही प्राण गर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन प्राप्त होता है। द्रव्य प्राण किस प्रकार प्रज्वलित होकर सुषुम्ना में होकर सहस्रार में पहुंचता है और वहां के समस्त स्नायु जाल को प्रकाश प्रज्वलित करके उस प्रकाश के महापद्म को विकसित करता है तथा कैसे वहां महाप्रकाश का वह पुंज एक ज्योतिष-मण्डल व ज्योति मय चंदोवा के रूप में चमकने लगता है—इस विधि को सूर्य ताप के उदाहरण से कहा जा सकता है।

सूर्य जो ताप देता है वह कार्बन नाइट्रोजन गैसेज का चक्र है, वैसे ही गैसेज का चक्र इस देह में भी निर्माण होता है। जैसे—सूर्य में हाइड्रोजन, कार्बन तथा नाइट्रोजन की सहायता से हीलियम गैसेज में बदलती रहती है, वैसे ही देह-संस्थान में नाभि केन्द्र के सूर्य स्थान में प्राण व अपान वायुओं (गैसेज) का ऐक्य होकर समान वायु (गैस) में बदल जाता है। ऊपर हृदय से नीचे कंद-स्थान में प्राण वायु उतर कर अपान से मिले अथवा नीचे कंद स्थान से अपान-वायु ऊपर उठ कर नाभि में आये हुए प्राण-वायु से मिले,—किसी भी विधि से हो, जब दोनों का ऐक्य होता है तो वायु समान वायु रूप में परिणमित हो जाता है। इस परिणमन को विज्ञान की भाषा में संलगन या द्रवण या फ्यूजन (Fusion) कहते हैं।

सूर्य में फ्यूजन प्रक्रिया से हाइड्रोजन के हल्के केन्द्रक (न्यूक्लियस) हीलियम के भारी केन्द्रकों में बदल जाते हैं। ऐसा होने के समय भारी आणविक शक्ति का उद्भव होता है। और इसी शक्ति को सूर्य अपनी किरणों के माध्यम से विकिरण करता रहता है।

देह में कंद (स्वाधिष्ठान) के निकट सुषुम्णा के नीचे के भाग के विवर (Tunnel) में न्यूट्रान रूप से द्रव्य-प्राण का स्फोट होता है । सुषुम्णा ही फिशन का माध्यम बनती है और प्राण न्यूट्रान के तब आणविक स्फोट से उत्पन्न ज्योति, प्रकाश तथा ऊर्जा सुषुम्णा नाली में होकर ऊपर मस्तिष्क के गगन में प्रकाशित होती है ।

साधक प्राण अपान, समान आदि वायु रूप गैसेज को अपने प्रयोग द्वारा उत्प्रेरित व परिणमित करता है । गैसेज को एकत्र करने के लिए भारी चुम्बकीय (आकर्षणीय) शक्ति वाले वातावरण का उद्भव साधक प्राणायाम अभ्यास द्वारा कर लेता है । उत्प्रेरित गैसेज कुंभक के दबाव से तीनों बंधों के बंधन से विवश होकर सुषुम्णा होकर आगे ऊपर निकलने लगती है । इस गति को बनाती हुई निरन्तर स्फोट द्वारा ये पौद्गलिक-सूक्ष्म कर्म—आवरणों को ही तोड़ती अग्रसर होती है ।

इस प्रक्रिया में प्राणयाम द्वारा प्राण पर पडा प्रकाशावरण विच्छिन्न होता है और प्रकाश का अनावरण ही ज्ञानावरण संस्थान को विच्छिन्न करता है और इन विच्छिन्न-क्रियाओं में भी वह भेद व संघात रूप प्रक्रिया होती है जिन्हें तत्त्वार्थ सूत्रकार ने "भेदादणु" रूप से कहा है ।

भारी आणविक शक्ति पुंज ही अनन्त कोटि सूर्य प्रकाश सा अन्तर में व ऊपर सहस्रार में अनुभूत होता है । प्रकाश का उद्योत तो सब अतिकायिक विद्युत के परिणमन हैं, पर इनमें ही कायिक पौद्गलिक कर्म-संस्थान जो प्राण एवं आत्म तत्त्व को आवृत किये हुए हैं,—क्रमशः जर्जरित होकर जलते जाते हैं,—इसे ही द्रव्य निर्जरा कहा जाता है । इसके समानान्तर प्राणायाम में साधक का मन, वचन, काय का जो संवर रहता है दृष्टा तथा ज्ञायक भाव रहता है, वही साधक का भाव संवर होता है, और इसी से भाव निर्जरा होती है ।

जैसे शक्ति उत्पन्न करने के लिए भारी मात्रा में कार्बन व नाइट्रोजन होना आवश्यक होता है वैसे ही भारी मात्रा में प्राण व अपान का एकीकरण आवश्यक होता है तब समान-वायु का उद्भव होता है । समान वायु होने पर ही प्राण सम होते हैं और साथ ही उर्ध्व में चलित होने पर उदान से सम्बन्ध करके अति सूक्ष्म व प्रोज्वलित भी हो जाते हैं । तब श्वेत प्रकाश का आविर्भाव होने लगता है, अति कायिक विद्युत सहस्रार में दमकने लगती है । यह अति कायिक-विद्युत फोटोन (Photon) की गति से भी अधिक गतिशील होती है और आत्मशोधन का कार्य इसके माध्यम से होता है । यही योगाग्नि नाम पाती है ।

प्राण में उसके द्रव्य स्वरूप का ही संशोधन होता है और इस संशोधन में सूक्ष्म प्राण के पर्याय-परिणामन दृष्टिगत होते हैं तथा सूक्ष्म व सम प्राण होने पर फिर साधक के चित्त व भाव प्राण-लोकों में भी परिष्कार होता है, उनका उन्नयन होकर उनके आयाम ही बदल जाते हैं । संसार के राग व भोग उस अति कायिक विद्युत् प्रकाशों की आनन्द-निधि में अल्प व तुच्छ हो जाते हैं, इन्द्र पद के

अति-भौतिक भोग भी विष्ठा तुल्य लगने लगते हैं। प्राण-परिणमनों में शब्द अर्थ भाव और ज्ञान के क्रम इस प्रकार लक्षित होते हैं—प्रथम शब्द से ज्योतिप्राण रूप अर्थ-प्राण, उससे भाव रूप चित्त-प्राण व अन्त में ज्ञान (चिति) प्राण का या स्वयं आत्मा तत्त्व का ही सम्पूर्ण विलास प्रकट हो जाता है जो इन्द्रियातीत निर्मलतम स्वयंभू स्वाधीन ज्ञान-घन व चिदानन्द परम रूप होता है।

ब्रह्माण्डीय चैतन्य केन्द्रों के ज्ञान एवं इन केन्द्रों में संलग्न ध्यान अनुभूतियां तथा इन से भी फिर उत्क्रमण करके देहातीत व स्व केन्द्रस्थ आत्मा के साक्षात्कार की साधनायें एवं इनसे प्राप्त ज्ञान ही विज्ञान है। क्रम क्रम से व फिर क्रमोत्तीर्ण होकर अपनी ही वस्तु के निर्मल स्वरूप में आ वैठना यही परमस्वरूप का परम विज्ञान है। इनमें यथार्थ अमृत प्रवाह कहीं बाहर नहीं है—अपने ही केन्द्र अन्तस्तत्व में है। परमानन्द रूप वह अमृत प्रवाह ही परम प्राप्तव्य है—शुभ-अशुभ से परे वह ज्ञान-दर्शनोपयोगी प्रवाह है उस प्रवाह में ही निश्चिन्त निश्चल विराजना है। जो इस अमृत प्रवाह को नहीं प्राप्त कर पाता, वह शुष्क मरुथल की सी तथाकथित साधनाभूमियों में भटक कर ही दम तोड़ देता है।

विज्ञान ज्ञान की योग विज्ञान में संगति और व्याख्या

वस्तुतः मानव का मस्तिष्क एक अद्भूत ही यंत्र रूप में विकसित हुआ है। जीवात्मा इस यंत्र द्वारा अपने चिन्तन विशिष्ट से स्वरूप को प्रकट कर सकने में सफल होता है। और इसी मस्तिष्क केन्द्र में प्रयोग द्वारा मानव मन चिंतन को मृत्यु केपार भी ले जाता है और वहीं उसकी मृत्यु पर विजय है। मृत्यु का क्लेश मानव को अनावश्यक ही है। जीव एक भावात्मक तत्त्व होने से कभी अभाव रूप हो ही नहीं सकता। स्वयं का आरम्भ या अन्त तो मात्र एक कल्पना ही है। वह सदा से है और रहेगा—मात्र अब तक देह परिवर्तन ही तो होता रहा है। जीव वास्तव में अपने अनादि के अज्ञान से ही दुःखी है। मानव के मृत्यु-भयाक्रान्त भाव-भूमि में योग विज्ञान अपने सुखद सम्वाद को ही लेकर प्रकट हुआ है। यह मानव को भय-मुक्त करके आश्वस्त करता है। भय वास्तव में एक मानसिक दुर्बलता है और अभय ही जीव का गुण है। इस गुण का जागरण व विकास करके मानव केवल अभय ही नहीं होता है, वह अपनी स्व हस्ती की पहचान कर लेता है। अपने अज्ञान को जानकर उससे निवृत हो जाता है।

मृत्यु क्या है यह मर कर ही जाना जा सकता है। मरने में देह ही का वियोग होता है। देह में राग व वासना है अतः देह के वियोग के विचार मात्र से जीव दुःखी होता है। योग जीवित दशा में ही मरने की दशा को दिखा कर भी जीवित रखता है और इस प्रकार मौत को जानकर मौत का भय भी सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है। एक निश्चल आश्वस्त व निर्भीक ज्ञान भाव का ही उदय हो जाता है। इसलिए महर्षियों ने कहा है कि "ज्ञानादेव मुक्तिः"। अज्ञात का भय होता है, जब अज्ञान ही ज्ञात हो जाता है तो उसका भय भी निर्मूल हो जाता है—

ज्ञानी निःशंक निष्कलंक,
निज ज्ञान रूप निरखंत नित ।।

मृत्यु भय में प्राण भय है, और प्राण भय देह में ममत्वको ही लेकर है । मगर जब प्राण स्थूलता को निवृत करके सूक्ष्म होकर ध्यान क्रिया के मध्य देह से बाहर निकलने लगता है, अर्थात् सूक्ष्म देह स्थूल देह से भिन्न होती है तो यह परिचय होता है कि जिस स्थूल देह को मैं मानव इतना महत्त्व अभी तक देकर इसमें अनुरक्त रहता आया हूँ, यह तो मेरे से भिन्न ही है । मैं इसके विना भी जीवित व चैतन्य हूं तब इसकी निरर्थकता में इन्द्रिय–विषय व काम आदि विकार भी कोई अर्थ नहीं रखते तथा देह-त्याग में प्राण-भय तो सर्वथा ही निर्मूल बात है । यह भी ज्ञान घटित होता है कि देह के साथ मरना समझना तो मात्र भ्रम ही है । जब योगी सूक्ष्म देह से भी अलग होकर अपने को विचार या ज्ञान मात्र ही स्थित करके जान लेता है तो सूक्ष्म देह की आसक्ति भी टूट जाती है । ऐसे योगी मरण से पहले अपनी देह का वियोग देखकर वे अपनी ज्ञान मात्र हस्ती को जान कर, देहातीत व अभय भाव को प्राप्त हो जाता है फिर जब यह देह आयु-कर्म की समाप्ति पर छूटती है तो योगी कर्म भार से हल्का हुआ व देह वासना से विमुक्त हुआ, संसार से उपरत हुआ अपने अक्षय ज्ञान धाम में चला जाता है ।

देह से देहातीत होने की इस प्रक्रिया में योग के ही विभिन्न अंग क्रियाशील होते हैं—प्राण-योग में प्राणायाम मुद्रा आदि के साधन से प्राण संयम होकर प्राण सूक्ष्म व उर्ध्व गमनशील होने लगते हैं क्योंकि जीव तत्व उर्ध्वगमनशील गुण वाला है । मंत्र-योग में मन ज्योतिमय होकर एकाग्र व एक-चित्त होता है और सहज रूप से प्राणों का स्थिरीकरण होने लगता है, लय-योग में चित्त संकल्प-विकल्प रूप सूक्ष्म चपलता से विमुक्त होकर संवर को प्राप्त होता है और अपनी परिणतियों में विशुद्धता को प्राप्त होने लगता है, राज-योग में मन बुद्धि पर सर्वथा निग्रह व अधिकार प्राप्त होता है और वशीकार मन से अध्यात्म योग के ध्यान-योग का आरम्भ होता है । इस ध्यान-योग में ही उपासना योग का भी सुमेल होकर ज्ञान का द्वार खुल जाता है । तव अमनस्क राजयोग सधता है और शुक्ल ध्यान की भूमिका होती है । उसमें यथाख्यात् चारित्र का अप्रमत्त रूप से निर्मल आत्मा के ही लक्षण से स्वरुपाचरण होता है और आत्मा ही आत्मा को जानने व रमण करने लगता है । वहीं आत्मा के स्वभाव में स्थिरता होती है जिससे कर्म-प्रत्ययों (बन्धनों) का क्षय सर्वथा होकर आत्म-प्रदेश विशुद्ध रूप में घन ज्ञान रूप हो जाते हैं । वहाँ फिर न कुछ लेने को (उपादेय) न छोड़ने को (हेय) कुछ शेष रहता, न अवकाश रहता । वीतरागता व सर्वज्ञता की प्रगाढ़ अवस्था में ही आत्मा आत्मा में मगन हो जाता है । इस आत्मा में "शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध सहज सुसिद्ध सिद्ध सम" रूप ज्ञान व परिणमन होता है ।

मृत्यु समय अपेक्षतया शुद्ध आत्माओं को जो एक प्रकाशीय प्राणी का—एक उच्च स्तरीय जीवात्मा के साक्षात्कार का बोध व साक्षात्कार होना कहा जाता है उसे ही विभिन्न धर्म वाले विभिन्न नामों के कहते रहे हैं । जीवात्मा का उत्तम अंश ही उत्क्षिप्त (Project) होकर आत्मा के निर्बल भावात्मक अंश को अपनी अहेतुकी कृपा व करुणा से आश्वस्त व प्रकाश भरित कर देता है । वह अपना ही

उत्कृष्ट अन्तः तत्व है इसे ही अध्यात्म मार्गी गुरु स्वरूप में पहचानते हैं—शैव उसे शिव स्वरूप में, वैष्णव उसे विष्णु स्वरूप में, शाक्त उसे मातृ स्वरूप में तथा जैन उसे पंचपरमेष्ठी रूप परम गुरु रूप में पहचानते हैं। वहीं मेरी भावना में इस प्रकार व्यक्त हुआ है।

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥

बुद्धवीर, जिन, हरिहर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥ (मेरी भावना–१)

जो शुद्धतम परिणत आत्माएँ हैं, वे इस देह से मुक्त होकर व इसी अन्तःस्तत्व को परम स्वरूप से अभिन्न करके अद्वैत भाव में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। तब सिवाय आत्मा व आत्मा के ज्ञान के अन्य सब विसदृश व अपरम भाव समाप्त हो जाते हैं, अक्षय पद वही होता है।

जीव के साधारण स्वरूप व जीव के शुद्ध स्वरूप में भिन्नता ज्ञान की व ज्ञान की शुद्धता की ही है और यह ज्ञान आवृत्त रहता है देह की वासना से ही। इसे ही अविद्या, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान आदि कहा गया है। मेघ पटलों के समान कर्म-प्रत्यय जीव–सूर्य को आवृत्त कर देता है और उसकी ज्ञान-किरणें व्यक्त व प्रकाशमान नहीं हो पाती। देह का राग ही नाना प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों, आशाओं, वासनाओं, इच्छाओं व मोह के राज्य विस्तार को प्रकट करता रहता है और जीव इन्हीं में फँसा रहने से कभी अपने को उन्मुक्त व शुद्ध ज्ञान ज्योतिर्मय अनुभूत नहीं कर पाता। इन विभाव बन्धनों से ही कर्म-बन्धन भी बन्धते हैं और विद्यमान रहते हैं। जब पिण्ड देह से प्राण उर्ध्व होकर ब्रह्माण्डीय देहगंत हो जाता है तब मोह व राग का स्थूल रूप कट जाता है मगर मोह, लोभादि अस्मिता के संज्वलन, सात्विक झीने भाव वर्तमान रहते हैं। ये भाव-प्राणों के ब्रह्मरन्ध्रगत होने पर व ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर ब्रह्माण्डातिवर्ती होने पर सर्वथा क्षीण होते हैं और वीतरागता का विज्ञान उदित हो जाता है। तब ही आत्मा अपना सिद्ध सम ध्यान कर पाता है। यहां ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग बनता है। अनन्त अनादि विश्व का सम्मोहन समाप्त होकर ही अभीक्ष्ण आत्म ज्ञानोपयोग की दिशा मिलती है—जो जीवात्मा को अक्षय सुखमय निज धाम, निज स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देती है।

आत्मा की अमर एवं निर्मल विराट्ता

ज्ञान और चैतन्य पर्यायवाची ही हैं, मात्र जीवित रहना पूर्ण चैतन्य नहीं है, न ज्ञान रूप ही है। चैतन्य की अमर निर्मलता की पराकाष्ठा होना ही सच्चा आत्म स्वरूप है। चैतन्य की परिपूर्ण निर्मलता हो जाना विशेष अवस्था है और ये ही आत्म-साक्षात्कार है। साक्षात्कार शब्द किसी अन्य वस्तु के परिचय को कहते हैं—आत्मा अपने से ही अपरिचित है अतः उसको स्वयं अपना परिचय होना ही साक्षात्कार रूप कहा गया है। आप आप ही में है, मगर स्व-परिचय की विशेष पर्याय उदित न होने

से, स्वयं में भाव रूप वास नहीं है, पर-क्षेत्र में ही भाव रूप वास हो रहा है। पर क्षेत्र में-एवं परभाव में इसका एकत्व ही मिथ्यात्व अवस्था है।

पास रहयो दीख्यो नहीं, कौन दियो उपदेश।
प्यारे याही देह में तू भलो रहयो परदेश॥

नाना रूपों व अभिनयों (स्वांगों) को धारण करता यह जीव परदेश की सी अवस्था में ही है। स्व-धाम की विशेष अवस्था में कभी यह आया ही नहीं। परन्तु पर-क्षेत्र में यह पर-रूप हो भी कैसे सकता है ? पर पर है, अचेतन है, और जो स्व चेतन है उसका सर्वस्व चेतन मात्र है, ज्ञान मात्र है। अतः "पर" और "स्व" के मध्य में झोले ही खाता रहता है। दुविधा और संघर्ष को ही भोगता रहता है। इसीलिये जो कम जड़ है वे उनसे जो कम चैतन्य हैं शीघ्र शुद्धि को प्राप्त होते हैं। चैतन्यवृत्ति ही ध्यान का लक्षण है—और चैतन्यवृत्ति का रहना ही ज्ञान है। वस्तुतः जैन विज्ञान में ध्यान और ज्ञान एकार्थक हैं।

कहा गया है—

जड़ और चैतन्य रूप द्विधात्मक—अनेकता को तोड़ कर मैंने अपने एकत्व मात्र-चैतन्य रूप एकत्व (निर्मलता) को जब अपनाया, तब परिणाम यह हुआ कि मेरा मौलिक शुद्धरूप परम सहज स्वरूप में हो गया, और मेरा अल्प "मैं" ही अब वह (परम स्वरूप) हो गया। अब मेरी कम जड़ रूप या कम चैतन्य रूप में पर्याय का और पूर्ण चैतन्य रूप मेरे परम-स्वरूप का गुण भेद-समाप्त हो गया। दूई का परदा उठ गया। शक्ति रूप परम स्वरूप और व्यक्ति रूप पर्याय—एक रूप हो गये, एक वर्ण हो गये, शुद्ध अद्वैत एक रूप हो गये।

वह और मैं—वह जो त्रैकालिक परम स्वरूप और "मैं" जो तात्कालिक पर्याय—ऐसे अन्त-र्बाह्य स्वरूप, नित्य व क्षणिक स्वरूप जब तक भिन्न-भिन्न वर्ण हैं तब तक ही विषमता है। पर जब दोनों एक ही नित्य व निर्मल वर्ण हों तो फिर समता (साम्य) ही है। व्यक्ति में शक्ति का अनुभव नहीं है। इस अनुभव के हो जाने से ही कि "वह" मेरा निज परम स्वरूप और "मैं" वर्तमान अभिव्यक्त रूप—एक (आत्मा) है—दो नहीं है तथा "मैं" में जब परम रूप ही निर्मलता है, तथा ही—गुण प्रकाश है तो दूई का परदा या भ्रम खत्म हो जाता है। वस्तुतः द्रव्य-अपेक्षा, शक्ति रूप परम स्वरूप शुद्धतम ही है—उसमें पर रूप "गैर" तत्व शरीक नहीं है—बिना शिरकत गैर होने से मिलावट रहित है वह पवित्र-तम केवल और निर्मल है। शक्ति-प्रचार (व्यक्ति) अपेक्षा भी उस परम रूप हो जाना ही अद्वैत स्वरूप है।

यह सत्य है कि इस लोक में दो ही विद्याएं जानने योग्य हैं,—एक शब्द विद्या (ब्रह्म) और दूसरी निःशब्द, निरक्षरी परम-ब्रह्म। शब्द ब्रह्म ही परम-ब्रह्म को जानने का मार्ग है। दूई का परदा तब

उठता है जब शब्द के माध्यम से अहं रूप चित्त-पर्याय निर्मल होकर चिद् मात्र रह जाती है इसे ही चित्त का लय होना, समर्पित होना अथवा सीमित विकारी अस्मिता पर्याय—विकारी पर्याय का अपने अनन्त चिद् स्वरूप में ही अर्पित होना या तद्रूप होना कहा जाता है।

अहं विकारी पर्याय "सोऽहं" भाव परिणत होकर ही चिद्स्वभावी होता है। चित्त के दीन हीन तथा संकुलित, अल्प तथा त्रस्त भाव अक्षर स्वरूप के परिचय से ही पूर्णोंइ,—शुद्धोहं, सिद्धोहं, भाव रूप होते हैं। अक्षर स्वरूप का वह परिचय अक्षर सकल जिन पुरुष का साक्षात्कार है। तब शुद्धोहं सिद्धोहं भाव को लेकर ज्ञान-पर्याय के तद् अनुरूप परिणत होने पर चित्त स्वयं भी अक्षर स्वरुप से निरक्षर परम पद में—निमग्न हो जाता है। तब वह चित्त न रह कर ज्ञान गुण स्वरूप में—महा चिति स्वरूप परम स्वरूप निज आत्मा में ही निमग्न हो जाता है। यह आत्म स्वरूप विश्व के तमाम तत्त्वों से उत्तीर्ण और विलक्षण है।

अक्षर जब तक है तब तक ही विश्व के तत्त्व हैं, अक्षर स्वयं विश्व तत्त्व सहित है और विश्व में ही है। परन्तु अक्षर द्वारा ही शुद्ध पुरुषाकार निज स्वरूप का द्वैत रुप में सकल जिन पुरुषाकार रुप में अन्तर्दर्शन होता है, वही सम्यग्दर्शन है।

इसके अनन्तर ही कभी आत्म स्वभाव धारा का ग्रहण होकर निरक्षर परम आत्म निज स्वरूप में उल्लसित हो सकते हैं। सकल स्वरूप सगुण स्वरूप है, चित्त सापेक्ष है,— स्वयं चित्त द्वारा अपना ही ध्येयानुसार दर्शन है और वह ध्येय सर्वज्ञ वीतरागी परम ज्ञायक जिन है और वही आत्मा का निर्मल सकल स्वरूप रूप है।

परम स्वरूप तो अव्यक्त निष्कल पुरुषाकार है। यही अक्षर वाक् के द्वारा अन्तरात्मा से आराधित होने से सूक्ष्म चिन्मय पुरुषाकार स्वरूप—सदेह सकल रूप में अवलोकित हो जाता है। साधना की इस विशलेषणात्मक तन्मय सत्य–स्थिति को ही भेद-विज्ञान कहा जाता है। इस सूक्ष्म विवेचना को स्थिति-पालक जन शब्द के अर्थ (प्रकाश) को न पाकर उसके वाच्य के भाव अर्थात ज्ञान को भी नहीं पाते।

शब्द भौतिक तत्व होने से उसमें पंच भौतिक तत्त्व व उनके पाँच (मण्डल) शून्य अन्तरीक्ष भी उसमें गर्भित हैं— तथा मन और बुद्धि (ज्ञान गुण की पर्याय) को भी वह अपने साथ अन्तराकाशों में ले जाकर उन मन बुद्धि को उनके विश्राम स्थल रूप राग शून्य अन्तराकाशों में उत्तीर्ण कर देता है। ऐसे सात शून्य अन्तरीक्षों या आकाश-मण्डलों का साक्षात्कार तथा फिर वेध ही अक्षर करा देता है।

वह अक्षर,—सातत्य विचार (Sustained Thought) रूप होता है,— इसे ही मन्त्र (मननात् मन्त्रः) कहा गया है। सप्त आकाश मण्डलों के वेध पर ऐसा लगता है कि मानो सारा विराट् आसमान ही साधक में आ कर समा गया हो। तब उस परम आसमान–अन्तरीक्ष में निज सकल स्वरूप अर्हंतपरमे-

श्वर का ही साक्षात्कार अतीन्द्रिय आनन्द और भव्यता को लिए प्रकट होता है। वह अन्तरीक्ष-स्थ प्रभु आप है, साधक स्वयं ही है।

अब वह साधक नहीं, सिद्ध है। इस सिद्ध साधक के ज्ञान की विराट्ता की क्या कोई सीमा या मर्यादा है? यह ही परम स्वरूप के आविर्भाव का द्वार भी होता है। ऐसे सप्त आकाशों के ऊपर अपने साकार पुरुषाकार स्वरूप दर्शन के अनन्तर ही साधक स्व निर्मल परम स्वरूप, जो सर्व अन्य तत्त्वों से निर्मल—यानी बिला शिरकत "ग़ैर" है अर्थात् कर्म-कालिमा व पर-द्रव्य व पर-भाव श्लेष से मुक्त तथा परम निर्मल है, सर्व ज्ञान गुण युक्त सर्वज्ञ परमेश्वर परिणत होकर सिद्ध शुद्ध हो जाता है।

स्व पुरुषाकार-स्वरूप जब प्रत्यक्ष होकर स्थिर स्थित हो जाता है तब बाह्य–या अन्तर रूप सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। सब कुछ ही उसके विराट् अनन्त (Eternal & Infinite) भाव में समा जाते हैं तब वही अर्हत्स्वरूप होता है। अनन्त आकाशों को भी अपने में समाविष्ट करने वाला, वह अनन्त से भी महान् हो जाता है। ज्ञान तब अनन्तानन्त को अपने ही ज्ञान में निज प्रदेश-प्रदेश में अन्तर्भूत कर लेता है। अनन्तानन्त प्रदेशी चैतन्यात्मा के प्रदेश-प्रदेश सर्वज्ञ और सर्व दृष्टा हो जाते हैं—और वे सर्व चिन्मय प्रदेश एकत्व रूप अखण्ड और घन स्वरूप होते हैं।

निर्मल विराट्ता के बिन्दु पर परम की व्याख्या

विराट्ता का महाश्चर्यकारी आलम और मस्ती (आत्मानन्द) का संधान स्वयं परम आत्मा के ही स्वरूप-लक्ष्य से, शब्द ब्रह्म के आश्रय तथा आत्म-श्रद्धा गुण के कृपा प्रसाद से मिलता है। शब्द निमित्त से जब आत्म-प्रेम की बिजली जिस पर गिरती है तब वह जगत् के अल्प भाव व आसक्ति से निर्मुक्त बेखुद और मस्त हो जाता है—और उस अवस्था में ही कोई भी निर्ग्रन्थ व अवधूत हो जाता है। वह स्वरूप निर्मलता का बाना सहज और स्वाभाविक बाना है, सारे जहाँ के संत इस ही परम निर्मलता रूप-सर्व परिग्रहों से रहित परम पवित्र निर्मल निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ अवस्था को उच्चतम मानते हैं। इस परम की ऐसी निर्मलव्याख्या तथा निर्मल आविर्भूति पर ही निर्मल विराट् बिन्दु स्थिर होता है।

उस परम स्वरूप की उच्चता,—उत्तमोत्तमता कायही निर्मल निष्परिग्रही बाना है—यह उससे ही धारण होता है—जो उस परम स्वरूप में अभिन्न होने की या अभिन्न होकर ही प्रकृष्ट लौ लगाए हुए है। वस्तुतः उस परम स्वरूप का कैसा वेष? कोई भी विश्व का तत्त्व उसे आवृत नहीं कर सकता? वह सहज निर्मल ही हो सकता है और वह अन्तर में निर्मल स्वरूप ही है।

वास्तव में अभिन्न भाव को आरोहण हो जाना, निर्मल अनन्त ज्ञान-अस्तित्व की पहचान की सामर्थ्य का प्रकट हो जाना योग का सबसे बड़ा वरदान है। अक्षय जिन रूप रूप निज की पहचान होने से ही नित्य शाश्वत निज परम की भी पहचान व प्राप्ति हो जाती है।

मुझ में समा जा इस तरह, तज प्राण का जो तौर है।
जिसमें न कोई कह सके, मैं और हूँ, तू और है ॥

अन्तर-अक्षर पुरुष से जब दूई मिट जाती है, अभिन्न भाव हो जाता है—तो यही एकत्व है, अपनी अखण्ड स्वरूप प्राप्ति है, स्व चैतन्यता की निर्मलता एवं भाव-परिष्करण है।

साधना की दो विधाएं और उनकी परस्पर पूरकता

स्वरूप प्राप्ति का महान् आश्चर्यकारी विराट् दर्शन स्वरूप का मार्ग एक ही है—और वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप है। इस एक निर्मल मार्ग में परस्पर पूरक दो विधाएं चलती है। भगवान् आत्मा इस देह में—भव्य देहों में अवगाहित होकर भी—इनसे शून्य व अपने ही अन्तरीक्ष में विराजमान नित्य व शाश्वत् निर्मल अनन्त और विराट् है। उसका निर्मल ज्ञान समस्त देह विश्व व लोक विश्व को भी अपनी अनंतता से पूरित व व्याप्त कर लेने वाला है। वह प्रभु देह के अतः विश्व के भी सात आसमानों से ऊपर होकर भी मस्तिष्क रूप ब्रह्माण्ड में देह यंत्र का संचालक होकर विराजमान हैं। इस प्रभु की रुचि और श्रद्धा तथा ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट तत्व है।

इस प्रभु के निकट ही साधक को अपनी तात्कालिक पर्याय को लेकर उपस्थित होना है। अब या तो वह निर्मल आत्म प्रभु स्वयं ही सातों आसमान लोकों के वेध व भेद सहित करुणा पूर्वक स्वयं पर्याय में उतर आए—अथवा साधक पर्याय ही क्रम-क्रम उद्योग करके सात आसमानों का वेध करती-करती उसके निकट हो जाए और अपने को वहीं इस परम स्वरूप में विलीन व समर्पण कर दें। दो क्रम-मार्ग है।

वस्तुतः मार्ग तो रत्नत्रय ही है। अवरोह व आरोह को मार्ग न कहकर साधन क्रम ही कहना अधिक युक्त है। अवरोह क्रम में भी दो विधि हुई हैं—एक तो उपासना योग विधि—तथा दूसरी है—श्रद्धा गुण सहित मात्र आत्म-ज्ञानकी धारणा की स्थिरता। आरोह क्रम में भी दो विधि हैं। ये दो प्रकार प्राण व मन को लेकर हैं। यानी प्राण के अथवा मनके प्रत्याहारऔर धारणा अभ्यास ऐसे दो प्रकार हैं। प्राण के प्रत्याहार व संयम होते हैं—प्राणायाम और मुद्रा आदि अभ्यासों से, तो मन के प्रत्याहार होते हैं—शब्द ब्रह्म—या पदस्थ ध्यान के अवलम्बन से। दोनों ही विधियों में चक्रोन्मीलन भी हो जाते हैं।

शब्द ब्रह्म का साधन सरल और आसान है—वस्तुतः योगी साधक जल्दी सफलता के लिये प्राण और मन—यानी प्राणायाम और शब्द-ब्रह्म दोनों का ही समन्वय करके चलते हैं। प्राणायाम आदि के खाली साधन शून्य व जड़ समाधि की ओर ले जायेंगे और शब्द ब्रह्म के ज्योति की तरफ। अतः प्राणायाम आदि के साथ ही, शब्द ब्रह्म के यानी मन्त्र व मूर्ति के साधन लेने चाहिए।

उपासना के अवरोह क्रम में सकल पुरुषाकार जिन स्वरूप की उपासना होती है। उस अन्त-

रीक्षस्थ निर्मल प्रभु को ही नीचे हृदय में अवतीर्ण करके उपासना निष्पन्न की जाती है और उस उपासना से ही फिर प्रत्यक्ष ज्ञानावस्थिति की जाती है। यह परम ब्रह्म का साधन है। इस उपासना में फिर शब्द ब्रह्म का आश्रय नहीं होता—पर एक बात ध्यान में रखनी चाहिए—कि यदि कोई साधक सीधे ही देवेश जिन पुरुषाकार स्वरूप को हृदय में उल्लसित नहीं कर सकता तो उसे प्रथम कुछ काल तक प्राणायाम व शब्द-ब्रह्म का भी साधन कर लेना चाहिए। ...

आरोह क्रम हो या अवरोह क्रम हो—दोनों में सातों आसमानों से ऊपर अन्तरिक्षस्थ आत्म-प्रभु जिनेश्वर अर्हन्त व तीर्थंकर हिरण्यगर्भ आदिश्वर को हृदय में उल्लसित करना ही होता है। तब ही साधक स्व-तल्लीन व मगन होता है। वह देवेश अवतीर्ण हो या पर्याय उसके निकट आरोह कर उत्तीर्ण हो कैसे भी हो—स्व तात्कालिक ज्ञान पर्याय को परम स्वरूप के ही सम्पूर्ण श्रद्धा—गुण सहित समर्पित होना होता है। तब ही इस जीव पर्याय का द्विधापन मिटता है।

समयसार आदि ग्रन्थ उपर्युक्त विधियों में से उपासना की दूसरी विधि को प्रधानता करते हैं। वे श्रद्धा गुण को लेकर निर्मल सिद्ध सम आत्मा में एकाग्रता को उत्कृष्टता प्रदान करते हैं। आचार्य श्री पूज्यपाद ने व आ० श्री शुभचन्द्र ने अन्तर्मुख परिणत होकर अन्तरात्मा द्वारा परम-आत्मा की उपासना रूप प्रथम विधि को भी सम्मत किया है। अतः वहां सकल पुरुषाकार स्वरूप उक्त प्रथम उपासना विधि में सर्व प्रथम उपास्य है, तदनन्तर सिद्ध सम निष्कल पुरुषाकार आत्म स्वरूप। यद्यपि आ० कुंदकुंद ने भी पुरुषाकार स्वरूप ध्यान को विहित किया है। साधना दो क्रमों में होने से सरल व सहज हो जाती है। आ० श्री कुंदकुंद व अमृतचन्द्र आदि इस क्रम-भेद को स्वीकार करके भी अक्रम पदातीत स्वरूप में एकाग्रता को विशेष कहते हैं और आत्म-पुरुषार्थ रूप निश्चय परम ध्यान की प्रेरणा करते हैं।

वस्तुतः साधक जनों की स्वयं की सामर्थ्य एवं चित्त-भूमिका पर ही यह निर्भर करता है कि वे किस क्रम व ध्यान को ग्रहण करें। यदि साधक जन पूर्व में कभी योग अभ्यास (व्यवहार) साधनों से चित्त भूमिकाओं का संक्रमण कर निर्मल हो चुके हैं और अब निर्मल आत्म स्वरूप के ही अन्तरीक्ष में निरालम्ब अनन्त-अनन्त ज्ञान प्रदेशों में—बिना विश्राम किए बिहार करने की सामर्थ्य रखते हैं तो निश्चय ही उनके लिये क्रमिक अभ्यास साधनों का कोई उपयोग नहीं है। पर सब ही व्यक्ति इस लोक में ऐसे हों—यह सम्भव नहीं है। अतः ही कृपालु अर्हंतपुरुषों द्वारा ज्ञान एवं श्रद्धा की सीधी धारणा के अतिरिक्त भी उपासना व योग के अन्य-अन्य साधनों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

आ० शुभचन्द्र ने ध्यान के सभेद वर्णन से पूर्व-अनन्य परम साधना को भी कहा—पर अन्त में सभेद ध्यानों के ही वर्णन किये हैं—क्योंकि अनन्य आत्म-साधना की योग्यता कम लोगों में ही जागृत पाई जाती है। स्वर्ण को अग्नि आदि संस्कारों से शुद्ध करने के उपरांत ही–शुद्ध देखा जाता है और तब ही वह शुद्ध रहता भी है। ऐसे ही ध्यानादि व्यवहार अभ्यासों से चित्त शुद्ध होकर परम स्वरूप का ज्ञान

होता है और उस ज्ञान के होने के उपरांत फिर एक मात्र परम स्वरूप ही उपादेय रहता है। इसके पूर्व नहीं।

भगवान वृषभेश्वर के इस रत्नत्रय-मार्ग में अतः ध्यानादि व्यवहार रूप आरोह व जिन उपासना के अवरोह क्रम हैं, तथा निश्चय स्व-उपासना का आरोह-अवरोह क्रम भी है। उपासना का क्षेत्र व्यवहार व निश्चय दोनों साधनों में है, व्यवहार सभेद व क्रम-क्रम साधना रूप है, निश्चय अभेद व अक्रम साधन है—अथवा स्वयं ही साधन स्वरूप है। उपासना योग ऐसे अभेद निश्चय साधन में भी स्वीकृत है। इस अभेद में साधक पर्याय सकल पुरुषाकार स्वरूप के निकट नहीं होती—सीधे ही निष्कल सिद्ध सम निर्मल पुरुषाकार आत्मा के निकट होती है। ऐसे इन दो विधियों का तारतम्य समझ कर योग का अभ्यास साधक जनों को करणीय है।

बस्तुतः इन विधि-क्रमों का आपस में कोई विरोध नहीं है। इन विधाओं में लक्ष्य एक ही है। सब ही सम्यक्त्व व तत्व रूचि व आत्म-रूचि को लेकर चलती हैं—यानी चलनी चाहिए। भेद तो मात्र अपने उपयोग के लग सकने का ही है। संसारी प्राणी का सामान्यतः उपयोग भ्रष्ट एवं अशुद्ध रहता है, उसे अशुभ से छुड़ाना होगा—बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता करनी होगी। अतः सभेद मार्ग में इसे प्रथम शुभ में लगाकर शुद्ध की तरफ ले जाते हैं, तथा उपयोग निरालम्ब न रह सकने के कारण विविध अवलम्बनों द्वारा उसे स्थिर व निर्मल करना सिखा देते हैं। सभेद साधन विधि क्रम में अन्तर-अभिव्यक्तियां क्रम से स्पष्ट होती जाती है और साधक को अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष का निरीक्षण एवं जांच रहती है।

मगर अभेद में क्रमगत लक्ष्य कुछ होता नहीं, और क्रम अभिव्यक्तियां आती भी हैं, तो साधक को उन सब की कोई परवाह भी नहीं होती, उसे एक मात्र एक ही धुन अपने परम स्वरूप में निमग्न रहने की होती है। हां यह स्मरणीय है कि इस अभेद साधना में भी साधक को यह सावधानी रखनी होगी कि कहीं वह ज्ञान-स्मृति से च्युत होकर निश्चेष्ट मात्र न रह जाये—निधर्मात्मक (वेदांती) स्वरूप में ही न चला जाए। इसी की निवृत्ति के हेतु ही पुरुषाकार आत्म स्वरूप की अवधारणा को भी ज्ञान अवधारणा के साथ लेकर चलना चाहिए—श्रद्धा गुण तब ही सक्रिय होकर परम स्वरूप में ले जा सकेगा।

अतः इन साधनाओं में मंद उपयोग व तीव्र उपयोग की ही भिन्नता है। उपयोग में सालम्ब व निरालम्ब रूप भिन्नता रहने से ही इन साधन-भेदों का वर्णन है। किसी भी क्रम से चलो—प्राप्तव्य निज निर्मल विराट् ज्ञान आत्मा ही है।

यह वचन सत्य ही है कि प्रथम अरुणोदय होकर ही मध्यान्ह का प्रखर सूर्य उदित होता है। अतः व्यवहार एवं परिणमन का मार्ग भी सर्वज्ञ आम्नाय में सुस्थिर व सुव्यवस्थित रूप से कहा गया है।

अपरिणामी तत्त्व उपादेय है—उस उपादेय तत्त्व की प्राप्ति व्यवहार को उत्तीर्ण करके निश्चय पर आने से होती है । व्यवहार के मार्ग की उत्तीर्ण आप कैसे करते हैं-यह आपकी ही योग्यता का प्रश्न है—जिसे आप स्वयं हल नहीं कर सकते, उसे गुरुपदेश पर ही छोड़ना होगा ।

यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि वर्तमान में निश्चय व व्यवहार को लेकर विग्रह का वातावरण बन रहा है या बनाया जा रहा है । यह सम्भवतः इसी लिए है कि दोनों विधियों के ज्ञाता गुरु जन कम रह गये हैं और तत्व चर्चा में ही समस्त योग मार्गों की परिसमाप्ति कर दी है । तत्व चर्चा से बौद्धिक विकास सम्भव है पर आध्यात्मिक विकास (Spiritual Enfoldment) एवं तत् स्वरूप परिणमन तो आगे की ही बात है ।

आत्म-एकाग्रता के लिये तत्व चर्चा के उपरांत अन्य-अन्य साधन ग्राह्य होने चाहिए । वरना क्या आश्चर्य कि यह सर्वज्ञ मार्ग भी वेदांत मार्ग की तरह वाचिक व शुष्क ज्ञानवादी मात्र रह जाएगा। अतः साधक जन इस समग्र योग मार्ग,—निर्वाण एवं अक्षय आनन्द के पथ के ही पथिक बनें । शक्ति आत्मा को व्यक्ति आत्मा में क्रमशः परिणमन होने देकर शुद्ध मात्र वस्तु की ही प्रसिद्धि को प्राप्त करें ।

प्रवचन सार-गाथा २५४ की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने स्वयं यह प्रकट किया है कि गृहस्थ प्रशस्त भूत चारित्र से ही परम सौख्य-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

एसा पसत्थ भूदा समणाणं, वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ।।—(प्रव० गा० २५४)

श्री अमृतचन्द्रसूरि स्पष्ट करते हैं-"गृहस्थों के तो सर्व विरति के भाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने से कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है,—क्योंकि जैसे ईंधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इसलिए वह क्रमशः जल उठता है) उसी प्रकार गृहस्थ को—वह शुभोपयोग उस अनुभव के क्रम से परम सौख्य-निर्वाण का कारण होता है ।" (संस्कृत टीका का भावार्थ)

इससे यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ के अशुभ से (विशेष अशुद्ध परिणति से) छूटने के लिए प्रवर्तमान जो शुभोपयोग का पुरुषार्थ होता है,—वह भी यथार्थ में तो शुद्ध का ही मन्द पुरुषार्थ है,—क्योंकि शुद्धात्मद्रव्य के मन्द अवलम्बन से अशुभ बदल कर शुभ परिणति होती है और शुद्धात्म द्रव्य के उग्र आलम्बन से शुभ परिणति भी बदल कर शुद्ध परिणति हो जाती है । ऐसे अनुक्रम से तो व्यवहार व निश्चय का विवाद ही निरर्थक है । साधक को इस सम्बन्ध में इतनी ही रूचि हो सकती है कि वह चर्या या चारित्र को मन्द या उग्र किस अनुक्रम से ग्रहण करे । आलम्बन का भी ग्रहण इस अभिप्राय व प्रयोजन से ही है कि साधक बच्चे के घुडले प्रयोग के समान—उस प्रयोग से स्थिरता रूप सामर्थ्य को प्राप्त

करके उस आलम्बन का भी परित्याग कर दे। जीवों का अभ्यास जब स्थिर होकर गहनतर व उन्नतर होता है तो शुभोपयोगी धर्म ध्यान शुद्धोपयोगी शुक्ल ध्यान में उत्कर्ष कर जाता है।

अध्यावसाय निर्मलता से निर्मल ज्ञान स्वरूप और आनन्द

मानव की समस्त चेतना-प्रवृत्ति की इति अशुभ, शुभ और शुद्ध अध्यावसाय रूप रहती है। जब तक मानव अपने को पूर्ण ज्ञान स्वरूप परिणमन नहीं कर लेता उसके अध्यावसाय भी परिपूर्ण शुद्ध नहीं होते। अथवा विलोम रूप से यह भी है कि जब तक मानव अपने अध्यवसाय, अर्थात् अपने भाव-स्पंदनाओं को परिपूर्ण शुद्ध, यानी राग द्वेष मोह कषाय हास्य रति प्रमाद से निर्मल नहीं कर लेता, उसका परिपूर्ण ज्ञान रूप परिणमन भी नहीं होता। जितनी जितनी अध्यवसायों में निर्मलता होती जाती है यानी वीतरागता होती जाती है, उसका शुद्ध निर्मल ज्ञान स्वरूप भी उतना उतना ही प्रकट होता जाता है और आनन्द गुण भी उतना उतना ही झलकता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप और भूमिकाएं

मानव की देह अनात्म तत्वों से रचित है और यह उसके लिये बन्धन भी है। मगर यह भी महान् सत्य है कि देह में रहते ही मानव को सब बन्धन से मुक्ति का भी रहस्य हस्तगत होता है। जागतिक संसार में मानव जैसे भौतिक विज्ञान के रहस्यों को अपने बौद्धिक पुरुषार्थ से उपलब्ध करता है—वैसे ही अध्यात्म के भी रहस्य मानव को अपने ही ज्ञान पुरुषार्थ से प्राप्त हो सकते हैं। प्रकृति का विषय और छद्मस्थ जीव का "मैं" परस्पर उपकृत होते हैं और इस अर्थ में परस्पर पूरक हैं। प्रकृति इस "मैं" द्वारा प्रयोजन शील अर्थ तथा क्रिया शील सार्थकता पाती है—वरना इस "मैं" तत्त्व के अभाव में वह अर्थहीन है। "मैं" के प्रति प्रकृति का उपकार है कि एक स्वचालित अनन्त कोषी पंचेन्द्रिय समनस्क विकसित देह-वाहन तथा अनन्त विस्तीर्ण क्षेत्र तथा अवसर इसने इस "मैं" को दिये है—जिनके द्वारा "मैं" अपने जड़ हुए चेतन ज्ञान को गतिशील करके विकसित करता है और इस प्रकार गतिशील ज्ञान में ही कभी ऐसा भी विकास का क्षण प्राप्त होता है जब वह अपने ज्ञान और अतः अपने स्वभाव को भी प्रत्यक्ष पहचान लेता है और दृश्य एवं ज्ञेय प्रकृति से, उसके सम्मोहन से संक्रमण करके अपने ही विराट् ज्ञान-केन्द्र में केन्द्रस्थ हो जाता है।

वस्तुतः यह संसार और "मैं" अज्ञानी के लिए बन्धनकारी और ज्ञान-साधक,—निर्मोही साधक जीवात्मा के लिये सहायक और मित्र है। मगर निश्चयभासी लोग मानव की देह तथा संसार तत्त्वों को वेदांत ज्ञानियों की तरह असद्भूत कह कर जीव को यह उपदेश देने लगते हैं कि तू तो मात्र शुद्ध ही है—और तुझे सिवा ज्ञान के कुछ नहीं करना है। पर वे भूल जाते हैं कि अज्ञान अवस्था में जीव का ज्ञान भी अज्ञान रूप ही परिणमता है और ज्ञान का पूर्ण स्वरूप तो जिनेश्वर रूप आत्मा ही है। जब तक जीव अज्ञान में से निकल कर ज्ञान परिणत नहीं होता—उसे अपनी वास्तविक दशा-तारका-

लिक दशा को जानकर इसे पूर्ण शुद्ध आत्मा जिनेश्वर आत्म-प्रभु के लक्ष से ध्यान साधना से बराबर निर्मल करते रहना ही होगा।

आ० श्री कुंदकुंद ने न केवल निश्चय स्वरूप की ही प्रभावना की है उन्होंने समयसार में निश्चय के साथ ही व्यवहार की भी उतनी ही सर्वोच्चता और महत्ता प्रकट की है। व्यवहार रूप अभ्यासों की अर्थात् योगानुष्ठान, योग साधना की इस महत्ता को उन्होंने जिस प्रकार प्रकट किया है इसे ही हम आगे प्रकट कर रहे हैं। पर निश्चयाभासी जन उनके इस पक्ष को आच्छादित कर देते हैं। शुभोपयोगी ध्यान को भी वस्तुतः न कर सकने वाले तथा मात्र वाचिक तत्त्व चर्चा करने वाले इस रहस्य को नहीं प्राप्त हो सकते हैं कि शुभोपयोगी धर्म ध्यान रूप व्यवहार ही गहनतम ध्यान अवस्था में उत्कर्ष हो जाने पर स्वयं ही निश्चल ध्यान रूप हो जाता है।

वस्तुतः ध्यान अन्तर उपयोग की एक गति है,—जो आरम्भ में एक अवलम्बन लेकर उसके आश्रय अन्तर में स्तर भेद करती चली जाती है। वह प्रथम अशुभ और प्रशस्त के घनतम पौद्गलिक कार्माण स्तरों को ही भेदता है और इसी क्रिया में आत्मिक भावों को पूर्वापेक्षा निर्मलता भी करता जाता है। तत्त्व चर्चा और ध्यान रूप तत्त्व-चर्या में भूमिका-भेद गहनतम है। तत्त्व चर्चा बौद्धिक व्यायाम मात्र ही साधारणतः तथा अधिकतः होता है।

आ० श्री कुंदकुंद ने अक्रम अद्वय शुद्धतम आत्मा का कथन किया है और इसे ही एक मात्र आत्मा की श्रद्धा का विषय कहा है। तथा उन्होंने इसे ही ज्ञान भी कहा और चारित्र भी कहा है—ये तो हुई उनकी कथन शैली। इस शैली में उनका जोर आत्म निर्णय पर ही विशेष है—अर्थात् साधारण जन जो आत्म-निर्णय भी नहीं करते—अपनी आत्मा की प्रकृति से भी अपरिचित हैं और तत्काल मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें ही सर्व प्रथम उद्बोधित करके सम्यग्दृष्टि बनने की प्रेरणा की है। बुद्धि में आत्मा की सही-सही जानकारी न होना ही इस संसारी छद्मस्थ जीव का जागृत अवस्था में भी अज्ञानी रहना ही है। अन्य स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में तो वह अज्ञानी रहे ही रहेगा। ऐसे अज्ञानी पुरुष का चित्र उन्होंने समयसार में दिया है-—

अज्ञानी और ज्ञानी के लौह तथा स्वर्ण रूपक से चित्रण

अण्णाणी पुण रत्तो, सब दव्वेसु कम्म मज्झ गदो।
लिप्पदि कम्म रएण दु कदम मज्झे जहा लोहं॥ षमयसार २३०॥

अज्ञानी पुनः रक्तः सर्व द्रव्येण कर्म मध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम मध्ये यथा लोहं॥

अज्ञानी पुरुष सब ही—चेतन तथा अचेतन पदार्थो में अनुरक्त होकर कर्मावरण में फंसता है तथा कीचड़ में जैसे लोहा मलीन हो जाता है वैसे ही वह कर्म कीचड़ से मलीन होता है।

इस गाथा से पूर्व आ० श्री कुंदकुंद ने ज्ञानी का चित्र भी दिया है—

णाणी रागप्प जहो सब्ब दव्वेसु कम्ममज्झगदो
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम मज्झे जहा कणयं ।।

ज्ञानी राग प्रहाय: सर्व द्रव्येषु कर्म मध्यगत: ।
नो लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम मध्ये यथा कनकं ।।

सर्व पदार्थों में राग का प्रकृष्ट रूप से हनन कर चुकने वाला ज्ञानी कर्म-मध्यगत रह कर भी, अर्थात् कर्मोदय मध्य रहता हुआ भी कर्म-कीचड़ से वैसे ही मलीन नहीं होता जैसे स्वर्ण कीचड़ में रह कर भी मलीन नहीं होता।

इन दो गाथाओं में आ० श्री कुंदकुंद ने ज्ञानी जीवात्मा को स्वर्ण तुल्य तथा अज्ञानी जीवात्मा को लोह तुल्य बताया है। स्वर्ण और लोह का धातु भेद संसार प्रसिद्ध है। जीव तेरहवें गुण स्थान से पूर्व छद्मस्थ रहता है और तेरहवें गुण स्थान में आकर ही वह ज्ञानी परिणमित होता है। तेरहवें गुण स्थान को प्राप्त जीव साधक नहीं सिद्ध हो जाता है तथा वह सयोग जिनेश्वर प्रभु होता है।

अर्थात् सयोगी जिनेश्वर प्रभु रूप परिणत जीवात्मा ही शुद्ध सो टंच स्वर्ण है जो समस्त पर-द्रव्य राग से विवर्जित हो चुका है और परिपूर्ण शुद्धता को प्राप्त है। इस जीवात्मा को अब क्या करना है? इसने तो अपना सब प्राप्त कर लिया, यह अब आप्त काम है—निवृत्त काम है। इसने अपने आत्म कार्य को निष्पन्न कर लिया क्योंकि यह सोलह ताव भट्टी में से निकल कर सर्व कर्म-कालिका से विमुक्त शुद्ध स्वर्ण तुल्य है। यह तो अपने शुद्ध ज्ञान में शुद्धात्म भावना तथा ध्यान में अर्थात् स्व स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहेगा तथा यदि वह धर्म देशना आदि धर्म कार्य भी करे तो यह राग-विवर्जित होने से पुनः कर्म-लिप्त भी न होगा।

विचारणीय है कि जो पुरुष अभी मलीन लौह रूप है, धातु-भेद होकर स्वर्ण रूप रूपांतरित नहीं हुआ है उसके लिए क्या करणीय है,—यह बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रकट ही है कि उस साधक को सम्यक्त्व की निचली दशा के अनन्तर अपने को स्वर्ण रूप रूपांतरित करने वाली व्यवहार क्रियाओं, साधन-अभ्यासों को ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। उसे शास्त्र सुनने या चर्चा के बाद मिथ्यात्व को छोड़कर उच्च दशा में आना चाहिये। यदि वह शाश्वत् सुख की वाच्छा रखता हैं, तो उसे ध्यान तथा तपश्चरण के अग्नि-तावों में से निकलना ही होगा। तब ही उसकी लौह—आत्मा स्वर्ण आत्मा बन सकेगी। आ० कुंदकुंद ने इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

आ० कुंदकुंद ने व्यवहार के योग साधनों को हेय नहीं कहा है। योग तत्त्व की अष्ट पाहुड में भी आ० कुंदकुंद ने बहुत चर्चा की है। योगाभ्यास आ० कुंदकुंद की दृष्टि में उच्च स्थान रखता है।

उन्होंने निश्चय और व्यवहार में संतुलन रखा है—मात्र निश्चय का कथन नहीं किया है। उन्होंने उक्त २३०वीं गाथा के बाद ही अन्य मुसलसिल गाथाओं में लौह से स्वर्ण रूपांतरित होने रूप व्यवहार क्रिया का उपदेश ही नहीं, स्पष्ट प्रेरणा व्यक्त की है।

आ० कुंदकुंद ने समयसार को तो अद्वैत तत्त्व की श्रद्धा को अग्र रखकर प्रणयन किया है—प्रवचनसार में ज्ञान को अग्र रख कर, तो नियमसार में चारित्र रूप व्यवहार को अग्र रख कर। पर फिर भी समयसार में उन्होंने व्यवहार पक्ष का स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक माना। सम्यक्त्वाचरण तो मात्र प्रतीति रूप ही है—मगर संयमाचरण तो योगाभ्यास रूप व्यवहार चारित्र ही है—यह व्यवहार चारित्र ही निश्चय के लिए सोपान है।

खेद है कि ऐसी गाथायें समयासार में से कई प्रकाशित संस्करणों में लुप्त हैं। इनमें २५ गाथाएँ लुप्त हैं। हमारे समक्ष Sacred Books of the Jainas. Vol VIII Series में J. L. Jain Memorial Series Vol III. पर अंग्रेजी टीका सहित समयसार ग्रन्थ है जिसमें गाथाएं ४३७ है जब कि सोनगढ़ "समयसार" में ४१५ संख्या में गाथाएं दी है। ऐसा क्यों किया गया है? कहीं इसमें मात्र एकांत निश्चय को ही पोषण करना तथा व्यवहार-अभ्यास को गौण करना तो नहीं है?

आ० कुंदकुंद को तो वस्तुतः मात्र निश्चय नहीं—व्यवहार और निश्चय दोनों ही सम रूप से मंजूर रहे हैं। पं० टोडरमल जी ने तो निश्चय और व्यवहार दोनों पर बराबर वजन दिया है। निश्चय स्वरूप प्रकट करने के लिए व्यवहार की भाषा तथा व्यवहार के अभ्यास दोनों ही अनिवार्य है।

लीजिए आ. कुंदकुंद की इन तीन गाथाओं को—जो हमारे इस सन्दर्भ में हैं और जिसमें व्यवहार अभ्यास से लौह रूप आतमा को स्वर्ण रूप आतमा में रूपांतरित करने की प्रक्रिया सहित वर्णन है। लौह से स्वर्ण में परिणाम हेतु धातु भेद की क्रिया है। वैसे ही अध्यातम के सारे आधार रूप भेद विज्ञान भी चित्त भेद तथा बुद्धि भेद की क्रिया व्यवहार से ही सम्भव होती है वरना अन्तश्चेतना पलटती ही नहीं हैं।

आ कुंदकुंद की तीन उल्लेखनीय गाथाएं

णाय फणीए मूलं णाइणितोएण गब्भ णागेण।
णागं होइ सुवण्णं, धम्मतं भच्छवाएणा ॥ २३१ ॥

कम्सं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।
सम्मत णाण चरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥ २३२ ॥

झांण हवेह अग्गी तवयरणं भच्छा समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोई हि ॥ २३५ ॥

इनके संस्कृत रूपांतर है—

नागफण्या मूलं नागिनी तोयेन गर्भं नागिन।
नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रा वायुना ।।

कर्मं भवति किट्टं रागादयः कालिमा अथ विभावाः।
सम्यक्त्व ज्ञान चरणं परमौषधमिति विजानीहि ।।

ध्यानं भवत्याग्निः तपश्चरणं भस्त्रा समाख्यातं।
जीवो भवति लोहं धमितव्यः परम योगिभिः ।।

अर्थात्—नागफणि का मूल, नागिनी तोय, गेरू और नाग (शीशा) का मिश्रण भट्टी में चढ़ाकर धोंकनी से हवा देने पर स्वर्ण में बदल जाता है। (२३१)

अष्ट कर्म के प्रत्यय ही किट्टी है, रागादि अशुद्ध विभावी भाव ही कालिमा है, सम्यकत्व (सम्यक्दर्शन) सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को निर्मल कर देने वाली परमौषधि जानो ।। (२३२)

ध्यान ही अग्नि है, तपश्चरण भस्त्रा (धोंकनी) है, वह जीवात्मा (लोह) धातु है जिसे परमयोगियों द्वारा तपश्चरण की भस्त्रा को खूब धमित कर के ध्यान की अग्नि को खूब प्रज्वलित करना चाहिए ।। (२३३)

आ० श्री कुंदकुंद ने इस प्रकार परम योगियों के द्वारा जो अभ्यास करणीय है—उसका बड़ा मनोहारी तथा हृदय स्पर्शी उपदेश तथा प्रेरणा दी है। यहाँ आ. श्री की परम योगियों के प्रति कितनी बड़ी अनुकम्पा प्रकट हुई है—जो परम योग के उत्कृष्ट शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं, उनको उन्होंने कैसी उत्तम उपमा द्वारा उपदेश दिया है कि ध्यान की अग्नि जलाओ—तो आत्मा रूप धातु स्वर्ण बन जायेगा। इस आतमा को सम्यक्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परमौषधि का संग मात्र पर्याप्त नहीं है—इन परमौषधियों के साथ ध्यान और तपश्चरण हो तब मात्र उस लोह धातु को स्वर्ण में रूपांतरित कर सकेंगे। योगाभ्यास की इससे अधिक महिमा आ० श्री कुंदकुंद और क्या कर सकते हैं ? पर इन ही उत्कृष्ट गाथाओं को कुछ संस्करणों में क्यों छेक दिया गया है ?

शंख की श्वेतता

आ० श्री कुंदकुंद ने आगे शंख की उपमा से ज्ञानी और अज्ञानी का भेद समझाया है। ज्ञानी अपने ज्ञान के कारण कभी रागता को प्राप्त नहीं हो सकता, वैसे ही जैसे शंख अपनी श्वेतता में कृष्णता को प्राप्त नहीं होता। पर ज्ञानी जब सम्यक् ज्ञान को परित्यक्त कर देता हैं और अज्ञान से परिणत होता है तो वह अज्ञानता में ही चला जाता है—वैसे ही जैसे शंख अपनी श्वेतता को परित्यक्त करके कृष्ण

वर्ण हो जाता है। इन गाथाओं में आ० श्री कुंदकुंद ने यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि आत्मा जो एक बार शुक्लता को प्राप्त हो जाता है उसका रागाधीन होना समाप्त हो जाता है—अतः उसकी शुक्ल दशा सभी अवस्थाओं में बरकरार रहती है। वह शुक्ल जीवात्मा भी यदि कभी अपनी शुक्ल दशा—ज्ञान स्वभाव को विस्मृत कर दें तो अज्ञान में ही परिणत हो जाएगा।

निश्चयाभासी ज्ञानी ज्ञान-स्वभाव की बात तो करते हैं—मगर ज्ञान स्वभाव में परिणत करने वाले उस योगाभ्यास के व्यवहार को नजर-अंदाज कर देते हैं जो उपर्युक्त तीन गाथाओं में संकेतित किया गया है। ज्ञान स्वभाव में परिणत होने के बाद ही इस दशा का उदय होता है कि जो अप्रतिपाति है वहां से पुनः वापिस लौटना नहीं होता—फिर चाहे किसी भी अवस्था में रहे। ऐसे अप्रत्यावर्तनशील अच्युत ज्ञान स्वभाव का उदय, प्राप्ति तथा स्थिर अवस्था ध्यान और तपश्चरण की अपेक्षा करते है।

वेदांत के सांख्य से जैन सिद्धांत का यही विशिष्ट भेद है। वे आत्मा को मात्र कूटस्थ मानते हैं अतः वहां माया ही सब कुछ करती है—आत्मा कुछ नहीं करता—वह वैसा का वैसा रहता है; मगर जैन सिद्धान्त में आत्मा ही सब कुछ करता है। अज्ञान व ज्ञान का भी वही कर्ता है। वह कारक रूप में कारक है, कर्ता है, अतः वह अपने ही ध्यानाभ्यास व तपश्चरण के उद्योग से अपनी कर्म-कालिमा को जला देता है। उनके यहां कर्मावरण रज प्रत्यय रूप माने ही नहीं गये हैं। जैनों में तो कर्म रज-प्रत्ययों का बंधन वास्तविक है। बन्धन को जानने मात्र से बन्धन से मुक्ति नहीं होती, बन्धन को तोड़ना पड़ेगा। साधन अभ्यास रूप व्यवहार क्रियायें करनी ही पड़ेंगी, अज्ञानमयी व्यवहार से जीव बन्धन में पड़ा है तो ज्ञान मयी व्यवहार से वह उन बन्धनों को तोड़ भी सकेगा। ध्यान और तपश्चरण ज्ञान-व्यवहार है—वे हेय और क्षुद्र नहीं है—ये मोक्षोपाय रूप में उत्कृष्ट तत्त्व है।

लौह से स्वर्ण रूप आत्मा के रूपांतरण या परिणति में योग की सफल भूमिका है। निश्चयाभासी इसकी महिमा को नहीं जानते और इसको न जानकर इसकी महिमा से भी वे शून्य है—और शून्य ही रहेंगे।

निश्चय व्यवहारात्मक अनेकांत धर्म शक्ति को क्या एकान्त के स्वर कभी दबा सकेंगे? साधक जनों को, यति और योगीजनों को इन एकान्तिक स्वरों की यथार्थता जानकरअपने ध्यान और तपश्चरण से ही अधिक निरत होना चाहिए ताकि अति त्वरा से अपनी लौह धातु मय आत्मा को शत प्रतिशत स्वर्ण में रूपांतरित किया जा सके। धातु परिवर्तन होना अति आवश्यक ही है।

तेरहवें गुण स्थान में कर्म कालिमा को जला कर पहुँचना अति आवश्यक है—अपने इस ध्येय और लक्ष्य से च्युत हो व्यर्थ के विवाद और एकान्तिकचर्चाओं में भटकना नहीं चाहिए। अज्ञानी जीव को समझना चाहिए कि वह ज्ञान की चर्चा तो अनादि काल से सुनता ही चला आ रहा है मगर-फिर भी उसने अपने लौह धातु को स्वर्ण में रूपांतरित करने योग्य उद्योग को पूरा नहीं किया।

द्रव्यानुयोग का उपयोग श्रद्धा गुण को विकसित करता है मगर चरणानुयोग में आत्मा लौह धातु से स्वर्ण धातु में रूपांतरित होती है—स्वर्ण परिणत आत्मा को ही फिर निश्चय नय का एकमात्र आश्रय होता है—वही एकमात्र तब एक मार्ग है। ज्ञान को बुद्धि में तथा श्रद्धा को हृदय में ग्रहण करके सम्यक् चारित्र रूप योगानुष्ठान पर—आत्मानुशासन की क्रियाओं के आचरण पर आना ही होगा—अन्य कोई विकल्प नहीं है।

ध्यान अभ्यास के चरण की अपेक्षा

परम योगी आचार्य गण करूणा पूर्वक कहते हैं—अरे जीव बाहर के ज्ञान के मद में फूला मत फिर—आधि व्याधि उपाधि के कर्मवशात् प्राप्त होने पर यह ज्ञान तुझे कभी शांति न दे सकेगा। समाधि जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान ही तब तुझे एकमात्र समवस्थित रखकर शांति प्रदान करेगा। हे जीव ! यह मानव देह तुझे इसीलिए प्राप्त हुई है, यह तेरी अनादि की आत्म-अभीप्सा को शांत करने के लिए तेरे लिए प्रशस्त कर्म की बदौलत मिली है।

प्रकृति की यह सर्वोच्च देह रचना व्यर्थ नहीं है। इस देह का यही उपयोग है कि इसमें रह कर ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करो, ज्ञानमय तपश्चरण करो। जगत् का राग लेश भी रहते तो सारे संसार के ग्रन्थों की जानकारी होने पर भी वह मनुष्य ज्ञान-परिणत नहीं हो सकता। दृश्य जगत् का राग समाधि रूप आत्म रमणता से ही टूटता है—इस समाधि का पूर्व रूप है धर्म–ध्यान, और धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान में परिणत होता है। ध्यान से ही जीव में, चेतना में, स्वभाव में सद् रूपांतरण होता है। ध्यान की निश्चय दशा में सर्व प्रथम जिन भक्ति रूप सम्यक्त्व तत्त्व की प्रतीति को तो कम से कम धारण करना ही चाहिए, इसके अनन्तर उच्चतर भूमि में आने के लिए ध्यानादि योगाभ्यास को ग्रहण करना चाहिये—जो द्रव्यानुयोग के नहीं, चरणानुयोग के विषय है। चरणानुयोग में ही आकर द्रव्यानुयोग में कथित आत्म स्वरूप का अनुष्ठान होता है। उसके स्तर हैं—स्व धर्म ध्यान फिर शुक्ल ध्यान।

दृश्य में रमण का भाव है संसार बंधन और पर्याय का ध्रुव स्वभाव में समर्पण है मुक्ति

जब तक जीवात्मा का दृश्य में रमण करने का—अपने आसपास में लिप्त रहने का संकल्प है तो वह संसारस्थ ही रहेगा—प्रकृति उसे बन्ध ही प्रदान करेगी। प्रकृति ही इस संसारी जीवन यात्रा में बन्धन और साधन दोनों ही जुटाती है और जुटाती रहेगी। साधन और बन्धन के बीच चुनाव स्वयं मानव का ही है। केन्द्रस्थ ज्ञानी जीवात्मा दृश्य से—यानी "पर" से निरपेक्ष रहकर अपने स्व का ही परिपूर्ण विकास करके सर्वज्ञ वीतराग अति मानव—महाप्रभु आत्म स्वरूप में अपना उन्मेष कर सकेगा। वह सम्पूर्ण सत्ता, चेतन और अचेतन दो तत्त्वों को लेकर इसीलिये विद्यमान है। अचेतन तत्त्व रूप में यह आणवी संरचना-अणु व अणुसंघातमय जगत्, तथा चेतन रूप में निगोद का सूक्ष्मतम प्राण-लोक

था जैविक संरचना तथा इससे आगे स्वयं जीव की जीवन स्पृहा की अस्पृहाकी अशुभ व शुभ व शुद्ध वृत्तियां है। शुद्ध वृत्ति में ज्ञान व उससे मोक्ष—यानी जीव का शुद्ध ज्ञान विकास है और इस निर्मल विकास को ही जैनों ने उत्पाद व्ययशील ध्रौव्य गुण की क्रियाशीलता परिलक्षित की है। उत्पाद व व्ययशील निर्मल पर्याय जब ध्रौव्य ज्ञान गुण आत्मा की दिशा में समर्पित होती रहती है तो नित्य ध्रुव स्वभाव आत्मा की प्रमुख प्रतिष्ठा से ही नित्य शाश्वत् आनन्द रूप मुक्ति का द्वार खुलता है। ऐसा समर्पण ध्यानाभ्यास तथा तपश्चरण है।

ज्ञान जिज्ञासा और चिन्तन समन्वित प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

जो जीव अज्ञान और भ्रम में नहीं जीना चाहते—उन्हें जिज्ञासा के क्षेत्र में आना ही होगा। ज्ञान-जिज्ञासा आसपास के वातावरण से ही आरम्भ होती है और तब ज्ञान का खुला आमन्त्रण प्रकट हो जाता है। जिज्ञासाओं की शृंखलाओं के समाधान करते हुए भी नई-नई जिज्ञासायें व उनके क्षेत्र खुलते चले जाते हैं। यह प्रक्रिया क्रम-विकास को समाप्त नहीं कर देती—प्रत्युतर इससे आत्म-श्रद्धा का मार्ग ही प्रशस्त होना चाहिए। ज्ञान आत्मा की खोज में स्वलीनता रूप ध्यान अभ्यास ही एकमात्र मार्ग है। चिन्तन प्रवृत्ति और निवृत्ति,—यानी व्यवहार तथा निश्चय के समन्वय से सम्पूर्णता की ओर जाना चाहिए। वह सम्पूर्ण अखण्ड ज्ञान सत्ता ज्ञान लीनता में अनन्त होकर भी अद्वय निर्मल एक है। इस अनन्त के ज्ञान में भाव स्थिरता होकर ही मुक्ति का स्वरूप उद्घाटित होता है।

ज्ञान विज्ञान के खोज की अनन्त आस्था

आधुनिक महान वैज्ञानिक आईंस्टीन के भी अन्तिम वाक्य ने इस सत्य का ही कथन किया है—"जितना ही हम गहरा अन्वेषण करते हैं उतना ही हम पाते हैं विज्ञान असीम है और और जानना है; मेरी आस्था है कि जब तक मानव जाति रहेगी ऐसा ही रहेगा।" अनन्त की यह आस्था मानव आत्मा के ज्ञान गुण के आश्रय ही एकमात्र आत्मलीनता में ले जाती है। ज्ञान की ऐसी असीम प्रकृति है कि सब अनन्तानन्त को भी वह ही जानता है। और यह जानना आत्म लीनता में ही प्राप्त होता है। अतः आत्मलीनता कीं प्रक्रियाओं को जानों, उसका अभ्यास करो।

ज्ञेय और ज्ञायक—ये चुनौतियां ज्ञान को

विषय और विषयी—ज्ञेय और ज्ञायक—ये ही ज्ञान के लिये चुनौतियां है। इन चुनौतियों की स्वीकृति से ही अनन्त ज्ञान की खोज तथा प्रसिद्धि आरम्भ होती है, चाहे अध्यात्म ज्ञान हो या भौतिक विज्ञान। पूर्वाग्रह ही सबसे बड़ी बाधा है। यह भी भ्रांत धारणा है कि मानव के ज्ञान की खोज-अनन्त अचेतन या अनन्तानन्त चेतन के ज्ञान की उपलब्धि समाप्त हो गई है। यह मानना पूर्वाग्रह ही है कि ज्ञान के विषय में आगे मानव को और कुछ नहीं जानना जितना जानना है, जान लिया गया है।

ज्ञान और विज्ञान प्रायोगिक और समानान्तर

ज्ञान और विज्ञान—ये दोनों ही प्रायोगिक हैं—समानान्तर हैं। ज्ञान का यथार्थ विषय स्व चेतन "मैं" हूँ और विज्ञान का विषय अचेतन जगत्। चेतन व अचेतन दोनों ही समानान्तर विभिन्न विश्व हैं। दोनों विश्व तत्त्वों का अपने-अपने स्वरूप में ही निज उपादान शक्ति से परिणमन या विपरिणमन होता है। समानान्तर इसलिए कहे जाते हैं कि इनका कभी एकत्व नहीं होता—चेतन चेतन ही रहता है, अचेतन अचेतन ही—जीव ब्रह्म ही रहता है और अचेतन जड़ ही रहता है। इतनी ही भिन्नता है कि अचेतन की उपस्थिति के निमित्त में जब प्राणी अचेतन ज्ञेय पदार्थ की ओर रागात्मक होकर परिणमन करता है तो अचेतन तत्त्व को अपने निकट आकर्षित करके—उनसे बंधकर अपनी स्वयं की तेजः प्रज्ञा को आच्छादित करके चेतन रूप से—कम चेतन हो जाता है। समानान्तर रेखाएँ कभी एक केन्द्र पर मिलती नहीं; न चेतन पूर्ण अचेतन होता और न अचेतन कभी चैतन्य होता। दो भिन्न तत्त्वों में जब अराग दृष्टिमय ज्ञान वर्तमान रहता है तब चेतन द्रव्य अबन्ध दशा में ही परिणमन करता है और अपनी मूल परिपूर्ण विमलता (Pristine Purity) से स्खलित न होकर अपनी निर्मलता में स्थायी प्रतिष्ठित रहता है।

कर्म सिद्धान्त का निर्माण

चेतन किस प्रकार कम चेतन या कर्म-बन्ध को प्राप्त होता है इसी को गणितीय दृष्टि प्रदान करके जैनों ने कर्म सिद्धान्त का निर्माण षट्खंडागम, गोम्मटसार, लब्धिसार और क्षपणासार आदि कर्म-ग्रन्थों में ऐसा भर दिया है जो आज के नवीन गणित के लिए भी अनुपम है। इन गणितीय संदृष्टियों को विशिष्ट सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका तथा अर्थ-संदृष्टि रूप में टीकाओं में देने का श्रेय पं० टोडरमल जी को है। उनकी प्रज्ञा भेद दृष्टि ने गणितीय दृष्टि के भी भेद को प्रकट किया है। आज का सूक्ष्म कम्पूटराइज्ड युगीय गणित पुद्गल के सूक्ष्म भावों और परिणामों का अनुरेखन करता है, मगर जैनों ने जीव के भावों और परिणामों की, प्रभावित पुद्गलों के सामूहिक परमाणुओं की संख्या, उनके सामूहिक गतिभाव, सामूहिक स्थिति—उनके सामूहिक शक्ति-अंशों के समीकरण, समिकाएं और असमिकाएं वाले सम्बन्धों की सूक्ष्मतम जानकारी को उपलब्ध तथा परिकलित किया है।

इस कर्म सिद्धान्त का निष्कर्ष है कि जीव के तीव्र या मन्द संक्लेष सम्मुख परिणाम ही उसके साता (सुख) तथा असाता (दुःख) के निमित्त हैं। जीव जो अपने लिए अपने भावों के अनुसार जैसे भी तत्समय सम्बन्धी परमाणुओं को बोता, संचित करता या वेदता है उनकी ही प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग, स्थिति बन्ध सम्बन्धी होती हैं। कर्म-सिद्धान्त को व उसकी पुद्गल वर्गणा को जिसने भी समझ लिया—वही ज्ञानी है। क्योंकि वह उन रूप परमाणुओं में अपने को फँसायेगा नहीं,—वह अपने आत्मद्वार पर ही अचल रहेगा। जड़ और चेतन की ग्रन्थि कैसी भी हो—चेतन मानव को इतना ज्ञान अवश्य प्राप्त रहता है कि उसे क्या हेय है और क्या उपादेय है।

चित्-कला

विवेक-ज्ञान मात्र की ही चित्-कला का अंश है। वह चित्कला यदि अल्प भी है तो वही चित्-कला परिपूर्ण सर्वज्ञ रूप में भी प्रस्फुटित होती है। यह चित्कला ही मानव को ज्ञायक रहने का सदा ही आमन्त्रण करती रहती है। ज्ञायक जीव की खोज अपने ही ज्ञान तत्व के आश्रय आत्म लीनता में असीम हो सकती है। अजीव यन्त्रों के सहारे ज्ञान परिसीम ही रहेगा।

स्व की खोज में प्रत्यक्ष ज्ञान

जीव अपने ज्ञान को अपने तत्त्व के ध्यान में अनन्त रूप जान पाता है। सारा अनन्त विश्व अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उसके ज्ञान के ज्ञेय हैं। ये सब अतः गम्य है। वे ज्ञान के किसी एक निभृत कोने में ही समा जा सकते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान की खोज स्व में ही होती है और वही बाकी है। वह ज्ञान पर वस्तु के राग रहित, इच्छा से रहित,—वासनादि से रहित है। रागादि ही भव के बीज हैं। इच्छा राग या मोह करने पर देह ही प्राप्त होगा। आत्म तृप्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। भुक्ति करते-करते तो जीव बन्धन में ही बन्धता जाता है।

सत्य की स्वयं खोज करो और उसे प्राप्त करो--संयम से, अन्तर्यात्रा से

यथार्थ ज्ञान स्व सूचना है,—पर सूचना नहीं। अपना ज्ञान स्वयं ही प्राप्त करना होता है, वह दिया नहीं जा सकता। वह सुनने से नहीं आता क्योंकि वह अन्तर्तत्त्व है। उसे स्व साधना से, श्रम से, शम से, सम से अतः श्रमण पद से, संयम धारण से उद्घाटित करना होता है। शास्त्रादि सब मार्ग के लिए संकेत हैं, और मार्ग जितना ही ज्ञान नहीं है, वह उससे भी आगे है। पर मार्ग स्वयं ही चलना होता है, एक-एक चरण चलकर, आचरण को निर्मल क्रम में बद्ध व सुनियोजित करके। अतः ही आदिपुरुष भगवान हिरण्यगर्भ ने अक्षर तथा निरक्षर (ध्यान-समाधि) का अन्तर-यात्रा का मार्ग खोजा और इस मार्ग को आत्म चिन्तन, आत्म श्रद्धा और आत्म-रमण से व्यवस्थित किया—इसे ही तत्त्व चिन्तन व ध्यान—अथवा तपोयोग व मग्ग नाम दिया गया—अक्षर रूप श्रुत वचन प्रणव से ही निरक्षर परमपद की ओर बढ़ने को कहा गया, साकारता से निराकारता—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने को कहा गया है। सूक्ष्म ज्ञेय विश्व में प्रवेश करके ज्ञायक विश्व में प्रवेश के लिये कहा गया, अनुभूतियों में प्रवेश करके अनुभूतियों से अतीन चले जाने के लिये कहा गया है, तब आप स्वयं अकेला ज्ञानपुंज व केवल ज्ञान भास्कर ही आविर्भूत रह जाता है और स्वयं के सब विभाव नष्ट होकर स्वभाव का ही उन्मेष हो जाता है। अन्योन्य के निमित्त से विवर्जित होकर चेतन व अचेतन दोनो ही निज साम्य निर्मल अवस्था को प्राप्त होते हैं।

मात्र देखना या जानना

वस्तुतः इस जगत् में ललचाने, भयकरने, उद्विग्न व व्यग्र होने जैसा कुछ नहीं है, मात्र देखना

या जांनना ही है और स्वलक्षी जानने में ही ज्ञान की समस्त विराट् अनन्त सत्ता दृष्टिगत होती है। इस मात्र देखने व जानने में अपने को अन्तर्मुखी करो—ध्यानमय होकर अपने में गहरे उतर जाओ। सहारा लेकर उतरो या बिना सहारे, लेकिन गहरे अपने में उतर जाओ—परम ज्योति को प्राप्त करो। सत्य की स्वयं खोज करो और प्राप्त करो क्योंकि तुम स्वयं सत्य हो।

योग की विशेषता—यथावस्थ वस्तु निरूपण

भगवान् हिरण्यगर्भ का यह चेतन मार्ग होने से अनादि व सनातन है। चेतन आत्मा अनादि है अतः उसका यह मार्ग भी अनादि है। यह मार्ग आत्मा का अकृत्रिम अनादि व स्वयं सिद्ध है। भगवान् हिरण्यगर्भ ने भी इसे नहीं बनाया उन्होने तो इसकी गहन चिंतन के द्वारा खोज ही की और इसका उन्होंने प्रवचन व कथन ही किया है। वे इसके युगादिप्रवक्ता हैं। "यथावस्थ" वस्तु निरूपण ही इसकी विशेषता है। इस निरूपण व ध्यान स्थिरता में ही स्व वस्तु हस्तगत होती है। यह निरूपण अन्तर-निरीक्षण रूप है—प्रति क्रिया रहित मात्र देखने रूप है।

लय बद्ध क्षण की खोज

इस अनादि विश्व में काल,—अनन्तकाल का चक्र उत्सर्पणी व अवसर्पिणी रूप में—ऊपर से नीचे व नीचेसे ऊपर चक्र रूप में निरन्तर घूमता ही चला जा रहा है। इस पृथ्वी की—जो इस महान विश्व में एक राई से भी लघुता वाली है, उम्र वैज्ञानिक नई खोजों से अरबों-खरबों वर्ष बताते हैं और कौन कह सकता है कि यह विश्व संख्यातीत अनन्तानन्त वर्ष से ऐसा ही न हो—जिन तत्त्वों से यह सृष्ट है, वे अनादि है मात्र नाम व रूप ही तो बदलते हैं। अनन्त युगों व युगांतरों की सीमाओं को देख लेने वाले काल प्रवाह में प्रत्येक मानव प्राणी इस पृथ्वी पर अपनी-अपनी लय बद्ध क्षण की ही खोज करता अपने अन्तर्संगीत के सम को ही प्राप्त करने की दिशा में अजस्र गतिमान रहा है। भौतिकी व अति भौतिकी युगों के परिवर्तन व उलट फेरों में भी वह इस ही ज्ञान विश्रान्त परम प्रशांत क्षण की खोज में संलग्न रहा है और वह इन युगों के उच्चतम व निम्नतम छोरों को भी देख चुका है और जब तक अपने नाद के सम को प्राप्त न कर लेगा देखता ही रहेगा और खोज की समाप्ति भी न होगी। इस सब में प्राणी का वह अन्तर्पुरुष अपने उन्मेष की संभावना के लिये बड़ी धीरता से प्रतीक्षारत चला आ रहा है।

अन्तर्प्रकाश की यात्रा

भौतिकी और अति-भौतिकी स्थितियों रूप पृथ्वी लोक तथा स्वर्गों में भी रहकर मानव को कभी तृप्ति नहीं मिली—न मिल सकती है ना मिल सकेगी, क्योंकि अन्तर्ज्ञान मय स्वयं ही एक मात्र परम तृप्ति कारक आनन्द तत्त्व है और उस ओर जब तक वह अपनी जीवन धुरी को न पलटेगा, उसे तृप्ति या प्राप्तव्य का संतोष व आनन्द हो भी कैसे सकता है? इन भौतिक व अति-भौतिक छोरों में पहुंच कर भी अतः उसे न विश्राम, न शांति, न आनन्द और न तृप्ति मिल सकती है। "पर" तत्त्व के

छन्दों की तान पर असीम तृप्ति का वह सम प्राप्त नहीं होता। अपनी ही छन्दता—स्वच्छंदता के उन्मुक्त संगीत की प्राप्ति पर वह अक्षय अमृत मय सम कभी प्राप्त हो जाता है जिसे अर्हत्पुरुषों व तीर्थंकरों ने प्राप्त किया। इन परम पुरुषों ने अतः बार-बार यह ही शिक्षा दी है कि अपनी ही ज्ञान-धुरी पर अचल व अटल रहो,—ज्ञायक ज्ञाता कारण—ब्रह्म की इस शिक्षा की ही मानव को चिरन्तन आवश्यकता है और रहेगी। इसी के स्वसंवेदन की अपेक्षा है।

यह ज्ञान आत्म—वस्तुगत है—स्वयंगत है। ज्ञेय तो विश्व का एक अंग ही है, न कि ज्ञायक का कोई अंश पर फिर भी वह ज्ञायक इसी विश्व में रहकर ही ज्ञान के मार्ग को खोज पाता है और ज्ञायकपने से स्वयं ज्ञान रूप, परिपूर्ण ज्ञान रूप परिणमता है। जगत् के घेरों में स्वयं न बन्धकर—इसके मध्य भी अलिप्त रहकर अपने ही केन्द्रभूत अचल प्रदेशों पर स्थिर विराजमान हो जाएं तब ही अनन्त प्रकाश की ओर वह बढ़ता चला जा सकता है—हाँ अनन्त प्रकाश की ओर—क्योंकि वह स्वयं वही है। अन्तर्प्रकाश की यात्रा से इस अनन्त प्रकाश की यात्रा प्रारम्भ होती है। अन्तर में अन्तर्दृष्टि स्थापन पूर्वक अन्तर्यात्रा का आरम्भ करो।

यह यात्रा चाहे लम्बी एवं दुर्गम ही हो। पर यह भगवान् हिरण्यगर्भ की परम्परा में परम अर्हत् वीतराग पुरुषों व गुरुओं से सेवित तथा कथित अन्तर्प्रकाश के मार्ग के संधान से आरम्भ करने पर यह सहज भी हो जाती है। स्व पूर्णत्व ही परिपूर्ण स्वभाव है वह अखण्ड स्व स्वरूप सब ही तत्त्वों से परे तथा अतीत है। मार्ग चरण के अतिरिक्त वह कभी उद्घाटित भी नहीं होता। वह ही क्या कोई भी प्राप्तव्य हो, चाहे लौकिक हो या अलौकिक उसके लिए यही कहा जा सकता है कि देखो, समझो और चलो। इन्हें ही कहा गया—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चरित्र—वस्तुतः इनके ही अखण्ड स्वरूप में वह आलोक जो अप्राकृत तत्त्व मय है प्रकट होता है।

स्व बुद्धया यावद् गृहणीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निवृतिः ॥ (जैन धर्मामृत–१२)

वाक्, काय और चित्त को यह जीवात्मा जब तक अपनी आत्म बुद्धि से—यानी अपने आपे रूप अपने पन से स्वीकार करता है तब तक ही संसार की (भय-पूर्ण) स्थिति उसके लिए है—इन तीनों से अपनी भिन्नता के अभ्यास में भेद-विज्ञान होने पर उसे अपनी निवृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

वाक् काय और चित्त रूप सक्रिय तत्त्व और आत्म तत्त्व

भौतिक दृश्य और अति-भौतिक अदृश्य-जगत् में वाक् काय और चित्त तीन ही तत्त्वों का प्रधानतया क्रिया-कलाप है। आधुनिक मनो-वैज्ञानिक भी ऐसे ही तीन तत्त्व जीवाणु, शक्ति और विचार नाम से जामने लगे हैं। परन्तु जीवाणु में निहित भाव और भाव-पिंड आत्मा का साक्षात्कार उन्हें हो

नहीं पाया है । विचार रूप चित्त, ऊर्जा शक्ति रूप वचन और परमाणु-संघात काया से विशिष्ट और अलौकिक जो अप्राकृत तत्त्व, चैतन्य और आनन्द के पिंड आत्मा पर अभी उन्हें आना शेष है । वचन तो मात्र अनात्म पुद्गल वर्गणा से निर्मित है । वचन तरंगों से शक्ति समुद्भव भी होता है, पर शब्दों के संकर्षण तथा विकर्षण में भाव वचन का भावक तथा देह यन्त्र का संचालक, तथा विचार-संतति का जनक विचारक, जो आत्मा तत्त्व है वही विशिष्ट तत्त्व है, उसके ही ज्ञान रूप आत्म-प्रदेशों के हलन-चलन रूप क्रिया-कलाप से ही प्राणी-मानवात्मा का इज़हार है, प्रगाट्य है । इसके अप्राकृत तत्वालोक को पहचाने बिना, विश्लेषित किये बिना शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है ।

विज्ञान के आलोक और अर्हन्तों के ज्ञान निष्कर्ष

कितना आश्चर्यजनक है कि उन प्राचीन मनीषी अर्हंत् व तीर्थंकर सर्वज्ञ तत्त्व वेत्ताओं ने सहस्रों वर्ष पूर्व जिन विचारों, निष्कर्षों तथा चिंतन आधारों को प्रस्तुत किया, वे विज्ञान के बढ़ते प्रकाश में निरन्तर सत्य प्रमाणित होते जा रहे हैं । इन अध्यात्म पुरुषों ने विश्व के अनेक ब्रह्माण्ड, अनेक सूर्य मण्डल व नक्षत्र मण्डलों, अन्तरिक्षों—जीव, अजीव, पुद्गल अणु-परमाणु, धर्म-अधर्म तत्त्व, वनस्पति व एक कोषी निगोद जीव व सूक्ष्म वैक्ट्रियों (प्राणियों) के विश्लेषण तथा व्याख्याएं विश्व को दी है वे आश्चर्यजनक रूप से विज्ञान सम्मत है । ऐसे विज्ञान सम्मत विचार फिर किसी भी अन्य धर्म या मार्ग ने नहीं दिये हैं : कल तक जो इन विचारणाओं का परिहास करते थे —वे आज विज्ञान के प्रकाश में पाते हैं कि उनकी स्वयं की ही आंखे चुंधियाई हुई थी । शब्द को आकाश का गुण मानने व बताने वाले टेपरिकार्डर, रेडियो, टेलीफोन के समक्ष होने पर जैनों के ही इस सिद्धान्त को मानने को बाध्य हैं कि शब्द पुद्गल है, भाषा पुद्गल है तथा ध्वनि पुद्गल है । सूक्ष्म परमाणु ही वायु में तैर कर तरंगों के रूप में ब्रह्माण्ड में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र व अन्तिम सीमा तक विस्तृत होते हैं । विचार पुद्गल सापेक्ष हैं—विचार करते समय जिन पुद्गलों का उपयोग करते हैं—उन्हें जैनों ने मनोंवर्गणा के पुद्गल कहा है और डा० मार्कोनी ने जैनों के निष्कर्षों को सत्य प्रमाणित कर दिया । विचारों की फोटो लेना अब सम्भव हो गया है । वनस्पति में प्राण है, जीव है इसे डा० जगदीशचन्द्र बसु के प्रयोगों ने सिद्ध कर दिया । विश्व-उत्पत्ति का सिद्धान्त है कि यह विश्व अनादि है केवल रूप ही बदलता है तथा कोई बाह्य सृष्टि रचयिता नहीं है, यह सब अणु-परमाणु रचित तथा अनन्त चेतन तत्त्वों से व्याप्त है । अणु-परमाणु सर्व व्याप्त है, अनन्त है व्यक्त व अव्यक्त रूप है । डा. डाल्टन ने ईस्वी सन् १८०८ में जिस अणु-परमाणु सिद्धान्तको प्रतिपादित किया वह जैन विचारणाओं की ही पुष्टि करता है । कर्म वाद के कर्मों का आस्रव, बन्ध, संवर तथा निर्जरा के तत्त्व आज टेपरिकार्डर व सूक्ष्म माइक्रोस्कोप के उदाहरण से समझे जाने लगे हैं । सूक्ष्म प्राणियों की सत्ता माइक्रोस्कोप के समक्ष सिद्ध हो गई है । सत्य को बहुमुखी बताने वाले अनेकांत तथा सापेक्षवाद को कल तक तार्किक लोग संदेह पूर्वक अविश्वास करते थे । डा. आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के प्रतिपादन के बाद उसे उन्हें सत्य के रूप में ग्रहण करने के अलावा कोई चारा नहीं दृष्टिगोचर होता । अहिंसा की खिल्ली उड़ाने वाले भी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के राजनीति में अहिंसा

प्रयोग के बाद ग्रहिंसा की शक्ति को मानने के लिये बाध्य हुये हैं। इसी धर्म मार्ग का निष्परिग्रहता का सिद्धान्त ग्रब नये परिवेशों में समाजवाद व साम्यवाद के रूप में उभरा है। वस्तुतः ग्रपरिग्रह तथा समाजवाद ग्रन्योन्यवाची हैं—वह धार्मिक क्षेत्र में है तो यह लौकिक क्षेत्र में, पर मूल संकल्पना तो एक ही है। ग्रहिंसा ग्राज जब विश्व की मानवता परमाणु संहार के भय से संत्रस्त है—एक शान्तिदायिनी माता के रूप में दिखाई पड़ने लगी है। विश्व बंधुत्व, विश्व शान्ति, विश्व राज्य ग्रादि की कल्पनायें सब ग्रहिंसा की ही भावनाग्रों के विस्तार है। जैनों का जिग्रो ग्रौर जीने दो—सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक विज्ञान की सत्यता ग्रौर पर्यावरण शुद्धता ग्रौर इकोलाजिकल बैलेन्स में देखे जा सकते हैं। वन्य सम्पदा का संरक्षण, वन्य पशु व जीवों का संरक्षण—इनकी महत्ता सब ग्रहिंसा के ही सिद्धान्तों पर ग्राधारित है—ग्रौर ग्रहिंसा मानव जीवन की निर्विवाद संरक्षिका शक्ति है—ये माना जाने लगा है।

जैसे-जैसे विज्ञान की प्रगति के चरण बढ़ेंगे—जैन विचारणाग्रों ग्रौर सिद्धान्तों की ग्रलौकिकता ग्रौर वैज्ञानिकता निरन्तर प्रकट होती जायगी। भौतिक विज्ञान ग्रौर ग्रध्यात्म विज्ञान ग्राश्चर्यजनक रूप से दो विभिन्न क्षेत्रों के प्रयोग हैं—पर फिर भी उन प्राचीन ग्रर्हंतपुरुषों ने उनकी परस्पर पूरकता, महत्ता ग्रौर समानांतरण की दृष्टि प्राप्त की थी। ग्रौर इस ही सम्यक् ग्रनेकांत दृष्टि की इस विश्व को सदा ही ग्रावश्यकता भी रहेगी। दो तत्त्वों की मान्यता तथा प्रयोग में ही एक ग्रभेद ग्रद्वैत तत्त्व रूप ज्ञान दृष्टि का उन्मेष होकर मानव का निर्मलतम परिष्करण होता है। इस योग मार्ग के उक्त बिन्दु की तलाश में ग्रात्म ग्रास्था व स्व–पर का भी विज्ञान ही संपोषक तत्त्व है।

स्व रूप चेतन तथा पर रूप सकल ग्रनात्म ग्रनन्त ब्रह्माण्ड व सूक्ष्म ग्रव्यक्त परमाणु व धर्म-ग्रधर्म व ग्राकाश तत्त्व हैं। इसमें पर-स्वरूप को ही पांच प्रकार के संसार के रूप में व्याख्यात किया गया है।

पंच परावर्तनशील संसार—पांच प्रकार के संसार

द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार ग्रौर भाव संसार हैं। वस्तुतः परिग्रह ही संसार कहा गया है ग्रौर यह द्रव्य क्षेत्र काल भव व भाव रूप पांच प्रकार का हो जाता है। यह जीव मिथ्यात्व व कषाय से युक्त होकर कर्म पुद्गल को ग्रहण करता है ग्रौर छोड़ता है। तीन शरीरों के, षट् पर्याप्तियों के योग्य नोकर्म पुद्गल को जीव प्रतिसमय ग्रहण करता है ग्रौर छोड़ता है। इस जीव ने ग्रनन्त बार ग्रग्रहीत को तथा ग्रहीत कोग्रहण करके छोड़ दिया। समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं जहां जीव ग्रनेक बार जन्मा, जिया ग्रौर मरा न हो। यहलोक जगत् श्रेणी रूप है तथा चोदह राजू की जगत् श्रेणी होती है—इनका धन ३४३ राजू होता है ग्रौर ३४३ राजुग्रों में सभी जीव ग्रनेकबार जन्मे हैं ग्रौर मरे हैं—ये ही क्षेत्र परावर्तन है। उत्सर्पिणी ग्रौर ग्रवसर्पिणी से लेकर यह जीव जन्मता है ग्रौर मरता है—यही काल परिवर्तन है। संसारी जीव नरक ग्रादि गतियों से सब स्थितियों में जन्म लेता है–यह भव परिवर्तन है। सैनी जीव जघन्य ग्रौर उत्कृष्ट ग्रनुभाग बन्ध के कारण ग्रनेक प्रकार की कषायों से

तथा श्रेणी के असंख्य भाव परिणाम योग्य परिणामों से संसार में परिभ्रमण करता है, जिस भाव में जन्म-मरण किया था उसी में पुनः जन्म लेता है। इसे भाव परिवर्तन कहते हैं।

अर्हंत् मनीषियों ने उद्घोषणा की है कि हे जीव! यदि तू इन पांच प्रकार के परिवर्तन रूप संसार से मुक्त होकर स्व आत्मा में ही स्थिर, निर्मल परमानन्द स्वरूप होना चाहता है तो अपने ही निज निर्मल तत्त्व में रह—तू इन सम्पूर्ण अचेतन पर-द्रव्यों व भावों से भिन्न व ज्ञायक ही है।

पदार्थवाद का नहीं—चेतनावाद का विजय घोष

अर्हंत् मनीषियों ने इस प्रकार पदार्थ वाद की नहीं—चैतन्य की, चेतनावाद की विजय तथा विलक्षणता का उद्घोष दिया है। वास्तव में सच्चाई पदार्थ मात्र ही नहीं है, उसे देखने व जानने वाली चेतना ही कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से सच्चाई हैं। विज्ञान ने प्रकट किया है कि परमाणुओं में (वस्तु में) भार है, पर यह भी सापेक्ष है, एकान्तिक नहीं है। इस पृथ्वी पर जितना वह भार है, उतना चन्द्र-लोक आदि लोकांतरों में वह नहीं है—इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र और भाव में परिवर्तन निश्चित ही है। इससे प्रकट है कि सच्चाई केवल पदार्थ ही नहीं है—ज्ञायक चेतना जो उन्हें देखती है जानती है वह भी महत्त्वपूर्ण है। अनेक धर्म मात्र वस्तु होने से वस्तु के अनन्त पहलू हैं—सत्य एकांत नहीं अनेकांत है। एक धर्म देखकर अन्य धर्म (वस्तु स्वभाव) अस्वीकार करने पर हमारा देखना असत्य हो जाता है, यद्यपि हमारा देखा हुआ सत्य होगा, पर वही सही सत्य है—ऐसा नहीं। चैतन्य की अनेकांत दृष्टि में ही सत्य का रहस्य है—अनन्त ज्ञान का रहस्य है—ये तो चेतनवाद की विजय ही है।

६. भावोन्मेष ही भावोन्मेष । भावों के खेल और भावातीत ।

- सामान्य भाव अवस्थाएं जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति । अज्ञानी और ज्ञानी का अवस्था–भेद
- चार चैतन्य भाव–अवस्थाएं: तुर्य, वैश्विक, भागवदीय और ब्राह्मी (सिद्ध)
- अज्ञान और ज्ञान के क्रमशः अवलम्बन में अज्ञानी और ज्ञानी का भाव–परिणमन भेद
- भाव–उत्क्रमण में ग्रंथि–अवरोध : बाहर से भाव–आघात तथा स्वभाव महिमा जागृति
- भावावेश के स्वरूप
- ज्ञान और अज्ञान के मध्य नाना ही भाव लोक
- भावग्रन्थियों में अवरोध और बाहर से भाव के बूस्टर रूप (Booster) में स्वरूप महिमा की अपेक्षा
- आस्था भाव की शून्य में निर्माण की शक्ति द्वारा प्रकाशित वीतराग भाव–किरणों द्वारा भावातीत में आरोहण
- अध्यवसाय, अन्तरात्मा और मन
- आस्था और चिन्तन की प्रकाशमयी भूमि
- चिन्तन और भाव–भूमि
- शून्य मन
- आस्था और ज्ञान गुण का संतुलन
- भावावेशों का प्रवाह अपरिणामी की दिशा में
- एल. एस. डी. आदि औषधि प्रयोग और कृत्रिम भावोद्दीपन
- भावों का संस्कार : संस्कृति का सार
- आध्यात्मिक दृष्टि होने पर उत्प्रेरक ऊर्जाएं
- आध्यात्मिक दृष्टि होने पर उत्प्रेरक उर्जाएं
- भाव–सारणी और चार निक्षेप
- भाव–चिन्तन का घन रूप देव प्रतिमा
- अकेलीभावना चिदानन्द की चेरी

- शक्ति के आवेश
- जाग्रत कुंडलिनी–उर्जस्वल सृजन शक्ति
- श्वास गति की समता और प्रकम्पनों की समलयता
- कुंडलिनी दर्शन और भावोन्मेष–अविनाभावी
- शक्ति एक, नाम अनेक
- शक्ति के मध्य आत्म पुरुष का दर्शन
- शक्ति का स्वरूप और केवल ज्ञान सूर्य प्रभु हिरण्यगर्भ
- भाव ध्येय
- ध्येय-भाव
- चारित्र पुरुष को उद्भावना
- व्यक्ति और समष्टि का संतुलन
- वर्ण व्यवस्था का मूल भाव: उसकी विकृति में असमान समाज
- अहिंसक क्रान्त-द्रष्टा पुरुष की अपेक्षा
- व्यक्ति और समष्टि चेतना का रूपातंरण और परिणाम विशुद्धि
- पूर्ण योग पुरुष और धर्म राज्य की स्थापना
- अभिव्यक्ति के पार शुद्ध सत्य अन्वेषण और परम की प्राप्ति
- महा करुणा : महा निष्क्रमण
- भावों का खेल और भावातीत
- सत्ता के अनेक स्तर
- समग्र के साथ समलयता और सर्वत्र आत्म-दर्शन
- साधक का ध्रुव नक्षत्र
- सर्वोदय
- आत्मज्ञान, भाव–स्फोट; जाग्रत अवस्था
- भाव अवस्थाएं और आत्म प्रभु की निष्ठा–भाव की श्रेष्ठता
- ज्ञान भाव की साधना : जाग्रत अवस्था की श्रेष्ठता
- चित्ताकाश और चिदाकाश : निराकार का साकार में पर्यवसान
- स्वभाव की निर्मलता अन्तदर्शन से भी महत्वपूर्ण
- अमूर्तिक आत्मा के साक्षात् दर्शन का सूत्र : स्फटिक पुरुषकार स्वरूप

मानव की तीन सामान्य अवस्थाएं

सामान्यतः मानव प्राणी दिन में जागता देखा जाता है और रात्रि में या तो निद्रा में स्वप्न देखता है अथवा बेभान सोता ही रहता है । इस प्रकार जागृत् स्वप्न और सुषुप्ति तीन सामान्य अवस्थाएं हैं । शुद्ध ज्ञानी प्राणी का जागने में भी जागना रहता है । वह अपने आप से कभी बेभान नहीं रहता । अशुद्ध अज्ञानी जीव का जागने में भी जागना नहीं रहता । वह अपने स्वरूप से बेखबर रहता है । शुद्ध ज्ञानियों को निद्रा नहीं आती । उन्हें निद्रा की अपेक्षा ही समाप्त हो जाती है । अतः उन्हें न सुषुप्ति होती न स्वप्न होते । निद्रा देह व दिमाग की थकान में आती है । जिस प्रकार मद के प्रभाव में जीव गाफिल हो जाता है, वैसे ही निद्रा भी एक प्रकृष्ट मद अवस्था है । ज्ञानी निद्रा-जयी होते हैं और निद्रा जयी रहकर ही वे क्षण जयी व काल जयी होते हैं ।

चार चैतन्य भाव अवस्थाएं

जागृत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में से भी आगे अवस्थाएं है । अज्ञानी की अशुद्ध अवस्था और ज्ञानी की शुद्ध ज्ञान अवस्था के मध्य ही आगे क्रमशः चार अवस्थाएं तुर्य, वैश्विक, भागवदीय (ईश्वरीय) तथा परम या सिद्ध या ब्राह्मी है । अज्ञानी की जागृत अवस्था निकृष्टतम हो सकती है तो ज्ञानी की जागृत अवस्था उत्कृष्टतम परम ब्राह्मी होना भी संभव है । यह अवस्थाएं इस प्रकार मानव की चैतन्य भाव-स्थितियों को बताती हैं ।

अज्ञान और ज्ञान अवलम्बन से अज्ञानी और ज्ञानी को क्रमशः भाव परिणमन में भेद

अज्ञान अवस्था में भाव-स्थिति अज्ञान को ही लेकर तथा अज्ञान रूप में परिणत होती है और शुद्ध ज्ञानी की ज्ञान को लेकर सदा ज्ञान रूप ही परिणति रहती है । ज्ञानी को अपने ज्ञान का ही अवलम्बन रहता है । इससे स्पस्ट होता है कि जीवों का ज्ञान-अवलम्बन या अज्ञान-अवलम्बन, इन दो अवलम्बनों या निमित्तों में ही भावों का उत्क्रमण या संक्रमण चलता रहता है । अतः ज्ञान का किस प्रकार अवलम्बन करें कि भाव-उत्क्रमण अज्ञान से छूट कर ज्ञान में हो जाए, यह साधक के लिये अहम् सवाल है ।

वस्तुतः अज्ञान का छूटना और ज्ञान का होना संसारी सामान्य जीव का सीधे सादे सदा से वर्तमान रहती भाव-अवस्था में संभव ही नहीं होता । यदि वह संभव होता तो जीव कभी ही मुक्त हो जाता । अज्ञान में जीव को ज्ञान का नहीं बाह्य निमित्तों का अवलम्बन है । इस निमित्त अवलम्बन का छूटना ही दुर्लभ है ।

भाव-ग्रन्थियों का अवरोधः बाहर से भाव-स्वरूप महिमा की अपेक्षा

बौद्धिक स्तर पर जीव यह जान भी ले कि वह ज्ञानात्मा है, उसे एक ज्ञान का ही अवलम्बन

होना चाहिए पर यह जानने पर भी उससे स्वतः बाह्य निमित्तों का अवलम्बन छूटता नहीं। इसका कारण है कि भावों की स्थितियों में ऐसी ग्रन्थियां पडी हैं कि भावों का उच्चतर उत्क्रमण संभव नहीं होता, उच्चतम में पहुँचना या स्थिर होने का तो अवकाश ही कहाँ !

ज्ञानी जीव ज्ञान दशा में आकर निरालम्व उच्चतर तथा फिर उच्चतम निर्मल भावों में क्रमशः ट्रांस्पोर्ट होते हैं। अतः अज्ञानावस्था में पड़े जीव को उच्चतर भाव में ट्रांस्पोर्ट होने के लिये एक अति शक्तिमय भाव उत्क्षेपक-(बूस्टर) की अपेक्षा है। उसके विद्यमान अल्प तथा क्षुद्र तात्कालिक भाव को या तो उसे बाहर से ऐसा आघात लगे कि वह उस भाव से छूट कर ऊपर चला जाए या वह स्वयं स्वरूप का ऐसा महिमा-भाव जागृत करें कि उसका विद्यमान भाव नीचे ही रह जाए और स्वयं उच्चतर भाव भूमि में चला जाऐ। बाहर से आघात पर भी उसे अपने चिन्तन द्वारा निज उपादान शक्ति से ही भावान्तर रूप परिणमन करके उच्चतर परिणिति में जाना संभव हो पायेगा।

भावोद्रेक के स्वरूप

उच्चतर भावभूमि में किसी भी बलिष्ठ बाह्य हेतु या निमित्त से अथवा कभी अहेतुकी स्व-प्रसाद (निर्मलता) से जो भावों में उत्क्रान्नि होती है, उसे ही भावोद्रेक मा भावावेश कहा जाता है। भावावेश अज्ञान के निम्न स्तर में भी होते हैं, तब मानव अपनी विद्यमान अज्ञान दशा से भी नीचे अधिक गहन अज्ञान को प्राप्त हो जाता है। भावों की इन दशाओं में ही अशुभ व शुभ या शुद्ध ऐसी तीन प्रकार की गुणवत्ता देखने में आती है। अशुभ से शुभ या शुद्ध या शुभ से शुद्ध भावान्तर हो जाना ही निर्मल भावावेश है।

अज्ञान के अंधकार और ज्ञान के आलोक के मध्य नाना भाव लोक

आत्मा शुद्ध रूप में ज्ञान-प्रकाश का ही पुंज है। चेतना का उच्चतम लोक अतः आलोक मय ही होता है। इसी तरह निम्नतम लोक अंधकार-लोक होता है। इस आलोक और अंधकार के मध्य नाना प्रकार के तारतम्य से नाना ही भाव लोकों का सृजन रहता है। मानव को उच्च निर्मल भावावेश जैसे उच्चतम आलोक पर पहुँचाते है, वेसे ही निम्नतम भावावेश तमोलोक के अंधयारों में भी पहुँचा देते हैं। इन भावों में ऐसी ही शक्ति है।

आस्था भाव से शून्य निर्माण की शक्ति द्वारा स्वभाव किरणों से भावातीत में आरोहण

भाव साइकिक स्तर है। यह स्तर ऊपर में परम से जुडने की क्षमता रखता है और नीचे अंधकार लोक से भी जुड़ा है। यह भाव स्तर स्वयं जीव की अखिल अस्तित्व सत्ता-शक्ति से ही जुड़ा है। इस सत्ता स्तर में निष्ठा गुण को ही श्रद्धा, आस्था भाव आदि नाम से कहा गया है। इसकी ऐसी अबाध उर्जा शक्ति है कि यह अपने लिए ऊपर नीचे किसी भी स्तर की जीव दशा का निर्माण कर

सकती है। ऊपर का निर्माण तब ही होता है जब विद्यमान भाव दिव्य हो जाए-चित्त संस्थान में सघनता की किंचित् रिक्तता हो जाए। शून्य में भाव वस्तु का निर्माण कर लेने की उर्जा शक्ति इस भाव-स्तर में है और यह परवस्तु से शून्य होकर फिर भावातिरेकता में भाव-भिन्न-उच्चतर आत्म स्तरों पर ले जाती है।

योगीजन भावों की ऐसी उर्जा शक्ति की पहचान करके स्वैच्छिक तौर पर इसकी शून्य निर्माण शक्ति को जागृत करके वीतराग शुक्ल भाव-किरणों की डोरी पकड़ कर शुद्ध निर्मलतम भावों पर आरोहण करते चले जाते हैं और अन्त में परम ब्राह्मी-एक निर्मलतम परम भाव महा भाव भावातिभाव भावातीत पर स्थिर हो जाते हैं । तब फिर अधोगामी स्तर पर वापिस लौटना भी नहीं रहता।

ऊपरतम चले जाने के बाद जब लौटना नहीं होता तो फिर समसम समान अवस्थाएं ही रहती चली जाती हैं। सम अवस्था प्रवाह में स्थिर होजाना ही समवशरण स्थिति है । उस अवस्था प्राप्त प्राणी को प्राणों का उच्चावचय नहीं होता। तब वाणी अक्षर मय नही, अर्थमय खिरती है जिसे प्राणी मात्र दिव्यध्वनि रूप में अनुभूत करता है। उस समवस्थिति प्राप्त महामानव के परम निर्मल प्रदेशों से ऐसा वीतराग प्रशम एवं करुणा रस प्रवाहित होता है कि प्राणी मात्र, जलचर, थलचर और नभचर उस दिव्यध्वनि को सुनने के लिये दोड़े चले आते हैं। वे वहां भव-भय की अनादि ज्वाला की तपन को शीतल होती अनुभूत करते हैं।

5424

अध्यवसाय और मन

जैन योग विज्ञान में भाव के पयार्यवाची शब्द परिणाम और अध्यवसाय हैं । तथा भाव का सम्बन्ध अंतर में आत्मा से तथा सतह पर मन से है। मानव जीव की पहचान उसके मन से ही की जाती है। मन चंगा तो वह मानव भी चंगा ही माना जाता है। चंगे मन में केवल निर्मलता ही नहीं, एक विशेष प्रभाव और शक्ति भी होती है। इसी लिए कहावत है–मन चंगा तो कठोती में गंगा। निर्मल मन में अद्भुत रचनात्मक विधेयक शक्ति हो जाती हैं।

यच्छुभं कर्म कर्तव्यं तत्कुर्यात्मनसा सह ।
मनस्तुल्यं फलं यस्मात्, शून्ये शून्यं भवेत्पुनः ।। (योग प्रदीप–78)

कर्तव्य कर्म को संपूर्ण मन के साथ संपूर्ण भाव से करना चाहिए । क्योंकि कार्य का परिणाम या फल मन के परिणाम यानी भाव के अनुरूप ही मिलता है। यदि मन में शून्य भाव है तो फल भी शून्य ही रहेगा। मन का कोशल अतः संपूर्ण भाव में ही है।

आस्था और चिंतन की प्रकाशमयी भूमि

मन से न केवल भाव का सम्बन्ध ही है, मन मनन तथा चिन्तन करने वाला भी है। अर्थात् मन ऐसा इन्द्रिय अंग है जिसका संपर्क हृदय से है और मस्तिष्क से भी है। जब हृदय और मस्तिष्क दोनों का प्रभाव सम तथा सम्यक् रूप में रहता है तो मानव का भाव अंध-विश्वासों से प्रेरित हुआ नहीं रहता। तब आस्था चिन्तन की प्रकाशमयी भूमि पर अचल हो जाती है।

चिंतन और भाव सत्ता

चिन्तन तार तार विश्लेषित कर देने की अतिरेकता से सुरक्षित रह कर ही स्व निर्मल भाव सत्ता की उद्भावना से स्निग्ध सुरम्य भाव-तटों के मध्य प्रवाहित होने लगता है। हृदय और मस्तिष्क के आपस में सम सम्पर्क को ही सात्त्विक नाड़ी का प्रवाह कहा जाता है–अर्थात् सात्त्विक हुआ मन ही वह स्थिति है जिसमें हृदय और मस्तिष्क का सही रिश्ता है और सम्यक् सम रिश्ता रहना ही योग के अनुष्ठान के लिए सही संयोग है। यौगिक भाषा में इसे सुषुम्ना नाडी का प्रवाह होना कहा जाता है। यह नाड़ी हृदय चक्र का मष्तिष्क के चक्रों से संबंध करती है।

शून्य मन

उच्चतर योग अध्यवसायों की अनेकता, नानात्व का वर्जन करता है क्योंकि जितने भाव उतने ही मन के स्वांग और प्रति स्वांग उतने ही नये क्षोभ तथा बंधन होते हैं।

अतः इन अध्यवसायों से भी ऊपर उठकर मानव को अपनी सत्ता-उद्भावना से जुड़ कर मात्र ज्ञाता दृष्टा रह कर भावातीत होने के लिये कहा जाता है। उस अवस्था में चिन्ता का अर्थात् चिन्तान्तर होते रहने का अभाव हो जाता है। चिन्तन चिन्तातुर नहीं होता, चिन्ताएं समाप्त होकर एक चिन्तन, एक ज्ञान मात्र ही रह जाए, यही चिन्ता विवर्जित संकल्प विकल्प विवर्जित ज्ञान मयी अवस्था है। यही **"शून्य मन"** या भाव-कर्म विवर्जित निर्मल दशा है। शून्य हुए मन का यहाँ अर्थ मन का अभाव नहीं है। मन तो सात्त्विक व प्रकाशमय रहता ही है, उसमें तब किसी जागतिक भाव या पदार्थ के साथ एकत्व रूप राग की कोई कल्लोलिनी प्रवाहित नहीं होती। राग व मोह व कषाय के भार से विमुक्त हुये मन की स्थिति में आत्म वस्तु अपने सहज उर्ध्वगमनशील गुण से स्वतः ही उर्ध्वगामी हो जाता है।

आस्था और ज्ञान गुण का संतुलन

आत्म वस्तु का आस्था भाव तथा ज्ञान गुण की क्रियाशीलता का स्वरूप कैसे बनता है इसका वर्णन आ० अमृतचन्द्र ने एक चित्रमय उपमा से अलंकृत करके दिया है।

एकेनाकर्षन्ती श्लथ्यन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीनीति र्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ (पुरुषार्थ सिद्ध० 227)

मंथानी के नेता को विलोवने वाली ग्वालिनी की तरह जैनी नीति, जैन विज्ञान की प्रक्रिया वस्तु के स्वरूप को एक सम्यक् आस्था से अपनी और खींचती है और दूसरे सम्यक्-चिन्तन से ग्रहण करती है और अन्तिम सम्यक् सिद्धि रूप कार्य को उत्पन्न करके सब के ऊपर जयवंती होती है ।

सम्यक् आस्था और सम्यक्-चिन्तन से मंथित किये जाने पर आत्म वस्तु में से उत्कृष्ट तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है—जिस प्रकार कि गोपी को मंथन क्रिया से मक्खन (नवनीत) की प्राप्ति होती है ।

भावावेश प्रवाह और अपरिणामी दिशा

जागृत से निद्रा में जाने के काल, निद्रा से पूर्व एक तन्द्रा मय विस्मृति सी आती है । वह विस्मृति ही स्वप्न या सुषुप्ति में जाने का संकेत है । इस संकेत को एक आवेश कहा जा सकता है । उच्चतर भूमियों में जाने के लिए भी ऐसी ही आवेशों की शृंखलाएं पार होती है । वस्तुतः वस्तु कभी शून्य होती नही । क्योंकि वह सद् वस्तु है, उसका अभाव नहीं होता । उसका रूपातंरण ही होता है । विभाव (विकारी) परिणमन हो या स्वभाव (निर्मल) परिणमन निमित्त के अनुसार स्वतः ही जीव को होता ही रहता है । पूर्व भाव का व्यय होता है, और नये भाव का उत्पाद उसका स्थान लेता है । इस प्रकृत नियम के तहत परिणमन भावों में होता ही रहता है । इस क्रमिक परिणमन से अतः जीव का भाव संस्थान सदा ही क्षुब्ध रहे होगा । अतः इस प्रकृत धारा से जिसमें मोह की धारा ही है, उबर कर सहज शुद्ध धारा में आने के लिए बहुत शक्तिशाली आवेशों की अपेक्षा रहती है । ऐसे आवेशों की अपेक्षा है जो असाधारण हों—असामान्य रूप से उसे उच्चतर भूमि में उछाल दें ।

नोट

भाव अधोगामी या उर्ध्वगामी दो प्रकार के है । पर भाव आत्माभिमुखी होने पर स्वभाव धारा (ज्ञानधारा) में आ जाते हैं । फिर विपरिणमन रूप अधोगामी भावों का चक्र समाप्त हो जाता है । विपरिणमन और स्वभाव परिणमन के मध्य शुभ भावों का क्षेत्र आता ही है । इस क्षेत्र में ही परा-रश्मियाँ प्रकट होती हैं, चिदाभास होते हैं, अति दिव्य "रूप" स्वरूप के दर्शन आविर्भूत होते हैं, आगम शास्त्रों की रचना के स्फुरण एवं सर्जन होते हैं, अति-भौतिक विषयों का दूर दर्शन, श्रवण, गंध स्पर्श आदि के अनुभव होते हैं । ये सब भावावेश के प्रतिफल होते हैं जो भौतिक से अति भौतिक लोक में उत्क्रमण के परिचायक हैं । वे भी पुद्गल के ही दर्शन हैं । इनसे भी रिक्त होकर शुद्ध ज्ञान दशा का परिचय होता है । वही असामान्य भावोत्क्रमण है । तुर्य अवस्था तो जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति से भिन्न चौथी भाव-अवस्था है । वस्तु-व्यवस्था का अन्तर्बाह्य व्यापार

रूप वैश्विक ज्ञान की धारा ब्रह्माण्डीय (कास्मिक) लोक से संपर्क कराकर स्व अनन्त विराट् सत्ता के भाव से भरित कर देती है। तब पूर्णोहंता के भाव में से भागवदीय भाव का आवेश होता है। अन्तरात्मा तब निर्मल होकर परम ब्राह्मी अवस्था का अभीप्सु हो जाता है । अखंड भागवदीय भाव रूप महा भाव की संरचना होती है । तब केन्द्रस्थ भाव-प्रवाह की दिशा ही परम ध्रुव शाश्वत् अपरिणामी में ले जाती है।

एल. एस. डी. आदि औषधि प्रयोग और कृत्रिम भावोद्दीपन

आज जो मानव मादक और औषधीय प्रयोगों द्वारा एल. एस. डी., चरस, भांग, गांजा आदि से अपने भाव-प्रवाहों को निश्चेष्ट व सुप्त करके कृत्रिम रूप से अपने दमित तथा ग्रन्थित भावों की पूर्ति प्रयास में अपने को कृतकृत्य मानता है, वह तो बड़ी ही अज्ञानमय विडम्बना में पड़ा है। यह कृत्रिम भावोद्दाम भावों के सहज और निर्मल प्रवाह को अवरुद्ध करके आत्मोत्थान के बजाय आत्म-पतन का ही मार्ग अन्त में प्रशस्त करता है क्योंकि मस्तिष्क और हृदय के कोमल ज्ञान-तंतु दुर्बल होकर फिर अमृत मय भाव रसों के उद्रेक करने में अशक्त हो जाते हैं । कृत्रिम उपाय संसार-भ्रमण और तीव्र दुःख परिणाम को ही देने वाले हैं। कारण के अनुरूप ही कार्य फलित होने का नियम है। अन्तर-आकाश में जैसे भी भावों का स्पंदन होता है, वेसे ही चित्र विचित्र वर्ण-चित्रों (अभिव्यंजनाओं) का दर्शन होता है, वैसे ही अशुभ कर्म-प्रत्यय जीव के कर्म-संस्थान में संश्लेषित होते रहते है। भाव-संस्थान और कर्म-संस्थान का इस प्रकार समानान्तर कार्य रहता है।

संस्कृति का रूप, भावों का संस्कार

मानव की सारी संस्कृति उसकी ही सुकृति है । भावों का संस्कार ही संस्कृति है। इसमें ही सुकृतियों की, सभ्यता, विद्या, ज्ञान-विज्ञान-कला-कौशल सब की ही रचना होती है और आगे भी होगी। ये ही मानव जाति के भविष्य निर्मात्री रूप में उपकारक है । इस अपेक्षा से सर्वज्ञ योग विज्ञान व श्रमण संस्कृति की उत्कृष्ठता उसकी करुणा, अहिंसा समता के अमृत वरदानों से तथा आत्म-परिष्कारों (भाव-परिष्कारों) रूप विज्ञान से यानी विशुद्धिमार्ग की उत्कृप्टता से स्वयं सिद्ध होती है। तभी इस संस्कृति की सर्वप्रियता में भारत ने कभी स्वर्ण युगों, अध्यात्म उत्कर्ष, कला कोशल, साहित्य, सभ्यता रचना के समृद्धि के शिखर भी देखे थे ।

आध्यात्मिक दृष्टि होने पर केटेलिस्टिक (उत्प्रेरक) भाव-ऊर्जाएं

भावों का वस्तुतः अनन्त साम्राज्य है। भावों की ही भौतिक या अति भौतिक वा अशुद्ध या मिश्र ऊर्जाएं द्रव्य-मन या भाव-मन में देखी जाती हैं। सारी सृष्टि की सृजन अभिव्यक्तियों के पृष्ठ में यही रहती हैं। उच्च भावोत्क्रमण में जो शक्ति आवेश या आवेश शक्तियाँ दृष्टि गत कभी होती हैं वह अनुभव के स्वसंवेद्य विषय हैं, वे आह्लाद रूप व इंस्पीरेशन रूप में होते हैं । आत्म-प्रभु निष्ठ आध्यात्मिक दृष्टि के लाभ होने पर ही ऐसे आवेश होते हैं । ये आवेश आवेगात्मक नहीं होते, पर

उनकी ऊर्जाएं केटेलिस्टिक होती हैं । विराट् ज्ञान सत्ता की श्रद्धा-दृष्टि में अगाध श्रद्धा-उन्मेष होकर चैतन्य महा सत्ता का दृष्टांत मिलता है । सर्व गुण मयी अपनी बुनियादी चैतन्य प्रकृति की आस्था हुए बिना बाह्य सत्ता बोध से ही परिचित ज्ञान पर्याय अनन्त महाप्रकृति के सम्मोहन का अन्तर्वेध नहीं कर सकती और न परा-अनुभूति मय ज्ञान को ही प्राप्त कर सकती हैं । मूल स्वभाव गत ज्ञान संरचना का बोध बाह्य सत्ता बोध में रची श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय सामान्यतः कैसे प्राप्त कर सकती है ? अतः निज निर्मल भाव की भावना ही एक मात्र साधक जीव की उत्कृष्ट सहचरी होती है। यहीं ऐसी अमृतमयी प्रकाश की गंगोत्री है, जहाँ से निरंतर रह रहकर झरता प्रकाश का आकाश-परिव्याप्त अमरत्व रूप का विस्तार करता स्व आस्था से जुड़ा रहता है और अनासक्त परिपूर्ति का विराट भाव प्रदेश प्रदेश में व्याप्त हो जाता है ।

देव प्रतिमा पत्थर से बनी है, पर क्या वह शिला खंड मात्र है ? प्रतिमा में मानव का एक घन चिन्तन का स्वरूप दिव्य कल्पना के रूप साकार होता है । उस दिव्य कल्पना और चिन्तन के स्वरूप को जो साक्षात्कार कर सकते हैं, वे ही वस्तुतः प्रतिमा-दर्शन का लाभ भी ले सकते हैं तब उनके लिये वह शिला-खंड नहीं है, देव प्रतिमा है और उसमें इष्ट का दर्शन होता है । यह प्रभाव भाव का ही है ।

न देवोविद्यते काष्ठे न पाषाणे ।
भावे हि विद्यते देवः, तस्माद् भावो हि कारणम् ।।

तथा—

भावेन लभते सर्वं, भावेन देव-दर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं, तस्माद् भावावलम्बनम् ।।

भावना चिदानन्द की चेरी

पावे भव सिंधु तट, खोले मोक्ष द्वार पट ।
शर्म साध धर्म की धरा में करे धावना ।।
एते सब काज करै, अलख को अंग धरै ।
चेरी एक चिदानन्द की, अकेली भावना ।।

(कवि. बनारसीदास)

भाव सारणी और चार निक्षेप

भाव सारणी में ही नाम, स्थापना द्रव्य भाव निक्षेप, चार निक्षेपों का जैनों ने वर्णन किया है । इन में भाव ही महत्त्वपूर्ण अन्तर्तत्त्व है ।

शक्ति के आवेश

श्रद्धा और ज्ञान के संगम-स्थल पर प्राणिक और चैत्तिक स्तरों के जड़ अनात्म बंधन टूटने लगते हैं और चिति-शक्ति जाग्रत होकर अन्तर में प्रकाश पद्मो तथा चक्रों का विकास करती उद्धाम उच्चतर भावोल्लासों और आवेशों को देती उर्ध्व संचरण करती है, तब पार-लौकिक दर्शन तथा परा-भौतिक अनुभूतियाँ तो होती ही हैं, जिनसे अकल्पनीय रूप से भावों के आयाम विस्तृत होते ही चले जाते हैं, जिनसे स्व स्वरूप की ऐसी परिपूर्ण ज्ञान परिणति भी होती है कि शुद्ध ध्येय भाव या भाव ध्येय का भी स्वरूप साकार हो जाता है। शक्ति का ऐसा आवेश ही अनुपम व अपूर्व होता है।

जागृत कुंडलिनी : ऊर्ज्जस्वल सृजन शक्ति

"जागृत कुण्डलिनी का आवेश चिति-शक्ति के ही उद्बोधन का परिणाम होता है। कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक की सृजन-शक्ति बहुत ऊर्ज्जस्वल हो जाती है। उसके उन्मेष में कवि अधिक सुन्दर काव्य रचता है। संगीतकार की संगीत रचनाएं कई गुनी अधिक तेजस्वी हो जाती हैं। तब हर व्यक्ति ही जो कार्य करता है, उसकी क्षमता और गुणवत्ता कई गुनी बढ़ जाती है। आवेश-उन्मेष की अतिभौतिकी का अनुभव कुण्डलिनी जागृत होने पर बहुत प्रत्यक्ष होता है।

"अपने निजी अनुभव से कहता हूँ कि मेरे वृहद् उपन्यास-"अनुत्तर योगी"-के सृजन में मेरी उन्मेषित कुण्डलिनी की अजस्त्र ऊर्जा-धारा ने अपना चमत्कार परा सीमा तक दिखाया है। आध्यात्मिक साक्षात्कार की जिन उच्च भूमिकाओं तक अभी मैं नहीं पहूँचा हूँ, उन्हें महावीर के ध्यानानुभव के सृजन में मैंने अपने अल्प, विजन (Vision) से सांगोपांग साक्षात्कृत और मूर्त किया है। सरस्वती के समन्दर उमडते हैं। इस उन्मेष पर काबू पाना मुश्किल हो जाता है। शक्तिपात ने मुझे प्रत्यक्ष अनुभव कराया कि दिव्य या परा-भौतिक उन्मेष क्या चीज होती हैं? वह उन्मेष होने पर सांसो में निरतिशय सुख बहने लगता है, आसपास का सारा परिवेश और तमाम ठोस पदार्थ-जगत् बहुत मुलायम, तरल, सुनम्य (प्लास्टिक) संस्पर्श का अनुभव कराता है।

श्वास गति की समता तथा प्रकम्पनों की समलयता में आत्मिक आवेशों का उन्मेष

"यह सारा खेल सांसों में होता है। सारा प्रयत्न सांसों की गति बदल कर देह के प्रकम्पनों (वायब्रेशन्स) को बदलने के लिये चल रहा है ताकि चीजों को देखने को दृष्टि ही बदल जाय। मनुष्य की सांस और उसके देहगत प्रकम्पनों को सम्वादी और लयबद्ध करने की कोई तद्गत वैज्ञानिक विद्या यदि उपलब्ध हो जाये, तो शायद मनुष्य का भाग्य ही बदल जाये, मानव सम्बन्धों में ही एक आमूल क्रान्ति हो जाये। मनुष्य का इतिहास तब सहज सपाट धारा न रखकर, एक साथ उर्ध्वगामी और गहन गामी महाप्रक्रिया हो जायेगा और यह सारा चमत्कार लयबद्ध संवादी सांस से उत्पन्न होने वाले आत्मिक आवेश—उन्मेष से घटित हो सकता है।

"आने वाले दिनों में ध्यान-योग मनुष्य के दैनंदिन जीवन में भोजन, वसन, शयन की तरह ही अनिवार्य हो जायेगा । अन्तरिक्ष युग का मनुष्य शायद ध्यानोन्मेष के बल अर्हत् महावीर की तरह ही, गुरुत्वाकर्षण के ऊपर उठ कर, अन्तरिक्ष चारी हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं ।"—(श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के "आवेश के विविध रूप और संभावनाएं"—से साभार) ।

श्री वीरेन्द्र कुमार ने भावोन्मेष, कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध में सांसो के खेल तथा स्थूल पदार्थ दर्शिनी दृष्टि को अति भौतिक दर्शिनी-दृष्टि में परिणत करने तथा देह के प्रकम्पनों को लयबद्ध करने की वैज्ञानिक विद्या की अपेक्षा पर ध्यान आकृष्ट किया है । उन्होंने विश्व के विभिन्न भागों में मानव जाति के द्वारा भावोन्मेष या आवेश से उर्ध्वगामी रचनात्मक उत्कृष्टता की प्राप्ति के इतिहास को रेखांकित भी किया है और भविष्य की यह संभावना भी प्रकट की है कि मानव कभी भगवान महावीर की सरह अन्तरिक्ष-चारी हो जाये । उनकी इस आशा की स्थापना है मानव की ऐसी उपलब्धि पर कि वह भौतिक स्तर से अतिभौतिक स्तर पर अपने को ट्रान्सपोर्ट कर सके । ये दोनों स्तर भौतिक ही हैं, एक ठोस भौतिक है तो दूसरा सूक्ष्म भौतिक है । इस सूक्ष्म भौतिक को ही तन्मात्रिक या अति-भौतिक कहते हैं । ठोस स्तर को बेध कर उसके घेरे से अतिभौतिक स्तर पर पहुँचने से ही मानव को यह भ्रांति हो जाती है कि मैंने योग के प्राप्तव्य को पा लिया । वास्तव में यह स्तर आत्मिक स्तर नहीं है ।

मानव का मन पंचभौतिक तत्त्वों की ही क्रीड़ा में है । मगर यह भी सत्य है कि उसकी शक्ति व गति इस स्तर पर आश्चर्यजनक रूप से तीव्र और प्रखर भी होती है । मन इस स्तर पर अति प्रोज्जवल होता है और इसी कारण यह ठोस वस्तु के अन्तस् को देख भी पाता है । मन की ही सूक्ष्मता का यहाँ विलास है ।

मन और प्राण का साहचर्य होता है और मन की सूक्ष्मता के साथ ही प्राण भी सूक्ष्म व संक्षेप होते हैं । सांसों के जिस खेल को योगी जन प्राणायाम के द्वारा खेलकर प्राणों को संवादी व लय-बद्ध करते हैं, उससे मन भी सम्वादी व लयबद्ध हो जाता है । मन से प्राण को वा प्राण से मन को निगृहीत, सम्वादी व लयबद्ध किया जा सकता है । दोनों ही विधियां है । मन व प्राण के इस प्रकार आपस में सम्वादी लयबद्ध होने पर योगी इस योग्य होते हैं कि वे चेतना के ज्ञान-स्वरूप के भी सम्वादी व लयबद्ध हो सकें ।

ज्ञान-स्वरूप राग व कषाय से रहित परम वीतराग है । अतः जब मन राग व कषाय रहित होता है तो वह चेतना की स्वभाव धारा के ही निकट आ जाता है । तब चेतना की स्वभाव धारा स्वयं ही उस मन व प्राण को अपने में खैंच ले जाती है और मानव आत्मस्थ हो जाता है और उस अवस्था में भौतिक व अतिभौतिक सब ही अनात्म लोकों (स्तरों) का संक्रमण हो जाता है । तब वह न बाह्य का, न अन्तरिक्षों का बिहारी होगा, वह चिद्-गगन का ही विहारी हो जाता है । तब

मानव अति निर्मल ज्ञान मात्र ही अपने को अनुभूत करके परम अर्हंत्परमेश्वर के समान केवल ज्ञान मय पुरुषाकार स्वरूप को प्राप्त होने लगता है।

श्वासों में अनात्म-प्रत्ययो का संकर्षण है और उसी से श्वासों में संघर्ष एवं विषमता है। अतः जब श्वास स्वतः ही विश्राम-आयाम को प्राप्त होकर सम हो जाते हैं अथवा रूद्ध हो जाते हैं तब इन अनात्म प्रत्ययों के घेरे से निकल कर मानव की चेतना स्वयं ज्ञान मात्र विदेही आत्म दशा को ही पहचानने लगती है। श्वासों के लयबद्ध तथा ताल बद्ध होने के बाद ही उनकी स्वयं अवस्था में ही शक्ति लोक का प्रकाश होता है। उस प्रकाश में ही चैतन्य आत्म द्रव्य तथा सब ही द्रव्य पहचान में आते हैं।

कुण्डलिनी उत्थान और भावोन्मेष अविनाभावी

कुण्डलिनी के दर्शन से भावोन्मेष होता है। भावोन्मेष कुण्डलिनी का उत्थान व दर्शन कराता है। ऐसे यह परस्पर अविनाभावी है। कुण्डलिनी का यह दर्शन बड़ा मन-भावना और आह्लाद कारक होता है। यह एक ऐसी अभूतपूर्व घटना की तरह घटित होता है जो मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व को अभिभूत कर देता है। और यदि मानव साधक चौकस रहे और इस शक्ति-उत्थान को आत्म-दर्शन या आत्म ध्यान की तरफ मोड दे तो उसे आशातीत सफलता भी मिलती है वरना व्यक्ति वापिस उसी तमोमय भाव, प्रमाद और जडता में चला जाता है। ध्यान की प्रक्रियाओं के साधन से भी कुण्डलिनी ही प्रथम जागकर उत्थान करके साधक को मार्ग का प्रतिबोध देती है, आश्वस्त करती है और प्रतीति को दृढ़ करती है। ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में जागृत कुण्डलिनी एक महत्वपूर्ण और मूलगत उपलब्धि है।

शक्ति एक, नाम अनेक

कुण्डलिनी शक्ति को आप किसी नाम से भी कहते रहें तो इसका कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसा कि स्पष्ट होता है इसे जैन ध्यानाग्नि तथा शिव श्री—शिवरमणी आदि कहते हैं। इसे उपनिषद् योगाग्नि कहते हैं। महर्षि पंतजलि इसे प्रत्येक—चेतना कहते हैं, तांत्रिक इसे नागिन कहते हैं—मांत्रिक इसे देवी या शक्ति कहते हैं। वास्तव में यह स्वयं मानव के भाव-स्तर का तैजस उन्मेष है। यह भाव स्तर ही आत्म स्वरूप का बीज होने के कारण उसे आत्मा का मंत्र, आत्मा का शिव स्वरूप कहा जाता है, और मंत्र रूप बीजाक्षर से ही उसका सहज उद्घाटन भी होता है।

भावों के आयामों को आरोहण करके ही भावों के लोक से भावातीत आत्मा के लौक में पर्दापण हो सकता है। तब यह ही न कुण्डलिनी कही जाती—न शक्ति कही जाती न नागिन कही जाती—तब यह स्वयं ही चितिस्वरूप (आत्म) चेतना ही होती है और ज्ञानाग्नि नाम पाती है, आदित्य मण्डल नाम पाती है—और इस विशेष पर्याय के मध्य ही स्वयं स्व अभिन्न आत्म-पुरुष

होता है, स्वज्ञान किरणों के मध्य स्वयं आत्म सूर्य ही है, शक्ति व शक्तिमान अभिन्न ही है, वही परम निर्मल पुरुष है—जो समस्त कर्म कालिमा व अनात्म प्रत्ययों से मुक्त व स्वरूप "रूप" से युक्त है ।

शक्ति के मध्य आत्मा पुरुष का दर्शन

शक्ति का का वेध करके अन्तर ध्रुव का अन्वेषण करने पर आत्म-पुरुष दृष्ट होता है । वह आत्म-पुरुष ही मौलिक सौन्दर्य है, मौलिक ज्ञानधन रूप है, मौलिक शिव तत्त्व है । और यह शक्ति-पर्याय उसी तत्व की परिणति है । यह मानव का अपना चुनाव है कि वह स्वभाव परिणति रूप में सदा लास्य करता रहे या विभाव परिणति रूप में । विभाव तो अनादि से है ही, स्वभाव के लिए ही निर्णय तथा उद्योग करना होता है ।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ।। (यजुर्वेद)

स्वर्ण की आभा रूप पात्र से उस सत्य-पुरुष का मुख ढ़का है । पूषन् (सर्वज्ञ देव) सत्य धर्म (निर्मल स्वभाव) की दृष्टि के लिये उस स्वर्ण मय पात्र को अनावृत कर दो । सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति उस आत्म-पुरुष के दर्शन पर ही होती है । अतः उस स्वर्ण कांति के मध्य स्वर्ण कांति पात्र के कुछ अनावृत होने पर उस आत्म-पुरुष के दर्शन होते हैं । वह स्वर्णमय प्रकाश स्वयं उस भ्राजमान देव पुरुष का ही तेजोमय प्रसार है । उस प्रकाश को देखने के बाद उस संपूर्ण प्रकाशमान सत्स्वभाव वाले पुरुष दर्शन को प्रकट करना चाहिये । माया का स्वर्ण मय लुभावना घेरा तोड़ना ही होगा । स्वर्णमय प्रकाशमय मंडल प्राणशक्ति कुण्डलिनी लोक है—इसका साक्षात्कार होकर, इसके केन्द्र में इसके वेध पूर्वक आत्म पुरुष के दर्शन होते हैं ।

शक्ति का स्वरूप

शक्ति सूर्य सदृश प्रकाश मण्डल रूप है और उस के मध्य ही आत्म पुरुष के दर्शन होते हैं क्योंकि स्वयं वह केवल ज्ञान भास्कर है, सर्वज्ञ है । इस सत्य को उपनिषद् ने भी पहचाना और प्रकाश की अभिव्यक्ति के ही अर्थ गायत्री मंत्र के रूप में यह गाया—

"तत्सवितुर वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

वह केवल ज्ञान-सूर्य पुरुष ही एक मात्र वरणीय है, आराध्य व उपास्य है—उसी भ्राजमान परम तेजस्वी ज्योतिष्मान का ही हम ध्यान करते हैं—वह ही हमारी धी (बुद्धि) को प्रेरित करे, प्रकाशित करे ।

श्वेताश्वतर महर्षि ने अपने उपनिषद् में इसी केवल ज्ञान सूर्य अर्हत् हिरण्यगर्भ प्रभु से बार-बार यह प्रार्थना की है—

“स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु” (३/४,४/११,४/१२)

हमारी बुद्धि को प्रशस्तभावों से सम्यक् रूप से संयुक्त कर दो ।

भाव ध्येय

आत्मा के आनन्दोन्मेष में ही चेतना-शक्ति की अभिव्यक्ति है और प्रत्येक प्राणी में यह ही शक्ति अपना कमोवेश उन्मेष प्रकट करती है । जैन सर्वज्ञ पुरुषों ने इसी चैतन्य की क्रीड़ालीलायें, गिरी मालाओं में, वनस्पति के सुमन-हास्यों में, इठलाती सरिताओं से प्रसृत कलकल निनाद में, सागरों के गर्जन घोषो में, उत्ताल तरंगों के तांडवो में, हिमकण के नर्तनो में, बसंत के उषा-कालीन मंद सुगंध समीर—लहरियों में, शस्य श्यामला की सुख हिलोरों में, प्राणियों की आनन्द मस्ती व शोखी में देखी है ।

विज्ञान को वनस्पति गिरी पहाड़ो में स्थावर चेतन प्राणों की विद्यमानता के ज्ञान को प्राप्त करने में २४०० वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी है । और अभी न मालूम इस चिति शक्ति की मूल उद्भावना, अवधारणा के अर्थों व रूपों को समझने के लिए कितनी सदियों की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है ।

कवि हृदय तो कल-२ बहते झरनों में, गिरी गुहा की नीरवता में भी उसी चेतन शक्ति की भावभंगिमा का दर्शन कर लेते हैं । क्योकि उनका हृदय भावोन्मेष के लिए खुला रहता है । उपनिषद् कारों ने अतः सर्वज्ञ को कवि ही कह कर वंदना भी की है । जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि । कवि हृदय का भाव-लोक तरंगायित होकर अदृष्ट व अव्यक्त को भी दृष्ट व व्यक्त होने के लिये मजबूर कर देता है ।

भावों की चंद्रिका की निर्मल किरणों की रेशमी डोरियों पर आरोहण करके भावातीत पर पहुँचा गया है । भावों के प्रतीक से ही आगे भी उस तक पहुँचा जायेगा । हृदय ही वह स्थली है जहाँ निज आनन्द मूर्ति की आनन्द लहरियाँ अठखेलियां करती हैं और जहाँ उन्हें अनुभूत किया जा सकता है ।

अनुभूतियों के आवेश क्षणों में ही सच्चिदानन्द पुरुष का साक्षात्कार भी पा लिया जाता है । आवेश के वे बहुमूल्य क्षण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की सीमाओं कों, उनके तटों को छोड़कर अनन्त प्रवाह रूप में जब बह चलते हैं तब अनन्त को भी अन्तर में आबद्ध ही पा लिया जाता है । आनन्द भावों की अनुभूति अतः साक्षात्कार के लिये निश्चित सोपान है । अनुभूति पर्याय में होती है । पर्याय स्वयं अभिव्यक्ति है और उसमें ही शक्ति अभिव्यक्त है । परन्तु यह अभिव्यक्ति

या पर्याय स्वयं साध्य नहीं है, साध्य का अंश मात्र है । साध्य तो अखंड आत्मा है और वह, भावग्राही है । अतः उसका ही चिदानन्द भाव भाव-ध्येय है ।

ध्येय भाव

आनन्द का स्रोत, ज्ञान का भवन स्वयं आत्म-पुरुष ही एक मात्र साध्य है—और आप अपना साधन भी है । और जब त्रिपुटी का बेध हो जाता है, साधक, साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है, तीनों अभेद एक बिन्दु में ही जैसे समाये हो, ऐसा होता है तब वह पुरुष केवल पुरुष ही है । तब वह न ध्येय है, न ध्याता, न ध्यान, वह आप ही आप है, शक्ति से शक्तिमान अभिन्न व शक्तिमान से शक्ति अभिन्न । तब सब सौन्दर्य, सब सत्य उस निर्विकल्प भावातीत में ही समाये रह जाते हैं ।

आत्मा भाव द्रव्य है । उस द्रव्य की लहरें सदा ही उल्लसित रहती हैं । कोई क्षण भाव-रहित नहीं होता । यह अलग बात है कि उसका भावित होना विभाव रूप से हो या स्वभाव रूप से मगर स्वयं उसका कभी अभाव नहीं होता है । अभाव होता है, मात्र आगन्तुक व संयोगी पर पदार्थ व पर भावों का ही और तभी उसका स्वभाव भी चमक उठता है । भाव का होना ही गुण है, शक्ति है और इसकी ही अभिव्यक्ति है । यह आत्मा वर्तमान में जैसा भी गुण रूप से है अर्थात् जिधर व जैसा भी गुणों का प्रकाश है उसी रूप व उधर ही अभिव्यक्ति रहती है । अभिव्यक्ति प्रवाह है—जिधर भी मोड़ो मोड़ दो । अतः ज्ञानी प्रकृत रूप से विभाव की तरफ बहने वाली अभिव्यक्ति को स्वभाव-ज्ञान की तरफ ही मोड़ते हैं ।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥—(प्रवचनसार—ज्ञान तत्व प्रज्ञापन—९)

जीवात्मा परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ व अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ स्वयं ही होता है और जब शुद्ध स्वरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है ।

आत्मा स्फटिक की भांति परिणाम स्वभावी है । शुभ व अशुभ राग भावों के निमित्त से परिणमित होकर—शुभ व अशुभ होता है और अराग भाव से परिणमित होता है तो शुद्ध स्फटिक की भांति शुद्ध रहने लगता है । अतः उत्कृष्ट परम निर्मल अर्हत्-तीर्थंकर पुरुष सम निर्मल आत्मा ही ध्येय है और उसका भाव ही अर्चनीय है । शुद्ध ज्ञायक व ज्ञान भाव ही अतः ध्येय भाव है ।

चारित्र पुरुष की उद्भावना

प्रत्येक आत्मा एक ज्ञान-दर्पण है । वह आइना अपनी ओर है तो अपने भाव को, और जब जगत की ओर हो तो जागतिक भावों को दिखाता है । आत्मा अपनी ज्ञानाकार ज्ञेय अवस्थाओं

को ही दिखाता है। जब अपने ज्ञान आइने में पर आत्माओं को देखता है तब उदित हुए समान आत्म ज्ञान तथा भाव में वह वस्तुतः अपने को ही देखता है। वहाँ स्व आत्मा तथा पर आत्माएँ समान ही हैं—ऐसा भाव अवतरित होता हैं।

वह सर्वात्म सम भाव में तदाकर होने पर सीमित अहं से व स्वार्थ से उत्तीर्ण हो जाता है। वह जन-जन की आत्मा से प्रतिक्षण तदाकार हुआ व महाकरुणा व परम अहिंसा से भावित हुआ, जन-जन की ही पीड़ा से अनुकंपित रहने लगता है। ऐसा वह स्व सुख-दुःख से विमुक्त विराट् लोक-चेतना, समष्टि चेतना, लोकात्मा के मानस रूप में ही स्पंदित, जन-जन की पीडा-निवृत्ति का व्रती हो जाता है। जन-जन के भय की निवृत्ति के लिये भयविमुक्ति का सिंहनाद या मेघनाद निनादित करते हुए व्याप्त व शृंखलाबद्ध पद, सत्ता धन व परिग्रह, संचय आदि के निहित स्वार्थों की सत्ताओं को एक बारगी ही तोड़ फेंकता है और एक अदम्य वीतराग सर्वज्ञ अभय ज्ञान पुरुष चारित्र की उद्भावना लिए प्रकट हो जाता है। ऐसा पुरुष ही फिर समग्र संसार का यथार्थ परोपकारी सेवक तथा शिवत्व का संस्थापक होता है। सेवा क्रान्त दृष्टि मय आत्म ज्ञान से पूर्व कोई भी यथार्थ हित-साधक इस विश्व का नहीं हो सकता।

वह पुरुष एक काल खंड के रूप में जीवन को नहीं देखता। वह उसे एक निर्मल भावोद्रेक मय एक सतत् प्रवाह के ही रूप में देखता है और वह तद्रूप एक ऐसे काल-पुरुष के रूप में विकसित होता है कि मानो समस्त काल के स्वरूपों के अतीत, एक अनन्त समग्र जीवन की शुद्ध छबि को ही प्राप्त किया हो। वह समस्त प्राणी-लोक की ही चेतना के मर्म को रूपायित करता है। उसकी व्यक्ति-चेतना समष्टि के चेतना भावोन्मेष में समग्र रहती है और वह ऐसा अनुकम्पित रहता है कि प्राणी मात्र की चेतना की साम्यता और एकता का भाव उसमें अनुभूति व भाव चेतना के तादात्म्य को लेकर एक विषय रूप में अभिन्न हो जाता है। सर्वात्माओं के निखिल निर्मल स्वरूप से तदाकर, अपरिग्रही और अहिंसक भाव से सहज भावित, निरुच्छुक, स्व प्रसाद से ही, अराग भाव से ही शुद्ध परिणमन हुआ, वह कोटि–२ जन का मुक्ति दूत एक युग पुरुष हो जाता है। वह इतिहास के तात्कालिक बहाव की दिशा को भी पलट देता है।

जीवन क्या है? निरंतर चेतन रूप ही स्पंदित रहना है। जीवन के अतः स्पंदनशील होने से गति-लयता में स्थितिपालकता को तोड़ते ही रहना होता है। क्रान्त-द्रष्टा क्रांतिकारी होकर ही जीवन में उत्क्रान्ति लाता है और वह उत्क्रान्ति न केवल विचार विश्व में ही प्रकट होती है, वह भाव व भावना स्तर पर विराट् भाव लोक में भी आनी होती है। तब भाव की शक्ति ही वर्तमान स्थितियों में स्फोट करके ऊर्जाओं का निर्माण करके, नवनिर्माण को संभव करती है। भाव ऊर्जा ही स्थिति-अवरोध की भंजक तथा नव निर्माण की सृजक हुआ करती है।

श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के शब्दों में—

“ऐसे एकमेव यज्ञ पुरुष की इतिहास को प्रतीक्षा है, केवल एक पुरुष चाहिए, एक व्यक्ति चाहिए जो अपने अहं और स्वार्थ से उत्तीर्ण होकर हिरण्यमय पात्र में ढके हुए सत्य के मुख को वेहिचक वेनकाब कर दें, जो इतिहास के दुश्चक्र को अपनी एकाकी पहल के वेमालुम झटके से तोड़ दे ।”

“अब वाद और विचार कारगर न होंगे । वह भी एक विराट् पाखंड साबित हो चुका है । अब तो वह चाहिए जो सीधे कारवाई कर सके, जो लोकात्मा और लोक मानस से सहज ही तदाकार हो, वही अपनी विशुद्ध क्रिया (प्यो एक्शन) के एक ही आघात से क्षण मात्र में गणतांत्रिक मानस का जन-जन में विस्फोट कर सकता है ।

“मैं नहीं मानता कि क्रांति या अति क्रांति विचार या योजना से संभव है, इसके लिये कोई गण-तांत्रिक मानस हम क्रमशः निर्माण नहीं कर सकते । जब भी वह आयेगा वह रूपान्तर एक व्यक्ति द्वारा आकस्मिक विस्फोट से आयेगा और वह व्यक्ति बलि पुरुष होगा, यज्ञ पुरुष होगा । भौतिक परमाणु-विस्फोट के बाद, वह आत्मिक परमाणु-विस्फोट अब हर पल प्रतीक्षित है ।” (प्रजातंत्र कौन लाये—एक लेख)

श्री वीरेन्द्र कुमार जैन इस प्रकार एक पूर्ण योग पुरुष की असीम अपेक्षा को प्रतीत करते वास्तव में विश्व के प्राणियों की त्राण की पुकार से ही संवेदित हैं । उन्होंने योग पुरुष के निर्माण की आधार भूमि को पहचाना है और वे “अनुत्तर महावीर” के अन्तर-चारित्र से तादात्म्य को भी कभी अवश्य प्राप्त होंगे ।

प्राणी मात्र के दुःख-त्राण की पुकार युग-युग से एक तीर्थंकर, एक बुद्ध का आह्वान करती है क्योंकि धर्म का वह चारित्र पुरुष साक्षात् सकल स्वरूप होता है—“संसार दुःखतः सत्त्वान् योधरत्युत्तमे सुखे” । और ऐसा तीर्थंकर वा बुद्ध जन-जन की सहज अन्तर्पीडा से संवेदित व अनुकम्पित विराट् चेतना के भाव में उद्गमित होकर व्यापक तौर पर समाज को प्रबुद्ध करके तथा अपना सहयोगी व अनुगामी करके धर्म-राज्य की स्थापना को संभव करता है । वह स्वभाव या शुद्ध चेतना का निर्मल भावोन्वेष, स्व-प्रसाद की ही प्रभावना-भावना को लेकर है । यह ही तीर्थंकर नाम कर्म है—यह ही फलित होकर निग्रह व अनुग्रह रूप से जिन विभूति के प्रसार को करता, प्राकृत प्रवाह को उलट कर अमृत प्रवाह को प्रवाहित करता है ।

तात्कालिक भाव परिणमन अर्थात् शुभ ब अशुभ भाव परिणमन, राग भाव परिणमन की दिशा को उलट कर वह विश्व के मानस में चेतना के सक्रिय सत् स्वरूप के संधान को दृढ़ करता है और उनके एक एक भाव, एक एक अभिव्यक्ति या एक-२ पर्याय जो जागतिक हानि लाभ व संकुचित तात्कालिक स्वार्थों से बंधे ऊँचे नीचे व उदय अस्त होते हैं] को ऐसे नित्य अटल स्थल की ओर गतिमान करके उनको गत्यावरोध से मुक्त कर देता है कि वे लक्ष्य-स्थिर हो जाएँ और साध्य को सिद्ध कर लें ।

वे विश्वजनो को भी जहाँ से वो भाव व अभिव्यक्तियाँ आ रही होती हैं, उस उर्ध्वस्थल में ले जाते हैं जहाँ अभिव्यक्ति व भावों से निर्लिप्त निष्पाप व ज्ञाता-मात्र रहकर वे निर्विकल्प होकर निर्विकार आसक्ति-रहित निर्मल भावमुवन मात्र होते हैं। तब वे जन-जन अपने किसी भाव, राग, आसक्ति स्वार्थ से स्पंदित न होकर बल्कि सारे संसार के, न केवल बहुजन हिताय, बल्कि सर्वजन हिताय, सर्वप्राणी हिताय निरासक्त व बीतराग होकर प्राणी-पीड़ा के मूल कारणों एवं हेतुओं से जो चाहे आंतरिक व व्यक्तिगत हों या संस्थागत या व्यवस्था-गत सामाजिक या राजनैतिक हों, संघर्ष रत हो जाते हैं और सदियों से व्यापी संगठित हिंसा पर सीधे व उत्कट प्रहार करते हैं।

वह पुरुष इस प्रकार काल प्रवाही क्षणिक, सीमित और क्षुद्र कोणों मय अल्प जीवन को ऊपर उठाकर विश्व जनों को उस अति उच्च भूमि पर ही ले जाता है जिसमें निर्मल स्वरूप जीवन की समग्र दृष्टि प्रतिष्ठित होती है। और लोक मानस उस दृष्टि से ऐसा भावोन्मेष को प्राप्त हो जाता है कि मानव मानस की जड़ता एक साथ ही जर्जरित हो जाती है, एक नव व प्रबुद्ध मानस का उस भाव रूपांतरण में जन्म होता है जो फिर नये इतिहास को निर्मित कर देने में योग देता है।

युग पुरुष स्पष्टता से इसे जानता व देख पाता है कि ऐसे जनो को जो अंध विश्वासों, जड़ संस्थाओं व निहित स्वार्थों में जकड़े हैं,—जो सत्ता प्राप्त वर्ग के व उनके इर्दगिर्द घूमने वाले लोगों की भेद पूर्ण स्वार्थ नीति के कार्य कलाप से दिशा भ्रमित हैं, जो विचार, युक्ति व तर्क से स्वयं अपने मार्ग को जानकर भी उस मार्ग पर आरुढ़ होने से कतराते हैं, भयतीत हैं, जिन्हें दृढ़ विचार और अभय मार्ग की तरफ गतिमान करने के लिये ऐसी अडोल भावनात्मक शक्ति की नितांत आवश्यकता है जो ऐसे लोगों को, मरणासन्न समाज (सोसायटी) को ही रूपान्तरित कर सके। युग पुरुष निश्चय ही ऐसे समाज को जो अपनी द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार सतत् परिष्करण की माँग के प्रति स्तब्ध है, इस प्रकार जीवन की स्तब्धता (Rut) से ऊबार लेता है, जब कि बौद्धिक जन (Intellectuals) अपने तमाम तर्क व विचार के बाबजूद उसे एक इंच भी आगे बढ़ाने में नाकामयाब होते हैं।

जीवन एक सतत् निर्मल प्रवाह है। पर्याय के साधन गत और संस्था गत निरंतर सुधार में ही निर्मलता अक्षुण्ण रहती है। जहाँ मात्र विचार असफल हो जाते हैं, वहाँ विचार के बाद भावना, अध्यात्म की, रहस्यवाद की भावना ही समाज को उत्थान-पथ पर अग्रसर करती है और इसके उपरांत विचार व तर्क (Rationalism) की पुनः प्रतिष्ठा हुआ करती है।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो भी जड़ दशा होती है वह तब ही बदलती है जब उस पर पर्याप्त शक्ति का दबाब पड़ता है फिर चाहे वह बाह्य परिवेश गत हो या अन्तर भावोत्थान रूप। बाह्य परिवेश गत दबाब स्थायी नहीं होता, वह एक काल स्थायी ही रहता है। स्वयं आदमी जब तक न बदले, कुछ भी तो नहीं बदलता।

हम चाहे संस्थागत परिवर्तनों को ऊपर से थोप दें—पर जब तक उन संस्थाओं को चलाने वाले मानवों का मानस पूर्वाग्रहों से ही स्तब्ध हो, और उनकी मानसिक व सामाजिक स्थितियाँ (एटीट्यूड्स) पूर्ववत् ही रहें, तो इससे समाज को नहीं बदला जा सकता। अब तो इस देश में आधुनिकता के नाम पर वेस्टर्नाईजेशन हो रहा है, वहाँ की संस्थाओं की नकल हो रही है।

यहाँ के मानवों की मानसिक स्थितियाँ अभी भी असमानता सोसायटी (Inequitable Society) के आग्रहों से ही जड़ है। भाई भतीजावाद, जातिवाद, संप्रदायवाद व विभिन्न संकुचित दलवाद अपने तमाम दुर्गुणों सहित यहाँ व्याप्त हैं। मानवतावाद का, समानता—बंधुत्व की भावना का, मैरिट का सर्वोच्च सम्मान व आग्रह कहाँ है? कानून व संस्थाओं को हमने समानता के अर्थ स्थापित तो कर दिया है मगर फिर भी समानता यहां दुर्लभ ही हो रही है।

मानव को स्वयं क्रान्तिकारी बना कर ही समग्र क्रान्ति को प्रस्तुत किया जा सकता है। ऐसी क्रान्ति के लिये मानव की वर्तमान जड़ व संकीर्ण मनोवृत्तियों को बदलकर व मूलभूत अच्छाईयों को, उसके अनन्त गुणों व विश्वासों को बाहर लाना होगा।

यह काम अहिंसा व करुणा की स्थापना बिना नहीं हो सकता। अन्योन्य के लिये महान करुणा भाव, सहानुभूति व बंधुत्व व सम्मान व समादर तथा संवेदन शीलता की आश्यकता है जो परस्पर के शोषण, अत्याचार, हिंसा व विध्वंस को रोक सके।

वास्तव में सब उत्कृष्ट खेल इस विश्व में भावों के ही खेल में है। और भावों के उत्कृष्ट खेल को सिखा सकता है एक मात्र पूर्ण अहिंसक योग पुरुष। उसके भावोत्थान के ही विराट यज्ञ में असमान रुग्ण समाज अपने रोग से मुक्त हो सकता है।

व्यक्ति और समष्टि का संतुलन

व्यक्ति और समष्टि के उत्थान परस्पर निर्भर है और समग्र मानव जाति के उत्थान के लिये न व्यक्ति, न समष्टि ही गौण किये जा सकते हैं। इनके संतुलन की ही अपेक्षा है।

वर्ण व्यवस्था का मूल : उसकी वर्तमान में विकृति

भारत का प्राचीन इतिहास साक्षी है कि यहां पूर्व में एक ही वर्ण क्षत्रिय वर्ण था। भगवान् ऋषभेश्वर के पुत्र चक्रवती सम्राट भरत ने प्राणी अनुकम्पा व दया-प्रधानी लोगों को समाज में आदर्श रूप में प्रस्तुत करने के लिये एक आयोजन किया था। तब कुछ लोक वनस्पति को कुचलते हुए उनके निकट पहुंचे, और कुछ लोगों ने वनस्पति में रही प्राण-सत्ता को कुचलते हुए उस मार्ग से जाना मनाकर दिया था। तब उन्होंने उन करुणा पूर्ण आत्म-दृष्टि सम्पन्न पुरुष वर्ग को ब्राह्मण संज्ञा दी और उस वर्ग को समाज के लिये ऐसा आदर्श रूप में व्यवस्थित किया जो समाज में तप, त्याग तथा कारुणिक भावनात्मक

दृढ़ता (vigour)को चरित्रित कर सके। भारतीय समाज का गठन ऐसे ब्राह्मण वर्ग के उस मूलभूत आदर्श को लेकर आरम्भ हुआ था।

यह मानना कतई गलत और असंगत है कि भारतीय समाज—क्रमोच्च (Hierarchical) वर्णों की व्यवस्था को लेकर जन्मी थी। ब्राह्मण वर्ग के बाद वणिक वर्ग भी आया तथा शूद्र वर्ग भी आया तो वे सब गुण व्यवस्था को ही लेकर आये, न कि समाज में जन्मगत ऊंच या नीच या छुआछुत के भाव को लेकर। ये समाज के चार भाव-स्तम्भ रूप में थे, ऊर्ज्जस्विता (ब्राह्मण) संरक्षणता (क्षत्रिय) समृद्धि (वणिक), सेवा (शूद्र),—इन आदर्श चतुर्गुणों से भारतीय समाज में समानता ही शोभित हुई थी।

श्रमण संस्कृति ने समाज की उसी मूलभूत समानता व आदर्श के सिद्धान्त को ही बार-बार उद्घोषणायें की। ब्राह्मण वर्ग की परिभाषा धम्मपद में व महावीर की वाणियों में गुण प्रधानता को ही इंगित करती रही हैं। उन्होंने जातिगत, वर्णगत, कुलगत, लिंगगत व जन्मगत आदि लौकिक व आरोपित भेदों व बंधनों को नकारा है, और कभी छुआछुत को स्वीकार नहीं किया है। मगर कालांतर में सब व्यवस्था विकृत होती गई। निहित स्वार्थों का जन्म हो गया और लचीला गुणाश्रित वर्ण-भेद भी जन्मगत बन्धन हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रियों में अध्यात्म व लौकिक शक्तियों का संचय हो गया और अपने छोटे स्वार्थों की परिपुष्टि व फैलाव के लिए उसके अधर्ममय गठजोड़ में जिसमें ब्राह्मण जन्म व जाति रूप में श्रेष्ठता, पवित्रता व पूज्यता का अपना बखान करने लगे, और क्षत्रिय ईश्वरीय हक व अंश होने की अहम् मान्यता से अपनी उच्चता चाहने लगे, तो सारी समाज-व्यवस्था में क्रमशः शोषण का, हीनता और दुराचार का बीजारोपण हो गया। स्त्री समाज को भी अप्रतिष्ठित किया गया। इस सब बन्धनों तथा विभेदों को मनुस्मृति में कालान्तर में स्पष्टतया धर्म रूप में उद्घोषित किया गया। ऐसे यह भारतीय समाज क्रमशः हीन-उतार लिये व जन्मगत रक्तगत पवित्रता को मान्य करने वाली एक विकृत वर्ग-व्यवस्था में विच्छिन्न हो गया। और ऐसे वह अपने गुण-स्वभाव की अप्रतिष्ठा के कारण टूटता व विच्छिन्न होता होता शतशः जातियों में बट कर तेज हीन, शौर्यहीन होकर निष्क्रिय ही हो गया है।

ब्राह्मण वर्ग को एक आदर्श रखा गया था—जो अन्य सबके लिये अनुकरणीय था। वह एक मूलभूत केटेलिस्ट था जो समाज को अपने ज्ञान गुणों से द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार सक्रिय और परिष्कृत रखता हुआ सन्मार्ग आरूढ़ रखता, जो मानव को मानवता और आदमियत के आदर्श से जीवंत रखता। श्रमण संस्कृति इसी भाव को जगाये रखने का अथक प्रयास पिछली सैकड़ों सदियों से करती आ रही है। आश्चर्य होता है इसके अनुगामियों में भी वही जड़ जाति-व्यवस्था दुर्जन संगति की तरह घुस बैठी है।

सम्पूर्ण भारतीय जीवन अब असमान समाज-व्यवस्था के रोग से भयावह रूप से आक्रान्त है और अब तो इसके साथ राजनैतिक लाभ व सत्ता के लोभ तथा स्वार्थ और जुड़ गए हैं। यह रोग अब

विचार से या बौद्धिक-जनों के तर्कों से समाप्त नहीं होने वाला है । इसके लिये महान् भावोत्थान की अपेक्षा है जिसे पूर्ण योग पुरुष ही कर सकने में समर्थ होता है ।

अहिंसक क्रांत दृष्टा पुरुष की अपेक्षा

ऐसे युग पुरुष की अपेक्षा है जो सारे समाज को एक ही बारगी में अपने अहिंसक आह्वान से उद्वेलित कर सके, उठा सके और चला सके । ऐसा एक अहिंसक पुरुष भारत में श्री महात्मा गांधी के रूप में हुआ भी, जो कोटि-कोटि जनों की पीड़ा से संवेदित था और उसने कोटि-२ जनों को भावोद्वेलित भी किया, उन्हें उठाया और उनकी सदियों की बेड़ियों को तोड़कर स्वतन्त्रता के उषा काल में जागने के लिए झकझोरा ? पर वह अपने मिशन के पूरा होने से पहले ही बलि हो गया । अहिंसक बलिदान क्या कभी निष्फल होता है ? महात्मा ईसा के ही समान उनका भी आदर्श इस देश के रूपांतर के लिए कभी निश्चय ही सबल माध्यम होगा । अहिंसक क्रांत दृष्टा को फिर आना होगा या लाना होगा । ऐसी आशा तब ही हो सकती है कि हम उसके अवतरण के योग्य भाव-भूमि को तैयार करते रहें ।

व्यक्ति और समष्टि चेतना का रूपांतरण : परिणाम विशुद्धि

व्यक्ति समाज का घटक है और व्यक्ति जब निष्पाप अभिव्यक्ति के रूप में आमूल-चूल रूपांतरित होता है तो ऐसे व्यक्ति के प्रभाव से ही समष्टि चेतना में भी रूपांतरण होता है । अतः व्यक्ति का आंतर सद्-रूपांतरण ही समष्टि जीवन का, पूरी सोसायटी का त्राण है ।

तीर्थंकर व बुद्ध स्व मुक्ति के सीमित दायरे से ऊपर ऊठकर—अपनी असीम अभिव्यक्ति की असाधारण क्षमता को लिये अपनी सतत् धर्म देशना तथा सतत् पद-विहार से कोटि-कोटि जनों के मानस को बन्धनों से, पाप-पंक से, भय व अंधकार से बाहर निकाल कर, अपने समीप लेकर, साथ लेकर, आश्वस्त व अभय करके धर्म राज्य की स्थापना को संभव करते हैं, कोटि-कोटि जनों की भाव-मुक्ति का द्वार खोल देते हैं ।

जड़ मानस स्थितियां, सामाजिक संकुचित परिस्थितियां आत्म लोक के पुरुषार्थ के सामने ही हारती हैं । मनोविकारमय अशुभ व शुभ वृत्तियां तब विमुक्त होकर शुद्ध होती है । अतः विशुद्धि का ही एक मात्र मार्ग सत्कार्य मार्ग है । इस विशुद्धि के ही मार्ग को शुद्ध कहते हैं, इसे ही तीर्थंकर प्रकट करते हैं । यह परिणाम-विशुद्धि, भाव-विशुद्धि से चारित्र-विशुद्धि और आत्म-विशुद्धि का ही मार्ग है ।

जागतिक भावों व बाह्य चिन्हों तथा वर्ण जाति कुल आदि के ठप्पों के पक्षपात् से विवर्जित अतःकरण व अन्तरात्मा का दिव्य मानवीय गुणों से विभूषित एवं शुद्ध होने के बाद ही परम स्थिति की प्राप्ति की संभावना हो सकती है और तब ही धर्मराज्य की स्थापना भी । परम प्रभु की प्राप्ति का यही मार्ग है । उस परम स्थिति को ही अन्तर में खोलना व अन्तर में पाना है । ऐसे समष्टि मानव के

अवतरण और निर्माण के लिए जिसमें सत्र की समानता हो, स्वाधीनता हो, शोषण-विशुद्धि हो, करूणा और अनुकम्पा हो, पवित्र भावोन्मेष की अपेक्षा है।

पवित्र भावोन्मेष में ही सर्वहारा शक्ति का उन्मेष होता है। उसमें ही निर्माण शक्ति है, और उसी में भावों के परा-स्वरूपों के स्तर की प्राप्ति होकर भावातीत हुआ जाता है, जो समान तेजो रूप में प्रज्वलित होकर केवल विकारों को, बाधाओं को ही जलाती है। जब तक मानव अपनी अन्तरात्मा में ऐसी योगाग्नि को प्रज्वलित करके शुद्ध भावनाओं को प्रदीप्त न कर लेगा, और शुद्ध भावनाओं से उज्ज्वल चारित्र रूप स्वयं परिशुद्ध व निष्पाप न हो जायेगा, उसे बार-बार जीवन की अनन्त यात्राओं में नारकीय उत्तप्त अग्नियों में झुलसना ही पड़ेगा। व्यक्ति तथा समष्टि जीवन में सर्वहारा शक्ति वाले भावोन्मेषों की जरूरत है।

पूर्ण योग पुरुष और धर्म राज्य की स्थापना

युग पुरुष काल–पृष्ठको विदीर्ण करके कालातीत जीवन पृष्ठ का निर्माण करता है और जगत् के उद्धार के लिये ही होता है। वह ही सर्व प्राणियों के लिये सन्मार्ग, सम्यक् निष्ठा, ज्ञान और अमर जीवन के संदेशों को देता है। पर विश्व को उसके संदेशों को धारण कर सकने की योग्यता प्रकट करनी होगी। उस स्वर्ण प्रभात के होने तक हमें अपने छोटे-छोटे दीप जलाए रखने होंगे।

"मेरे 'अनुत्तर योगी'—के महावीर ने अढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली के संथागार में भविष्य वाणी की थी—एक दिन योगी को राज्य-सत्ता के आसन पर आना पड़ेगा, नहीं तो पृथ्वी पर एक धर्म-राज्य की स्थापना त्रिकाल सम्भव नहीं।" (श्री वीरेन्द्र कुमार जैन)

वस्तुतः पूर्ण योग–पुरुष आयेगा। राज्य सत्ता, पद, विषय व वैभव को भोगने के लिए नहीं, वह आयेगा लोगों के हृदय व मानस को ज्ञान–प्रज्वलित करता हुआ, धर्म-राज्य के आविर्भाव के मिशन को ही लेकर। वह योगी पुरुष पूर्ण अराग, निष्पाप शुद्ध भाव को लेकर–साकार चारित्र–पुरुष हो कर आयेगा। वह अपने उदाहरण से सदाचार तथा सन्मार्ग की शिक्षा से दीक्षित करेगा और अपने उदाहरण से सम्यक्-चारित्र की स्थापना करेगा, उपदेश (कथनी) और करणी के, ज्ञान और कर्म के भेद को समाप्त कर देगा। अन्तर्वाह्य की परिपूर्ण निर्मलता को ही आजका भी संदर्भ चाहता है और इस वर्तमान सन्दर्भ में योग भी इसी एक मार्ग का दिशा-निर्देश करता है।

आदर्शों के उद्‌घोष चाहे वे किसी भी स्तर पर हो, राजनैतिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो या आध्यात्मिक हो—जब तक उद्घोष मात्र ही रहते हैं, भाषण मात्र ही रहते हैं, तो निर्मल भावात्मक सम्बन्धों का आधार-स्रोत मानव–आत्मा मृत्यु की घड़ियों को ही गिनती रहती है। उन आदर्शों को मानवीय एकता समानता की अनुभूति व भाव चेतना का विषय बनाकर जिया जाना चाहिए, समग्र लोकों की आत्माओं के प्रति व उनकी अन्तर्पीड़ा के प्रति व्यक्ति–आत्मा को संवेदित व समर्पित हो जाना

चाहिये । विराट् स्वप्नमय भावों के समर्पित होकर ही क्रांत-दृष्टि तथा अथाह पुरुषार्थ के जन्म में ही मानव सन्तान ने बार-बार नवजीवन को पाया है ।

निष्पाप परिपूर्णता, न कि अनाचार की प्रबलता एवं निखिल के साथ तादात्म्य,—ये ही विनम्र आध्यात्मिक, वैयक्तिक तथा लोक शक्तियों को जन्म देते हैं । वह वैयक्तिक आन्तर-शक्ति मानव में धर्म साम्राज्य को स्थापित करती प्रकट होती है । धर्म-राज्य प्रथम तो स्वयं मानव में ही स्थापित होता है । वस्तुतः जैसा कि महात्मा ईसा ने भी कहा—"स्वर्ग का राज्य तुम में ही है ।" अन्तर में धर्म के राज्य के विस्तार पाने पर फिर बाह्य में शुद्ध बलिष्ठ लोक शक्ति का निर्माण सम्भव होता है जिससे ही धर्म राज्य की स्थितियां बनती हैं ।

शक्तियां युग विशेष की दशा के रूप नहीं, बल्कि प्रत्येक जीवन की जीवन्त सत्य-साधना हो जाती है । तब सत्य को बनाने व सत्य को पाने का अनुशासन आता है—वह सत्य वणिक्-वृत्ति नहीं, न सत्ता-प्रात्त वर्ग की धन व पद की लिप्सा; प्रत्युत उसका रूप होता है, सब कुछ त्याग कर भी समस्त विश्व के साथ अपनत्व और अनन्त शान्ति, अनन्त अहिंसा की खोज तथा स्थापना जिसमें बहुव्यापी जड़ता, स्तब्धता, विषमता, प्रमाद, अहंकार व अत्याचार की हिंसा व पाप के विरुद्ध अटल चट्टान के रूप में प्रतिरोध ।

इस साधना में पुरुष अचल विनम्र होकर ही, जय व पराजय के भाव से भी दूर, स्व जय से अभिन्न, रूप व शब्द की ममता से दूर, निर्मल निर्विकारी व व्यापी लोक शक्ति का प्रतीक होकर, समग्र के सम सामंजस्य को स्थापित करता है ।

अन्तर्द्वन्द्वों अन्तर्विरोधों को समाप्त करके वह किसी एक दल के रूप में नहीं, बल्कि दल के दल-दल को दलित करके सम्पूर्ण लोक-शक्ति को प्रतीयमान करके अपने उदाहरण से सब में निष्पाप न्याय, समता व शांति तथा आनन्द को अवतरित करता है ।

अनाचार की प्रबलता रूप हिंसक शक्ति बहुव्यापी नहीं होती । वह तो कुछ क्षण व्यापी ही हैं । वह आँधी तथा तूफान की तरह कभी-कभी इस विश्व में आती है । उसका जन्म किसी ग़जनी, गौरी, चंगेज, तैमूर, हिटलर, कंस या रावण के रूप में होता है । पर नित्य शांत वायु के प्रवाह की शक्ति है कि वह मन्द सुगन्ध शीतल प्रवाहित होती है । इसकी शक्ति आंधी तूफान से अधिक है । आंधी तूफान एक संकीर्ण स्थान को कुछ समय के लिये ही क्षुब्ध कर सकते हैं । परन्तु शांत वायु का प्रवाह समस्त पृथ्वी को ही नित्य काल तक घेरे रहता है ।

समग्र शुद्ध के ज्ञान-सामंजस्य को नष्ट करके हिंसा अपने को स्वतन्त्र रूप में दिखलाती है परंतु दर असल वह समग्र से छोटी ही है । यथार्थ नम्रता अर्थात् शांति बिना बाधा सब के साथ मिलकर सत्य रूप में समस्त को प्राप्त करती है । वह किसी को दूर नहीं करती, विच्छिन्न नहीं करती, प्रत्युत अपने को

ही त्याग और संयम की कठोर शक्ति से अनुशासित करके करूणा रूप में प्रतिष्ठितकरती है। वह विध्वंस नहीं, निर्माण करती है।

विनम्र शांति का आराधक विश्वबन्धुत्व का हामी व मानवतावाद का संदेशावाहक होता है। वह आत्म-जयी होकर विश्व हृदय का जयी, जगत्-जयी हो जाता है। क्योंकि यह नियम है कि बुराई से अच्छाई का राज्य नहीं लाया जा सकता। अपने आप को जीत लेना समग्र विश्व को भी जीत लेने से बड़ा है।

अभिव्यक्तियों के पार शुद्ध सत्य का अन्वेषण

संसार सांत है, रूप व शब्दमय है। इसमें स्थितियां प्रतिक्षण बदलती हैं। अभिव्यक्तियों के पार जो शुद्ध सत्य के अन्वेषक होंगे, वे ही इस सांत संसार के पार अनन्त को प्राप्त करेंगे। जो अच्छाई के लिये भी बुराई को प्रोत्साहित करते हैं, वे द्विविधाओं के ही वैषम्य में रहते हैं और सत्य सुखद जीवन की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते।

महा करुणा : महा निष्क्रमण

संसार का यह शरीर ऐन्द्रिय स्तर है, विषय और कषायमय है। इसकी आसक्ति तोडनी ही होती है। केवल इस स्तर को ही मानकर मानव का अन्तःकरण कैसे संतोष को प्राप्त हो सकता है? यह मानव है अमृत पुत्र। इसीलिये वह नित्य प्रशांत प्रवाहित जीवन की पुकार करता रहता है। संसार के भोग-सुख की प्यास-विलास का क्षण समाप्त होते-होते जब आत्मा में ऐसी वेदना जाग उठती है, कि जिसमें वह सारे संसार की प्राणी पीड़ा व दुःख को अपना कर अपनी महा करूणा मात्र के ढोने में समर्थ हो जाता है तब कहीं तीर्थंकर का महानिष्क्रमण होता है।

ओह ! उस तीर्थंकर के भीतर कितना बड़ा सत्य जागता है, कितनी बड़ी चेतना समुल्लसित होती है, कितनी बड़ी शक्ति का नया करुणा का सागर लहराता है ! उस निष्क्रमण के काल में एक मात्र एक पुकार, जागतिक सब पुकारों के ऊपर उसकी एक पुकार बराबर जागती रहती हैं, हे अनन्त ! हे परम ! तुम्हारे भीतर से सारे संसार के साथ मेरा जो नित्य सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में मुझे बांधो।

यह पुकार है अमृत की, जो मरना नहीं जानती और अमृत में पहुँचा देती है। इस महा करूणा-मय सम्बन्ध में बन्ध जाना ही देह व संसार के राग की समाप्ति रूप अरागमय शुद्ध वीतरागता है। उस वीतरागता में ही वह आनन्द के भण्डार के दर्शन करता है, वह दुःखी संसारी प्राणियों का दुःख से त्राता तथा साक्षातमुक्ति दाता हो जाता हैं।

इस प्रबुद्ध आत्मा की जगत् को बार-बार ही यथार्थ प्रतीक्षा है। वो ही जगत् का यथार्थ

आराध्य है । उसके ही निर्मल व्यक्तित्व के प्रभाव में समग्र जन मानस के संकुलित भावों की जड़ता एवं जागतिक भावों एवं भयों के लोक नष्ट होते हैं तथा मूल मानवीय समस्या जो दृष्टि कोण के सम्यक्त्व की रहती है, का समाधान प्राप्त होता है, तथा व्यक्ति-चेतना भी संकल्प-विकल्पों से परे निःसंकल्प निर्मलता को प्राप्त होती है ।

भावों का खेल और भावातीत

युक्ति व विचार की भूमि प्रकर्ष है, पर उनसे भी आगे व प्रकर्षतर भूमि तो वह निर्विचार भाव-भूमि है जिसमें भावोदयों का परिशुद्ध लोक ही जाग पड़ता है, उसी में हृदय को सीमित करने वाले बंधन टूटते हैं, राग उसी में टूटता है । और जागतिक राग के बंधन टूटने से असीमित अभिव्यक्तियों का असाधारण व परम विराट् विश्व में प्रवेश होता है । योग की सर्वगत चिन्तन-भूमि समग्रता की अलौकिकता में निमग्न होकर निर्विकल्प भावों का स्पर्श कर लेती है तब चिन्तन अपनी काष्ठा पर सर्वचिन्ता विवर्जित प्रतिष्ठित रह जाता है। वह तब मैं-तू-यह-वह-ऐसे विचार से परे विराट् आतमा के लक्ष्य में ही स्थिर होता है ।

जब तक चिन्तन में विश्लेषण या जागतिक विषयों की स्मृति के जागरण चलते रहते है, तब तक चिन्ता रहित स्व-चिन्तन की उर्ध्वधरा समुपलब्ध नहीं होती । अपने समस्त अनात्म वातावरण व आसपास के प्राकृत परिवेश से सम्बन्धित समस्त रागमय विचार व कल्पनाओं को जब तक मन की मनन शक्ति वस्तु-व्यवस्था तथा वीतरागता के स्थिर भाव से पराभव करके अपने स्मरण व मनन से निर्वासित नहीं कर देती, तब तक मन के स्पंदनों से पूर्व जो एक निर्मल मात्र भाव-अवस्था होती है उस दशा की अलौकिक भूमि के दर्शन भी नहीं होते । उस उत्कृष्ट भूमि को पाकर तो भाव मात्र, ज्ञेय मात्र व ज्ञान मात्र ही मन रह जाता है तब वह अनन्त के निश्चल तट पर ही पहुँच जाता है । वहाँ भावों के आयाम विस्तृत तथा रुपांतरित हो जाते हैं और परम चेतना में ही मानव जाग उठता है । परिपूर्ण वस्तु मात्र क्या है, इसका ही उसे बोध हो जाता है ।

सत्ता के अनेक स्तर

वस्तु इतनी मात्र नहीं है जो व्यक्त प्रकट दिखती है । सत्ता के स्तर और भी हैं, और वे कहीं अधिक विराट् व सूक्ष्म विस्तार वाले हैं । भौतिक, परा-भौतिक, मानसिक, भावात्मक व आत्मिक ऐसे कई कई सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्ताओं की विद्यमानता है । व्यक्त रूप से दिखने वाला तो एक पक्ष या एक अंश मात्र है । इस व्यक्त के पीछे जो अनन्त, पूर्ण व विराट् या विविध जो छिपा है, उस अप्रकट, अव्यक्त, अदृश्य को न पाकर एकांग का दर्शन तो मात्र एकांत दर्शन है ।

एकांत दर्शन में पूर्ण वस्तु का निरादर है । एकांत दर्शन बहिर्दृष्टि, जड व असद् दृष्टि है । इस अन्याय पूर्ण मिथ्यादर्शन से जब मानव उबर जाता है, तब कहीं उसे परम तत्त्व की उद्भावना

प्राप्त होती है और तब उस उद्भावना के होते ही सर्वात्म-भाव आता है जिसमें परम व विराट् की ही निज वीणा समलय को व सम ताल को लेकर समग्र विश्व की आत्माओं से तादात्म्य भाव के सम संगीत से सुस्वरित बज उठती है ।

सर्वज्ञ प्राणियों में चेतना का सम समान ज्ञान एक महान करुणा भाव को ही जन्म देता है । स्व करुणा में ही पर-करुणा जाग उठती है और इसी तरह पर-करुणा भी स्व-करुणा की ओर ले जाती है—क्या कोई भेद रहता है ?

समग्र के साथ समलयता और सर्वत्र आत्मदर्शन

समग्र के साथ समलय व समताल अवस्था में अपनी क्षुद्र अस्मिता को भूलकर—उसके विभाव से परित्यक्त होकर जब कोई जागने लगता है तो उसे जो भी व जहाँ भी दिखता है उसे उन सब मार्गणा-स्थानों में—वहाँ वहाँ परम आत्मा के ही दर्शन होते हैं, उस परम चेतना के ही दर्शन होते है जो अपनी स्व चेतना के ही समान विराट् व परम है और विराट् होने के मार्ग में है, प्रतीक्षा में है ।

उसे गिरीमालायें एक जड पर्वत न होकर, बन मालाएं मात्र अचल स्थावर न होकर, व्यक्ति[illegible] मात्र एक पर-छन्दी व्यक्ति न होकर, एक परम सक्रिय आत्मा, निज शक्ति केन्द्र को लिये, अपनी ही परम चेतना के समान रूप में बोलने लगता है । इस प्रकार की मुखरता में मानव मन जागतिक प्रकल्पनाओं से मुक्त ही हो जाता है और परम से ही संवेदित होता तदाकारता का अनुभव करता है, अपना ही निर्मलतम 'स्व' सुस्पष्ट दृष्टिगत रहने लगता है ।

ऐसी दृष्टि में, चिन्तन के, भावों के, और ज्ञान के आयाम बदल जाते हैं, स्व व पर के भेद-पूर्ण विषम परदे भी तब नहीं रहते और वह अपने ही सम्मुख आप ही रहता है, न दृष्टि तब किसी "पर" पर रहती, वह स्व के ही भाव में डूबा रह जाता है, एक निर्मल चिति के ही विलास रूप तब वह आत्म-विलासी हुआ अर्हत्पुरुष ही हो जाता है जो भावों के परम प्रान्तों के भी पार भावातीत शुद्धस्वभाव का विलासी है ।

त्त

भाव भाव हि संजुत्त, भाव भावहि जोजि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं, परम पउ सोजि ।। (परमात्म-प्रकाश)

अर्थात्—समीचीन रूप से भावों ही भावों में देखते, अन्वेषण करते करते जब भाव से भाव (आत्मा) को प्राप्त हो जाते हैं तो इस देह में ही जिणवर—अर्हत्पुरुष को देख लिया जाता है और वह ही परम प्रभु है ।

भावों का ऐसा खेल है ।

भावों की जागृति में ही भाव रूप होकर उस भाव-मय प्रभु, अन्तर्प्रभु की प्राप्ति होतो है। भावक भाव से जिन-भाव रूप की, स्वभाव भाव की प्राप्ति होती है, भावों के तट टूट जाते हैं और भावातीत में स्थिर हो जाते हैं, वहीं रमण करने करने लगते हैं । प्रश्न इतना है कि कोई उस परम सत्ता स्वरूप के प्रति जाग्रत तो हो, उससे भावित हो, उससे तादात्म्य करे और समर्पित हो जाये, तात्कालिक भाव त्रैकालिक भाव से जुड़े और तद्रूप रूपांतरित हो जाये ।

"भावना निज भावते ही भावते पावते निधि अपनी" । निज रूप से सब विश्व प्राणियों में भावना होने से ही भावों के आयाम बदलते हैं, वरना पूर्ववत् संकीर्ण संकोच सा ही बना रहता है और भेद-भाव की रेखा मिटती नहीं और अतः निज से भी अभेद की प्राप्ति नहीं होती । वह निज रूप परम विराट् तो भाव में किसी संकोच को सहन नहीं करता ।

क्षुद्र अस्मिता को विराट् सत्ता में बदलने पर ही, निज व पर के भेद की समाप्ति होने पर ही भावों का संकोच निवृत्त होकर अभेद निर्मल भावों के पार, परम विशुद्धि मय परिणति में, परिणति-परिधि के पार, स्व केन्द्र अपरिणामी नित्य शाश्वत् से भेंट होती है । अतः दृष्टि में जब निर्मल अर्हंत्पुरुष का भाव समा जाता है और वह ही सर्वत्र भासता है, बोलता है तब उस सद्भाव में तद्रूप हो जाते हैं ।

साधक का ध्रुव नक्षत्र

केवल ज्ञानी अर्हंत्पुरुष या तीर्थंकर या प्रबुद्ध बुद्ध परम गुरु ही अतः साधक का ध्रुव नक्षत्र है । क्योंकि वही वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वोदयी धर्म-मार्ग का प्रणेता है । साधक के जीवन यंत्र की सूई उधर ही अभिमुख रहनी चाहिए फिर चाहे जीवन-सागर के तल पर किसी भी स्थान पर हो, वह चाहे राजा हो, रंक हो, सेवक हो, साधु हो, राजनीतिज्ञ व राजनेता हो, लोक सेवक हो, कैसा भी हो वह आत्म भाव से, अराग भाव से, ज्ञान भाव से, समभाव से ही अनुकंपित रहना चाहिये ।

उस आदर्श अर्हंत्पुरुष तीर्थंकर के स्वरूप को ही ध्येय रूप में ग्रहण करना चाहिये । उसके ही महान् करूणा के भाव को ग्रहण करना चाहिये । उसकी ही महान् अहिंसा के भाव को चरितार्थ करना चाहिए । यह ही तो शुद्धात्मा का ग्रहण है । इस शुद्धात्मा के भाव को समर्पित होकर जीवन व्यवस्थित करने वाले ध्येय के शुद्ध निर्मल भाव से भावित, प्रेरित तथा संचालित होना ही ध्याता व ध्येय की वस्तुतः एकता है ।

वह भाव ध्येय वस्तुतः निर्मल व्यक्ति-चेतना तथा निर्मल ही समष्टि चेतना का उत्प्रेरक है । अतः ही वह शिव भी है । भाव की गंगा ऊपर से उतर कर नीचे नहीं बही तो सार्थकता ही क्या ?

स्वग्रात्मा को शुद्ध जितेन्द्रिय जिनेश्वर के सकल वीतरागी स्वरूप के ग्रवलम्बन से जब ग्रपने में ग्रपना शुद्ध भावोन्मेष कालान्तर में भावातीत के ही तट पर जाकर रुकता है ग्रौर वहाँ निजात्मा का ही प्रसाद प्रकट भी होता है, तब क्या पर क्या स्व ! भावातीत ग्रभेद भावोल्लास तो मात्र निर्विकल्प ग्रद्वैत ही हो जाता है।

सर्वोदय

सर्वोदय का भाव चैतन्यात्मक है, जीव के शुद्ध भाव-ध्येय से जुड़ा होता है। इसमें जीव के ग्रनुजीवी भाव पौद्‌गलिक नहीं, ज्ञान मय होते हैं। करूणा ग्रौर ग्रहिंसा के ग्राधार पर ही विश्व व्यापी क्रान्ति संभव होती है। सर्वोदय में ग्रल्प ग्रहं की तुष्टि नहीं रह सकती है, न पौद्‌गलिक दृष्टि ही रह सकती है। जीवों के भावोदय को ही प्रधानता देने पर सर्वोदय संभव हो सकता है।

सर्वोदय वस्तुतः भाव-प्रधान है । पुद्‌गल ग्रौर पुद्‌गल के परिणाम से जीव का सम्बन्ध विच्छेद करके ही, यानी जीव के परिणाम का पुद्‌गल परिणाम से संबंध विच्छेद होने पर ही जीव के स्वयं के शुद्ध नित्य निर्मल परिणामों (भावों) को प्राप्त किया जा सकता है।

कर्म वर्गणामय भव बंधन के बंध, व्यय, ग्रौर ग्रास्रवादि के परिचय ग्रोर पहचान के हेतु ग्राचार्य प्रमुग्रों ने कर्म-साहित्य की संरचना की, ग्रौर उसे गणित विज्ञान के विस्तार से समझाया, पर प्रज्ञा भाव खी दृष्टि को पैनी बनाने के हेतु ऐसे भावोदय-या भावावेश की भी साथ ही प्रधानता की है जो भेद विज्ञान से ग्रोतप्रोत सुवासित होकर जीव ग्रौर कर्म-प्रत्ययों को ग्रापस में जोड़ने वाले पौद्‌गलिक भावों को निःशेषकर दे।

निःशेष कर्म स्थिति को प्राप्त करने में जीव को कितना समय लगे, यह तो उसके संचित कर्म पर–तथा उसकी होने वाले परिणाम 'विशुद्धि पर ही निर्भर होगा । निरंतर भावात्मक उत्कर्ष एवं विशुद्धि के ग्रतिरिक्त ग्रन्य मार्ग हो भी क्या सकता है ?

मंद राग-द्वेष कषाय की स्थिति में कदाचित् प्रज्ञान भाव, ज्ञायक भाव, क्षायिक भाव, करण परिणाम ग्रादि संभव होते हैं। पर वस्तुतः मंद भाव वैसा कार्यकारी नहीं होता जैसा मोह व कषाय को निःशेष कर देने वाला उग्र ज्ञायक भाव जिसमें शेष कषाय निःशेष हो जाएं ग्रौर स्व निर्मलता से ग्रभिन्न तद्रूप ग्रवस्थान प्राप्त हो जाए।

पर ज्ञान की दशा को विकसित करने वाला विशुद्धि का भाव समस्त ग्रन्य भावों से ग्रतीत, मात्र ज्ञायक भाव ही होता है। वह पुद्‌गल की लीलाग्रों से, राग व मोह के विलास से निष्प्रयोजन होता है। संकलेश परिणामों के नियंत्रण की क्षमता का उदय ही ज्ञायक भाव की परख व कसौटी है।

ज्ञायक भाव चिदानन्द मय, ज्ञानानन्दानुभूति मय, विशुद्धि मय होता है और कालान्तर में अनन्त अक्षय आनन्द धाम को प्राप्त कराता है । वही वीतराग और अबंध दशा का निर्मापक व मुक्ति दाता है ।

आत्मज्ञान, भाव-स्फोट और जागृत अवस्था

विज्ञान आज पुद्गल के स्फोट की विधियों को खोजता चला जा रहा है, परन्तु ज्ञान-भाव स्फोट जो जीवात्मा में होते हैं उन्हें क्या पुद्गल यन्त्रों से मापा जा सकता है ? पुद्गल यन्त्रों पर आधारित—कम्प्यूटराइज्ड ज्ञान भी सीमित ही रहेगा, क्योंकि योग और कषाय सम्बन्धी परमाणुओं के शक्ति-अंश के अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्या असंख्यात है पर ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदों की संख्या अनन्तान्त है । ज्ञान ही मोह का प्रतिकार है, कर्म का प्रतिकार है । वह आत्मा का विशिष्ट गुण है, वह तत्सम, तद्भावी और तद्रूप होता है ।

जो मन वचन काय की चेष्टा से व मोह से परे, अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण के निमित्त हैं—वे ज्ञायक भाव हैं और वही इन कारणों की भी उपलब्धि कराता है । अतः आत्म-ज्ञान में एकाग्रता ही संयम, तप और ध्यान है । इसी में भावोदय और फिर भावातीत निर्मल नित्य अपरिणामी ध्रुव केन्द्र की प्राप्ति भी है । इसी ज्ञायक भाव की प्रसिद्धि जाग्रत भाव में करनी होगी । अतः जागृत दशा में चैतन्य की वृद्धि करते रहना चाहिए । परम ब्राह्मी अवस्था जाग्रत अवस्था की ही विशिष्ट अवस्था है । जागृत अवस्था में ही निर्मल ज्ञान मय आत्म ध्येय को दृढ़ता से ग्रहण व धृत करना होगा ।

भाव-अवस्थाएं और आत्म-प्रभु निष्ठा भाव की श्रेष्ठता

निर्मल आत्म-ध्येय के ही ग्रहण की बात संत कबीर ने भी की है । उन्होंने भाव स्तरों का वर्णन करके उन क्रमिक भाव स्तरों को पीछे छोड़कर स्वयं सम्पूर्ण आत्म चेतना में प्रभु रूप भावातीत आत्मा परमेश्वर में ही उपयोग को निबद्ध करने की प्रेरणा की है जिसमें जैन ज्ञान की स्पष्ट गूंज है । उनका वर्णन इस तरह है—

लपकि चलु सजनि ! संईया की ओर ।
छौडि नासूत, मलकूत जबरूत की ओर लाहूत हाहूत बाजी ।
और साहूत राहूत ह्यां डारि दै, कूदि आहूत जाहूत जाजी ।
जाय जाहूत में खुद खाविद जहं, वही मकान साकेत साजी ।
कहै कबीर ह्यां बहिश्ते दोज़ख थकै, वदे किताब काहूत काजी ।
सत मटकी पटकी अटकी रहै, एक मतरी गई रचना की छोर ॥

नासूत जागृत अवस्था है। जब जुबान से जाप यानी बैखरी जाप या सुमरन किया जाता है तो जागृत अवस्था जीव की रहती है।

मलकूत स्वप्नावस्था है, जब दिल (हृदय) पर भावना द्वारा (आघात) देकर या प्राणायाम (हब्स-दम) करके साधना की जाती है तो जीव को स्वप्न अवस्था प्राप्त होती है।

जब रूत सुषुप्ति अवस्था है, यह योग-निद्रा है। यह जागृत से विपरीत अवस्था है। जब तीसरे तिल भ्रू-मध्य में दृष्टि स्थिर करके जाप किया जाता है तो यह सुषुप्ति अवस्था होती है।

लाहूत तुर्यावस्था है। यह वह अवस्था है जिसमें साधक स्वयं सुमरन रूप हो जाता है और अन्तर्मुख रहस्य को तथा भेद को पाने वाला होता है।

पाँचवी हाहूत तुर्यातीत अवस्था है। यह आत्म-गुप्त अवस्था कही जाती है। अपने ध्येय-इष्ट में गुप्त रहना, लीन रहना, सुमरन का जो ध्येय है, उस रूप हो जाना है। इसमें लय दर लय अवस्थाएं होते हुए भी अविनाशी अवस्था होती है।

आगे की चार अवस्थाएँ साहूत, राहूत, आहूत और जाहूत को कहीं भी परिभाषित नहीं किया गया; क्योंकि यह महज स्व संवेद्य अवस्थाएँ हैं। चरम अवस्था को जाहूत कह कर भी फिर संत कबीर ने यह कहा है जाहूत अवस्था में पहुंच कर स्वयं नाथ–निरंजन परम–आत्म प्रभु स्वयं खाविंद है, और उसका निजी धाम साकेत है। मुक्ति धाम को संत कबीर ने यहां साकेत नाम से लक्षित कराया है।

निर्गुण राम, रमइया राम, आतम राम के धाम को कबीर ने साकेत नाम से ही ग्रहण किया है। उन्होंने बहुत स्पष्ट उद्‌बोधन किया है कि नासूत, मलकूत आदि नव अवस्थाओं में अपनी उपयोग रूपी सजनी को मत भटकाओ, ये तो क्रमिक मार्गीय अवस्थाएं ही हैं। इन सब को छोड़कर एक दम सुरत-सजनी को स्व स्वामी (सईयाँ) आतमप्रभु की ओर ही एकदम लपक कर ले चलो। मार्गीय अनुभवों में अटको नहीं।

अक्रम मार्ग में वे सारे साधन समाप्त हो जाते हैं जो स्वर्ग या नरक के हैं। सीधे मार्ग में स्वर्ग नरक भी पीछे रह जाते हैं। यह उस सब के आगे है जो किताबों में या मुल्ला काजी व धर्म पण्डों, पुजारियों द्वारा कहा जाता है। वस्तुतः सत्स्वरूप इन क्रमों के पट यानी आड में अटका रह जाता है, वह प्राप्त नहीं होता। अतः एक मत, एक निष्ठा, एक निर्णय की रचना करके अन्तिम छोर अक्षय परम धाम पर ही पहुंच जाना चाहिए। आत्मा प्रभु की निष्ठा ही अन्तिम पद तक गई है। अतः हे सजनी ! अपने स्वामी की ओर यथाशीघ्र लपकी चलो, दौड़ लगाओं।

ऐसे यहां भी अन्तिम परम पद की ही प्रेरणा है।

ज्ञान भाव की साधना : जागृत अवस्था की श्रेष्ठता

जागृत स्वप्न और सुषुप्ति रूप ही तीन अवस्थाओं का विशेष वर्णन होता है। इनमें यह स्पष्ट जान लेना होगा कि जागृत ही एक मात्र श्रेष्ठ अवस्था है और इस अवस्था को ही जप तप ध्यान से निरंतर अभिसिंचित करते रहना चाहिये।

सामान्य अज्ञानी मनुष्य को जागृत–अवस्था में नेत्र बन्द करके देखने पर अन्धकार ही दिखाई पड़ता है। अन्धकार है वहाँ, अतः वही दिखाई पड़ता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीव दृष्टा है—क्योंकि उसे अन्धकार दिखाई देता है। अन्धकार को दूर किये बिना ही यदि हम अपनी स्थूल दशा को भूल जाएं अथवा देहात्मक बोध दब जाए, उस दशा को स्वप्न कहा जाता है, तब स्वप्न दर्शन होता है।

अन्धकार रहते यदि स्थूल देहात्म बोध रहता हो तो उसे जागृत अवस्था है। और अन्धकार रहते यदि स्थूल को भूल जाएं और मन स्थिर हो जाए तब वह अवस्था सुषुप्ति है।

स्वप्नावस्था में मन चंचल रहता है। तब उस मन को अन्तर में वर्तमान अन्धकार का राज्य दिखता है,—यानी जगत् ही दिखता है, और अन्धकार स्वयं नहीं दिखता। यह जगत् व्यापार जो दिखता है वासना का जगत्-व्यापार है। जागृत अवस्था में वृत्ति अन्तर्मुख होने पर या तो अन्धकार दिखाई देता है, क्योंकि बाह्य की स्मृति वर्तमान रहती है अथवा जगत् ही दिखाई देता है अन्धकार के भीतर आलोक के ऊपर। वृत्ति बहिर्मुख है तो जागृत व स्वप्न दोनों अवस्थाओं में मन क्रियाशील रहता है।

जागृत में इन्द्रियां भी काम करती है, इससे दृष्टा रहता है पर प्रत्यभिमर्श नहीं रहता। सुषुप्ति में मन नहीं काम करता, इन्द्रियां भी नहीं, दृष्टा काम करता है परन्तु इसके भी प्रत्यभिमर्श नहीं होता। दृष्टा देख रहा है, वह यह नहीं समझ सकता है कि हम देख रहे हैं।

जागृत अवस्था में देखा जाता है कि हम देख रहे हैं या देख सकते हैं। स्वप्न में भी सुषुप्ति की भांति प्रत्याभिमर्श होने का मार्ग नहीं है। इसीलिए जागृति श्रेष्ठ अवस्था है। यहां से ही प्राप्ति का प्ररूप (उपाय) मिलता है।" (कविराज गोपीनाथ)

ज्ञान का बना रहना ही जागृत अवस्था है। इस अवस्था में स्वप्न नहीं रहते। स्वप्न विकल्प हैं और स्व बोध का अभाव सुषुप्ति है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों को पृथक् जानने से चौथी तुर्य का भी ज्ञान होता है। वह तुर्य जागने में भी जानने रूप है।

जब चक्षु बन्द करने पर अन्धकार भी उद्योत रूप हो जायेगा, उसी समय देहात्म बोध

चला जायेगा, स्थूल से पृथक् भाव होगा। पूर्व वर्णित प्रत्यभिमर्श जागृति में जब बढ़ जाए—तब यह होता है। इसी का नाम है ज्ञान। इस समय दृष्टा आलोक में देखेगा और बोध करेगा कि वह देख रहा है। यही चाहिए और यही जीवन जागृति का साधन सूत्र हैं।

चित्ताकाश और चिदाकाश तथा निराकार का साकार में पर्यवसान

"चित्ताकाश में देव दर्शन होता है, चिदाकाश में गुरु दर्शन। देव-दर्शन होने के पहले चित्ताकाश निर्मल होकर आलोकित हो जाता है। चित्ताकाश से चिदाकाश में जाने का जो मार्ग है—उसी का नाम ब्रह्मनाडी है। वास्तविक तथ्य यह है कि चिदाकाश में आलोक आकर ही चित्ताकाश को अन्धकारहीन करता है और उसके बाद उसे देव रूप में दैदिप्यमान करता है। यह गुरु को छोड़ कर और कौन दिखायेगा? वस्तुतः गुरु ही गुण-क्षेत्र में देव रूप में आविर्भूत होते हैं। जो प्रवाह चिदाकाश से उतर कर आ रहा है, वही लौटकर चित्ताकाश में स्थिति लेता है। अतः देवता ही गुरु सन्निधान में पहुंचा देते हैं। इस प्रकार सगुण निर्गुण में पर्यवस्थित होते हैं।" (वही)

वस्तुतः दृष्टा का उपयोग तथा भाव-शुद्धि जागृत दशा में ही किये जा सकते हैं, तब भाव ही महाभाव होकर भावातीत होता है। भाव महाभाव में तब परिणत होता हैं जब चित्ताकाश में "रूप" का आविर्भाव होता है। वह रूप ही कालांतरमें चैतन्य हो जाता है। ऐसे निराकार अलिंग ग्रहण आत्मा साकार रूप में पर्यवसित होता है और वह प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार की परम भाव मय व ज्ञान-जीवन की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। हाँ, एक कड़ी मात्र जो अत्यन्त महत्वपूर्ण ही है।

स्वभाव की निर्मलता अन्तर्दर्शन से भी महत्वपूर्ण

बाहर की आंखों का क्या ?

आंखे अन्तर की खोलो।

हर प्राणी में छुपा जिनेश्वर,
पा दर्शन निर्मल हो लो॥

आ० सोमदेव ने स्पष्ट किया है कि भावना से सभी वस्तु चित्त में स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। मगर इतने मात्र से ही मुक्ति नहीं हो सकती। अतः चित्त में जिनेश्वर का दर्शन पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। उस दर्शन का प्रयोजन है कि अपने अन्तरात्मा को उस स्वरूप के समकक्ष निर्मल कर लेना। "पा दर्शन निर्मल हो लो।" यह महत्वपूर्ण है। स्वभाव की निर्मलता की ओर अग्रसर न हुए तो सब साधना निष्फल ही है।

जैमिनी ऋषि का कहना है कि स्वभाव से ही कलुषित चित्त की विशुद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आ. सोमदेव ने कहा है, जिस वस्तु में स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणों

से मल का क्षय किया जा सकता है जैसा कि मणि और मोतियों में देखा जाता है, अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्म से ही मैल सहित पैदा होते हैं । किन्तु बाद को उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है । इसी तरह अनादि से मलिन आत्मा से कर्म जन्य मलिनता को हटाकर उसे भी विशुद्ध किया जा सकता है ।

अमूर्तिक आत्मा के और साक्षात् दर्शन के सूत्र : स्फटिक पुरुषाकार स्वरूप

अमूर्तिक आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन-साक्षात्कार को आ० सोमदेव ने इस प्रकार प्रकट किया है—

व्योमच्छायानरोत्संगि यथामूर्तमपि स्वयं ।
योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः ।। (उपासकाध्ययन—६९५)

जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है, फिर भी पुरुष की छाया के संसर्ग से शून्य आकाश में भी पुरुष का दर्शन होता है, वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यान के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है । जैसे अन्य मत की अपेक्षा से छाया पुरुष का सात्क्षात्कार होता है, उसी तरह योगाभ्यास से आत्मा का भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो ही सकता है ।

बार-बार अभ्यास से जैसे छाया पुरुष शुद्ध स्फटिक तुल्य पुरुष दिखाई देता है वैसे ही यह आत्मा भी भ्रू-मध्य बार-बार टकटकी लगाकर देखा जाता है तो ध्यान महात्म्य से स्व आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन-साक्षात्कार शुद्ध स्फटिक (निर्मल) पुरुषाकार रूप हो जाता है । यह प्रथम आभास रूप होता है–पर अभ्यास करने पर कालान्तर में वज्रवत् स्थिर तथा दृढ़ हो जाता है । और ज्ञानात्म-भावना से निर्मल चिन्मय स्वरूप के निर्माण रूप तथा निज के ही पूर्ण साक्षात्कार रूप हो जाता है । अशुद्ध विभाव से शुद्ध स्वभाव में क्रमशः पर्याय परिणमित होते हुए कर्म निर्जरा करते-करते आत्म स्वरूप की वह निर्मल अवस्थिति तथा स्थिति हो जाती है जिसमें आत्मा स्वाधीन, अक्षय और अबाध सुख सम्पन्न रहती है और मुक्ति रूप है ।

ऋषभो नाभि सूनुर्यो भूयात्स भविकाय वः ।
यज्ज्ञान सरसि विश्वं सरोजमिव भासते ।।—(आत्मानुशासन २७०)

श्री नाभिनृप के सुपुत्र भगवान् ऋषभनाथ जिनके ज्ञान—महासमुद्र में यह विश्व कमलवत् भासता है, आपके लिये मुक्तिकर हों ।

इति योगानुशीलन—प्रथम भाग सम्पूर्ण ।।

योगानुशीलन

(द्वितीय-भाग)

अनुक्रमणिका

मंगल वाचन

१ श्री स्वयंभू भगवान (हिरण्दगर्भ) बंदना

२. जिनवाणी—शारदा बंदना

प्रकरण—

पहला— अतीन्द्रिय सुख मय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधियाँ, वर्ण तथा अवर्णमय, लेश्या-सहित एवं लेश्यामुक्त ध्यान; अन्य महत्वपूर्ण अभ्यास तथा परमात्मा स्वरूप के विकास की विधि।

दूसरा— उद्बोधक योग मीमांसाएं; मोक्ष मार्ग प्रकाशक और परमार्थ वचनिका आदि।

तीसरा— साधना—पर्यालोचन। सामायिक–अन्तर्दृष्टि दीप से स्वात्मा की प्रेक्षाएं। अनुप्रेक्षाएं और भावनाएं।

चौथा— योग शासन की प्रागेतिहासिक तथा वेदपूर्व परंपरा, प्राचीनता और प्रमाणिकता।

पांचवा— बोधि, सिद्धि, और मुक्ति का यह अणुत्तर—"मग्ग" (मार्ग); योगशास्ता श्री ऋषभदेव का संक्षिप्त जीवन वृत्त और योग तत्त्वोपदेश।

छठा— योगसंदृष्टियाँ आदि; अष्ट विध विष कुंभ और अष्ट विध अमृत कुंभ; योग मार्ग और योग के अष्टांग।

सातवां— भ० ऋषभदेव के योग शासन का विशिष्ट स्वरूप–बोध; सर्वोदय तीर्थ एवं विश्व धर्म। अन्त्य मंगल वाचन।

मंगल—वाचन

(१)

श्री स्वयंभू भगवान् ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) वंदना

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥

आदि जिनेश श्री हिरण्यगर्भ ऋषभेश्वर इस जगती तल पर अपने अभ्युदय के स्वयं निर्माता स्वयंभू थे। उन्होंने प्राणि—मात्र का कल्याण किया। जिस तरह चन्द्रमा अपनी किरणों से रात्रि के अंधकार को दूर करता है उसी तरह उन्होंने अपने केवल ज्ञान के वैभव रूप प्रकाश से ज्योतिर्मय नेत्र के द्वारा जीवों के बाह्य और आभ्यंतर अंधकार को दूर किया।

प्रजापतिर्यः प्रथमजिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदाम्बरः ॥

उस प्रभु ने अपनी राज अवस्था में जन नायक बनकर जीवन चर्या से अनभिज्ञ आजीविका की इच्छुक प्रजा को कृषि, मसि, असि (कृषि—विद्या, शास्त्र विद्या, शस्त्र विद्या) आदि विद्याओं की शिक्षा दी, प्रजा का नीति पूर्वक शासन किया। फिर प्रबुद्ध तत्व ज्ञानी बनकर उन्होंने ममत्व को, मोह राग और द्वेष को छोड़ दिया और केवल ज्ञान रूप अद्भुत उदय (परमोदय) को प्राप्त किया।

विहाय यः सागर—वारि—वाससं, वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥

विरक्त होकर इक्ष्वाकुवंश के अग्रज, महान सहनशील (परिषह—विजेता) अच्युत (अपने लक्ष्य में अडिग) मुक्ति—श्री के कांक्षी उस प्रभु ने अपनी पतिव्रता भार्या के समान, महासागर तक विस्तृत पृथ्वी—स्त्री का (संपूर्ण राज्य विस्तार के वैभव का) परित्याग करके प्रकर्ष मुनि—दीक्षा ग्रहण की।

स्व दोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभुव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥

अपनी समाधि (आत्म—ध्यान) के तेज से अपने दोषों के मूल मोहनीय आदि कर्म जाल को प्रभु ने भस्म कर दिया। आत्म हित के जिज्ञासु जगत् के लिए फिर समस्त तत्त्व का अपनी

दिव्य वाणी से प्रवचन किया । उसके बाद ब्रह्म पद के अमृत (अक्षय आनन्द) के धनी अमर परमेश्वर बने ।

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्र विद्यात्मवपुर्निरंजनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनोजितः क्षुल्लक वादि शासनः ।।

वह सर्वज्ञ सर्वदृष्टा श्रेष्ठ जनो द्वारा संपूज्य, सब विद्याओं के जनक (आदि गुरु), निरंजन सब वादियों पर शासन करने वाले अन्तिम कुलकर नाभि–महाराजा के सुनन्दन भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ मेरे चित्त को पवित्र और निर्मल करें ।

(आ० समन्त भद्र—स्वयंभू–स्तोत्र)

जिनवाणी--शारदा वंदना

(२)

राग वागेश्वरी त्रिताल

वागीश्वरीं वन्दे देवीम् ।
जिनवर कण्ठस्थां बन्दितां सिद्धिदां, सदावरदां ब्राह्मीम् ।
ज्ञानकरां शारदां नित्यां, शुभां शुभदां ।
शुद्धां मतिदां, तां वीणा हस्तां वाणीम् ।।

१—अतीन्द्रिय सुखमय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महा समाधियाँ, वर्ण तथा अवर्ण मय, लेश्या सहित तथा लेश्या मुक्त ध्यान, एवं अन्य महत्वपूर्ण, अभ्यास तथा परमात्मा के विकास की विधि

- आत्मा की सचाई उसकी निर्मल गुण-क्रिया में तथा मान्यता में
- आत्मा वस्तु का निषेध कौन और क्यों करते है
- आत्मा की धर्म की दिशा चिन्तन की दिशा
- चिन्तनीय तत्व का स्वरूप और उसका वीतरागी अतीन्द्रिय सुख
- अलौकिक सुख के संदर्भ में आत्म-रति और संभोग रति
- अतीन्द्रिय सुख मय शून्य (रागादि विवर्जित) महासमाधि अर्थात् शुक्ल ध्यान
- निरालम्ब निर्विकल्प (राग-शून्य) भाव-क्षण की महत्ता
- अध्यात्म सुख रूप फल तप स्तर पर, न कि वासना राग व भोग मय मैथुन स्तर पर
- अमृत भोग ही अमृत भोग
- आत्म-रति स्व-ज्ञान में ज्ञान मयी क्रीडा
- यथार्थ सुख आत्मलीन क्षण में
- अक्षय सुख का रहस्य निर्विकल्प आत्म-उपयोग
- क्या संभोग से समाधि सम्भव ?
- उन्मुक्त वासना मय यौन सम्बंधों में मानव की बर्बादी
- ब्रह्म-विहार के नाम पर व्यभिचार का तांडव
- संयम पवित्र विवाह तथा ब्रह्मचर्य की महत्ता
- उर्ज्जस्वल प्राण शक्ति का रहस्य ब्रह्मचर्य, शिव-आत्मा और पार्वती-प्रज्ञा का विवाह
- निर्विकल्प महा समाधि के महत्त्व पूर्ण अभ्यास

- शब्द की साधना, नाद की साधना, और परा की साधना
- शब्द-साक्षात्कार से साक्षात्कार करने वाले पर आइए
- सविकल्प धर्म ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया
- निर्विकल्प क्षण में सम्यग्दर्शन का परिचय
- उत्प्रेरक काम-शक्ति प्रवाह को अध्यात्म में मोडिए
- महा फला वीतराग मुद्रा
- अमनस्क भाव वृत्ति
- अनन्त, पूर्ण, शून्य और सम्यक्
- वर्ण और अवर्ण मय; लेश्या सहित और लेश्या मुक्त ध्यान
- सप्त सर्वज्ञ मंडल और भ० अरिहंत का अंतरिक्ष मंडल
- लेश्यादि ध्यान से मानसिक एवं आध्यात्मिक संवेदनाओं से मुक्ति
- निर्मल ध्येय के चिद् भाव अनुभव से सहज सुखामृत
- औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक तथा पारिणामिक भाव
- परिणामिक भाव का लक्षण
- चेतन और अचेतन पदार्थ का पारिणामिक भाव
- पारिणामिक भाव ही भाव-ध्येय
- द्रव्य और भाव मुक्ति, भाव मुक्ति के एकार्थक शब्द
- परमात्मा का लक्षण और भेद
- कारण-परमात्मा का लक्षण
- कार्य-परमात्मा (अर्हन्त और सिद्ध परमेश्वर)
- ज्ञायक कारण-परमात्मा और कार्य परमात्मा की उपयोगिता
- कार्य-परमात्मा होने की विधि
- आत्मा ही परमात्मा
- भगवत्-स्वरूप क्या ?
- ईश्वर क्या ?
- परमार्थ के एकार्थक शब्द
- निर्विकल्प समाधि के एकार्थक शब्द

मान्यता और निर्मल गुण क्रिया में आत्म तत्त्व जीवन की सचाई

भारतीय मनीषी जनों ने वस्तु स्वभाव का गहरा चिन्तन करके यह पाया है कि वस्तु की अभिव्यक्ति या परिणमन वस्तु का अनित्य पक्ष है और उसका एक पक्ष ऐसा भी है जो शाश्वत है–जो सब अभिव्यक्तियों, परिणमनों तथा उसके सर्व–गुणों का अजस्त्र आधार है, वही उसकी सब धाराओं का आधार है, स्रोत है। वही वस्तु का मूलगत अक्षय स्वभाव है जिसकी खोज में ही उस वस्तु का निर्मल अव्यय धर्म हस्तगत होता है। ये ही वह उत्कृष्ट तत्त्व है। अतः वह सदा आधुनिक है। आत्म वस्तु के निर्मल गुण, ज्ञान, ज्योति, समता, करुणा, सत्यता, शांति, तेजस्विता आदि की कथा भी अतः सदा ही आधुनिक मूल्य रखती है।

आत्म वस्तु कपोल कल्पित नहीं है। यदि कल्प~~ग्रा~~ला भी कहें तो भारतीय मनीषियों की बिन्दु (शून्य) की कल्पना के ही समान यह अलौकिक है। शून्य की कल्पना के आधार पर सारे गणित का विकास हुआ। और आज का यान्त्रीकरण तथा टैकनोलाजी भी उनकी ही परिगणना का कृतज्ञ है। न भूलिये कल्पना भी चिन्तन का, ज्ञान का ही एक स्वरूप है। चिंतन होना यह चेतना पदार्थ का ही गुण है। वह चेतना पदार्थ ही विश्व में उत्कृष्ट और सर्वोपरि तत्त्व है। जिनको आत्मा शब्द से एलर्जी है वे कहते हैं कि शरीर के अलावा आत्मा तो मात्र कल्पना है, आत्मा को साबित करिए—तो हम आत्मा को मानें। पर ये लोग भूल जाते हैं कि कल्पना एक अद्‌भुत शक्ति है—अद्‌भुत प्रक्रिया है और इसने ही भौतिक जगत में "शून्य" को जन्म दिया है और अध्यात्म जगत में आत्मा की मान्यता को निष्ठा को आस्था को। यह कल्पना भी हमारी चेतना का अंग है। तथा जैसे विद्युत शक्ति को रोजमर्रा हम अपने कमरों में अपने हीटर या पंखों को चलाने के काम में लेते है, क्या वह किसी को दिखा कर साबित की जा सकती है ?

वैसे ही आत्मा भी अलक्ष यथार्थ वस्तु है। किसी भी अलक्ष वस्तु की जानकारी उसकी क्रिया से ही होती है। ज्ञान और संवेदन का होना आत्मातत्त्व की पहचान है। तो इसकी क्रिया को व इस क्रिया के कर्ता को क्या नकारा जा सकता है ? "द्रव्ये गुणक्रिये।" द्रव्य वही है जिसमें गुण है और गुण की क्रिया हो। आत्मा में यह लक्षण घटित होता है। जिस प्रकार बिन्दु की मान्यता पर सारे भौतिक विज्ञान के सत्य घटित तथा प्रमाणित होते हैं, वैसे ही आत्मा की मान्यता में ही अध्यात्म विज्ञान का सारा ज्ञान मय आत्मा भी घटित तथा सत्य प्रमाणित होता है। मान्यता में ही जीवन की सारी सचाई का साक्षात् होता है।

आत्मा का निषेध कौन करते है ?

वस्तुतः आत्म तत्त्व के धर्म मय सद्‌गुणों तथा शुद्ध परम स्वरूप के मनन से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उनको अपने जीवन में न ढाल कर कुछ लोग मानव मन के दुर्बल पक्ष से सामाजिक

आर्थिक आदि स्थितियों में उत्पन्न विसंगतियों को धर्म के मत्थे मढ़ते हैं और धर्म को अफीम की गोली कहते है, धर्म के दश लक्षणों को, तप, त्याग, और ध्यान को भी कोसने लगते हैं।

रहस्य यह है कि धर्म सभी प्रकार की मूढ़ताओं का, दकियानूसी अंध विश्वासों का, बिचोलियों का, अविवेक पूर्ण कार्यों का, तर्काभासों का पर्दाफाश करता है, विवेक और हेयोपादेय की जागृति के लिये प्रेरणा देता है। ज्ञान नेत्र को उन्मीलित करता है—सच्चारित्र पुरुष बनने के लिये जोर देता है, सत्ता, धन, पद को ज्ञान, त्याग और सेवा के सम्मुख गौण बताता है। अतः ये लोग धर्म से भयभीत हैं क्योंकि इन्होंने धर्म के नाम पर ठेकेदारी, सत्ता व मठ चला रखे हैं और आम आदमी को आधुनिकता के नाम पर आत्मा का ही निषेध करने के लिये उकसाते रहते हैं और उन सब अयुक्तियों को दोहराते रहते हैं, जिन्हें मनीषीगणचार्वाक मत के वाद से बराबर अप्रतिष्ठित करते रहे हैं। ये ही लोग कहते हैं–धर्म कोई तत्त्व नहीं, ध्यान से कोई शांति नहीं मिलती, देह से अधिक कोई तत्त्व नहीं, ये सब कपोल कल्पना है आदि आदि। ऐसे तथा–कथित मानव हितैषियों का एक वर्ग सदा से रहता आया है—जो आम आदमी को भ्रमित रख कर सदा से शोषण करता आया है।

ज्ञान और संवेदनात्मक आत्म तत्त्व को नकार देने पर सिवाय जड पुद्गल अचेतन के कुछ नहीं रहता और फिर सब ज्ञान विज्ञान आदि क्या शेष रह जाते हैं? इस तत्त्व को आत्मा कहने की यदि इन्हें एलर्जी है तो वे इसे किसी भी नाम से कहें, नाम भेद से क्या वस्तु भेद हो जायगा?

ऐसे भ्रमित करने वाले जनों की तरफ से धर्म के नाम पर ठगी चलती है। उन्मुक्त यौन संबंध, संभोग से समाधि, बिषय-विहार ही ब्रह्म-विहार, इन्द्रिय सुख से परे अतीन्द्रिय सुख कोरी कल्पना आदि आदि बातें प्रचलित की जाती हैं। इनके विचार प्रचार और विरोध के स्वरों में तर्क नहीं–तर्काभास है, युक्ति नहीं अयुक्ति है, विषय पोषण है, अनादि से मन में बैठे पशु का पोषण है इनके निहित स्वार्थ हैं, पक्षपात है, दुकानदारी है।

ये लोग विश्व में निर्विकारता, वीतरागता, अपरिग्रह, सत्य आदि सब आत्म-गुणों का ही मूलोच्छेद करना चाहते है। आत्मा शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं तो मात्र शरीर का, विषयों व इन्द्रियों का भोग ही रह जाता है। यह पशु स्तर नहीं है तो क्या है?

धर्म की दिशा क्या है?

चिन्तन की दिशा है, धर्म की दिशा विषय नहीं है। विषयोपरक्त होने से ही मानव में सर्व प्रकार के दुर्गुण और विकारों का जन्म होता है। भोग ही अनन्त रोग है। "भोगो न मुक्ताः, वयमेव मुक्ताः"—भोगी स्वयं ही चुक जाता है। विज्ञान के नाम पर भी धर्म का निषेध किया जाता है, पर सच्चाई यह है कि विज्ञान ने विगत दशकों में जितना नर संहार किया है उतना तो पृथ्वी पर पहले कभी नहीं हुआ। बढ़ता प्रदूषण भी विज्ञान की देन ही रहा है। पर धर्म तो मानव को शांति व सुख के प्रकम्पनों से व ज्ञान

चिंतन से एकमात्र सुखी ही करता है। सचाई यह है कि उत्कृष्ट चिन्तन तथा उससे प्राप्त उत्कृष्ट तत्त्व एक मात्र यह है कि जीवात्मा का चरम विकास बिन्दु स्वयं आदमी ही है। इसी सचाई में उसके प्रगतिशील विकास तथा समाज रचना का रहस्य है और इसी में उसके ज्ञान और निर्मल निर्विकारता का भी रहस्य है जो उसी के स्वाधीन है। ऐसे लोकोत्तर आत्म तत्त्व की पहचान धर्म की देन है। धर्म की इस दिशा को जानना होगा, प्रकाशित करना होगा।

चिन्तनीय तत्त्व का स्वरूप और वीतराग अतीन्द्रिय सुख

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते।
तत् तत्वं तत्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर–निराशिभिः ॥

जिसके चिन्तन करने पर विकार निर्विकार को प्राप्त होते हैं, वही तत्त्व वस्तुतः चिन्तनीय है पर यह चिन्तन किन को सम्भव है? कहा गया है कि चिन्ता संतति का अभाव कर देने में—यानी चित्त को स्थिर और एक-निष्ठ कर लेने में जो समर्थ हो गये है, वे ही निर्विकारता को उद्‌भव करने वाले तत्त्व का चिन्तन कर सकते हैं, निर्विकारता ही में वीतरागता तथा आत्मा का निर्मल परिष्करण प्रतिफलित होता है। आत्मा की स्वरूप निर्मलता में ही अतीन्द्रिय वीतराग सुख है,—जो अन्तर सुख है, बाह्य विषयों का वह सुख नहीं है। उसके सुख के लिए पूर्णतः अपने अंतरंग में ही स्थिर होना चाहिए। जहाँ वस्तु है, वहीं उसकी तलाश होनी चाहिए! आत्म-निष्ठ धर्म की कसौटी तप संयम वीतरागता है। यही वीतराग सुख योगियों को ध्यान समाधि में अनुभूत होता है और यही मुक्त आत्माओं में भी रहता है।

"समस्त विकल्प जाल से रहित परम समाधि में स्थित परम योगियों को वह अतीन्द्रिय सुख विशेषता से समाधि काल में निर्विकल्प स्व संवेदन गम्य होता है और मुक्त आत्माओं का वह अतीन्द्रिय सुख अनुमान और आगम से जाना जाता है।"—(स. सा. आ.–४१५/५१०/७) निर्विकल्प का अर्थ है जो मोह व राग की कल्पना से रहित हो, परन्तु ज्ञान धारा से चैतन्य हो। ध्यान का अर्थ ही चैतन्य वृत्ति है। इस जैन योग में जड़ या बेहोश हो जाने रूप समाधि की तथा ईश्वर-कल्पना की मान्यता नहीं है। इनका तो पूर्ण निषेध ही किया गया है। सुषुप्ति को यहां ध्यान नहीं माना है। वीतराग ज्ञान धारा को ध्यान माना गया है। और वही अतीन्द्रिय सुख रूप है। राग मोह तो दुःख रूप है—बन्धन में डालने वाले हैं। सुषुप्ति अर्थात् अपने आप से बेहोशी, अपने आप में मोजूद न होना, सजग न रहना, ध्यान का स्वरूप नहीं है। जब मनुष्य अपने आप में सजग एवं मोजूद होता है तो वह न अज्ञान में होता, न किसी कषाय आदि में होता, न काम या कामना के वशीभूत होता, वह तब निर्विकार ही रहता है, आत्म-सुख में ही रहता है;

तन्मोहस्यैव महात्म्यं विषयेभ्यो यत्सुखम्।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तंद्विजृम्भतम् ॥

योग सार प्रा. ९/३२)

यच्चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम् ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मानाम् ।।[1]

इन्द्रिय-विषयों से जो सुख माना जाता है वह मोह कर्म का ही महात्म्य है । पटोल (कटु-वस्तु) भी जिसे मधुर मालुम होती है तो वह उसके श्लेष्मा (कफ) का माहात्म्य है । देवताओं तथा चक्रवर्ती राजाओं का ऐश्वर्य-सुख निर्मल उत्कृष्ट आत्माओं के आत्म-सुख की एक कला (बहुत छोटे अंश) के बराबर भी नहीं है ।

अलौकिक सुख के सन्दर्भ में आत्म रति और संभोग रति

आत्म-सुख और भोग-सुख की तुलना करते हुये "भगवती–आराधना" में आत्म-रति के अलौकिक सुख की श्रेष्ठता का वर्णन इस प्रकार किया गया है ।

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमणं परायत्तं ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ।।[2]

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ।।[3]

स्वात्मा में रमने के लिये अन्य-द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है, भोग रमण में अन्य पदार्थ का आश्रय लेना पड़ेता है । अतः इन दोनों रतियों में साम्य नहीं है । भोगरति से विरत रहने पर ही अध्यात्मरति से भ्रष्ट नहीं होता । अध्यात्मरति का अलौकिक स्तर दैहिक भोग रति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है । विषय भोगों में लिप्त होने पर नियम से ही आत्मिक गुणों का ह्रास होता है, तथा उसमें अनेक उपद्रव तथा विघ्न भी हैं । परन्तु आत्मा का आत्मा में विलास उत्कृष्ट अभ्यास है, और वह आत्मा को ऊँचा उठाता है और कोई विघ्न या उपद्रव भी नहीं होते । भोगरति नश्वर तथा दुःखों से युक्त है पर आत्मरति अविनश्वर और निर्विघ्न है ।

वास्तव में तो वीतराग तटस्थ भाव में साम्यरस मय अतीन्द्रिय सुख का वेदन होता है । समाधि में प्राप्त आत्म-सुख निजाधीन निराकुल निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुख हैं जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में परिणमन करता हुआ स्वयं सुख रूप रहता है । संभोग रति में सुखाभास है, जो परतन्त्र, व्याकुलता से व्याप्त, परिसीमित, इन्द्रियाधीन है । जीव को प्रकृति ने जब देह बन्धन दिया तभी उस बन्धन को दृढ़ और सदा बने रहने रूप करने के लिये इन्द्रियों तथा इन्द्रिय-विषयों को भी जीव के समक्ष किए । अतः इसी हेतु मिथुन संसार, और उसके परस्पर पूरक हारमोन्स व ग्रन्थि रस प्रवाह भी मानव देह में नियत हैं जो लैंगिक आकर्षण तथा यौन भावों को व राग व मोह को उत्तेजित करते हुए

---

1. तत्त्वा. अनु.२४५–२४६
2. भगवती आराधना १२७७
3. भगवती आराधना १२७८

काम और संतान उत्पत्ति के हेतु हैं जिनसे व्युपरत होकर अथवा उनको नियन्त्रित करके संयम से ही मानव अपने स्वरूप की तरफ आ सकता है।

समाधि सुख की आधार-भूमि उस स्थिति से प्राप्त होती है—जिसे शुक्लध्यान कहा जाता है। स्व केन्द्र में निश्चय ज्ञान भाव पूर्वक अडोल स्थिति हो तथा केन्द्र के बाहर पर्याय परिधि में राग भाव न हो,—ऐसे अति गहन रूप से स्व-भाव बिन्दु में मग्नता, रमणता तथा अवस्थिति उत्कृष्ट शुक्लध्यान की भूमि है। ऐसी केन्द्रस्थ अवस्था ही शून्य या बिन्दु स्वरूप है। ऐसी विन्दु (स्वरूप) भावना में अवस्थिति को अर्हंतपरमेश्वरों ने शून्य-ध्यान रूप उत्कृष्ट योग की भूमि माना है। कारण कि राग से शून्य बिन्दु-भाव में कभी विषमता अर्थात् घट बढ़ ऊँच-नीच नहीं होती, सदा साम्य रहता है।

अर्हंत् शासन का अतीन्द्रिय सुख रूप व शून्य (रागादि विर्वजित) महासमाधि अर्थात् शुक्ल ध्यान

रागादिभिः वियुक्तं गतमोहं तत्व परिणतं ज्ञानम्।
जिन शासने भणितं शून्यं इदमिदृशं मनुते ।।४१।।

इन्द्रिय विषयातीतं अमन्त्र तन्त्र अध्येय धारणकम्।
नभसदृशमपि न गगनं तत् शून्यं केवलं ज्ञानम् ।।४२।।

नाहं कस्यापि तनयः, न कोऽपि मे आस्ते अहं व एकाकी।
इति शून्य ध्यानज्ञाने लभते योगी परं स्थानम् ।।४३।।

मन वचन काय मत्सर ममत्व तनु धन कलादिभिः शून्योऽहं।
इति शून्यध्यानयुक्तः न लिप्यते पुण्यपापेन ।।४४।।

शुद्धात्मा तनुमात्रः ज्ञानी चेतन गुणोऽहं एकोऽहम्।
इति ध्याने योगी प्राप्नोति परमात्मकं स्थानम् ।।४५।।

आभ्यन्तरं च कृत्वा बहिरर्थं सुखानि कुरू शून्य तनुम्।
निश्चिन्तस्तथा हंसः पुरुषः पुनः केवली भवति ।।४७।।

अर्थात्—रागादि से मुक्त, मोह रहित, स्व-परिणत ज्ञान ही जिन—शासन में "शून्य" कहा जाता है। इन्द्रिय विषयों से अतीत, मन्त्र, तन्त्र तथा धारणा आदि रूप ध्येयों से रहित, जो आकाश न होते हुये भी आकाशवत् निर्मल है, वह ज्ञान मात्र "शून्य" कहलाता है। मैं किसी का नहीं, पुत्रादि कोई भी मेरे नहीं, मैं अकेला हूँ, ऐसे शून्य ध्यान के ज्ञान में योगी परम स्थान को प्राप्त करता है। मन वचन काय मत्सर ममत्व शरीर धन-धान्य आदि से मैं शून्य हूँ—इस प्रकार के शून्य ध्यान से युक्त योगी पुण्य पाप से लिप्त नहीं होता। मैं "शुद्धात्मा चिन्मय शरीर" मात्र हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन गुण स्वरूप हूँ, एक हूँ,

इस प्रकार के ध्यान से योगी परमात्मा स्थान को प्राप्त करता है। आभ्यन्तर को निश्चित करके तथा बाह्य पदार्थों सम्बन्धी सुखों व शरीर को शून्य करके पुरुष हंस समान तदनन्तर निर्मल हुआ आत्मा केवली हो जाता है।

सब अवलम्बनों से मुक्त शून्य ध्यान आनन्द भरित आत्म ध्यान है

इन्द्रिय विषयों से अतीत "शून्य" ध्यान के स्वरूप का वर्णन "आचार-सार"—७७–८१ में हुआ है :—

जायन्ते विरसारसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं।
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमणात् प्रीतिः शरीरेऽपि च ।।

यत्र न ध्यानं ध्येयं ध्यातारो नैव चिन्तनं किमपि।
न च धारणा विकल्पस्तं शून्यं सुष्ठु भावये ।।

शून्य ध्यान प्रविष्ठो योगी स्व सद्भाव सम्पन्नः।
परमानन्दास्थितो भूतावस्थः स्फुटं भवति ।।

तास्त्रिकमयोह्यात्मा अवशेषालम्बनैः परिमुक्तः।
उक्तः स तेज शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वथा शून्यः ।।

यावद् विकल्पः कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यान युक्तस्य।
तावन्न शून्यं ध्यानं चिन्ता वा भावनाथवा ।।[1]

सब रस (विषय रस) विरस हो जाते है, कथा गोष्ठी व कौतुक विघट जाते हैं, इन्द्रियों के विषय मुरझा जाते हैं तथा शरीर में प्रीति भी समाप्त हो जाती है। जहाँ न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है, न कुछ चिन्तवन है न धारणा का विकल्प है, ऐसे "शून्य" को भली प्रकार ध्याना चाहिये। शून्य ध्यान में प्रविष्ट योगी स्व स्वभाव से सम्पन्न, परमानन्द स्थित तथा प्रगट भरितावस्था वत् होता है। ज्ञान दर्शन चारित्र इन तीनों मयी आत्मा निश्चय से अवशेष समस्त अवलम्बनों से मुक्त हो जाता है। इसीलिये वह "शून्य" कहलाता है, सर्वथा शून्य नहीं है। ध्यान युक्त योगी को जब तक कुछ भी विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक वह "शून्य" अर्थात् शुक्ल ध्यान नहीं, वह या तो चिन्ता है या भावना है।

स्व शरीर की क्रियाओं को कायोत्सर्ग क्रिया में शून्य करके तथा ध्येय स्वरूप में आविष्ट होकर तत्स्वरूप तत्सदृश हो जाना ही "शून्य" ध्यान है। कायोत्सर्ग क्रिया जैनों की निगूढ़ यौगिक संज्ञा है। यह मात्र खड़े होकर णमोकार को नौ दफा पढ़ना नहीं है। इसमें विशेष क्रिया अभ्यास से देह से

---

[1] आचार सार ७७–८१

विदेह होते हैं। सारे ध्यान-अभ्यास इस कायोत्सर्ग मुद्रा में ही किये जाते हैं और किये जाने चाहिए। यह सर्व ध्यानाभ्यासों के लिए द्वार स्वरूप है।

यदा ध्यान बलाद् ध्याता शून्यीकृत स्वविग्रहं।
ध्येय स्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयं।।[1]

"शून्य" ध्यान में चिन्ता का अभाव रहता है परन्तु तब भी उसमें आत्मा के दर्शन व ज्ञान गुण का अभाव नहीं होता, उस की साम्य रूप से स्थिति रहती है और वह स्व संवेदन का ही स्वरूप है। कारण कि प्रत्येक वस्तु में भाव तथा अभाव, अस्ति व नास्ति रूप धर्म होता है। अतः चिन्ता का अभाव नास्ति या असत् रूप नहीं होता। यह भी सत् रूप ही होता है।

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्या दृशां इव।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः।।[2]

चिन्ता का अभाव भी तुच्छ (असत्) नहीं होता। क्योंकि तब भी स्व आत्मा का स्व में अपने दर्शन ज्ञान स्वभाव का संवेदन होता रहता है। ऐसे चिन्ता के अभाव में साम्य रूप से स्व अवस्थिति ही रहती है। वस्तुतः शून्य का साधन अनेकता से एकता पर, विविध अनात्म (राग-मोह कषाय आदि के) भावों से एक ज्ञान भाव पर आने का ही साधन है।

अवलम्बन-विवर्जित "शून्य भाव" की महिमा

शून्य का भाव कालातीत (Ageless or Timeless) व अनंत आकाश (endless Space) में एक ऐसे अमूर्त्त निर्विकल्प स्व क्षण को ही अंकित करता है जो अपने आप में अभूतपूर्व, अनुपम तथा स्थायी होता है। इस स्व समय के क्षण को ही पकड़ पाने के लिये, ज्ञानाविष्ट होने के लिये चित्त को परिष्कृत, निर्मल व अन्य पदार्थों व भावों से रिक्त, "शून्य" करने के प्रयोजन से ही साधनायें हैं। वह क्षण आत्म रति व आत्म क्रीड़ा का क्षण होता है—यानी स्वरूप से तदाकारता रूप रमण का ही है। आत्म स्वरूप ध्रुव समय है, अनन्त है। इस ध्रुव समय में ही क्षण परम्पराओं के रूप में पर्याय की अभिव्यक्ति हैं, क्षण ही ध्रुव समय में समर्पित होते रहते हैं। पर्याय रूप जीव का आत्मा में संलीन होना—या समर्पण होना तब ही है जब वह आत्मा में ही सजग रहे।

जब अन्तर में प्रपात रूप में ही पर्याय के स्व लीन क्षणों का समर्पण व पतन होने लगता है, जिसमें क्षण परम्परा तो अविरल है, पर उन काल-खण्ड़ों को अतिक्रमण करके नित्य सजग ज्ञान रूप

---

[1] तत्वानु. १३५

[2] तत्वानु. १६०

अडोल शांत अविस्थिति रहती है और स्व में निमग्न योगी उनमें उन्मग्न नहीं होता, तब वही निर्विकल्प शुद्ध व मुक्त आनन्द अवस्था है।

आत्म-क्रीडा की उस कालजयी दशा को कई प्रकार से कहने व समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसे ही अद्वैत कहते हैं। बौद्ध इसे शून्य एवम् बोधि-चित्त (Enlightenment) कहते हैं। जैन इसे सम्यक् दर्शन कहते हैं, जो कैवल्य में विकसित होता है।

अध्यात्म-उत्कर्ष मैथुन स्तर पर नहीं, तप स्तर पर

सामान्य जन दैहिक-क्रीड़ा रूप मैथुन संज्ञा को ही मोह वशात् अनादि काल से जानता है, और उसी में ही सुख मानता आ रहा है। परन्तु स्व-आत्मा की स्वभाव-क्रीड़ा को उसने न समझा और न अब तक भोगा ही है। आहार मैथुन भय और परिग्रह रूप चार संज्ञाएं (Instinct) अज्ञानी को अनादि से है। अज्ञान जनित संज्ञा के स्थान पर ज्ञान व चैतन्य जन्य विवेक सहित स्वभाव क्रीड़ा में आनन्द मग्न होना योगियों के ही वस्तुतः वश की बात है। देह की भूख एक प्राकृत भूख है, पर यह भी स्मरणीय है कि हर अति भूख तो एक बिमारी ही है। पर योगी जन तो देह स्तर से ऊपर स्तर पर जीना सीखते हैं। बौद्ध संतों ने देहके व देह-क्रीड़ा के इडीयम (Idiom) से सांसारिक जनों को आत्म-क्रीड़ा के निर्विकल्प व शून्य क्षण-अवस्था को बताने का प्रयास किया। यह प्रयास परिचित से अपरिचित को समझाने का था, परन्तु सामान्य व्यक्ति परिचित के ही परिचय में सीमित रह गया और अपरिचित परिचित न बन सका।

जैन संतों ने देहभाव से आत्म-भाव को समझाने का कभी प्रयत्न नहीं किया। वे देह व आत्मा को सदा ही विसदृश तत्त्व कहते रहे हैं। दोनों की दिशायें छत्तीस (३६) संख्या के अंकों के समान विपरित ही मानी है। अतः उन्होंने आत्म-क्रीड़ा के अलौकिक सुख को भोगरति के सुखाभास से कभी वर्णन नहीं किया, अलौकिक का वर्णन लौकिक प्रतीकों से नहीं किया, लौकिक प्रतीकों को सदा हेय या गौण ही कहा है। उन्होंने यह स्पष्ट संकेत किया है कि देह क्रीड़ा व संभोग से हट जाने पर ही तथा आत्म रति की दिशा ग्रहण करने पर ही इस विश्व में ऐसा कौन सा व क्या सुख नहीं है, जो आत्म-निष्ठ शुद्धात्मा को प्राप्त न हो जाए! संभोग से समाधि असंभव है। असंभव है कि वासना व देह की राग-ज्वाला संभोग से क्षय हो जाए। भोग मय जीवन में अध्यात्म उत्कर्ष नहीं हो सकता, वह तो तपोमय जीवन का ही प्रतिफल होता है।

आत्मरति एवम् सम्भोगरति के सम्बन्ध में जैन दृष्टि—बहुत स्पष्ट रूप से तप तपोभय तथा तटस्थ जीवन की ही उत्कृष्टता स्वीकार करती है। वह आत्मा की ज्ञान दिशा में ही पुरुषार्थ रूप तप की प्रधानता करती है, न भोग या वासना तुष्टि या वासना दमन ही को यह प्रश्रय देती है। यह उस ज्ञान को देती है जिसमें वासनाएँ तरंगित ही नहीं होती, एक मात्र सम प्रशांत भाव ही विद्यमान रहता है, जो निर्लिप्त वीत मोह और सजग होता है।

अमृत का भोग ही भोग

जहाँ उपनिषद् में "ब्रह्ममश्नुते" में ब्रह्म के भोग का वर्णन है, वहाँ जैनों में 'अमृतमश्नुते' अमृत का भोग वर्णित हुआ है। जैन रागादि भाव विवर्जित निर्मल आत्मा के ज्ञानास्वाद को अमृत का भोग कहते हैं।

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधि विवर्जितम्।
आत्मानमात्मा ज्ञात्वा तिष्ठेद् आत्मनि यः स्थिरः।
स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवाऽर्हत् जगन्नाथः स एव प्रभूरीश्वरः।[1]

अर्थात्–जो अपने आत्मा को अज (अजन्मा), एक (निर्मल) वा एक रूप, परं (उत्कृष्ट), शान्त; सर्वजागतिक प्रपंचों, उपाधियों, क्लेश रागादिक से रहित जानकर अपने ही आत्मा में स्थिर विराजमान रहता है, अत्मानुभव को निर्विकल्प होकर प्राप्त रहता है, वह ही अमृत के मार्ग में स्थिर है, वही अमृत रस का पान व भोग करता है। वही त्रिलोक पति ईश्वर, प्रभु तथा अरिहंत परमेष्ठी है

आत्मा का वीतरागी ज्ञान रस ही अमृत रस है। वीतरागी के लिए ही अमृत भोग है। अमृत भोग ही अमृत भोग है।

आत्मरति–स्व में ज्ञानमयी क्रीडा है

आ० श्री पद्म नंदी ने स्व आामा में अपने ही आत्मा के आश्रय से स्थिर निर्विकल्प विराजने रूप ज्ञानमयी क्रीड़ा को ही अज्ञानमयी अनात्म मैथुन-क्रीड़ा से भिन्न व विलक्षण कहा है।

आत्मा ज्ञानी परममलं ज्ञानया सेव्यमानः।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥

सर्वमिदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्त्यागी न हि ख कुसुमं क्वापि कस्यापि॥[2]

आत्मा ज्ञान स्वरूप है—इस आत्मा में क्रीड़ा करने पर परम निर्मल ज्ञान को ही प्रदान करता है। परन्तु यह देह तो अचित् है, अतः इसकी सेवा या इसमें रमण तो घोर अज्ञान को ही देता है। यह जगत् प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है, वही दिया जाता है, कोई भी दानी आकाश कुसुम को किसी को भी नहीं दे सकता है।

---

1. आ० श्री पद्मनंदी पंचविंशति का १८–१९
2. आ० अमितगति तत्व भा–४५

इन्द्रिय-संयम, संतति निग्रह, परिवार-नियोजन, ग्रावादीं-विस्फोट, ग्रार्थिक-सम्पन्नता ग्रादि से तो जुड़ा ही है—पर यहां ग्राध्यात्मिक दृष्टि कोण से ही विचार की प्रधानता है।

यथार्थ सुख ग्रात्मतल्लीन क्षण है

कामिनी-रति (भोग) से हटकर ग्रात्म-क्रीड़ा में चित्त-स्थिरता की बात को इस तरह ग्रा० ग्रमितगति ने कहा है—

षि
यद्वच्चितं करोर्पि स्मरशर निहतः कामिनी संग सौख्यं।
तदवत्त्वं चेज्जिनेन्द्र प्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विद्ध्यान ।।

किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदुःखप्रपंचं।
संचिन्तैव विधिस्त्वं स्थिर परम धिया तत्र चित्त स्थिरत्वम् ।।[1]

जिस प्रकार तू कामदेव के बाण से बिंधा हुग्रा कामिनी-भोग सुख की प्राप्ति के लिए एकाग्र होकर—उस क्रिया के ही ग्राकार का ग्रपने चित्त को कर लेता है; तल्लीन चित्त को करता है—यदि तू उसी तरह (उसी एकाग्र व तल्लीन चित्त भाव को) भगवत् जिनेन्द्र के मुक्ति मार्ग शुक्लध्यान में जोड़ दे, तो जन्म जरा मरण दुःखों के प्रपंच से रहित होकर क्या क्या न सुख को प्राप्त करे। ग्रतः इस विधि की संचिन्तना को ध्यान में रखकर उत्कृष्ट बुद्धि के द्वारा—तू ग्रपने निर्विकल्प चित्त स्थिरता रूप सौख्य भाव को ही प्राप्त हो।

ग्रक्षय सुख का रहस्य निर्विकल्प ग्रात्म उपयोग

यह मानव (पुरुष व स्त्री) काम के उद्वेग से पीड़ित होकर सैक्स (लैंगिक) संभोग रति में ग्रपने चित्त को तल्लीन व तदाकार करके उस रति क्रिया के मध्य सुखाभास के ग्रनुभूत क्षण को प्राप्त करता है वह भी निर्विकल्प होकर ही प्राप्त करता है (यद्यपि सुख का भास भी रतिःक्रिया में नहीं, चित्त के तदाकार व तल्लीन होने के निर्विकल्प क्षण से ही है) ग्रतः यह मानव निर्विकल्प क्षण के ही मर्म को समझ कर क्यों न यह ज्ञान प्राप्त करे कि यथार्थ सुख पराश्रित क्रिया में नहीं, ग्रपने चित्त के ग्राश्रय स्व चित्त के निर्विकल्प तदाकार भाव में प्राप्त होता है। वह चित्त में निर्विकल्पता के भाव के हेतु एकाग्रता व तल्लीनता मात्र को ही ग्रात्म साधनों में क्यों न जोड़ें? तब निर्विकल्प चित्त के उपयोग में उसे ऐसा कौनसा सुख है—जो प्राप्त न हो। उसे इससे तो ग्रक्षय सुख का ही रहस्य खुल जाएगा।

क्या संभोग से समाधि सम्भव ?

वस्तुतः ग्रानन्द ग्रात्मा का गुण है, ग्रौर वह ग्रात्मा से ग्रात्मा को ग्रात्मा में मिलता है। कोई भी सुख हो, चाहे विषय रति का हो चाहे ब्रह्म रति का हो उसकी प्राप्ति होती

---

[1] सुभाषित रत्न संदोह—४०६

है—पर-निमित्त से निर्विकल्प होते ही। इन्द्रिय सुख में भी इन्द्रियों तथा मन के निर्विकल्प होते ही सुख के क्षण की पराकाष्ठा आती है। लैंगिक रति में पांचो इन्द्रियां तथा मन सब के ही तल्लीन होने पर उपयोग से विश्राम तथा निर्विकल्प होने पर ही सुख की पराकाष्ठा हो जाती है। लैंगिक रति में यह विषय सुख इन्द्रिय निमित्त से है, पराश्रित है, अतः वास्तविक सुख नहीं है, क्षणिक सुखाभास है।

निर्विकल्पता का क्षण आत्मा में पर्याय के समर्पित होने से होता है तथा ऐसा होने से ही चित्त को सुख की प्रतीति भी होती है। अतीन्द्रिय सुख आत्मा में स्वभाविक है और वह अतीन्द्रिय सुख तो आत्मा में निरन्तर रह सकता है और निर्विकल्पता भी स्वाश्रय होती है। ऐसे अक्षय सुख के सामने विषयानन्द फीका, अल्प, तुच्छ और दुखकारी ही है। यह ही कारण है कि इन्द्रिय सुखसे तृप्ति नहीं होती, वासना ही अधिक प्रज्वलित होती है, उसका और अधिक अभाव लगता है। उसके उपभोग की शक्ति भी सीमित है और वह निरन्तर निर्बल और क्षीण होती जाती है।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि दीर्घकाल में संचित हो सकने वाली इस दैहिक ओजस, शक्ति को तथा वीर्य-बिन्दुओं को क्षणिक सुखाभास में अपव्यय कर दिया जाता है। विषय-भोग और यौन-समागम (संभोग) से वह निर्विकल्प और तल्लीन क्षण तो निरपेक्ष ही है। वह तो मात्र एकनिष्ठ चित्त की एक अवस्था मात्र है जो मानव को संभोग के लिये नहीं, समाधि और आत्म साक्षात्कार के लिये है।

निर्विकल्प चित्तावस्था की प्राप्ति को संभोग जैसी दुष्प्रवृत्ति से ही प्राप्त किया जाए—यह तो मानव का अज्ञान मात्र है। मैथुन संज्ञा तो पशु स्तर है—जब तक यह संज्ञा मानव में है—वह पशु स्तर पर ही है। उसमें और मानव में फिर क्या फर्क है? दोनों इस स्तर पर तो एक ही हैं।

यदि संभोग ज्ञानमयी समाधियों को देने लगा तो कभी पशु मानव से भी कहीं आगे ज्ञानी हो जायेगा क्योंकि उसमें मैथुन-संज्ञा मानव से भी तीव्र और अधिक है। संभोग से समाधि के हिमायतियों को हम तो उन्हें सावचेत ही कर सकते हैं कि कहीं उन्हें इस सम्बन्ध में पशु चैलेंज न कर दें।

निर्विकल्प चित्त के निर्माण का कहीं अधिक सुविधा जनक और अमोघ नुस्खा तो हमारे ऋषियों ने ही बता रखा है। हमें पाश्चात्य देशों की दुष्प्रवृत्ति या मध्यकाल के कूंडा पंथी भ्रष्ट अनाचार के प्रचार की आवश्यकता ही क्या है? यौन सम्बन्ध यदि उन्मुक्त होने लगे और विवाह एक पवित्र सम्बन्ध न रहा, तो हम फिर अंध पशु युग में ही चले जाएंगे। हम श्री सत्य-भक्त वर्धा वालों की "संभोग समाधि" प्रकरण "अवधूत की डायरी" में पाठकों को पढ़ने की प्रेरणा करते है। संभोग की समाधि का कुचक्रमय अन्तर्रहस्य पाठकों को इसे पढने से विदित होगा। कैसे तर्काभास तथा कैसी गलत विवेचना धर्म आगमों की इसके हामी करते हैं, किस प्रकार श्री कृष्ण योगेश्वर की अप्राकृत चिन्मय गोपी-लीला और राधा कृष्ण लीला की ओट में अशोभनीय भ्रष्ट लीला मायाराम जैसे लोग फैला देते हैं, इससे

समझदार लोगों की आंखें खुल जानी चाहिए। ब्रह्म विहार के नाम पर उन्मुक्त व्यभिचार के प्रचार के तर्काभासों के बाद उसी मायाराम के मुख से श्री सत्य-भक्त ने–सत्य के आलोक का प्रकाश किया है।

उन्मुक्त यौन सम्बन्ध प्रचार, वासना का प्रचार और इससे मानव की बर्बादी

"संभोग को समाधि मैंने कहा है, और वह लोगों को पसन्द आया—इसका कारण मेरा पाडित्य नहीं, मनुष्य में उग्र और अनियन्त्रित कामातुरता वा वासना है। ऋषि महर्षि पैगम्बरों ने सैकड़ों वर्षों के अनुभव के बाद यह तय किया कि मनुष्य को यदि स्वस्थ रखना है, सन्तान का अगर ठीक निर्माण करना है, नारी को उसके साथ पाप न करने के लिए उसे सुरक्षा देना है, सुख-शान्ति के लिए घर नाम से यदि आश्रय-स्थल का निर्माण करना है तो विवाह की प्रथा और उसकी पवित्रता परम आवश्यक है। विवाह न हो तो मनुष्य अनियन्त्रित और दीर्घ कालीन सम्भोग से निर्बल ही न हो जाएगा किन्तु गरमी आदि नाना बिमारियों का घर बन जाएगा। यौन विमारियां तो अधिक से अधिक पैदा होंगी ही, किन्तु एक दूसरे के संपर्क से विस्तार भी पायेंगी।

कपड़े सम्भोग के कार्य में थोड़ी आड या बाधा बने हुये हैं, पर उन्मुक्तता में यह आड या बाधा समाप्त हो जाएगी। हजारों वर्ष के अनुभव के बाद मनुष्य ने जो पशु जीवन से भिन्नता पैदा की है वह समाप्त हो जायेगी।

पशुओं में मादा अपनी सन्तान का पालन कर लेती है क्योंकि पशुओं में सन्तान निर्माण का काम है ही कितना सा! पशु का बच्चा मनुष्य के बच्चे से सौ गुणा समर्थ होता है। मनुष्य का बच्चा एक वर्ष में चलना फिरना भी नहीं सीख पाता है, जबकि पशु का बच्चा कुछ ही घंटों में व मिनटों में चलने फिरने लगता है। मादा ने उसे कुछ दिन दूध पिला दिया और हो गया निर्माण।

परन्तु मनुष्य के बच्चे के निर्माण के लिये उसे सुशिक्षित सुसंस्कारी बनाने के लिए १८–२० वर्ष तक साधना करनी पड़ती है। यह काम अकेली मादा नही कर सकती। उसके पास गृह, वस्त्र, कला-साधन, विद्या साधन आदि के असीम कार्य पड़े हुये हैं। अकेली मादा यह सब काम नहीं कर सकती।

विवाह न होगा तो सन्तान तो होगी पर पशु से बहुत अधिक, आज की तरह, विकसित न होगी। सारा बोझ नारी पर आ जायेगा जिससे वह सन्तान को जिन्दा तो रख सकेगी पर मनुष्य को विकसित अवस्था तक न पहुंचा पायेगी।

जिस दिन से समाज में विवाह प्रथा समाप्त हो जायेगी उस दिन से नारी तबाह हो जायेगी। बलात्कार से बचने में उसकी आधी शक्ति समाप्त हो जायेगी, सन्तान अनाथ हो जायेगी। विकास तो रुक ही जाएगा। सुख शांति सुरक्षा का स्थल घर तो वन ही न पाएगा। जिस कामुक स्वतन्त्रता के गीत प्रेम-प्रेम कह कर गाये जाते हैं, उसमें प्रेम का पता न होगा। प्रेम तो बलिदान चाहता है, संयम चाहता

है। सम्भोग-समाधि में प्रेम का क्या काम ? उसमें मनुष्य नित कामुक व नारी के प्रति गैर-जिम्मेदार व विश्वास-घाती होता है। यह सब मनुष्यता की. बर्बादी है।"

तथा कथित ब्रह्म विहार का तांडव क्यों ?

ब्रह्म विहार के नाम से व्यभिचार का तांडव क्यों ? आगे स्पष्ट किया गया है—

"इसलिए कि मनुष्य के भीतर अभी तक पशु बैठा है। धर्म शास्त्रियों ने और कानून ने उस पर कुछ अंकुश लगा रखे हैं। फिर भी उसकी कोशिश तो है कि किसी तरह ये अंकुश कम हो जाएं और मनुष्य के भीतर बैठा हुआ पशु अपनी पशुता का तांडव कर सके। पशु "शिव" नहीं समझता, सिर्फ सुन्दर समझता है। वह स्वाद जानता है, उसका परिणाम नहीं। वह संभोग जानता है, उसका परिणाम नहीं। तो मनुष्य के भीतर बैठा हुआ पशु, जब कहीं उछल-कूद का मौका पाता है तो, वह उछल-कूद मचाता है। ऐसी अवस्था में कोई आचार्य विद्वान कुयुक्तियों से जब मनुष्य के भीतर के विवेक को घायल कर देता है, जिसने उस पशु को रोक रखा था, तो पशु उद्दंड हो जाता है ऐसे लोग ब्रह्म-बिहार, संभोग-समाधि आदि के कार्य-क्रमों पर टूट पड़ते हैं। जब उन पर समाधि, मोक्ष, योग आदि की छाप लगा दी जाती है तब तो संयम और विवेक बिल्कुल मृत-प्रायः हो जाते हैं। पशुता बिल्कुल निर्लज्ज हो जाती है। तब मनुष्य भान भूलकर अधिक से अधिक समय, अधिक से अधिक धन, अधिक से अधिक भक्ति उन पर लुटाने लगता है जो उसकी पशुता को जगाते हैं, शिव के विरुद्ध सुन्दर का स्वाद चखाते हैं। ऐसे ठग को वे भगवान तक कहने लगते हैं।"

वस्तुतः तथा-कथित भगवानों की ब्रहम विहार व संभोग समाधि द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्ति के प्रचार तथा उसके दुष्परिणामों से समाज और देश को सावधान रहना ही होगा। यौन-स्वच्छंदता, अंध विश्वास, जादू टोने, सोने-चांदी दुगणे करने आदि सब ठगी धन्धे हैं और यौन स्वच्छन्दता तो अति भयंकर बात है।

संयम, पवित्र विवाह तथा ब्रह्मचर्य की अपेक्षा

वस्तुतः यदि मानव को यथार्थ रूप से पराश्रय और दुःखपूर्ण जीवन स्थितियों से छूटना ही है तो उसे संयम धारण करके विवेक द्वारा मैथुन संज्ञा से ऊपर उठाना ही होगा। बिना मैथुन संज्ञा से ऊपर उठे, यौन व विषयी जीवन से ऊपर उठे, वह ज्ञान आत्मा की अक्षय समाधि के अमृत भोग को प्राप्त नहीं कर सकता। यह तो संभोग से हटकर ही सम्भव है। संभोग से हटने के लिये ही यानी मानव में जो पशु बैठा है उसे ही नियन्त्रित करने के लिए पवित्र विवाह प्रथा में बंध कर एवं उसे सन्तुष्ट कर मानव को एक पवित्र और संयम का जीवन ग्रहण करने के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। काम शक्ति मानव को मिली है तो, उसे विवाह के तटबन्धों में रखकर सुचारु रूप से शांत और स्वाभाविक व नियन्त्रित रूप से प्रवाहित करनी चाहिए, ताकि इस काम-शक्ति के उद्दाम वेग को नियन्त्रित करने के बाद काम पुरुषार्थ के अनन्तर मोक्ष पुरुषार्थ को भी प्राप्त किया जा सके।

समाधि और संभोग का तो दूर का रिश्ता भी नहीं है। यह मात्र एक भुलावा है, धोखा हैं असम्भव कल्पना है। घी की आहूति से आग भडकती है, और बहुत भडकती जाती है। ये उसके विनाश का पथ है। काम शक्ति का दमन भी कई प्रकार की ग्रन्थियों और व्याधियों को पैदा कर देता है। अतः स्वच्छन्द व उन्मुक्त संभोग नहीं, विवाह में मर्यादित और विवेक पूर्ण ग्रहस्थ जीवन में संयम और पवित्रता की प्रतिष्ठा ही रखने की परम आवश्यकता है। एक देश (विकल) ब्रह्मचर्य के लिए विवाह प्रथा और उसकी पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है ही, यह पारिवारिक सुस्थिरता और पवित्रता तथा उच्चतर जीवन के लिये भी आवश्यक है।

उर्ज्जस्वल प्राण शक्ति का रहस्य और ब्रह्मचर्य तथा उसमें शिव-आत्मा और पार्वती-प्रज्ञा का विवाह

नाद बिन्दु जाकै घट जरै।
ताकी सेवा पार्वती करै।[1]

विभिन्न यौन ग्रन्थियों का स्राव अंडकोषों से निकलता है, और शुक्र कीट पुरुष ग्रन्थियों के स्राव से मिलकर वीर्य रूप धारण करता है। जो व्यक्ति अपना वीर्य-बिन्दु अपने ही देह में जरा लेते हैं, उर्ध्व प्रवाहित कर लेते हैं, बाह्य में नीचे नहीं बहने देते, उनको पार्वती-शक्ति की, स्वयं मानव के मेरु-पर्वो में व्याप्त व प्रवाहित रहने वाली दिव्य ओजमयी जीवनी शक्ति की प्राप्ति होती है—उनके प्राण ओजमयी, तेजस्वी और उर्ध्व स्रोता हो जाते हैं। तब वीर्य बिन्दु मस्तिष्क के सुमेरु शिखर में पहुंच कर अमृत-बिन्दु बन जाते हैं, दिव्य ज्ञान के केन्द्रों को विकसित और परिपुष्ट करते हैं। सिंहनी के दूध के लिए स्वर्ण कटोरा ही चाहिए, ज्ञान के निर्झर के लिए उर्ज्जस्वती प्राणमयी पार्वती-शक्ति की ही मानव को मांग होती है।तब ही मानव स्वयं शिव रूप परिणत होता है, शिव आत्मा और प्रज्ञा-पार्वती का, आत्मा और प्रज्ञा (ज्ञान) का तब अनुपम विवाह हो जाता है। यह प्रज्ञा जानना मात्र नहीं है यह प्रज्ञा प्रकृष्ट ज्ञान गुण है। प्रज्ञोपाय रहने पर बिन्दु क्षुब्ध नहीं होता, वह बिन्दु की उर्ध्वरेतस् अवस्था व अपेक्षित सिद्धावस्था है। वीर्य बिन्दु की अधोगति निरुद्ध होकर ही वह पिंगला नाडी द्वारा शोषित होकर वायवीय व आकाशीय रूप से उर्ध्व संचरण करता है और वह शक्ति के योग से उर्ध्व भाग में संचरित होता रहता है। वह तब सोम बिन्दु रूप से सोमचक्र में ऊपर से सोमधारा रूप में स्रवित होता रहता है।

निर्विकल्प महा समाधि के महत्वपूर्ण अभ्यास

आ. कुंदकुंद ने सूत्र और सुई के दृष्टांत से ज्ञान के निमित्त जिन सूत्र, आगम शास्त्र का तो संकेत किया ही है—उन्होंने ज्ञानोपयोग को ही वस्तुतः सूत्र में उपलक्षित करके सुई रूपी आत्मा की वार्ता कही है। और साथ ही निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति का मर्म बड़े सरल रूप में समझा दिया है जो संभोग से कहीं विलक्षण, उत्तम और पवित्र है।

---

[1] गु० गोरखनाथ

सुतम्मि जाणमांणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ।।[1]

जो पुरुष सूत्र को जानने वाला है, प्रवीण है, वह संसार में जन्म होने का नाश कर देता है—जैसे सूई सूत्र (डोरा) के बिना हो तो नष्ट हो जाए, और डोरा सहित हो तो नष्ट नहीं होती। प्रसिद्ध ही है कि बिना डोरा सूई गुम व नष्ट हो जाती है अतः उसे डोरे में डालकर स्त्रियां रखतीं है। ऐसे ही जब आत्मा रूपी सूई को सूत्र रूपी ज्ञानोपयोग में डालकर रखते हैं तब आत्मा भी स्वरूपभ्रष्ट नहीं होता।

पुरिसोवि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयण पज्जखं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ।।[2]

जैसे सूत्र सहित सूई नष्ट नहीं होती, वैसे ही जो पुरुष संसार में गत हो रहा है, और अपना रूप जो अपने आप दृष्टिगोचर नहीं है, तो भी सूत्र सहित हो (सूत्र का ज्ञाता हो), तो उसके आत्मा सत्ता रूप चैतन्य चमत्कार मयी स्व संवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। इसलिए वह जीवात्मा संसार में गत होकर भी नष्ट नहीं होता, संसार का ही नाश करता है।

सूत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सा हु सद्दिट्ठी ।।[3]

सूत्र का अर्थ जिन देव ने बहुत प्रकार कहा है, और उस सूत्र से हेय और उपादेय, त्यागने और ग्रहण करने योग्य को जानकर आत्मा को जो जानता है, देखता है वही प्रकट सम्यग्दृष्टि है।

जं सुत्तं जिण उत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजम् ।।[4]

भगवान जिनेश्वर द्वारा कथित सूत्र व्यवहार है—उसे परमार्थ जानो। उसे जानकर योगीश्वर सुख की प्राप्ति करते हैं और अपने समस्त कर्म-कालिमा का नाश कर देते हैं।

सूत्र और सूई के दृष्टांत में आ० कुंदकुंद ने अध्यात्म के सारे रहस्य को संकेत रूप से ही कह दिया है। वे कहते हैं कि सूत्र व्यवहार और परमार्थ रूप है जो कर्म क्षय करके अनन्त सुख को देने वाला है। इस परमार्थ को स्वयं आत्मा रूपी सूई में पिरोना है। साधना व अभ्यास व्यवहार का स्वरूप है। इस व्यवहार रूप सूत्र को आत्मा रूपी सूई में पिरो दिया जाता है, तब स्वयं पुरुष आत्मा

---

[1] अष्ट पाहुड सूत्र पा० ३

[2] वही ४

[3] वही ५

[4] वहो ६

परमार्थ रूप हो जाता है, तब वह परमार्थ आत्मा नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा को, ज्ञानोपयोग का अभ्यास करने पर परमार्थ आत्मा का स्वरूप साक्षात्कार होता है।

सूई और सूत्र के व्यवहार पर ध्यान दीजिए। सूत्र को हाथ में लेकर सुई को पिरोने का प्रयत्न करके देखिये—सूई के छिद्र में सूत्र तब ही आप पिरो सकेंगे जब आप सुस्थिर हों, आप का हाथ निष्कंप रहे, हाथ ही क्या आप स्वयं पूर्ण निश्चल व एक निष्ठ हो जाएं, आपका श्वास मंद होकर क्षण भर के लिए रुक जाये, मन, वचन, काया के योग (परिस्पंदन) का संवर हो जाये तब कहीं आप सूत्र को सूइ में पिरो सकेंगे। क्या इस क्रिया में आपको एक ठहराव, एक निर्विकल्पता का अनुभव नहीं हुआ? आपने अपना सारा उपयोग इस क्रिया में समर्पित कर दिया, यही तो ज्ञानोपयोग है।

इसी ज्ञानोपयोग की शिक्षा यह सूत्र और सूई का दृष्टान्त दे रहा है। यह अभ्यास ही व्यवहार है और इसी में परमार्थ भी है। अतः कहा जाता है सम्भोग से समाधि नहीं होती। सूत्र और सूई के दृष्टांत से समाधि रूप परमार्थ को प्राप्त करो। जिनोक्त सूत्रों का अर्थ समझकर इस सूत्र-सूई पिरोने के रहस्य को जानो और अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा में जोड़कर आत्मार्थ रूप समाधि को प्राप्त करो। सूत्र को सूई में बार-बार पिरोकर जब आप देख लेंगे तो आप समझ जाएंगे कि ध्यान और समाधि में चित्त किस प्रकार निश्चल होता है और कैसे मन, वचन, काय के संवर की प्रक्रिया होती है और कैसे निर्विकल्प होना होता है। निर्विकल्पता के इस रहस्य-बोध को आप लेकर–चित्त को व देह को उसी प्रकार स्थिर और "शून्य", स्पन्दन (कम्पन) रहित करके, स्थिर आसनस्थ होकर अभ्यास करें। आप देखेंगे कि अनादि से पड़ी आदत के कारण चित्त आरंभ में तो शांत होता ही नहीं है। परन्तु आप चित्त की परवाह किए बिना चित्त के भी दृष्टा रह कर, उससे तटस्थ व उदासीन रहें और बिना परिणाम की चिन्ता किये आत्म-स्थिर रहने का अभ्यास करते रहें। तब न देह हिले, न मन हिले और न आप कुछ बोलें ही, बाह्य या आन्तर किसी भी शब्द का लक्ष्य ही न करें।

शब्द-साधना अलग प्रक्रिया है। उसको यहाँ न जोड़ें। जब आप का चित्त इन्द्रिय गोलकों से सिमटेगा और इन्द्रिय विषयों को भी छोड़ने लगेगा—तब चित्त स्वतः शान्त और निर्विकल्प क्षण पर पहुँचेगा, वहीं आपको सहज स्व आत्मा का प्रकाश होता स्पष्ट अनुभूत होगा।

चित्त प्रतिक्षण नाना काम-कामनाओं के स्पंदन से ऐसा व्यग्र रहता है कि उसका सर्वज्ञ समान स्वरूप प्रकट ही नहीं होने पाता। चित्त की व्यग्रता के साथ ही आत्मा के ज्ञान प्रदेशों में भी हलचल रहती है, और इसी कारण आत्मा आत्मा को आत्मा में निरूपण नहीं कर पाता।

स्व-स्वातंत्र्य स्वरूप को प्रकट करने की यह एक अमोघ और अचूक तथा उत्कृष्ट विधि भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की परम्परा की है। इसमें चित्त का अवलम्बन नहीं चित्त का संवर है, और आत्मा का आत्मा को अवलम्बन है। इसमें ज्ञान स्वरूप का, ज्ञान गुण का विकास तथा प्रकाश होता है।

चिदात्मा आत्मा पुरुष की साक्षात्कार विधि को द्रव्य-संग्रह गाथा ५६ में सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने भी इसी प्रकार विवेचित किया है । यही सर्वज्ञ आम्नाय का अध्यात्म योग है । इसका विशेष ध्यान स्वरूपानुचितन में और करेंगे ।

यदि आरंभ में निश्चल और अडोल बैठना कठिन व असम्भव लगे, तो क्या करें ? वैकल्पिक समाधान है कि आप शब्द (मंत्र) का आश्रय लें अथवा ध्यान-तत्वों का गहन एवं परिपूर्ण अध्ययन मनन करें और अपने चित्त व मन को प्रशिक्षित करें । चित्त का चित्त को सहारा दीजिए । चित्त को एक निष्ठ, निर्मल और सबल बनाइये । एक निष्ठ और निर्मल चित्त का उदय करके आत्म-ध्यान पर आइये । चित्त सापेक्ष धर्म ध्यान तथा चित्त निरपेक्ष शुक्ल ध्यान आदि पर मनोयोग पूर्वक मनन चिन्तन करें और उनमें से किसी भी अभ्यास को ग्रहण करें । ध्यान आरंभ में होता ही नही, प्रत्याहार व धारणा की परिपक्वता के अनन्तर ही ध्यान-भूमि की प्राप्ति होती है, अतः निरुत्साहित होने का कोई कारण भी नहीं है । उत्साह पूर्वक आरंभिक कुछ अन्य साधनों को करके स्थिर मनोयोग को प्राप्त करें ।

शब्द साधना; नाद साधना और परा की साधना

चंचल मन सदा स्पंदित रहकर साधक की ऊर्जा को निरन्तर अपव्यय करता रहता है । अतः योग विज्ञान में (शब्द-साधना) का भी ग्रहण उपदिष्ट किया गया है । शब्द पुद्गल वर्गणा है । चित्त में भी कर्म-प्रत्यय का आवरण पौद्गलिक है । शब्द की रगड़ से चित्त के पौद्गलिक प्रत्ययों में अग्नि-प्रज्वलित होती है और वह संयोगी तत्वों की चित्त में निर्जरा करती है ।

वैसे शब्द तो मात्र वाचक हैं और उनमें स्थिर अर्थ और भाव वाच्य है । चित्त में शब्द के प्रकाश भाव का जब उदय होता है तो शब्द वर्गणा में से शब्द का आकर्षण होता है, वह पश्यंती अवस्था है । यही शब्द हृदय में आकर मध्यमा नाद अवस्था को प्राप्त होता है । कण्ठ में आकर वह वैखरी रूप को प्राप्त होता है । वैखरी शब्द से मानव प्राणी के समस्त व्यवहार चलते हैं ।

विचारों का, भावनाओं का आदान-प्रदान इसी बैखरी से सम्भव होता है । सारा साहित्य सृजन इसी की देन है । जब शब्द की वैखरी से परा की दिशा में विलोम गति होती है तो अत्यन्त सूक्ष्म "परा" स्वरूप में पहुंच जाते हैं । शब्द ही भाव के रूप को प्रकाशित करते हैं । भाव प्रकाश से पूर्व शब्द पश्यन्ती भूमि में प्रकाश रेखा से निर्मित भी अनुभूत होते हैं ध्यान अवस्था में ।

कण्ठ से जप करना वैखरी-शब्द साधना है । हृदय में से ही मात्र शब्द की ध्वनि को जब सुना जाता है, तो वह मध्यमा नाद-साधना है । तथा नाभि मंडल के सूर्य लोक में शब्द को प्रकाश रेखा सा अनुभूत किया जाता है और ध्येय किया जाता है तब यह पश्यंती शब्द-साधना है । जब शब्द का मात्र भाव ही ग्रहण होता है और भावावस्थित रहते हैं तो यह परा की साधना है । इस परा की साधना की ही उत्कृष्टता है । इसी की जैन योग में प्रकर्षता की गई है । मगर यह भी स्मरणीय है कि परा तक न

पहुंचने पर जिह्वा, उपांशु (मानसिक), हार्दिक स्तरों में से किसी भी स्तर पर साधना चलाई जा सकती है अथवा शब्द को प्रकाश से निर्मित रूप ध्यान किया जा सकता है।

अपनी योग्यतानुसार स्थूल से सूक्ष्म स्तर तक पहुंचने के लिए इनमें से किसी भी स्तर से साधना चलाई जा सकती है।

पर ध्यान रहे-आपका चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है। शब्द साक्षात्कार से शब्द के साक्षात्कार करने वाले तत्त्व पर पहुंचिए। प्रकाश से प्रकाशक, भाव से भाव के भावक पर आने का लक्ष्य रखिए। भाव बिना शब्द निर्जीव है, भाव से ही शब्द चैतन्य होता है। भाव चैतन्य का अंश है और वही शब्द में निहित वाच्य है। शब्द—"अर्हं" ह्रीं, "ॐ" राम "जिन" आदि कोई भी लीजिए, और शब्द के वाच्य स्वयं आत्मा के भाव, मूल पर पहुँच जाइए। आप जान लीजिए कि राम राम या जल जल कहने से न राम मिलते, न प्यास बुझती। साधक को अपने संकल्प से अपनी ही शक्ति को जागृत करना होता है और शब्द माध्यम से स्व शक्ति की जागृति होती है। शब्द को बैखरी स्तर से सूक्ष्म परा स्तर तक ले जाइए और शक्ति का, भाव का, व ज्ञान का अनुभव कीजिए और उस शक्ति व ज्ञान से अभिन्न अद्वैत हो जाइए। शब्द ही विश्रान्त होता २ निःशब्द परा तक पहुंचा देगा। वहीं आपको भगवत् जिनेश्वर की दिव्य-ध्वनि तथा ज्ञान-विज्ञान का भी अनुभव हो जाएगा।

शब्द नाद, ध्वनि और ध्वन्यन्त आकार में क्रमशः परिणत होता है। और वही परा स्तर से पृष्ठ भागों में होकर ऊपर उठकर ब्रह्माण्ड के पार, मस्तिष्क के परा प्रान्तों में पहुँच कर निःशब्द निरक्षर रूप हो जाता है। चिदाकाश वहीं है और फिर वहीं शब्द-साधक को शब्द संकल्प का भाव मूर्तिमान होता है। और आत्मा जो अलक्ष्य है, अलिंग ग्रहण है, निराकार है वही साकार सकल रूप में अर्हंत्-जिनेश्वर रूप में आविर्भूत होता है। यही आत्मा से आत्मा का दर्शन है। वही दर्शन घन ज्ञान रूप होकर आत्म के स्वरूप निर्माण में स्थिरता करता है। स्वरूप निर्माण की विशद चर्चा स्वरूपानुचिन्तन में, पदस्थ और रूपस्थ आदि ध्यानों का विशद निरूपण ध्यानानुचिन्तन में करेंगे। दर्शन निराकार रूप है, और ज्ञान साकार रूप है, बोध रूप है और ज्ञानावस्था में आत्मा के चिन्मय अखण्ड प्रदेश नराकार ही रहते हैं और प्रत्येक प्रदेश सर्व बोधमय हो जाते हैं। वह नराकार पुरुषाकार स्वरूप इस प्रकार जिनेश्वर रूप में स्व संवेद्य होता है।

निर्विकल्प ध्यान की जो विधि ऊपर दी है वह शुक्ल ध्यान में ले जाने वाली है। शुक्ल ध्यान के लिए आप इस भ्रम में न पड़ें कि इस काल में यह ध्यान नहीं होता। कोई चिन्ता नहीं करें कि यह होता है या नहीं। होता नहीं तो भी आप इसकी भावना करें, चेष्टा करें और इसके लिए अपने संस्कारों को व संकल्पों को निर्मल और दृढ़ बनाएं। ये संकल्प व संस्कार ही आपको कभी न कभी उस शुक्ल ध्यान पर भी ले जाएंगे। यह एक बड़ी उत्तम शिक्षा हैं कि मानव को अपना लक्ष्य उत्कृष्ट और

उच्चतम दृष्टा व ज्ञायक आत्मस्वरूप ही रखना चाहिए। निर्विकल्पता के लिए यहां यह भी संकेत देना उचित है कि आत्मा स्वयं आप अपना दृष्टा है, दर्शनोपयोगी है। अतः अन्तर्दृष्टि द्वारा अशुभ व शुभ प्रवृत्ति व परिणाम (भाव) संकल्प विकल्पों विचारों को रोककर, मात्र-भ्रूमध्य अपने ज्ञायक शुद्ध स्वरूप को देखने का अभ्यास करें। जो भी विचार व दृश्य आये उन्हें मात्र देखें, प्रिय-अप्रिय भाव न करें।

सविकल्प धर्म ध्यान की एक उत्कृष्ट प्रक्रिया

सविकल्प धर्म ध्यान के लिए यहां संक्षेप में इतना संकेत यथेष्ट है कि भगवान केवल ज्ञान भास्कर की भावनाकार मूर्ति बनाकर अपने हृदयासन पर विराजमान करके उनसे प्रकाश, ज्ञान, शांति और आनन्द किरणों से अपने अन्तर को सम्पूर्ण भरित और पूरित करते रहें और इन केवल किरणों को अपने अन्तर में प्रपात रूप से पड़ते अनुभूत करें और स्वयं इन सब के दृष्टा एवं ज्ञायक मात्र होने का अभ्यास करें। यह उपासना-योग की विधि है। उपासना योग का विवरण स्वरूपानुचिन्तन में करेंगे। सविकल्प विधि भी अन्त में निर्विकल्प अद्वय स्थिति पर ही ले जाती है—अतः यह भी अनन्य रूप से उत्कृष्ट है। प्रशस्त भावावस्था में रसास्वादन की स्थिति है और उसकी पराकाष्ठा में भावातीत अद्वय स्थिति स्वतः आती है। भावावस्था में ही सजगता का, अपने आप में पूर्ण मौजूदगी का, ज्ञान का विस्तार होता है।

राग विवर्जित निर्विकल्प "शून्य" महा समाधि या ध्यान की प्राप्ति के अर्थ योग की इन विधाओं को परमार्थ का सार समझकर ग्रहण करना उचित है। अभ्यास से ही सिद्धि की प्राप्ति सम्भव होती है।

स्वलीन निर्विकल्प क्षण में सम्यग् दर्शन

आ० कुंदकुंद ने सूत्र के परमार्थ-अर्थ से भ्रष्ट को मिथ्या दृष्टि कहा है। सूत्र का अर्थ मात्र आगम-सूत्र ही नहीं है, सूत्र और सूई के सूक्ष्म परमार्थ का अर्थ है—"शून्य" निर्विकल्प महा समाधि की प्राप्ति की चेष्टा। आ० कुंदकुंद ~~है~~ ने तो यहाँ तक कहा है कि पाणिपात्र दिगम्बर मुनि भी तब ही पूज्य है, जब वह इस ध्यानात्मक-योग का मर्मज्ञ हो, अभ्यासी हो। जो गृहस्थ इस अध्यात्म योग को ग्रहण करेंगे वे भी मुनि पद पर ही ध्यान काल तक आरूढ़ कहे जाते हैं और वे भी पूज्य और महिमान्वित होते हैं। इसी निर्विकल्प क्षण की प्राप्ति-काल में आत्मा का परिचय पाणि-पात्र निर्ग्रन्थ निर्मल साकार सकल स्वरूप-दर्शन में पाया जाता है। यह दर्शन ही सम्यग्दर्शन है और यही कालान्तर में मात्र ज्ञान और केवल ज्ञान में ले जाता है। इसमें चित्त वासनोपरक्त होकर नहीं ठहरता, वह शान्त व निर्विकल्प हो जाता है। इसमें कोई पर-निमित्त नहीं होता। यह परम निर्मल उद्वेग रहित वीतरागी शुक्ल अक्षय आनन्द प्राप्ति का, कर्मावरण के क्षरण का, मृत्यु के निवारण का और अमृत का वरण है। वास्तव में राग द्वेष रहित निर्विकल्प दर्शन क्रिया से शक्ति और निर्मलता का, अतः आत्मसाक्षात्कार का मार्ग स्पष्ट होता है।

उत्प्रेरक काम शक्ति को आध्यात्म दिशा में मोडिये

काम की मूल और प्राकृत शक्ति बड़ी उत्प्रेरक शक्ति है, जो मानव को इसलिए प्राप्त हुई है कि वह इसे आध्यात्मिक दिशा में, न कि विकृत प्राकृत दिशा में जोड़े और अपने आपको अति-मानव के रूप में विकसित कर सके। यह शक्ति असामान्य अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द के भाव रूप एक्साइटमेण्ट के द्वारा जबभी उत्थापित होती है इसकी विकास क्रिया अद्‌भुत हो जाती है। जाग्रत काम शक्ति को यदि मानव संयत न करे और जागतिक विषयों के सम्मुख हो जाए, तो यह मानव को अतिभोगी, लम्पट, क्रूर, विषयी, नर-पिशाच बना देती है। यदि इसके जागृत रजो-गुण को लेकर मानव अपने मानस को तामसिक जड-भाव को निवृत करके विकारों से निर्मल हो जाय और वासना से ध्रुवीकरण को प्राप्त हो जाय और अपने को सतोगुण से परिमार्जित कर ले तो यह ही प्रणय-प्राण शक्ति ऐसे दिव्य ऊर्जा और ओजस् को उदीप्त तथा संचित कर देती है कि वे उन दिव्य उर्ध्व साधनाओं के लिए अलौकिक उर्ध्ववाहक बूस्टर (Booster) वन जाते हैं कि जिनका समुच्चय ही स्वरूपाचरण व "परम-सम्यक्-चरित्र" कहा जाता है।

भगवान् श्री महावीर के जन्म पूर्व के समय में लोगों में भोग-लिप्सा की ऐसी अतिवृद्धि हो गई थी कि नारी को मात्र एक भोग्य वस्तु समझा जाता था। तब उन्हें समाज में पुरुष के समकक्ष प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। इस भयावह स्थिति को जानकर भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ के चतुर्यामी पंथ में सुधार योजना की, नारी का उत्थान किया, उन्हें बराबर प्रतिष्ठा का दर्जा दिया और इसी के हेतु चतुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य धर्म को और शामिल कर—पंच महाव्रत तथा अणुव्रतों को विकसित करके शील धर्म और ब्रह्मचर्य की प्रधानता की स्थापना की और सहज संयम मार्ग को प्रशस्त किया। उन्होंने उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के हेतु लोगों की काम-ऊर्जा को आत्मा की दिशा में मोड देने की शिक्षा दी और साथ ही उन्होंने स्व आत्मा के ही निर्मल पवित्र वीतराग भावों को प्रशस्त करने की शिक्षा दी। भय, प्रलोभन व रागादि के निमित्त प्रत्यक्ष होने पर भी अडिग व सहज निर्लेप तथा निवृत्त रहकर सहज वीतरागता रहें—ऐसी प्रज्ञा के ही जागरण तथा उद्योग को अन्तर में दृढ़ व शुद्ध रखने की प्रेरणा की।

वास्तव में तो प्राण-पुरुष ज्ञान-वासित तथा साधनाभ्यास से संस्कारित होने पर ही देह यौन एवं लिंग के भावों से अतीत होता है। पतनकारी निम्नाभिमुखी भावों को उदित करने वाले अज्ञान और देहाध्यास का दृढ़ निग्रह ही उपकारी तथा कल्याणकारी हो सकता है। बिन्दु को क्षुब्ध करने वाली पाशविक यौन व मैथुनी क्रियाओं रूप संभोग-विकल्पों से विवर्जित होकर निर्विकल्प आनन्द क्षण स्वाश्रय स्व में संभव ही है और यही पूर्ण निर्विकल्प स्वाश्रय आनन्द विकास को प्राप्त होते-होते चिन्मय स्वरूप के साथ अभिन्नता में ही ले जाता है और तभी अतर्कित अतीन्द्रिय अमृत-सुख का जन्म हो जाता है। वही वीतराग-सुख होता है। तभी आचार्य जिनसेन भी भरी राज्यसभा में आदिपुरुष भ० वृषेश्वर आदिनाथ की दिव्य एवं विश्व विमोहिनी महा सौन्दर्यमयी मातृ-"महादेवी" माँ आद्या-शक्ति के

अंगों का शृंगार वर्णन परम प्रशांत, वीतराग उल्लास सहित अकाम निर्मल भाव से कर सकें और भरी राज्य-सभा उसे चित्र लिखित सी परम श्रद्धा भाव से श्रवण भी करती रह सकी और समाधिस्थ हो गई।

महाफला वीतराग मुद्रा

वीतराग ज्ञान मुद्रा अंकित होने पर आत्मा शरीर शारदीय निरभ्रगगन सदृश प्रशांत प्रभा से जगमगाने लगता है। उसके ज्ञान-प्रदेश असंग करुणा के महा भाव से सुवासित हो जाते हैं। उनकी निर्मल दृष्टि का प्रसाद अकथनीय रूप से अनुपम हो जाता है। वह तब किसी भी पर-पदार्थ, वस्तु या व्यक्ति के राग के बंधन को स्वीकार नहीं करता। तब वह उन्मुक्त तथा परम सुखैक रूप ही हो जाता है। यह उन्मुक्ति व्यक्ति की आबजैक्टिव तथा सबजैक्टिव (द्रव्य ~~का~~ व भाव) दोनों ही स्तरों पर उन्मुक्ति को लेकर होती है।

अमनस्क भाव-वृत्ति

तब यहाँ ही अपूर्व अमनस्क भाव का उदय होता है। उस अमनस्क वृत्ति में कोई भी दृश्य साधक को उपद्रवित नहीं कर सकता, कोई भी पर-वस्तु, पर-व्यक्ति या पर भाव विचलित नहीं कर सकता, कोई भी प्रलोभन या भय इह लोक या परलोक का स्खलित नहीं कर सकता। पर वस्तु व दृश्यों से उपद्रव तब तक ही होता है, जब तक मन मनस्कार रहता है, चित्त चित्ताकार रहता है न कि चिदाकार। निर्विकल्प चित्त में चित्त चित्त नहीं रहता। वह भी चिन्मय चिदाकार हो जाता है। मन का यह निर्मल भाव फिर किसी भी प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित विकल्प में नहीं जाता। तब तो निरन्तर साथ रहने वाली इस देह व उसके भावों से भी विमुक्ति होती है। और मन के रहने या न रहने का ही प्रश्न समाप्त हो जाता है। तब मन समस्त ही पदार्थों के साथ एकत्व-भाव रूप राग से विमुक्त होता है और जो राग-आसक्तियाँ उसे बांधे हुये थी, छिन्न हो जाती हैं।

अनन्त, पूर्ण, शून्य और सम्यक्

जब मन मात्र साक्षी ही रहे तो ज्ञायकता ही रहती हैं। वही निर्विकल्प, आतम-आनन्द की मुद्रा है, वही महा मुद्रा भी है। इसमें मानस व चित्त पर पड़े समस्त बंधन छिन्न हो जाते हैं और एक उच्चतर प्रशांत यथार्थता में साधक जागा रहा करता है। वासना और आवरण दोनों ही इस साक्षी भाव में परित्यक्त हो जाते हैं तथा इसकी उच्चतर ज्ञान-यथार्थता में ऐसी स्व सुस्पष्टता होती है कि प्रज्ञा का स्वरूप भी दिव्यत्व लिए सम्यक्त्व में परिपूरित हो जाता है और ऐसे भाव रस सुख रस की प्राप्तियाँ होती हैं कि जिनके आगे कुछ भी शेष रहा प्रतीत नहीं होता, न शेष ही कुछ रहता है, तब इसी में अपनी अनन्तता की, पूर्णता की, अनुभूति की, इयत्ता की प्राप्ति हो जाती है।

वस्तुतः राग "शून्यता" ही स्व पूर्णता में पर्यवसित होती है। पूर्णांक और शून्यांक एकार्थक हो जाते हैं। जो सदा समगुण, सम्पूर्ण विषम शून्य, सदा समान ही, एक रूप रहता है। यह निर्मल कैवल्य रूप ही होता है। वेदान्त इसे पूर्ण बताते हुए कहता है "पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमैवावशिष्यते"। बौद्ध-तन्त्र इसे शून्य कहते हैं। जैन योग आगम इसे यथावस्थ या "सम्यक्" नाम से कहते हैं। जो चरम व परम है, वह ही एक मात्र सम्यक् है, निर्मल है, शुद्ध है, परिपूर्ण और केवल है, समरूप है, अच्छेद्य और अभेद्य है। अतः दर्शन ज्ञान और चारित्र आत्म गुणों के व तत्त्वों के प्रत्येक के साथ चरम, परम रूप सम्यक् की विशेषता निर्दिष्ट की गई है जिसमें इनके एक अखंड रूप में एकता हो जाने पर सर्व अर्हत्गुणों का उद्भव संभव हो जाता है।

चित्त और बुद्धि के क्षुद्र और संकीर्ण दायरों के बंधन टूट जाते हैं, और ज्ञान गुण का प्रकाश अतीव अनन्त आकाश-प्रदेश में विस्तृत होकर कल्पान्त काल की महाज्वाला रूप प्रोज्ज्वलित होकर उल्का खंडों के समान छा जाते हैं तब उनकी अमित उद्दीप्त ज्योति ही अन्तर की समस्त "शून्यता" को आपूर्ण समाविष्ट करके, एक विराट अपूर्व भाव का ही जन्मोत्सव कर देती है। तब उन विराट् महा ज्वाला प्रकाशों के समीप और सर्वगत और अभिभूत कर देने वाले ज्ञान में संयोगी व विजातीय कर्म प्रत्यय और पर भाव रागादि व सुख-दुखादि रूप समस्त भाव कर्म भस्मीभूत होने लगते हैं। योग का परिपूर्ण रहस्य तब ही संपूर्णतः हृदयंगम व प्राप्त हो जाता है जब इस प्रकार अपनी यथार्थ अबाध योगिनी-शक्ति प्रोज्ज्वलित होकर एक असीम ज्ञानाकारता में परिणत हो जाती है। वस्तुतः वस्तु या तत्व कभी शून्य होता ही नहीं, संयोगी पदार्थ ही विमुक्त होता है। आ० सोमदेव कहते हैं कि यदि कोई कहे कि मैं शून्य-तत्व को प्रमाणसे सिद्ध करता हूं ऐसी प्रतीज्ञा में तब शून्यवाद का स्वयं विरोध हो जाता है।

वर्ण और अवर्ण मय, लेश्या युक्त और लेश्या मुक्त ध्यान

इस योग विज्ञान में पंच परमेष्ठियों के ध्यान पंच वर्णों व पंच-वर्ण मय ज्योति आकारों में करने की परम्परा है। जैन मंदिरों में इन पंच परमेष्ठियों के ध्यान-चित्रण भित्ति चित्रों के रूप में सर्वत्र उपलब्ध हैं। जैनों के पांच परमेष्ठियों के ध्येयों के अनुसार ही बौद्धों में भी पंच ध्यानी बुद्धों के ध्यान प्रचलित हैं। उन्होंने पंच ध्यानी बुद्धो श्वेतनील-वस्त्रधारी वैरोचन, पीत वस्त्र-धारी रत्न-संभव, लोहित (रक्त) वस्त्र धारी अमिताभ, हरित वस्त्रधारी अमोध-सिद्धि, और श्वेत वस्त्रधारी अक्षोभ्य के ध्यान लिये हैं। इन पंच ध्यानी बुद्धों की मूर्तियां आज भी बुद्ध गया में विद्यमान हैं और उन्हें वहाँ के पंडे पंच पांडव बताकर दिखाते हैं।

बुद्धों के अनुसार ये पंच ध्यानी बुद्ध पंच शक्तियों-लोचना, मामकी, पाण्डरवासिनी तारा तथा आर्य तारा उनके ही स्थान पर मोहरति, द्वेष रति, राग रति, तथा ईष्या-रति भाव शक्तियों सहित पृथ्वी अप तेज वायु और आकाश पंच धातुओं तथा रूप वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान रूप विश्व निर्मापक तत्व पंच स्कंधों को उपलक्षित (रिप्रजेण्ट) करते हैं। और इनके क्रमशः मन्त्र व मंडल सहित ध्यान द्वारा "शून्य" तत्व रूप बोधि चित्त यानी Entigtenment को उद्भव करते हैं।

जैनों में भी पंच भौतिक तत्त्व मय पंच वर्ण (रंगो) की सघनता Density को क्रमशः विरत तथा विवर्जित करते हुए परमेष्ठी ध्यान में वर्णमय ध्यान से अवर्णमयलेश्या विमुक्त निर्मल आत्म ध्यान पर पहुँचते हैं। पंच वर्ण मण्डलों का पंच ज्योति मण्डलों के मध्य इन पंच परमेष्ठि (ज्ञानात्माओं) Wise Elders के ध्यान वस्तुतः क्रमशः वर्णों से अवर्ण दिशा में हीं गतिमान होते हैं। ऐसे वर्ण (रंग) व्यंजना तथा लेश्या से रहित तथा अनात्म कर्म-प्रत्ययों से परिशुद्ध, शुक्ल ध्यान को ही प्रकट किया जाता है जिसमें परिपूर्ण केवल ज्ञान भास्कर आत्मा प्रदीप्त और उद्भासित होता है।

जाज्वल्यमान अवर्ण शुभ्रा ज्योति में त्रय देह-वस्त्रावरण से रहित चिन्मय स्फटिक सदृश्य परम प्रभायुक्त व श्री सम्पन्न अलौकिक विराट् स्वरूप का प्राकाट्य अन्तर शून्य आकाश को सर्व अचिद् भावों तथा प्रत्ययों को निराकृत करता समग्र भाव से ही भर देता है। यही ज्ञानाकार परम अर्हत् पुरुषाकार आत्मा का अविकल्प स्वरूप है जो अनन्त शून्य या विराट् और निर्मल है और समग्र स्वभाव की सम्भावनाओं की संपूर्णता के प्रकाश सहित है, गुण भरित और चिन्मय है।

द्रव्य शून्य होता नहीं, संयोगी द्रव्य के ही शून्य होने पर वस्तु शुद्ध रूप में प्रकट हो जाती है। वस्तु अवस्था का तब ही शुद्ध रूपांतरण होता है। सद्वस्तु का कभी अभाव नहीं होता। आत्मा के ज्ञान भाव में से आगन्तुक कर्म प्रत्यय रूप द्रव्य कर्म तथा भाव में से संयोगी मोह तथा राग विकार मयी अहं ही शून्य होता है और तब ही यथार्थ द्रव्य अपने मूल भाव की उत्कृष्टता लिये दैदीप्यमान हो जाता है।

वह शून्य लेश्या विवर्जित अवर्ण (वर्ण रहित) अर्थात् कर्मावरण से रहित आकाश वत् निर्मल होता है। निरावरण दशा को ही आकाश या अन्तरिक्ष कहा गया है। वह ही दशा वज्र सम अभेद्य होती है। बौद्ध इस शून्य में प्रभा-स्वता Luminosty का प्रादुर्भाव बोधि सत्त्व के ध्यान से करते हैं तो जैन शून्य निरपेक्ष स्थिति में प्रभा सम्पन्न सकल जिनेश्वर के ध्यान द्वारा करते हैं। बौद्ध जैनों के इस ध्यान में मूलगत भेद भी है। बौद्ध पंच ध्यानी बुद्ध और पंच शक्तियों के मेल से पंच बौद्ध सत्वों वज्रपाणी, पद्म पाणी, रत्न पाणी, विश्व पाणी और चक्रपाणी या समन्त भद्र की उत्पत्ति मानते हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के एक एक मन्त्र मानते हैं जो जिनजित आरोलिका वज्रधृक् रत्न धृक् और प्रज्ञाधृक् हैं। पंच ध्यानी बुद्धों के मण्डल की रचना करते हैं। जैनों में कोई ऐसा प्रपञ्च नहीं है। जैनों की साधना सम[illegible]रात्मक है और बौद्धों की रचनात्मक है। ([illegible])

छा

वर्ण और अवर्ण के विचार में सहज ही मातृका व मन्त्रवर्णों पर ध्यान जाता है। पर यहां तो इतना मात्र कहना पर्याप्त होगा कि संगीत के सप्त स्वर-वर्ण, रंगों के सप्त वर्ण, मातृका स्वर-वर्ण, आकृति-वर्ण तथा भावों के अप्रशस्त प्रशस्त तथा शुद्ध वर्ण ये सब परस्पर-बद्ध तथा मूल में एक ही तत्व हैं। ऋषिमण्डल आदि जैन स्तोत्र तन्त्रों में वर्ण और अवर्ण का वर्णन आया है। तथा इनमें सात सर्वज्ञ मण्डलों का संकेत दिया गया है। बौद्ध शक्ति अवतारणा से बुधत्व की प्राप्ति मानते हैं तो जैन

बीजाक्षरों से जिनत्व (अर्हंत केवली) का दर्शन होना मानते हैं। दोनों में ही रूप और भाव शक्ति तत्व स्वीकार हैं।

सप्त सर्वज्ञ मंडल और भ० अरिहंत का अन्तरिक्ष मंडल

"एक वर्णं द्विबर्णं त्रिवर्णं तुर्यवर्णकम्।
पंचवर्णं महावर्णं सपरं च परात्परम्।

पंच तत्व या पंच धातु तत्त्वों के वर्णों के अथवा लेश्या वर्णों के अनन्तर अवर्ण रूप महा-वर्ण "पर" तथा "परात्पर" रूप से प्राप्त होता है। यह अवर्ण (रूपकता रहित) ही निर्मल अवस्था है, कर्मश्लेष विमुक्त लेश्या विमुक्त निर्मल अवस्था है। इसी प्रसंग में जैनी लेश्या वर्णन में लेश्या संयुक्त तथा लेश्या विमुक्त रूप से कर्म संयुक्त व कर्म विमुक्त द्रव्य व भाव दशाओं की मलिनता व निर्मलता के वर्णों का ही वर्णन है।

जैसे जैसे जीव के भाव निर्मल होते जाते हैं वैसे वैसे लेश्या वर्ण भी कर्म प्रत्ययों की निर्मलता के साथ सूक्ष्म व निर्मल होते जाते है। ऋषि मण्डल में इन वर्ण तथा अवर्णों में सात व्योम मण्डलों का वर्णन हुआ है जो सप्त ऋषियों से अधिष्ठित हैं—यानी ये ही क्रमशः उत्तरोत्तर लेश्या विशुद्धि क्रम में सर्वज्ञता की प्राप्ति के सात मण्डल हैं।

ऋषि शब्द सर्वज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। इन सात मण्डलों को अधिष्ठित करके परात्पर स्वरूप में, परम व्योम में ही अवस्थान लेकर भगवान आत्मा अंतरिक्ष मण्डल के पार यानी ऊपर स्व ज्योतिर्मण्डल में साक्षात्कार को प्राप्त होते हैं। यह ऋषिमण्डल स्तोत्र में सर्वज्ञोक्त शिक्षा है।

पंच वर्णों के क्रमशः लय में पंच वर्णीय पंच महाभूत या पंच धातुमय सूक्ष्म अनात्म प्रत्ययों के संघात रूप आकार मण्डलों की निर्मलता प्राप्त होती है और फिर विज्ञानमय "पर"[1] तथा आनन्द रूप "परात्पर" का साक्षात्कार होकर प्रथम तो सम्यग्दर्शन फिर सम्यग्ज्ञान तथा फिर उसी तन्मय स्थिरता में सम्यक्-चारित्र की रचनात्मक शुभ्र ज्योति के आगे एक ही अखण्ड ज्योतिर्मंडल अन्तरिक्षस्थ हुआ प्रतीत होता है।

अनात्म लोक के गगन के पार दर्शन ज्ञान चारित्र के परम निर्मल अखण्ड भाव रूप तीन चरण ऊपर अन्तरिक्ष में अर्हन्त भगवान् आत्मा का जो विहार होना कहा गया है, वह यही है। भगवान तीर्थंकर का समवशरण अन्तरिक्ष में ही गमन करता है। वे स्व अन्तरिक्ष की शून्य निर्मलता में ही सम अवस्थित हुए रहते हैं। अनात्म द्रव्य के भार से मुक्त स्फटिक सी निर्मलता के प्रकाश के साथ ऐसा होना क्यों कर असम्भव हो, यह सम्भव ही होता है। जैन ऋषिमण्डल तन्त्र में ह्रीं शक्ति बीज की प्रमुखता

---

१. (ऋषिमण्डल स्तोत्र)

है। इसी ह्रीं बीजाक्षार को स्वर वर्णो सहित लेकर पंच पमेरष्ठी असिआउसा तथा सम्यक्‌दर्शन ज्ञान चारित्र सहित इस तन्त्र के मंत्र का निर्माण हुआ है।

भाव ध्येय की महीमा

आत्मा के अध्यवसाय एक से नहीं रहते, बदलते रहते हैं। ये शुभ और अशुभ निमित्तों से शुभ और अशुभ होते हैं। आत्मा संकल्प विकल्प रहित, यानी अध्यवसाय रहित अतः लेश्या निर्मुक्त होने से वीतराग रहता है। निगोद जीवों और वनस्पति जीवों में भी अध्यवसाय होते हैं। जीव व जड़ में अंतर (भिन्नता) अध्यवसाय है। लेश्या युक्त तथा लेश्यानिर्मुक्त ध्यान से अध्यवसायों की क्रमशः शुभ और शुद्ध परिणति होती है। इससे मानसिक संवेदनाओं, तनावों, क्षोभ-विक्षोभों से मुक्ति होती जाती है।

जीवात्मा परिणाम-स्वभावी होने से भावों के रहस्य ज्ञान की बड़ी महिमा है। भाव यदि निर्मलतम तथा लेश्या मुक्त है तो ध्याता-आत्मा भी तत्समता के कारण ज्ञान-तदा-कार हो जाता है।

निर्मलध्येय भाव के चिद्‌भाव अनुभव से सहज सुखामृत

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद् ध्यानाविष्ट मानस.।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांच्छितम्।[1]

जो जिस कर्म का स्वामी दिव्य शक्ति रूप है अथवा जिस कर्म के करने में समर्थ दिव्य शक्ति वाला है, उसके ध्यान से आविष्ट चित्त वाला ध्याता उस दिव्य शक्ति के तादात्म्य को प्राप्त होकर अपना वाच्छित अर्थ सिद्ध कर लेता है।

ध्येय के भाव में समाहित होने पर स्व आत्म शक्ति तद्रूप परिणत होकर भाव परिचित होती है। भाव ध्येय में कीट-भृंगी न्याय के अनुसार ही सिद्धि होती है। ध्याना रूढ़-जीवात्मा का परिणमन ध्येय सदृश्य ही होता है। अर्हन्तादि परमेष्ठियों के ध्यान में ध्येय रूप भावोत्कर्ष होकर आत्मा स्वयं भाव-परमेष्ठी-भाव परि-व्याप्त होकर परिगमन करने लगता है तब वह साधक जीवात्माद्रव्य द्रव्य परभेष्ठी को प्राप्त नहीं होता। वह तो स्व में ही तल्लीन रहता है। ध्येय के अनुसार तद्भावना हीं होती है, तदाकारता, तद्‌भावना, समरसी भाव तथा फिर तदगुणकारता, इस प्रकार क्रमशः परिणमन होता है। भावों में असाधारण आकर्षण एवं विकर्षण एवं निर्माण की शक्ति होती है। निर्विकार परम चित् चमत्कार के अनुभव से सम्पन्न सहज आनन्द सुखामृत के आस्वाद रूप-यह भाव शब्द का अध्याहार किया गया है।[2]

---

१. (तत्वानुशासन-200)

२. (द्रव्य सं. टीका)

जीवों के पाँच प्रकार के भाव

भाव-अपेक्षा पांच प्रकार के भाव–भेद जीवों के होते हैं। ये भाव उदय से औदयिक, उपशम से औपशमिक, क्षय और उपशम से क्षायोपशमिक, क्षय से क्षायिक तथा परिणाम से पारिणामिक होते हैं। मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व भी वस्तुतः भाव मूलक ही हैं।

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सयाय मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभय वज्जियो होदि ॥[1]

औदयिक भाव बंध करने वाले हैं, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा परिणामिक भाव बंध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित हैं।

पारिणामिक भाव का लक्षण

प्रत्येक पदार्थ के निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभाव को उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है, भले ही अन्य पदार्थों के संयोग की उपाधि वश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता है, पर इस अचलित स्वभाव से वह कभी च्युत नहीं होता। यदि पदार्थ का अस्खलित स्वभाव न हो, स्वभाव रूप ही परिणमन न करता हो तो जीव घट बन जायें और घट जीव बन जाए–ऐसी स्थिति हो जाए।

चेतन तथा अचेतन पदार्थों का पारिणामिक भाव

जो कर्म जनित औदयादिक भावों के अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीव का, चेतन पदार्थ का पारिणामिक भाव है और अचेतन भाव शेष द्रव्यों का पारिणामिक भाव है।"[2]

पारिणामिक भाव ही भाव ध्येय है

"उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावों में से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है, वह ध्यान के समय ध्येय यानी ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नहीं होता। क्योंकि ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिक द्रव्य रूप होने के कारण अविनाशी है।"–द्रव्य संग्रह टीका। यह पारिणामिक भाव ही अतः भाव ध्येय है।

भाव तथा द्रव्य मोक्ष

रागादि भावों की निवृति ही भाव-मोक्ष है तथा शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिकी निवृति द्रव्य-मोक्ष है।

---

[1] (धवला ७/२, १/७, गा. ३/९)

[2] (नयचक्र पृ. ३३४)

भाव-मोक्ष, जीवन-मुक्ति, निर्विकल्प समाधि, केवल-ज्ञान की उत्पत्ति, अर्हन्तपद, स्वरूपावस्थान ये सब एकार्थ वाचक माने गये हैं ।

परमात्मा के लक्षण और भेद

"कम्म-कलंक विमुक्को परमप्पा भणए देवो"[1]—कर्म कलंक से रहित आत्मा को परमात्मा कहते हैं ।

"निज कारण परमात्मा भावनोत्पन्न कार्य परमात्मा स एव भगवान् अर्हंत परमेश्वरः ।"[2]

निज कारण (ज्ञायक) परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा ही अर्हन्त् परमेश्वर है, अर्थात् परमात्मा के दो प्रकार हैं—(१) कारण परमात्मा और (२) कार्य परमात्मा ।

कारण परमात्मा का लक्षण

"कारण परमात्मा के स्वरूप का यह कथन है । परमातम तत्व जन्म जरा मरण रहित परम, आठ कर्म रहित शुद्ध ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य है । तथा अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालम्ब है"[3]

"सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियों को विषयों में प्रवृति से रोक कर स्थित हुये अन्तःकरण के द्वारा क्षण मात्र के लिये अनुभव करने वाले जीवों के जो चिदानन्द स्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है, जो परमात्मा है, वही मैं हूँ—तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ, वही परमात्मा है । इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य है, दूसरा मेरा कोई उपास्य नहीं है ।[4]

"जो व्यवहार नय से देह रूपी देवालय में बसता है, पर निश्चय से देह से भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि अनन्त है, केवल ज्ञान स्वरूप है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव रूप परमात्मा ही है—"[5]

"औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर होने से जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भाव कर्म और नोकर्म रूप उपाधि से जनित विभाव एवं गुण-पर्यायों रहित है, तथा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध सहज-परम-पारिणामिक ज्ञायक भाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारण परमात्मा ही-वास्तव में यह "आत्मा" है ।[6]

---

१. (मोक्ष पाहुड मूल ५)

२. (नियमसार ता० वृति—७)

३. (नियमसार मा० १७७–७८)

४. (समाधिशतक ३०–३१)

५. (परमात्म प्रकाश मू० १/३३)

६. (नियमसार ता० वृ०—३६)

ज्ञायक भाव रूप स्वभाव से ही आत्मा निर्मल परमात्मा परिणत होता है। अतः यह ज्ञायक स्वभाव ही कारण परमात्मा है। इस ज्ञायक स्वभाव में ही अनन्त संभावनाओं में—अपने समस्त प्रज्ञा और सम्बोधि की परिपूर्णताओं में प्रमुदित विराट् कार्य-परमात्मा सन्निहित है। यह उस शुभ सन्देश का वाहक है कि जो चरम प्राप्तव्य है। यह वह बीज है जिससे आत्मा विराट् वृक्ष परमात्मा विकसित होता है।

कार्य परमात्मा सिद्ध व अर्हन्त परमेश्वर

कार्य परमात्मा (सिद्ध व अर्हन्त परमेश्वर) को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"जिसने अष्ट कर्मों का नाश करके और सब देहादि पर–द्रव्यों को छोड़ कर केवल ज्ञान मयी आत्मा पाया है उसको शुद्ध मन से परमात्मा जानो। जो केवल ज्ञान केवल दर्शन मयी है जिसका केवल सुख स्वभाव है, जो अनन्त वीर्य वाला है वही उत्कृष्ट रूप वाला सिद्ध परमात्मा है। इन लक्षणों सहित सबसे उत्कृष्ट निःशरीरी व निराकार देव जो परमात्मा सिद्ध है, जो तीन लोक का ध्येय है, वही इस लोक के शिखर पर विराजमान है।"[1]

वही जिन ज्ञायक स्वभाव से परिणत सिद्ध प्रभु कार्य परमात्मा है। यही अपनी पूरी अनन्त सम्भावनाओं का प्रस्फुटन है। ज्ञायक लहर ही विराट् ज्ञान सागर बन जाती है।

"आत्मनः सहज वैराग्य प्रासाद शिखर शिखामणेः परद्रव्य पराङ्-मुखस्य पंचेन्द्रिय-प्रसर वर्जित गात्र मात्र परिग्रहस्य परम जिन योगीश्वरस्य स्व द्रव्य निशितम तेरूपादेयो ह्यात्मा।"[2]

सकल विमल केवल ज्ञान, केवल दर्शन, परम वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध है, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावारण नित्यानन्द-एक स्वरूप निज कारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही भगवान अर्हन्त परमेश्वर है।

सहज वैराग्य रूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है, पर–द्रव्य से जो मूर्छा और प्रमाद से–राग और अहंकार और मोह से उन्मुक्त व पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, वह परम जिन योगीश्वर स्वरूप स्व-द्रव्य में गहन तीक्ष्ण बुद्धि वाला ऐसा स्व परम-आत्मा ही है और वही अपने आपके लिये उपादेय है।

कारण ज्ञायकता और कार्य परमात्मा की उपयोगिता

आत्मा के कारण ज्ञायक स्वभाव और कार्य परमात्म स्वभाव को जानकर आत्मा का ध्यान सम्भव होता है। उनमें से शुद्ध स्वरूप अर्थात् सिद्ध भगवान तो कार्य है अर्थात् वह स्वरूप है जो अन्तर्निहित है और प्रकट करना है, जो विराट् रूप है। कारण भूत जो ज्ञायक स्वभाव वह उसका साधन

---

[1] (नियमसार, ता० वृ० ७।३८)

[2] वही

है। वह अल्प सा लक्षित होने वाला जीव-ही वह लहर है जिसमें पूरा का पूरा परमात्मा विकसित होने की प्रतीक्षा में है और ज्ञायक स्वभाव ही कर्मों का क्षय हो जाने पर शुद्ध अर्थात् कार्य-परमात्मा रूप हो जाता है। कारण परमात्मा में कार्य परमात्मा है—इसकी पहचान कर लेने में ही अपने को सिद्ध परमात्मा परिणन कर लेने का रहस्य हस्तगत कर लेना है। बीज "मैं" में ही सम्पूर्ण वृक्ष परमात्मा समाया है। मानव जीवात्मा Microcosm है, उसमें सम्पूर्ण Macrocosm छुपा हुआ है। उस सन्निहित महान् तत्व को जानने के लिए ही गहन सम्यक् दृष्टि चाहिए—ऐसी दृष्टि जो अदृष्ट को दृष्ट में पहचाने–वर्तमान में ही भविष्य को पहचाने।

> **"आमार हियार मांझे, लुकिए छिले**
> **देखते आमी पावनी तो नाय**
> **देखते आमी पावनी........**[1]

तुम मेरे ही हृदय में लुके छिपे हो, पर मैं तुम्हें नहीं पहचान सका—हाय नहीं पहचान सका।

अपने अन्तर में लुके छिपे परम स्वरूप को निर्मल ज्ञायक मात्र भाव-ध्येय को भीतर से बाहर प्रकट करो। ज्योतिपूर्ण आँखों को अन्तराकाश की ओर उठाकर उसे ही खोजो, देखो और प्रकट करो।

यह खोज वर्तमान की ज्ञान पर्याय को ही अन्तर-शोध में संलग्न करके की जा सकती है। वर्तमान की ज्ञान पर्याय ही जागृत अवस्था की पर्याय है। यह स्वप्न या सुषुप्ति मय नहीं हो सकती। यही पर्याय हमारे शुद्ध ज्ञान स्वरूप के निकट भी है। यही तुर्यावस्था की निर्मल ज्ञान दशा पर ले जाने वाली है।

अतः ज्ञान पर्याय की सर्वथा निर्मल परिणति–जो राग मोह वासना कामना के विवर्जन व क्षय पूर्वक सम्भव होती है—की ही अपेक्षा भी है। अतः ही जागृत अवस्था में भी और जागृति की प्रेरणा की जाती है—ऐसी जागृति की प्रेरणा जो स्वप्न व सुषुप्ति दशा में भी विछिन्न न हो—ऐसी अविछिन्न व निरन्तर बने रहने वाली स्व जागृति ही तुर्यावस्था की परिणति है। ऐसी जागृति ही फिर आयुष्य सम्पूर्ति के काल में भी साथ ही रहती है, तो यही आत्म संलीन निर्वाण अवस्था में ले जाती है।

वस्तुतः ऐसी स्व जागृति में ही सब आत्म वैभव, आत्म गुणों का विलास रहता है—वही परमानन्द अक्षय अव्याबाध सुखावस्था है। यह जागृति ही पूर्ण चैतन्य स्वरूप है। इसमें ही अपना परम स्वरूप प्रकट हुआ रहता है—पूर्ण ज्ञायकत्व का रसानन्द सदा ही तब प्रवाहित रहता है। इसमें तब काल भेद-नहीं होता, यही काल जयी अनन्त (Eternity) का रूप है। काल का प्रवाह इसमें गौण हो जाता है और आत्मा ज्ञायक रूप-ज्ञानभुवन सा ही स्थिर व केन्द्रस्थ हो जाता है। ज्ञान तब तक न केवल स्व व पर ज्ञान (Subjective and objective knowledge and awareness) मात्र ही नहीं होता—वह परिपूर्ण ज्ञान व सुख (Wisdom & Happiness) रूप हो जाता है।

---

1. (श्री रवि ठाकुर)

इस समस्त विवेचन से यही निष्कर्ष होता है कि निर्मल ज्ञायक मात्र भाव ध्येय का ग्रहण अथवा निर्मल ध्येय भाव स्वरूप का ग्रहण योग है और उसका अनुगमन कर उसमें समाहित होकर ही आत्म साक्षात्कार संभव हो है। एक मात्र शुद्धात्म भाव स्वरूप ही ध्यान का ध्येय है। इसी ज्ञायक भाव में ध्याता को, भाव-रत होकर ज्ञान मात्र भाव में मग्नता करके ध्यान मय ज्ञान व ज्ञान मय ध्यान रूप हो जाना चाहिये। इसी में शब्द से अनीत निरक्षर रूप आत्म-प्रभु की भक्ति एवं साधना है।

यह आत्म प्रभु अनेक यानी अनन्त धर्मों, भावों, गुणों को एकाग्र धारण करने वाला एक सर्व ज्ञान को एकत्व तथा अखण्ड रूप से धारण करने वाला है, अतः ही वह अनेकांत रूप है। उसका कथन ही विभिन्न दृष्टियों व नयों से किया जाता है पर वह अखण्ड अद्वय स्व संवेद्य है, अर्थात् उसे अद्वय अद्वैत एवं अखंड रूप से ही ध्याता ध्यान ध्येय वा ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की त्रिपुटी रूप भेद का वेध करके सर्व-संकल्पों, नयो व दृष्टियों को निराकृत करते हुए सम्पूर्ण निर्विकल्प एक एवं शुद्ध चिन्मात्र प्रभु रूप रसास्वादन करना चाहिए।

जो अपने क्षुद्र अंतर-अहं को तिरस्कृत करके अपनी ज्ञान विराटता का आस्वादन करता है वही नित्य चित्-चिदेव है। इसी चिन्मात्र वस्तु की दिशा में गति लेने की चेष्टा होनी चाहिये, यह ही मृत्यु की मृत्यु, मरण-वारण व काल-निवारण, अक्षय धाम स्व परमात्मा की दिशा है।

चैतन्य चिति भव्य आत्म देव ही सर्वकाल ऐसा ही है, भीतर में सदा ही शुद्ध ज्ञान मय है, नया होकर शुद्ध नहीं हुआ जाता। भीतर में शुद्ध नहीं होने से क्या कभी किसी में शुद्धता का प्रकाश संभव है। यह शुद्धता कभी खोती नहीं, छूटती नहीं, आवरण ही होने से प्रकाश नहीं होता।

स्वानुभूति (आत्म-साक्षात्कार) तो कमोवेश सर्वदा ही है और शाश्वत् है, अनुभूति छिनती नहीं है। केवल मेघाछन्न सूर्य के समान ही हो जाता है अतः मेघाच्छादन को दूर कर देना होता है। वह आवरण आरम्भ में एक दम फट नहीं जाता तो भी प्रकाश का आभास होता रहता है। इस ज्ञान के प्रकाश से इसी ज्ञान पर्याय से अपने ज्ञायक स्वभाव का संधान लेकर इसी में अपनी ज्ञान पर्याय को एकाग्र व अभिन्न अवस्थित कर देना चाहिये।

जो कोई ज्ञान की भूमि को पहचान लेता है, उस भूमि पर ही फिर सचेष्ठ होकर पहुँच भी जाता है। तब वहाँ उस ज्ञान-भूमि में जो कुछ भी है केवल वही ज्ञान है और इसकी ही विशेष पर्याय केवल ज्ञान कहा जाता है। इसे कोई शब्द बाँध नहीं सकता, सीमित नहीं कर सकता। अतः ही शब्द धारणा में भी शब्द को संक्रमण करके शब्द के वाच्य स्वयं आत्मा प्रभु की ही धारणा, ज्ञायक स्वभाव की ही धारणा करनी चाहिये और इस धारणा को ही उग्र करके, नित्य करके ध्यानारोहण एवं ज्ञानारोहण करना चाहिये।

कार्य परमात्मा के विकास की विधि

मन को अत्यन्त सूक्ष्म एवं लेश्या निर्मूल निर्मल बिन्दु रूप करके ही आत्मा के ध्यान को कहा

गया है। जैसे देह व्याप्त विष को मन्त्र के द्वारा डंक (काटने के स्थान) में रोका जाता है और फिर श्रेष्ठ मंत्र के द्वारा डंक स्थान से भी उसे हटा दिया जाता है वैसे ही चित्त को एक बिन्दु पर रोक कर विषय वासना से मुक्त कर देना चाहिए –

तह विहुयरण तणु विसयं मणो विसं जोगमंतबलजुत्तो।
परमाणु मि निरुंभई अवणेई तओवि जिणवेज्जो ॥[1]

अर्थात्—तीनों लोक रूप शरीर को विषय करने वाले मन रूप विष को ध्यान रूप मंत्र के बल से युक्त ध्याता परमाणु में रोकता है यानी चित्त को अणु संस्थ करता है-और तत्पश्चात् जिनेश्वर रूप वैद्य उस परमाणु से भी उसे हटा देता है। चित्त के बिन्दु रूप हो जाने के बाद उसे भी निर्जरित कर देने पर विभाव से व लेश्या से उन्मुक्त स्वभाव आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। और वह आत्मा कर्मेन्धन रहित परमात्मा स्वरूप ही होता है।

आत्मा परमात्मा ही है

"अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः।
विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मेन्धनसमुत्करः ॥[2]

जिस समय विशुद्ध ध्यान के बल से कर्म रूपी ईंधन को भस्म कर देता है, उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है। चित्त को अणु संस्थ करने के उपरान्त उसे राग-द्वेषादि विभाव से मुक्त कर देने के बाद कर्मेंधन को ही जलाना अवशिष्ट रहता है। ज्ञान धारणा और परिणति से यह अवशिष्ट कर्मेधन भी जब जल जाता हैं, तो आत्मा परमात्मा ही हो जाता है। तब संपूर्ण आत्मा अपनी सम्पूर्ण वैभव सत्ता में प्रकाशित हो जाता हैं।

भगवत्स्वरूप क्या है ?

"ज्ञान धर्म महात्म्यानि भगः सोऽस्यास्तीति भगवान्"[3]–

ज्ञान धर्म के महात्म्यों का नाम भग है, वह जिसके हैं वो ही भगवान् कहलाता हैं। ज्ञान गुणों से वैभवो की राशि ही आत्मा का महात्म्य है। इसी से आत्मा भगवान् कहा जाता है।

ईश्वर क्या है ?

"ईश्वरः इन्द्राद्यासंभविना अन्तरंगबहिरंगेषु परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः"[4]—

---

1. (ध्यानाध्ययन ७२)
2. (ज्ञानार्णव २१/७ पृ/२२१)
3. (धवला १३/५,५,८२/३४६/८)
4. (समाधिशतक/टीका।६।२२५।१७)

इन्द्रादिक को भी असम्भव-ऐसे अन्तरंग और बहिरंग परम ऐश्वर्य के द्वारा जो सदैव सम्पन्न रहता है उसे ईश्वर कहते हैं। अपनी सम्पूर्ण सत्ता ऐश्वर्य की ईशता को जो प्राप्त करके रहे—वही वस्तुतः ईश्वर है। अपने स्वरूप का नाथ……स्वतन्त्र, स्वाधीन और सर्व तन्त्र अपनी स्व सत्ता में जो है, वही ईश्वर है।

केवल ज्ञानादि गुणैश्वर्यं युक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां वंन्ति स ईश्वराभिधानो भवति"—

केवल ज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, अतः वह परमात्मा व ईश्वर होता है। जिसने अपने समस्त क्लेषों को नष्ट कर दिया है, अपने समस्त कर्म-विपाक को नष्ट कर दिया है, जो अव्याबाध अक्षय स्वाधीन ज्ञानानन्द रूप है वही यथार्थ परम स्वरूप आत्मा परमात्मा होता है।

सत् स्वभाव ही जगत् का कर्ता है। सृष्टि रचयिता किसी एक ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। लोगों का ईश्वर कर्तावाद और जैनों का कर्मकर्तावाद एक ही बात है। भक्ति प्रकरण में ईश्वर में कर्तापने का आरोप निषिद्ध नहीं होता। परन्तु आत्म-पराभक्ति में आत्मा के सिवा अन्य कोई अपना ईश्वर नहीं है।

परमार्थ के एकार्थक शब्द

तच्चं तह परमट्ठं दव्व सहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ॥[2]

तत्व, परमार्थद्रव्य-स्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध और परम—ये सब एक ही अर्थ को बताने वाले हैं।

निर्विकल्प समाधि के एकार्थक शब्द

परम अद्वैत, परम एकत्व, परम ज्योति, परम तत्व, परम तत्व ज्ञान, परम ध्यान, परम ब्रह्म, परम विष्णु, परम वीतरागता, परम समता, परम सम रसी भाव, परम समाधि, परम स्वरूप, परम स्वास्थ्य, परम हंस—ये सब निर्विकल्प समाधि के नाम हैं।

माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परम और शांति—ये सब एक ही अर्थ लिये हुये हैं।[3]

---

1. (द्रव्य संग्रह टीका।१४।४७।७)
2. नयचक्र वृ. ४
3. (तत्व० अनु.।१३९)

२. उद्बोधक योग मीमांसाए

“मोक्ष मार्ग प्रकाशक”में और “परमार्थ वचनिका” में

- स्वरोदय साधन का निषेध
- प्राणायाम का निषेध
- अनहद नाद का निषेध
- अजपा जाप का निषेध
- त्रिकुटी ध्यान का निषेध
- मोक्ष एक, मोक्ष मार्ग एक
- योग का अखंड स्वरूप
- परमार्थ की प्रेरणा
- वीतरागता की प्रमुखता
- योग और सहज अवस्था
- निर्मल भावमयी सयोगी अवस्था
- भावातीत अयोगि अवस्था
- यथार्थ ज्ञान क्या है ?
- देह और आत्मा के संबंध स्वीकृति से ही काय वचन मन के निरोध उपदिष्ट
- गुप्ति का स्वरूप और वीतराग भाव
- विशुद्धि की दो दिशाएं वीतरागता और सर्वज्ञता
- योग विज्ञान में ज्ञान तो मात्र एक अंग
- सविकल्प और निर्विकल्प के अर्थ
- सामान्य और विशेष
- योग चर्या सम्यग् दर्शन से भी आगे
- केवल ज्ञान विशेष व्यक्ति दशा। केवल ज्ञान, सत्ता रूप नहीं
- शक्ति के प्रचार से विशेष अवस्था के उदघाटन की आवश्यकता
- परमार्थ वचनिका में मिश्र व्यवहारी और शुद्ध व्यवहारी

- पर का ज्ञान अवधि-ज्ञान, स्व का ज्ञान केवलि दशा में केवल ज्ञान
- यथावस्थ वस्तु निरूपण ही निश्चय नय
- शुद्धात्मा का अनुभव 13 वें गुणस्थान में
- नय समन्वय में व्यवहार साधक और निश्चय साध्य
- सहज वृत्ति की श्रेष्ठता
- स्वरूप में परिणाम-मग्नता ही आत्मदर्शन
- अनुभव की तरतमता में गुणस्थान के भेद
- अनुभव की परिभाषा आत्म रस का आस्वाद
- परिणाम मग्नता तन्मय अवस्था का नाम
- निर्विकल्प अनुभव के तीन महत्वपूर्ण प्रत्यय
- अरहंत निर्ग्रन्थ ही गुरु
- अनुयोगों में उपदेश निरुपण : क्रिया और परिणाम की प्रमुखता या गौणता
- वाह्य त्याग और अन्तराग त्याग में समन्वय-दृष्टि की अपेक्षा
- तप और ध्यान का समन्वय अपेक्षणीय
- अर्हंत् तपोयोग में ध्यान प्रमुख तत्व; शिक्षा दीक्षा के अर्थ मंडलादि विधान
- खर्चीले प्रदर्शन और आयोजन वर्जनीय

योग विज्ञान का यह अध्ययन आचार्य कल्प महा प्राज्ञवान पंडित टोडरमल जी के निष्कर्षों तथा मंतव्यों की चर्चा की अपेक्षा करता है। पंडित जी ने अपनी प्रसिद्ध रचना "मोक्ष मार्ग प्रकाश" के पांचवें अधिकार में पवनादि साधन द्वारा ज्ञानी होने के निषेध के अन्तर्गत योग के जिन कतिपय विषयों पर विचार प्रकट किये हैं, वे हैं—पवनादि साधन, प्राणायाम्, अनहदनाद, अजपा जाप रूप सोहं ध्वनि, तथा नासिकाग्र भ्रूकुटी व ललाट आदि देश में ध्यान आदि। पंडित जी के वहां जो भी विचार प्रकट हुए हैं वे योगी जनों के लिये अति मननीय हैं। उन्होंने उन तत्वों की प्रधानता पर जोर दिया जिन्हें सब को लक्ष्य में रखना चाहिये। पंडित जी ने जिस परमार्थ दृष्टि से इनका निषेध विधि किया है वह मननीय ही है। यद्यपि इनका आरंभी साधन के लिये उपयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

स्वरोदय साधन का निषेध

"मोक्ष मार्ग प्रकाश" में पवन साधन के सम्बन्ध में अति मननीय बातें कही गई हैं। पवन साधन से नासिका द्वारा निकलने वाली पवन के वर्णादि से स्वरोदय ज्ञान को लेकर जो इष्ट-अनिष्ट कहा जाता है। वह लौकिक कार्य है। यह परमार्थ साधन नहीं है। अतः परमार्थ लिहाज से निषिद्ध है। वस्तुतः चिन्तन परक योग में एवं परमार्थिक योग में ऐसे स्वरोदय का कोई स्थान भी नहीं है।

प्राणायाम निषेध

प्राणायामादि साधन के पवन चढ़ाकर समाधि लगाना नट-साधना से तुलना करते हुये कहा है कि इस शारीरिक क्रिया से आत्म हित कैसे सधेगा ? प्राणायाम द्वारा समाधि को योग में भी हठ-योग की जड़ समाधि ही कही गई है।। अतः इस समाधि को तो योगी जन भी निम्न स्तर की ही समाधि मानते हैं और योग मार्ग में गौण ही है। प्राणायाम से प्रकाशावरण की अवश्य निवृत्ति होती है जो क्रमशः भावोदय करके ज्ञान को निरावरण प्राप्त करने में हेतु है।

उन्होंने इस बात का निराकरण किया कि प्राणायाम से मन का विकल्प मिटता है या सुख होता है अथवा यम (मृत्यु) के वशीभूतपना नहीं होता। मन के विकल्प हटाने के लिये कहा है कि मन को रोक रखना ही पर्याप्त नहीं, मन की वासना मिटाना आवश्यक है, जिससे मन फिर बाहर या भीनर विक्षोभ करना ही बन्द कर दे। तथा चेतना की प्रवृत्ति प्राणायाम में रुकती है तो फिर बिना चेतना सुख भोग का प्रश्न ही नहीं होता। इसलिये इसी से सुख होता है ऐसा भी नहीं। तथा योगी भी अग्नि लगाने से मरते दिखते हैं तो यम के वशीभूत न होने की कल्पना झूंठी है। पंडित जी का यह विश्लेषण काफी सही है। प्राणायाम से प्राण सूक्ष्म, लम्बा और सम होता है और उर्ध्व मस्तिष्क में संचालित होता है जहाँ उपयोग को स्थिर करना अपेक्षणीय है।

मन और प्राण का सम्बन्ध है। अतः मन के निग्रह पर-जो वासनायाम से होता है, प्राणायाम

स्वतः ही सधता है। योगी जनों का भी यही अनुभव है। ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में प्राणायाम अंगको वर्णन करके भी उसकी प्रधानता नहीं रखी है और मन के प्रत्याहार व धारणा पर ही ध्यान मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा की गई है। पंडित जी के मत में भी यही ध्वनि है।

प्राणायाम से जो काल वंचना होती है, वह क्या है? सुषुम्ना में जितने काल प्राण वायु रुकता है काल का भान नहीं होता, यही काल वंचना है। मगर काल और आयु कर्म क्षण क्षण अपना वर्तन व भोग करते ही हैं। और इनका वर्तन सापेक्ष भी है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतः और परतः दो प्रकार से होने की निजी योग्यता है। देहपात तो अन्त में सबको ही होता है। प्राणायाम का मंतव्य प्राण संवर या संयम है जिससे मन का भी संयम होता है। निश्चल व सम प्राण होने पर आत्म ध्यान की भूमि भी प्रशस्त होती ही है। प्राणायाम अभ्यास में प्राण गति निरोध की चेष्टा मात्र है, स्थूल गति ही मंद होती है, पर प्राण सूक्ष्म रूप में किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहते हैं। पूर्णतः प्राण निरोध पर देहातीत अवस्था होती है या समुद्घात होता है। समुद्घात करके ही केवली आयु कर्म बंध को कृत्रिम रूप से सम रूप करते हैं। अतः अघाती आयु कर्म की भी निरपेक्ष सत्ता नहीं है। वस्तु का वर्तन निमित्तानुसार सापेक्ष है। आयु आत्मा की नहीं, देह की है अतः वह भी सापेक्ष है।

प्राणायाम अंग योग का एक बहिरंग अंग है। पर देश विदेश में आसन मुद्रा व प्राणायाम ही लोगों को चमत्कृत कर रहा है। आसन प्राणायाम योग में हैं पर संपूर्ण योग इतना मात्र नहीं है। योग मूलतः शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का उपाय है। सम्पूर्ण योग षडंग, कहीं अष्टांग कहा गया है और सब ही अंगों के एक साथ अभ्यास में ही सिद्धि का द्वार खुलता है। तथा ध्यान समाधि ही अन्तरंग साधन है—बाकी सब बहिरंग साधन माने गये हैं। वस्तुतः पवनादि साधन से परमार्थ नहीं सधता, पर परमार्थ प्राप्ति के मार्ग के जो उपाय भूत कारण-ध्यान समाधि है, परिणाम मग्नता तथा आत्मलीनता रूप साधन हैं उसमें प्राणायाम का थोड़ा अभ्यास ध्यान साधना में सहायता करता ही है, मगर इसकी प्रधानता स्वीकार नहीं की गई है। मन के प्रत्याहार तथा धारणा अभ्यास में प्राणों का सहज याम जब संभव हो जाता है तो प्राणायाम की प्रधानता अपेक्षित भी नहीं रहती। ध्यान स्थिरता के अभ्यास में प्राण स्वतः सूक्ष्म होकर उर्ध्व-होते हैं और समुद्घात को भी प्राप्त होते हैं। प्रकाशावरण अतः ज्ञानावरण का प्राणायाम अभ्यास से क्षय होता है। अन्तर-ज्योति प्रकाश से ज्ञान का समुद्भव होना सम्भव होता है, पर प्राण से मन अधिक सूक्ष्म है।

अनहदनाद

वीणादिक के शब्द सुनने जैसा ही अनहद नाद सुनने में सुख की मान्यता लोग करते हैं। वह तो विषयपोषण है परमार्थ तो कुछ नहीं है, ऐसा पंडित जी ने प्रकट किया है। यथार्थतः तो योगी जन भी अनहद अभ्यास को परमार्थ नहीं समझते। जो इसे परमार्थ ही समझते हैं तो वे निश्चय ही भूल करते हैं, वे तो अपनी आगे की भूमिका अवरुद्ध कर लेते हैं। पर यह अवश्य है कि जो मन अति-

व्यग्र रूप से बाह्य-मुखी रहता है उसे यह अन्तर्जल्प अभ्यास अन्तर्मुखी बनाता है। बहिर्मुखी जल्प से अन्तर्जल्प सुनना इस दृष्टि से श्रेष्ठ ही है। अतः सापेक्ष परमार्थ के परिप्रेक्ष्य में एक अन्तर्मुख उपाय की तरह ही इसका उपयोग करना चाहिए। अनादि का बाह्यआत्मा अन्तर्मुख होकर अन्तरात्मा परिणत होकर ही उर्ध्वमुख होता है और परम स्वरूप में परिणत होता है। यह ध्यान रहे अनहद आदि सूक्ष्म आकाश तरंगों के शब्द भौतिक ही हैं। इन्हें ही निरन्तर सुनते रहने से मस्तिष्क में गर्मी बढ जाती है तथा किसी २ का अपने पर प्रभुत्व ही जाता रहता है।

अजपा जाप का निषेध

अजपा-जाप के लिये पंडित जी ने कहा है कि पवन के निकलने व प्रविष्ट होने में सोहं ऐसे शब्द की कल्पना करते हैं उसे अजपा जाप कहते हैं। तीतर पक्षी की तूही शब्द में जैसे अर्थ की अवधारणा नहीं होती वैसे ही यह शब्द है। उन्होंने आगे स्पष्ट किया है कि शब्द के जपने व सुनने से तो कुछ फल-प्राप्ति नहीं होती, अर्थ का अवधारण करने से फल प्राप्ति होती है। उन्होंने अन्त में प्रकट किया है कि "अन्य जीव जो अपने को न पहचानता हो और कोई अपना लक्षण न जानता हो तब उससे कहते हैं "ऐसा है, सो मैं हूं"। इसी प्रकार पंडित जी ने दो तत्वों की ओर ध्यान को आकर्षित किया है— (1) अर्थ की अवधारणा बिना शब्द की पक्षी रटना निष्फल है। मंत्र साधना में वस्तुतः मन्त्रार्थ ही परम उपयोगी तत्व है, यह एक सर्वमान्य सत्य ही है तथा अर्थ को शब्द ही आश्रय देता है अतः शब्द और अर्थ दोनों का योग होना आवश्यक ही है। (2) दूसरे उन्होंने प्रकट किया है कि सोहं शब्द से उसे ही समझाया है जो अपने से परिचित नहीं है। अतः उस ज्ञानी को जो स्वयं से प्रत्यक्ष परिचित है सोहं अनावश्यक शब्द है। यथार्थ में तो आरम्भी साधक जो अभी स्वरूप से परिचित नहीं हुआ है, उसे ही कहा जाता है "ऐसा वह जो है, वैसा ही तू भी है"। जो अभी कोऽहं कोऽहं की भूमि में हैं, उसे देव के स्वरूप को दिखाकर कहा जाता है कि ऐसा ही तुम्हारा स्वरूप है। अतः वह उस स्वरूप की भावना के लिये 'सोहं' 'सोहं' के चिन्तन में अपनी स्वरूप-अवधारणा को ही दृढ़ करता है। जो स्वरूप-परिचित वा स्वरूप-परिणत हो जाते हैं उन्हें सोहं भावना अपेक्षित नहीं रहती। "पुरुष आप को आप जाने, वह सो मैं हूं-ऐसा किसलिये विचारेगा।" इससे निष्कर्ष यह होता है कि जब तक जीवात्मा को आप अपना स्वरूप बोध दृढ़ न हो जाए, उसे सोऽहं अवधारणा योग्य है। अतः ही "नियमसार" में आ० कुंद कुंद ने सोऽहं धारणा की बड़ी प्रशंसा की है। दृष्टव्य है गाथा सं. 96–97 और 98। पंडित जी ने सोहं रटन को तीतर पक्षी की अज्ञान पूर्ण रटना के समान निष्फल बताया है। वस्तुतः सोहं साधना वाचिक रटना नहीं है, यही उनका विशेष कथन है। सोहं साधना तो संलीन आत्म-समाधि का आनन्द स्वरूप है कि जिसमें स्वतः चिदाकाश में सोहं-२ रूप ध्वनि होती रहती है और ध्यानी साधक आनन्द रस में डूबा तल्लीन स्थिर रहता है। आ. कुंद कुंद ने इसी आनन्द समाधि की प्रेरणा सोहं साधना में की है।

त्रिकुटी ध्यान का निषेध

पंडितजी ने ललाट भौंह व नासाग्र देखने रूप त्रिकुटी ध्यान से परमार्थ होने का भी निषेध

किया है। कहा है "कोई ललाट, भ्रू मध्य और नासिका के अग्र देखने रूपसाधन द्वारा त्रिकूटी आदि का ध्यान हुआ कह कर परमार्थ मानता है, वहां नेत्र की पुतली फिरने से मूर्तिक वस्तु देखी, उसमें क्या सिद्धि है ? तथा ऐसे साधन सें किंचित् अनागतादि का ज्ञान हो व वचन सिद्धि हो व पृथ्वी आकाशादि में गमनादिक शक्ति हो, व शरीर में आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लौकिक कार्य है, देवादिक को स्वमेव ही ऐसी शक्ति पाई जाती है इनसे अपना कुछ भला तो होता ही नहीं है, भला तो विषय-कषाय की वासना मिटाने पर होता है।" पंडितजी ने यहां ध्यान का निषेध नहीं किया है। ध्यान को स्पष्ट करते हुए उन्होंने तो आगे स्वयं तत्वार्थ सूत्र के "एकाग्रचिन्ता निरोध ध्यान" लक्षण को स्वीकार किया है। अतः यहाँ उनका मंतव्य इतना मात्र ही है कि ध्यान की बाह्य मुद्रा मात्र से कोई परमार्थ नहीं सधता। पुतली फिरने से त्रिकुटी मध्य मूर्तिक वस्तु देखी जाती है मात्र मूर्तिक समझने व मूर्तिक भाव रखने में तो आत्मा का चैतन्य भाव गौण रह जाता है। अतः इस मूर्ति रूप चैतन्य रुपस्थ ध्यान में चिन्मय ध्येय रूप चैतन्य भाव मग्नता का अभ्यास होना चाहिये। बाह्य मुद्रा के बाद वस्तुतः अन्तरंग भाव मुद्रा में ही चले जाना चाहिये। साधक को देह के प्रदेश त्रिकुटी हृदय आदि को देखना छोड़कर वहाँ निरालम्ब ही आत्म-ध्यान व आत्म भाव में अग्रसर होना चाहिये। आ. शूभ चन्द्र ने ध्यान के लिये ललाट, भौंह आदि चित्त की कलाधार भूमियों का वर्णन किया है। आ. सोमदेव ने व हेमचन्द्र ने भी इनका वर्णन किया है। इन्हें उन्होंने आत्म-ध्यान के हेतु भी नहीं कहा है। यहाँ चित्तकला का उद्घाटन होता है, अतः ये चित्त के एकाग्र निरोध एवं परिष्कार के ही हेतु वृत्ति के आश्रय स्थल हैं। चित्त जब तक चित्ताकार रहता है आत्म-साधन बनता नहीं, अतः मन की चंचलता या जड़ मनस्कारता की निवृत्ति के ही अर्थ इनका प्रयोग है। इन कलाधारों का उपयोग अन्तःस्त्रावी ग्रन्थि, स्थानीय प्रकाश चक्रों को सक्रिय करने के लिए तथा मन के संकल्प-विकल्पों को रोकने के अर्थ ही करते हैं। यहां उत्तीर्ण हुआ मन आगे वीतरागता को धारण करता है। जो स्थूल-अभ्यास को ही योग की सम्पूर्णता मानकर संतोष करते हैं वे आगे परमार्थ के मार्ग में कैसे उपस्थित हो सकते हैं ? जो साधक दैहिक बहिरंग भागों पर ही अटक जाते हैं, उन्हें यहां सम्बोधित तथा सचेत किया गया है कि विषय कषाय के निवृत्त होने रूप आत्म-साधना की भी प्रमुखता करो, क्योंकि आत्म-साधना वीतरागता का मार्ग है। ध्यानादि परमार्थ अभ्यास का भी मूल हेतु यही है कि चित्त बार-बार आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्ति करता हुआ अपने विषय कषायों की वासना से निर्मल हो। अंतर में मूर्तिक रुपस्थ वस्तु पुरुषाकार स्वरूप दर्शन के अनन्तर ही आत्मा का रूपातीत गुण भावना रूप ध्यान का क्रम संभव होता है।

मोक्ष एक, मार्ग एक

मोक्ष मार्ग एक है, दो नहीं, उसका निरुपण ही दो प्रकार से है-यह बड़ी प्रसिद्ध उनकी उक्ति है।

यह निर्विवाद है कि मोक्ष एक है, और मार्ग भी एक है और इस "एक" का भी अर्थ वस्तुतः जैसा कि जैन वाङ्गमय में अर्थ लिया गया है, शुद्ध है। अर्थात् मोक्ष मार्ग विशुद्धता का ही मार्ग है, यहाँ मार्ग से अमार्ग, या कुमार्ग का निषेध है। शुभ व अशुभ आस्रव वाले उपायों का भी

निषेध करके केवल विशुद्धि का ही मार्ग है। यहां एक मात्र विशुद्धि ही लक्ष्य है और वही मार्ग है, और वह शुद्ध लक्ष्य शुद्धनय से निरूपित-द्रव्यार्थिक नय का शुद्ध व सिद्ध सम आत्मा है और इसका मार्ग ऐसे ही विशुद्ध आत्मा के श्रद्धान को ही लेकर है।

मानव स्वयं आप अपनी रूचि, ज्ञान और भाव स्थिरता पर सर्वज्ञ उपदेशानुसार जैसी भी अपनी योग्यता समझता है, एक साधना ग्रहण करता है। मार्ग शास्त्र से वा ऐसे गुरु द्वारा ही निर्णीत हो सकता है जिसने मार्ग देखा हो। "मार्ग" का लक्ष्य अव्याबाध नित्य ज्ञानानन्द आत्मा है। वही स्थिर लक्ष्य है। अब साधक ही चल स्थिति में है। इस लक्ष्य प्रति जो भी उपाय गुरु निर्दिष्ट करता है उस साधक का वही एक साधन होगा। जो गुरु निर्दिष्ट है, वही साधन है बाकी सब साधक के लिये विकल्प या अमार्ग या विमार्ग ही होंगे। साधक को ही अपनी वर्तमान अशुद्ध स्थिति से आगे शुद्धता की ओर चलना है, अतः उसे मार्ग को ग्रहण करके पथ का यात्री बनना होगा। और यात्री मंजिल दर मंजिल ही चल सकता है। वस्तुतः यह शुद्धता का मार्ग तो—"दर्शन ज्ञान चारित्र रूप" एक ही है परन्तु इस "एक" में पहुंचने रूप यात्रा में जीव की तात्कालिक विलक्षणता, बुद्धिगत सूक्ष्मता, तथा भाव गतस्वच्छता के तारतम्य के अनुसार बहुत प्रकारान्तर सम्भव होते हैं। साधक की प्रकृति, योग्यता, रूचि, और स्थिति को जानकर, व्यवहार (उपाय) रूप मार्ग का वेत्ता 'गुरु' जो भी निर्दिष्ट कर देगा, वह ही साधक का मार्ग है। इस परम्परा में अनेक उपाय व कारण कहे गये हैं। इनके ग्रहण में मानव का पुरुषार्थ व संकल्प तथा भाव की योग्यता ही सर्वोपरि है। इनको देखकर ही गुरु साधना में आने, चलने तथा लक्ष्य की सिद्धि करने के उपाय बता देता है और उन व्यवहार-उपायों को लेकर साधक पथ के चरम मोड़ अभेद-रत्नत्रय पर आ पहुंचता है। मार्ग में अनेक पडाव व मंजिले या क्रम हो सकते हैं मगर उनसे लक्ष्य-वेद नहीं होता। मार्ग तो अशुद्धोपयोग से शुद्धोपयोग में आने का ही है और शुद्धोपयोग की प्राप्ति भी निसर्ग रूप से या अधिगमज रूप में गुरु के माध्यम से होती है। अशुभ का निराकरण शुभ से करते हुए, अशुभ का बोझ पर्याप्त हलका होने पर शुभ में चलते हुए जीव को ही कभी काल पकने पर शुद्ध मार्ग मिलता है। तब शुभ-शुद्ध के झोले खाते-खाते शुद्ध मात्र की उपलब्धि फिर कभी हो जाया करती है। अतः मार्ग निरूपण में ही, जो साधक की योग्यता को देखकर किया जाता है, भेद होता है। द्रव्यार्थिक व व्यवहार ऐसे दो भेद-निरूपण में है। निरूपण पथ नहीं है। वह तो कथन मात्र है, पथ वह है जो आप स्वयं साधक क्रम 2 चलता है, जो चरणानुयोग का विषय है और गुरु की शिक्षा के अनुसार है। अभेद स्व ज्ञान-स्वरूप के लक्ष्य संधान को सभेद व्यवहार-अभ्यास से योग विज्ञान कराता है। अतः योग मार्ग व मोक्ष मार्ग पर्यायवाची हैं। नये चन्द्रमा को दिखाते हुए कहा जाता है, वह अंगुली के ऊपर चन्द्रमा है। वस्तुतः यह तो कब मान्य है कि चन्द्रमा अंगुली पर है। चन्द्रमा तो न इस कथन मात्र में है न वह चन्द्रमा अंगुली के व्यवहार में है। वह तो स्वदृष्टि के अनुसंधान में है। वह अनुसंधान ही आत्म-चारित्र है और पथ है। द्रव्यार्थिक नय तो शुद्ध वस्तु का कथन ही करता है, संकेत ही करता है। पथ तो चरणानुयोग रूप आत्म-अनुसंधान है। योगाभ्यास है वही लक्ष्य पर पहुंचाकर स्थिर करता है। वस्तुतः इस पथ का चलना ही मोक्ष का उपाय है।

योग का अखण्ड एक स्वरूप—

यह एक बहुत बड़ी भ्रांति है कि योग अलग है, उपासना-भक्ति योग अलग है, ज्ञान-योग अलग है, या कर्म-योग अलग है या राजयोग अलग है। स्वामी विवेकानन्द ने राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग ज्ञान योग के नाम से अलग-अलग योगों का कथन किया है। एक सम्पूर्ण योग के इस तरह विभाग में योग की न अखण्ड दृष्टि है, न समन्वित या पूर्ण दृष्टि ही है। गीता में भी टीकाकारों ने ऐसे ही अलग-अलग नामों से योग के भेद बताकर एक सम्पूर्ण योग का खण्डशः वर्णन किया है। योग तो दर्शन-ज्ञान और चारित्र का अभेद स्वरूप है। अतः भक्ति, ज्ञान और चारित्र सब अभेद ही साथ-साथ चलते हैं। इनका भेद करना आत्मा का ही खण्डन करना है। ये तीनों गुण एक आत्मा के ही हैं और आत्मा में अभेद हैं। अतः इन्हें समझने के लिये अलग-अलग चाहे कहें, मगर इनका कार्य अखण्ड व अभेद ही आत्मा से आत्मा में होता है। दर्शन बिना ज्ञान अपूर्ण है, ज्ञान बिना दर्शन अपूर्ण है, तथा आचरण या स्थिरता बिना दर्शन 'श्रद्धा' एवं ज्ञान भी असम्भव है, ये सब धूमिल हो जाते हैं। सद्दृष्टि बिना न ज्ञान हो सकता है न आचरण, और आचरण बिना ज्ञान पंगु है और श्रद्धान भी बिना आचरण निष्फल है। ऐसे तीनों गुणों की अभेद त्रिपुटि है। ज्ञान योग भक्तियोग आदि रूप से अलग-अलग योग भेद करना सही नहीं है। योग को यदि एक पुरुष की तरह कहा जाये तो कहना होगा कि दर्शन 'श्रद्धा' उस पुरुष का हृदय है, ज्ञान उसका मस्तिष्क है; और आचरण उसका चरण है। अब यदि आप इन तीनों तत्वों को खण्ड-खण्ड देखेंगे तो योग का वह संपूर्ण पुरुष आंखों से ओझल हो जायेगा। आप तब या तो दिल ही देखते रह जाओगे, या मस्तिष्क या पांव। तब इन विक्षत हुये अङ्गों से आपको योग का अलौकिक रूप दिखाई भी न पड़ेगा, न समझ में आयेगा।

परमार्थ की प्रेरणा—

पंडित टोडरमल जी ने नयाभासी 'नय कोई भी हो' को मिथ्या दृष्टि कहा है क्योंकि नय एक दृष्टि मात्र है और वस्तु अनेक धर्मी होने से अनेक दृष्टि से कही व जानी जाने योग्य है। पंडितजी न तो शब्द पर रुकते हैं, न अर्थ पर,—वे तो सीधे परमार्थ पर ही पहुंचते हैं और उसी की बराबर प्रेरणा उनके लेखन में है और यह ही उनकी विशेषता भी है। योग में शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का विस्तार से ही वर्णन है। और यह जैन योग की विशेषता है कि यह शब्द को कह कर भी न शब्द पर रुका है, और अर्थ "अभिव्यक्ति, पर्याय" को कहकर भी उस पर नहीं रुका है, यह तो केन्द्रस्थ मूल तत्व पर,—बोध पर ही पहुंचा है। सामान्य मात्र तो बिना विशेष पर्याय अकार्यकारी है ऐसा स्पष्ट उल्लेख पंडित जी का है। वे सम्यक् दर्शन के लिए वस्तु की द्रव्य दृष्टि, द्रव्यार्थिक -नय, शुद्ध-नय को कहते हैं और शुद्ध नय प्रतिपादित आत्मा की प्राप्ति ही को मोक्ष, व उसके ध्यान प्रतीति व स्थिरता को मार्ग कहते हैं। वे इस प्रकार आ० श्री कुन्दकुन्द व अमृतचन्द्र आदि की परम्परा को आगे बढ़ाते लक्षित होते हैं। और इसीलिये उनकी प्ररूपणाएँ आचार्य-कल्प मानी जाती हैं। उनका मंतव्य उत्कृष्टतम स्वरूप-प्राप्ति ही है और वे इसके लिये वीतरागता को यथार्थ ही प्रधानता भी देते हैं।

वीतरागता की प्रधानता—

वीतरागता की प्रधानता योग का स्वरूप है। योग में आसक्ति-हीन, तथा विषय एवं कषाय-हीन प्रवृत्ति और अभ्यास का उपदेश दिया गया है। योग के तमाम अभ्यासों में साधक की दृष्टि अपने परम प्राप्तव्य वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप की ही होती है तथा प्रवृत्ति विषय व कषाय रहित रहने की होती है। योग साधना में तो शुद्धतम स्वरूप की प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन की ही भूमिका से अभ्यास करना समीचीन माना गया है। सर्वज्ञ योग परम्परा की यही बात है। राग व वासना ही संसार है; वासना तो मुक्ति की भी होना अयोग्य है। सहज रूप व कामना वासना रहित आप अपने में, ज्ञान रूप मात्र से स्थिरता करना ही इस योग का मंतव्य है। वासना ही आत्मा के वस्त्र हैं, आवरण हैं—इनके हटते ही वीतरागता है, दिगम्बरत्व है, और कर्म-ग्रन्थियाँ रहित निर्ग्रन्थिता है, अपनी सहजता, अपनी स्वाभाविक दशा है।

योग और सहज अवस्था—

यह आपको कुछ करने को नहीं कहता। यह आपको अपने आप में सहज होने को कहता है। धर्म अपने आपकी ही खोज है। अपने सहजसौम्य मूल स्वरूप की खोज है तथा उस खोज के लिए एक वासना रहित वीतराग परिणत आदर्श पुरुष के चारित्र को भी समक्ष करता है जिसने अपने व जगत के साथ एक सहज सम्वन्ध जोड़ा था, वासना और राग रहित होकर जोडा था। पर अपने आप में सहज व स्वाभाविक स्थिर होना आसान नहीं; वड़ा कठिन है। अतः ही अभ्यास और आदर्श की भी अपेक्षा है। पर जो क्षणात् ही सहज हो सकते हैं—उन्हें अभ्यासादि व्यवहार भी अपेक्षित नहीं हैं क्योंकि वे तो प्रभुरूप ही हैं।

निर्मल भाव मयी सयोगी अवस्था

योगी अपने अभ्यासों द्वारा गुण-श्रेणी आरोहण में भावों की विवर्धमान विशुद्धि एवं उज्जवलता से मन वचन काय के विषय कषाय रूप परिस्पंदनों का क्रमशः निरोध कर अपनी ही मूल निर्मल सयोगी जिन अवस्था को उदभव करना चाहता है, और तदनन्तर ही अयोग जिन-अवस्था की ओर आता है। सयोग अवस्था में परिस्पंदन होते हैं, मगर रागादि से निर्मल होने से सम रूप होते हैं जिनमें उनके व जगत् के बीच एक गहरा अन्तर-मिलन होता है—और आत्म-प्रदेशों में हलन चलन; हीनाधिकता, चढ़ना या नीचे होना भी नहीं होता। गुण एवं भाव रूप से भी निर्मल भाव मात्र अवस्था रहती है।

भावातीत अयोगी अवस्था

इस भाव अवस्था का भी निरोध होकर अयोगी "भावातीत" होकर अशरीरी होते हैं, और

सिद्धालय में प्रतिष्ठित होते हैं। भाव विशुद्धि के अनन्तर भाव-निरोध से भावातीत मुक्त-दशा आती है। योग-विज्ञान की ऐसी ही अलौकिकता है। इन योग अभ्यासों को अभूतार्थ कह कर जब कहीं निरादर प्रकट किया जाता है, तो यह मोक्ष मार्ग की अवमानना है। शास्त्रादि का श्रवण वा चर्चा मात्र ज्ञान नहीं है, यह सब ज्ञान तो बौद्धिक स्तर तक ही रहता है, अन्तश्चेतना उससे अछूती रहे, तब तक ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं।

यथार्थ ज्ञान क्या ?

ज्ञान वह है जो ज्ञानी को स्वरूप से तन्मय करे और योगाभ्यास से साधक ऐसा ही ज्ञान रूप होकर परिणमन करता है। ज्ञान आत्म स्थिरता एवं शुद्ध परिणाम-मग्नता के अर्थ योग के सर्वांग आचरण की अपेक्षा करता है और तब वह ज्ञान ही योग विज्ञान वा आत्म-विज्ञान नाम पाता है। इसी विज्ञान की चर्या योग में हैं। यह मज़मा या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है, न मात्र मौखिक चर्चा की; यह अनुभव एवं आत्म-एकाग्रता का विज्ञान है, अभ्यास का प्रायोगिक विज्ञान है। इसका रस अभ्यास और और अनुभव करने में आता है, स्व संवेद्य है; क्योंकि यह स्व का ही अन्तर-तत्त्व है।

अर्हंत् पुरुषों व आचार्य गणों ने कहा है हे, भव्य जनों! इसके रस का आस्वादन करो।

देह और आत्मा का सम्बन्ध, मन वचन काया के निरोध

यह समझना एक भ्रम ही है कि संसारी देहस्थ "छद्मस्थ" जीवात्मा के मन वचन काय की क्रिया का आत्मा के साथ कोई "सम्बन्ध" नहीं है। छद्मस्थ की मन वचन काया की क्रिया अज्ञान मूलक आत्मा की ही क्रिया है। इन क्रियाओं में आत्मा के भाव-प्रदेशों में हलन चलन आदि होते ही हैं और कर्म-प्रत्ययों का बन्ध भी निमित्तानुसार पड़ता ही है। कर्म-प्रत्ययों में स्थिति व अनुभाग कषायों से और प्रकृति और प्रदेश बन्ध मन वचन काय के हलन चलन से पड़ते हैं। प्रकृति और प्रदेश बन्ध चाहे कितने ही अल्प हों, मगर इससे यह स्पष्ट होता है कि वि-भावी आत्मा के साथ मन वचन काया की क्रिया का सम्बन्ध है। जीव के भाव मन में व्यक्त होते हैं, फिर वचन में होते है तथा फिर आगे काया की चेष्टा में व्यक्त होते हैं। इसी कारण विषय व कषायों की निवृत्ति के लिये मन वचन काय के भी निरोध को उपदिष्ट किया गया है। यही संवर का स्वरूप है। यह शारीरिक क्रिया मात्र है ऐसा कह कर इन क्रियाओं की तुच्छता बताने वाले तो तत्त्व की अज्ञता को ही प्रकट करते हैं। देह मंदिर में अन्तः प्रेक्षा करके ही परम विराट् सत्तामय आत्मा का दर्शन संभव होता है। जिसे उस देह मंदिर में अन्तर आत्मा को भी देखना नहीं आता, वह परम चैतन्य परम आत्मा को भी कैसे देख पायेगा ?

गुप्ति का स्वरूप और बीतराग भाव

जीव के मन वचन काया की क्रिया, चेष्टा, और आत्म-प्रदेशों की स्थिरता या कंपन परस्पर

सम्बद्ध ही हैं। योग में मन वचन और काय की सुनिश्चलता पर उतनी ही प्रधानता है, जितनी आत्मा के भाव-प्रदेशों की वीतराग सुनिश्चलता की। बल्कि आत्म प्रदेशों की ऐसी सुनिश्चलता के ही प्रयोजन से इन तीन प्रकार "मन वचन काय" की सुनिश्चलताओं को कहा गया है। पर आज तो अजैन योगियों ने विश्व में बहुत कर कायिक आसनादि क्रियाओं के ही प्रदर्शन करके बहिरंग योग की प्रसिद्धि कर रखी है। अध्यात्म-योग का शारीरिक क्रिया तथा रागादि के निग्रह से आत्मिक प्रदेशों के विक्षोभमय हलन चलन रोकने का मंतव्य है। शारीरिक आसनादि क्रियाओं में भी आध्यात्मिक अर्थ ही प्रधान वस्तु है। जब मन को वीतराग, वचन को मौन और काय को स्थिर किया जाता है, तो उसका उद्देश्य आत्म-प्रदेशों के कषाय रूप व मोहरूप हलन चलन को रोकना है जिससे आत्मा-आत्मा में सुस्थिर व सम स्थित रहे। रागादि रहित सम स्थिरता ही अबंध दशा है। पण्डित जी ने कहा है कि वीतराग भाव होने पर मन, वचन, काय की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति है[1]। संवर को तत्त्वार्थ सूत्र में "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः" कहा है। इन सब चारित्रों में व मन वचन काय निरोध में भी वीतराग भाव रखना होता है।

विशुद्धि की दो दिशाएं—वीतरागता और सर्वज्ञता

योग में विशुद्धि का अर्थ मन वचन काय—सब की ही विशुद्धि को साधने पर ही जोर दिया गया है, क्योंकि मन वचन काय की शुद्ध क्रिया से ही पर्याय में शुद्धि होती है। वरना आत्मा-द्रव्य तो शुद्ध ही है। शुद्ध का अर्थ अतः पंडित जी ने रागद्वेष विषय कषाय से रहित होना सही प्रकट किया है। इसी से निर्जरा भी घटित होती है। निश्चय धर्म तो वीतराग मात्र भाव है, अन्य नाना विशेष वाह्य साधन जो अपेक्षा व उपचार से लिये हैं, उनको व्यवहार मात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को जो नहीं जानता उसके निर्जरा का भी श्रद्धान नहीं है। इस प्रकार कह कर उन्होंने ने शुभ अशुभ रूप विकल्पों का निषेध करके मात्र शुद्ध का ही प्रतिपादन किया है, और यह ही जैन धर्म या जैन योग का हार्द भी है। शुक्ल ध्यान में शुक्लता की सर्वोपरिता इसीलिये है कि वहां वीतराग भाव की उपस्थिति से ही ध्यान की धारा चलती है, इसी से शुद्धोपयोग होता है। वास्तव में ज्ञान और वीतरागता की दो धाराएं एक ज्ञान गुण की दूसरी राग रहित स्थिरता रूप चारित्र गुण की समानान्तर चलती हैं।

ज्ञान और योग

आसन व प्राणायाम बहिरंग अङ्गों के प्रदर्शन तथा प्रधानता से योग का मूल आध्यात्मिक स्वरूप आम लोगों की दृष्टि में गौण प्रायः हो गया है। इसी कारण लोग ज्ञानी कहे जाने में गर्व एवं गरिमा प्रतीत करते हैं। मगर योगी शब्द में नट–विद्या का आभास पाते हैं, यद्यपि ज्ञान तो योग के

---

[1] पृ० 228

तीन रत्न, दर्शन ज्ञान चारित्र में से एक रत्न मात्र है और योग तीन रत्नों का एक परिपूर्ण विज्ञान है। अर्थात् योग में ज्ञान तो समाविष्ट ही है।

योग का विषय क्या है, उसके क्या आयाम है, उसका उत्स कब व कैसे हुआ, मूल आस्थायें क्या हैं, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है,—आदि-आदि पर विचार किया जाना चाहिए। योग के शुद्ध स्वरूप की मांग है कि इसके निर्भ्रान्ति रूप को अवधारित किया जाए और इस प्राचीन सर्वज्ञ आत्म विद्या का स्वरूप विद्यमान रहे और परम्परा छिन्न न हो।

सविकल्प और निर्विकल्प के अर्थ

"रहस्य पूर्ण चिट्ठी" में पण्डित जी ने सविकल्प के साधन से निर्विकल्प साधन होने का विधान कहा है, यह कथन योग सम्मत है। सविकल्प मन द्वारा होता है, निर्विकल्प में भी मन न रहता हो ऐसा नहीं; केवल मात्र मन में जब रागद्वेषादिक नहीं होते तब वह निर्विकल्प कहने में आया है। रागद्वेषादि से आप उपयोग को न भ्रमाएँ तब तक निर्विकल्प दशा है। स्वानुभव जिसे कहते हैं, वह भी मन के द्वारा ही है, अनुभव पर्याय की वस्तु है। पंडित जी ने इस प्रकार जैन योग-तत्त्व को स्पष्ट किया है। अजैन मत में मन के नष्ट होने रूप या अहं के नष्ट होने रूप को निर्विकल्प मानते हैं, क्योंकि वे मन को द्रव्य रूप ही मानते हैं, आत्मा के भाव रूप नहीं। जैन मान्यता में मन द्रव्य तथा भाव दोनों रूप है और भाव मन स्वयं आत्मा का ही रूप है अतः मन नष्ट नहीं होता, न मन का अहं ही नष्ट होता है। मात्र अहं के विक्षोभ, व विकल्प तथा विभाव का ही परिष्कार होता है और मन व अहं निर्विकार हो जाते हैं। हमारा ज्ञान ही अस्थिर एवं अज्ञान रूप रहा होता है—वहीं से अस्थिरता तथा विकार मन के प्रवाह में बह आते हैं; इसमें मन रूप धारा का क्या दोष हैं?

सामान्य और विशेष

पंडित जी ने सामान्य-विशेष पर भी कथन करते हुए स्पष्ट किया है कि सामान्य विशेष के बिना बनता नहीं। विशेष "पर्याय" सहित ही सामान्य होता है। ऐसे उन्होंने आत्म वस्तु के द्रव्य व पर्याय दोनों पर ही समान रूप से ध्यान आकर्षित करते हुए शुद्ध नय "द्रव्यार्थिकनय" की प्रधानता सम्यक् दृष्टि के लिए मानी है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप द्रव्यार्थिक नय से श्रद्धा का विषय है। अतः स्वरूप निर्णय के समय इसी शुद्ध स्वरूप की अवधारणा या श्रद्धान करके दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय कर लेना कहा गया है।

योग चर्या सम्यग् दर्शन से भी आगे

पंडित जी की मोक्ष मार्ग प्रकाशक-रचना सम्यक् दर्शन के अङ्गों के विवरण के बाद अधूरी रह गई है। और यह अति दुर्भाग्य ही रहा कि पंडित जी की प्रज्ञापूर्ण लेखनी सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र के अङ्गों पर प्रकाश न डाल सकी। योग का मार्ग न केवल सम्यक् दर्शन का है, यह सम्यक्

दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र तीनों को अभेद मानकर आत्म दर्शन से मोक्ष प्राप्ति के उपाय को स्पष्ट करता है। अतः पंडित जी की रचना संपूर्ण योग मार्ग का विवरण नहीं बन सकी। अतः उससे योग मार्ग के साधनों का मिलान करके योग को व्यवहार मात्र व अभूतार्थ कहना व मानना तो अपनी अज्ञता को ही प्रकट करना है। चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय करने के साधनों को जो एक-एक चरण रूप आत्म-स्थिरता के हेतु हैं—अभूतार्थ कैसे कहा जा सकता है? यह योग मार्ग स्वरूप चरण का विज्ञान है। इसमें धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान आदि ध्यानों की बड़ी महिमा है। ये विज्ञान प्रायोगिक है। अतः इसकी महिमा वे ही जानेंगे जो अभ्यास करेंगे और अनुभव लेंगे। योग यथार्थं ही कतिपय सविकल्प साधनों को ग्रहण करके सर्व विकल्पों को उच्छेद तथा अति क्रांत करके निर्विकल्प सहजानन्द को उद्घाटित करने का मार्ग है। इसकी शैली निरूपण प्रधान नहीं है, गति 'गमन' परिणमन व अनुभव प्रधान है, जिसमें वीतरागता व सर्वज्ञता ही परिणमति है। यहां आत्मा के ज्ञान स्वरूप को लेकर आत्मा को आत्मा में ही प्रबोधित तथा स्थिर करते हैं। इस लिये ज्ञान-आत्मा का निरंतर ज्ञानमय-विचार (Sustained thought) साधक को ज्ञान में एकाग्र करके समाधिस्थ कर देता है। और यही विशेषता है इस जैन योग की तथा यही इसे अन्य-अन्य योग-आम्नायों व सम्प्रदायों से विशिष्ट करता है।

केवल ज्ञान विशेष व्यक्ति दशा है

पंडित जी ने शक्ति और व्यक्ति के मर्म को केवल ज्ञान के उदाहरण से इस प्रकार प्रकट किया है—"सर्व जीवनिविषै केवल ज्ञान स्वभाव कहा है सो शक्ति अपेक्षा कहा है। वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भए ही है। कहीं कोउ ऐसा मानै है कि आत्मा के प्रदेशनिविषैं तो केवल ज्ञान ही है, उपरि आवरण ते प्रगट न हो है। सो यह भ्रम है। जो केवल ज्ञान होय, तो वज्रपटलादि आडे होते भी वस्तु को जाने, कर्म्म के आडे आए कैसे अटकैं? तातैं कर्म्म के निमित्त तें केवल ज्ञान का अभाव ही है। जो याका सर्वदा सद्भाव रहे है, तो याको पारिणामिक भाव कहते,—सों यह तो क्षायिक भाव है। सर्व भेद जामे गर्भित ऐसा चैतन्य भाव सो पारिणामिक भाव है। याकी अनेक अवस्था मति ज्ञानादि रूप वा केवल ज्ञानादि रूप है, सो ए पारिणामिक भाव नहीं। तातैं केवल ज्ञान का सर्वदा सद्भाव न मानना।" यहां उन्होंने श्वेताम्बर आम्नायों का जो ज्ञान को सत्ता रूप मानता है, निराकरण किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि केवल ज्ञान सत्तारूप सदा से है, ऐसा नहीं है, जब वह विशेष पर्याय रूप प्रकट होगा—तब ही वह है–इससे पूर्व नहीं।

जब जीवात्मा वर्तमान में मति ज्ञानादि रूप--क्षयोपशम रूप अवस्था में है, तो उसे अन्य अवस्थाओं का अभाव ही होता है; इसलिये केवल ज्ञान का भी अभाव है। केवल ज्ञान की शक्ति जीव में हैं, उसे कर्म व्यक्त नहीं होने देते। इस लिये इस अपेक्षा केवल ज्ञान का आवरण है ऐसा कहा जाता है। यह नहीं कि केवल ज्ञान का सद्भाव है और कर्म उसे आच्छादन करते हैं। शक्तिरूप से होने से ही शक्ति का विशेष प्रत्यय या पर्याय प्रकट होता है। तब ही उस व्यक्त हुई अवस्था अपेक्षा उस अवस्था

पारिणामिक भाव वाला है। भाव का अर्थ का सद्भाव कहा जा सकता है। यह आत्मा चैतन्य पुंज ही शक्ति है। चैतन्य आत्म द्रव्य में परिणमन करने की शक्ति है। इसमें शक्ति है कि यह अपने में क्षायिक भाव से केवल ज्ञान अवस्थाओं का उद्भव कर ले। इसमें शक्ति है कि यह सिद्ध बन पूर्ण अवस्थाओं को प्राप्त कर ले। परंतु वर्तमान में ये विशेष अवस्थाएं इसमें जागृत व विकसित नहीं है। वर्तमान में यह केवल क्षयोपशम अवस्थाओं को ही प्राप्त है। अब यदि यह जीवात्मा अपनी शक्ति का प्रचार व विस्तार करके विशेष-विशेष चैतन्य अवस्थाओं की जागृति करे तो कभी इसमें वह क्षायिक ज्ञान अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है जिसे केवल ज्ञान अवस्था या सिद्ध अवस्था कहते हैं।

हम भगवान् तीर्थंकर को इसलिए नहीं आराधते कि वे हमारे समान क्षयोपशमिक अवस्था वाले हैं। हम उन्हें इस लिये आराधते हैं कि उन्होंने केवल ज्ञान व सिद्ध पद विशेष अवस्थाएं प्रगट की हैं। अतः प्रकट होता है कि केवल ज्ञान व सिद्ध पद विशेष अवस्थाओं का विकास प्राप्त कर लेना ही हमारा आदर्श है, वही हमारा लक्ष्य है।

हमारा जो चैतन्य-पिड आत्मा वर्तमान में है—इसकी ध्यान शक्ति को ऐसा प्रदीप्त कर लेना होगा कि केवल ज्ञान भास्कर कहा जा सके। भ० वृषभेश्वर ने धर्म में ऐसी योग-अग्नि प्रदीप्त की थी कि अन्तर में ऐसा प्रतीत होता था कि मानों सैकड़ों उल्कापात के रूप में नक्षत्र-ज्योतियाँ ही फूट पड़ी हों। भ० नेमीनाथ के चचेरे भाई योगीश्वर भावी तीर्थंकर श्री कृष्ण ने युद्धस्थल पर अर्जुन को सहस्त्रों सूर्यो के उदय के समान प्रकाश का उदय अपने चैतन्य-पिंड से प्रकाशित करके दिखाया था और तब ही उसकी भ्रान्ति का निराकरण हुआ।

मैं चैतन्य पिंड हूँ—इसका परिचय तब ही प्राणों को होगा, जब अन्तर-प्राणों में उस चैतन्य पिण्ड में से सहस्त्रों सूर्य सम प्रकाश को ज्योतित होते देख लोगे, वह प्रकाश अवस्था ही विशेष पर्याय है और पूर्ण ज्ञान की व्यक्ति ही क्षायिक पर्याय है। इस विशेष के पूर्व जो भी कुछ है वह मात्र शक्ति का बुझा-बुझा अव्यक्त स्वरूप है। इसमें प्रोज्वलित होने की शक्ति हैं, मगर वह प्रोज्वलित नहीं है। इस विशेष अवस्था को उद्भव कर लेने के उपरान्त ही सामान्य चैतन्य पिण्ड में स्थिरता की बात हो सकती है, वरना जो इस वक्त क्षयोपशम सामान्य अवस्था है उसी में स्थिरता की बात तो निरर्थक है।

जो लोग अतः विशेष को प्रथम उत्पन्न न करके सामान्य सत् पर्याय की बात करते हैं, चर्चा करते है और विशेष से विमुख कराते हैं, वे जैन योग के यथार्थ रहस्य को न स्वयं समझते और न अन्य जनों को समझने देते। परिणामतः वे लोगों को भव-भ्रमण में डालते रहेगे। बौद्धिक ज्ञान क्षयोपशम से अधिक दूर नहीं ले जा सकता—इसके लिये अन्तर प्राणों को अन्तरज्योति रूप परिणमित करना आवश्यक है, और वह ज्योति रूप विशेष अवस्था अभ्यास व साधना से ही उत्पन्न होती है।

शक्ति के प्रचार व शक्ति की विशेष आवस्था से क्षायिक ज्ञान अवस्था के उद्घाटन की महती

आवश्यकता है। इसके लिए योगाभ्यास के साधनों की शरण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। साधन व अभ्यासों से ही शक्ति व्यक्त होने लगती है, और इसी की अग्नि से कर्मावरण जर्जरित होते हैं। ऐसे साधन व अभ्यास रूपी तप चर्या का अवलम्बन लेना ही होगा। तत्त्व ज्ञान प्राप्त कीजिये और तत्त्व ज्ञान के आलोक में अपने अंदर तपाग्नि का उदय कीजिए, ध्यानाग्नि को उदय कीजिए, ये उस योगाग्नि रूप हो जायेगी जिसे ज्ञानाग्नि कहते हैं—उसमें फिर केवल ज्ञान भास्कर अवस्था विशेष का भी उदय हो जायेगा।

पं० टोडरमल जी ने ही आगे कहा है "बहुरि तत्व ज्ञान भए, रागादिक मेटने के अर्थितप करने का तो निषेध नाहीं। जो निषेध होय तो गणधरादिक तप काहै को करें।"

गणधरादिक ही नहीं, स्वयं तीर्थंकर भगवान भी तप करते हैं। इसीलिये उन्हें तप कल्याणक होता है। जब स्वयं भगवान तीर्थंकर को तप कल्याण करने वाला है और इसीलिए उसे कल्याण नाम से विभूषित किया है, तो साधारण जीवात्मा को तप का निषेध—तप व्यवहार है, अभूतार्थ है—ऐसा कह कर क्यों किया जाए? यदि मात्र ज्ञान ही मुक्ति कारक हो तो, क्यों श्रद्धा व चारित्र के मध्य ज्ञान को रखा गया। तप कल्याण के वाद ही जो ज्ञान होता है, वही कल्याण कारी कहा गया है। और तदनन्तर ही मोक्ष कल्याण होता है। मुक्ति की अवस्था विशेष तो हुई नहीं, और कहने लगे, मैं तो मुक्त ही हूँ, ज्ञानी ही हूँ। ज्ञानी होता है—तेरहवें गुण स्थान में। इससे पूर्व तो सब छद्मस्थ ही हैं। छद्मस्थ अवस्था अभ्यास की, व्यवहार की अवस्था है। ज्ञान होने के उपरांत ज्ञानी काहे केलिए अभ्यास करेगा? ज्ञान–अभ्यासी और ज्ञानी ये अलग अलग अवस्थाएं हैं।

मान लीजिए मैं मोटर गाड़ी चलाने की विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहता हूँ—वह योग्यता मेरे में शक्ति रूप है। अब वह योग्यता प्रकट होने के लिये अभ्यास ही चाहती है। मुझे स्टीयरिंग चलानासीखना पड़ेगा और धीरे-धीरे गाड़ी को चलाने व बैलेन्स में रखने का स्टीयरिंग का अभ्यास करते-करते अभ्यास सधेगा। अभ्यास का सध जाना ही विशेष अवस्था है। अब आप सहज रूप में रह कर यानी बिना विशेष प्रयत्न भी गाड़ी को चलाते रह सकते हैं, आप अपने मित्रों से गाड़ी में बातचीत करते हुए भी सधे हुए तरीके से गाड़ी को संभाले हुए चलाते रह सकते हैं। यह सम व सहज अवस्था जो अब विशेष रूप में जाग्रत हुई है—निश्चय ही पूर्व की आपकी सामान्य अवस्था से अपूर्व है। अब आप इसी विशेष अवस्था को जाग्रत कर लेने के कारण सामान्य व सहज रह सकते हैं। यही बात आत्मा की सहज व सामान्य अवस्था तथा विशेष अवस्था की है। विशेष को लेकर-यानी उत्पन्न करके ही सामान्य में स्थिरता सहजता होती है।

माना कि आप में प्रकाश करने की निजी योग्यता या शक्ति है पर जब तक आप अपने को प्रदीप्त दीपक के भांति अन्तर प्रकाश-प्रज्वलित नहीं कर लेंगे, क्या आप का प्रकाश और कैसे आप ज्ञान दीप? अतः अपने ज्ञान दीप को प्रथम अन्तर में प्रदीप्त करें, किसी प्रज्वलित दीप के निकट

जाकर उसकी उपासना करें, और जब तत्समान ही विशेष अवस्था आपकी हो जाए तो सामान्य व सहज रूप में स्थिर हो जाएं। विशेष अवस्था के उद्भव के बाद जब चरम सीमा आ जायेगी और विशेष में स्वतः ही समान-समान सम अवस्था ही रहने लगेगी, कोई हीनाधिक होने का अवकाश ही न रहेगा, तो वही आपकी सहज सामान्य अवस्था होगी।

निश्चय ही आत्मा का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ध्यान और तप द्वारा ही निखरता है—इन्हीं से सहजावस्था का परिणमन होता है। ध्यानादि अभ्यास साधनों को अतः व्यवहार व अभूतार्थ कह कर अवमानना कभी नहीं की जा सकती।

मिश्र व्यवहारी और शुद्धव्यवहारी

परमार्थ वचनिका में कविवर पं० बनारसीदास ने प्रकट किया है—"सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को परोक्ष प्रमाण द्वारा अनुभवता है, पर सत्ता—पर स्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ योग द्वार से अपने स्वरूप के ध्यान—विचार रूप क्रिया करता है—वह कार्य करते हुए मिश्र व्यवहारी कहा जाता है। केवल ज्ञानी यथाख्यात चारित्र के बल से शुद्धात्म स्वरूप का रमण शील है। इसलिए शुद्ध व्यवहारी कहा जाता है। योगारूढ़ अवस्था विद्यमान है, इसलिये व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्ध व्यवहार की सरहद तेरहवें गुण—स्थान से लेकर चोहदवें गुणस्थान पर्यन्त जानना। "असिद्धत्व परिणमनत्वात् व्यवहार।" इस प्रकार जब तक असिद्धत्व परिणमन रहे—यानी सिद्धत्व स्वरूप परिणमन न हो—सब क्रिया अभ्यास, चारित्र व्यवहार नाम पाते हैं।

अनात्म तत्त्व का ज्ञान अवधिज्ञान और आत्मा का केवल ज्ञान केवलि अवस्था

पं० टोडरमल जी ने भी रहस्यपूर्ण चिठ्ठी में कहा है आत्मा को तो प्रत्यक्ष केवलि ही जानते हैं, कर्म वर्गणा को अवधि ज्ञानी भी जानते हैं। अर्थात् पुद्गल अनात्म तत्त्व का ज्ञान अवधि-ज्ञान में हो जाता है। आत्मा का ज्ञान केवलि अवस्था में होता है जो तेरहवें गुण स्थानक अवस्था है। केवल ज्ञान सर्व वस्तु को युगपद् जानता है। और यह जानता ना प्रत्यक्ष जानना है, अक्ष का अर्थ यहाँ आत्मा लिया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब तक केवली अवस्था न परिणमित हो साधक व्यवहार व अभ्यास के ही क्षेत्र में रहता है—और वस्तुतः उसे अपने साधन—अभ्यास में ही रहना भी चाहिए, साधन ही साध्य में एकत्व कराकर सिद्ध करता है। इससे पूर्व साधक न तो ज्ञानी नाम पाता और न शुद्ध या सिद्ध नाम पाता। वह तब तक न निश्चय अवस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता, वह मिश्र अवस्था में ही है।

यथावस्थ वस्तु निरूपण निश्चय है

पंडित जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश के सातवें अधिकार में स्पष्ट किया है—

"तथा तू ऐसा मानता है कि—सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत शील संयमादि रूप प्रवृत्ति सो व्यवहार-सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि किसी द्रव्य स्वभाव का नाम निश्चय, और किसी का नाम व्यवहार ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चय नय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है।"

तो इस विवेचन से यह प्रकट ही हो जाता है कि जो वस्तु जैसे भाव की है, उसे वैसा ही कहना—यानी "यथावस्था वस्तु निरूपण ही निश्चय नय है। अर्थात् सिद्ध को सिद्ध व व्यवहारी को व्यवहारी मानकर चलना—तथा वैसे ही रहना व निरूपण करना ही निश्चय नय है।

शुद्धात्मा का अनुभव १३वें गुणस्थान में

जब कोई साधक वर्तमान में शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता (क्योंकि शुद्ध आत्मा का अनुभव होना तेरहवें गुणस्थान में है) तो साधक का यह मानकर संतोष कर लेना कि मैं तो ज्ञानी हूं—उसका ऐसा मानना मिथ्या ही है। साधक जब तक सिद्धत्व एवं केवल ज्ञान में परिणमित न हो जाये—अपने को साधक ही मानकर साधन में ही लग कर आगे गति करता चला जाऐ—वह अपने को सिद्ध मानकर निष्क्रिय न हो जाए, निष्क्रिय मान लेना, या कर लेना तो मिथ्या है।

तथा यदि कोई जीवात्मा शुद्ध परिणमित हो गया है, वह शुद्ध स्वरूप का ही अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करता है—कैवल्य प्राप्त हो गया है तो उसका साधनादि करना मिथ्या है। किसलिये वह साधनादि करें?

दोनों नयों का समन्वय, व्यवहार साधक है और निश्चय साध्य है

पंडित जी ने इस प्रकार दोनों नयों के परस्पर विरोध को दिखलाकर कहा है कि दोनों नयों का उपादेयपना साथ-साथ नहीं बनता। पर यह भी स्पष्ट है कि दोनों नय सापेक्ष हैं और सापेक्षता के परिप्रेक्ष्य में क्या किसी नय को मिथ्या या अभूतार्थ कहा जा सकता है। अपने-अपने विषय को प्रतिपादन करने वाले किसी भी नय को—जो अन्य नयों का निराकरण न करता हो, मिथ्या नहीं कहा जा सकता। नय वहीं दुर्नय हो जाता है जो अन्य नयों का निराकरण करता है। व्यवहार निश्चय का साधन है, निश्चय व्यवहार का साध्य है। क्या सीढ़ी बिना कभी कोई महल की ऊपर की मंजिल पर चढ़ पा सकता है? तथा समयसार आत्मा की प्राप्ति के उपरांत तो कोई भी नय नहीं रहता—वह तो नय—भूमियों से अतिक्रांत होकर प्रतिष्ठित है।

पंडित जी ने माना है कि शुद्ध आत्मा का अनुभव ही निश्चय है। अतः इस निश्चय रूप सहज अवस्था, जिसमें सब कर्म, अभ्यास व साधनादि अनावश्यक होकर छूट जाते हैं, की प्राप्ति न होने तक

व्यवहार रूप साधन अभ्यास, ध्यान धारणा उपासना ही अवलम्बनीय है। जब सहज अवस्था निर्विकल्प सहजानन्द प्रकट हो जाए, कैवल्य हो जाए तो निश्चय रूप रहना ही है। इस निश्चय नय में आने के लिये उस व्यवहार को उसकी पराकाष्ठा तक पहुंचा करके, उस व्यवहार—कर्म के परतर प्रान्तों को अतिक्रमण करके ही—साधक को सिद्धत्व रूप परिणमन पर आना होगा। अशुद्ध व मिश्र व्यवहार अवस्था में स्थित रहने वाला व्यक्ति आरम्भ में ही व्यवहार को अभूतार्थ मानने लगे तो वह व्यक्ति सदा ही साधन रहित रहकर साध्य से दूर व अशुद्ध व मिश्र व्यवहारी ही रहेगा कभी व्यवहार भूमि के अतीत न होगा। साधनादि व ध्यान धारणादि के अभ्यास करा कर ही—उस अभ्यास द्वारा ही व्यवहार भूमि को उत्तीर्ण करके निश्चय में अवस्थित होने की प्रेरणा की गई है। निश्चय स्वरूप अंतिम रूप से उपादेय है यदि ऐसा न कहा जाये तो साधक कभी सिद्धत्व परिणमन के लिये व निश्चय स्वरूप में आने के लिये क्यों चेष्टा करेगा? ध्यान व धारणादि रूप योगारूढ़ अवस्था अतः सहज निर्विकल्प अवस्था के लिये साधन व सोपान रूप है। योग जब स्व की प्रतीति, स्व का ज्ञान तथा स्व की रमणता को कहता है, तो स्पष्ट है कि योग का भी लक्ष्य निश्चय स्वरूप में उत्तीर्ण होकर ही कोई व्यवहार में सो सकता है, इससे पूर्व नहीं। यदि कोई इससे पूर्व व्यवहार को (श्रद्धान के अतिरिक्त) अभूतार्थ कहे और व्यवहार में सोने के लिये कहे तो वह मिथ्या है। आत्मा-शक्ति जब स्वयं जाग्रत हो जाती है, चिति का प्रकाश उद्योतमान हो जाता है तब क्रिया व अभ्यास स्वतः ही स्तंभित होकर सहज ही छूट जाते हैं। तब किसी को उन्हें छोड़ने या परित्यक्त करने को कहने की भी आवश्यकता नहीं होती। तब वह सिद्ध साधक क्यों चाह कर क्रिया व अभ्यास करेगा? मन जब स्वयं चिदाकार व आत्माकार ही हो जाता है—उस चरम आत्माकार सहजावृत्ति की बड़ी महिमा है, वही परम प्राप्तव्य व उत्कृष्ट तत्त्व है, वह मुक्ति स्वरूप ही है। अतः स्मरण रक्खें कि निश्चय स्वरूप की सहजावस्था १३वें गुणस्थान में आकर परिणमित होती है इससे पूर्व नहीं।

सहज वृत्ति की श्रेष्ठता

उत्तमा सहजावृत्तिः मध्यमा ध्यान धारणा।
अधमा तु शास्त्रवार्ता, तीर्थ यात्राऽ धमाधमा॥

उत्तम मध्यम और जघन्य रूप से तारतम्य अवस्थाओं का यह निर्देश है। उत्तम तो सहजावृत्ति है। इसके अनन्तर जो मध्यमा दशा है—वह ध्यान धारणा की है तथा इस ध्यान धारणा से भी नीची भूमिका शास्त्र चर्चा, शास्त्र पाठन-पाठन की है तथा इससे भी फिर अन्य अधम भूमिका है तीर्थ यात्रा की।

तीर्थयात्रा यद्यपि प्रशस्त भावों को लेकर की जाती है मगर है बहिर्मुखी वृत्ति। क्योंकि वहां निज आत्मा देव का ध्यान न होकर देवालयों में देव-दर्शन का भाव है। इसी प्रकार शास्त्र वार्ता कर्णेन्द्रिय द्वारा मन-राजा का विषय-पोषण है। जब तक कि मनन व ध्यान में उतर कर श्रवण किये

तत्व का अभ्यास न हो, वह तब तक तो बहिर्मुखी वृत्ति ही है। तथा ध्यान धारणा में भी प्रथम तो मन को ही लगाना होता है। मन की चेष्टा तक वह अन्तर्मुखी क्रिया है और आत्मा के साक्षात्कार पर ही आत्मा की उर्ध्वमुखी क्रिया होती है। ध्यान धारणा में जब मन निश्चेष्ट हो जाए, संकल्प विकल्प विवर्जित हो जाए तब वही यथार्थ आत्म-ध्यान है और उस आत्मस्थ अवस्था से ही कालान्तर में सहजावृत्ति का आविर्भाव होता है तव चेष्टा रूप ध्यान-धारणा, व जीवन की अन्य चोवीस घण्टे की प्रवृत्ति या हेय या उपादेय के संकल्प या विकल्प—ऐसे सब भाव आदि भी निवृत्त हो जाते हैं, और तब वह आत्मा परमानन्द रूप ही स्थित रहता है, चिदानन्द ही सदा बरसता रहता है। अतः सहजावृत्ति को ही सर्वोत्कृष्ट कहा गया है और वह ही योग अवस्था है। इस सहजावस्था के पूर्ण होने तक साधना की, व्यवहार की भूमिका होती ही है।

ध्यान धारणा की चेष्टा तक यानी अयत्नपूर्वक ध्यानावस्था न रहने लगने तक ध्यान धारणा की मध्यम भूमिका होती है। उत्तम सहजावृत्ति ज्ञान और वीतरागता से ही विभूषित रहती है, वही उत्तम भूमिका है।

इसी वर्णन को इस प्रकार भी तरतमता रूप से कहा जा सकता है, तीर्थयात्रा उत्तम दशा है, शास्त्र वार्ता उत्तमोत्तर, ध्यान धारणा उत्तमोत्तम तथा सहजावृत्ति उत्तमोत्तमतम। इस वर्णन में योग मार्ग का ही अनुक्रम है। अध्यात्म में आगम शास्त्र जीव के लिये बाहर का चक्षु है, मगर ध्यान धारणा अन्तर्चक्षु है जिससे आत्मा का दर्शन होता है। उस दर्शन के उपरान्त ही अभ्यास करते-करते सहजावृत्ति उल्लसित होती है। आत्म-ध्यान क्षीण-मोह के उपरान्त शुद्धोपयोग रूप होता है। इससे पूर्व सकल जिन परमेष्ठी प्रभु के ध्यान किये जाते हैं, इस ध्यान की अभेद उत्कर्षता में ही फिर आत्म-ध्यान की भूमिका प्राप्त होती है।

आत्म-दर्शन क्या ? स्वरूप में परिणाम मग्नता आत्मदर्शन है

आत्म-दर्शन पर पण्डित टोडरमल जी का यह स्पष्टीकरण है। अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्म के प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं है। परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम-अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा ही जानता है, आप ही अनुभव रसास्वाद को वेदता है। जैसे कोई अंधा मिश्री को आस्वादता है, वहां मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं, जो जिह्वा ने स्वाद लिया है वह स्वाद प्रत्यक्ष है—वैसे स्वानुभव में तो आत्मा परोक्ष है, जो परिणाम से स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है, ऐसा जानना। वस्तुतः श्रद्धान और परिणमन ये आत्मा के दो गुण हैं और आत्म परिणमन में ही जो साधना से होता है—स्वानुभव का स्वाद आता है।

अनुभव की तरतमता से गुणस्थान भेद

"अनुभव चौथे गुण-स्थान में ही होता है। ऐसा परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से से होता है और ऊपर के गुणस्थान में शीघ्र-शीघ्र होता है।"

ऐसे ऊपर व नीचे गुण स्थानों के तरतमता रूप भेद को बताते हुए स्पष्टता की है कि चौथे से ऊपर के गुण-स्थानों में परिणामों की मग्नता विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनों ही के परिणाम नाम लेने में हैं, वहां एक को तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है—उसी प्रकार जानना।

आत्म रस के आस्वाद से सुख का होना ही अनुभव है

अनुभव क्या व किसका नाम है सो समयसार नाटक में कहा गया है—

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम।।

अर्थात् मन को साथ लेकर जब वस्तु के स्वरूप की चिन्तना की, तो चिन्तना करते-करते जहाँ मन विश्राम ले लेता है, मग्न हो जाता है, वहां जो सुख रस का आस्वाद आया, वही अनुभव है। इस प्रकार आत्म-अनुभव मन से मन के अतीत अतीन्द्रिय सुख रूप होता है तथा मन बिना जुदे हुये ही ऐसे परिणाम स्वरूप में प्रवर्तित हो जाते हैं। वस्तुतः आत्म-अनुभव का परिचय प्रत्यक्षतः सप्तम गुण स्थान से पूर्व नहीं होता। चौथे गुण स्थान में तो श्रद्धा से परोक्ष अनुभव होता है। सप्तम गुण स्थान में प्रत्यक्ष आत्मा का आभास रूप दर्शन ही प्रत्यक्ष सम्यक्दर्शन है। इससे पूर्व का तो परोक्ष सम्यक् दर्शन है।

परिणाम कहते हैं भावों को। परिणाम मग्नता का अर्थ है, भावों की मग्नता, भावों का तन्मय हो जाना। स्वरूप जो ज्ञान रूप है—उस रूप ही भावों का स्थिरता होकर विश्रान्त हो जाना, ध्याता व ध्येयपना नहीं रहना।

परिणाम मग्नता तन्मय अवस्था का ही नाम है

प्रकट होता है कि पं० टोडरमल जी ध्यान-प्रक्रिया की तन्मय अवस्था की प्राप्ति को ही परिणाम मग्नता के नाम से कहते हैं। सविकल्प दशा में जिस चैतन्य स्वरूप का निर्णय व निश्चय किया था उसी स्वरूप में व्याप्त-व्यापक होकर यानी ध्याता, ध्येय और ध्यान रूप त्रिपुटी का वेध करके जो निर्विकल्प निराकुल निरालम्ब अवस्था रूप समाधि होती है—वही परिणाम-मग्नता है। इस मग्नता से निजानन्द का परमानन्द रसास्वाद अतीन्द्रिय रूप से ज्ञान जो पर्याय को अनुभूत हुआ, वह ही स्वानुभव है। ध्यानानन्द का रस है—ब्रह्मानन्द घनरस है, आत्मानन्द है। इस निर्विकल्प आनन्द आस्वादन क्षण में साधक के आत्मा का भाव राग-द्वेषादि विकार व कषायों से विवर्जित ही रहता है। इस परिणाम मग्नता रूप ध्यान में बन्ध-पद्धति नहीं है, मोक्ष-पद्धति ही है। परन्तु यह परिणाम मग्नता एक साथ नहीं सम्भवती, क्रमशः ही निर्मल होती अवस्थित होती है।

निर्विकल्प अनुभव के तीन प्रत्यय

निर्विकल्प अनुभव के तीन दृष्टान्त द्वितीया का चन्द्रमा, जल-बिन्दु तथा अग्नि कणिका कह कर पण्डित जी ने यह मत प्रकट किया है कि यह तो एक देश है—तथा पूर्ण मासी का चांद, महासागर तथा अग्नि कुण्ड—वह सर्वदेश है। इसी प्रकार चौथे गुण-स्थान में आत्मा के ज्ञानादि गुण एक देश प्रकट होते हैं, तथा तेरहवें गुण स्थान में आत्मा के ज्ञानादिक गुण सर्वदेश प्रकट होते हैं। इस कथन से साधना में व्यवहार साधन का क्रम विकास ही प्रकट किया गया है।

द्वितीया का चांद, जल बिन्दु, अग्नि का कण, तथा पूर्ण चन्द्र, महासागर, अग्नि के ध्यान प्रत्ययों के दृष्टांत द्वारा जो एकदेश वा सर्वदेश गुण प्रकाश का कथन पण्डित जी ने किया है वह योग छात्रों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि ध्यान-समाधियों में ऐसे ही प्रत्ययों के दर्शनों में साधकत्व से सिद्धत्व की ओर गतिमान होना पाया जाता है। इन प्रत्ययों के अन्तर्दर्शन पर जागरूक ज्ञान पर्याय वाला साधक आह्लाद भाव को प्राप्त होकर ग्रन्थि-विमोचन करता है। स्वरूप तन्मयता के इन क्षणों में ही ऐसे प्रत्ययों के दर्शन होते हैं। तथा इनके दर्शन के अनन्तर सर्वदृष्टा तथा ज्ञायक स्वरूप के ही ब्रह्मानन्द धन में ही रसाभिन्नता करनी चाहिए।

गुरु कौन है ?

पण्डित टोडरमल जी ने गुरु किसको माना जाए—इस पर बड़ा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है—वे कहते हैं—

गुरु नाम बड़े का है। सो जिस प्रकार की महंतता जाके संभवै तिस प्रकार ताकों गुरु संज्ञा संभवै। जैसे कुल अपेक्षा माता-पिता को गुरु संज्ञा है, वैसे ही विद्या पढ़ावने वाले को विद्या अपेक्षा गुरु संज्ञा है। यहां तो धर्म का अधिकार है। तातैं जाके धर्म-अपेक्षा महतंता संभवै, सो ही गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। "चारित्तं खलु धम्मो —ऐसा शास्त्र विषै कहा है। तातैं चारित्र का धारक ही को गुण संज्ञा है। बहुरि भूतादिक का नाम देव है, तथापि यहां देब का श्रद्धान विषै निर्ग्रन्थ ही का ग्रहण है। सो जिन धर्मविषै अरहंत देव निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।"

पं० टोडरमल जी ने वेषधारी परिग्रही तथा गुण रहित पुरुषों को गुरु संज्ञा न होना स्पष्ट किया है। उन्होंने आगे धर्म संघ में विरोध न हो इसलिए द्रव्य -लिंगी को भी प्र~~माण~~णाम करने का निर्देश दिया है। उन्होंने कहा कि उन्हें प्रणाम न करना या आहार न देना अपनी मिथ्या दृष्टि को प्रकट करना है। जैसे पाषाणादि में अंकित जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियों को भी पूर्वकाल के मुनियों की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए—यह उपदेश आ० श्री सोमदेव ने भी उपासकाध्ययन में दिया है। तथा क्या प्रणाम न करना साधारण शिष्टाचार के भी प्रति कूल नहीं है ?

अनुयोगों में उपदेश निरूपण क्रिया और परिणाम को प्रमुख या गौण करके हैं

द्रव्यानुयोग से द्रव्य की, वस्तु की दृष्टि प्राप्त होती है—अतः पण्डित जी ने अध्यात्म उपदेश की प्रधानता वहां बतलाई है। जब जीव बाह्य क्रिया, व्रत उपवास आदि ग्रहण करके इन व्रत–उपवास से आगे की भूमिका पर न चढ़ कर मात्र व्रत व उपवास विषै ही मग्न रहने लगे और इसे ही समस्त धर्म माने, ऐसे एक स्थिति में अवरूद्ध हुए लोगों को व्रतशील संयमादिक का हीन पना प्रकट करके आत्मानुभवन में गियुक्त करना चाहिए। स्पष्ट प्रयोजन यह है कि जो अभी शुभोपयोग में भी स्थिर नहीं है, उन्हें तो अशुभ छोड़कर शुभोपयोग में ही स्थिर होना है। पर जो शुभोपयोग धर्म-ध्यानादि में परिपक्व व स्थिर हो जाएं—उन्हें "शुद्धोपयोग विषै लगावने को शुभोपयोग का निषेध कीजिए है। बहुरि द्रव्यानुयोग विषै भी चरणानुयोग-वत् ग्रहण त्याग करवाने का प्रयोजन है। तातें छद्मस्थ के बुद्धि गोचर परिणामनि की अपेक्षा ही तहां कथन कीजिए है। इतना विशेष है जो चरणानुयोग विषै तो बाह्य क्रिया मुख्यता करि वर्णन करिए है, अर द्रव्यानुयोग विषै आत्म परिणामनि की मुख्यता करि निरूपण कीजिए है, करणानुयोग वत् सूक्ष्म वर्णन न कीजिए है।……सूक्ष्म भावनि की अपेक्षा गुण स्थानादि विषै सम्यक्त्वादि का निरूपण करणानुयोग विषै पाइए है—ऐसा अन्यत्र जाने।"

बाह्य त्याग और अन्तरंग त्याग में समन्वय दृष्टि की अपेक्षा

पं० टोडरमल जी के तप त्याग पर विचार संक्षेप में इस प्रकार हैं—

बाह्य संयम साधन बिना परिणाम निर्मल नहीं हो सकते हैं। अन्तरंग परिणाम शुद्धि ही वस्तुतः संयम हैं। मगर बहिरंग संयम किए बिना, बाह्य त्याग बिना परिणाम शुद्ध नहीं रह पाते हैं। बाह्य विषय भोग सामग्री शुद्धता के लिए अनिष्ट निमित्त हैं और जब तक इनका त्याग नहीं होता, भाव शुद्धि की विद्यमानता दुष्कर ही है। यद्यपि कहा ये भी जाता है कि ईंधन विहूनी आग क्या आग है? पर पद्म-पत्रमिवाम्भसा निर्लिप्त रहना सामान्य जन के लिए संभव नहीं होता। अतः बाह्य त्याग तथा अन्तरंग भाव-शुद्धि दोनों ही समान रूप से एक साथ आदरणीय होनी चाहिए।

तप और ध्यान का समन्वय अपेक्षणीय

इस योग विज्ञान को तपोयांग व तप से ही तपस्वी अर्हंत् पुरुषों व आचार्यों ने प्रसिद्ध रखा है। तथा चरणानुयोग में तप प्रमुख है। फलतः इसके तपांग पर ही लोगों की दृष्टि अधिक जाती है और इसीलिए व्रत व उपवास रूप अंग लोगों में अधिक पहचाने व आचरित होने लगे हैं। मगर तप का लक्षण तपो आलोचने-ध्याने रूप में-प्रधानता जो होनी चाहिए, न रहने से ध्यान पर दृष्टि गौण हो गई है। अतः निर्विकल्पपना जिससे परिणमे उस ध्यान-चर्या से लोग अपरिचित होते जा रहे हैं और शास्त्र वार्ता मात्र ही होने लगी है, या व्रत या उपत्रास ही में सारी आत्म-साधना सिमट कर रहने लगी है। ये दोनों ही अतियां भयाबह है क्योंकि आत्मानुभवन की क्रियायें,-ध्यान समाधि इस तरह गौण हो जाती है, जो

होना नहीं चाहिए। यथार्थ मार्ग तप और ध्यान का समन्वय है। बिना ध्यान अभ्यास तप क्रोधेश्वर बनाता है--इसी लिये तपेश्वरी सो क्रोधेश्वरी भी कहा जाता है। ध्यान ही यथार्थ ज्ञानरूप परिणमन कराता है।

ध्यान अध्यात्म साधना का ऐसा अन्तरंग साधन है जो सूक्ष्म चेतना स्तर पर सीधा प्रभाव डालने में सक्षम होता है। उपवास स्थूल शरीर में सम्बन्धित होने से स्थूल चेतना पर ही प्रभाव प्रकट कर सकता है। वर्तमान में जैनियों में योग विज्ञान की ध्यान-धारा गौण ही हो गई है—और इसी कारण सम-दृष्टि मय चेतना का उद्घाटन भी दृष्टिगत नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान की धारा का उद्घाटन ध्यान क्षेत्र में स्वयं अवतरित होने पर ही संभव हो सकता है। निर्लिप्त जीवन-व्यवहार सहज-वृत्ति, और समदृष्टि चर्या के बिना संभव हो ही नहीं सकते। हमें तीर्थंकरों तथा अर्हंतपुरुषों के दीर्घ ध्यानी स्वरूपों को पहचानना ही होगा।

अर्हत् तपोयोग में ध्यान प्रमुख तत्व और शिक्षा-दीक्षा के लिए मंडलादि विधान

अर्हत् तपोयोग में ध्यान ही प्रमुख तत्व है, न कि व्रत व उपवास आदि। इनके स्तर भेद को विस्मरण नहीं करना चाहिए। तथा यह भी स्मरणीय है कि व्रतादि व पूजन तथा मण्डलादि विधान हमारी धर्म-शिक्षा दीक्षा (Initiation) आदि के लिए इस आदि श्रमण संस्कृति के रूप, प्रभावना प्रचार तथा स्थायित्व के अर्थ भी अत्यन्त उपयोगी अंग हैं।

खर्चीले प्रदर्शन व आयोजन वर्जनीय

प्रतिष्ठादि महोत्सवों तथा आयोजनों रूप एक ही दिशा में अत्यधिक द्रव्य तथा शक्ति के व्यय से अन्य-अन्य सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा साहित्यिक आदि गति विधियों में गतिरोध हो गया है जो अवाच्छनीय है। कूपमंडूकता छोड़कर नई-नई विराट् आयाम मय संदृष्टियों की खोज करना चाहिए तथा स्रोतों को केन्द्रस्थ करना चाहिए। शुद्ध और मुक्त वायु लहरों के लिए बुद्धि विचार और मान्यताओं के वातायनों को उन्मुक्त रखना चाहिए। कुओं में नये स्रोतों का आव अवरूद्ध हो जाता है, तो वे गन्दे ही हो जाते हैं। खर्चीले प्रदर्शनात्मक आयोजन वर्जनीय ही रहने चाहिए। संयम का ही हमारा मार्ग है। अतः हर कार्य में शांत और संतुलन रूप आचार-विचार ही, और उपयोगी और स्थायी लाभ की प्रवृत्तियाँ ही आदरणीय रहनी चाहिए। अनुशासन का आदर्श सामने रहना चाहिए और इसका पहला चरण—सादा जीवन और उच्च विचार। इससे हमारे यहां प्राप्त सामाजिक अराजकता और अंधी नकलें व दौड समाप्त हो सकेंगी। समाज और राष्ट्र के व्यापक हितों के संदर्भों में हमें अपव्ययों को रोकना चाहिए, तथा जीवन की नई दृष्टियों के साथ विकास के नये पथ-निर्माण करने चाहिए। हम आध्यात्मिक तत्त्व चर्चा करें, उपदेश सुने, पर क्या यह हस्यास्पद नहीं है कि हम सामाजिक कुरीतियों से नहीं उबरते हैं, न अपनी पुरानी और स्तब्ध जीवन सरणियों से, जो हमें बराबर पंगु बनाती चली जा रही है। व्यक्ति सांस लेता है सामाजिक वातावरण में, हमें इसको शुद्ध करने के प्रयास करने होंगे। छोटे-छोटे

संकुचित स्वार्थों की दृष्टियों को छोड़ना होगा। व्यक्ति और समाज के एक शुद्ध सम्बन्ध का धरातल समन्वित प्रेम पूर्ण शुद्ध व्यवहार का, सौहार्द का, संवेदनशील संतुलनों का धरातल बनाना होगा। व्यक्ति को पहले मानव होना होगा, मानवीय दृष्टि से समन्वित होना होगा। इसके उपरान्त ही वह प्रभु-आत्मा परमात्मा होने की बात करे। योग मार्ग का यह तकाजा है कि समाज सुधरे, व्यक्ति सुधरे, सारा जीवन ही शुद्ध बने। तनाव, उद्वेग, आवेग, आवेश, व्याधियां, कुरीतियाँ नष्ट हों। मात्र बाहर न देखकर हमें अन्तर में भी देखना सीखना चाहिए। अन्तर संपदा की खोज और प्राप्ति का भी उद्योग करना चाहिए। इसके लिए ध्यान के अभ्यासों के प्रचार की जुरूरत है जो हमें अन्तर-संतोषी बनाये, अन्तर-शक्ति सम्पन्न करे। ध्यान के बिना हम अंधे के अंधे ही रहेंगे, क्योंकि अन्तर में प्रकाश ध्यान-अभ्यासों से ही एक मात्र प्राप्त होता है। व्यक्ति, व्यक्ति के स्वभाव, रूचि और ज्ञान के आयामों को बदल देने के लिए ध्यान से प्राप्त प्रकाश तथा स्वरूप-महिमा के ज्ञान और आत्मा रस आस्वादन से महाभाव ही एक मात्र शक्तिशाली हेतु हो सकेगें। बाहर के नेत्रों के साथ-साथ हम अपने अन्तर के भी नेत्रों को अन्तर प्रेक्षा के साधनों से खोलें, और अपने उस परमार्थ और सत्य को पायें जो शुद्ध है, अहिंसक है, शोषण से, क्रूर वृत्ति से और घोर वृत्ति से रहित है, मात्र ज्ञाता और दृष्टा ही है, अतः जो आवश्यक है, अबंधक और वीतरागी है।

साधना विमर्श तथा पर्यालोचन; अन्तर्दृष्टि दीपसे स्वात्मा की प्रेक्षाएं; अनुप्रेक्षाएं तथा भावनाएं

(1) साधना विमर्ष और प्रेक्षाएं

- साधना क्या है ? लक्ष्य का दृष्टि में निर्धारण और प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान
- दृष्टि के दो प्रकार : उनकी मर्यादा में साधना का आलोचन
- साधना का आरम्भ : स्व तत्व में रूचि, दृष्टि-स्थापन और ध्यान
- भाव से क्रिया का तथा क्रिया से भाव का उन्मेष
- भाव शुद्धि से ज्ञान की उज्ज्वलता
- भक्ति की परिभाषा : भाव का सम्यक्त्व और उसके दो रूप—सराग और वीतराग
- सराग और वीतराग भाव भक्ति की भूमियां
- स्वात्मा निरीक्षणीय
- स्वात्मा : और उसके आधार
- हंस :, सोहं, और परम-हंस अभ्यास । आ० कुन्दकुन्द द्वारा कथित सोहं साधना
- आ० हेमचन्द्र वर्णित सोहं तथा नाद उत्थान ।
- आ० शुभचन्द्र और हेमचन्द्र द्वारा चन्द्र रेखा या कला रूप अनाहत ध्यान की प्रेरणा
- ज्योति बिन्दु का शिव श्री तेजो मयी कुण्डलिनी में लय: पूर्णोऽहं भाव
- पूर्णोऽहं परिणत निर्मल चित्त के द्वारा आत्मा का ध्यान
- चित्त की अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति का विकास
- अन्तर्निरीक्षण क्रिया का स्पष्टीकरण
- सामायिक दीप
- काया गढ़
- स्वात्मा
- अन्तर्यात्रा और उसके क्रम ।
- कायोत्सर्ग (काया प्रेक्षा)
- सुषुम्णा में शक्ति और वृत्ति का भ्रमण ।
- सूक्ष्म प्राण—प्रेक्षा ।
- वर्ण और चक्र प्रेक्षा ।
- परमेष्ठी पुरुषाकार प्रेक्षा ।
- संवर का मार्ग : सविकल्प से निर्विकल्प की ओर ।
- प्रकाश की धाराएं ही धाराएं : चेतना का रूपांतरण, उर्ध्वीकरण और आभामण्डल ।
- विभिन्न प्रेक्षाओं (दर्शनों) में दृष्टा का, ज्ञायक का विकास, निर्मलता का विकास ।

- साधना का रूप है चित्कला का अन्तर्शोधन; विचार:विचय से निर्विचार उन्मनी, ज्ञान मात्र अवस्था
- भाव–अपेक्षा ध्यान की पांच भूमियां
- अन्तर्दृष्टि अपेक्षा ध्यान की सात भूमियां और उसके विवेचन
- साधना का क्षेत्र कहां से कहां तक
- पन्द्रह पाक रूप अपरम भाव और सोलह पाक रूप परम भाव
- ध्यान से अन्तश्चेतना का निर्मल परिणमन
- चतुर्भेदात्मक ध्यान और ध्यान अभ्यास चरणों का उपसंहार
- क्षणोत्तीर्ण दशा

(२) भावना विमर्ष और अनुप्रेक्षाएं

- भाव शुद्धियां
- भाव शुद्धियों में अहिंसा और करूणा
- बौद्ध करूणा
- तीर्थंकर और बुद्ध करुणा के महासागर
- भाव शुद्धि की महत्ता
- बारह अनुप्रेक्षाएं
- भावना चतुष्क
- पंच शील भावना
- भावों (मानसिक संरचना) की शिक्षा और संवर और निर्जरा तत्व
- भावना का लक्षण ।
- संक्लेश और असंक्लेश भावनाएं
- तप, श्रुत, सत्व, एकत्व और संतोष भावनाएं
- पांच कुत्सित भावनाएं
- द्रव्य रक्षाणार्थ भावनाएं
- षोडश कारण भावनाएं
- करुणा और मोह का भेद
- ~~शांति पाठ में सात भावनाएं~~
- ~~भाव वृक्ष के आठ पुष्प~~
- शुद्ध नय की प्रेरणा क्यों ?
- भाव शुद्धि की महत्ता—निर्लिप्त जीवन जीने की कला से अमृत घट बनें

(३) प्रेक्षाध्यान साधना की महत्त्वपूर्ण निष्पत्तियां और निर्देश

साधना क्या है, लक्ष्य निर्धारण और लक्ष्य प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान

साधना और साधना भूमि पर आलोचना करते हैं तो सर्व प्रथम दृष्टि साधना के लक्ष्य पर जाती है—और लक्ष्य का निर्देश और निर्धारण भी दृष्टि पर ही निर्भर है। लक्ष्य के निर्देशित होने पर ही लक्ष्य के साक्षात्कार एवं प्राप्ति के उपाय जाने जाते हैं और उनका अनुशीलन ही साधना है।

दृष्टि शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थात् सम्यक् अथवा मिथ्या दो प्रकार की संभव हो सकती है। आत्मा के शुभ भाव की दृष्टि सम्यक्-दृष्टि और उसके अशुद्ध भाव की मिथ्या-दृष्टि है। शुद्ध और पूर्णत्व का भाव सामान्यतः जीव में विकसित हुआ नहीं होता, और पूर्ण विकास होते ही जीवात्वा परमात्मा परिणत हो जाता है।

केवल-दर्शन सम्यक् दर्शन का ही परिपूर्ण विकास है। सम्यक् दर्शन में पूर्णत्व के भाव का आभास मात्र होता हैं और केवल दर्शन में पूर्णत्व के भाव की अविचल अवस्थिति है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और केवल दृष्टि के मध्य सम्यक्-दृष्टि महत्वपूर्ण भूमिका है। अशुद्ध और शुद्ध दोनों दृष्टियों की यथार्थता को मानकर और उनकी मर्यादा रख कर साधना की आलोचना संभव होती है।

साधना का आरंभ व स्वतत्व रुचि, दृष्टि – स्थापन और ध्यान से

साधना का आरम्भ तत्व रूचि तथा विशेष कर आत्म तत्व के निष्ठा भाव की जागृति से होता है। तब मिथ्यादृष्टि बाह्यात्मा अन्तर्तत्व की रूचि लेकर अन्तर्मुख दृष्टि-स्थापन के लिए उद्यत होता है।

आत्मा ही साधना का लक्ष्य है, यह निर्णीत होकर साधना की दिशा निर्णीत होती है। इस दिशा में साधक की वृत्ति अर्थात् उपयोग जब निज रुचि लेकर अन्तर् में दृष्टि स्थापन करके अन्तः प्रवेश करता है—और अन्तः निरीक्षण और शोधन करता है तो इसी में ध्यान एवं साधना का आरम्भ है। आत्मा के शुद्ध भाव की रूचि ही अतः साधना में प्रेरक तत्व है।

साधना भूमि स्वयं जीवात्मा का ही अन्तर्तत्त्व है। स्वयं जीवात्मा का ज्ञान पर्याय ही साधक है। साधना में स्वयं जीवात्मा ही भावक है, भाव है और भाव्य भी स्वयं ही है। भाव इस प्रकार साधना का हार्द है।

भाव से क्रिया का उन्मेष

भाव का उन्मेष क्रिया से होता है। भाव से चित्त क्रिया में समर्पित हो जाता है। एकाग्रता, निरोध और तन्मयता—ये चित्त क्रिया के तीन उत्तरोत्तर भाव – स्वरूप क्रिया से ही स्पष्ट होते हैं।

भाव पर ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी निर्भर है और भाव पर ही केवल दर्शन भी। दर्शन के अनन्तर केवल ज्ञान होता है। केवल दर्शन और केवल ज्ञान युगपत् ही हो जाते हैं।

भाव शुद्धि से ज्ञान की उज्ज्वलता

भाव की शुद्धता का क्रम जब तक उत्तरोत्तर प्रकट होता जाता है, उसके साथ-साथ ही ज्ञान की भी निर्मल उज्जवलता प्रकट होती है। भाव की महिमा ही के कारण भक्ति अति श्रेष्ठ साधन कोटि में है। भाव ही भक्ति रूप है।

भक्ति की परिभाषा, भाव सम्यक्त्व उसके सराग और वीतराग रूप

> "भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते, व्यवहारेण सराग सम्यग्दृष्टिनां पंच परमेष्ठिन्यादि।
> आराधनरूपा निश्चयेन वीतराग सम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्म भाव रूप चेत॥"[1]

भक्ति की परिभाषा सम्यक्त्व भाव कहा जाता है। वह भाव सराग तथा वीतराग संभव हो सकता है। व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों की भक्ति पंच परमेष्ठी की आराधना, निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों की शुद्धात्मा की भावना रूप है।

इस विवेचन में सम्यग्दृष्टियों के दो भाव विभागों – में भक्ति का आलोचन हुआ है। जब तक साधक जीवात्मा में राग की विद्यमानता है, उसकी साधना पंच-परमेष्ठियों की भक्ति रूप होती है और जब साधक वीतराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो उसकी साधना शुद्धात्मा रूप तत्त्व की भावना व ध्यान रूप होती है। सराग सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि "आत्मा तत्त्व परम शुद्ध है"—इस निष्ठा को तो प्राप्त है, पर स्वयं शुद्धात्म रूप परिणत व स्थिर नहीं हुआ है। उसका उपयोग अतः पंच परमेष्ठियों के स्वरूप-आश्रय के राग रूप सापेक्ष-शुद्धता से वीतरागता रूप निर्पेक्ष की तरफ गतिमान होता है और क्रमशः निर्मलता को एक-एक देश चरण या क्रम से प्राप्त करता है। पंच परमेष्ठियों के स्वरूप स्व शुद्ध स्वरूप में परिणत है, अतः वे भी शुद्ध स्वरूप के/ही निदर्शन हैं।

वीतरागता का उन्मेष बारहवें गुण स्थान में होता है। अतः सराग सम्यग्दृष्टि की भूमिका से लेकर वीतराग सम्यग्दृष्टि की भूमिका के मध्य यथार्थतः सातवें गुण स्थान से लेकर बारहवें गुण स्थान के मध्य की भूमियाँ हैं। वीतराग भूमि की आत्म ध्यान एवं भावना रूप भक्ति ही निश्चय भक्ति है। इस प्रकार सराग-भक्ति की ही बारहवें गुणस्थान तक भूमियां है। बारहवें गुण स्थान में आकर वीतराग भक्ति संभव होती है। और यह भी है कि वीतरागता होने पर साधक साधना-भूमि

---

1. (समयसार गा. १७३–१७६ ता.वृ.टी.पृ. ४३)

से उत्तीर्ण भी हो जाता है। वह तब व्यवहार भूमि में नहीं, निश्चय भूमि में ही निश्चल रहने लगता है। क्योंकि तब क्रमगत भूमियां समाप्त प्रायः हो जाती है।

सराग भक्ति साधना से पूर्व जीव वाह्यात्मा रहता है। चौथे गुणस्थान में तत्त्व श्रद्धा पाकर सराग-भक्ति में अवतीर्ण होकर वह अन्तरात्मा भूमिका में प्रवेश लेता है। इस अन्तरात्मा भूमि से ही वारहवें गुणस्थान भूमि में उत्तीर्ण होकर परमात्मा भूमि का आरोहण करता है। साधना का इस प्रकार पर्यवसान तेरहवीं गुणस्थान संक्रान्ति में होता है, तब जीवात्मा स्वयं सयोगी जिनश्वर रूप परिणत हो जाता है।

चौथी गुणस्थान भूमिका का साधक जिस आत्मा तत्त्व की निष्ठा लेकर ध्यान क्रिया की व्यवहार भूमि में उतरा था, वह सप्तम व अष्टम गुणस्थान भूमि में आत्मा के स्वरूप का साकार साक्षात्कार सकल जिनेश्वर के स्फटिक सन्निभ मूर्ति-विम्ब के दर्शन को प्राप्त कर लेता है और तब भावना रूप ध्यान ही वास्तविक सराग भक्तिमय ध्यान में परिणत होता है।

यहाँ से ही वस्तुतः सराग साधना आरम्भ होती है। साधक का भाव शुभोपयोग रूप होता है, निष्ठा अवगाढ़ होने लगती है। उपयोग अशुभ से निर्मलतर हो जाता है क्योंकि उपयोग को स्थिरता का निमित्त, आश्रय मिल जाता है। भावोन्मेष होते हैं, भावोन्मेषों में निर्मलता की धारा प्रखर होती जाती हैं, परिणतियां अपेक्षतया शुद्ध-शुद्ध होने लगती हैं। साधक अपने लक्ष्य में स्थिरता के लिये अधिक प्रयत्नवान्, सजग और अप्रमादी होता है, चित्त के स्तरों का भेद होता है। चित्त में से अनात्म-प्रत्ययों की निर्जरा होती है—जितनी मात्रा में अशुद्धता हटती है, उतनी मात्रा में चित्त का ज्ञान निर्मल होता जाता है।

चित्त का ज्ञेयाकार रूप ही कटता जाता है और ज्ञान रूप उघड़ता जाता है। (चित्त राग, मोह, कषाय आदि से अनुरंजित या आवृत जब तक रहता है, और इसी कारण, साधक को व्यवहार भूमि भी तब तक रहती है।) तभी चित्त संपूर्णतः वीत मोह और वीत कषाय हो पाता है। मोह और कषाय क्रमशः ही वीत होते जाते हैं। ध्यान की गति अन्तर्मुख दिशा में गहन और गहनतर क्रमशः होती जाती है। दर्शन स्पष्टतर व अधिक-अधिक स्थायी होता है और साधक का आनन्द पारावार भी अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। छठे सातवे गुणस्थान तक में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का झोला रहता है—कभी शुभ से साधक ध्यान में शुद्धात्म भावना में उत्कर्ष करता है पर स्थिर नहीं हो पाता। कभी त्रिपुटी का बेध करके दर्शन रूप स्वयं स्थिति भी पा लेता है—पर फिर अस्थिर होकर शुभोपयोग में ही आ जाता है। इस प्रकार शुभ और शुद्ध के मध्य झूलता रहता है।

आठवें गुणस्थान में आकर साधक को भाव परिणतिनिर्णित कर देती है कि साधक ग्यारहवें गुणस्थान में नहीं जाकर एक साथ बारहवें गुणस्थान में जा पहुंचे। यदि रागांश या मोह कषाय के अंश

साधक में सूक्ष्म वासना रूप में किसी भांति के भी उपशांत विद्यमान रहे, और वह आगे गुणश्रेणी चढ़ता है तो ग्यारहवें तक ही पहुँच पाकर वापिस रागादि के मल-पाक हो जाने पर नीचे गुण-श्रेणियों में पतित हो जायेगा, वरना समस्त रागादि का क्षय करके क्षपणा की दसवीं भूमि से एक साथ बारहवें गुण-स्थान में पहुँच जायेगा जहाँ से फिर प्रत्यावर्तन नहीं होता। इतनी ध्यान की भाव-भूमियों को पार करके भी वासना के अंश मात्र विद्यमानता भी कहीं साधक में दबी रह जाए, तो सब परिश्रम निष्फल हो जाता है।

साधक को इस लिए बार-बार अपनी चित्त भूमियों को, भाव – शुद्धियों को भावनाओं से, ध्यान संस्कारों से, विश्व की वस्तु व्यवस्था के ज्ञान से, वस्तु की स्वातंत्र्य भावना से, विश्व के समस्त लोक परलोक के आश्चर्यों तथा संपदा के नश्वर होने की भावना से, अपने तत्त्व की सर्वोच्च महिमा, श्रेष्ठता और दुर्लभता की ज्ञान-भावना आदि से शुद्ध रखने का, सदा सावधान अप्रमत्त और जागृत रहने का उपदेश किया गया है।

स्वात्मा निरीक्षणीय

> तत्सामायिक दीपेन काय दुर्ग समाश्रितः ।
> अज्ञानाच्छादित स्वात्मा निरीक्ष्य योगिभिः ।।[1]

अज्ञान से आच्छादित स्वात्मा कों जो इसी काया के गढ (दुर्ग) में विद्यमान है, सामायिक दीप लेकर योगियों को निरीक्षण करना चाहिए। स्वात्मा क्या है? आत्मा तो निर्मल है पर यहाँ जिस अज्ञानमय स्वात्मा की बात है, वह चित्तात्मा है। यह अज्ञानी स्वात्मा है, अज्ञान से भरा होने से बड़ा दुर्घर्ष है और जीव को कभी भी धोखा देकर उसके आत्म—ऐश्वर्य पर छापा मार कर लूट पाट कर देता है। इस अज्ञानी स्वात्मा के विभिन्न आधार स्तरों को उघाड-उघाड कर देखना चाहिए ताकि इसका अज्ञान (~~अ~~चि विद् परिणति) नष्ट हो। ध्यान की अन्तर्मुख गति में जब उपयोग अशुद्धता से शुद्धता की ओर उघडता है तो जीव के सब ही आधारों में एक-एक देश निर्मलता होती है। जीव के आधार प्राण, इन्द्रियाँ व चित्त हैं। ये आधार जीव के अशुद्ध हैं, जीवात्मा तो मात्र चिद्रूप ही है। जीवात्मा देह एवं प्राणों को लेकर संसार में व्यक्त हुआ है। अतः देह एवं प्राण ही उसके जीवन के सर्व प्रथम आधार हैं। इस आधार की मलिनता से यदि वह निराधार हो जाए तो वह आत्मा सब ही आधारों से भी निर्मल एवं निराधार होकर स्व स्वरूप की निर्मलता को प्राप्त हो जाए। जीव प्राणों के आवागमन से बंधा है। प्राण हैं तब तक ही देह में जीवन का प्रकाश है। प्राणों में बंधा जीव पराधीन, अल्प और दुःखी ही है। प्राणों की आकर्षण और विकर्षण रूप क्रिया के साथ ही चित्त का क्षोभ—विक्षोभ भी लगा है—और स्वयं का अज्ञान भी लगा है। अनादि से ऐसा ही चलता आ रहा

---

1. (योग-प्रदीप–७)

है—अतः जीव अनादि से ही आकुल है—निराकुल सुख नहीं है। अतः ज्ञानी अर्हंतपुरुषों ने जीव के प्राणों को सम व निश्चल करने, चित्त को प्रशांत और सम करने तथा जीव के अनादि के देहाध्यास रूप अज्ञान को निवृत करने के हेतु काया में शोधन करने तथा काया में विद्यमान प्राण मन-चित्त का शोधन करने हेतु—इन काया, और मन-चित्त में उनके निरीक्षण करने की प्रेरणा की है। इस अन्तः निरीक्षण क्रिया को ही सामायिक रूप दीप कहा है। इसमें काया की प्रेक्षा और चित्त की प्रेक्षा को ही जो सामायिक का सर्व प्रथम रूप है धारण करते हैं। कायोत्सर्ग करके प्रेक्षा विधि से सामायिक करनी चाहिए। इस के बाद ध्यान में सोहं साधना के साथ आत्म-प्रेक्षा चलनी चाहिए। नियमसार में आ० कुंदकुंद ने सोहं साधना को कहा है—जो अति उल्लेखनीय है।

हसः सोऽहं और परम हंस साधनाएं

केवल णाण सहावो, केवल दंसण सहाव सुहमइओ ।
केवल सत्ति सहावो, सोहं इदि चिन्तए णाणी ।।[1]

मैं केवल ज्ञान स्वभावी, केवल दर्शन स्वभावी, सुखमय और केवल शक्ति स्वभावी हूँ—ऐसे सोहं रूप से ज्ञानी आत्मा की चिन्तना करे।

यहाँ करे—यह आदेशात्मक है अर्थात् ऐसे ही भाव रूप से चिन्तना करे—अन्य रूप न करे। भाव की' स्थिरता के अभ्यास में यह सोऽहं साधना अति उत्कृष्ट साधना है। वस्तुतः सोहं साधना के भी उत्तम, मध्यम और जघन्य स्वरूप संभव हैं। सोहं रूप की रटना जो वाचिक होती है—वह तो जघन्य साधना है ही। तथा जीव पुरुष है और प्रकृति शक्ति है—ऐसे भाव साधना को भी योगीजन जघन्थ निर्दिष्ट करते हैं। मध्यम भाव में "सो" रूप अपान और हं रूप प्राण, इनके योग से समान प्राण का उद्भव किया जाता है और प्राणायाम में वही कुंभक का प्रथम हेतु भी होता है। जब श्वास वायु बाहर निर्गत होता है तो उस प्राण के साथ "ह" और श्वास वायु जब भीतर ग्रहण होता है तो उस अपान के साथ "सो" इस प्रकार सोहं मंत्राक्षरों की—मंत्रार्थ के साथ समायोजना ही सोहं की मध्यम साधना है। हंसः = रूप मंत्राक्षरों को ही प्राण सदा अपनी गति में उच्चार करते रहते हैं। इसे ही साधन अभ्यास द्वारा सोहं रूप में विपरीत गति प्रतिस्रोत दिशा में प्रवाहित करते है। प्राण शक्ति के जागने पर तालु मूल से नाभि तक वायु के आकर्षण—विकर्षण रूप का अनुभव होने पर ही प्राण व अपान के संचरण गति के साथ चित्त को नियुक्त करके सोहं-सोहं ध्वनि का अन्तः श्रवण संभव हो जाता है। योगी जन इसे अजपा जाप तथा सांस की चोकीदारी कहते हैं। बौद्ध योगी जन इसे आनापान-सति कहते हैं, वे सोहं के स्थान पर अर्हंत्-जिनेश्वर मंत्र "अर्हं" की समायोजना प्राण व अपान वायु के संचरण के साथ करते है। सोहं साधना संत आम्नाय में भी

---

1. **(नियमसार–९६)**

समादृत है । इस सोहं श्रवण से नादानुसंधान होता है तथा संप्रज्ञात समाधि का लाभ होता है । श्वास पर से दृष्टि लौट जाने पर देह भाव से परे होकर विदेह भाव की जागृति होती है, क्रमशः दैहिक प्राणिक मानसिक चैत्तिक स्तरो से लौटती चली जाती है। सोहं निरंजन आत्मा का वाचक है । हर हालत में इस निरंजन आत्मा की स्मृति रहे—इसलिए श्वास के साथ सोहं की ध्वनि पर ध्यान रखने का अभ्यास किया जाता है । सोऽहं ध्वनि को षण्मुखी मुद्रा लगा कर भी सुनते हैं ।

हंसोच्चार वर्ण नाद का पता योगीजनों को हृदय में चित्त स्थिर करने पर मिलता है। वहाँ यह प्राण-अनुरणनरूप में अनुभूत होता है । प्रथम तो हंसः रूप नाद ही हृदय में उत्थित होता है । यही नाद सूक्ष्म होकर ध्वनि रूप हो जाता है। अ उ म रूप से प्रणव की तीन मात्राएं हैं—प्रणव ध्यान में जब अ उ म तीनों मात्रायें एकाकार होकर झंकार की ध्वनि रूप होती है,' तो वही भ्रूमध्य बिन्दु स्वरूप में पर्यवसित होती है । इस बिन्दु के अन्य निर्मल पर्यायान्तरों के मध्य ही आत्मा का बोध या आभास स्फटिक सन्निभ जिनेश्वर की मूर्ति सम लक्षित होता है जो प्रणव का वाच्य है । तब ही केवल-ज्ञान स्वभावी केवल-दर्शन स्वभावी आदि रूप से अनन्त चतुष्टय रूप की साधना की प्रतिष्ठा होती है । यही हंसः से सोहं होकर सोहं की उत्तम साधना है।

अ उ म प्रणव के एकाकार में प्रथम तो घंटा निनाद—टंकार रूप ध्वनि प्रसृत होती हैं—और यही हृदय से ऊपर तालु-रन्ध्र होकर मस्तिष्क रूप ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर गूंजने लगती है और विस्तृत होती है, इसके ही अनुगत चित्त नाद एवं ध्वनि से अभिभूत—उनकी शनैः शनैः मधुर विश्रान्ति के साथ स्वयं भी विश्रांत होता है। तब उस विश्रांत और लय हुए चित्त को जागृत करके ज्ञान पर्याय को सतेज रखते हुए—चित्त को अणु रूप अखण्ड ज्योति-बिन्दु में आविर्भाव करना चाहिए। और फिर उस ज्योति-बिन्दु में सकल जिनेश्वर के दिव्य स्वरूप की भावना द्वारा अवतारणा करनी चाहिए । इस प्रकार ओम् के आश्रय चित्त भूमि के विभिन्न स्तरों का वेघ करके उस निर्मल चित्त द्वारा सहसदल कमल में उस जिनेश्वरस्वरूप को प्रतिष्ठित करके अवलोकन करना चाहिए ओंर भावना करनी चाहिए कि यह मेरा ही अभेद स्वरूप है ।

वस्तुतः इस दर्शन में चित्त ही चित्त को देखता है । निर्मल चित्त अपने संपूर्ण भाव को जिनेश्वर रूप में उल्लसित हुआ देखता है। यह चित्कला की ही अभिव्यंजना है । मन ही यहाँ क्रीड़ा करता है परन्तु यह मन ही अन्तरात्मा का स्वरूप है । अन्तरात्मा रूप परिणत यह स्वरूप अब आभास रूप नहीं है—साक्षात् तथा अपेक्षतया अधिक स्थायी और स्पष्ट भी है । दर्शन की यह द्वैतभूमि पार होगी, सराग चित्त व उपासना योग से । उसमें स्वयं दर्शन तथा ज्ञान मात्र अवस्थित होने पर त्रिपुटी वेध करके अद्वैत भूमि में अवतरण होता है। यह अद्वैत दशा वीतरागता और सर्वज्ञता को उदित करती स्थिर होती है ।

प्राण-अपान की गमनागमन रूप विरुद्ध गतियों में सोहं की समायोजना से समन्वय होकर प्राण शक्ति में एक तेजोमय प्रशांत सूक्ष्म सम अवस्था आती है और प्राण अपान के संघर्ष मय मार्ग से छुटकारा होकर सुषुम्ना में प्राण संचरण होकर आज्ञा पद्म और तालुरन्ध्र मार्ग से सहस्रदल में प्राण पहुँच जाते हैं और वहाँ के विराट अनन्त आकाश में व्याप्त होते हैं। सुषुम्ना रूप मध्य नाड़ी के उन्मुक्त होने से ही ब्रह्मांडीय उर्ध्वगति के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। यही मंत्र या शब्द-शक्ति का उपकार है। सब ही मंत्र नाद रूप, ज्योति रूप होकर सुषुम्ना का वेध करते हैं तथा आज्ञापद्म में बिन्दु रूप में चित्त का उन्मेष होता है। यही आत्माम्नाय में मंत्र-बीज के साक्षात्कार का निदर्शन है। इसके अनन्तर सहस दल में मंत्र-बीज के बिन्दु मध्य में स्वयं साधक अपने स्वरूप को देखता है। वह निज स्वरूप जिनेश्वर या अक्षर परमात्मा स्वरूप है। इस जिनेश्वर स्वरूप में तन्मयी ज्ञान से ही आवरण क्षय कारक ज्ञानावस्था आती है। और वही हंस का परम हंस में योग है। प्राण-अपान की सर्व प्रथम गति सम करना आवश्यक है। नासिकाग्र और नासिका मूल में प्राण-अपान के गमनागमन का ही निरीक्षण करके यानी प्राणप्रेक्षा करके प्राणापान को सम तथा मंद करना चाहिए इसके अनंतर सोहं की योजना करनी चाहिए।

आ. हेमचन्द्र ने मंत्रोच्चार के मध्य-नाड़ी (सुषुम्ना) में प्राप्त होने के पश्चात् व नाद के आविर्भाव के अनन्तर सोहं की सदानन्द साधना का वर्णन किया है। इस साधना से परमेष्ठी ध्यान होना चाहिए। कहा है—

5424

अथास्य मंत्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम्।
अर्हं च मूर्ध्नि ध्यायेत् शुद्ध स्फटिक सन्निभम्॥
तद् ध्यानावेशतः सोहं सोऽहमित्यालापयन् मुहुः।
निःशंकमेकतां विद्यादात्मनः परमात्मना॥[1]

अर्हं मंत्रराज के वाच्य और शुद्ध स्फटिक रत्न के समान निर्मल अर्हन्त परमेष्ठी का मस्तक में ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान इतना भावावेश मय होना चाहिए कि इसके चिन्तन में बार-बार सोऽहं सोऽहं अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता निःशंक आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करे।

सोहं नाद के चिन्तन के पूर्व नाद का आविर्भाव आवश्यक है। उस नाद के उत्थान की विधि इस प्रकार बताई है---

---

1. (योग शास्त्र ८/१४-१५)

अर्हंमित्यक्षरं प्राण प्रान्त संस्पर्शिपातनम् ।
ह्रस्व दीर्घंप्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं ततः परम् ॥
ग्रन्थीन् विदारयन्नाभि कंदहृद्घटिकादिकान् ।
सूक्ष्मध्वनिना मध्यमार्गयाभि स्मरेत्ततः ॥[1]

अर्हं मंत्र का पहले मन में ह्रस्व, फिर दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और फिर अति सूक्ष्म उच्चारण करना चाहिए—तत्पश्चात् उसका वह नाद नाभि, हृदय और कंठ की ग्रन्थियों में विचरण करता सुषुम्ना (मध्य) मार्ग में होकर चला जा रहा है, ऐसा चिन्तन व ध्यान करना चाहिए। इस अर्हं ध्वनि को नाभि से "अर" वर्ण से उठा कर "हं" को हृदय में लाकर 'म' को कण्ठ में लेजाना चाहिए। मूलाधार से नाभि तक १ मात्रा नाभि में हृदय तक दो मात्रा और हृदय से कंठ तक ३ मात्रा समय और फिर अनुस्वार नाद कला का १ मात्रा समय होकर फिर उसकी गुंज सुनना चाहिए । इसी में ह्रस्व दीर्घ और ह्रस्व और सूक्ष्म उच्चारण हो जाता है । इसके बाद उस नाद की बिन्दु की तपी हुई कला में से निकलने वाले दुग्धोज्जवल अमृत-तरंगों से अन्तरात्मा को प्लावित हुआ ध्यान करना चाहिए। ऐसे—नाद व फिर नाद का बिन्दु रूप में परिणत होना, बिन्दु रूप की परिपक्व दशा के बाद उस बिन्दु के चन्द्र रूप आविर्भाव के बाद दुग्धोज्जवल अमृत रस का निर्झरण होना—और उस अमृतरस रूप चित्कला में अन्तरात्मा को निमग्न होने रूप का क्रमशः ध्यान होता है। ग्रन्थियों को वेध करता नाद कण्ठ से ऊपर भ्रुकुटी मध्य (आज्ञा पद्म में) पहुँचता हैं। वहाँ बिन्दु का स्थान है । वहाँ नाद बिन्दु रेखा में परिणत हुआ लक्षित होता है और इस अखंड ज्योति बिन्दु रेखा से ही योगी चन्द्र-प्रभा ज्योत्सना के रूप में अमृत को स्रवित होता अनुभव करते हैं ।

आ. शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र दोनों ने अनाहत नाद का ज्योतिश्चन्द्र रेखा व चन्द्रकला के रूप में ही वर्णन किया है।

चन्द्र लेखा समं स्फुरन्तं भानु भास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवंदिव्य रूपं विचिन्तयेत् ॥[2]

निशाकर कलाकारं सूक्ष्मं भास्कर भास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥[3]

चन्द्र कलाकार या चन्द्र रेखा कार सा सूक्ष्म और सूर्य सा भास्वर दिव्य अनाहत को स्फुरायमान हुआ ध्यान करना चहिए। अर्थात् ललाट के उपर (आज्ञापद्म) में चन्द्रमा का जो ध्यान होता

---

1. (योग शास्त्र ८/९–१०) 2. ज्ञाना. ३८/२३
3. (योग शास्त्र)

है—वह भास्वर दिव्य अनाहत का ही ध्यान है। यह ध्यान अर्हं की मस्तिक में गूंज ध्वनियों को फैला कर विश्रांत होती लक्ष्य करने के उपरांत करना चाहिए।

नाभि से उठा मंत्रोच्चार आज्ञा-पद्म-स्थान पर नाद न रह कर चन्द्र बिम्ब तथा सूर्य बिम्ब सा अवलोकित होता है। नाभि में अग्नि बिम्ब रूप भी यही होता है । आज्ञा पद्म पर ये अग्नि सूर्य और सोम का एकत्व रूप होकर अखंड़ ज्योति बिन्दु रूप होता है । अर्हं ही नही, सोऽहं, ओम आदि सब ही वर्णाक्षर (मातृका स्वर या शब्द-श्रुत) इसी प्रकार नाद, ज्योति, बिन्दु, और बिन्दु में सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पर्यायान्तरों को दिखाते हैं। बिन्दु की स्थिरता ही अणु-संस्थ स्थिर मन है, जिसमें अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यानाभ्यास करते-करते सहसदल पर उस स्वरूप अंकन व निर्माण हो जाता है। आज्ञा पद्म से उर्ध्व मस्तिक के नभो-भाग सहसदल के अंतरिक्ष में यात्रा करने वाले संचरणशील अनाहत की ज्योति रेखा या बिन्दु के ही वर्णन में कहा गया है—

निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण स्रवन्तं च सुधारसम्।
स्पर्धमानं शशांकेन स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे ।।
संचरन्तं नभो-भागे योजयन्तं शिवश्रिया ।
सर्वावयव संपूर्णं कुंभकेन विन्चितयेत् ।।[1]

वह ज्योति बिन्दु तालु-रन्ध्र से निकल कर, सुधा-रस को निर्झरता चन्द्रमा से स्पर्धा करता मस्तिष्क (ब्रह्मांड) के अंतर-भाग में ज्योतियों को स्फुरायमान करता चला जाता है और मस्तिष्क के आकाश (गगन-शून्य) में अग्रसर होता हुआ शिव-श्री से युक्त हो जाता है—ऐसे उस सर्वांग पूर्ण स्वरूप का कुंभक में—अर्थात् सम निश्चल प्राण-स्थिति में ध्यान करना चाहिए।

ज्योतिबिन्दु रूप मंत्रपरिणत का शिव श्री से संयुक्त होने का यहाँ निर्देश अति उल्लेखनीय है। शिवश्री को मोक्ष रमणी भी कहा जाता है। पर यहाँ वस्तुतः शिवश्री से उर्ध्वकुंडलिनी का ही निर्देश है जो ब्रह्मांड़ के नभो-भाग में लक्षित होती है । आ. शुभचन्द्र ने भी इसी प्रकार शिवश्री से बिन्दु युक्त होना बताया है। मंत्र का कुंडलिनी तत्व में अभिन्न हो जाने का निर्देश मंत्र के अति सूक्ष्म रूप में परिणत हो जाने का सूचक है। वस्तुतः मंत्र से उदभूत नाद नभो-भाग के शून्य में पहुँच पर व्याप्त हो जाता है, और लय को प्राप्त हो जाता है। तब न नाद रहता, न ध्वनि, पर ज्योतिर्बिन्दु ही प्राण शक्ति में तादात्म्य करके प्राण-शक्ति को तेजोमयी कुंडलिनी रूप लक्षित कराता है—और चित्त ही इसे वहाँ साक्षात् करता है। तब प्राण और चित्त का भी तादात्म्य हो जाने पर एक निर्मल स्वरूप प्राणवान् चित्त का ही स्वरूप—पूर्णोऽहं रूप से लक्षित होता है—वही अर्हंत्परमेश्वरपरिणत होता है।

---

1. (योग शास्त्र ८/२१–२२)

इसे ही परम शिव भी कहते हैं, क्योंकि यह प्राण व चित्त की सर्व शक्तियों को धारण किये हुए हैं और शक्तियों का संचालन भी यहाँ से ही होता है। यहाँ पर से अब चित्त को दो दिशाएं मिलती हैं—नीचे वापिस समना भूमि है, जो मन की अति तेजस्वी और निर्मल भूमि है, और इसके ऊपर उन्मनी भूमि है, जो आत्म केन्द्र में अधिष्ठित होने की अभिमुखी-दिशा है।

समनी में चित्त फिर सृष्टि या जगत्-अभिमुखी हो सकता है। यदि वासना का रागांश या संकल्प-कल्पना रहे, तो क्रमशः नीचे की भूमियों में गिरता साधक वापिस मिथ्यात्व तक पहुँच सकता है। अतः योगी समना भूमि को भी छोड़कर उन्मनी दशा को ग्रहण करता है। इस उन्मनी में निर्मनस्क (अमनस्क) ध्यान-साधना शुद्धोपयोगी शुक्लध्यान में ले जाती है। मंत्र जब तक नाद, ध्वनि, या ज्योति बिन्दु रूप होता है, साधक व्यवहार भूमि में ही चलता रहता है। बिन्दु में अर्हन्त परमेश्वर की प्रतिष्ठा पूर्वक ध्यान की भूमि सराग भूमि ही होती है।

यद्यपि मंत्र या वर्णमाला यानी शब्द-श्रुत के पर्यायों के अवस्थांतर को साधक अपनी आत्म कला तथा ध्यान पुरुषार्थ से उद्भव करता है, मगर, यहाँ तक भी चित्त का संपूर्ण अनात्म द्रव्य निर्जरित नहीं हुआ होता। तथा अर्हंत्-स्वरूप उपासना में चित्त जब आत्म रूप अभिन्न होता है, तब ही शुद्धोपयोगी आत्म तत्त्व भावना होती है और आत्मा का स्वातंत्र्य और ऐश्वर्य प्राप्त होता है। चित्त यानी मन जब तक सब वासना, कामना व सात्विक भावों तक से विवर्जित होकर निर्मल न हो जाए, उसकी विभाव रूप स्पंदन कलना रहती ही है, और तब तक निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त नहीं होती।

शुद्ध चैतन्य भाव और जिनेश्वर स्वरूप पृथक नहीं है—अतः सोऽहं साधना से वह भाव, परिपक्व होकर जब स्वतः तिरोधान को प्राप्त होता है, तब भावातीत दशा आती है। वही निर्विकल्प समाधि है। अतः जिनेश्वर मूर्ति के सहस दल-कमल में शिवत्व रूप मंगलमय रूप में अचल आसीन होने के उपरांत ही यथार्थ और उच्च कोटी सोऽहं रूप से अनन्त चतुष्टय स्वरूप निजात्मा की भावना व ध्यान होता है—अर्थात् सोऽहं भावना में एक मात्र आत्मा द्रव्य आत्मा गुण और निर्मल पर्याय का अखंड ध्यान होना चाहिए। इसे ही आ. कुंदकुंद ने वर्णित किया है।

> पयडि ट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।
> सोहं इति चिन्तिज्जो तत्थेव य कुणदि थिर भावं।।[1]

आत्मा को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-बंध रूप कर्मावरण से निर्मल और विमुक्त हुआ, सोहं भाव के—स्थिर भाव से ध्यान करे। स्थिरता ही वस्तुतः चारित्र रूप है। यही चारित्र फिर वीतराग चारित्र होता है। वीतरागी सम्यग्दृष्टि का निश्चय चारित्र इस प्रकार व्यवहार

---

1. (नियमसार—९८)

भूमि को अतिक्रान्त करके प्रकट होता है। सहस्रदल कमल के प्रकाश में जिनेश्वर के स्वरूप विलास के अनन्तर उस स्वरूप चन्द्रमा की निर्वाण कला को प्रकट करना चाहिए। उसकी ज्ञेय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध को एक-एक कला क्षय से निर्जरित करके स्वयं निर्मल अक्षय आत्म चन्द्र को उदित करना चाहिए—वही सोहं की साधना परमहंस की साधना है।

आज्ञा पद्म में ज्योति बिन्दु के प्रकट होने से लेकर सहसदल पद्म में महाबिन्दु रूप के उन्मेष के मध्य ही चित्त के अनात्म स्कन्धों में से पांच भौतिक तन्मात्रा स्वरूप का निरसन होकर ही चित्त की निर्मलता होती है और चित्त की इस अन्तर्यात्रा में चित्त का नव-नादों के रूप में साक्षात्कार होता है। नाभि से आज्ञापद्म तक की यात्रा में चित्त व प्राण स्थूलता का निराकरण करते हुए सूक्ष्म रूप में पहुंचते है। सूक्ष्मावस्था में भी अनात्म तत्त्व पंच तन्मात्रा रूप में विद्यमान रहते है। नाभि से आज्ञापद्म तक की यात्रा में तो स्थूल पांच भूत तत्त्व ही निवृत्त होते हैं और चित्त का अपेक्षतया ही निर्मल निर्माण होता है। यह चित्त ही फिर आज्ञा पद्म से सहस दल तक की यात्रा में सूक्ष्म तन्मात्रा रूप पांच भूतों से निवृत्त होकर और भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है और इसका ज्ञायक भाव प्रकृष्टतर हो जाता है—यही अब आत्म-ध्यान कर सकता है। शुद्धोप योगी आत्म ध्यान या आत्म प्रेक्षा इसी प्रकृष्टतर निर्मलता को प्राप्त-यानी सहसदल कमल तक उर्ध्व में विहार करने वाला चित्त ही करता है—यह चित्त भी अब चित्त नहीं है चेतना ही है और चेतना ही चेतना में अब रमती है।

चित्त की अतीन्द्रिय दर्शन-शक्ति का विकास

सुविज्ञ पाठक हम साधना विमर्श करते यहां चित्कला के निर्मापक पूर्ण चन्द्र मय चित्त स्वरूप तक आ गये हैं। यह पूर्णचन्द्र रूप चित्त ही आगे आत्म ध्यान करने की क्षमता वाला है। हम पूर्व में यह भी जान व कह चुके हैं कि यह चित्त एक अलौकिक आभ्यन्तर इन्द्रिय के समान भी है, जो अपनी प्रकाश वृत्ति के साथ सारे विश्व तथा ब्रह्माण्डों में भ्रमण करने अथवा देखने की शक्ति रखता है। इसकी इस दर्शन शक्ति का ही साधक को लाभ उठाना है। दर्शन की बड़ी महिमा है—क्योंकि मात्र दर्शन क्रिया में विकल्प नहीं होते, प्रतिक्रिया नहीं की जाती, किसी संवेदना में (द्वन्द्वों के भाव में,—सुख-दुःख प्रिय-अप्रिय के भावों में) नहीं जाते। दर्शन-क्रिया विकल्प का शोधन कर देती है। यह अनाकार वृत्ति है—अर्थात् यह वस्तु को मात्र देखती ही है पर उस के विषय में उहा-पोह नहीं करती। अर्थात् मात्र देखने की क्रिया विकल्प शोधन करके निर्विकल्प की तरफ ले जाती है। यानी यही वह क्रिया है जो केवल-दर्शन की ओर जाती है। पदार्थ रूप दृष्टि से, न कि संवेदन के प्रिय-अप्रिय भाव से, देखना यथार्थ दर्शन-मात्र दृष्टि है।

दर्शनोंपयोगी दर्शन की क्रिया में मात्र देखते-देखते सम्यग्-ज्ञान होता है। फिर केवल दर्शन और केवल-ज्ञान होता है। ज्ञान साकार होता है—उसमें वस्तु का स्वरूप विस्तृत होता है। उसका बोध प्रकट होता है। जब दर्शन मात्र-दर्शन रूप में, निर्विकल्प रूप में विकसित तथा परिपक्व होता है,

तो यही सम्यग्ज्ञान को देता केवल-ज्ञान में उद्भासित होता है । तथा केवल ज्ञान और केवलदर्शन युगपत् ही होते हैं । मात्र दर्शन यानी प्रेक्षक् वत् तटस्थ, उदासीन होकर वस्तु का निरूपण और निरीक्षण ही केवल दर्शनऔर केवल ज्ञान का सूत्र है । यह किसी बाह्य सत्ता की नहीं, अन्तरसत्ता को देखने का सूत्र है । यह (God) ईश्वर को (Interpret) विवेचित नहीं करता —अतः इस विज्ञान का स्वरूप (Theology) का भी रूप नहीं है ।

प्रेक्षाएं

हां तो ऊपर वर्णन आ गया है—
(१) सामायिक दीप से
(२) काया के दुर्ग में
(३) स्वात्मा रूप चित्त-अन्तरात्मा के वाह्य एवं आभ्यन्तर आधार स्तर
(४) निरीक्षणीय हैं ।

स्पष्ट है कि साधना के तत्त्व इस निरीक्षण क्रिया में ही अन्तर्गभित हैं, अतः यह अति महत्त्वपूर्ण है । ध्यान और भेद विज्ञान का यह द्वार है ।

(१) **सामायिक दीप**—से संकेत दिया है कि मन वचन और काया (देह इन्द्रिय मन वचन (वाणी) और प्राण) की सम सूत्रता, संतुलन और समता होनी चाहिए । तब ही जो हम खोजना, देखना चाह रहें हैं—खोजव देख पा सकेंगे । दीप-सा प्रज्वलित तथा समरूप में स्थित तथा प्रज्वलित अपने आप से यह खोज करनी है, और यह खोज होती है अपनी काया के दुर्ग में चित्त को ही एक प्रखर प्रकाश पुंज सा भावित करके चित्त को सम्यक् साम्य सामायिक के दीप रूप बना कर अपने अज्ञानमय चित्त तथा उसके आधारों को क्रमशः अनावरण करके देखना चाहिए ।

(२) **काया का दुर्ग**—काया जैसा कि पूर्व में हम देख आये हैं—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम रूप से तीन प्रकार की है । इनमें सूक्ष्म देह तैजस् यानी प्राण देह है । सूक्ष्मतम देह कार्माण देह है जिसे अन्य आम्नाय वाले कारण-महाकारण नाम से कहते हैं । सूक्ष्मतम देह को अन्तर नयनरूप चित्त से देख पाने के लिये हमें स्थूल औदारिक देह को और उसे वैध या शिथिल करके प्राण तैजस् देह को देखना होगा । प्राण की तैजस् देह को देख कर और उसके मध्य वायवीय अति सूक्ष्म स्वरूप कामार्ण देह को देखने का प्रयत्न करना होगा । तथा कार्माण देह में बन्धे या अवगाहित पर फिर भी स्वतन्त्र और अस्पृष्ट चैतन्य चिन्मय परम ज्योति परम ज्ञान आत्मा को देखना होगा । इस प्रकार इन विभिन्न स्तरों को देखते-देखते हमें आत्मा के निज गृह पर पहुंचा होगा । सब साधना का यही स्वरूप है, सार है । इसे हम आगे और भी स्पष्ट रूप में समझेंगे ।

(३) **स्वात्मा**—हम पूर्व में समझ चुके हैं कि यह आत्मा त्रिविध है । बाह्यात्मा वाह्यवृत्ति मय

है, देहाध्यास युक्त है, देह में आपा करने वाला और आत्मा में देह भाव करने वाला है। पर गुरु-उपदेश तथा शास्त्र पठन-मनन करके यह अन्तरात्मा की दिशा में झुकता है, और यह निर्णय करता है कि मैं आत्मा हूं, मात्र देह, इन्द्रिय, प्राण या मन नहीं हूं। इस निर्णय से यह बाह्यात्मा अपनी मिथ्या दृष्टि से मुक्त होकर, सम्यग्-दृष्टा, आत्म-स्वरूप का जिज्ञासु और आत्म-स्वरूप के निश्चय वाला बनता है। ऐसा निश्चय वाला ही आत्मा साधक बनता है, और अपने अन्तर में अपनी आत्मा का शोधन करता है। इस शोधन में इसका अध्यवसाय चलता है। अध्यवसाय का सतही स्वरूप मन है, और अन्तर स्वरूप अन्तरात्मा है। चित्त की वृत्ति ही चलती है पहले तो। और यह वृत्ति ही शुद्ध होती उपयोग रूप हो जाती है। तीन आशयों के अनुसार यह वृत्ति ही अशुभ, शुभ और शुद्ध होती है। शुद्ध होते ही यह शुद्धोपयोग नामं पाती है और तब चित्त-चित्त न रह कर चिद् स्वरूप हो जाता है—यानी चित्त अपने ही शुद्ध स्वरूप में अभिन्न होकर शुद्धोपयोगी हो जाता है। चित्त को अत्यन्त प्रखर प्रकाश मय शक्ति वाली वृत्ति सहित जानना चाहिए। इस शक्ति सहित ही यह अपने आप का दर्शन करता शोधन करता है, अपने सब आधारों को निर्मल करता है और इस क्रिया-कलाप में स्वयं भी शुद्ध होता जाता है। इसे ही आत्म-परिणतियों का शुद्ध होना कहा जाता है। चित्त को दृष्टा बनाइए और यह दर्शन क्रिया में विकल्प शून्य होगा। अब आत्मा आप अपना दृष्टा बन जायेगा। चित्त को विकल्प-शून्य कर लेने पर ही आत्मा आत्म-दृष्टा होगा।

दर्शन करने की इस क्रिया में अतः इस चित्त को अपने विभिन्न आधारों में भ्रमण कराइए। यह इसकी अन्तर्यात्रा है। अन्तर्यात्रा पूर्ण होने पर यही अन्तरात्मारूप में विकसित होगा। और तब उस अन्तरात्मा की उर्ध्वयात्रा परम स्वरूप परमात्मा की तरफ होगी। ऐसे अन्तर्यात्रा ही परम की यात्रा के लिए सीढी है।

(४) अन्तर्यात्रा और उसके क्रम

अन्तर्यात्रा के अब क्रमों को देखे, जानें, और समझें। स्थूल देह से आरंभ करें। हम इसे प्रथम काया पर, फिर काया के भीतर, तदनन्तर प्राण देह पर और फिर प्राण देह के भीतर चैतन्य चक्रों तथा कमलों पर ले जाएं। तदनन्तर हम इसे अन्तरीक्ष परमेष्ठी रूप स्थित करके देखें और दिखायें। इस क्रिया में यह पुरुषाकार होकर अर्हत् स्वरूप हो जायेगा, केवल दर्शन करता करता केवल ज्ञान तक पहुंचेगा। इसी उपाय का वर्णन "अनुभव-प्रकाश" पृष्ठ[13] पर इस तरह उल्लिखित हुआ है—

"ज्ञान जानने मात्र, दर्शन देखने मात्र, सत्ता अस्ति मात्र वीर्य-वस्तु निष्पन्न सामर्थ्य मात्र; केवल ऐसा प्रतीत्य मात्र रुचि भाव को आस्तिक्यता श्रद्धान कहिये। तिस तैं उपजी आनन्द कन्द मैं केलि करि सुखी हौं। जान्या आनन्द ज्ञानानन्द स्वरूप देखे आनन्द दर्शनानन्द, परिणया आनन्द चारित्रानन्द। ऐसे रूप गुणानन्द तिसका मूल निज स्वरूप आनन्द कन्द। तिसकी केलि स्वरूप में परिणति रमावणी। तिसतै सुर्ग समूह भया है। और इस तै ऊंचा उपाय नाहीं। भव्यन कों शिवराह सोहली

ख

(सहज),—यह भगवन्त ने बताई है। भगवन्त की भावना तैं सन्त महन्त भये। मैं भी याही भावना का अवगाढ थम्भ रोप्या है।"

आगे कहा है कि आत्मा का स्वरूप गोप्य हो रहा है। "दीपक के पांच पडदे हैं। एक पडदा दूरि भये, क्षीण बारीक उद्योत भया। दूजा पडदा दूरि भया, तब चढ़ता प्रकाश भया। तीजा गये चढ़ता भया। चउथा भये, अधिक चढ़ता भया। पांचवां निरावरण प्रकाश भया।" इस प्रकार पांच पडदों के अनावरण की चर्चा इस साधना भूमि में चलाई जाती है।

पडदों के अनावरण में कर्म-अनावरण की निष्पत्ति है। और यह अनावरण को करने वाली "अनन्त चैतन्य चिन्ह कौं लिये अखंडित गुण-पुंज पर्याय का धारी द्रव्य ज्ञानादि गुण-परणति पर्याय अवस्था रूप वस्तु" है। इस वस्तु का जो पर्याय है, उसी में अनुभव होता है और यह पर्याय निर्मल प्रखर प्रकाशमय, अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति मय स्वयं अन्तरात्मा है, वही अन्तर्जगत् को देखने का नयन है। और वही देखने वाली वस्तु है, अनुभव करने वाली वस्तु है।

"दरसन ज्ञान शुद्ध चरित कौं एक पद,
मेरो है स्वरूप चिह्न चेतना अनन्त है,
अचल ज्ञान ज्योति है, उद्योत जामैं,
परम विशुद्ध सब भाव में महन्त हैं।

आनन्द की धाम अविराम, जाकौं आठौं जाम,
अनुभव मोक्ष कहे देव भगवन्त है,
शिवपद पाइवे को और भांति सिद्धि नांहि,
यातैं अनुभवों निज मोक्ष तिया कन्त है।[1]

ज्ञान का लक्षण जाणपणा है, दर्शन का लक्षण देखना है। देख-पणा और ज्ञान-पणा—दोनौं ही "परसौं व्यापि, पर ही का हो रह्या है" तथा यह जानपणा तथा देख-पणा भी, जो वर्तमान में पर का जानपणा व पर का देख-पणा होय रह्या है—बिना ज्ञान व बिना देखने के भी नहीं होता। अतः देखने और जानने की क्रिया-कलाप के अभ्यास के अन्य कोई उपाय भी नहीं है।

(५) कायोत्सर्ग काया-प्रेक्षा–अतः प्रथम काया को सोधने को काया पर तथा काया के विभिन्न अंगों पर वृत्ति को क्रमशः घुमाओ, फिर काया के भीतर वृत्ति को विभिन्न अंगों में घुमाओ। हमें काया और काया के विभिन्न अंगों में पसरी हुई चेतना को समेटना है। अतः आसनस्थ होकर (चाहे पद्मा-

---

[1] ज्ञान दर्पण–45

सन या सुखासन में बैठें या खड्गासन में खडे हों या शवासन में लेटे रहें) सहज नेत्र बन्द करके काया के, विभिन्न अंगों पर ऊपर-मस्तक से लेकर नीचे पांवों तक के एक एक अंग पर क्रमशः अपनी वृत्ति को ले जाकर, उन अंगों को शिथिल होने का निर्देश दें कि वे तनाव-मुक्त और शिथिल हो गये और फिर उन्हें तनाव-मुक्त शिथिल हुए अनुभव करें। इस प्रकार प्रत्येक अंग को शिथिल करें। साथ ही प्रत्येक अंग पर ये भी भावना करें कि वहां की सब मांसपेशियां कोशिकाएं, तंतु आदि चैतन्य हो जाएं, और फिर वे चैतन्य होकर चमकने लग कर प्रकाश मय हो गये हैं, ऐसा अनुभव करें। इस भावना में वृत्ति लगी रहने से जागरूक रहने लगेगी। प्रति अंग पर इस तरह अन्तर्दृष्टि ले जाकर उसे प्रकाश मय, प्राण मय देखे। फिर उस दृष्टि से संपूर्ण शरीर को ही एक साथ पूरा का पूरा बार-बार ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर देखे। आप अब पायेंगे कि मैं देखने वाला इस संपूर्ण शरीर से अलग हूं, यह शरीर एक खोल की तरह ही बैठा है, या खडा है या लेटा है (जैसी भी स्थिति हो)। यह कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग शब्द काया और उत्सर्ग-इन दो शब्दों से निष्पन्न है और इसका अर्थ है काया को काया के भाव को छोड़ना। यहां इस क्रिया में आपने अपने को इस काया से शिथिल करके, विभक्त करके देखा है। यही काया का उत्सर्ग है और काया का भेद-ज्ञान है। इससे देहातीत विदेह भाव की प्राप्ति होती है। साधना में आत्म-यात्रा का यह प्रथम चरण है।

आप देखेंगे कि इस औदारिक स्थूल देह के खोल में एक अन्य सूक्ष्म और प्रकाशमय देह चमक रही है। यह प्राणमय या तेजस् देह है। इसका देखना प्राण देह का विज्ञान है। स्थूल काया का देखना काया का प्रेक्षा ध्यान है। इस सूक्ष्म प्राणमय देह का देखना प्राण प्रेक्षा है। इस प्राणमय देह में आप चित्त रूप से अवस्थित हैं। प्राण प्रेक्षा में प्राणों का भेद-ज्ञान है।

(६) सुषुम्णा में शक्ति तथा वृत्ति का भ्रमण

अब आप चित्त देह से भी विभक्त होने के लिए उस प्राण देह में प्रवेश लें—उसी प्रकार जिस तरह आपने स्थूल देह से इस सूक्ष्म देह में प्रवेश लिया है। इस प्राण देह को ऊपर से नीचे देखते जाइये। एक-एक अंग को देखिये और फिर सम्पूर्ण देह को देखिये। इसके अनन्तर इसमें प्रवेश कीजिये। इस देह में पृष्ठ भाग के नीचे मेरूदण्ड भाग पर दृष्टि ले जाएं और वहां मूलाधार (शक्ति केन्द्र) पर दृष्टि जमाएं, वहां के चक्र और कमल को देखें। और इसके पास ही तेजस् तन्तु स्वरूप शक्ति को, प्राणशक्ति को देखें और उठाएं, यह प्राण शक्ति उठती है तब मेरुदण्ड के पास जो नीचे मेरुदण्ड में विवर है—उसमें प्रवेश करके चलती हैं। यह सूर्य-प्रकाश की प्रखर धारा के समान मेरुदण्ड के मध्य भाग (सुषुम्णा) में होकर ऊपर उठती है और पीछे की तरफ से चढ़ती हुई कण्ठ होकर आज्ञा पद्म पर आ जाती है। वहां से चलकर देह-ब्रह्मांड के ज्योतिष-मण्डल की महा ज्योति को दिखाती है। यह स्मरण रहे कि जब यह शक्ति सुषुम्ना में होकर चलती है तो इसके साथ चित्त वृत्ति भी साथ-साथ चलती है और आत्म चेतना का—अपने देखने रूप व जानने रूप क्रिया का भी साथ-साथ प्रचार होता जाता है। वह आत्मा का आत्मा में प्रचार है। आ० शुभचन्द्र कहते हैं—

आत्मन्यात्म प्रचारे कृत सकल बहिः सन्यास वीर्या–
दन्त ज्योतिः प्रकाशाद्विलयगत महा मोह निद्रातिरेकः ।।

अर्थात् आत्म को आत्मा में प्रचारित (प्रवर्तित) करके,—अन्तर्यात्रा कराने पर, सारा बाह्य प्रपंच मय जगत् सन्यस्त हो जाता है, छूट जाता है और अन्तर्ज्योति का प्रकाश हो जाता है और उसका फल यह है कि महा मोह तथा निद्रा का अतिरेक (बल) विलय को प्राप्त होता है, नष्ट हो जाता है।

चित्त को बार-बार शक्ति केन्द्र से प्रकाश पुंज के रूप में उठाकर सुषुम्ना होते हुए मस्तिष्क के सहस्त्रार,—महा ज्योतिर्मय महा कमल तक ले जाइये और वापिस शक्ति केन्द्र में लाइये। और इस क्रिया को फिर स्वतः होती भी कुछ काल तक देखें कि यह क्रिया आप ही हो रही है।

चित्त को घुमाने और शक्ति स्वरूप को देखने की इस अन्तर्यात्रा मय अभ्यास में चित्त स्वयं फिर कहीं भी रुकने लगेगा और आप दृष्टा रूप में समाधिस्थ हो जाएगें।

(७) सूक्ष्म प्राण प्रेक्षा

चित्त आप का शून्य वत् होकर समाधिस्थ हो गया। पर अब इसे वहां से जगाइए और इसे वापिस प्राण प्रेक्षा पर लाइए। पूर्व में जो चित्त ने कायोत्सर्ग के समय प्राण का रूप देखा था, वह स्थूल था। अब इसे सूक्ष्म प्राण के स्वरूप को दिखाइए। प्राण प्राणवायु के साथ आता जाता है। हम पूर्व में समझ आये है कि प्राण को सम और सूक्ष्म करना चाहिए। प्राणों के इस सूक्ष्म स्निग्ध स्वरूप में ही फिर अन्य आधारों की शिथिलता होती है। अब वृत्ति को प्रथम नासाग्र तथा फिर नासा-मूल स्थित करके प्राणों के आवागमन को मात्र कुछ काल तक देखिये, उस प्राण वायु का स्पर्श अनुभव कीजिये, उसे बाहर से भीतर और भीतर से बाहर आता जाता महसूस कीजिये। महसूस कीजिये कि वह जब नीचे जाता है तो नाभि भाग ऊपर उठता है, और जब प्राण वायु बाहर ऊपर जाता है तो वह नाभि भाग नीचे सुकडता है। इस प्रकार देखने में श्वास वायु दीर्घ और मंद होगा तथा फिर उसे नासाग्र और नासा मूल में देखते-देखते उसकी गति, उसका रंग, गंध, रस आदि का भी कालान्तर में अनुभव होगा। तब आप जान लेंगे कि इस प्राण-श्वास का क्या स्वरूप है ? यह ज्ञान अति सूक्ष्म प्राण तत्व का है। आपने अपने स्थूल प्राण को विभक्त करके प्राण का अब भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इससे आपको प्राण पर अधिकार तथा नियन्त्रण प्राप्त होगा। आप को इस नियन्त्रण के लिए किंचित् सूक्ष्म लोम-अनुलोम प्राणायाम तथा थोड़ा अल्प-अल्प कुंभक भी करना चाहिए। यह सब बहुत सहज और जागृति के साथ ही अपनी कायोत्सर्ग स्थिति में करने चाहिए। इस प्रकार करने पर आपको नासामूल पर प्रकाश उगता प्रतीत होगा। वह ज्योति प्रकाश भी अभ्यास के साथ धीरे-धीरे बढ़ता जायेगा। इस ज्योति को

---

1. ज्ञाना.105/27 का पूर्व भाग

अब आप भृकुटी मध्य दोनों नेत्रों के बीच अच्छी तरह ले जाएं और जमाएं। जब यह जमने लगे तो इसे बांये नेत्र पर ले जाएं और देखें कि यह नेत्र आप को दिखने लगा है—उसके ऊपर की भ्रुओं, फिर पलकों, पलकों के अन्दर श्वेतवर्ण पटल, पटल के मध्य भूरे-काले वर्ण गोलाकार बिन्दु और उस गोलाकार बिन्दु के भीतर काला सूक्ष्म बिन्दु रूप तिल (Retina) है, और अब आप और गहरा देखें तो आप अब उस तिल रूप बिन्दु के भी भीतर अन्य सूक्ष्म छिद्र है उसके भीतर भी आप प्रवेश कर जायें और प्रकाश को देखें और उस प्रकाश में स्थित अपने को देखें।

इसी प्रकार फिर भ्रूमध्य वापिस अपनी दृष्टि को लाकर वहां प्रकाश को देखे। वहां वह प्रकाश अरुण वर्ण उगता प्रतीत होगा, उसका विस्तार होगा। और वही फिर और गगन में चढ़ कर श्वेत सूर्य या चन्द्र सदृश भासने लगेगा। यह आज्ञा पद्म का चन्द्रमा चित्त का ही रूप है, यह एकाग्र चित्त है। इस एकाग्र चित्त को अब थोड़ा और ऊपर व गहन निर्विकल्प रखते-रखते इसे निरुद्ध चित्त बना लें।

यदि दृष्टि में प्रकाश न खुले तो प्राण-अपान पर जब आपने दृष्टि स्थिर करके उसके आने या जाने को निरन्तर देखने का जो अभ्यास किया था, उसी पर फिर कुछ समय लौट आएं, और निरंतर प्राण-अपान को आता जाता देखें। अब इस आवागमन के साथ सोहं ध्वनि की योजना कर दीजिये और सोहं नाद को मात्र सुनते रहें,—तथा नाद से भी वृत्ति हटाकर उस अनाहत नाद को चन्द्रमा सा ध्यान करें। इस ध्यान को अब भ्रूमध्य (आज्ञा पद्म) पर ले आएं। अनाहत के स्वरूप को हम ऊपर वर्णित कर चुके हैं। निरुद्ध चित्त उन्मनी ध्यान के योग्य होता है—और यही सहस्रदल पर ले जायेगा जहाँ आपको यह चित्त जिनेश्वर रूप में प्रतिष्ठित हुआ अवलोकित होगा। इस चित्त-दर्शन छबि में तंन्मयता और अभेद होने पर वहीं आत्म ध्यान का रहस्य स्वतः खुल जायेगा।

(८) वर्ण तथा चक्र प्रेक्षा

प्राण देह पर एक बार फिर आएं। अब प्राण देह के भीतर चलें। आप नाभि में रंरकार रूप रक्त वर्ण अग्नि मण्डल का ध्यान करें। फिर कुछ काल अभ्यास के बाद हृदय पर आ जाएं। वहां आप भीतर हरित् वर्ण या या पीत वर्ण का ध्यान करें। हरित् हरा भी है और वही हरिद्रा रूप पीत भी है। इसके अनन्तर भ्रूमध्य फिर अरुण वर्ण प्रकाश का ध्यान करें। इसके अनन्तर ललाट के बीच भाग पर श्वेत वर्ण का ध्यान करें। इस श्वेत वर्ण प्रकाश का पूरे ललाट पर विस्तार करके और ऊपर ब्रह्मांड के ज्योतिषमण्डल का, महा प्रकाशमय सहस कमल का ध्यान करें। इन उर्ध्व चक्रों की प्रेक्षा से उन-उन स्थानों की ग्रन्थि-रसों का विषमरूप परिणाम होना बन्द हो जाता है। रसों की विषम प्रकृति बदल जाने से साधक का आचरण, व्यवहार तथा चेतना सब ही बदल जाते हैं। चेतना का इससे स्वतः उर्ध्वीकरण होता है और अति श्रेष्ठतर ऊर्जा प्राप्त होती है।

अर्हंत्—विज्ञान में मात्र रंग का ही ध्यान विहित नहीं किया गया है। हम ऊपर देख आये है कि सप्त सर्वज्ञ मण्डलों में ह्रीं का वर्ण तथा अवर्ण मय ध्यान भी होता है जो ऋषिमण्डल स्तोत्र में कहा

गया है। अतः ज्यादा अच्छा है आप विभिन्न चक्र मध्य विभिन्न वर्ण-प्रभा सहित ह्रीं को, ओं को, या हं को या अर्हं को ही ध्यान में ध्यायें। इन्हें विभिन्न चक्र-स्थानों पर स्थापित करिए। रक्त तेजों मय ध्यान से सानन्द भाव का निर्झर फूटने लगता है। पीत वर्ण ध्यान से शान्ति तथा पद्म वर्ण ध्यान से निर्मलता और वीतरागता प्रकट होने लगेगी। शुक्ल वर्ण ध्यान से शुक्ल-आत्म ध्यान का आरम्भ होता है। उसे स्फटिक सन्निभ अवर्णमय ध्यान तक तक ले जाना चाहिए। चक्र स्थानों पर इन्हें विराजमान करके प्रकाशमय,—प्रभामय स्वरूप में ध्यान करना चाहिए। फिर महा कमल सहस्त्रार पर आकर अर्हंत् परमेष्ठी का शुभ्र तथा अचल ध्यान करना चाहिए। चैतन्य चक्र (केन्द्र) प्रेक्षा अध्यात्म विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण अभ्यास है। इनसे साधना में नये आयाम खुलते हैं और साथ ही अंतः स्त्रावी ग्रन्थि रसो को ये अमृतमयी कर देते हैं। तब नई स्फूर्ति आनन्द और उल्लास प्रकट होता हैं।

(६) परमेष्ठी पुरूषाकार प्रेक्षा

हम ऊपर समझ आए हैं कि अर्हं मन्त्राक्षर की भावना तथा ध्वनि मस्तक में तरंग रूप में विस्तार पाती है। इन तरंगों को आप दुग्धोज्ज्वल अमृत-तरंगों के समान देंखे और भावना करें कि अन्तरात्मा इन दुग्धोज्ज्वल तरंगों में आप्लावित हो रहा है और स्वयं दुग्ध वर्ण शुक्ल हो गया है। यह शुक्ल वर्ण प्रकाश मय चित्त ही कण्ठ से सहस्त्रार के कमल पर महा बिन्दु रूप में आसीन लक्षित होता है। इस ज्योति बिन्दु को दृष्टि से वेध करके इसके मध्य परमेष्ठी पुरुषाकार को विराजमान करके ध्यान करें। येही सोहं, "क" यानी आनन्द रूप का गुप्त रहस्य है। यह स्वरूप ही अनन्त चतुष्टय रूप भावित होना चाहिए। यह नाद, ज्योति का वाच्य है। इस ध्यान का अराधन सहज कुंभक में करना चाहिए। इस ध्यान से सूक्ष्म का वेध होकर कारण महाकारण लोकों में चले जाते हैं।

हम चक्र ध्यान में भी सहस्त्रार पर पहुंचते हैं। यहां हम नाद के आश्रय पहुंचे है। शब्द से प्रकाश होता है। वह प्रकाश होता है नाद रूप, और नाद ही ज्योति रूप और ज्योति चन्द्र या सूर्य रूप भासता है। वह पूर्ण चन्द्र या सूर्य ही महा कमल पर ध्यान किया जाता है।

इस महा कमल के मध्य ही अर्हंत् परमेष्ठी का ध्यान करिए। वस्तुतः मानव का हृदय यह महाकमल--सहसदल कमल ही है। यहां ही अपने मन्त्र का ध्यान, अपने इष्ट का ध्यान, प्रकाश रूप में ध्वनि रूप में और पुरुषाकार देह रूप होता है। मन्त्र चाहे ओंम् हो, ह्रीं हो, अर्हं हो या हं हो किसी भी मन्त्र का आराधन हो—चन्द्रमा के समान गौर वर्ण या सूर्य समान भास्वर ही ध्यान करना चाहिए। यह स्वयं साधक का ही स्वरूप है।

यह गौर वर्ण चन्द्र ही पूर्ण चन्द्र है। यही निर्माण कला वाला पूर्ण चन्द्र है जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं।

जो व्यक्ति कायोत्सर्ग में स्थित स्थान होकर इस ध्यान तक आ पहुंचता है वह ज्ञान-समुद्र मुनि के ही समान हो जाता है और आ० शुभचन्द्र ने यह आर्शीवादात्मक वचन कहे हैं—

निर्णीते स्व स्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा ।
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपंकेरुहश्रीः ।।[1]

जिसको स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होकर निर्णीत हो जाता है, निश्चय हो जाता है, उसके लिए यह जगत् जडवत् या शून्यवत् है, क्योंकि वह एक अन्य उत्कृष्ट परम ज्योति में ही जाग जाता है और उसकी तुलना में जगत् का आलोक मी अंधकार वत् भासने लगता है, ऐसे ज्ञान समुद्र मुनि के चरण कमल की लक्ष्मी (शोभा) तुमको मोक्ष पद प्रदान करे। इस आशीर्वाद पद के साथ आचार्य ने सूचित किया है, कि हे साधक ! यहां तक आने पर अब तुम न केवल मोक्ष के ही निकट आ गये हो। तुम तो ज्ञान के सागर मुनि के ही समान हो और तुम्हारे चरण-कमल की शोभा का ध्यान भी लोगों को मोक्ष पद प्रदान करने वाला है।

सुविज्ञ पाठक ! देखों कि इस पूर्ण चन्द्र बिन्दु और अर्हंत् परमेष्ठि स्वरूप आराधना पर आकर साक्षात् निर्मल स्वरूप, निर्मल आत्मा के ही निकट आ जाते हैं। पर अभी सर्व कर्म कलंक-मुक्त भी नहीं हुए हैं। अब आगे की आराधना काया, मन वचन को निरोध में रखते हुए स्वयं परमेष्ठी रूप आत्मा की ही आराधना होगी। यह आराधना उन्मनी मन की, उत् स्वरूप में स्थिर हुए चित्त के द्वारा सम्पादित होगी। यह उत्स्वरूप चित्त तब निर्मित होगा जब दृष्टि सामने से हटकर स्वयं आप अपने अकेले "मैं" पर निर्विकल्प स्थित होकर सदा काल के लिए स्थिर रह जायेगी और अपने पूर्ण स्वरूप के परमानन्द का आस्वादन करके तृप्त हो जायेगी और बाहर-भीतर या ऊपर नीचे ऐसा भी भेद समाप्त हो जायेगा। अखण्ड स्वरूप ही हो जायेंगे तो यही केवल दर्शन और केवल ज्ञान की साधना है। यह निर्विकल्प निर्विकार साधना है। यह सर्व-विकल्प शोधक होने से राग, द्वेष मुक्त वीतराग आत्मा की साधना है।

संवर का मार्ग : सविकल्प से निर्विकल्प की ओर

कायोत्सर्ग (काया प्रेक्षा) चित्त-प्रेक्षा चक्र-प्रेक्षा आदि से काया, इन्द्रिय, वचन, (वाचा) मन सब का संवर होता है। उनके रागात्मक-प्रिय-अप्रिय रूप विकल्प रुकते हैं। उनके प्रकम्पन रुकते हैं। अतः आस्रव रुकते हैं। और बन्ध की निवृत्ति होती है। यह सब क्रिया संवर रूप है। इसमें अशुभ की निवृत्ति होती है—यानी शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तनावों की, ग्रन्थियों की, कठिनाइयों की निवृत्ति होती है, पदार्थ और वस्तुओं का राग टूटता है—दृष्टि निस्पृह और असंग होती है और निर्लिप्त होकर शुद्ध रहती है। इस दृष्टा दृष्टि में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, मात्र तटस्थ होकर

1—ज्ञाना० ५/२७ का उत्तर भाग

देखना ही रहता है । दृष्टि के सामने किसी भी अन्य क्षोभ विक्षोभ या विकल्प-संकल्प को नहीं आने देना चाहिए । आए भी तो उसका साथ न देकर, मात्र देखें, तब वह स्वतः शान्त हो जाएगा । यह क्रिया दर्शन और ज्ञान को खोलती है; दर्शन और ज्ञान रूप आत्मा है, अतः यह आत्म-समाधि रूप है । इसमें प्रथम पूर्ण चन्द्र के आविर्भाव तक तथा परमेष्ठी के रूपमय ध्यान तक सविकल्प समाधि है । यह सविकल्प समाधि असंख्यात विकल्पों को निर्जरित करके तथा करती हुई होती है अतः यही पराकाष्ठा में निर्विकल्पता में भी जाती है । दिशा एक ही है, चिंतन रह कर भी निश्चिंतन की तरफ प्रयाण है । चिंतन को भी जब प्रेक्षक वत् देखने लगते हैं तो निर्विचारता में चरण बढ़ते हैं । श्वास हीन निश्चय सविकल्प समाधि के बिना कोई भी साधक निर्विकल्प आत्मोपलब्धि के प्रथम चरण में प्रवेश नहीं कर सकता । साधक केवल श्वास हीन अवस्था में ही पहली बार अपने स्वरूप को जान पाता है । देह और आत्मा के मध्य श्वास एक सूक्ष्म कडी है । जब आपकी दृष्टि अन्तर्मुख होती है, नेत्र मृदु और निश्चय ता हो जाते हैं और एक दीर्घ निश्वास के बाद श्वास हीन आनन्द समाधि में जाते हैं तो आप अकेले-केवल मात्र होने की तरफ ही गति कर रहे होते हैं । इसके अलावा सूक्ष्म प्राण तथा चक्र प्रेक्षा से सुख-दुःख रूप संवेदनाओं से निवृत्ति होती है । चक्रों के स्थान वे ही हैं—जहां अन्तः स्रावी ग्रन्थियां (Endocrine glands ~~galnds~~) हैं—अतः चक्रों के ध्यान से अन्तःस्रावी सूक्ष्म ग्रन्थियों की सक्रियता तथा शुद्धता होती है और उनके रस देह के लिए ही अमृत स्वरूप ही होते हैं, वे मन व चित्त को भी अमृत रूप कर देते हैं । कषाय तथा मोह के भाव क्षीण हो जाते हैं, स्वभाव परिवर्तन होने लगता है । वृत्तियां बदल जाती है । वृत्तियों पर उद्वेगात्मक, आवेशात्मक, आक्रमणात्मक तथा द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों पर प्रतिक्रियाओं तथा संवेदनाओं पर साधक के प्रेक्षा ध्यान में समग्र रहने से, नियन्त्रण होता है, और प्रशांत संकल्प का, अनुद्वेगात्मक परिणाम-शीलता का आविर्भाव होने लगता है ।

चेतना का रूपांतरण तथा उर्ध्वीकरण एवं आभामण्डल

स्वयं चेतना भी इस क्रिया कलाप में रूपांतरित होती है । वह राग विमुक्त होकर उर्ध्व ब्रह्मांड (मस्तक) के विराट् गगन में विहार करती है और विस्तार पाकर परम उज्ज्वल हो जाती है, अबाध हो जाती है । चेतना का इस प्रकार उर्ध्वीकरण अत्यन्त महत्त्वशील ही होता है । ऐसी उर्ध्व गतिशील चेतना परम स्वरूप परमात्मा की आराधना करने वाली है । चेतना की विभाव धारा ही लेश्या है । कृष्ण, नील और कापोत-तीनों लेश्याएं बदलती हैं । जब आज्ञा पद्म स्थान पर चेतना का विस्तार होता है, तब तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएं जो उच्चत्तर जीवन को उद्घाटित करने वाली है, अवतरित होती है ।

ध्यान में चन्द्र या सूर्य सम प्रखर प्रकाशमान स्व आत्मा वस्तु का ललाट पर ध्यान होता है । इस प्रकाशमान आत्म चन्द्र या सूर्य के प्रकाश को विस्तृत करना चाहिए तथा सर्व तरफ निर्झरित होता भी ध्यान तथा अनुभव करना चाहिए । इस प्रकाश को धारा-प्रवाह रूप में प्रवाहित होता ध्यान किया जाता है । इसे अपने सम्पूर्ण स्थूल शरीर पर ही नहीं, भीतर सूक्ष्म प्राण शरीर पर भी और उसके

भीतर चक्रों तथा कमलों पर भी बरसती अनुभव करें। वह धारा रूप में ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, व कभी बांये से दांये तथा तथा दांये से बांये तथा सामने से पीछे तथा पीछे से सामने—तथा सम्पूर्ण ही तीनों शरीरों को आप्लवित करती हुई व अनुप्रविष्ट हुई प्रवाहित हो रही है, ऐसा देखना तथा अनुभव करना चाहिए। यह प्रकाश की धारा फिर भीतर बाहर सर्वदा वर्तमान रहती है तथा ये ही विशेष कर मुख मण्डल की आभा के रूप में, आभामण्डल के रूप में तथा सम्पूर्ण शरीर को ही व्याप्त तथा आवृत्त करके, घेरा बनाकर विद्यमान हो जाती है। प्रकाश के प्रभा मण्डल तथा आभा मण्डल का निर्माण वीतरागता के पूर्ण विकास की सूचना है और ऐसा पुरुष पूर्ण अहिंसक, महा करुणा मय, समदृष्टि, समता का सागर प्रभु रूप हो जाता है। यह सुख-दुःख से अतीत होता है। इसे कर्म विपाक बाधित नहीं करते। इसने उस सूत्र का जिसके आश्रय तथा निमित्त से कर्म-आस्रव होता है कर्म उदय होता है और कर्म-विपाक होकर सुख दुःख के भावों को देता है अभाव कर दिया है। कर्म-विपाक देह ग्रन्थि-रसों का तथा मन के अध्यवसायों का, कषाय, मोह, प्रमाद, आहार, भय, मैथुन, रति (राग) अरति (द्वेष) का निमित्त (आश्रय) लेकर अपना रस प्रकट करता है, मगर इस पुरुष ने तो ग्रन्थियों पर, चक्रों पर सुख-दुःख के भावों पर मोह कषाय राग द्वेषादि द्वन्द्वात्मक तथा उद्वेग कारक भावों पर ध्यान द्वारा विजय प्राप्त करली है। इसने एकाग्रता पर विजय की है, इसने अपने श्वास को सम, शांत कर स्वाधीन किया है। इसने चित्त चंचलता के द्वार श्वास तथा कर्म विपाक दोनों पर तथा इन्द्रिय विषयों पर विजय की है। इसकी विजय जितेन्द्रियता रूप ही नहीं, जित-मोह रूप भी हो जाती है। देह प्राण (श्वास), वाणी और मन को इसने जीत लिया है। इसका मन जागरुक है, अप्रमत्त, आत्म स्मृति व ज्ञान से भरित है। चित्त अत्यन्त रूप से निर्मल होकर चिद् रूप हो गया है सारे आवेश व उद्वेग नष्ट हो गये हैं। इसके प्राण का प्रवाह निर्मल, अवाधित हैं, वे शरीरगत व सुषुम्णागत रहते हैं और समुद्घात में देहातीत भी होते हैं, सम्पूर्ण विश्व-व्याप्त भी होते हैं। अतः वह सर्व विश्व का ज्ञाता दृष्टा भी है। प्राण संतुलित तथा निगृहीत रहने से यह राग रहित शांत और स्वस्थ होता है। इसके चैतन्य चक्रों के केन्द्र प्रकाशमान हो गये हैं। अतः ज्ञान चेतना भी अबाधित रहती है, कोई आवरण अब नहीं हैं। तैजस् देह से ही नहीं-कार्माण देह से भी यह उत्क्रमित होता है, उसके पाशों को छिन्न कर देता है। इसके लिये तीनों देह फिर मात्र एक खोल ही रह जाती हैं। इसके चैतन्य प्रदेश पुरुषाकार रूप में स्थित रहें या उत्क्रमित रहें इसमें कोई बाधा नहीं रहती। इसका स्व तथा पर का स्वरूप–ज्ञान अबाधित उल्लसित रहता है। तथा स्व–स्वरूप ज्ञान,—केवल ज्ञान में यही अवस्थित रहता है।

विभिन्न प्रेक्षाओं, अन्तर दर्शनों में दृष्टा का, ज्ञायक का विकास; निर्मलता का विकास

साधक इन ध्यान-क्रमों में शरीर प्रेक्षा में शरीर-कंपनों का अनुभव करके, प्राण प्रेक्षा में श्वास तथा प्राणों के प्रकम्पनों का अनुभव करके, तथा चित्त प्रेक्षा में वेदना के सुख-दुःख प्रकम्पनों का निर्पेक्ष भाव से बोध करके इन सब से अतिक्रांत होता है। उसे अपने विचारों के दर्शन से निर्विचारता होती है। चैतन्य प्राण-प्रवाह का, आभा मण्डल का आविर्भाव होता है। प्राण पुंज का दर्शन तैजस् शरीर का ही

दर्शन है—कुण्डलिनी का सूर्य सम प्रभा मय प्रकाश-विकास है। दुःख के उपादान का दर्शन करके वह कर्म विपाक से विमुक्त होता है। दुःख के कारण अध्यवसायादि हैं। साधक ने कर्म विपाक की अभिव्यक्ति के जो केन्द्र हैं, शरीरगत जो ग्रन्थि तथा चैतन्य केन्द्र हैं उन्हें सक्रिय तथा निर्मल करके, उनके प्रकम्पनों को, दुःख-अभिव्यक्तिओं को रोका ही नहीं, उन्हें दुःख या सुख अभिव्यक्ति करने की दिशा से विमुख करके स्वयं आप अपनी ओर मोड लिया है। उसके संचित पूर्व कर्म मन के विषय भाव तथा ग्रन्थियों के विषय के विषय रसपरिपाक रूप कोई भी आश्रय या निमित्त न पाकर स्वतः बिना प्रतिक्रिया किये अविपाकी रूप निर्जरित हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहकर सर्व उपार्जित कर्म-शृंखला की अविपाकी निर्जरा कर देती है। वह उन्हें समूल जला देती है। दुःख के मूल (हेतु) शरीर में ही हैं, अतः साधक अन्तः यात्रा करता, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, के पाशों से विमुक्त होकर कर्म-विमुक्ति को भी घटित कर लेता है। देह में रह कर इस प्रकार आत्म भावों को देखते-देखते ऐसे निर्मल भावों का उदय होता है, जो अत्यन्त निर्मल होते हैं, सम होते है और पूर्व में कभी वैसे नहीं हुए तब यही अपूर्व करण की स्थिति होती है। इसी में कर्मों के प्रदेशों का घात होता-होता, वैराग्य बढ़ता-बढ़ता राग कटता कटता क्षीण-राग होता है। वीतराग सयोगी जिन अवस्था होती है। सर्वज्ञता तथा समता का उदय होता है। साधक सिद्ध सम हो जाता है। साधक भाव तक ही रागमय अहं रहता है। अत्र इस सिद्ध दशा में अहं भी पूर्णोहं होकर विराट् निर्मल और सम हो जाता है, पूर्णता पच जाती है। अनुप्रेक्षाओं की चिन्तना को साधक दशा के लिए, इस अहं को विगलित करने के लिए माता के समान कल्याण-दायिनी अमृत-दायिनी कहा गया है। साधना व ध्यान में उग्र गर्मी या सर्दी का अनुभव हो सकता है, अन्य अनुताप के उदय हो सकते हैं, कर्म प्रत्ययों का उभार (उदय) होकर मन को व शरीर को मलीन कर सकते हैं। साधक तब सब पदार्थों को घटनाओं को, तटस्थ प्रेक्षक की उदासीन वृत्ति से ही देखता, न कि संवेदनात्मक प्रिय-अप्रिय भाव से देखता, ज्ञान मात्र अवस्था में स्व-आत्म लीन ही रह कर साधक दशा को परिपक्व करके सिद्ध दशा में उत्कर्ष करता है। तेजो-लेश्या मय देह के प्रकम्पनों के अनन्तर पीत तथा पद्म लेश्या फिर शुक्ल लेश्या और तदनन्तर अवर्ण लेश्या मय अप्राकृत निज चिन्मय देह का आविर्भाव होता है जो चार अघातिया कर्म से विमुक्त होती है। यह देह ही अर्हंत-देह होती है। यह ही चैतन्य आत्मा पुरुषाकार स्वयं है। उस सयोगि जिन सिद्ध पुरुष के मुख पर (Halo) प्रकट होता है। उसके चारों तरफ एक आभामण्डल का घेरा होता है जो उसके विशुद्धतम भाव धारा का प्रतीक होता है। साधक की भाव धारा जैसे जैसे निर्मल होती है, उसका आभा मण्डल तैजस् से पीत, पद्म, शुक्ल होकर निर्मल जल सा रंग-विहीन अत्यन्त प्रखर (Transparent) हो जाता है। वह सर्व बेधक सर्व शक्तिमान प्रकाश रूप होता है। तब सिद्ध हुआ आत्मा अमर अच्छेद्य अभेद्य और अखंड हो जाता है, भावातीत हो जाता है। सिद्ध योगीजन दूसरे व्यक्ति के आभा मण्डल को पढ़ कर उसके चरित्र को पढ़ लेते हैं। सिद्ध योगी जन संक्रमणशील प्रकंपनशील विश्व में रह कर भी इससे अस्पृष्ट हो जाते हैं। तब ही आत्मा का अस्पृष्ट अद्वैत स्वरूप समझ में आता है और उस स्वरूप की अवस्थिति होती है। वस्तुतः ऐसी सब आध्यात्मिक-निधियां तथा गुण-एकाग्रता तन्मय अहिंसक उन्मनी दशा में ही प्राप्त होती हैं। सम्यक् चारित्र रूप आत्म-स्थिरता ऐसे

ही सधती है। ऐसी साधना ही उच्च संयम चारित्र की साधना है। यही स्वरूप चारित्र की स्थिरता है, आत्म का आत्मा में देखना, ज्ञान करना और स्थिर होना। निर्विचारता में—उन्मनी में ही अत्यन्त गहरी आत्म-लीनता आती है। तब वह सिद्ध साधक ऐसा निर्मल हो जाता है कि सर्व प्राणियों के संवेदनों को, भावों को भी जान सकता है। उनसे तादात्म्य प्राप्त कर सकता है, और उनकी दुःख-मुक्ति भी कर सकता है। और वह दुःख-मुक्ति उसके अनिच्छुक पणे ही, स्वतः प्राणियों को प्राप्त होती है। उसके मन प्राण चित्त के प्रकम्पन इतने शुद्ध रहते हैं कि जो निकट आता है उसके अमृत मय प्रभाव को अनुभव करता है। सबको उसके प्रति आकर्षण होता है। सारी परिस्थितियाँ व वातावरण भी उसके लिए बदल जाते हैं। वह संसार के सब आश्चर्य, सर्व सम्पदा के राग से तथा सर्व संकल्प विकल्प तनावों आदि से शून्य रह कर आप ही अपने में पूरा भरा है—उसका आत्म-पात्र पर-पदार्थ या भाव से भरा नहीं है। वह स्वरस से ही लबालब भरा रहता है। कर्म विपाक उसे नहीं रहते उसने सर्व पाशों को छिन्न कर दिया है। सर्व घाती कर्म नष्ट हो गए हैं—अघाती कर्मों को क्षय करके अशरीरी मुक्ति की तैयारी है।

साधना का रूप है चित् कला का अन्तर्शोधन, विचार विचय से निर्विचार उन्मनी,—ज्ञान मात्र अवस्था भूमि

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि साधना विचार (विचय) ध्यान से आरम्भ होकर अथवा प्रेक्षा से आरम्भ होकर निर्विचार ज्ञान मात्र भूमि पर आरोहण करती है। विचार (विचय) का उल्लास पूर्णचन्द्र बिन्दु का उल्लास है। तदनन्तर ही उन्मनी की भूमि निर्विचार में आती है। विचय व प्रेक्षा दोनों ही भूमि शुक्ल ध्यान को स्पष्ट करती हैं। यहां प्रेक्षा रूप अन्तर्शोधन की विशेष चर्चा है।

"ध्यानाध्ययन"—गाथा १०–१८ में शुक्ल ध्यान के परिचायक—(१) अवधा (२) असम्मोह (३) विवेक और (४) व्युत्सर्ग, चार हेतु बताये हैं। अवधा उपसर्ग तथा परिषहों से विचलित न होना है। असम्मोह-सूक्ष्म वस्तु तथा देव निर्मित आश्चर्यों, विषयों में विमूढ़ न हो जाना है। विवेक तथा व्युत्सर्ग को इस प्रकार कहा गया है—

देह विवित्तं पेच्छइ अप्पाणं, तहय सव्व संजोगे।
देहोवहि सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणई॥९२॥

अर्थात्—(१) देह विविक्त (विवर्जित) आत्मा को तथा सर्व संयोगों (मन, वचन, काया, प्राण, इन्द्रियाँ आदि आधारों) को मात्र देखना विवेक है।

(२) देह–उपाधि का निःसंग होकर सर्वथा परित्याग करना व्युत्सर्ग है।

इस वर्णन में—"पेच्छइ" शब्द प्रेक्षा रूप दर्शन क्रिया को संकेतित करता है। देह-उपाधि

का कायोत्सर्ग में त्याग तथा मन वचन काया के प्रकम्पनों को मात्र देखना, बिना प्रतिक्रिया मात्र देखना आदि अभ्यास शुक्ल ध्यान के ही हेतु हैं, यह इस गाथा के विवेक तथा व्युत्सर्ग लिंगों के स्पष्टीकरण से निर्णीत होता है। अतः दर्शन में राग रहित रहने के अभ्यास शुक्ल ध्यान में ही ले जाने वाले हैं।

विचय रूप ध्यान अन्तिम परिणति में निर्विचार भूमि में ले जाते हैं, यानी शुद्धोपयोगी शुक्ल ध्यान में ले जाते हैं। पूर्णचन्द्र बिन्दु का उल्लास विचय रूप में भी है, और वह आत्म-चन्द्र बिन्दु का ही पूर्व रूप है। यह पूर्ण चन्द्र शक्ति समन्वित होने से अति शक्ति धर है। और यह निर्माण कलाओं का पूर्णचन्द्र है। यही पूर्णचन्द्र उन्मनी में अब अपनी विचार और भाव कलाओं का निरोध करके—निर्जरा करता एक-एक कला का क्षय करता शुद्धात्म रूप में परिणत होता है। सब संस्कार भी कट जाते हैं और स्वस्वभाव उल्लसित हो जाता है। चित्त आत्मा की ही विभावी परिणति या—आत्मा की ही विभावी कला है। यह अब सम्पूर्णतः चित्कला रूप होकर चिद्रुप हो जाता है। निर्माण कला युक्त चित्त ही निर्वाण कला को प्रकट करता आत्मा से अभिन्न होता होता चिद्मात्र स्वभाव को प्राप्त होकर शुद्ध ज्ञायक हो जाता है। चित्त पर्याय रूप शक्ति-अभिव्यक्ति में अब स्वयं शुद्ध शक्ति-गुण की गुणवत्ता रूप है, शक्ति और व्यक्ति का यहां गुण-भेद समाप्त हो गया है। द्रव्य और भाव रूप निर्मलता की यही परिणति है—अर्थात् यहां कर्मावरण रूप द्रव्य जो प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप बंध था उसमें से घातिया कर्मों की निर्जरा, चित्त की भाव-निर्जरा के साथ ही घटित होती जाती है। ज्यों ज्यों चित्त निर्मल होता जाता है निर्जरा असंख्यात गुणी क्रमशः बढ़ती ही जाती है। ध्यान के द्वारा यह निर्जरा अविपाक निर्जरा है। कर्म प्रत्ययों को चित्त-सत्ता में से विपाक देने के योग्य काल से पूर्व ही ध्यानी बाहर लाकर निर्जरित करता जाता है यही ध्यानी का ध्यान में अन्तर्शोधन करना व निर्जरा करना है। वह एकगहन शक्ति-कला का ही व्यापार है, जो ध्यान में ही शक्ति प्रबुद्ध ध्याता को लिये सम्भव होता है।

ध्यान की पांच अवस्थाएं

ध्यान

जैन योग में (१) सम्यग्दर्शन, (२) प्रमत्त दशा, (३) अप्रमत दशा, (४) क्षीण मोह व क्षीण कषाय, (५) सयोगी जिन इन पांच भावमय ध्यान दशाओं के आविर्भाव पूर्वक पूर्णत्व की निष्पन्नता स्वीकार की है। ये गुण स्थान दशाएं ध्यान के आरम्भ से लेकर ध्यान के पूर्णत्व की ही उत्तरोत्तर चढ़ती निर्मल भाव दशाएँ हैं। इनमें कषाय व मोह के अंश कटते जाते हैं और अनंत गुणी कर्म निर्जरा घटित होती है। सयोगी जिन अवस्था के बाद तो फिर अयोगि-जिन अवस्था ही रहती है जिसमें सूक्ष्म काया के योग (परिस्पंदन) भी रोक कर अशरीरी सिद्ध हो जाते हैं।

ध्यान की अन्य प्रकार से सप्त अवस्थाएं

ध्यान की इन पांच अवस्थाओं को ही अन्य प्रकार से सात भूमियों में भी वर्गीकृत करके

वर्णित किया जा सकता है । इनमें सातवीं भूमि सयोगी जिन अवस्था रूप ही होती है । और छः भूमियां ध्यानाभ्यास की व्यवहार भूमियां होती है—वस्तुतः ध्यान में साधक की अर्न्तदृष्टि की शक्ति और शुद्धात्मा के निर्मल भाव की धुन ही प्रमुख तत्त्व है । आज्ञा पद्म में यानी ललाट पर तिलक या टीका लगाने के स्थान भ्रूकुटी मध्य नेत्रों को उलट कर अन्तर-नेत्र-दृष्टि को स्थापित करके अर्न्तनिरीक्षण करना ध्यान को प्रवृत्त करता है और इस निरीक्षण में ही आत्मा का दर्शन-उपयोग ही प्रवृत्त होता है और इस निरीक्षण में ही ध्यान की छः भूमियां अतिक्रांत होकर सातवीं भूमि में पहुंचते हैं ।

दृष्टि की अन्तर गति में ही स्वयं आत्मा का दर्शन-ज्ञान उपयोग प्रवृत्त होता है और वही अपनी अशुद्ध भूमि को निराकृत करता क्रमशः शुद्ध भूमि को प्राप्त होता है । अब तक उपयोग अशुभ व शुभ भूमियों में ही प्रवृत्त रहने से अशुद्ध रहा है । अशुद्धता के ही कारण अन्तर्दृष्टि में अन्तर में आरंभ में कुछ अवलोकित नहीं होता, और साधक अन्तर्मुख होने की इस चेष्टा में घबड़ा कर वापिस ध्यान विमुख होने लगता है । अतः साधक को धैर्य रख कर ही दृष्टि-स्थापन पूर्वक मात्र लक्ष करते-करते अथवा सोहं साधन को साथ में चलाकर, प्राण गति के साथ सोहं या ओंम् या अर्हं को युक्त करके मन और प्राण को सम व निश्चल करना चाहिए । मन व प्राण के निश्चल होते ही कुछ समान-अवस्था होने पर चित्त का तत्त्व खुलने लगता है और साधक को नाद व ज्योति का साक्षात्कार होता है । यह साक्षात्कार ही स्थूलता के लोक से सूक्ष्म लोक का प्रवेश द्वार है ।

मानव जीवात्मा मानव देह में अवगाहित है । यह देह स्थूल, सूक्ष्म कारण रूप से त्रय देह रूप है । स्थूल देह स्थूल पंच भौतिक पुद्गल-प्रत्ययों से निर्मित है । सूक्ष्म देह सूक्ष्म पंच तन्मात्राओं तथा कारण देह विचार रूप है और इसके अनन्तर महाकारण-भाव रूप है—और आत्मा इन सब से विलक्षण अनन्त गुणमय और चिद्रूप व भावातीत है । ध्याता जब शुद्धात्मा का साक्षात्कार करने के उद्योग में ध्यानावस्थित होता है तो ध्यान की गति जीवात्मा के ऊपर आये हुए सब आवरण-स्तरों का वेध करती है और उन सब का वेध होने के अनन्तर ही शुद्ध आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप का रसास्वादन होता है ।

कारण और महाकारण स्तर विचार व भाव लोक हैं—इनसे ही द्रव्य रूप में सूक्ष्मतम कार्माण देह हैं । सूक्ष्म स्तर का देह न्यूट्रानिक कणों से निर्मित प्रकाश (तैजस्) देह है । इस सूक्ष्म देह में ही चित्त (भाव) पिंड में बंधा मानव आत्मा पुरुष पुरुषाकार रूप में विद्यमान है । इस चित्त-पिंड को ही अन्तर या हृदय भी कहा जाता है । यह रक्ताभिसरण वाले हृदय से भिन्न है और सारे सूक्ष्म व स्थूल देह को नियन्त्रण करने वाला है । मैं आत्मा हूं, देह से भिन्न हूं – इस प्रकार बिना उन देह-स्तरों का अतिक्रमण किये और देहातीत विदेह भाव का अनुभव किये यानी बिना घातियां कर्मों की निर्जरा किये कोई अपने को कहे या माने तो यह आत्मा-वंचना ही है ।

द्रव्यार्थिक नय से आत्मा शुद्ध तत्त्व व ज्ञायक तत्त्व ही है । पर पर्यायार्थिक नय से पर्याय

शुद्ध ज्ञायक नहीं है, राग और कषायों से भी उपरक्त है और कर्मोपाधि से बंधा है। इनके निमित्त से वह दुःखी, चंचल या जड़ व प्रमादी है, अज्ञानी है। यह आत्मा पर्याय भी विभावी है, विकारी चित्त रूप है, बहिरात्मा है। अपेक्षतया यदि निर्मल अन्तर्मुख है तो अन्तरात्मा है, पर यह परमात्मा रूप नहीं है।

बहिर्मुख चित्त ही ध्यानाभ्यास में अन्तर्मुख किया जाता है और अन्तर्मुखता की ही यात्रा में यह अन्तरात्मा ईश्वर रूप अनु-शास्ता परिणत होता है। स्थूल का वेध, सूक्ष्म का वेध और कारण-महाकारण रूप सूक्ष्मतम देह को वेध करने में ही साधक अन्तरात्मा का उत्तम रूप-प्राप्त करता है। और तब वह अन्तरात्मा ही परम स्वरूप की आराधना करके परम स्वरूप में स्थिरता का लाभ करके परम स्वरूप हो जाता है। अतः बहिरात्मा स्वभाव को छोड़कर अन्तरात्मा स्वभाव का ध्यानाभ्यास से आविर्भाव करके परमात्मा परिणमित होने का उद्योग करना होता है।

सप्त भूमिकाएं ध्यान अभ्यास की

(१) बहिरात्मा को यह अध्यास रहता है कि मैं तो देह मात्र हूं, आत्मा कोई तत्त्व नहीं है। आत्मा परक दृष्टि लेकर ही अन्तर्मुखता की दिशा में आना होता है। अन्तर में उपयोग की एकाग्रता और वेधकता पर ही स्तरभेद निर्भर है। स्थूल स्तर का भेद ही प्रथम ध्यान-भूमि है।

(२) द्वितीय ध्यान भूमि अंतर में—भ्रूमध्य में किंचित् ज्योति का आविर्भाव है जो स्थूल व सूक्ष्म स्तर का संधि स्थल है। स्थूल स्तर पर तो मन, प्राण इन्द्रिय सब ही स्थूल रहते हैं और साधक का भी भाव स्थूल ही रहता है, और उसे सूक्ष्म स्तर का कोई परिचय भी नहीं होता। अब ज्योति के आविर्भाव पर उसे सूक्ष्म में प्रवेश का द्वार मिलता है। स्थूल स्तर पर तो साधक सदा ही स्थूल लोक में जाग्रत ही है। दूसरी भूमि में भी स्थूल का भान रहता है—यद्यपि वह सूक्ष्म को भी देखता है। ध्याता को इस स्तर पर यह प्रतीत होता है कि मानो वह स्थूल नेत्र, कर्ण आदि से ही सब कुछ देख व सुन रहा हो। इस अवस्था में इन्द्रिय-स्तब्धता भी हो जाती है पर स्थूल का भान भी रहता है, और ध्याता साधक अपने सब व्यवहार उठना, बैठना, इच्छा-कामना आदि सब पूर्ववत् ही करता है। यद्यपि इसकी चेतना सूक्ष्म के परिचय से एक देश अन्तः संज्ञ भी हुई है।

(३) तीसरी ध्यान भूमि में अव ~~उ~~त्तीर्ण होते ही साधक को स्थूल स्तर का भान नहीं रहता, उसे पूर्णतः सूक्ष्म में प्रवेश हो जाता है। उसे अब स्थूल-इन्द्रियों की जाग्रति नहीं, सूक्ष्म अति-इन्द्रियों की जाग्रति होने लगती है। दिव्य पंच तन्मात्रिक विषय, शब्द, रस, गंध स्पर्श और रूप का क्रमशः साक्षात्कार होता है और इनसे चेतना नये संस्कारों से संस्कारित होती है, अन्तर्मुखता गहन होने लगती है। चित्त की मलिनता भी कटने लगती है और सूक्ष्म लोक के आकाश में गगन विहार होने लगता है।

आ० सोमदेव ने योग की इस अद्भुत अतीन्द्रिय शक्ति स्तर का वर्णन उपासकाध्ययन (७७७) में दिया है। इस स्तर के योगी जन दूर वर्ती रूप रस, स्पर्श, गन्ध, और शब्द को ऐसे जान लेते हैं मानो समीप ही है। रूप रस, गंधादि ये पंच तन्मात्राएं हैं, और इन विषयों को ग्रहण कर लेना योगी के सूक्ष्म स्तर की प्रवेश की ही सूचना है। इस दशा में योगी की स्थूल इन्द्रियां नहीं, सूक्ष्म इन्द्रियां कार्यशील होती हैं। वस्तुतः यह ऋद्धि तो क्षयोपशम के प्रबल हो जाने की सूचना है। इस ऋद्धि का कार्य होना तो यह भी बताता है कि योगी का स्थूल जगत् से अभी सम्बन्ध विद्यमान ही है।

ध्यान में आगे बढ़ने पर ही योगी को यह तीसरी ध्यान भूमि आती है। यह स्थूल व सूक्ष्म की संधि नहीं, साक्षात् सूक्ष्म जगत् में ही स्थिति है। इसमें योग-शक्ति अधिक मात्रा में स्पष्ट होती है, अपेक्षतया अंतर जगत् में स्थिरता का काल भी बढ़ता है। पर यह भी अनात्म जगत् ही है। सूक्ष्म के लोक लोकान्तरों में भी योगी का भ्रमण होता है। यहां से चित्त का औत्सुक्य भाव कम होता है, वह जानने लगता है कि मैंने इस जगत् में जो जानने योग्य है सब जान लिया है। सूक्ष्म जगत् की विराट्ता और सौन्दर्य देखकर वह स्तम्भित भी होता है, विस्मय भी करता है और धीरे धीरे उनसे तृप्ति को प्राप्त होकर स्थूल जगत् से पूर्णतः वीतराग होता है। मन्त्र, नाद, ज्योति, वर्ण, वर्णमातृका, कला, नाना रूप जो अन्तर्जगत् में देखता है उनसे वह अभिभूत हो जाता है और एक नये व्यक्तित्व का उसमें जन्म होता है। उसकी अन्तश्चेतना बहिरात्मा पने को त्याग करके अन्तर्मुखी अन्तरात्मा रूप परिणत होती है।

(४) इस तीसरी भूमिका को भी साधक ध्यान की और गहनता में पार कर चौथी भूमि में आ जाता है। यह चौथी भूमि मनो-जगत् में प्रवेश का द्वार है। अभी ध्याता को चित्त का पूर्णतः वेध नहीं हुआ है। यहां वासना मय चित्त की प्रवलता रहती है। अहंकार भी जागृत हो सकता है। बहुत प्रलोभन रहता है। शक्ति जागी है। सावचेत और सावधान रहना होता है। यह भूमि ही दसवीं गुणस्थान भूमि है। अतः साधक पर निर्भर है कि वह अपने दबे विकार; कषाय व मोह आदि के भावों को क्षीण करके आगे उन्नति करता है, अथवा उन्हें उपशांत करके ही ध्यान में आगे जाता है। पर यदि उपशांत करके ही आगे गया तो दबे हुए मनो विकार कभी भी बाहर प्रकट होकर उसका पतन कर दे सकते हैं, और ऐसा ध्याता ग्यारहवीं भूमि में चढ़ कर भी वापिस मिथ्यात्व भूमि तक लौट सकता है। इस चौथी साधना भूमि तक प्रत्यावर्तन का मार्ग रहता है। यदि अब उसने अपने चित्त को कषायों से, मोह से पूर्णतः शुद्ध कर लिया तो एकदम दसवें गुण स्थान से बारहवें गुणस्थान में आरोहण कर कर लेगा।

(५) पांचवी ध्यान भूमि ही बारहवीं गुण-स्थान भूमि है। यहां पहुंचने पर फिर पतन की आशंका नहीं रहता। चौथी भूमि तक की प्राप्त हुई शक्ति का साधक को सदुपयोग ही करना चाहिए तथा उसे अपने चित्त विकारों पर कडी नजर रखकर—उन्हें हृदय में से संसार की, और संसार के

आश्चर्यों की नश्वरता, क्षणिकता और विश्व में वर्तमान प्रत्येक वस्तु की निज योग्यता शक्ति की व्यवस्था और प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता आदि विचारों से निर्मल कर लेना चाहिए। निरन्तर द्वादश अनुप्रेक्षाओं भावनाओं आदि से भी चित्त की शुद्धि को आत्म—लक्ष एवं ध्यानाभ्यास के द्वारा बढ़ाना चाहिए। सूक्ष्म जगत् पर चौथी भूमिका में अधिकार हो जाता है, तो पाचवी भूमि में चित्त का (चित्त के भाव-लोक का) वेध होकर आत्म लोक में प्रवेश ध्याता को हो जाता है।

(६) चित्त लोक के वेध व पवित्र होते ही वह सयोगी जिनेश्वर अवस्था की तेरहवीं गुणस्थान रूप भावातीत ध्यान की छठी भूमिका में अवतीर्ण हो जाता है। पांचवी भूमि में ही ध्याता यथाख्यात चारित्र का अनुष्ठान करता है। इसके पूर्व की चारित्र साधना जिसमें सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्म सांपराय, परिहार विशुद्धि हैं, चौथी भूमि में अनुष्ठित होती है। छठी भूमि में साधक अब साधक नहीं, स्वयं सिद्ध और जगत् गुरु हो जाता है। जिस जिनेश्वर की स्फटिक मूर्ति का उसने भ्रूमध्य ध्यान किया था, और सम्यक्दर्शन रूप में दर्शन किया था, उस रूप ही वह अपने को परिणमित कर लेता है। उस रूप-स्व-रूप में अभिन्न ज्ञान स्वरूप स्थिर हो जाता है। यह मनोराज्य के वेध के अनन्तर अन्तर चेतना का अपूर्व परम परिणति मय परभ ज्ञानोदय है।

साधना भूमियों का विवेचन

चौथी भूमि में सिद्धियां तथा ऋद्धियां आ जाती है। ऐसे पुरुष विष्णु कुमार मुनि के सदृश संकट-प्राप्त जीवात्माओं का रक्षा विधान भी कर सकते हैं। ऐसे पुरुष अदृश्य या दृश्य रूप में योग-पथ पर चलने वाले साधक जनों की सहायता भी करते रहते हैं। इस भूमि के साधक जीवन-लक्ष्य में अपने चित्त को सर्वतोभाव से एकाग्र निरुद्ध और सम निश्चल रख कर, आत्म प्रभु की ही धुन रखते हुए गहन ध्यानावस्था में उतर जाते हैं, तब स्वतः पंचम भूमि और फिर छठी में अवतरण सम्भव होता है। चित्त में रागांश रहते चौथी भूमि से आगे जा पाना सम्भव नहीं होता। कषायों के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान प्रकार तो तीसरी भूमि में आते ही कट जाते हैं। यहां चौथी में संज्वलन कषायों की भी निवृत्ति होती है। अहंकार का सात्त्विक भाव भी नहीं होना चाहिए। तामसिक व राजसिक (चंचल) भाव की तो बात ही क्या?

तीसरी भूमि में सत्त्व की, प्रकाश की बहुत प्रबलता रहती है। इसका वेध करके ही चौथी भाव भूमि में चले जाते हैं। तथा भाव भूमि का भी अतिक्रमण करके भावातीत यानी विश्वोत्तीर्ण होने की भावना की जाती है। अभ्यास होना चाहिए कि मैं इस देह से अतीत सिद्धालय की सिद्ध भूमि में वीतराग भगवत् सिद्ध पमेश्वर के ही समान अवस्थित हूँ।

तीसरी भूमि में रूप-ध्यान परिपक्व होकर "रूप" स्वयं साधक में उतर जाना चाहिए—और साधक का चौथी भूमि में भाव देह निर्मित होकर स्थिर हो जाना चाहिए। पांचवी भूमि में इसी भाव देह में स्थिर रहते रहते भावातीत होकर छठी भूमिका में जा पाते हैं।

चौथी भूमि में यदि साधक मिथ्यात्व की तरफ लौटा है तो यह भाव देह खंडित हो जाती है और भग्न हुई वस्तु को फिर आरंभ से ही पुनर्निर्माण करना पड़ जाता है, युगों का किया हुआ तप-परिश्रम बेकार हो जाता है।

वस्तुतः कोई भाग्यशाली जीव ही परम गुरु की कृपा से इस चौथी भूमि को सुरक्षा से पार कर पाता है। पतन होता भी इसी लिए है कि जीव का चित्त-लोक निर्मल बने, दबी हुई ग्रन्थियां साधना में अवरोध ही हैं। अतः उनका मलपाक होकर पके फोडों की तरह फूट निकलना भी श्रेयस्कर ही है, ताकि उसे फिर अवसर मिले कि वह अपने अन्तर व्यक्तित्व के निर्मल निर्माण को अकम्प क्षपक श्रेणी से ही करे। अन्तश्चेतना के विकार के क्षय पूर्वक निर्मल परिणत होना ही यथार्थ वीतरागता का मार्ग है।

चौथी भूमि में साधक की सूक्ष्म चेतना के साथ मन तादात्म्य करता है। अतः ब्रह्म में चिन्तन और भाव दोनों के ही उद्दामवेग स्थूल व सूक्ष्म जगत् के दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत विषय चिन्तन के प्रवाह का योगी को नियन्त्रण होना आवश्यक हो जाता है। उस वेग से भी अधिक उसे अपनी एक भाव की अखंडता रखने हेतु अपने भाव-प्रवाहों पर भी निग्रह रखना होता है। यह निग्रह रख कर नितांत सर्वथा और सर्वदा ही उसे अपनी चेतना को जागरुक व समान व शुद्ध रखना होगा। भाव जगत् ही अपना आंतर भाग है, विचार लोक तो मात्र बाहर का ही कक्ष है। मन मनन करता है पर चित्त अनेक भावों के प्रवाह में भी बहता है। यह सब नियन्त्रण होना चाहिए।

साधक एक मुखी होकर आत्मा में ही संलग्न रहे, ज्ञाता व दृष्टा ही रहे। मैं ज्ञायक ही हूँ— इस दृढ़ भाव में वह स्थिर रहे तब यह चौथी भूमि पार होती है। संकल्प विकल्प मय भावों के पूर्णतः विवर्जन पर ही बोध मय उन्मनी तथा तन्मयी अवस्था का परिचय मिलता है, और उसी में रहते रहते पांचवीं भूमि पार होती है।

पांचवी भूमि में ही इस भूमि का मन व्यष्टि मन नहीं, विराट् विश्व रूप होकर ज्ञान-स्वरूप को प्राप्त होता है। सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभू से मन से नहीं, आत्म रूप से अपनी अभिन्नता की प्राप्ति करके ही छठी भूमि में आना होता है। मन से देखते रहे—तो मन की क्रीडा रही। मन से अतीत होने पर ही जब हंस मन परम हंस आत्म प्रभु स्वयं में लीन हो जाये तब ही दर्शन भूमि से अतीत यानी मनोमय रूप का दर्शन न होकर स्वयं साक्षाव् भगवद् रूप हुआ जा सकता है।

अभिन्नता का ज्ञान जागृत होने में पर्याप्त समय लग जाता है, यही शुभ से शुद्ध का झोला है, वन्दक से वन्द्य भाव में जाना होता है। यह बोद्धिक निर्णय रूप नहीं होता—अन्तश्चेतना स्वयं ही परम से अभिन्न रूप जब परिणत होती है, तब ही वह अभिन्न-ज्ञान स्वतः ही प्राप्त होता है। मन का पर्दा हटने पर ही, मन का वेध होने पर ही यह कभी संभव होता है।

चौथी व पांचवीं भूमि में मन जब पूर्णतः रागक्षीण हो जाता है, तब ही छठी भूमि में भगवद्दर्शन में मात्र भगवद् दर्शन रूप न रह कर, स्वयं भगवद् ही स्वयं हुआ जाता है। चौथी व पांचवीं भूमि में ही रूपातीत ध्यान परिपक्व होता है। रूपातीत में गुण भावना से भाव देह परिणत होती है और भावातीत सिद्ध देह की भूमि तैयार होती है। छठी भूमि का परिपाक यथाख्यात चारित्र के ही अनुष्ठान से होता है और इसी में एकत्व-विचार-शुक्ल-ध्यान तथा आगे की ध्यान भूमिका आती है।

सामान्य साधक तो साधारणतः प्रथम स्थूल भूमि से ही आगे नहीं जा पाते और यदि वे इससे भी निकल जाते हैं, तो सूक्ष्म में या कारण (मनो भूमि) में ही अटके रह जाते हैं।

अज्ञान को अविद्या रूप भी कहा गया है। अविद्या में ही मल विक्षेप और आवरण होते हैं। मन की स्थूल मलिनता ही मल रूप है—जिसकी निवृत्ति पर ही अखंड ज्योति-बोध रूप बिन्दु का लाभ होता है। इसके अनन्तर जिस विद्या रूप आवरणों का निराकरण होता है, वह सात्त्विक प्रकाश रूप है। इसके भी ज्ञान में संक्रमित हो जाने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि आवरणों की निवृत्ति भी घातीकर्मो की आवरण-निर्वृत्ति के ही तुल्य है, और विक्षेप-निवृत्ति अघाती कर्म-निवृत्ति रूप है। इस वर्णन में भी साधना-भूमि आवरण-निवृत्ति तक ही मानी गई है। सांख्य व योग दर्शन कैवल्य को पुरुष-आत्मा और प्रकृति के वियोग रूप मानता है। इस वियोग को संपन्न करके बुद्धि रूप प्रकृतितत्त्व का कार्य समाप्त हो जाता है और बुद्धि के लय पर पुरुष केवल रूप रह जाता है। इस मान्यता में अतः आत्मा को ज्ञान व गुण-ऐश्वर्य रूप परमैश्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती। अतः इस कैवल्य के बाद जीव अपनी लयावस्था से पुनः जागता है और मुक्त नहीं होता। जैन साधना में ज्ञान तथा भाव की विशेष पर्याय अवस्थाओं के क्रमशः उद्भव करते हुए सत्-सामान्य अवस्था में विशेष ज्ञान पर्यायें केवल ज्ञान रूप होती हैं और आत्मा परमैश्वर्य (अनन्त चतुष्टय) को प्राप्त हो जाता है। यही परम अवस्था होती है।

ध्यान की तीसरी भूमि में सूक्ष्म जगत् पर अधिकार हो जाता है। इसका चौथी भूमि में वेध होकर चित्त-भूमि में प्रवेश होता है। चित्त भूमि के विचार-प्रवाह का वेग शांत करके पांचवीं भूमि में आना होता है। तथा पांचवीं भूमि में भाव-प्रवाह का वेग शांत होता है, और चित्त भूमिका का सर्वथा संक्रमण हो जाता है।

चौथी व पांचवीं भूमि अतः उच्चतम भूमि स्पर्श के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। इस पांचवीं भूमि में चारित्र अंग का यथार्थ अनुष्ठान होता है क्योंकि उपयोग शुद्ध रहता है। यहां सभेद चारित्र का अनुष्ठान समाप्त होकर अभेद-चारित्र यानी अभेद रत्न त्रय का अनुष्ठान होता है, निर्विकल्प ही स्थिति रहने लगती है। निर्विकल्प का अर्थ ही वीतरागता हैं। यह वीतरागता व्यवहार भूमि को अतिक्रान्त करती प्रकट हुई है। छठी भूमि में मात्र शुद्ध का ही स्व-संवेदन है, यथाख्यात चारित्र का सेवन है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना भूमि का क्षेत्र कहां से आरम्भ होकर पर्यवसान होता है अर्थात् व्यवहार भूमि का क्षेत्र कहां से कहां तक रहता है और कहां निश्चय भूमि की यथार्थ प्राप्ति होती है ।

आत्मा को उत्कृष्ट स्वरूप का लक्ष्य तथा ग्रहण क्यों ?

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यान्नाप्नोत्य शुद्धमेव स्वम् ।
जनयत हेम्ना हेमं लोहाल्लोहं नरः कटकम् ॥

जैसे स्वर्ण से स्वर्ण-कडा और लोह से लोहे का कडा प्राप्त होता है, वैसे ही शुद्धभाव से जीवात्मा शुद्ध निर्मल स्वरूप को और अशुद्ध भाव से ध्यान करते हुए अशुद्धता को, विकारता को ही प्राप्त होता है ।

इससे यही निर्णीत होता है कि शुद्ध भाव स्वरूप ही ध्याता का लक्ष्य होना चाहिए । इसके ही प्रकट होने पर शुद्धात्मा रूप जीव परिणमता है । इस जीवात्मा की अपनी ही अज्ञान और निर्बल भूमि के कारण उसे व्यवहार भूमि का, अशुद्ध-भूमि का ध्यान में आश्रय रहता है । जब यह अशुद्ध-भूमि व्यवहार-अभ्यास से शनैः शनैः शुद्ध हो जाती है तो ध्याता स्वतः ही शुद्ध निश्चय भूमि में उल्लसित हो जाता है ।

साधनाभूमि आलोचना

साधना का मार्ग वस्तुतः दोष पूर्ण नहीं, स्वयं साधक ही दोष पूर्ण है, अशुद्ध एवं रागी है, अतः उसका उपयोग अशुभ भूमि में रहने से उस उपयोग को शुभ निमित्त व व्यवहार अभ्यास से अपेक्षतया निर्मल और सशक्त बनाते हुए अनात्म-तत्त्वों के आवरण स्तरों का वेध करते हुए आत्मा को स्व स्वरूप के लिए निर्मल करते हैं । व्यवहार अभ्यास में भी दृष्टि तो साधक को शुद्ध आत्म तत्त्व की ही प्राप्ति की ही रखनी होती है । साधक ध्यान में जैसे जैसे तन्मय परिणामी होता जाता है, निर्मल होता जाता है वैसे वैसे साधना भी प्रखर होती जाती है । साध्य साधक और साधना का एक बिन्दु पर एकत्व हो जाना ही सिद्धि का निर्देशक होता है ।

साधक जब अपने में वर्तमान अज्ञान स्वरूप से भेद-विज्ञान के लिए ग्रन्थियों का वेध करके स्वरूप के निकट होता है और उत्कर्ष काल में ध्याता ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी का वेध करके तन्मय होकर साध्य रूप में अवस्थित होता है, तब ही निर्जरा करता हुआ परमात्मा दशा में पहुंचता है । साध्य का दर्शन या अनुभव ही वस्तुतः पर्याप्त नहीं होता । उस स्वरूप रूप ही उसकी अन्तश्चेतना को परिणमित भी होना होता है ।

साधना की व्यवहार भूमियां अन्तश्चेतना को निर्मल से निर्मलतर की ओर क्रमशः ले जाती हुई निर्मलतम स्वरूप में ले जाती हैं ।

चौथी भूमि से ध्याता दृष्टा तथा ज्ञायक भाव का ध्याता है और असंग निर्लिप्त भाव की साधना करता है। राग, द्वेष, कषाय आदि के सूक्ष्म स्वरूपों की भी क्षपणा का उद्योग करता है।

पांचवीं भूमि में वीतरागता होकर आत्म ध्यान की स्थिरता स्थायित्व लाभ करती है। पांचवीं व छठी भूमि ही अतः यथार्थतः स्वरूपाचरण है। यहीं स्वभाव-गति का प्रवाह आता है। पांचवीं भूमि में स्वभाव धारा को यत्न व उद्योग पूर्वक चलाते हैं. पर छठी भूमि में अयत्न पूर्वक ही स्वभाव धारा रहती है। और सातवीं भूमि तो जीवन्मुक्त की सिद्ध भूमि ही है जिसमें जीवात्मा स्व केन्द्रस्थ हो जाता है।

जिन जीवात्माओं से संसार के प्राणियों का हित साधन होना होता है, वे केन्द्रस्थ रहकर, केन्द्र स्थिति में परिपक्व होकर स्थूल संसार में फिर से लौटते हैं और जीवों को मोक्ष-मार्ग में प्रबोधित करते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष या सयोगी जिनेश्वर स्वरूप में केन्द्र और परिधि (पर्याय) का भेद नहीं रहता। पर्याय समान रूप से ज्ञानादि गुण रूप ही रहती है। परिधि जो है —वह स्व-केन्द्र से है। यहां जीवात्मा ऐसा स्व-शक्ति संपन्न होता है कि परिणामी और अपरिणामी दोनों ही निर्मल और समन्वित रहते हैं। ज्ञान पर्यायों की यानी ज्ञप्ति स्वरूपों की दशा एक समान विशेष चिद्रूप केवल ज्ञान रूप ही रहती है। स्व तथा पर का ज्ञान स्व प्रकाशक और स्वयं-प्रकाश-ज्ञान ज्ञायक में अभेद रहता है। अर्हंत् देह यानी चिन्मय आत्म स्वरूप का यही परिपूर्ण विकास तथा निर्माण है। यही योगानुष्ठान का परम प्राप्तव्य है। जीवन का परम लक्ष्य यही स्वरूप है।

वेदान्त का साधनों में अप्रोच (Apprroach) बौद्धिक है, पर वे अविद्या के नाश तक साधना का क्षेत्र मानते हैं जिसे वे बौद्धिक निर्णय तथा "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानं-ब्रह्म", "तत्त्वमसि" सिद्धोऽहं रूप चार महावाक्यों की अवधारणा से प्रकट करते हैं। जैन साधना का अप्रोच उपासनात्मक है—यद्यपि वे भी अनन्तचतुष्टय रूप आत्म स्वरूप की अवधारणा और ध्यान को करते हैं। जैनों की साधना निष्ठा, ज्ञान और चारित्र (आत्म स्थिरता) का समन्वित रत्नत्रय स्वरूप हैं। पर वेदांत की साधना प्रधानतः बौद्धिक है और बुद्धि-निर्णय तक ही सीमित है व बुद्धि की समता को ही समाधि रूप मानतें है। पर जैन साधना बौद्धिक निर्णय को तो लेकर चलती है, पर उतने मात्र को मान्य नहीं करती। उसमें बौद्धिक निर्णय तो आरंभ बिन्दु ही है। मिथ्यात्व रूप अज्ञान तो मात्र ज्ञान-गत ही नहीं है, निष्ठा और चारित्र गत भी रहता है। अतः मात्र बौद्धिक निर्णय अन्तश्चेतना को निर्मल रूप में परिणमित करने को पर्याप्त नहीं होता।

जैन विज्ञान साधना को व्यवहार रूप मानता है, चारित्र रूप मानता है, मात्र निष्ठा या बौद्धिक ज्ञान रूप नहीं। निष्ठा तो मात्र आत्म-रुचि रूप है—और वह परोक्ष रूप ही आरंभ में होती है। ज्ञान जो पुस्तकीय या शास्त्रीय या बौद्धिक होता है, वह भी ऊपर ऊपर ही चेतना में है, वह आत्म-वेधक नहीं होता। हरताल जिस प्रकार ताम्र को रंग कर नकली सोना रूप दिखा देती है, पर उसका पारखियों के समक्ष कोई मूल्य नहीं होता, ऐसे ही यह आरोपित तात्त्विक चर्चा से या पठन

स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान भी आदमी को ज्ञानाभिमानी व वाचिक ज्ञानी या उपदेशक तो बना सकता है, पर वह वस्तुतः आत्म-साक्षात्कार में परिणित ज्ञान को प्राप्त नहीं होता।

वाचिक ज्ञानी अपने को व दूसरों को ही धोखे में रख सकता है, पर वह मोक्ष के वास्तविक निश्चल मार्ग में नहीं होता। जैन ऋषियों और अर्हत्पुरुषों ने अतः साधना रूप व्यवहार मार्ग यानीं सभेद रत्नत्रय का मार्ग स्वभाव गति में स्थिर हो जाने तक माना है। स्वभाव गति में यानी शुद्धोपयोग में स्थिरता तक विभाव की अशुद्धता की ही क्रमशः भूमिकाएं घटती हुई विद्यमान रहती हैं। जैसे-जैसे ध्यानावस्था गहन व निर्मल होती है; वह अशुद्धता भी अपेक्षतया एक-एक देश कटती जाती है। जब तक अशुद्धता पूर्णतः न कट जाए—स्थूल व सूक्ष्म देहाध्यास रूप नोकर्म, चित्तावरण रूप भावकर्म और घाती द्रव्यकर्म-रज न कट जाएं, बराबर व्यवहार तथा निमित्त की आश्रय भूमि ही रहती है। ये सब छद्मस्थ अवस्था हैं। इसके उपरांत की सर्व ग्रन्थि-रहित निर्ग्रन्थ सिद्धावस्था तेरहवीं गुण-स्थानक अवस्था आती है। यहां सिद्धावस्था से हमारा मंतव्य अशरीर सिद्धावस्था से नहीं, सर्व संशय रहित सर्व कर्म रहित सशरीर जीवन्मुक्त परम हंस महा ज्ञानी अवस्था से है।

घाती

यह स्पष्ट ही है कि व्यवहार का कार्य व्यवहार से ही होता है। व्यवहार दशा में निश्चय की चर्चा आप सुनें, और सुनना भी चाहिए—क्योंकि वह लक्ष्य है, पर आप व्यवहार भूमि के विभिन्न आधार-स्तरों को पार किये बिना निश्चय में नहीं पहुंच सकते। निश्चय वह स्थिति है जिससें पहुंच कर फिर वापिस नीचे चय नहीं होता, वापिस कर्म-कलंक नहीं लगता। रागांश रहते कभी पूर्ण अबंध दशा होती नहीं। और रागादि का शमन या क्षय दसवीं गुणस्थान संक्रान्ति है, ध्यान की चौथी भूमि है। यहां तक आपको शुभ-निमित्तों का आश्रय होता ही है। आपके चाहने या न चाहने का कोई प्रश्न ही नहीं है—आप जब तक इस गुण श्रेणी को ध्यान के उत्कर्ष काल में न अति क्रान्त कर लें, आपका उपयोग, आपकी सुरति, संज्ञा शुभ निमित्त के ही आश्रय टिक पायेगी, एक मात्र शुभ ही आपकी ध्यान नाविका के लिए ध्रुव नक्षत्र रहेगा। आपके उपयोग की सूई उसी की ओर रहेगी, और तब ही आपका ध्यान आगे भी चलेगा। इसमें ही शुभ से शुद्ध व फिर शुभ से शुद्ध, इस प्रकार झोला चलता रहता है और अंत में शुद्ध की स्थिरता होती है।

निश्चय दशा में परिणत होने पर फिर व्यवहार आप ही अनपेक्षित होकर छूट जाते हैं। व्यवहार छोडा नहीं जाता, यह स्वतः ही छूटता है। निश्चय तो व्यवहार के आगे की बात है। वहां तो व्यवहार का क्षेत्र रहता ही नहीं। क्योंकि व्यवहार का जो भी कार्य है वह सम्पन्न हो चुका होता है। स्वभाव में गति तब स्वतः और स्वयं ही रहती है। वही तब साधन है यानी यहां ही साध्य ही साधन है और साधक उस साध्य रूप ही रहने से साधन रूप भी है। यही वह ज्ञान अवस्था है जिसमें ज्ञानाग्नि तीव्र रूप से प्रज्वलित होती है और कर्मों को जो अब भी तनु रूप में बचा पड़ा है, जला देती है।

स्वभाव ध्रुव है, अपरिणामी में स्थिरता है, न कि पर्याय में। परन्तु पर्याय प्रवाह नित्य है—उस की नित्यता का स्रोत कहां है—उसको देख कर ही साधक नित्य शाश्वत् ध्रुव में स्थिर हो जाता है। वह यहां "पर" में सन्निविष्ट नहीं, स्व में ही है। अब वह "पर" को देख कर भी वीतरागी ही रहता है, स्व से विचलित नहीं होता। व्यवहार को अभूतार्थ कहने वाले कि जिन्होंने व्यवहार भूमि को अतिक्रान्त भी नहीं किया, अपने अंतरंग में विचार तो करें कि क्या वे प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक क्षण में स्व में से विचलित तो नहीं होते, क्या उनमें अब कोई रागांश भी नहीं है ? यदि वे ऐसे हैं, तो ही निश्चय ही वे ज्ञानी हैं, पूज्य हैं, आराध्य हैं। स्व में निश्चल अवस्था से पूर्व यह स्पष्ट है कि साधक को ध्यान की उन्मनी और तन्मनी अवस्थाएं आती हैं—और इन ध्यान अवस्थाओं के ही परिपाक में साधक सक्रिय रहकर निश्चय में आता है।

निश्चय निष्क्रिय अवस्था है। निश्चय में कभी सक्रियता आती भी है तो वह वीतराग होने से, सहज अहेतुकी रहने से निष्क्रियता की ही गिनती में है। यहीं पूर्णतः अबंध दशा है। इस निश्चय में सक्रिय विशेष चैतन्य केवल ज्ञान की दशा उदित रहती होती है। यह निश्चय दशा प्रकट ही है, जुबानी जमा-खर्च नहीं है। यह अन्तश्चेतना के निश्चल निश्चय (चयरहित) परिणमन होने के अनन्तर की बात है। इस में शुद्ध के ही आश्रय यानी अनात्मा व पर-निमित्तों से रहित, स्वाश्रित शुद्ध दशाएं ही परिणमित होती रहेगी।

यह दृढ जान लेना चाहिए कि विशेष केवल ज्ञान अवस्था से पूर्व सत्-सामान्य की अवस्थिति नहीं होती, तब तक तो इस सत्-सामान्य की निष्ठा और परोक्ष जानकारी ही रहती है। साधक को इस सत्सामान्य रूप से जो फासला रहता है, उस को ही ध्यानाभ्यास से पूरा करना होता है। वस्तुतः आत्मा न तो मात्र सत्-सामान्य है, और न मात्र विशेष पर्याय रूप ही है, वह तो सामान्य-विशेषात्मक है।

शक्ति रूप से भव्य अशुद्ध आत्मा को यह शक्ति है कि वह शुद्धता में परिणमित हो सकता है और यह परिणमन निर्मल अभिव्यक्तियों के प्रकाश करते-करते, शक्ति का विकास करने-करते, पुरुषार्थ को सक्रिय करते-करते ही होता है। अतः यह सही है कि राग रहित स्व परिष्कार रूप निर्मलता व्यवहार साधना का क्षेत्र है। यह क्रमिक मार्ग है। विभिन्न गुण-स्थानों के क्रम अवलम्बन रूप यह है। हां जो पूर्व जन्मों में साधना के क्रमों को पूरा कर चुके हैं, वे अब यहां परम अक्रम निश्चय भाव दशा में या तेरहवीं गुणस्थान में निष्क्रिय भी रह सकते हैं। पर यह तो विरले ही जनों की बात है।

पन्द्रह पाक मय अपरम भाव, सोलह पाक मय परम भाव; व्यवहार तीर्थ रूप और निश्चय आत्मतत्त्व रूप

सुद्धा सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहिं।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[1]

परम भाव को जिन्होंने देख लिया है, जान लिया है और पहुंच गये हैं, ऐसे परम भाव-दर्शियों को शुद्ध के ही आदेश को जानना चाहिए। परन्तु जो अपरम भाव (परम भाव से नीचे की भूमिका) में स्थित है, उनको व्यवहार साधनाओं का ही उपदेश योग्य है।

इस पर अमृत चन्द्राचार्य का कहना है—

"जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध परम भाव का अनुभव करते हैं, वे प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की क्रमशः परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अपरम भाव के अनुभव से शून्य हैं। अतः उनके लिए शुद्ध द्रव्य को ही कहने वाला होने से जिसने अस्खलित एक स्वभाव रूप एक भाव प्रकट किया है, ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्ण के समान जाना हुआ प्रयोजन वाला है। और जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकते हुए उस अशुद्ध सवर्ण के समान "अपरम भाव" का अनुभव करते हैं, वे अन्तिम पाक से उत्तीर्ण शुद्ध सुवर्ण के सदृश "परम भाव" के अनुभवों से शून्य है, अतः उनके लिए अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से, भिन्न-भिन्न एक भाव-स्वरूप अनेक भाव दिखलाता हुआ यह व्यवहार नय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है,—क्योंकि तीर्थ और फल इस प्रकार से ही व्यवस्थित है।"

'उक्तं च' कह कर उन्होंने आगे यह गाथा दी है—

जेइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।

जो तुम जिन मत के अनुसार प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय, इन दोनों नयों (प्रणालियों) को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ (मोक्ष मार्ग) का नाश हो जाएगा, और दूसरे निश्चय नय के बिना तत्त्व (आत्म वस्तु) का नाश हो जाएगा।

इससे अधिक स्पष्टीकरण आचार्य कर ही क्या सकते है? स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार ही मोक्ष मार्ग है, और निश्चय वह तत्त्व है जो प्राप्त करना है और यह आत्म-तत्त्व रूप ही है। इस

---

1. (समय सार—१२)

आत्म तत्त्व को ही व्यवहार से प्राप्त करना होता है—साधना अभ्यास योगानुष्ठान उपासना योग आदि से साक्षात्कार करना होता है। इससे ही निर्मल सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध बुद्ध सिद्ध रूप से अवस्थिति करनी होती है। मार्ग का लक्ष्य आत्म-वस्तु की निश्चय स्थिति प्राप्त होती है । परम भाव निर्विकल्प आत्म तत्त्व का अनुभव हैं। अपरमभाव में सविकल्प आत्म तत्त्व का अनुभव है । सविकल्प अवस्था से ही निर्विकल्प भूमि में उत्कर्ष होता है। छद्मस्थ जीव में सब क्रियाएं बुद्धि पूर्वक होती हैं—अतः उसे साधना-व्यवहार का अवलम्बन रहे ही गा। निर्विकल्प ध्यान में आठवें, नवमें, दशमें गुणस्थान में बुद्धि पूर्वक रागादि भावों का अभाव रहने रूप वीतरागता आती है । अतः वहां भी ध्यान काल में उस समय तक परम भाव रहता है। यही वहां निर्जरा का हेतु है। परमभाव से पूर्व सविकल्प अवस्था में अपरम भाव रहता है, पर वह सविकल्प अपरम भाव भी सराग-चारित्र का अंग होने से अनंत गुणी निर्जरा करता ही है। वह निर्विकल्प समाधि के तुल्य तो नहीं, पर फिर भी निर्जरा का हेतु है और यह भी अपेक्षतया विषय कषाय राग आदि को दूर करने के लिए प्रयोजनवान् है। इसी लिये जयसेनाचार्य कहते है—

“यहाँ पर केवल भूतार्थ निश्चय नय निर्विकल्प समाधि में रत हुए मुनियों को प्रयोजनवान् हो, मात्र इतनी ही बात नहीं है, किन्तु सोलह ताव के शुद्ध सुवर्ण-लाभ के अभाव के नीचे के ताव सहित सुवर्ण लाभ के समान निर्विकल्प समाधि से रहित किन्हीं प्राथमिक शिष्यों को कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व व विषय कषाय को दूर करने के लिए व्यवहार नय प्रयोजनवान है ।”

वस्तुतः पन्द्रह तावों तक तो सविकल्प दशा ही रहती है और सोलहवें ताव रूप निर्विकल्पता होने पर ही शुद्ध सुवर्ण रूप आत्मा का साक्षात्कार होता है । साधना और तप रूप योगानुष्ठान की अग्नि भट्टी में शुद्धता के अर्थ क्रमशः पन्द्रह तावों की परम्पराओं में ध्यान-संस्कारों में से गुजरना ही होगा। परम भाव साध्य है और साधक दशा में अपरम भावों की भूमिका के अनुसार शुद्ध से नीचे शुभ-भाव आते ही हैं और रहते ही हैं।

चतुर्थ गुणस्थानक सम्यक् दृष्टि को वीतरागी अथवा अबंधक कैसे कह सकते है ? सातवें से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक भी राग का अंश होने से कर्म-बंध होता है । जितने अंश राग रहता है, उतने अंश कर्म कालिमा रहती है और जितने अंश रागादि का अभाव होता जाता है, निर्मलता के संस्कार तथा परिणतियां भी बढ़ती जाती हैं। सर्व प्रकार सर्व आधारों में रागादि विभाव की निवृत्ति जब हो जाती है, तब सोलहवें ताव से तपे शुद्ध हुए सुवर्ण तुल्य निर्मलता की अवस्था होती है। साधना की प्रक्रियाओं का यही लक्ष्य है कि परिणामों की, मन की परिणतियों की क्रमशः निर्मलता करते जाना। अपरम भाव से, सविकल्प भाव से, विभाव भाव से, निर्विकल्प भाव में, स्वभाव भाव में उल्लसित ही नहीं, क्रमशः स्थिरता का उद्देश्य इन व्यवहार-साधनाओं का है। इनका अनुष्ठान वीतरागता में आने

के ही हेतु से है । अर्हन्तादि भी वीतरागता रूप विज्ञान से ही महानता को प्राप्त हुए हैं । तप कल्याण के अनन्तर ही ज्ञान कल्याण होता है । वीतराग तप ही कल्याण का कारण है, और उससे निष्पन्न हुआ ज्ञान ही शिव रूप होता है ।

सराग चारित्र और वीतराग चारित्र के फासले को जानकर सराग चारित्र के भेद अवस्था के ध्यान उपासना से संवर तथा निर्जरा करते हुए क्रमशः अभ्यास में पराकाष्ठा को पहुंच कर अभेद अवस्था के निर्विकल्प परम ध्यान में संक्रमण करने का प्रयत्न करना चाहिए । सराग भूमि में भी राग के हटाने का ही मंतव्य है । राग वहां रहता है, अतः ही यह सराग कहने में आता है पर वहां राग वस्तुतः अभीष्ट नहीं है । मात्र स्व प्रभु आत्मा जो निर्मल जिन स्वरूप आत्मा तुल्य है वही अभीष्ट है । इससे अन्य सब "पर" के राग का व अपरम भावों का क्रमशः निराकरण होकर ही वीतरागता होती है ।

ध्यान से ही अन्तश्चेतना का निर्मल परिणमन

ध्यान की प्रकृति ज्ञान रूप है । ज्ञान ही जीव का व्यग्र होता है, और ज्ञान ही स्थिर होता है और पूर्णत्व रूप विकास को प्राप्त होता है । इसे ही सर्वज्ञता कहा जाता है । इससे स्व तथा पर का स्वतः स्वयं प्रकाश अनन्त अमित विस्तृत हो जाता है और यह अनेक अनन्त गुणराशियों तथा शक्तियों को धारण किये रहता है । ज्ञान ही राग रहित रहा चारित्र में वीतरागता को परिणमन कराता है । अतः साधना के अभ्यास-क्रियाओं से राग व मोह का क्रमशः क्षय करके अन्तश्चेतना को शुद्ध व निर्मल परिणमन करना चाहिये ।

ध्यान साधना के चार भेद और ध्यान के सात चरणों की उनमें संगति

ध्यान को जैन योग विज्ञान में चतुर्भेदात्मक कहा है । उनमें प्रथम व द्वितीय भेद आर्त व रौद्र-ध्यान हैं, जो करणीय नहीं है मगर अशुभ दशा में जीव को होते ही हैं । उनका निराकरण करते हुए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान दो प्रशस्त ध्यान होते हैं । इनके भी उत्तर भेद हैं । शुक्ल ध्यान मुक्ति कारक है और शुद्धोपयोग के प्रकट होने पर संभव होता है । धर्म ध्यान में लक्ष्य शुद्धात्मा ही है, पर शुद्धात्मा की सीधी पकड उपयोग को नहीं हो पाती, अतः अवलम्बन से शुभ संकल्प पूर्वक, शुभ प्रवृति-पूर्वक ध्यान होता है । इस ध्यान में चेतन ध्येय में अर्हन्त परमेष्ठी या सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान चलता है । ये सावलम्बी ध्यान हैं । पर वस्तुतः परात्मा लक्ष्य और स्वात्मा लक्ष्य में गुणरूप से कोई भिन्नता नहीं होती । अतः धर्म-ध्यान परम्परा से मोक्ष कारक है । वह शुक्ल ध्यान में उत्कर्ष करता है, इसलिये यह शुक्ल ध्यान का सोपान है ।

धर्म ध्यान चित्त सापेक्ष सावलम्बी ध्यान और शुक्ल ध्यान चित्त-निर्पेक्ष स्वावलम्बी ध्यान है । यह निराश्रयी, राग-वर्जित, मोह से व कषाय से शून्य ध्यान है । इस आत्म समाधिमय शून्य

ध्यान का पूर्व अध्याय में विवेचन हो चुका है। ध्यान की सप्त भूमियों में पांचवी, छटी और सातवीं भूमियां शुक्ल ध्यान रूप होती है। इनसे पूर्व की चार भूमियां धर्म ध्यान की भूमियां है, जिनमें चौथी भूमि मध्य स्थानीय होने से अति महत्वपूर्ण और निर्णायक है।

ध्यान साधना चरणों को सूक्ष्म में इस प्रकार समझें

(१) श्वास के आवागमन के स्पर्श को अपने अन्तर में अनुभव करना है और अनुभूति करके उस आवागमन में सोहं मंत्र के बीजाक्षरों की समायोजना करना है कि इससे संकल्प तथा शक्ति का जागरण हो।

(२) प्राण व चित्त (मन) को तनाव व विकारों को प्राण वायु रेचन के साथ रेचित होने की भावना करें। तथा प्राण वायु के ग्रहण के समय शक्ति का आहरण करने की भी भावना करें।

(३) प्राण अपान के साथ मन को समायुक्त करके चित्त को लय व विश्रांत करें और अपने को स्थूल देह से अतीत हुआ प्राणमय तैजस् देह में स्थित और शक्ति प्रवाहित से आप्लावित होता अनुभव करें।

(४) इसी में अपने ज्ञायक भाव को जागृत रख कर यह निश्चल भावना करें कि मैं ज्ञायक ही अनन्त चतुष्टय रूप आत्म-तत्त्व हूं। मैं औदारिक तथा सूक्ष्म प्राण (तैजस्) देह तथा भाव देह से भी अतीत चिन्मय आत्म देह में अर्हंत्-देह में ही अवस्थित हूं।

(५) चित्त में नाद व स्फुर ज्योति-बिन्दु में अर्हंन्त सकल जिनेश्वर को एवं स्व पुरुषाकार स्वरूप को उल्लसित करके उस के अन्तर-भाव में निर्विकल्प हो जाएं।

क्षणोत्तीर्ण दशा की विधि

स्व समय (आत्मा) में ही स्थिरता का अभ्यास व ध्यान ही सामायिक का श्रेष्ठ स्वरूप है। जो समय वीत गया और जो समय अभी अनुत्पन्न है, यानी अतीत और भविष्य की किसी स्मृति या कल्पना कों मत उठने दीजिए। वर्तमान क्षण को ही आत्मा में अर्पित करते रहें। क्षणोतीर्ण होने की यही विधि है। इसी में स्वरूप-संधान करते हुए ज्ञान व आनन्द रूप में निमग्न रहिए। यह अभ्यास जान लेने की मात्र क्रिया नहीं है, भाव ही इस क्रिया का रहस्य मय अन्तरंग है। भाव से भावतीत होकर गुणत्रय से अतीत, अनन्त गुण राशी परमेश्वर स्व परमात्मा पद में स्व शक्ति विकास से ही आरोहण होता है। जितना प्रखर व निर्मल भाव आप उदित कर सकेंगे उतनी ही शीघ्र परम पद की सन्निकटता होती जायेगी। व्यवहार समाप्त होकर निश्चय में निश्चल अवस्थिति हो जा सकती है।

चिंतना भावना—ये सब व्यवहार रूप हैं, चिन्तना—भावना रूप ही होकर निश्चितना के क्षेत्र में आजाना निश्चय का क्षेत्र है। निश्चय में आने के लिए भाव की अचिन्त्य महिमा है और भाव का उन्मेष, अभ्यास सक्रियता से होता है।

भाव शुद्धियां–अनुप्रेक्षाएं

भाव व अध्यवसायों की निर्मलता के हेतु ध्यान-उपासना समाधि के अतिरिक्त भावना और अनुप्रेक्षाओं पर योग विज्ञान में बहुत जोर दिया गया है। साधक चोबीस घंटे ध्यान समाधि में रह ही नहीं सकता। छद्मस्थ को ध्यान यदि होता भी है तो अखंडता तीस मिनट (अढ़ाई घड़ी) से ज्यादा नहीं हो पाती। जो ध्याता इससे भी ज्यादा ध्यान में बैठते हैं, वे वस्तुतः एक ध्यान में नहीं, ध्यान-संततियों में निमग्न रहते हैं, अथवा जाप, भावना या अनुप्रेक्षाओं में ही होते है। साधक ध्यान के उपरांत भी अज्ञान, प्रमाद, चंचल या विक्षोभ मय मनः स्थितियों में न चला जाए, अतः भाव-शुद्धियां कही गई हैं। यम व नियम के साधन भी इसी हेतु हैं। मन के निर्मल भाव उत्तरोत्तर ऊपर ही चढ़ते हुए रहने चाहिए। वीतरागता, असंगता, और मृदुता परिणमति है या नहीं, कैसी मनः स्थिति रहती है—इसका निरंतर ध्यान होना चाहिए। मन की निरख, परख और हरख पर नजर रहनी चाहिए। जिस भाव या चिन्तन से मन प्रभावित तथा निर्मल रूप परिणत हों—उसका अभ्यास, बार-बार अनुप्रेक्षा भावना कही जाती है। इससे मन की मूर्च्छा टूटती है, ध्यान करने की योग्यता बढ़ती हैं।

भाव शुद्धियों में अहिंसा व करुणा

आत्मा के गुणों की भावना में अहिंसा और करुणा का सर्वोपरि स्थान है। "स्व" और "पर" दोनों पर ही करुणा का उदय होकर साधना सुचारू चलती है। करुणा और ज्ञान का साहचर्य है। भ० अर्हंत् तीर्थंकर साकार करुणा-मूर्ति हैं और उनके आश्रयी होकर करुणा भाव का उदय अपने में भी करणीय है। करुणा का उद्रेक ज्ञान से अभिन्न कर देता है।

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते।।[1]

जैसे-जैसे करुणा भाव हृदय में स्थिर होता जाता है, वैसे ही विवेक रूप लक्ष्मी भी अपनी प्रीति का प्रकाश करती जाती है।

करुणा मानव हृदय का औदार्य है, परम रस है। जब जीवन की धारा जीव के हृदय में सूखती है तो करुणा की धारा ही उसे फिर से सरस करती है।

---

1. (ज्ञाना. ८/५५)

बौद्ध करुणा

बौद्ध साधना में करुणा प्रधान ही है । चित्त को शून्य रूप करने के बाद करुणा से ही चित्त को पूरित करते हैं—तब वह चित्त निर्वाण मूलक होता है । करुणा तीन अवलम्बनों में वर्णित हुई है—

(१) सत्वावलम्बन—वह करुणा है जो जीवों के दुःख साक्षात्कार से उत्थित होती है ।

(२) धर्मावलम्बन—वह करुणा है जो जगत् की नश्वर एवं अनित्य शीलता, व क्षणिकता के दर्शन से प्रवाहित हो जाती है ।

(३) निरालम्बन—यह निर्मल दृष्टि प्राप्त योगियों की करुणा है जो जीवों के दुःख या जगत् की नश्वरता देखे बिना भी निरुपाधिक या स्वाभाविक प्रवाहित रहती है । यह निरपेक्ष स्वतन्त्र और अहेतुकी होती है । निरालम्बन पद में प्रज्ञा निरालम्ब होकर प्रज्ञा-पारमिता में परिणत होती है । योगी जन चित्त की शून्यता में ऐसे ही महा करुणा को धारण करके निरालम्ब प्रज्ञामय हो जाते हैं ।

निरालम्ब प्रज्ञा निरालम्ब महा कृपा ।
एकी भूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा ।।

निरालम्ब महा कृपा (करुणा) निरालम्ब प्रज्ञा ही है, करुणा से ज्ञान एकीभूत हुआ शून्य गगन में गगनवत् निरभ्र निर्मल हो जाता है ।

तीर्थंकर और बुद्ध करुणा के महासागर

तीर्थंकर एवं बुद्ध की निरपेक्ष महा कृपा-प्रसाद करुणा-रस महासागर के समक्ष तो साधक जीवों की अयोग्यता भी नगण्य हो जाती है । यही कृपा-करुणा सब द्वैत भावों को अभिभूत करके चैतन्य तत्त्व की अद्वैत भूमि में संचरित होती है । वह यथार्थतः राग रहित व अद्वैत स्वभाव के अंतर्गत ही है । [illegible] इच्छा अनिच्छा या हेतु आदि को कोई स्थान नहीं होता । यह साधकों पर उनको दुःख[illegible] त्राण करती स्वतः बरसती रहती है । यह स्व. अहिंसा भाव का ही परम विशेष भाव है, आत्मा का ही गुण है । अतः इसी करुणा में ही परम प्रशांत परम रस भी है, साम्य रस भी है । तीर्थंकर अर्हत् जिनेश्वरों में उनके सर्वांग से यही अहिंसा एवं महा करुणा की अमृत-सरिता बाढ़ की तरह प्रवाहित रहती है । उनके ध्यान से, उनकी ओर उन्मुखता से उनके मुख व चरण कमल से विशेष कर, तथा सर्वांग से सदा प्रवाहित उस अनुपम रस से साधक

जन आप्लावित तथा सरस रहते हैं । उस वीतरागी महा करुणा रस का प्रवाह मोह-मुद्रा का कपाट तोड कर मोक्षद्वार को ही उन्मुक्त कर देता है ।

धन्यास्ते हृदया येष।मुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचि सञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ।।[1]

धन्य हैं वे पुरुष जिनके हृदय में करुणा का समुद्र बहता है—उनके ही वचन-लहरों के समुदाय उल्लासों से जीवों को शान्ति मिलती है ।

करुणा भाव के लिये आ. श्री शुभचन्द्र का अति महत्त्वपूर्ण यह उपदेश है—

ध्याने उपरते धीमान् मनः कुर्या~~दश~~समीहितम् ।
निर्वेदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुनिधौ ।।[2]

बुद्धिमान ध्यानी पुरुष को ध्यान से निवृत्त होने के समय चित्त को महा करुणा-सागर में निमग्न करके महा करुणा मय हो जाने की भावना करनी चाहिये । अथवा चित्त को परम वैराग्य भावों से भावित करना चाहिये । इस प्रकार कुछ काल तक इसी भाव में निश्चल समाहित रहने का अभ्यास जारी रखना चाहिये । श्रमण परम्परा—जैन व बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में करुणा ध्यानोत्तर साधना के अंग के रूप में महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकृत हुई है ।

भाव-शुद्धि की महत्ता

आ. श्री कुंद कुंद ने भाव शुद्धि की महत्ता को स्वीकार करते हुए, भाव शुद्धि पर "नियमसार" में एक पूरा अध्याय अठारह गाथाओं का निर्माण किया है । स्पष्ट है कि जैन परम्परा में चित्त को निर्मल तथा समभाव मय बनाने की बड़ी प्रेरणा की गई है । क्योंकि भावों की रूपकता से अन्तराकाश में उन चित्रों का, बिम्बों का निर्माण होता है, जिनसे कर्म संस्थान तथा भाव-संस्कारों का जो आत्मा को बंधन में डालते है—निर्माण होता है । शुद्ध भावों से निर्बंधता होती है, वे लेश्या विमुक्त होते हैं । अतः कहा है—

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनः शल्यं भाव-शुद्धिं समाश्रय ।।[3]

---

1. (ज्ञाना. ९/१४)
2. (ज्ञाना. ३१/९)
3. (ज्ञाना. २/४)

सर्व प्राणियों में समदर्शी भाव, समता को पालो। निर्ममत्व रूप शुद्ध-भाव का चिन्तवन करो, मन से शल्यों को, तृष्णा, वासना, कामना आदि कांटों को हटा दो। इस प्रकार चित्त को भाव-शुद्धि की भावक भावनाओं के समाश्रित कर दो।

बारह अनुप्रेक्षाएं

भाव शुद्धि के हेतु ही धर्म-ध्यान के अङ्गभूत बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन का आग्रह किया गया है। इन्हें १२ वैराग्य-भावना भी कहा है। "चारित्रसार" में इन बारह अनुप्रेक्षाओं को अच्छा समझाया गया है।

१. अनित्य भावना—संसार और पर्याय की बिजली की चमक के समान क्षण भंगुरता देखकर नश्वर पर्यायों से बुद्धि को हटाकर, नित्य आत्मा-द्रव्य के आश्रय वैराग्य भावना से वासित रहो। तृष्णा को नष्ट करने वाले निर्ममत्व भाव को जगाए रखने के हेतु जगत् के अनित्य स्वरूप का बार बार चिन्तन करो।

२. अशरण भावना—पर स्वरूप देह तथा संसार में से एकता हटाकर अपने ही आत्म प्रभु की महिमा मयी शरण की भावना करो, और अशरण-भावना को छोड़ो। आत्मा की शरण तो केवल अपना आत्मा ही है, अन्य कोई शरण नहीं है। संसार की भीषण ज्वालाओं से बचाने वाला एक मात्र अपना ही आत्मा है। मेरे कोई शरण नहीं, मैं असहाय हूं—ऐसी दीन अशरण भावना छोड़ कर, मेरा अपना अनन्त शक्तिमय चिदानन्द अमर अमृत आत्मा ही एक मात्र शरण है, इस शरण भावना से अपने को आश्वस्त व सुरक्षित रक्खो।

३. संसार भावना—संसार की संसृति में जो अनादिकाल से भव-दुख पाये हैं, उनका स्मरण करके उन दुखों को हेय करने का चिन्तन करो। संसार के जन्म मरण रूप दुश्चक्रों से मैं कब मुक्ति पाऊँ, कैसे मुक्ति पाऊँ इसका बार बार स्मरण दुःख के हेतुओं में पड़ने से बचाता है और धर्म में ही निरन्तर रहने को लालयित करता है।

४. एकत्व भावना—संसार में अनेक अवस्थायें कर्म-निमित्त से ही हैं और यह जीव उन्हें अकेला ही भोगता है, कोई संगी साथी नहीं है। अतः एकाकी होने, निरालम्ब होने, निराश्रय होने की भावना से अपनी असंगता की भावना को दृढ़ करो। इससे निस्पृह जीवन जीने की कला प्राप्त होगी। निस्पृहता में ही अबन्ध दशा होती है।

५. अन्यत्व भावना—यह आत्मा सब से भिन्न विलक्षण परम शुद्ध चिन्मय ही है। इसकी अनुपमता, अपूर्वता, तथा विलक्षणता का, व शुद्ध, अद्वय ज्ञान स्वरूप का ही चिन्तन करो। देह और

जीव-पानी दूध के समान मिले होने पर भी दोनों भिन्न है, अलग अलग लक्षण वाले हैं; भिन्न अनुभव करने में ही जीव शोकग्रस्त नहीं होता। इससे भेद विज्ञान का उद्भव रहता है।

६. अशुद्धि भावना—आत्मा निर्मल है और देह व कर्म ही मलीन है। इस मलीनता से मुक्त अपनी शुचिता, पवित्रता की भावना करो। अपावन देह में पवित्रता की कल्पना विडम्बना मात्र है। आत्मा शुचि है, आत्मा की शुचिता कैसे उद्घाटित होती है और किस प्रकार स्थित रहती है—इसका चिन्तवन करो।

७. आस्रव भावना—जीवात्मा को कर्मों का आस्रव कैसे होता है ? आत्मा की विभाव-क्रिया तथा स्वभाव-क्रिया कैसी होती है ? इसका चिंतन करें। स्वभाव रूप ज्ञान धारा की भावना करो, जो आस्रव से मुक्त रखती है। मन वचन काय की राग-चंचलता से कर्मास्रव होता है। तीनों—मन वचम काय के योग अशुभ–शुभ कर्मों के जनक है। कषाय, प्रमाद, हास्य रति-अरति, चंचलता और अज्ञान ही आस्रव के कारण हैं।

८. संवर भावना—स्व स्वरूप में निश्चलता ही संवर का स्वरूप है। आस्रवों का विरोधी प्रतिपक्षी भाव संवर है, जो द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का होता है। उस अयोगी दशा की जिसमें संवर की प्राप्ति होती है चिन्तन करो। गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषह–जय तथा चारित्र के पालन (स्वरूप-स्थिरता) में संवर होता है।

९. निर्जरा भावना—जिन शुद्ध भावों से कर्म रूप बीज आत्मा से झड़ जाएँ, उनकी चिंतना व भावना करो। फल देकर सविपाकी अकाम निर्जरा तो होती ही रहती है, अविपाकी निर्जरा का, तपोमय जीवन का यत्न करो।

१०. धर्म भावना—आत्मा जिससे पवित्र हो, तथा आत्मा का तथा जगत् का जो उद्धार करे, ऐसे दयार्द्र करुणामय धर्म के सेवन की भावना करनी चाहिये। धर्म का संक्षिप्त आशय चार तत्त्वों में लक्षित हो जाता है १. वस्तु स्वभाव रूप धर्म २. उत्तम क्षमादि दश धर्म ३. रत्नत्रय रूप वोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र तथा अहिंसा मय, दया मय धर्म। धर्म ही एक मात्र सखा, बन्धु और रक्षक है।

विश्व के सब धर्मों में दश धर्म स्वीकार किये गये हैं। हजरत मूसा के दस आदेश (कमाण्डमैण्ट्स) में भी यही दश धर्म आए है। मनुस्मृति में भी इन ही दश धर्मों को स्वीकार किया गया है। ये विश्व धर्म कोटि के धर्म है। ये मानव की आत्मा को तथा उसके व्यवहार को अनुशासित करते हैं। (१) उत्तम क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) सत्य (५) शौच (६) संयम (७) ब्रह्मचर्य (८) तप (९) त्याग (१०) अकिंचन्य, मामूली फेर के साथ ये ही दश धर्म सर्वत्र समाहत हुये हैं। इन धर्म–स्वरूपों की उत्तमता की चिंतना तथा भावना करते रहना चाहिये। कर्म-संवर के हेतु इन उत्तम दश धर्मों की इतनी

महिमा मानी है कि जैन धर्म का नाम ही दश लक्षण धर्म प्रसिद्ध है तथा उसके नाम से दश लक्षण पर्व भी मनाया जाता है। उत्तम दश धर्मों के पालन के फल समाधि व ध्यान से व्युत्थान होने पर यानी ध्यान व समाधि से उठने के बाद भी मानसिक वृत्तियां वापिस विकार को प्राप्त नहीं होती जैसा कि अन्य आम्नायों में सम्भव होता है। इन दश धर्मों में से ही पंच अणुव्रत व महाव्रत भी निसृत हुए हैं जो योग के यम व नियम अङ्ग हैं। दश धर्मों में सत्य प्रमुख धर्म रूप है। यह वचन या वाणी, या मनो भाव या चेष्टा के ही सत्य को नहीं, यह तो स्वयं आत्मा के ही यथार्थ मौलिक स्वभाव रूप, ज्ञान भाव रूप को प्रकट करता है और उस स्वभाव में ही एकाग्रता को धर्म की क्रिया कहा गया है।

११, लोक भावना—अनादि व अनन्त, अधः, मध्य, और उर्ध्व विभाग सहित पुरुषाकार षट् द्रव्य मय लोक के विराट् तथा सूक्ष्म स्वरूपों का चिन्तवन करना चाहिये। तथा लोक की अनन्तता के परिप्रेक्ष्य में अपनी आत्मा के ज्ञान की अनन्तता यानी अनन्त ज्ञान प्रदेशों का भी विचार करना चाहिये। तथा जो परमार्थ व हित जीव को है, उनकी भावना करनी चाहिये। लोक की अनित्यता से वैराग्य जागृत करना चाहिये। लोकाग्र विराज मान सिद्ध ही सुखी हैं, बाकी सब दुःखी हैं। अतः सिद्धों के उस अक्षय सुख की भावना करनी चाहिये।

१२. बोधि दुर्लभ भावना—रत्नत्रय रूप परा-विद्या (स्वरूप चिन्तन) ही बोधि है। अनन्त-संसार में सम्यक्त्व बोधि रत्न की दुर्लभता का चिन्तवन करके अपने परिणामों की शुद्धि तथा अनासक्त समभाव मय स्वरूप की दृढ़ भावना करनी चाहिये। मुक्ति के संकल्प को दोहराते रहना चाहिये। आर्त और रौद्र ध्यानों से बचना चाहिये। धर्म और शुक्ल ध्यानों की भावना करनी चाहिये। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र तथा सम्यक्तप,—इन चार की भावना करनी चाहिए—इनका अन्तर प्रकाश ही सम्बोधि है।

भावना चतुष्क मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना

चार भावनाएं—(भावना चतुष्क) परिणाम शुद्धि तथा ध्यान की सहायक कही गई हैं—

१. मैत्री भाव—सर्व प्राणियों से मैत्री भाव। मैत्री भाव से द्वेष भाव की निवृत्ति। सब प्राणियों में शत्रु भी शामिल ही है। अतः उसका भी अहित न विचार करके हित ही विचारना होता है। ऐसा यह मैत्री भाव सर्वगत व्यापी भाव होना चाहिए।

२. प्रमोद भाव—गुणीजनों में प्रमोद का भाव। इससे चित्त में ईर्ष्या व असूयाभाव का निराकरण का भाव होता है। गुण और गुणी का मात्र आदर ही नहीं, प्रत्युत उन पर हृदय से प्रसन्नता होनी चाहिए, अपने हृदय के भावों का विकास करना चाहिए।

३. करुणा व कृपा भाव—क्लिष्ट प्राणियों में व दुःखी-जीवों के लिये सदा करुणा और कृपा

भाव रखना। दुःखी जनों की सेवा एवं वैयावृत्य भी इसी में शामिल है। इससे हृदय मृदु व मधुर होता है, विशाल होता है और आसाता कर्म का बंधन कम हो जाता है।

४. उदासीनता या माध्यस्थभाव—जो विपरीत वृत्ति वाले हों, शत्रु भाव रखते हों उनसे राग-द्वेष कुछ भी न करके उनमें समभाव, शीतल भाव की स्थापना रखना चाहिए। उपेक्षा भाव संयम का भाव है। तटस्थता, मध्यस्थता का भाव संतुलन का भाव है, यह द्वन्द्वों से, प्रिय-अप्रिय व राग-द्वेषादि रूप आवेगों से सुरक्षित रखता है।

इन चार भावनाओं को आ० श्री अमित गति ने एक ही पद्य में इस प्रकार कहा है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
माध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ सदाममात्मा विदधातु देव ॥[1]

हे देव! मेरी आत्मा का ऐसा भाव हो कि सब प्राणियों से मित्रता, गुणाधिकों में प्रमोद, दुःखियों पर दया, कृपा तथा विपरीत-वृत्ति वाले जनों से उदासीन व मध्यस्थता रहे।

पंचशील भावना

इन ही भावनाओं में से पंच शील भी हैं। ये भी संतों में प्रचलित है—

१. सर्व मैत्री व प्रेम का भाव—शत्रु की भी हितकामना करना।

२. करुणा का भाव—जो मुसीवत व दुख में हैं उन पर रहम व तरस, कृपा और करुणा की वर्षा करना।

३. शुचिता का भाव—भलाई के भावों से हृदय को सदा पवित्र रखना। अशुचिता तथा पाप के अंजाम व बुराईयों के परिणामों पर चिन्तवन करना। अपध्यान (अप-भाव), अप-कथन (अप वचन) तथा अप-चेष्टा (दुराचार कदाचार, अतीचार भ्रष्टाचार रूप चेष्टाओं) के निराकरण सावद्य क्रियाओं के वर्जन रूप मन वचन काय की पवित्रता की भावना को सदा भाना, शुचिता के भाव का पालन है।

४. प्रमुदिता (खुशी का ध्यान)—दूसरों की खुशी में खुशी मानना। हर दशा में प्रसन्नता का भाव ही स्थिर रखना। मन-कमल को सदा प्रमुदित ही रखना, उसे म्लान या मलीन न होने देना,-ऐसा ध्यान सदा रखना।

---

[1] सामायिक पाठ-१

५. शान्ति का ध्यान—हर दशा में परिणामों को शान्त रखना, कृतज्ञ भाव रखना। द्वन्द्वों से उद्विग्न न होना। पूजा हो या तिरस्कार किसी भी ऐसी बात से दिल को अप्रभावित रखना। बेफिक्री और शांति का ही ध्यान करना। निराकुल शांति के भाव को अचल स्थापित रखना।

भावों (मानसिक संरचना) की शिक्षा और संवर और निर्जरा तत्व

ध्यान प्रवृत्ति में अपने भाव रूप मानसिक संरचना का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः अपने मानस को अडोल शुद्ध तथा दृढ़ रखने के लिए प्रशस्त भावनाओं तथा भावों को भाते रहना चाहिए। सब ही सप्रदायों में प्रशस्त भावों की बड़ी विशेषता तथा महत्ता स्वीकार की गई है। मानव वास्तव में भाव मूलक प्राणी है। उसके चित्त के शुभ-अशुभ या शुद्ध आशय के अनुसार ही अनन्त संसार की रचना है तथा इसके ही अनुसार संस्कारों के बंध पड़ते हैं तथा तदनुसार ही द्रव्य-कर्म बंध भी मानव से बन्धते या निर्जरित होते हैं। कर्म-बन्ध की पुद्गल प्रत्ययों की संकल्पना जैन योग की विशेषता है। अतः इसके संवर व निर्जरा तत्व भी विशेषता रखते हैं। जहां अन्य परम्पराओं ने केवल भाव-शुद्धि का ही वर्णन किया है, जैनों ने भाव-शुद्धि के ही साथ अनात्म कर्म-संस्थान का भी जो जीव के प्रदेशों के साथ बंधता है, वर्णन किया है। तथा साथ ही भावों के रूपक होने, वर्णमय होने का तथा लेश्या रूप आलेप आत्म-प्रदेशों पर संश्लिष्ट होने का भी बड़ा वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। शुद्धि, जिस की चर्चा के लिये जैन योग में संवर तत्व निर्जरा तत्त्व कहे गये हैं, दो प्रकार से हैं। द्रव्य-शुद्धि तथा भाव-शुद्धि इसके दो भेद हैं। चाहे संवर हो, चाहे निर्जरा हो, अथवा आस्रव या बंध हो, मन हो या बुद्धि हो जैन वर्णन की विशेषता है कि इन्हें द्रव्य तथा भाव रूप से कहा है। शुद्धि का अर्थ है कि आत्मा की जागृति, आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और आनन्द प्रकाशित हो। जो व्यक्ति स्वयं नहीं जाग्रत होता, उसे श्रद्धा भाव के बल से अपनी जागृति करनी चाहिए।

परम संवर का स्वरूप तब प्राप्त होता है जब आत्मा अपनी समस्त कल्पनाओं को छोड़कर निश्चल-चित्त से अपने ही निर्मल स्वरूप में थमता है। ऐसा संवर ही परम निर्जरा का हेतु होता है। अन्य-अन्य जो भावों का वर्णन है, वह तो शुभ की कोटि में है। शुभ से ऐसा संवर नहीं होता, जो निर्जरा का हेतु होता है। शुभ से आस्रव होता है। कितना ही प्रशस्त भाव हो, वह शुभ व पुण्य का ही हेतु होने से मोक्ष का कारण नहीं है। प्रशस्त भाव पर-द्रव्यों से जिनमें पर—प्राणी भी सम्मिलित हैं सम्बन्धित होते हैं। जब स्व निर्मल स्वरूप के ज्ञान से जीवात्मा के भाव सम्बन्ध करते हैं, तो वे शुभ व अशुभ दोनों से ही अतीत होकर शुद्ध स्वरूप हो जाते हैं।

भावों के औदयिक औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा पारिणामिक ऐसे (पांच) भेद आगम में कहे गये हैं। इनके लक्षण इनके नामानुसार है। निरिच्छुक करुणा का प्रवाह पारिणामिक भाव के ही अन्तर्गत होना चाहिये। वह ज्ञान मात्र ही वीतराग भाव है। जब तक जीव में कर्मों को सत्ता है, तब तक यह ज्ञान-मात्र भाव अपने निर्जरात्मक स्वरूप के कारण क्षायिक कहा जाता है। परन्तु

जब कर्मविमुक्त अवस्था की प्राप्ति हो जाती हैं, तब यह त्रिकाली ज्ञान मात्र असंग भाव पारिणामिक कहा जाता है। क्षायोपशमिक भावों में इतनी शुद्धि का प्रवाह नहीं होता कि वे पूर्ण रूप से क्षायिक कहे जा सके। उनमें कषाय क्षय की क्षमता कम और कषायों को उपशम करने की अधिक क्रिया रहती है। अतः वे भाव क्षायोपशमिक कहे जाते हैं। इनसे भी कम निर्मलता वाले भाव तो कषायों व मोह को मात्र उपशम करने वाले ही होते हैं औपशमिक कहे जाते हैं। वे जो भाव कर्मों के उदय में, आस्रव व बंध में हेतु बनते हैं, वे औदयिक भाव कहे जाते हैं। यह निश्चिय ही अशुद्ध होते हैं, अब ये चाहें शुभ हो या अशुभ हों। क्षायोपशमिक तथा उपशम में शुभ व अशुभ का तारतम्यानुसार मिश्र भाव रहता है। उपशम भाव के होने पर ही धर्म की क्रिया का होना संभव होता है।

संवर का कार्य तो मात्र नये कर्मो का आत्म-प्रदेशों के साथ बंधने को रोक देना है। निर्जरा की प्रकृति है कि वह कर्मों को उदय में लाकर समाप्त करती है। यह निर्जरा दो प्रकार की हो सकती है—यथाकाल व औपक्रमिक अर्थात् एक निर्जरा सविपाकी है, दूसरी अविपाकी है। जैन योग में संचित कर्मों को कर्म-संस्थान में से प्रयत्न द्वारा (बहिरंग तथा अन्तरंग निमित्तों द्वारा) बाहर उदय में लाकर निर्जरित कर देना सम्भव है। यथा ही कच्चाफल कृत्रिम रूप से पाल में देकर पका दिया जाता है, वैसे ही जो कर्म अभी फल देने के भी योग्य नहीं है, उन्हें भी बाहर उदय में लाकर नष्ट किया जा सकता है या उन्हें फल देने योग्य बना लिया जा सकता है। भाव शुद्धि का अर्थात् आत्म स्वभाव के ज्ञान-भाव का अवलंबन ही ऐसी क्रिया है -- जिसमें बिना पके या अधपके कर्म समय से पूर्व पक कर बिना फल दिये ही झड जाते हैं। कर्म कर्म-संस्थान में सत्ता रूप से पड़े पड़े भी बिना फल दिये नष्ट किये जाते हैं। अविपाकी कर्म निर्जरा का सिद्धान्त जैन विज्ञान की ही विशेषता है —तथा ऐसा सिद्धान्त अन्यत्र अनुपलब्ध है।

संवर निर्जरा का पूर्व रूप है। अथवा कहा जा सकता है कि ये एक दूसरे के पूरक हैं। संवर ध्यान और योग का प्रधान अङ्ग ही है। महर्षि पतञ्जलि ने "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" कहा है, तो इस पातंजल निरोध तथा जैन "चिंता-निरोध ध्यान" में निरोध रूपमें यह संवर ही रहता है। ध्यान चाहे जैन परम्परा का हो या अजैन हो उसका स्वरूप संयमरूप संवर से ही बनता है। वृत्ति का संवरित होना, वृत्ति का मुख बाहर न रहना, उसका मुख आत्मा की तरफ होना, वह वृत्ति का संवर है। ये ही निर्जरा व मोक्ष का हेतु है। अर्थात् वृत्ति का शुद्ध भाव होना या ज्ञान भाव में संवरण ही संवर है, ध्यान है। इसमें गहन इच्छा निरोध अनिच्छुकपणा असंगता व वीतरागता रहती है। जब तक मानव के हृदय में इच्छाओं व कामनाओं का राज्य रहता है, वह भव से मुक्त नहीं हो सकता है। विपरीत मान्यता का त्याग (सम्यक्त्वसंवर) सावद्य क्रिया का त्याग (विरतिसंवर), अंतरनिरुत्साह का त्याग (अप्रमाद संवर), क्रोधादि दशाओं का अभाव (अकषाय रूप संवर), तथा मन वचन काय की क्रिया का त्याग (अयोग संवर), ऐसे संवर पांच प्रकार है।

भावना का लक्षण व ध्यान और भावना का भेद

(१) "ज्ञाते अर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना।[1]

जाने हुये अर्थ को पुनः पुनः चिन्तन करना भावना है।

(२) "एक चिन्ता निरोधो यस्तद्ध्यान भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।।"[2]

जो एक चिन्ता का निरोध—जो एक ज्ञेय में ठहरा हुआ है, वह तो ध्यान है। और इससे भिन्न है, वह भावना है और उसे ही विद्वान अनुप्रेक्षा या अर्थ-चिन्ता या अर्थ का बार बार चिन्तवन कहते हैं।

संक्लेश भावना

"को संकिलेसोणाम, कोह-माण माया लोह परिणाम विसेसो।"[3]

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम विशेष को संक्लेश कहते हैं।

संक्लेश व विशुद्धि के स्थान

कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है, ऐसे संक्लेश स्थान तथा कषायों के विपाक की मंदता जिनका लक्षण है, ऐसे विशुद्ध स्थान होते हैं। "कषाय विपाकोद्रेक लक्षणानि संक्लेश स्थानानि। कषाय विपाकानुद्रेक विशुद्धि स्थानानि।"[4]

संक्लेश से विपरीत असंक्लेश तथा असंक्लिष्ट भावनाओं के पांच प्रकार

तप भावना, श्रुत-भावना, सत्व-भावना, एकत्व भावना और धृति-बल-भावना ऐसी पांच भावनाएं असंक्लिष्ट हैं।

तपो भावना = तपश्चरण से इन्द्रियों का मद नष्ट होता है। इन्द्रियवश में हो जाती हैं। अतः इन्द्रियों को शिक्षा देने वाले आचार्य, साधु, रत्नत्रय में जिसमें स्थिरता होती है ऐसे तप की भावनाएं करते हैं।

श्रुत-भावना = श्रुत (शास्त्र का अध्ययन, मनन व ज्ञान) की भावना करना अर्थात् तद्विषयक

---

[1] पञ्चास्तिकाय। ता० वृ० ४६/८६

[2] ज्ञानार्णव-२५/१६

[3] कषाय पाहुड ४-३-२२ व ३०/१५/१३

[4] समयसार/आ० ५३-५४

ज्ञान में बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत-भावना है। इस श्रुत-भावना से सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणों की प्राप्ति होती है।

सत्व भावना = यदि मुनि देवों से त्रस्त किया गया हो, भयंकर व्याघ्रादिक रूप धारणा कर पीडित किया गया हो, तो भी वह सत्त्व भावना को हृदय में रख कर दुःखों को सहन कर और निर्मल होकर संयम का सम्पूर्ण भार धारण करे।

एकत्व भावना—का आश्रय लेकर विरक्त हृदय से मुनिराज भोग में चतुर्विध संघ और शरीर में आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्र रूप को धारण करे।

धृति भावना—चार प्रकार के उपसर्गों के साथ भूख प्यास शीत वगैरह बाइस प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करने वाली परिषह रूपी सेना दुर्धर वेग से युक्त होकर जब योगी मुनियों पर आक्रमण करती है तब अल्प शक्ति के धारकों को भय होता है। धर्म रूपी परिधान जिसने बांधा है, ऐसा पराक्रमी योगी मुनि धृति-भावना हृदय में धारण कर सफल मनोरथ होता है, यानी अडिग रहता है और अपनी साधना को पूरी करता है।[1]

अनशन आदि बारह प्रकार के निर्मल तप को करना—सो **तप-भावना** है। उसका फल विषय कषाय पर विजय प्राप्ति है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार के आगम का अभ्यास करना **श्रुत भावना** है। मूल और उत्तरगुण आदि के अनुष्ठान के विषय में गाढ़ वृत्ति होना **सत्वभावना** है। घोर उपसर्ग अथवा परिषह के आने पर भी पाण्डवादि की भांति उसको दृढ़ता से मोक्ष प्राप्त होती है। यह उसका फल है। ज्ञान दर्शन लक्षण वाला शाश्वत् एक आत्मा मेरा है। शेष सब संयोग लक्षण भाव मुझ से बाह्य हैं।[2] यह **एकत्व भावना** है। स्वजन व परिजन में निर्मोहत्व होना इस भावना का फल है। मान अपमान में समता, अशनपानादि में तथा लाभ अलाभ में समता रखना—सो **संतोष भावना** है। आत्मा से उत्पन्न सुख में तृप्ति और विषय-सुख से निवृत्ति ही इसका फल है।[3]

पांच कुत्सित् भावनाएं

कांदर्पी (कामचेष्टा), किल्विषी (क्लेशकारिणी), अभियोगिकी (युद्ध लड़ाई झगड़े की भावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और संमोही (कुटुम्ब मोहिनी),—इस प्रकार ये पांच भावनायें संकिलष्ट कही गई है।[4]

---

1. भगवती आराधना १८७–२०३
2. भाव पाहुड ५/५६
3. पंचास्तिकाय–ता वृ.
4. भगवती आराधना १७६/३९६

संक्लेश परिणामों का नष्ट हो जाना ही वीतरागता है। राग और संक्लेश-परिणाम एकार्थ ही हैं।

समता, माध्यस्थता, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना—ये सब एकार्थ-वाची हैं।

व्रत रक्षणार्थ भावनाएं

१. हिंसादि पांच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावना करने योग्य है। अथवा हिंसादि दुःख ही है, ऐसी भावना करनी चाहिये।

२. प्राणी मात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, दुःखी जनों में करुणावृत्ति और अविनयों में माध्यस्थ भाव की भावना करनी चाहिये।

३. संवेग और वैराग्य के लिये जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिये।

ये शंका योग्य नहीं होती कि अहिंसादि व्रत की समिति गुप्ति आदि रूप ये पांच भावनायें तो मुनियों को कर्त्तव्य हैं, इसलिये देश-व्रतियों (गृहस्थों) को नहीं करनी चाहिये। यह देश शब्द तो व्रतों की भांति समिति, गुप्ति आदि में भी एक देश रूप से व्यापक रहता है। श्रावक को भी अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये ये भावनाएं अणुव्रत की तरह ही अवश्य करनी योग्य है।

षोडश कारण भावनाएं

दर्शन निशुद्धि, विनय-संपन्नता, शील और व्रतों का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान में सतत उद्योग (अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग), सतत संवेग, शक्तितः त्याग, साधु समाधि, वैयावृत्य करना, अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहु-श्रुत-भक्ति, प्रवचन भक्ति, छः आवश्यक क्रियाओं को न छोड़ना, मोक्ष मार्ग की प्रभावना और प्रवचन-वात्सल्य ये षोडश कारण भावनाएं हैं। ये तीर्थङ्कर नाम कर्म को बांधती हैं।

(१) **दर्शन विशुद्धि**—निर्दोष सम्यग्दर्शन, आत्म श्रद्धा के लिये भावना है।

(२) **विनय संपन्नता**—पूज्य महानुभावों तथा रत्नत्रय के लिए विनय भाव है।

(३) **अनतिचार शील व्रत**—व्रत और उसके रक्षक शीलों का निर्दोष आचरण पालन है।

(४) **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**—निरंतर ज्ञान का अभ्यास करना है।

(५) **संवेग**—संसार-भ्रमण का भय, तथा धर्म और धर्म फल में अनुराग है।

(६) **शक्तितस्त्याग**—शक्ति के अनुसार त्याग करना है।
(७) **शक्तितस्तप**—शक्ति के अनुसार तप करना है।
(८) **साधु समाधि**—समाधि सहित मरण भावना तथा साधुओं का उपसर्ग दूर करना है।
(९) **वैयावृत्य**—रोगी बाल वृद्ध की सेवा करना है।
(१०) **अर्हन्त भक्ति**—अर्हन्त प्रभु की भक्ति करना हैं।
(११) **आचार्य भक्ति**—मुनि संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना है।
(१२) **वहुश्रुत भक्ति**—उपाध्याय की भक्ति करना है।
(१३) **प्रवचन भक्ति**—शास्त्र आगम की भक्ति करना है।
(१४) **आवश्यकापरिहाणि**—छः आवश्यक क्रियाओं का निर्दोष पालन है।
(१५) **मार्ग प्रभावना**—उपदेश, शंका-समाधान तपादि से धर्म की प्रभावना करना है।
(१६) **प्रवचन वात्सल्य**—साधर्मी जनों से गाढ़ा वात्सल्य रखना है।

ये सोलह कारण हैं। यदि अलग अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण होते हैं, और समुदाय रूप से सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण होते हैं।

प्रत्येक भावना शेष पन्द्रहों भावनाओं की अविनाभावी है, क्योंकि शेष पन्द्रह के बिना कोई भी एक नहीं हो सकती है। इनमें-दर्शन विशुद्धि भावना की प्रधानता है। तीर्थंकर नाम कर्म के बंध की कारण होने से इन्हें कारण भावना कहा जाता है। ये भी तप के विशेष अंग हैं।

भावना भाना प्रेक्षा ध्यान के विशेष अंग है, इसीलिए इन्हें अनुप्रेक्षा नाम सार्थक है। इनसे चेतना के प्रति जागरुकता होती है। भावना को साधना यात्रा के लिए नौका के समान कहा गया है—ये दुःख के पार लक्ष्य पर लेजाती है। इनसे रागद्वेष के संस्कारों को जो चेतना पर पड़े होते है—तोड़ना चाहिए—प्रतिपक्ष भावना का आश्रय लेना चाहिए।

शुद्ध नय की प्रेरणा क्यों?

इदमेव तात्पर्यं हेयः शुद्ध नयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागाद् तत्त्यागाद् बंध एव हि।।[1]

अर्थ—तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय नय को भी नहीं छोड़ना चाहिए। जब तक इस शुद्ध नय (द्रव्य. नय) का आश्रय रहेगा कर्मबन्ध नहीं होगा। इसके त्याग होते ही कर्म का बन्ध भी होगा। अर्थात् भाव-शुद्धि अथवा शुद्ध भाव की प्राप्ति का एक मात्र गूढ़ रहस्य शुद्धात्मा के निर्मल अमृत-स्वभाव का मनन चिंतन और ध्यान ही है।

एक मात्र विशुद्धि का मार्ग

योग का मंतव्य विशुद्धि का है, वीतरागता का है, मोह वासना से विशुद्धि का है, कर्मों के कलंक से विशुद्धि का है। अतः इस योग का मार्ग एक मात्र विशुद्धि का ही मार्ग है।

---

[1] **समय० कलश**

साधक के योगाभ्यास में प्रगति का एक मात्र मापदण्ड यही है कि वह अपने अन्तःकरण में, आत्मा में कितने-कितने अंश रूप भाव-विशुद्धि, राग मोह कषाय की विशुद्धि, भय की विशुद्धि को प्राप्त हुआ, उसका कितना अभय, निःसंग और अनासक्त जीवन बनता जा रहा है। जितने-जितने अंश वह अभय और मध्यस्थ-भाव, सम-भाव को प्राप्त होगा, उतनी-उतनी ही आत्मशक्ति का विकास हुआ मानना चाहिए। निर्मलता और निर्विकारता ही चारित्र शुद्धि है, चारित्र शक्ति है।

आत्म-शक्ति कोई पाशविक या लौकिक शक्ति नहीं है, उससे इसका कोई प्रमाण नहीं है। आपकी समता, पवित्रता, करूणा, स्थिरता, और शान्त और आनन्दभरित प्रकृति ही उसका मापदण्ड है। इन अप्राकृत शक्ति गुणों का ही विकास वीतराग और सर्वज्ञता में ले जाता है। आपके हृदय का अमृत-घट में रूपांतरण हो जाना ही आपको परम प्रभु बनाता है।

भाव शुद्धि की महत्ता और निर्लिप्त जीवन जीने की कला से अमृत घट बनें

देह में रहते मानव कभी चेष्टा हीन होकर जीवन नहीं जी सकता। उसे कर्मशील, श्रमशील होना ही होता है। हर कर्म या चेष्टा के पीछे एक भाव, एक भावना होती है। जीव की जीने की सुप्त भावना ही उसे सामान्यतः खुदकशी करने से रोकती है—अथवा मरने से भयभीत बनाती है। यह सुप्त भावना क्षीण हो जाए तो मानव की उन्नत जीवन जीने का भाव एवं इच्छा भी क्षीण हो जाते हैं। "जीवेम शरद शतं" में मानव की जीने की ही इच्छा, भावना व्यक्त होती है। इस भावना को सुप्त न रहने देकर, दृढ़ व उत्कृष्ट रूप से जागृत बनाना चाहिए। अच्छा जीवन जीने के लिए अतः मानव को अच्छे भावों का आश्रय लेना ही होगा।

भावों का संचालन उर्ध्वगामी व प्रशस्त होना जीवन के प्रगतिगामी, सुन्दर और शिव होने के लिए आवश्यक ही है। अतः भाव शुद्धि के लिए शुद्ध भाव ध्येय तथा निर्मल चारित्र पुरुष की उद्भावना की भी त्रिकाल महती आवश्यकता मानव जीवन में रहे हीगी,—इसमें कोई संदेह किसी भी विवेकशील व्यक्ति को नहीं हो सकता। अच्छे फल के लिए यथा अच्छे बीज की खेती की आवश्यकता है, वैसे ही अच्छे कर्म के लिए अच्छे भाव और भावना की भी आवश्यकता है। अच्छे भाव-पुरुष का आदर्श भी मानव के समक्ष होना आवश्यक है, जो उसके जीवन को सदा प्रेरणा व मार्ग दर्शन तथा सहारा देता रहे।

जैसे दृश्य जगत् कर्म से बनता है, वैसे ही अदृश्य मानसिक जगत् भाव से निर्मित होता है। और उसी से मानव का अच्छा बुरा कर्म-संस्थान (कर्मावरण) बनता है। इसी में पाप व पुण्य का रहस्य है। स्वर्ग रूप अति भौतिक स्थिति और नरक रूप निकृष्ट भौतिक स्थितिओं का भी यही रहस्य है।

यह जीव संसार में अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप व स्वर्ग-नरक में अनादि से झोले खाता ही रहा है। मानव जब तक उद्वेग पूर्ण दुविधामय स्थितियों में रहेगा, उसे कभी अपना अक्षय आनन्द-ज्ञान स्वरूप

प्राप्त नहीं हो सकेगा। अतः भाव-शुद्धि का खेल खेलते हुए, पाप व दुष्कृतियों से बचते हुए मानव को भावातीत शुद्ध अहिंसक ज्ञानमय जीवन का खेल खेलने का विज्ञान, निःसंग, निस्पृह, मोह रहित निर्मल जीवन जीने की कला का अभ्यास सीख लेना चाहिए और अमृत घट बन जाना चाहिए।

(१) ध्यान साधना की निष्पत्तियां और कुछ निर्देश

हे सुविज्ञ पाठक! आपने महा समाधि-विमर्ष, भाव-विमर्ष तथा भावनाओं पर विमर्ष पढ़े, मनन किये और साधना विमर्ष के बाद अभ्यास करके स्वानुभव में गोते भी लगाएं और आपको सम्यक् दर्शन रूप आत्मानन्द प्राप्त हुआ। आपने अपने मन वचन काया के संवर रूप स्थिति में कुछ अनुभव किये। इन अनुभवों की संगति का ही यहां किंचित् दिग्दर्शन भी अभिष्ट है—

(१) आपने ध्यान स्थिति में अनुभव किया होगा कि आप केवल दृष्टा तथा ज्ञाता हैं और इसी में आपका पुरुषार्थ है। दिव्य सविकल्प समाधि होते ही श्वास लगभग बन्द हो जाता है, अन्तर्दृष्टि अपलक और वेधक हो जाती है—प्रकाश का आविर्भाव होता है। उस प्रकाश में स्थिर रहना आपका पुरुषार्थ है।

(२) आपको अनुभव हुआ होगा कि आपने जिस निर्मल पर्याय का ध्यान में अनुभव किया वह आपकी ही दृष्टि से आई है। इससे आपको निर्णय होना चाहिए कि जीव का एक मात्र हित स्वभाव-दृष्टि है। विकल्प व विचार सब मेरे से दृष्ट है—मैं दृष्टा हूं। मेरा दर्शनोपयोग मेरे शुद्ध स्वरूप टंकोत्कीर्ण ज्ञायक आत्मा में ही रहना चाहिए। इस शुद्ध स्वरूप में दृष्टि रक्खो। स्वरूप में दृष्टि ही स्वभाव दृष्टि है।

(३) स्वभाव दृष्टि में उपयोग रहने से तथा पर पदार्थ व पर-भाव से उपयोग हटाने में स्वानुभव का मार्ग है। यही स्वभाव पुरुषार्थ है।

(४) आपने ध्यान क्रिया में अनुभव किया होगा कि दर्शन ही मूल रहस्य है। आत्म वस्तु का स्वभाव स्वतन्त्र, निरपेक्ष है और वह आप में अभेद सदा वर्तमान हैं।

(५) आपने प्रतीत किया होगा कि दर्शन की सब में समान योग्यता है तथा सामान्य दर्शन योग्यता कार्य के प्रकट होने का कारण नहीं है। उपादान कारण इस दर्शन शक्ति में विशेष भाव से विशेष योग्यता होती है। यह दर्शन शक्ति जब अप्रतिक्रियात्मक यानी राग द्वेष से रहित, मात्र दर्शन रूप ही रहती है तब ही यह विशेष योग्य होती है। पर-संवेदन शीलता रहते दर्शन शक्ति में कार्य होने की योग्यता नहीं होती। चित्त को प्रोज्वलित तथा निर्मल करके उसे दर्शन शक्ति विकास में, प्रेक्षा में नियोजित करो।

(६) मन वचन काया रूप पर-द्रव्यों में रागादि भाव से विमुक्त ध्यानावस्था में यही आपको

निर्णय हुआ कि पर-द्रव्य की पराधीनता मानकर ही यह जीव पराधीन हो रहा है। मोह व राग द्वेष तथा कषायों की पकड़ कम होने में ही ज्ञान व दर्शन पर पड़ा आवरण क्षीण होने लगता है। मन वचन काया की तरफ से जो बार २ मांग उठती है, इच्छाएं उठती हैं उनको देखों पर अनुमोदन न करो, तब उनका स्वतः निरोध होने लगेगा।

(७) जीव की क्रिया के दो ही मुख है—(१) रागादि रूप विभाव जिसमें क्षोभकारी पर-संवेदन होते हैं (२) अविकारी स्वभाव क्रिया—जिसमें विक्षोभकारी पर के संवेदन नहीं होते, उद्वेग क्षोभ-विक्षोभ नहीं होते, उसमें होता है स्व संवेदन। इस अविकारी क्रिया की शाश्वत्ता ही वीतरागता है। विकारी क्रिया ही बन्ध क्रिया है, देह की क्रिया, मन की क्रिया या वचन की क्रिया किसी में भी बन्ध मोक्ष नहीं है। बन्ध मोक्ष विकारी और अविकारी क्रिया में ही है। स्व लक्ष आत्मा की ओर उपयोग उन्मुख होने पर आत्मा अपना ज्ञान स्वभाव जब जब रचता है और उसमें रमण करता है, तब तब वही एक मात्र आत्मा की अविकारी क्रिया है, धर्म है।

(८) आपने प्रतीत किया होगा कि आत्म-द्रव्य के स्वभाव के लक्ष दृष्टि जमते जमते सब व्यवहार का निषेध हो जाता है। निश्चय का इसमें आश्रय हुआ और व्यवहार का निषेध हुआ—यह अस्ति और नास्ति रूप का जो अनुभव हुआ यही है अनेकान्त। तथा यह भी अनुभव हुआ कि एक ही शुद्धनय का ही आश्रय रहता है। जैसे जैसे वृत्ति स्वभाव की ओर ढ़लती जाती है, व्यवहार का अभाव होता जाता है। प्रेक्षाएं और अनुप्रेक्षाएं स्वभाव की ओर ही ढ़ालती जाती है।

(९) उपयोग को, अपनी दर्शन-शक्ति को अपने विशुद्ध दृष्टा व ज्ञायक भाव पर ही एकाग्र रखना चाहिए और इसी में पर्याय स्वतः ही शुद्ध होती जाती है। इस विशुद्धि के अर्थ वर्तमान क्षण का भरपूर उपयोग करना चाहिये, अतीत की स्मृति या भविष्य के लिए कल्पनायें व स्वप्नों को नहीं बनाते रहना चाहिए (२) प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक जानते हुए करना चाहिए। (३) निरन्तर अपनी जागृति रखनी चाहिए, प्रमाद न रखकर अप्रमत्त रहना चाहिए। (४) क्रिया हों, पर प्रति क्रिया,—आवेश, आवेग, राग द्वेष, प्रिय अप्रिय भाव न करें। (५) सर्वत्र मैत्री भाव रक्खें। आत्मा के तीन स्व रूपों के भेद—वाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूपों को हृदयंगम रक्खें। व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप समझें। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप व वैराग्य की अनुप्रेक्षा (भावना) दृढ़ रक्खें। अनुप्रेक्षाओं में—(१) एकत्व अनुप्रेक्षा कि मैं अकेला, बाकी संयोग (२) अनित्य अनुप्रेक्षा देह व रूपी संसार सब अनित्य (३) अशरण अनुप्रेक्षा–मात्र अपना अस्तित्व ही शरण, आत्मा ही एक मात्र शरण तथा (४) संसार अनुप्रेक्षा—यह उत्पाद व्यय शील समूचा परिवर्तन-चक्र सा है, की विशेष भावना रक्खे। भावना ही दुःख के पार ले जाता है।

(१०) आत्मा केवलदर्शनज्ञान उपयोग मय है, गुण मय है। वह केवलमात्र देखने तथा जानने का ही काम करता है। यह देखना मन वचन काया में नहीं है। आत्मा के ये त्रैकालिक गुण हैं, स्वरूप है—ये अपने आप ही विशेष रूप (वर्तमान पर्याय रूप) कार्य करते हैं।

(११) सामान्य दर्शन और सामान्य ज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेष रूप होता है वही विशेष रूप देखने तथा विशेष रूप जानने का काम करता है। देखने व जानने के कार्य के लिए अन्य अवलम्बन की अपेक्षा नहीं है, यह तो स्वावलम्बन से ही देखता है, जानता है। यह विशेष दर्शन तथा विशेष ज्ञान स्वाधीनता से हट कर परावलम्बन में जाता ही नहीं है।

(१२) धर्म कहीं बाहर नहीं, यह तो अपने ही ज्ञानानन्द स्वभाव का धर्म है। दर्शन और ज्ञान का कार्य अपनी ही आत्मा को प्रसिद्ध करना है। अखण्ड आत्मा ही आदरणीय है, मन वचन काया—कुछ भी इस आत्म ध्यान में आदरणीय नहीं है।

(१३) दर्शन और ज्ञान शक्ति में सर्व दर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व के प्रकट होने की शक्ति है। वही इन शक्तियों का विकास है—विशेष पर्यायों की उपलब्धि है वह क्रम क्रम ही निर्मलता होते, चिद् परणति बढ़ते बढ़ते ही सम्भव है।

(१४) द्रव्य, गुण और निर्मल पर्याय, यही आत्मा का स्वभाव है और इस स्वभाव की अंतर-रचना की सामर्थ्य त्रिकाल ही आत्मा में है। जो रागादि विकारों की रचना होती है वह आत्मा की रचना नहीं है, न स्वभाव है। ये सब आत्मा में ध्यान गत अवस्था में इसी कारण संयोगी और बाह्य ही रह जाते हैं।

(१५) ध्यान में अपनी दृष्टि शक्ति ज्ञान शक्ति ही निज वीर्य शक्ति के आश्रय ही निज स्वरूप में टिकाए रखती है—ऐसा अनुभव होता है, निर्णय होता है। रागादि स्वतः ही हटते जाते हैं, हटाने का विकल्प भी नहीं करना पड़ता। विकल्प मात्र भी हो तो स्व वस्तु के रस से च्युत हो जाते हैं। विकल्प और विचारों का मौन,—उनके भी दृष्टा मात्र रहने से ही ध्यान का स्वरूप बनता है।

(३६) इस आत्मा में चैतन्य प्रभुता भरी है। यह अन्य की, पर की चाहना क्यों करें? अन्तर-अभ्यास में जब तक दृश्यों तथा दृश्यों सम्बन्धी विचार तथा भाव हैं, तब तक अपनी निर्मल आत्मा की नित्य निर्मल अवस्थिति भी नहीं हैं। अतः इन दृश्यों तथा विचारादि लोकों का यथा शीघ्र अपने अभ्यास से अतिक्रमण करो।

(१७) यह आत्मा अनेक भाव रूप होने पर भी वस्तुतः एक ही भाव रूप है,—यह कहीं बाह्य में व्यापक नहीं है। अपने ही अन्तर में, अपने ज्ञान भाव में सर्वव्यापक है।

(१८) आत्मा की प्रकाश शक्ति स्वयं है। वह स्वयं अपना स्व संवेदन करता है। पर पदार्थ संवेदन करे तो राग-द्वेष प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व होते हैं। यह अपने से प्रकाशमान है। यह प्रकाश चैतन्य और अतीन्द्रिय है। यह प्रकाश बाह्य प्रकाश से अतीत है।

(१९) आत्मा का अमर्यादित चिद् विलास है। इस ओर अन्तर्मुख न होने से ही संसार ज्वाला की प्राप्ति है। आत्मा में संसार का कोई कार्य नहीं है, अपने में ही इसका चिद् परणति-रूप कार्य है और यही रहेगा। स्वभावावलम्बन से जो पर्याय स्वतः आई और आती रहेगी,—वही इस आत्मा का कार्य है।

(२०) आत्मा को संयोग वियोग में दृष्टि नहीं करनी, अपने में ही दृष्टि करनी है। इसका दृष्टा और ज्ञायक स्वभाव ही ध्रुव उपादान है।

(२१) आपने अनुभव किया कि यह आत्मा अपने ही स्वभाव में है। यह अपना स्वभाव छोड़कर कहीं पर-रूप नहीं हुआ है। इसके गुण कहीं बिखर कर छिन्न भिन्न नहीं होते, और यह गुण ही इसे अखण्ड रखता है —इस गुण का सूक्ष्म परिणमन प्रति समय होता ही रहता है। क्या यह इसका अलौकिक अचिन्त्य स्वभाव नहीं है ?

(२२) आपने अनुभव किया कि आत्मा का गुण किस क्रम से कब कैसे परिणमन करेगा इसका कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। अणु के ऋणाणु तथा धनाणुओं का ही कोई नियम नहीं। इनके यानी ज्ञान और भौतिक अणु के गुण अपने ही आधीन हैं। अतः इनके क्रम अक्रम हैं—यही कहा जा सकता है पर स्वभाव लक्ष में जो पर्याय आती है वह नियम से जो आनी होती है, आती है,—अतः क्रम बद्ध ही कही जाती है। वैसे ही जड़ में भी जो दशा आनी होती है, क्रम से ही आती है।

(२३) कर्म के परमाणुओं में अवस्थाएं बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, सत्ता, निघत्त, निकांचित परमाणु की क्रमबद्ध दशाएं है। आत्मा के पुरुषार्थ (स्व लक्ष पुरुषार्थ) के समय जो परमाणु विद्यमान होते हैं,—वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वयं परिणमन करते हैं उनमें समय-समय पर्याय क्रमबद्ध बदलती है—ये स्वयं आत्मा में कुछ नहीं करते। ये मात्र आवरण रूप ही हैं। स्वरूप में रमण करने से स्वयं चैतन्य आत्मा में अपनी क्रमबद्ध पर्याय होती है।

(२४) क्रमबद्ध पर्याय का ज्ञान स्वभाव और स्व पुरुषार्थ में ही ढ़लने को प्रेरित करता है। स्वाभावोन्मुख होने को कहता है। निमित्तों के आश्रय छोड़कर स्वाश्रयी होने को कहता है।

(२५) अन्तर स्वरूप में दृष्टि करने तथा अवलोकन करने पर विकार बाहर रह जाते हैं—क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है, यानी विकारों की वहां एकता है ही नही।

(२६) आपने अनुभव किया कि यह आत्मा अखण्ड है,—ऐसा नहीं है कि दर्शन करने वाली आत्मा अलग है, या ज्ञान करने वाली आत्मा अलग है। यह अनेक गुण रूप होकर भी एक रूप है।

(२७) आत्मा की भाव शक्ति,—सुखादि भावों के लिए किसी "पर" को कारक नहीं बनाती,—वह स्वयं ही अपनी अन्तर्मुखता में भावक है, भाव्य है और भाव रूप है, अखण्ड भाव रूप है। यह पारिणामिक भाव से शुद्ध है।

(१८) आत्मा अनीन्द्रिय दर्शन और अतीन्द्रिय ज्ञान से ही स्वसंवेदनगम्य है, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। समुद्र तरंगों के समान असंख्य दृश्य एक के बाद एक जब अन्तर्दृष्टि में इस चिदात्म आत्मा के तट से आ आ कर, टकराकर, गलकर विलीन हो जाते हैं—सारे परि दृश्यमान लोक अन्त में उस विराट् चेतना सागर में कहीं खो जाते हैं तब ही अनन्त आनन्द सागर हो गये होते हैं।

(२९) आत्मा की निर्मल पर्याय आत्मा की शक्ति का ही कार्य है और इस निर्मल पर्याय को प्रकट करने के लिए मात्र आत्मा में ही देखना है। इसके सिवाय आत्म-सिद्धि का कोई अन्य मार्ग नहीं है। केवल दर्शन, केवल ज्ञान का मार्ग है। अतः अन्तर्दृष्टि करो, अन्तर्दृष्टि करो, अन्तर्दृष्टि करो,—कायोत्सर्ग में (मन वचन काया के संवर में) स्थिर होकर स्वयं सत्य खोजो, खोज में ही आत्म प्राप्ति है।

(३०) यह आत्मा ही अमृत है, अमर परिणामी रस है। इस रस का आस्वादन नहीं, तो जीवन वृथा है। अनादि भव भ्रमण के अन्त का अन्य कोई,—इतना सरल त्वरित सीधा मार्ग नहीं।

(३१) शरीर, प्राण, वचन और मन—ये हमारे जीवन के बाहर के स्तर हैं, आत्मा इनसे भिन्न है। हम काया प्राण मन वचनादि की प्रेक्षा इस लिए करते हैं कि इनके सूक्ष्म स्वरूपों, प्रकम्पनों को पकड़े, देखें और स्थूल औदारिक और तैजस (प्राण) शरीर के प्रकम्पनों से आगे कार्माण शरीर के सूक्ष्मतम प्रकम्पनों तक हम पहुंचे और उन्हें देखते २ स्वयं अपने अप्रकम्पित ज्ञान स्वभाव को जानने लगें, प्रकम्पनों में से यात्रा करते २ अप्रकम्पित अयोग--स्थिति जो अयोगिजिन अवस्था है, उसका हमें परिचय हो। हम देह मन वचन प्राण के कारागारों में बन्धे हैं। अपने असीम अनन्त मुक्त ज्ञान के प्रतिच्छेदों से अपरिचित हैं। हमारी अन्तर्यात्रा ससीम से असीम की ओर, अनन्त ज्ञान की यात्रा है। मानव स्पंदनशील अनात्म सृष्टि राज्य का अतिक्रमण करके स्पदंन रहित, स्थिर, सम और असीम आत्म-ज्ञान में प्रवेश पाकर ही मुक्त होता है।

अन्त में यह स्मरण रक्खें कि ध्यान व साधना-अभ्यास को जब समाप्त करते हैं तब करूणा भाव के महा सागर में ही अपने को निमग्न सा करके कुछ काल स्थिति रहना चाहिए। आ० शुभचन्द्र का यह उपदेश वास्तव में अति स्मरणीय ही है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि यहां जिस करूणा भाव की चिन्तना का उपदेश है, वह मोह का पर्यायवाची नहीं है। एक स्थान पर करूणा को मोह का चिह्न भी कहा है—यथा—

अट्ठे अजधागहणं करूणाभावो य तिरिय मणुएसु।
विसएसु व पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥

पदार्थ का अयथा ग्रहण (दर्शन-मोह) और तिर्यंच व मनुष्यों के प्रति करूणा भाव व विषयों की संगति (शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप चारित्र) मोह के चिह्न हैं।

पर जब करुणा व्यक्ति व वस्तु (पदार्थ) से ऊपर उठ कर स्व की करूणा रूप अभिन्न होती हैं—तो वह वीतराग प्रशम रस रूप एक दिव्य विभु भाव मय ही हो जाती है कि जिसमें सहज ज्ञान भाव अवत्तीर्ण रहता है। सहज करुणा रस का प्रवाह आत्मा का ही गुण है। इसमें व्यक्ति या पदार्थ निष्ठ रागांश का भी सद्भाव कैसे रहे?

४–योग शासन की प्रागैतिहासिक तथा वेद पूर्व परम्परा, प्राचीनता, और प्रमाणिकता

- भारत वर्ष और उसकी संस्कृति
- हिन्दू संस्कृति मूल संस्कृति का एक देश मात्र
- मूल संस्कृति का मूल भारतवर्ष
- सद् धर्म ही मूल और सनातन
- समन्वय दृष्टि अनेकांत
- अखंड सत्य-आत्मा का लाभ
- योगशासन के इतिवृत में भारत की गौरवमयी यशोगाथा
- विश्व व्यवस्था के निर्मापक तथा योग के आदि प्रवक्ता
- योग-ग्रन्थों और योग-वेत्ताओं के मत.—
- १. योग निकेत
- २. कल्याण का योगांक
- ३. पुराण ग्रन्थों का आलोक
- ४. देवी-भागवत की साक्षी। हठयोग की मान्यता
- ५ नाथ-स्तोत्र
- ६. "धर्म का आदि प्रवर्तक" में पुराणों की साक्षी
- ७. जैन आदि-पुराण
- ८. स्वयंभू स्तोत्र
- ९. सूरसागर तथा सूर सारावलि
- १०. "योग-तत्वम्" में श्री दामोदर शास्त्री
- ११. "योग की प्राचीनता"—श्रीमन् मौक्तिक नाथ नैरंजन का वैदुष्यपूर्ण निरुपण तथा निष्कर्ष :
- १२. अथ सम्यग्दर्शनाम्युपायो यौंग:" सूत्र की अलौकिक पद रचना
- १३. भर्तृ-प्रपंच के उद्धरणों में जैन प्ररूपणाओं से निकटता
- १४. पातंजल योग—दर्शन में श्री ओमानन्द स्वामी द्वारा श्री हिरण्यगर्भ की मान्यता
- १५. षट् दर्शनों में योग-दर्शन की प्राचीनता
- १६. योग का उत्स, और तप और अक्षर विद्या (योग विज्ञान) का आविर्भाव

- निर्ग्रन्थ वातरशना दिगम्बर मुनियों की प्राचीन परम्परा
- जैन संस्कृति को वैदिक संस्कृति की शाखा बताना नितांत भ्रम पूर्ण
- सत्य-युग के प्रथम स्वायंभुव मनु की पीढ़ी में ऋषभदेव पांचवें
- सिन्धु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतों की समकालीनता
- प्राचीन अयोध्या वेद-वर्णित
- श्रीमद्-भागवत में नाभि और ऋषभदेव
- तीर्थंकरों का विष्णु के अवतार रूप में मान्यता और वर्णन
- भारतीय इतिहास का प्रथम अध्याय, जैन धर्म के इतिहास का आदि पर्व
- जैन वाङ्मय में भ० हिरण्य गर्भ की स्तुति तथा अन्य स्तुति-स्तोत्र
- प्रागैतिहासिक और प्राक्-वैदिक संस्कृति
- शिव और ऋषभदेव, समानताएं और मान्यता
- पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के इतिहास-पुरुष होने के कुछ साक्ष्य
- प्रसिद्ध आख्यायिकाओं के संकेत

- १. प्रजापति और इन्द्र विरोचन का आख्यान
- २. यक्ष (अक्षय) पुरुष से इन्द्र को ज्ञान
- ३. तपोयोग और वरुण भृगु संवाद

- तपोयोग और श्वेताश्वतर
- यज्ञादि कर्म-प्रधान अपरा विद्या के साथ परा अध्यात्म-विद्या का समन्वय
- हैरण्यगर्भीय अक्षर 'तप' विद्या ब्राह्मण वर्ग के पास कैसे पहुंची
- 'तप' महिमा की मान्यता
- अध्यात्म-विद्या मात्र क्षत्रियों की देन
- छान्दोग्योपनिषत् की साक्षी क्षत्रिय परम्परा का ब्राह्मणों में प्रचार
- भ० राम के भावनोद्गार
- पारस वंशी नाथ-संप्रदाय और कबीर-पंथी संप्रदाय
- महात्मा बुद्ध और भ. पार्श्वनाथ की परम्परा
- धम्मपद और मंजुश्री में ऋषभ देव
- त्रिशास्त्र के संप्रदाय के चित्संग का ऋषभ-~~दर्शन~~ वर्णन
- यजुर्वेद में भ. अजितनाथ, अरिष्ट-नेमि
- भ. नेमिनाथ का जन्म और वर्णन
- नेमि नाथी संप्रदाय
- महाभारत और वेदों में नेमिनाथ

- आंगीरस नेमीनाथ
- श्रीमद्-गीता का ज्ञान क्षत्रिय श्रमण परम्परा का
- नासदीय सूक्त की अन्तरंग साक्षी-जैन नय शैली, अनेकांत, अंगशास्त्र, और केवल ज्ञान अवस्था के निदर्शन के रूप में
- नासदीय सूक्त एवं गीता में सृष्टि-रचना नहीं,—कर्म (आवरण) रचना का कथन
- गीता में स्वभाव एवं विभाव (रचना) वर्णन
- जैन योग का भेद-विज्ञान और कठोपनिषद्
- वेदों का पुरुष—भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव)
- पुरुष प्रतीक और अयोध्या का प्रतीक
- चैत्यवृक्ष: श्रमणपरपरा में वृक्षों की मान्यता
- परोक्षप्रिय ऋषि-देवों के वर्णन संकेत रूप
- ऋषभदेव अग्निदेव (तपोपूत पुरुष)
- अथर्व-वेद में ऋषभदेव की परमेश्वर रूप में स्तुति
- गायत्री मंत्र और केवल ज्ञान सूर्य भ० तीर्थंकर
- पुरुष सूक्त में भ. आदिनाथ वृषभेश्वर की स्तुति
- अष्ट चक्रा नव द्वारा अयोध्या और उसके स्वामी
- वेद–ऋषियों को योग अविदित, अतः योग ज्ञान प्राप्ति की उनकी ललक
- अष्ट–चक्रों का निरुपण
- भ० आदिनाथ ऋषभदेव की "बावनगजा" प्रतिमा
- भ० बाहुबलि की प्रतिमा
- योग-धर्म की प्राचीनता और भ० हिरण्यगर्भ द्वारा शिक्षण
- प्रशांत और स्थिर आत्मा का ज्ञान
- स्वाश्रित साधना
- अलौकिक रूपक में योग धर्म का स्वरूप वर्णन
- उपनिषदों में तीर्थंकरों के तत्त्वों का प्रभाव तथा वर्णन–साम्यता
- श्वेताश्वतरोपनिषद् में भ० हिरण्यगर्भ की और उनकी सकल ध्यान ध्येय के रूप में प्ररूपणा तथा उनके तपोयोग का वर्णन
- धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय और उसके प्रसारक ब्राह्मण
- तीर्थंकर सत्समागम के वरदान
- त्रिविक्रम और त्रिरत्न (रत्नत्रय)
- ऋषभ का नाम और काम विश्व व्यापक
- वेदों में ऋषभदेव की भाव-विभोर स्तुतियाँ
- केशी प्रभु ऋषभदेव

- ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव को "छन्दांसि स्तुतः" "सूर्य-रश्मिः", "हरिकेशः" "हरिश्मश्रु" रूप में वर्णन
- ऋग्वेद में अनन्त चतुष्टय का तथा सम्यक्दर्शन का श्रद्धा के रूप में वर्णन
- हिरण्यगर्भ सूक्त में भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की उपास्य रूप में स्तुति
- यजुर्वेद और ऋग्वेद के और भी स्थल
- वेदों का ऐतिहासिक मूल्य
- वेदों में इतिहास और ऐतिहासिक पुरुषों के सत्यार्थ न करके अभिष्ट अर्थ किये गये हैं
- अखिल धर्म-संप्रदायों का एक आदि धर्म-प्रवर्तक
- 'गोवत्स' वृषभ की प्राण विद्या, सुरों को प्रथम प्राप्त हुई
- "पूर्व देवाः" तथा पूर्व ऋषिः वैदिक आर्यों से पूर्व के आर्य थे
- असुर (अहुर) और आर्हत् वार्हत्
- ऋषभदेव और द्रविड
- ऋषभदेव के पुत्र विश्व-विजेता भरत, उनका राज्य भारत, और राजधानी हस्तिनापुर
- लिपि और ज्ञान विज्ञान के पुरस्कर्ता महाराजा ऋषभ
- परमेष्ठी पद की मूल उद्भावना
- ऋषभ पुत्र भरत, भरत वंशी भारत और भारतवर्ष देश का नामकरण महाराज भरत के नाम पर
- ऋग्वेद में भारतों का उल्लेख। भरतवंश वेदपूर्व
- तृत्सु सुदास भरतो के कुल में
- महाभारत के कौरव-पांडव— "भारत" प्राचीन भारतों से भिन्न
- सूर्य वंश को मनु ने, चन्द्र वंश को बुध ने स्थापित किया
- आद्य चक्रवर्ती भरत ने चन्द्रवंशी पुरुरवा को परास्त किया था
- इन्द्र, अर्हन्न, अग्नि
- ऋग्वेद में नहुष का भारतों द्वारा पराभव वर्णन
- असुर और देवों के संघर्ष की लहर
- वेदों में वेद-पूर्व महापुरुषों के संकेत प्रमाणिक
- वेदों में कर्मकांडी छन्द ही नहीं, कहीं-२ प्राचीन भारतों से संबंधित प्राचीन छन्दों का भी समावेश है
- सूर्यवंशी इनकी-उपाधिः सूर्य और विष्णु पूजा ऋषभदेव की ही पूजा थी
- सूर्य और अग्नि समानार्थक और भरत का भी अग्नि नाम से उल्लेख और देवों का अग्नि धारण
- भरत से भारत
- पूर्व भारत दौष्यन्ती भरत से अति प्राचीन

लिद

- निक्षिप्त शास्त्र जो आज उपलब्ध नहीं
- प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी
- सम्राट भरत अन्तिम मनु
- भरत नाम की सार्थकता
- ऋषभदेव और भरत से ईक्ष्वाकु व सूर्य-वंश
- औषधि ज्ञान के प्रणेता
- अयोध्या की संगति
- ऋषभ पुत्र भरत की राज्य सीमा
- स्व० कर्मानन्द की कृति, एक गवेषणात्मक चिन्तन—पं गंगानाथ झा के शब्दों में
- डॉ. ज्योतिप्रसाद के शोधपूर्ण निष्कर्ष और प्रागैतिहासिक काल से ही प्रवाह मय यह योगमय जैन धर्म
- यह आत्म-धर्म के रूप में सनातन
- धर्म और संस्कृतियों के आदि प्रवर्तक की स्थापना में समन्वय सामंजस्य की ही अर्न्तदृष्टि
- नव-निर्माण की आधार भूमि क्या हो
- हम कब तक भटकेंगे
- निष्पक्ष चिन्तन शील दृष्टि की अपेक्षा
- प्राचीन इतिहास के उपदेशात्मक अर्थों को निष्पक्ष ज्ञान वाली आगे की पीढियां क्षमा नहीं करेगी
- आत्मा की आलौकिक चैतन्य प्रकाश धारा पाई ही जानी चाहिये।
- प्राचीन वाङ्मय राष्ट्रीय निधियाँ है, वह जीवन निर्माण के प्रकाश, आस्था और करुणा भाव के स्रोत है
- अतीत से आता यह प्रकाश-पुंज और आस्था का शंखनाद

भारतवर्ष और उसकी संस्कृति

"भारतीय संस्कृति का स्वरूप" प्रबन्ध में डा. गोपीनाथ कविराज ने भारतवर्ष और उसकी संस्कृति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—

"प्राचीन भूगोल के अनुसार भारतवर्ष सप्त द्वीपा वसुन्धरा के अन्तर्गत जम्बू द्वीप का एक वर्ष है। इसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में लवण-समुद्र है। यह योग भूमि होने पर भी विशेषतः कर्म भूमि है।

"पूर्वापर समुद्र-जल से भारतवर्ष ९ (नौ) खण्डों में विभक्त है। ये खंड नवद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कन्या द्वीप नाम से परिचित नवम्-द्वीप ही कुमारिका खंड है। यह हिमालय के पाद मूल में अवस्थित है। ऋषभ-पुत्र राजा भरत ने यह देश अपनी कन्या कुमारी को दान दिया था। शेष आठ द्वीप पुत्रों को दिये थे।"

इस देश भारतवर्ष का इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव व उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भारत से सम्बन्ध बता कर डा० गोपीनाथ ने आगे भारतवर्ष की विशिष्टता को बताया है—

"जम्बू द्वीप के अन्तर्गत इलावृत प्रभृति वर्षों में एक मात्र त्रेता युग ही सदा विराजता है, न वहाँ सत्ययुग है, न कलि है। सब वर्षों के भीतर भारत-वर्ष ही ऐसा देश है, जहाँ चारों युग वर्तमान हैं।"

ऐसे विशिष्ट देश भारत की भारतीय संस्कुति की चर्चा में आगे उन्होंने बताया है—

"यहाँ जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, जगत् के किसी देश में उसकी उपमा नहीं है। मिश्र देश (इजिप्ट), फिनिशिया, पार्थिया, क्रीट भूमध्य सागर की प्राच्य-प्रान्त भूमि, ग्रीस, प्राचीन चीन-किसी भी देश की संस्कृति की गंभीरता, व्यापकता, विरोध-समन्वय सामर्थ्य और सर्वतो मुख विकास के विषय में भारतीय संस्कृति के साथ तुलना योग्य नहीं प्रतीत होती। व्यष्टि के साथ समष्टि का तथा दूसरी ओर सर्वातीत मूल सत्ता का इस प्रकार अद्भूत समन्वय और किसी देश में नहीं मिलता। यदि किसी दिन भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक क्रम धारा के अंतराल में रहने वाले तत्वों का विश्लेषण सम्पन्न होगा तो इस संस्कृति की महिमा प्रस्फुटित होगी। अत्यन्त खेद की बात है कि वर्तमान समय में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का पर्यालोचन करने के लिए विद्वज्जन यथोचित प्रयत्न नही कर रहे है।"

हिन्दू संस्कृति मूल संस्कृति का एक देश मात्र

"हिन्दू संस्कृति इस मूल संस्कृति का एक देश मात्र है। एक चिन्तनशील लेखक ने कहा था कि इस मूल संस्कृति से ही क्रमिक संकोच विकास के प्रभाव से नाना संस्कृतियों का उद्भव हुआ है। दस्युओं की संस्कृति, द्राविड़-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, बौद्ध व जैन संस्कृतियां तथा अभिनव हिन्दू संस्कृति इसी के क्रम विवर्तमान अवस्था मात्र है। बानरों की तथा राक्षसों की संस्कृति भी उसी की विकृति-मूलक स्फूर्ति है। मैं समझता हूँ कि इन सब तत्वों को पूरी-पूरी आलोचना करके समझने का समय आ गया है।"

मूल संस्कृति का मूल भारतवर्ष

"एक प्रदीप से जैसे सहस्त्र प्रदीप प्रज्वलित किये जा सकते हैं, वैसे ही एक जीवन्त संस्कृति के प्रभाव से सहस उपसंस्कृतियों का विकास होता है । भारत वर्ष से तिब्बत (महाचीन) चीन, नेपाल, मध्य एशिया, गान्धार, जापान, कोरिया, ब्रह्मदेश प्राच्यद्वीप पुंज (सुवर्णद्वीप, बालिद्वीप, यवद्वीप, आदि) प्रतीच्य उपद्वीप ईरान सिंहल प्रभृति नाना देशों में सभ्यता का विस्तार हुआ है, वह अखंडनीय ऐतिहासिक तत्त्व है। संभवतः वेबीलोन, मिश्र, उत्तर कोरिया, फिलस्तीन, ग्रीस आदि स्थानों में भी ऐसा ही हुआ है। क्रीट, ऐशिया माइनर प्रभृति स्थानों में जो प्राचीन तांत्रिक साधना के भग्नावशेष मिले हैं, उनका आलोचन करने से प्रतीत होता है कि इनका मूल भी परम्परा से भारतवर्ष ही है।"

इस प्रकार प्रायः समस्त विश्व ही दिव्य ज्ञान और शक्ति के लिए साक्षात् या परम्परा से भारतवर्ष के ऋणी हैं। यह बताकर उन्होंने आगे कहा है—

सद्धर्म ही मूल और सनातन

"और और धर्मों का जैसा नाम है, भारतीय मूल धर्म का वैसा कोई नाम नहीं है। हो भी नहीं सकता। क्योंकि जो नित्य व्यापक और सनातन है, वह परिच्छिन्न नाम से परिचित होने योग्य नहीं है। इसी लिए इसका नाम सनातन धर्म है। बौद्ध, जैन भी इसी प्रकार मूल-धर्म को सद्धर्म मात्र कहते हैं।" इस सद्धर्म का ही प्रवचन तीर्थंकर अनादि काल से कृति रूप में उपदेश करते हैं।

समन्वय दृष्टि अनेकान्त दृष्टि

आगे फिर भारतीय संस्कृति के रहस्य के दो तथ्यों पर ध्यान आकर्षित कर कहा है कि "समन्वय-मार्ग से ही भारतीय संस्कृति का रहस्य उद्घाटित होगा। कहने का तात्पर्य यही है कि भारतीय दर्शन-विकास में समन्वय रूप दर्शन तथा दृष्टि भारतीय संस्कृति की सार्व भौमिक

या सार्वकालिक विशिष्ट देन है ।" इस संदर्भ में अनेकांत् दृष्टि का बहुमान स्पष्ट ही लक्षित हो जाता है ।

अखंड सत्य-आत्मा का लाभ

दूसरे उन्होंने कहा है कि "भारतीय संस्कृति को अखंड सत्य का पता है । इसी से यह खंड सत्य का भी आदर कर सकती है । इस देश की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक कला, प्रत्येक शास्त्र ही एक महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है । ब्रह्म प्राप्ति या आत्म लाभ ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है । प्राचीन समय में भारतवर्ष में सर्व प्रकार साधना का यही परम उद्देश्य था—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः—"भारतवर्ष का यह ज्ञान था कि आत्म-लाभ होने पर और किसी वस्तु की प्राप्ति शेष नही रहती ।"

भारतीय संस्कृति में समन्वय ज्ञान और आत्मलाभ इन दो विशिष्टताओं का जन्म देने वाले चक्रवर्ती राजा भरत के पिता आदि गुरु ऋषभदेव या हिरण्यगर्भ प्रभु-वैदिक आर्यों से भी पूर्व भारतवर्ष में हुए और उन्होंने योगशासन प्रवर्तित किया । उन्होंने सनातन मानव धर्म का व्यवस्थित रूप से प्रवचन किया । यह प्रागेतिहासिक तथा अखंडनीय है । इसी का इस अध्याय में वेदादि से व पुराणादि की बहिरंग साक्षियों से, तथा उपनिषद्, पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्तों आदि की अन्तरंग साक्षियों से विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं ।

योग शासन के इतिवृत्त में भारत की गौरव पूर्ण यशो गाथा

यह कम आश्चर्य जनक नहीं है कि जिसे आज इतिहासकार प्रस्तर युग व सभ्यता का आदि-काल कहते हैं, उस समय भगवान् आदिनाथ हिरण्यगर्भ ने अध्यात्म के उच्चतम शिखर को प्राप्त कर लिया था, तब शेष जगती तल असभ्यता के अंध युग में सोया हुआ था । योग विज्ञान की प्रमाणिकता और इसका इतिवृत वस्तुतः हजारों ही वर्ष की कहानी है । जैन गणनानुसार तो हजारों लाखों ही वर्ष पुरानी है । इस परम्परा में चौबीस तीर्थंकरों का शासन प्रवर्तित हो चुका है । प्रथम तीर्थंकर भ. आदिनाथ हिरण्यगर्भ या वृषभेश्वर ऋषभनाथ हुए अन्तिम वर्धमान महावीर सन्मतिनाथ । यह आदि कही जाने वाली सृष्टि के इस युग की बात है । योग शासन के इतिवृत की जानकारी में वस्तुतः भारत के ज्ञान की गौरव गाथा गर्भित है । भारत को गौरव है कि यहाँ उस अग्र और प्रथम पूर्ण-पुरुष, आदि अध्यात्म पुरुष का जन्म हुआ और उसने इस विश्व की मानव जातियों को सर्व प्रथम योग शासन दिया ।

विश्व व्यवस्था के निर्मापक तथा योग के आदि प्रवक्ता

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि आदि विश्व व्यवस्था के स्रष्टा भ. ऋषभदेव-हिरण्यगर्भ ही योग विज्ञान के आदि प्रवक्ता हैं । वे जैनो के आदि धर्म संस्थापक प्रथम तीर्थंकर हैं—यह जैन तो

कहते ही है, वेद उपनिषद, पुराण आदि समस्त जैनतर भारतीय परम्पराएं भी कहती और मानती चली आ रही हैं। वस्तुतः योग विज्ञान की जानकारी के साथ इसके प्रवक्ता के सम्बन्ध में प्राचीन वाङ्मय में कहाँ किस प्रकार संकेत हैं, यह संक्षेप में दिग्दर्शन करना योग परम्परा की समझ तथा महत्व के लिये आवश्यक और उपयोगी है।

योग ग्रन्थों तथा योग वेत्ताओं के मत

प्रसिद्ध **"योग निकेत"** ऋषिकेश से प्रकाशित तथा श्री योगीश्वरानन्द सरस्वती ब्रह्मर्षि द्वारा प्रणीत "आत्म-विज्ञान" में प्रकाशकीय लेख में यह मत प्रकट किया गया है कि भगवान हिरण्यगर्भ ही योग विद्या के आदि आचार्य हुए हैं। कहा है—"योग साधना ही एक मात्र ऐसा राज मार्ग है जिस पर चल कर जीव विष्णु के परम पद को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण संपन्न पर बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने इस अनुपम विद्या पर प्रकाश डाला। यद्यपि हमारे साहित्य में महर्षि हिरण्यगर्भ को इस विद्या का आदि आचार्य माना गया है परन्तु इस समय उपलब्ध ग्रन्थों में केवल पंतजलि का योग-सूत्र ही एक ऐसा प्रमाणिक शासन है जिसमें कुछ विस्तार से इस पावन योग विद्या का वर्णन मिलता है। महर्षि पतंजलि ने भी सूत्रों में इसी विद्या का दिग्दिर्शन कराया है।"

अध्यात्म-पत्रिका **"कल्याण" का योगांक** विशेषांक (अगस्त सन् ३५) पृ. ७६८ पर भ. हिरण्यगर्भ को आदि योग शास्त्र रचयिता मानते हुए इस प्रकार विवेचन करता है—

"योग सूत्र के प्रायः सभी भाष्यकारों तथा वृतिकारों का यह मत है कि पातंजल योग शास्त्र हैरण्यगर्भ शास्त्र के आधार पर रचा गया है। इसके समर्थन में उनका कहना है कि पंतजलि ने पहला सूत्र "अथ योगानुशासनम्" (अब योग का उपदेश दिया जाता है) रक्खा है, जिससे यह मालुम होता है कि योग सूत्र में उनका साक्षात् शासन नहीं—वरन् अनुशासन मात्र है। फिर महाभारत तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में एक कथन यह मिलता है—

"हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता, नान्यः पुरातनः।" हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं। इससे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है। परन्तु यह हिरण्यगर्भ महाराज कौन थे —इसका वर्णन कहीं कुछ नहीं मिलता। महाभारत में अवश्य ही यह श्लोक मिलता है——

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं, स च लोके विभुः स्मृतिः।।

अर्थात् यह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही है, जिनकी वेद में स्तुति की गई है—इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसार में इन्हें विभु कहते हैं। इससे मालुम होता है योग के आदि प्रवर्तक

हिरण्यगर्भ महाराज ही—साक्षात् परमात्मा ही थे। परम ब्रह्म परमात्मा से योग सम्बन्धी जो ज्ञान योगाचार्य पतंजलि महाराज को प्राप्त हुआ उसी का विस्तार उन्होंने अपने योग सूत्र में किया। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का भी नाम है—इसलिए किसी-किसी के मत में योग के आदि प्रवर्तक ब्रह्मा ही हैं।"

उपर्युक्त विवरणों से यह स्थापित होता है कि योग का प्रवर्तन साक्षात् परमात्मा रूप हिरण्यगर्भ प्रभु से हुआ। इन हिरण्यगर्भ का अपर नाम ब्रह्मा भी है। इनकी वेदों में स्तुतियां हैं। ये अति तेजस्वी द्युतिमान और परम परमात्मा रूप ही माने जाते रहे हैं। योगी जन आज भी इनकी ही अर्चना पूजा करते हैं। इन हिरण्यगर्भ से अन्य कोई भी योग का पुरातन आचार्य नहीं हुआ। तथा इन हिरण्यगर्भ का विशेष विवरण अजैन (हिन्दू) वाङ्मय में प्राप्त नहीं है, अथवा नष्ट हो गया है।

प्राचीन घटनाओं, व्यक्तियों तथा इतिहास-सत्यों को परम्परा रीत्या से कहने और वर्णन करने वाले पुराण साहित्य हैं—जिन में प्राचीन ट्रेडीशन (Tradition) लिपिबद्ध हुआ वर्तमान है—

पुराणों का आलोक

श्री देवी-भागवत् की साक्षी

इन ही भ. हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की श्री देवी भागवत् पुराण उत्तरार्द्ध के स्कंध ८. एकादश अध्याय पृष्ठ—७ या (७६) में इस प्रकार स्तुति हुई है—

"ओम् नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिंचनवित्ताय।
ऋषि ऋषभाय नरनारायणाय परम गुरवे आत्मारामाधिपतये नमः इति ॥१

कर्ताऽस्य सर्गादिषु यो नवध्यंते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
दृष्टुर्न दृश्यस्य गुणैर्विदूष्यते, तस्मै नमोऽसक्त विविक्त साक्षिणे ॥२
इदं हि योगेश्वर योग निपुणं, हिरण्यगर्भो भगवान्जगादयत्।

प्रकट है कि इस स्तुति में भगवान् ऋषभदेव को ही हिरण्यगर्भ परम हंस, परम गुरु, अकिंचन वित्त (वीतराग निष्परिग्रह), सृष्टि के सर्ग के आदि में कर्ता, योगेश्वर, योग निपुण, नर नारायण आत्म विजेता, अवध्य, अमर, देहिको के (ध्यान द्वारा) देहगत होने वाले आदि आदि रूप से स्तुत किया गया है। भ. ऋषभदेव ही हिरण्यगर्भ हैं—दोनों एक ही व्यक्ति है—यह संगति भी इसमें स्पष्ट हुई है। यह स्तुति नारद ऋषि के मुख से भारतवर्ष के वर्णन में सर्ग के आदि कर्ता तथा नर-नारायण के रूप में की गई है। श्री नारायण उवाच कह कर यह कहा गया है—

"भारतारद्येन वर्षे ऽस्मिन्नहमादिज पूरुषः ।
तिष्ठामि भवता चैव स्तवनं क्रियतेऽनिशम् ।।"

इस प्रकार नारायण हरि ने कहा कि मैं ही आदि व पुरुष हूँ—जिसकी तुम रात दिन स्तवन करते हो । ऐसे यह उक्त स्तुति श्री नारद ऋषि द्वारा कही गई ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नारायण हरि, आदिज या अग्रज पुरुष ये सब नाम भ. ऋषभदेव हिरण्यगर्भ के ही प्राचीन काल से माने जाते रहे हैं । प्राचीन ऋषि गण इन ऋषभदेव हिरण्यगर्भ की ही आराधना करते रहे हैं, तथा ये भारत में आदि-युग में ही हुए थे ।

श्री मद्भागवत (५/४/६) में कहा गया है—"भगवान ऋषभो योगेश्वर": तथा इसी में (५/५/२५) में कहा गया है—"नाना योग चर्या चरणों भगवान् कैवल्य पतिः ऋषभः ।"

हठ योग में मान्यता

भगवान् ऋषभनाथ की मान्यता प्राचीनतम काल से हिन्दू परम्परा में आज तक बराबर चली आ रही है । इन्हें ही हठयोग के उपदेष्टा भी कहा है—"श्री आदिनाथ नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोग विद्या ।"

नाथ स्तोत्र

नाथ स्तोत्र में इन्हें इस प्रकार नमस्कार किया गया है—

मोहान्धकार विचलन् मनसो मनुष्यांस्तत्त्वों ज्झितानपि परम्परयोपदेष्टुम् ।
तत्वं विमुक्तय उताकृत योगशास्त्रमादेशएतुमम तत्र स आदिनाथः ।।

तत्व से वंचित, मोहान्धकार से विचलित, मन से किंकर्तव्य विमूढ़ मनुष्यों की मुक्ति के लिए, तथा परम्परा से तत्व का उपदेश देने के लिये, जिसने योग-शास्त्र बनाया, उस आदि-नाथ को मेरा नमस्कार रूप आदेश पहुँचे । नाथ संप्रदाय के लोग जैन रह चुके हैं । विद्वानों की नवीन खोज से ऐसे तथ्य प्रकट हो रहे हैं ।

योग तत्वोपनिषद

योगतत्वो पनिषद् में कहा है—

विष्णुर्नाम महायोगी, महा मायोमहातपाः ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।।

विष्णु नाम से यह महायोगी, महा ऐश्वर्य शाली, महान् तपस्वी, तत्त्व (योग)—मार्ग में वह पुरुषोत्तम और दीपक के समान प्रकाशक है।

इससे प्रकट है कि भ. ऋषभदेव आदिनाथ की ही विष्णु करके योगीजन पूजा करते थे।

"धर्म के आदि प्रवर्तक" में पुराणों की साक्षी

स्व. कर्मानन्द ने "धर्म के आदि प्रवर्तक" पुस्तक में विभिन्न हिन्दू पुराणों में भ. ऋषभदेव, उनके मातापिता पुत्र आदि के जो उल्लेख मिलते हैं—उनका उल्लेख किया है। इनके ही उल्लेख को ज्ञान-पीठ से प्रकाशित "आदि पुराण" की प्रस्तावना में भी दिया गया है। ये ही उल्लेख भारत का आदि सम्राट-भरत" में भी आये हैं। हम इन उल्लेखों की सूचना मात्र ही यहाँ देते हैं। इतने विस्तार में जाने की अपेक्षा भी नहीं है। ये हैं—मार्कण्डेय पुराण अ. ५०/३९–४१, कूर्म पुराण अ. ४१/३७–३८, अग्नि पुराण अ. १०१०–११, वायु-पुराण पुराण पूर्वार्ध उ. ३५/५०–५२, ब्रह्मांड पुराण पूर्वार्ध अनुषंगपाद अ. १४/५९–६१, बराह पुराण अ. ७४, विष्णु पुराण द्वितीयांश अ. १/२७–२८, लिंग पुराण अ. ४७ १९–२२। इनमें से देखिये ब्रह्मांड पुराण इस प्रकार वर्णन करता है—

> नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।
> ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
>
> ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
> सोऽभिसिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्यया स्थितः ॥
>
> हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ।
> तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुः बुधाः ॥[1]

अर्थात्-नाभि की धर्म पत्नी मरू देवी के महान् द्युतिशाली, समस्त पृथ्वीवासियों में श्रेष्ठ, सब क्षत्रियों के पूर्वज, ऋषभनाथ नाम पुत्र हुआ। ऋषभ के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ और वीर पुत्र भरत नाम का हुआ। ऋषभदेव भरत का राज्याभिषेक करके दीक्षा ले गए और भरत को हिम नामक दक्षिण प्रदेश का अधिकार दिया। इन्हीं भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है।

स्कन्द पुराण माहेश्वर खण्ड के कौमार खंड अध्याय ३७ में भी इसी प्रकार वर्णन है—

> नाभेः पुत्रश्च ऋषभः, ऋषभाद् भरतो ऽभवत् ।
> तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥(५७)

---

[1] ब्रह्मांडपुराण पूर्व अ. १४/५९–६१पृ. २२

नाभि के पुत्र ऋषभ हुए, ऋषभ के भरत हुए, भरत के नाम से ही यह देश भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ है।

शिव पुराण अ. ५२/पृष्ठ संख्या ८५ तथा नारद पुराण पूर्व खंड अ. ४८/५-६ में भी इसी प्रकार ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष कहा जाता है, यह वर्णित किया गया है। सर्व पुराण साहित्य एक स्वर से इसी प्रकार की मान्यता की पुष्टि करता है। शैव संप्रदाय के सहस्रनाम में "नमो शिवाय दिगम्बराय" के उल्लेख से शिवजी स्वतः दिगम्बर सिद्ध होते है, और उनके अनुयायी दिगम्बर को ही पूजने वाले ज्ञात होते हैं।

ऐसे प्रसिद्ध व अग्र पुरुष हिरण्यगर्भ ऋषभदेव का चरित्र अलग से किसी जैनेतर साहित्य में न होना आश्चर्य जनक ही है क्योंकि सांख्यादि षट्-दर्शनों के वक्ताओं में योग के प्रवक्ता हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त सब ही के आख्यान तथा चरित्र मिलते हैं। अतः भ. ऋषभदेव हिरण्यगर्भ के विस्तृत चरित्र-आख्यान के लिए जैन पुराण स्रोत ही प्रमाणिक स्रोत हैं। पर यह असंदिग्ध है कि भ. ऋषभदेव ही हिरण्यगर्भ हैं, वे ही ब्रह्मा, प्रजापति, आदिनाथ, महाद्युति, महामति, विष्णु आदि रूप से स्तुत हुए हैं। इन्हें ही दत्तात्रेय के रूप में भी मान्य किया गया है।

जैन आदि पुराण

जैन आदि पुराण (सर्ग २४) में चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भगवान आदिनाथ की स्तुति को इस प्रकार वर्णित किया गया है—

हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषभध्वजः।
परमेष्ठी परं तत्वं परमात्मात्मभूरसि ।(३३)

हे प्रभो। आप हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् हैं, वृषभ (श्रेष्ठ) हैं—व वृषभनाथ नाम धारी हैं, वृषभ चिन्ह से शोभित हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्व हैं, और अपने आत्म स्वरूप को स्वयं प्रकट करने वाले स्वयंभू हैं।

स्वयंभू स्तोत्र

आचार्य श्री समन्तभद्र द्वारा "स्वयंभू"—स्तुति को हम इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के आरम्भ में मंगल चरण के रूप में दे ही चुके हैं।

सूर सागर और सूर सारावलि

हिन्दु भक्ति सलिला को प्रवाहित करने वाले "सूर सागर" में भी भगवान् ऋषभ के प्रभु रूप में जन्म लेने को इस प्रकार संकेत किया है—

"नाभि नृपति सुत हित जग कियौ।
जज्ञ पुरुष तब दरसन दियौ ।।[1]

"मैं हरता करता संसार मे लेहौं, नृप गृह अवतार।
ऋषभ देव तब जनमें आइ, राजा कै गृह बजी बधाई ।।[2]

तथा सूर सारावलि पृ. ४ में भी कहा गया है कि प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न हरि के ही शरीर का नाम "ऋषभदेव" था।

प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु, ऋषभदेव यह नाम।
कीन्हे काज सकल भक्तन के, अंग अंग अभिराम ।।

आठोंसिद्धि भई सम्मुख, जब करी न अंगीकार।
जय जय श्री ऋषभदेव मुनि, परब्रह्म अवतार ।।

वेदों में तथा उपनिषदों भ. हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की अनेक स्तुतियाँ हैं—यह तो हम आगे कहेंगे। यहां हम प्रथम प्रमुख योगाचार्यों के कतिपय मंतव्य भी उघृत करते हैं।

"योग तत्वम्" में श्री दामोदर शास्त्री

श्रीमन्माध्वसंप्रदायाचार्य साहित्य दर्शनाद्याचार्य गोस्वामी **दामोदर शास्त्री** ने "योग तत्वम्" अपने लेख[3] में योग को हिरण्यगर्भाचार्य प्रवर्तित तथा पातंजल योग दर्शन को म. पतंजलि द्वारा अनुशासित हुआ माना है।

"योग की प्राचीनता" में श्री मौक्तिक नाथ नैरंजन का वैदुष्य पूर्ण विवेचन और निष्कर्ष

योगाचार्य श्री **मन्मौक्तिक नाथ नैरंजन महोदय** द्वारा "योग की प्राचीनता" नाम के अपने लेख में कल्याण के ही योगांक में इतर दर्शनों के विस्तृत प्रमाण देकर निर्णीत किया गया है कि सर्व

---

1. (पद ४०६ पृ. १५०)
2. (सूरसागर पृ. १५०१)
3. (कल्याण योगांक पृ. ३३)

षट् दर्शनों में एक मात्र योग दर्शन प्राचीनतम है और इस पातंजल योग दर्शन का विकास हैरण्यगर्भ शास्त्र से हुआ है। इस प्रकार योगाचार्य महोदय ने हैरण्यगर्भ योग शासन को उपलब्ध पांतजल योग से भी प्राचीन सिद्ध किया है और पांतजल योग भ० हिरण्यगर्भ के शासन का अनुशासन (उपदेश) करता है—यानी योग के मूल प्रवर्तक भ० हिरण्यगर्भ ही हैं। तर्क पूर्ण विश्लेषणात्मक षट् दर्शनों के विवेचन के साथ यह तो स्पष्टीकरण किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने ऋषि वेदव्यास द्वारा प्रणीत व्यास-भाष्य से लेकर स्व. हरिप्रसाद कृत योग सूत्र वैदिक वृत्ति तक तेईस भाष्यों, वृत्तियों तथा उनके भाष्यकारों, वृतिकारों को नाम सहित उल्लेख करके इनके मत सहित अपनी सम्मति और निर्णय को प्रकट किया है। वे लिखते हैं—"इन सब भाष्यकारों का एक मत है कि पांतजल योग दर्शन का विकास हिरण्यगर्भ शास्त्र से हुआ है। इन भाष्यकारों ने निश्चय किया है कि योग—सूत्र "अथ योगानुशासनम्" (अब योग का उपदेश किया जाता है)— से पतंजलि महाराज का योग सूत्र में साक्षात् शासन न होने पर अनुशासन ही है। यथा—

"हिरण्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः"

"यानी हिरण्यगर्भ ही योग के प्रथम प्रवक्ता हैं, इनसे पुरातन कोई योग प्रवक्ता नहीं है। योगी याज्ञवलक्य की याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रवल प्रमाण से योग शास्त्र के विधाता भी हिरण्यगर्भ महाराज ही हैं। तथैवस्तु। परन्तु जिस प्रकार दर्शनकारों के इतिहास पुराणादि में उपलब्ध हैं उस प्रकार श्री हिरण्यगर्भ जी का कोई भी इतिहास पुराणादि में नहीं मिलता। इस विषय में किसी महानुभाव ने न कोई कष्ट उठाया, और किसी को जुरूरत भी क्या थी कि बहिरंग परीक्षा के पीछे पीछे फिरें। परन्तु कुछ शास्त्रों का समाकलन करने पर हमें यह तो आपका पता मिला कि—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः, परमर्षि सः उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता, नान्यः पुरातनः ।।[2]

अर्थ—सांख्य के वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे (पुराना) और कोई इस शास्त्र का वक्ता नहीं हैं। आगे चल कर इस प्रकार योग का रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं, स च लोके विभुः स्मृतः ।।[3]

---

1. कल्याण योगांक पृ० ३३
2. महा भारत ०/२/३४९–६५
3. महा. भारत १२/३४२/९६

अर्थ—यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेद में स्तुति की गई है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसार में इन्हें विभु कहते हैं। और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृत:
महानिति च योगेषु विरंचिरिति चाप्यज: ।।

इन हिरण्यगर्भ भगवान को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हीं को योगी लोग महान् विरंचि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं। अपि च—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगादयत् ।।[1]

हे योगेश्वर। यह योग-कौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था।

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा………………।[2]

हिरण्यगर्भ जगत् के अन्तरात्मा हैं।

हिरण्यगर्भ: सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुख: ।

इस सर्ग में हिरण्यगर्भ चतुर्मुख रूप में प्रकट हुए। इन पद्यों का भावार्थ यह है—

वेदों ने जिनकी स्तुति की, जो योगिजनों से पूजित हैं, वेदों में जो विभु, विरंचि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणों से उपश्लोकित हुए हैं, बस उन्हीं की—"महानिति च योगेषु" है। इसकी टीका करते हुए श्री नीलकण्ठ जी फरमाते है—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम् ।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही "महान् कृति" है कि आपने वेदों से प्रथम योग-विद्या यानी परा-विद्या का प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान् का छन्द यानी वेद में—

हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए, जो समस्त भूतों (प्राणियों) के एक मात्र पति थे। उन्होंने पृथिवी और स्वर्गलोक को धारण किया। उन अनिर्वचनीय देव की हम पूजा करते हैं।

---

1. श्रीमद्भागवत ५/१९/१३
2. अद्भुत रामायण १५१६
3. वायु० ४/७८
1. ऋ० १०/१२१/१

इस प्रकार स्तुति की गई है । बस, इन्हीं हिरण्यगर्भ महाराजा के हिरण्यगर्भ-सूत्रों का योग-दर्शन में अनुशासन का, "अथ योगानुशासनम्" से योग दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है । अतः यह निर्विबाद है कि पांतजल योग-दर्शन से प्राचीन कोई भी दर्शन संसार में है ही नहीं ।"

इस प्रकार योगाचार्य विद्वान नैरंजन महोदय ने हिरण्यगर्भ योग के आधार पर अनुशासित पांतजल "योग-दर्शन" को प्रामाणिक रूप से षट् दर्शनों में प्राचीनतम होना सिद्ध किया है । इस सिद्धि में भगवान् हिरण्यगर्भ का योगशासन स्वतः प्राचीनतम सिद्ध हो जाता है । यह अलग बात है कि दुर्भाग्यवश हिरण्यगर्भ-योगशास्त्र की कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है । मगर हिरण्यगर्भ-योग शास्त्र पर सब ही दर्शनों के भाष्य भी कभी विद्यमान रहे होंगे तथा उस मूल योग-शासन के अनुगत अपने-अपने दर्शनों की मान्यताओं को लेकर योगशास्त्र पर भाष्यों की रचनाएं भी होती रही होंगी । यह बात महर्षि पतंजलि के प्रत्येक पाद के अन्त में "योग शास्त्रे सांख्य-प्रवचने" ऐसे उल्लेख से प्रकट होती है ।

"अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" (ब्रह्म सूत्र भाष्य २,१,३)—इस कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्रह्मसूत्र भाष्यकार के समक्ष पातंजल योग दर्शन के अतिरिक्त एवं भिन्न योगशास्त्र भी रहा है—क्योंकि पातंजल योगदर्शन तो "अथ योगानुशासनम्" सूत्र से आरम्भ हुआ है । इस से वह भी विदित होता है कि अब अवैदिक आम्नाय योग-शास्त्र अनुपलब्ध है,—यद्यपि उसके आगम ग्रन्थों में योग का विषय बहुलता से बिखरा पड़ा मिलता है । वर्तमान में योग विषयक विवेचनाओं में महर्षि पतंजलि का योगदर्शन ही एक मात्र ऐसा प्राचीनतम योगशास्त्र उपलब्ध है जो योग के आठों अङ्गों का व्यवस्थित वर्णन करता है । इस योग शास्त्र ने बाद की बनी सभी योग सम्बन्धी रचनाओं को अपनी शैली तथा क्रम-व्यवस्था से कम व वेश प्रभावित भी किया है ।

अथ सम्यग्दशनाभ्युपायो योगः "सूत्र की अलौकिक पद रचना

"अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः" सूत्र के अतिरिक्त आ. शंकर ने अपने भाष्य में योग से सम्वन्धित दो और सूत्रों का उल्लेख किया है । सम्यग्दर्शन पद की विद्यमानता से उक्त सूत्र का संकेत किस विशिष्ट परम्परा के लिए है—यह कहने की भी अपेक्षा नहीं हैं । क्योंकि सम्यग्दर्शन जैन योग तथा धर्म परम्परा का विशिष्ट व गूढ़ पद है ।

१. ("स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः") तथा २ "प्रमाणविपर्ययविकल्प निद्रास्मृतयः नाम") (ब्रह्म सूत्र भा. १,३३,३:२,४,१२) इनमें से एक तो पातंजल सूत्र २/४४ ही पूरा सूत्र है और दूसरा उसका अविकल सूत्र तो नहीं—परन्तु उससे मिलता जुलता सूत्र (प्रमाण विषर्ययनिद्रास्मृतयः—१/६) है । उपाध्याय अमरमुनि "योग शास्त्र—एक परिशीलन" में इस सम्बन्ध में कहते हैं—" परन्तु "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः"—इस सूत्र की मौलिकता एवं शब्द रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता

है कि आ. शंकर द्वारा अंतिम दो उल्लेख भी उसी योगशास्त्र के होने चाहिये जो दुभाग्य से आज अनुपलब्ध हैं।"

भर्तृ प्रपंच के उद्धरणों में जैन प्ररूपणाओं की निकटता

भर्तृ-प्रपंच के जो उद्धरण वृहदारण्यकोषनिषद् पर मिलते हैं— उनसे प्रकट होता है कि शांकर भाष्य से पूर्व ऐसे भी भाष्य थे जो जैन दर्शन की प्ररूपणाओं के अधिक निकट थे।

पातंजल योग दर्शन (श्री ओमानन्द स्वामी) में हिरण्यगर्भ प्रभु का उल्लेख

श्री ओमानन्द स्वामी का पातंजल योग दर्शन एक वृहत् ग्रन्थ है। वह विद्वज्जनों तथा योग साधकों में पर्याप्त रूप से प्रमाणिक तथा समादृत है। इस ग्रन्थ में भी योग के आदि वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ को ही स्वीकार किया गया है, तथा इसमें भी वे ही उद्धरण हैं—जो योगाचार्य श्री मौक्तिक नाथ नैरंजन महोदय द्वारा श्रुति व स्मृति के उद्धरणों को मान्य करते हुए प्रस्तुत किये गए हैं।— देखिये पातंजलि योग प्रदीप पांचवा संस्करण में (पृष्ठ–१५७–१५८)

सर्व षट् दर्शनों में पातंजल दर्शन प्राचीनतम

श्री नैरंजन महोदय ने पातंजल योग दर्शन को अन्य षट् दर्शनों से अधिक प्राचीन होना प्रकट किया है उसका ही सूक्ष्म रूप में दिग्दर्शन करा देना यहाँ पर्याप्त होगा।

उन्होंने कहा है कि सांख्य प्रतिपादित प्रकृति की विलक्षणता का ज्ञान सबको शिरोधार्य हुआ है। महाभारत में भी उसके विषय में कहा एया है—

"ज्ञानं व लोके यदिहास्तिकिंचित्।
सांख्यागतं तच्च वृहन्महात्मन्॥[1]

अर्थात् इस संसार में विभिन्न प्रकार के ज्ञान सांख्य से ही प्राप्त हुए हैं। पातंजल दर्शन में यह ज्ञान है, तथा अनेक सूत्रों की दोनों में ऐसी समता है कि गीता ने तो यह मान ही लिया "सांख्य योगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः।" (५/४)

"मगर पण्डित जनों ने यह खोज निकाला है कि पातंजल योग दर्शन सांख्य का ऋणी नहीं है, वस्तुतः पातंजल योग दर्शन ही सांख्य से बहुत प्राचीन है और इस प्राचीनता का पता उन्होंने स्वयं सांख्य सूत्रों से ढूंढ निकाला है।

---

[1] म, भा. शांति पर्व ३०१/१०९

"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्"[1]

यानी महर्षि कपिल कहते हैं कि हम वैशेषिकादि दर्शन शास्त्रों के समान "षट् पदार्थवादी" नहीं है। इससे पता चलता है कि कपिल सांख्य से तो कणाद्-वैशेषिक दर्शन प्राचीन है।

"तद्भावे संयोगाभावोऽ प्रादुर्भावश्च मोक्षः।"

"तद्भावात् सयोगाभावो हानम्तद् दृशैः कैवल्यं"

इन दोनों सूत्रों में भाव और वर्ण समता है। "आत्मकर्मसु मोक्षः व्याख्यातः" (कणाद ६/२/१६) में आत्मकर्मसु को चन्द्रकांत भाष्य में "यम–नियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः" कहा तथा "दृष्टादृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय" इस कणाद्-सूत्र की रचना "क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः" (पात. सूत्र. २/१२) के ही आधार पर है—इससे निर्णीत किया गया कि पातंजल सूत्र कणाद सूत्रों से भी पूर्व कालिक है।

महर्षि गौतम के न्याय-दर्शन में दुःख-निवृत्ति का उपाय—"तदर्थं यमनियमाभ्यामात्म-संस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः" लिखा, योग-साधनोपयोगी स्थान "अरण्य, गुहा, नदी-तट" आदि को बताया तथा समाधि साधना से ब्रह्म तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, यह बताने को "समाधि-विशेषाभ्यासात्" (४/२/३८) कहा। ये सब तथ्य सुस्पष्ट करते हैं कि गौतम दर्शन पातंजल दर्शन से अर्वाचीन ही है।

पूर्व–मीमांसा (जैमिनि प्रणीत) तो याज्ञिक कलाप को ही अष्टांगयोग का साधन बतलाती है।

वेदान्त ही अब रह जाता है, तो स्पष्टतः यह तो योग के बाद का ही है। यह तो वेद के भी बाद का है। "एतेन योगःप्रत्युक्ततः" (२/१/३) यह सूत्र योग की ही प्राचीनता को स्पष्ट करता है। वेदों को तो पराविद्या में स्थान ही नहीं दिया गया है। गीता में कहा है—"त्रैगुण्यविषया वेदाः।" मुण्डक (१३/५) में भी वेदादि को अपरा विद्या कहा है।

भक्ति-दर्शन से भी योग दर्शन प्राचीन है। लोक मान्य तिलक ने शाण्डिल्य-भक्ति दर्शन को गीता-रहस्य के परिशिष्ट में पातंजल सूत्र से प्राचीन कहा है। परन्तु महर्षि शाण्डिल्य को "हेयो रागत्वाद्" (१/१/२१) इस सूत्र की जो रचना करनी पड़ी है उन्हें वह "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः" (पातं. सू. २/३) के ही कारण करनी पड़ी। हॉलाकि उन्होंने अपनी भक्ति-मीमांसा का श्री गणेश "परानुरक्तिरीश्वरे" (१/१/१) कहकर किया था। पातंजल ने राग, रति के स्थान पर ईश्वर-प्रणिधान पूर्वक समाधि–सिद्धि कही। अतः पातंजल सूत्र का विकास शाण्डिल्य से भी पूर्व का है।

---

1. (सांख्य सूत्र१–, २५)
2. पात. सू. २/२५

1. कणाद् ५–२–८१

श्री नैरंजन महोदय ने स्पष्ट किया है कि योग द्वारा प्राप्त समाधि के सहस्त्रों लक्षण विद्यमान हैं–

"ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्" (मु.२–२–११)

यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में और ब्रह्म ही उत्तर में है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही श्रेष्ठ है।" यह परमानन्द समाधि ही है जो योग-साधनों से फलीभूत होती है।

"क्रियात्मक अष्टांग योग-साधना के बिना केवल वेदान्त-परिभाषा के अक्षरों में ब्रह्म कभी नहीं मिलेंगे।" योग-समाधि का वर्णन स्वयं शंकर ने किया है—

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥[1]

इस समाधि से समस्त वासना रूप ग्रन्थिका विनाश और अखिल कर्मों का नाश होकर भीतर बाहर सर्वत्र और सर्वदा विना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

निर्विकल्पक समाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥[2]

निर्विकल्प समाधि से निश्चय ही ब्रह्मतत्व का स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि अन्य अवस्थाओं में मनोवृत्ति के चंचल होने से वह ज्ञान अन्य प्रतीतियों से मिश्रित रहता है।

"एतेनयोगः प्रत्युक्तः" मात्र कह देने से योग-समाधि-भास्कर को प्रकाशमान करने वाला योग-दर्शन कहीं प्रत्युक्त हुआ है?

योग-उत्स-तप और अक्षर विद्या योग विज्ञान का आविर्भाव

भगवद् हिरण्यगर्भ द्वारा योग शासन के उत्स पर श्री नैरंजन महोदय ने मुण्डकोपनिषद् तथा श्री मद्भागवत के उद्धरण दिये हैं।

उन्होंने कहा है कि मुण्डकोषनिद् के प्रारम्भ में ही लिखा है—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संवभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

---

[1] विवेक चूडा. ३६४

[2] विवेक चूडा. ३६५

देवताओं में प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्व के कर्ता और भुवन के गोप्ता हैं। ठीक है, परन्तु जब विश्व की रचना की आवश्यकता पड़ी तो श्री हिरण्यगर्भ के पास विश्व-रचना-सामग्री तो थी ही नहीं अतः वे मन ही मन चिन्तन करने लगे।

स चिन्तयन्द्वयक्षरमेकदाम्भ,
स्युपाश्रुणोद् द्विर्गदितं वचोविभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं,
निष्किंचनानां नृप यद्धनं विदुः।।[1]

उन हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने सृष्टि-व्यवस्था पर चिंतन करते हुए एक दिन समाधि रूप प्रकृष्ट लीनता के महासागर के जल में दो अक्षरों वाले एक शब्द का दो बार उच्चारण सुना। उनमें से पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णों में पन्द्रहवां "त" था और दूसरा इक्कीसवां अर्थात् "प" था। (जिनको मिलाने से "तप" ऐसा शब्द बन जाता है) यही अक्षर रूप आविर्भूत तप अकिंचन पुरुषों का धन कहा गया है।

श्री नैरंजन महोदय ने मुंडक व भागवत् के आधार पर महाराज ऋषभदेव प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा तपोमय और अक्षर मय योग-विज्ञान के प्रादुर्भाव की महत्वपूर्ण घटना को स्पष्ट किया है।

चिन्तन करते-करते "पश्यन्ती वाणी" के स्तर पर जाकर प्रकाशमय अक्षरों के रूप में जो प्रादर्भूत हुआ वही भ. हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ द्वारा योग-विज्ञान के प्रथम उत्स का हेतु बना। यह उस आदि युग की बडी ऐतिहासिक महत्व की घटना थी। अध्यात्म क्षेत्र के लिए एक युगान्तरकारी घटना थी। ऐसे वाणी अथवा अक्षर के रूप में तपोमय हिरण्यगर्भ योग-विज्ञान का जन्म हुआ। यह ही अनन्तर की समस्त अध्यात्म-विद्याओं, परा-विद्याओं और धर्मसाधनाओं की मूल आधार बना। और उस प्रागेतिहासिक काल से लेकर अद्यावधि भी यही मूल आधार विद्या है। इस अक्षर, परा शब्द मय वाणी के आधार पर ही सारे विश्व में विभिन्न धर्मों की नींव रखी गई है और इमारतें खडी ही गई हैं। प्रकाशमय अक्षर जो पावन मंत्र बने, उनके द्दष्टा बन कर ऋषियों ने द्दष्टा ऋषि नाम पाये और बाद में उन्होंने इसी योग-विज्ञान के पावन वरदानों के रूप में वेद की पावन ऋचाओं को प्राप्त किया और इस प्रकार विश्व की वर्तमान में प्राचीनतम पुस्तक "वेदों" की रचना संभव हुई।

---

1. श्री मद् भा० २/९/६

निर्ग्रन्थ वातरशना (दिगम्बर) मुनियों की प्राचीन परम्परा

वैदिक परम्परा में ऋषि व जैन परम्परा में मुनि कहलाते थे। ऋषि गण प्रवृति-परम्परा संस्कृति के थे और गृहस्थ थे, तो मुनि मनन शील निवृत्ति परम्परा संस्कृतिक थे। कहा गया है—"ऋषयो मंत्र दृष्टारः ऋषयो गृहमेधिनः"। ऋषि परम्परा में कण्व भारद्वाज, वशिष्ट आदि हुए। इसी परम्परा ने पृथ्वी को सतरह बार क्षत्रिय हीन किया यानी क्षत्रिय परम्परा के जैन धर्म (आर्हत्, व्रात्य) और संस्कृति के मूलोच्छेद का अभियान चलाया। यह भी सुर—असुर संग्राम की शृंखला में हुआ था, तथा राम व रावण युद्ध भी इसी संदर्भ में हुआ। ऋषियों से मुनि परम्परा भिन्न थी। व्रात्य का अर्थ है, व्रतों के पालन करने वाले। अथर्ववेद में समूचा व्रात्य कांड आया है जिसके अनुसार ब्रह्मचारी, ब्राह्मण विशिष्ट, पुण्यशील विद्वान और विश्व सम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाते थे (अर्थववेद–१५–१–१–१ सायण भाष्य, ऋग्वेद १०,३१६,२१ में मुनियों तथा उनकी विशेष शाखा वातरशना (दिगम्बर) मुनियों का विवरण है। यास्क का भी कथन है—"व्रतिनो ब्राह्मणा मताः"। पउमचरिय ग्रन्थ (प्रथमशती) में कीर्ति धर विमल ने भी ब्राह्मणों को जैन बतलाया है—यह अब अलग बात है कि आधुनिक ब्राह्मण प्रायः व्रतों से रहित है। केवल दक्षिण में जैन ब्राह्मण ही वर्तमान हैं।

"मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्दिग्वासो अविक्षत॥"

महापुराण (२५/२०४) में व्रती ब्राह्मणों का उल्लेख है कि वे जिन मूर्तियों की उपासना व व्रतों का पालन किस-किस प्रकार करें वहां कहा है—

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरम्बरः।

ऋग्वेद रचना के काल में भी दिगम्बर मुनि परम्परा की प्रतिष्ठा देवता तुल्य थी और उनकी स्तुति व वंदना की जाती थी।

"उत्तर कालीन वैदिक परम्परा में वातरशना मुनि पूर्ववत् सम्मान पाते हुए उर्ध्व-रेता (ब्रह्मचारी) और श्रमण नामों से भी अभिहित होने लगे थे।

"वातरशनाहवा ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमंथिनो बभूवुः॥"[1]

डा. धर्मचंद ने प्रकट किया है कि समन्वय बुद्धि के परिणाम स्वरूप मुनि-वृत्तियों को अंगीकार कर वैदिक संप्रदाय में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार आश्रमों की व्यवस्था स्थापित

---

1. (तैतिरीय आरण्यक (१)२६,७)

CC0.In Public Domajn. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की गई और इस प्रकार ऋषियों और मुनियों में एकत्व स्थापित करने का प्रयास हुआ और वे परस्पर पर्याय बन गये।" (प्राग् ऐतिहासिक परम्परा) "वातरशना मुनियों को श्रमण व ऋषि कहा जाने लगा था।" तैतिरीय आरण्यक के सूत्र (१,२१,३) पर सायणाचार्य का भाष्य है—"केतु—अरुण—वातरशन शब्दा ऋषि संधाना—चक्षसे ते सर्वे ऋषि संघा समाहिता सो अप्रमत्ताः संत. उपदधतु।"

केतु अरूण व वातरशन उन ऋषि संघों के वाचक हैं जो चित्त को एकाग्र कर अप्रमत्त भाव को प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के गुरु आरुणि नामके प्राचीन ऋषि संप्रदाय के औपनिषदिक प्रति निधि हैं। यह तथ्य छान्दोग्य और वृहदारण्यक से प्रमाणित है कि अरूण और केतव ऋषि समुदायों का वातरशन श्रमण मुनियों के सिद्धांत से बडा साम्य है। यहां यह उल्लेखनीय है कि मुनियों के संघों की व्यवस्था और मुनि के एकाग्र ध्यान द्वारा अप्रमत्त आध्यात्मिक दशा—"गुण-स्थान" की प्राप्ति जैन मुनियों के आचार की विशेष साधनाए हैं।

कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार एतश और ऋष्यशृंग भी बातरशन मुनियों के नाम हैं। ऋग्वेद (८,१,११), ऐतरेय ब्राह्मण (८,१) में कवस ऐलक मुनि का उल्लेख है कि जिन्हें अब्राह्मण कह कर यज्ञ में भाग लेने से रोक दिया गया था। तांडव ब्राह्मण में तुरोदेव मुनि का और शतपथ में तुर-कावषेय मुनि का उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य में कावषेय मुनि का उल्लेख है जो यज्ञ और वेदाध्ययन विरीधी थे। इस प्रकार उत्तर कालीन वैदिक साहित्य में बातरशन मुनि परम्परा के अनेक उल्लेख हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ऋषि-मुनि समन्वय के पश्चात् भी उनमें परस्पर विरोध या संघर्ष के अवसर आ जाते थे।

बातरशना मुनियों की परम्परा वेदों से लगा कर पुराणों के रचना काल तक प्रबलता से चलती रही। ऋग्वेद दशम मंडल के अ. ७ व २४/२ अनुवाक् ११सूक्त १३६/१ में प्रकाश मय सूर्य अग्नि तथा ज्ञान रश्मियों मय जटा धारी को केशी कहा गया है।

"केश्यग्निं केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर्संदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते"।

भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ व उनकी मूलधारा के मुनिजन निर्ग्रन्थ रहे। इस परम्परा में बहुत काल तक ग्रंथों का निर्माण ही नहीं किया गया। विज्ञान श्रुति परम्परा से अथवा कण्ठाग्र ही चलता चला आता रहा। युग बीतते चले गये। वेदों ने श्रुति का स्वरूप लिया मगर जैन श्रुतज्ञान ग्रन्थ-रचना की प्रतीक्षा में बहुत कुछ धूमिल तथा नष्ट भी हो गया।

जैन वैदिक संस्कृति की शाखा—यह नितांत भ्रमपूर्ण

प्राचीनता के इस विवेचन से श्री लक्ष्मण जोशी का "वैदिक संस्कृति का विलास" पुस्तक में यह कथन कि जैन वैदिक संस्कृति की शाखा है स्वतः असिद्ध हो जाता हैं। श्री जोशी ने अपने निष्कर्ष

का हेतु इस तरह प्रकट किया है कि जैनों और बौद्धों की तीन अंतिम कल्पनाएं कर्म-विपाक, संसार का बंधन, और मोक्ष या मुक्ति अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं ।

श्री जोशी के उक्त निष्कर्ष का निराकरण तो इसी से ही हो जाता है कि योग और विद्या के रूप में जैन धर्म वेदों के पूर्व ही परपक्व हो चुका था । श्री देवेन्द्र मुनि ने जोशी के उक्त मत पर इस प्रकार विचार प्रकट किया है—"जोशी महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओं कर्म विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है—वास्तव में वे मुख्यतः अवैदिक हैं ।

"वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है और इनको जाने बिना कर्म विपाक और बंधन की कल्पना का भी प्रश्न नहीं है । ए, ए, मैकडोगेल का स्पष्ट मंतव्य है कि पुर्नजन्म के सिद्धांत का वेदों में कोई संकेत नहीं मिलता है, किंतु एक ब्राह्मण में मात्र यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते, मृत्यु के वाद पुनः जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं ।

"वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व हैं यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था । इन तीनों का ही विरोध श्रमण-संस्कृति की जैन और बौद्ध दोनों धाराओं ने किया है । अतः जोशी का मंतव्य आधार रहित है । यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं हे । वहाँ वैदिक धर्म और संस्कृति से हमारा मंतव्य याज्ञिक वैदिक धर्म और संस्कृति से है, उस धर्म और संस्कृति से नहीं जो वेद पूर्व है और जिनके संकेत वेद और उपनिषद में हैं । उस वेद पूर्व धर्म व संस्कृति का ही वर्तमान जैन धर्म प्रतिनिधित्व (Represent) करता है ।"

सतयुग के प्रथम स्वायंभुव मनु से ऋषभदेव पांच पीढी में

"भारतीय संस्कृति का इतिहास" में आ श्री चतुरसेन शास्त्री ने कहा है कि पुराणों में सतयुग, त्रेता, तथा द्वापर को त्रियुगी कहा है तथा वास्तव में स्वायंभुव मनु की ४५ पीढियों का भोग–काल ही सतयुग है । पार्जिटर ने मनु वैवस्वत से राम तक की वंशावलियों पर प्रकाश डाला मगर स्वायंभुव मनु के वंश की न तो आधुनिक भारतीय विद्वानों ने न पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तार में चर्चा की है । उन्होंने आगे कहा कि "पुराणों में १४ मनु वर्णित हैं—स्वायंभुव मनु इनमें सर्वप्रथम हैं । इन स्वायंभुव मनु के प्रियव्रत् तथा उत्तानपाद पुत्र हुए । प्रियव्रत के अग्नीध्र हुए तथा अग्नीध्र के नाभि हुए और नाभि के ऋषभदेव हुए । यानी यह ऋषभदेव मनु से पांचवें हुए ।"

प्रियव्रत शाखा का वर्णन करते हुए श्री चतुरसेन लिखते हैं—

"स्वायंभुव की पत्नी शतरूपा थी । प्रियव्रत ने पृथ्वी के भाग किये और देशों के नाम रखें । पहले पर्शियन राज्य के ४ खण्ड थे—सुग्द (Sugd), मरू (मर्व), हरिपुर और निशा । कुछ काल बाद

हरितपुर हिरात और काक्रित (क़ाबुल) को भी मिलाकर साम्राज्य संगठित किया, जो पूर्वी साम्राज्य और पश्चिमी साम्राज्य के नाम से विख्यात हुआ । दारा ने साम्राज्य के इन दोनों प्रान्तों को तेरह भागों में विभक्त किया जिन्हें शतृप (Satripes) कहते है । शतृप शतरूपा के पुत्र होने से उनका नाम पड़ा क्योंकि उसकाल में मातृगौत्र प्रचलित था । प्रियव्रत ने जम्बू-द्वीप अपने पुत्र अग्नीध्र को दिया, जिसने उसके नौ खण्ड करके अपने नौ पुत्रों को बाट दिया ।

"प्रियव्रत के पुत्र अग्नीन्ध्र ने अपने पुत्र नाभि को हिमवर्ष (हिमालय से अरब सागर तक का देश) दिया, हरिवर्ष (रूसी तुर्किस्तान), इलावर्त को इलावर्ष (पामीर), रम्यक को चीनी तातार, हिरण्यमय को मंगोलिया, उरू को कुरूवर्ष (साइबेरिया), किम्पुरुष को उत्तरी चीन, भद्राश्व को दक्षिणी चीन और केतुमान को रूसी तुर्किस्तान दिया ।

भगवान् श्री ऋषभदेव तथा भरत के संबंध में फिर श्री चतुरसेन ने लिखा है—

"महाराज नाभि भारत के प्रजापति हुए । इनके पुत्र ऋषभदेव महात्यागी और ज्ञानी हुए । जैन इन्हें आदि तीर्थंकर मानते हैं । ऋषभदेव के पुत्र भरत हुए, जो जड़ भरत या मनु भरत कहलाते हैं । इन्हीं के नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । वे महाज्ञानी और प्रतापी थे । इन्होंने आठ द्वीपों पर अधिकार रखा । ये द्वीप समुद्र द्वारा पृथक थे । प्रियव्रत शाखा के ये दो प्रधान पुरुष हैं । इन्होंने अपने राज्य को नौ खण्डों में बांटा तभी से भरतों को सप्त द्वीप और नौ खण्डों का स्वामी माना गया ।"

श्री चतुरसेन ने आगे स्पष्ट किया कि इस वंश में चार मनु हुए—(१) स्वारोचिष (२) उत्तम (३) तामस और (४) रैवत । इनमें स्वारोचिष मन्वन्तर के किसी पुरुष का नाम वेदों में नहीं है अतः यह युग वेद-पूर्व युग है । विष्णु-पुराण में स्वारोचिष का पुत्र चैत्रकी बताया गया है । इन चार मनुओं के वंश में ३५ पीढ़ी सत्ता रही—और फिर स्वायंभुव के पुत्र उत्तानपाद की शाखा में चाक्षुष मनु हुए और ३६वें प्रजापति बने । विवस्वान के पुत्र वैवस्वत सातवें मनु हुए । इनका नया वंश चला । इनसे पूर्व ६ मनु स्वायंभुव वंश में थे । वैवस्वत मनु के काल में त्रेता युग आरम्भ हुआ । महाराज इक्ष्वाकु इन वैवस्वत के नौ वंशकर पुत्रों में ज्येष्ठ हुए और वे सूर्यवंश की मुख्य राजधानी अध्योध्या में उत्तर कोशल देश के राजा हुए–इनके कुल में मनु से ३९वीं पीढ़ी में राम का जन्म हुआ ।"

सिंधु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतों की समकालीनता

सिंधु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतों की समकालीनता बताते हुए आचार्य चतुरसेन का वक्तव्य है—

"मोहनजोदडों और हडप्पा की सिंधुघाटी की सभ्यता को पुरातत्वविद ई. पू. ३२५० की मानते हैं। लगभग यह ही काल मनुर्भरतों की सभ्यता का है।"

भगवान् ऋषभदेव को श्रीमद्-भागवद् में "हरि" कहा है—"ऋषभो हरिः" (४/३/३४) तथा इनके ही वंश को हरिवंश नाम से प्रसिद्ध किया है। हरपू, हरितपुर हिरात आदि नाम हरि शब्द से ही सम्बन्धित हैं तथा हड़प्पा शब्द भी "हरि" से ही उद्भूत है। ये भी प्रबल कारण है, जिनसे हड़प्पा संस्कृति को मनुर्भरतों यानी ऋषभदेव के वंश से संबन्धित मानी जाय। हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्यानस्थ मूर्तियां भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं।

प्राचीन अयोध्या वेद वर्णित

उत्तरकोशल की राजधानी अयोध्या सरयू-तट पर राम की जन्म-भूमि है। यही वर्तमान अयोध्या है। जैन पुराण अयोध्या को इन्द्र द्वारा बसायी हुई मानते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र को मुनियों का सखा कहा हैं—"इन्द्रो मुनीनां सखा" (८/१७/१४)। इन्द्र द्वारा बसाई हुई अयोध्या ही महाराज ऋषभदेव तथा उनके वंशज मनुर्भरतों से संबंधित है। वर्तमान अयोध्या नगरी जो सरयू-तट पर है, वह प्राचीन अयोध्या नहीं है - ऐसा वहाँ पर की गई खुदाईयों के आधार पर पुरातत्वविदों का निष्कर्ष है। अतः मूल व प्राचीन अयोध्या ही हड़प्पा संस्कृति से संबन्धित रही होगी और यह अयोध्या सरयू के किनारे न होकर सिंधु घाटी में ही कहीं होनी चाहिये। हड़प्पा संस्कृति के नष्ट होने के साथ ही संभवतया मूल अयोध्या भी छिन्न भिन्न हो गई और फिर उसी नाम पर नई अयोध्या सरयू-तट पर कभी बसी होनी चाहिये। वेदों में जिस अयोध्या का विशद वर्णन है, वह प्राचीन अयोध्या ही है। ऋग्वेद में भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभदेव को ही "सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" (१०/९०/१) कहा है तथा अर्थर्ववेद में "सहस्त्रवाहुः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" (१९/१/६) कहा है। इनके ही संबंध में पुरुष-सूक्त व हिरण्यगर्भ सूक्तों की भी रखना हुई है। अतः वेद वर्णित अयोध्या इनसे ही संबन्धित है। "अथर्ववेद की गणना वेदों में यद्यपि वहुत उत्तर काल में हुई है परन्तु अथर्ववेद की कुछ ऋचाएं ऋक् के समान ही प्राचीन है—" (चतुरसेन शास्त्री-भारतीय संस्कृति का इतिहास—पृ-२७४)

अर्थर्ववेद के १७वें मंडल के दूसरे सूक्त के पांच मंत्रो में अयोध्या का वर्णन आता है—

पुरो यो ब्रह्मणो वेदा यस्याः पुरुष उच्यते ।
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या तस्या हिरण्मयः स्वर्णोज्योतिषानवृतः ।।

अर्थात् जो कोई उस पुर को जानता है जिसका स्वामी "पुरुप" कहा जता है। अयोध्या नगर जिसमें आठ चक्र है और नौ द्वार हैं। इसमें सुन्दर प्रकाश-पुंज से आच्छादित स्वर्ण-मंडप है। ऐसी यह वेद वर्णित अयोध्या थी। इसका हम आगे और भी विशद वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

श्रीमद् भागवत् में नाभि राजा और श्री ऋषभदेव

महर्षि शुकदेव ने भागवत में कहा है कि महाराज नाभिराजा ने धर्म मर्यादा के रक्षणार्थ अपने पुत्र वृषभदेव का राज्याभिषेक करके विशाला–बदरिकाश्रम में प्रसन्न मन से (चिर-उपास्य) तीव्र (घोर) तप करते हुए यथावत् समाधियोग द्वारा महिमा रूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त किया—(५/४/५)

विष्णुपुराण में भी ऐसा विवरण आया है—

हिमाह्वं तु वैवर्ष नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवन्पुत्रो मरुदेव्यां महद्युतिः ।।[1]

हिम-वर्ष नाभि महाराज का था और नाभि की रानी मरूदेवी से ऋषभनाम पुत्र महाद्युतिमान् हुए ।

श्री मद् भागवत में भगवान् ऋषभदेव की इस प्रकार स्तुति हुई है—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीनामृषभः प्रसीदताम् ।

पुराकाल में जिन्होंने अक्षर विद्या-सरस्वती को वाणी, (भाषा और लीपि) से प्रवर्तित किया, जिन्होंने अजन्मा आतमा के सत्-स्वरूप की उस स्मृति को हृदय में विस्तारित किया—जो निश्चय ही स्व लक्षण और अनुपम भी इसी कारण थी—वे ऋषियों के उपास्य ऋषभ मेरे लिए प्रसन्न हों ।

तीर्थंकरों की विष्णु के अवतार रूप में मान्यता और वर्णन

वैदिक पुराणों में ऋषभनाथ को विष्णु भागवान् के अवतार के रूप में माना और कहागया । (भागवत् पुराण ५/३/२०)। ये ही ऋषभनाथ जैनों के प्रथम मन्वन्तर हुए । द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तर में हुए । वे भी विष्णु के अंशावतार कहे गये है (विष्णु पुराण २/२/३५/३७)—अर्थात् सभी मन्वन्तारों में देव रूप में स्थित भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्व प्रधान शक्ति ही संसार की स्थिति में अधिष्ठात्री होती है । पांचवे रैवत मन्वन्तर में वही विष्णु शक्ति

---

[1] (२/१/२७)

के अंशुभूत मानस देव संभूति के उदर से उत्पन्न हुए तो तीसरे संभवनाथ का स्मरण कराते हैं। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वारोचिष, उत्तम, तापस और रैवत—ये चार मनु प्रियव्रत के ही वंशज माने गये है—(विष्णु पुराण—३/१/२४)।

भारतीय इतिहास का प्रथम अध्याय जैन धर्म के इतिहास का आदि पर्व

"इस प्रकार वैदिक परम्परागत प्राचीन पुराणों में निर्विरोध रूप से स्वीकृत यह वृतांत वस्तुतः भारतवर्ष के ज्ञात राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास का प्रथम अध्याय है और यही जैन धर्म के इतिहास का भी आदि पर्व है। आश्चर्य है आधुनिक इतिहासज्ञों ने इस सामग्री का समुचित उपयोग नहीं किया। वे सातवें मनु वैवस्वत के काल से प्रारम्भ राजवंशों का वर्णन करते हैं और इस सर्व प्रथम स्वायंभुव मनवन्तर की उपेक्षा। यदि कहीं उल्लेख भी है तो उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत की वंश परम्परा को छोड़कर कनिष्ठ पुत्र उत्तानपाद के वंश का ही विवरण देते हैं। इस तरह जम्बू द्वीप और भारतवर्ष का गौरवशाली चित्र उपेक्षित और अजाना बना रहा है" (प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा—पृ. २७–२८)।

"हडप्पा संस्कृति असुरों की मानी जाती है। सिंधु देश के असुर नरेश मावयव्य के पुत्र स्वतप के लिए कक्षीवान ऋषि ने हिंसा विरहित एक सहस्त्र सोम-यज्ञ किये थे—(ऋ. १, १२६)। ऋग्वेद में यह भी उल्लेख है कि असुर शिश्नदेव (नग्नदेवता) के उपासक थे और हिंसात्मक यज्ञों में विघ्न डालते थे। (७,२१,४–५)।

"सिन्धु संस्कृति का विस्तार नर्मदाघाटी और उसके परिधि क्षेत्र में फैला था। शिवोपासना की दृष्टि से नर्मदा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस नदी का नाम पुराणों में "शिव-देहा" भी पाया गया है। पुराणों के अनुसार इस नदी का निर्माण ही शिव के अंग से हुआ है। कृतयुग में हुए मान्धाता सम्राट के नाम का तीर्थ ओंकार मान्धाता नर्मदा तट पर अब भी वर्तमान है। उसी के समीप नर्मदा से घिरा हुआ जैन तीर्थ सिद्धवरकूट है। हैहयवंशी महिष्मान नरेश द्वारा स्थापित महिष्मती आज भी महेश्वर नामक तीर्थ के रूप में विद्यमान है जो कृतवीर्य सहस्त्रार्जुन की राजधानी रह चुकी है। निर्वाण कांड गाथा के अनुसार इन्द्रजीत, कुंभकर्ण, तथा रावण के अन्य सम्राट पुर्वज इसी रेवा तट पर तपस्या करके मोक्ष गामी हुए हैं और इसी से सिद्धवर-कूट बड़वानी आदि स्थान तीर्थ माने जाते हैं। इस प्रकार नर्मदा तट पर असुरों का सद्भाव, उनमें ऋषभ द्वारा जैन धर्म का विस्तार तथा उनसे सुरो का संग्राम प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण अध्याय हैं"—(प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा—पृ. २५)

प्रागैतिहासिक काल में वह जो प्रस्तर युग का अन्त तथा कृषि–युग के प्रादुर्भाव का काल था उसमें भ. ऋषभ ने ही अपने हिरण्यमय नाभि-कमल स्वर्ण-कमल में "ज्ञान" का उद्भव किया था अतः हिरण्यगर्भ नाम भी पाया, वे महान् द्युतिमान भी कहे गये। उनके गर्भकाल में जैन जन-श्रुति के

अनुसार छः माह तक हिरण्य (स्वर्ण) की वर्षा अयोध्या में होती रही—अतः ही उन्होंने हिरण्यगर्भ नाम को भी प्राप्त किया।

जैन वाङ्मय में भ. हिरण्यगर्भ की स्तुति और अन्य स्तोत्र

भगवान् ऋषभदेव की जैन वाङ्मय में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र द्वारा हिरण्यगर्भ के रूप में इस प्रकार स्तुति की गई है—

"हिरण्य नाभिर्भूतात्मा, भूतभृद् भूतभावनः।
प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवंतकः ।।(११७)

हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोद्भवः।
स्वयं प्रभुः सार्वः सर्वजः सर्वदर्शनः ।।(११७)

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः।
सुवर्णवर्णो रूक्माभः सूर्य कोटिसमप्रभः ।।(१६७)

चराचर गुरुः गोप्योगूढात्मा गूढ़गोचरः।
सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलन सप्रभः ।।(१६६)

तथा—

वृहद्वृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरूदारधीः ।
मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरांपतिः ।।(१७६)

युगादिपुरुषो ब्रह्म पंचब्रह्ममयः शिवः।
परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ।।(१०५)

ज्ञान गर्भोदयागर्भो रत्नगर्भो प्रभास्वरः।
पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ।।(१८१)

और

सहस्त्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
भूत भव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ।।(१२१)[1]

---

1. (महापुराण प्रवंध—आ. श्री जिनसेन):

भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभदेव की इन्द्र ने १००८ नामों से स्तुति की और यह स्तुति ही जिन सहस्त्र नाम से अद्यावधि जैनो में प्रसिद्ध व प्रचलित है। आ. श्री समन्तभद्र ने इन हिरण्यगर्भ प्रभु की स्वयंभू स्तोत्र की रचना करके स्तुति की है जिसे हम इस ग्रन्थ भाग के मंगलाचरण के रूप में सार्थ दे चुके हैं।

अन्य अन्य स्तुतियां—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्।
आदित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्॥[1]

आदित्य के समान सर्वदा प्रकाश को सर्वतः सर्वत्र विस्तारित करने वाले वे केवलज्ञान-भास्कर ही है। वे ही परम पुरुष हैं। यजुर्वेद पुरुष-सूक्त इनके लिए ही प्रस्तुत हुआ है।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्।"

योगीजन इनकी ही उपासना करके अपने अन्तराकाश के सूर्य में उनही परम पुरुष का हिरण्यमय रूप में दर्शन करते हैं। छान्दोग्योपनिषद ने गाया—

"अथ य एष अन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते।(१–६–६)
"अथ य एषोऽन्तरक्षीणि पुरुषो दृश्यते।(१–७–५)

और भगवद्गीता में भी कहा—

"सर्वस्य धातारम चिन्त्यरूपम्, आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्॥"(८/६)

अन्यत्र भी एक स्तुति में कहा है—

"प्रातः नमामि तमसः परमर्कवर्णम्।

ऐतिहासिक तथ्य को उद्घाटित करने वाले पुरातत्व, भाषा-विज्ञान, साहित्य और नृतत्व विज्ञान से अब यह स्पष्ट हो गया है कि क्रिया काण्डी याज्ञिक वैदिक संस्कृति से पूर्व भारत में अन्य समृद्ध अध्यात्मिक अहिंसक संस्कृति थी।

प्रागैतिहासिक तथा प्राग-वैदिक संस्कृति

सिन्धु घाटी के उत्खनन में जिस संस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे समक्ष आया है—वह निश्चितः प्राग्वैदिक है। यह सिन्धु घाटी सभ्यता द्रविड और विद्याधर जाति से संबंधित थी। यह जाति

---

1. (आदिनाथ स्तोत्र–आ. श्रीमानतुंग)

ऋषभ को पूज्य मानती थी, जो भ. ऋषभदेव हिरण्यगर्भ तीर्थंकर का चिन्ह था। लोहानीपुर एवं हड़प्पा से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित मूर्ति भ. ऋषभदेव की है क्योंकि उसकी ध्यानाकृति, भाव तथा मुद्रा भगवान् ऋषभदेव की जैन मूर्तियों से शत प्रतिशत समानता रखती है। रामचन्द्रन तथा डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल जैसे पुरातत्व वेत्ताग्रों ने उस मूर्ति को जैन तीर्थंकर मूर्ति माना है। इसी संबंध में ऋषभ चित्र से ग्रंकित कुछ मुद्राग्रों की उपलब्धि भी महत्वपूर्ण है।

प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा को ग्रौर सूक्ष्मता से ग्रध्ययन में जिनकी रूचि हो—उन्हें "प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा" नाम की पुस्तिका का ग्रवश्य ग्रवलोकन कर लेना चाहिए। इसमें डा. धर्मचन्द्र एम. ए. पी. एच. डी. ने जैन धर्म के उद्गम ग्रौर विकास का गवेषणा पूर्ण विस्तार प्रस्तुत किया है। यह रचना जैन धर्म ग्रौर दर्शन के ग्रनन्य विद्वान स्व. डा. हीरालाल जैन की "Jainism Throughthe Ages" कृति की पांडुलिपि का संक्षिप्त संस्करण है।

शिव ऋषभदेव ग्रादिनाथ की समानताएं ग्रौर मान्यता

शिव की मान्यता वैदिक नहीं है, वह प्राग् ऐतिहासिक देव रहे हैं। दिगम्बर स्वरूप तथा जटाजूट ग्रादि नाना सादृश्यता के कारण ऋषभदेव ग्रौर शिव की एकाकारता पर विद्वानों का ध्यान गया है। ऐसा लगता है कि संस्कृतियों के एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् देश में समन्वय की भी प्रवृत्ति ग्राई होगी। ग्रौर उसी में शैव सम्प्रदाय ग्रलग व्यवस्थित किया गया होगा। शैवों में यति पशु ग्रौर पाश तीन मूल चीजें है—तो जैनों में देव शास्त्र गुरु तीन मूल बाते हैं। प्राचीन पाशुपतों में ग्रहिंसा ब्रह्मचर्य, सत्य, ग्रसम व्यवहार, ग्राहार-लाघव, ग्रौर ग्रप्रमाद पांच मूल धर्म तत्त्व है, ग्रौर जीव रक्षा के विचार से ग्रग्नि जलाने का भी निषेध किया ग्रौर वस्त्र से पानी छान कर उपयोग करने को कहा, वनस्पतियों में वनस्पति की जड कंदमूल ग्रौर पके बीजों के खाने का निषेध किया। डा० धर्मचन्द ने "जैन धर्म ग्रौर प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा" में रूद्र के द्विरूप केशी व रूद्र के शांत ग्रौर उग्र के समन्वय का विवेचन किया है। उसमें उन्होंने शिव पूजा की वैदिक यज्ञ से भिन्नता को प्रकट करते हुए जैन पूजा से समानता बता कर कहा है कि पूजा शब्द स्वयं द्रविड भाषा का शब्द है।

डा० धर्मचन्द ने—शिव ग्रौर वृषभ विषयक ग्रनेक समानताग्रों पर लक्ष्य कराया है ग्रौर कई सुर्खियों में ग्रपने मंतव्यों को स्पष्ट किया है यथा—(१) शिवरात्रि ग्रौर शिव तत्त्व की प्राप्ति (२) काम दहन ग्रौर विवाह (३) महोषधिदान (४) दो पत्नियों ग्रौर ज्येष्ठ पत्नी से सौ पुत्र (५) वैराग्य, वनगमन ग्रौर ध्यान (६) शिव ग्रौर वृषभ के गण ग्रौर गणधर (७) शैव ग्रौर जैन शासन देवता (८) शैव ग्रौर जैन गुफाएं ग्रौर मन्दिर (९) शिव ग्रौर वृषभ पराम्पराग्रों में क्षेत्रपाल का स्थान (१०) त्रिशूल ग्रौर त्रिरत्न (११) ललित कलाएँ ग्रौर श्मशान वास (१२) ग्रागम ग्रौर निगम का भेद इस प्रकार शिव रूप वृषभ की समानता, प्राचीनता ग्रौर प्राचीन रूप का उल्लेख किया है। डा. धर्मचन्द ने जो तथ्य प्रकट किये हैं—उनके ग्रतिरिक्त हम यह भी कहना चाहते हैं कि जैन निर्वाण एवं सिद्ध क्षेत्रों की पूजा करते

हैं जिनमें भ. ऋषभदेव से सम्बन्धित कैलाश गिरि निर्वाण स्थल भी है और शैवों में वही शिव का स्थान है—उस कैलाश गिरि को ही वस्तुतः शैव शिव-पिंड या शिव लिंग स्थापित करके पूजते हैं। लिंग का पार्वतीय भाषा में प्रदेश अर्थ है। यथा दार्जिलिंग—यानीविद्युत् का प्रदेश वैसे ही शिव लिंग का अर्थ होता है,—शिव का स्थान या प्रदेश। कैलाश गिरि की ही प्रतिकृति शैवों का शिव-पिंड है, और मान सरोवर की प्रतिकृति जलहरि है। बाद के कापालिकों ने शिव पिंड और जलहरि को शिश्न और योनि रूप में अवधारणा करके उनके मूल स्वरूप को ही धूमिल-विकृत और भ्रष्ट कर दिया।

भ० पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के इतिहास पुरुष होने के कुछ साक्ष्य

जैन धर्म की प्राचीनता के विवेचन पर अन्य महत्वपूर्ण पुस्तिका है—Jainism The oldest Living Religion जो डा० ज्योति प्रसाद जैन एम. ए. एल. बी. की कृति है। इसमें भ० पार्श्वनाथ और नेमिनाथ अरिष्टनेमी पर आधिकारिक विद्वानों के खोजपूर्ण निष्कर्षों उद्धरणों सहित विचार तथा तथ्य प्रकट किये गये हैं। भ० पार्श्वनाथ के काश्यप वंश का उल्लेख तथा नेमिनाथ की रैवत गिरि पर मूर्ति को ११४० ई० पू० का दान ताम्र पत्र का उल्लेख ये दो उल्लेख विशेष दृष्टव्य हैं।

"श्री ऋषभ देव व माता मरुदेवी के स्वप्न,—एक शोध संदर्भ"—में श्री ज्ञान स्वरूप गुप्ता ने राष्ट्रदूत १ नवम्बर, ८१ व ८ नव० ८१ में माता मरुदेवी के स्वप्न चित्र–हाथी, वृषभ, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कलश-स्नान करती लक्ष्मी, दो मछलियां, कमल सरसित सरोवर, घट, सिंहासन, समुद्र, आकाश में देव विमान, नागराज (धरणेन्द्र) का महल, रत्न-राशि, निर्धूम अग्नि पर विवेचना प्रकट करते हुए—इनके सम्बन्ध को सिन्धु घाटी की लिपि से जोड़ते हुए बड़े मनोरंजक तथा महत्वपूर्ण संकेत प्रकट किये हैं। उन्होंने अपने लेख को इस तरह आरम्भ किया है—

"श्री भगवान् ऋषभ देव भगवान विष्णु के पांचवें परन्तु प्रथम मानव अवतार व जैन मत के अनुसार विश्व के प्रथम सम्राट व प्रथम तीर्थंकर थे। भगवान् ऋषभ देव के जन्म के पूर्व जैन मत के अनुसार उनकी माता पूजनीय मरूदेवी को सोलह स्वप्न दिखाई दिये थे व इन सोलह स्वप्नों में सोलह ही विभिन्न चीजें दिखाई दी थी। विद्वानों ने इन सोलह का समग्र समय पर विवेचन किया है परन्तु इन विवेचनों का अध्ययन करने से यही प्रकट होता है कि उनके अनुसार इनका आपस में सम्बन्ध नहीं है। परन्तु सोलह चित्रों का एक साथ प्राचीन गाथा में आना कोतूहल की वस्तु है, व यह भी प्रकट करता है कि यह सभी आपस में सम्बन्धित हैं, व सम्भव है कि यह किसी प्राचीन चित्र लिपि के अंश होंगे जिसे समय के बहुत अन्तराल के कारण हम भूल गये। प्राचीन चित्रलिपि या भारत की प्राचीनतम लिपि सिंधु घाटी सभ्यता की लिपि के अनुसार इनका नवीन रूप में अध्ययन करना उपयुक्त होगा। सम्भव है कि हम इस प्रकार इनका संदेश भी प्राप्त कर लें व यह भी सम्भव है

कि भगवान् ऋषभ देव के बारे में उपलब्ध तथ्यों की पुष्टि भी हो व कुछ नवीन तथ्य भी सामने आएं।"

अपने विवेचन को आगे करते हुए उन्होंने आगे लिखा—भगवान् ऋषभ देव के लिये कहा जाता है कि वे सभ्यता के आदि काल में हुए थे व उनसे ही सभ्यता प्रारम्भ हुई थी। क्योंकि विश्व की प्राचीनतम सभ्यता भारत की सिन्धु घाटी सभ्यता ही है। अतः उनका चित्र भी उसी सभ्यता से प्राप्त अवशेषों में देखना होगा, व यह भी देखना कि क्या उपर्युक्त सोलह चित्रोंमें सिन्धु घाटी की लिपि के वर्णाक्षर हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता से केवल एक ही मुद्रा पर एक देवी पुरुष का चित्र प्राप्त हुआ है। यह मुद्रा मोहन जोदडों से प्राप्त मुद्रा संख्या ४२० है (फरदर एक्सकवेशन एट मोहन जोदडो-मैंके) इसमें पद्मासन मुद्रा में आसन पर एक दिगम्बर मूर्ति अंकित की गई है जिसके मुख को बैल का मुख का रूप दिया है व सिर पर एक मुकुट है जिसमें सींग है। यद्यपि मुद्रा छोटी है व एक तरफ से खण्डित है परन्तु आभास देती है कि इसके चारों दिशाओं में चार मुख हो सकते हैं। इसे घेर-कर चार जानवर बैठे हैं। हाथी, सिंह, गैंडा व भैंसा। इसके आसन के नीचे दो छोटे जन्तु भी हैं जो या तो हिरण हैं या बकरे, जो आमने सामने पीछे की तरफ देखते हुए इस प्रकार खड़े हैं कि उनके सींग एक दूसरे की तरफ हो गये हैं। मुद्रा में दिखाये गये दो जानवर व ऋषभदेव सोलह स्वप्नों के प्रथम तीन स्वप्नों में दिव्य चित्रित हैं। अतः यह देखना उचित होगा कि यह सोलह स्वप्न इसी मुद्रा पर चित्रित देवी पुरुष का ही वर्णन कर रहे हैं व सिन्धु घाटी की लिपि के ही अक्षर हों। इसका अध्ययन करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि उपर्युक्त सोलह स्वप्नों में कौन से चित्र सिंधुघाटी की लिपि से मिलते जुलते हैं—उनका क्या अर्थ हो सकता है।

आगे उन्होंने सिंधु घाटी की लिपि के समझने के लिए पांच आधार निश्चित कर अपनी गवेषणा से यह निर्णीत किया, (यहां हम उनके पूरे अध्ययन व गवेषणा को न देकर मात्र उनके निष्कर्ष ही देते हैं)—सिंधु घाटी के केवल दो शब्द ही हमें मालुम हैं—मजन व मल जो दो नगरों के नाम हैं जिनका संदर्भ सुमेरु सभ्यता से प्राप्त लेखों से मिला है व कदाचित् यह वे नगर हैं जो मोहन जोदडों व हडप्पा कहलाते हैं। उपरोक्त स्वप्नों में एक स्वप्न है दो मालायें यानी माल्यः (माला का संस्कृत में द्विवचन) जो मल उच्चारण से मिलता जुलता है। अतः यह सम्भव है कि दो मालाओं का अभिप्राय 'मलः' नगर से है। एक स्वप्न है चन्द्रमा। हडप्पा से प्राप्त मुद्रा सं० ३०८ में चित्र में तलवार को नव चन्द्रमा के बिल्कुल समान आकृति का बनाया है। अतः इसका अर्थ चन्द्रमा, खडग्, खग (गैंडा)—क्योंकि वैदिक संस्कृति में गैंडें को खंग कहा है। तथा खग (पक्षी) हो सकते हैं। इस प्रकार श्री गुप्ता महोदय ने सात स्वप्नों के अर्थ करके प्रकट किया कि सात स्वप्न—माला, चन्द्रमा, सिंहासन, कमल, सरोवर, दो मछलियां, महिष (भैंसा), गज, लक्ष्मी, भ० ऋषभ देव को पद्मासन मुद्रा में बैठे हुए का पूर्ण विवरण देते हैं। बाकी बचे हुए स्वप्नों के लिए भी प्रकट किया कि ये भी उन्हीं के बारे में सूचना देते होंगे। सूर्य गोल घेरे के रूप में है, छोटा वृत्त है, चार पशु उन्हें घेर कर बैठे है—यह वृत्त सूर्य वंश का जिसमें ऋषभदेव हुए थे सूचक हो सकता है। दो मालाओं का अर्थ सिंधु सभ्यता के नगर मलः से है व दो

मछलियों का अर्थ शासक या आराध्य पुरुष है। इन दोनों का अर्थ है—भगवान् ऋषभदेव मलः नगर के आराध्य पुरुष हैं। इसके वाद कलश स्वप्न है—वह घी (मक्खन) भरा वर्णित हुआ हो तो अर्थ होगा मखन व मल के सम्राट व आराध्य पुरुष अथवा खाली पात्र हो तो अभिप्राय पुत्र लेना होगा। मुद्रा पर भगवान् ऋषभदेवजी के विवरण व उनके साम्राज्य के बारे में बताने के बाद स्वप्न आवश्यक रूप से इनके पूर्वजों के बारे में बतादेगें। रत्नों की ढ़ेरी पवित्र पर्वत मेरु या मन्दर अभिप्राय देता है और यह उनकी माता मेरुदेवी का नाम बताता है। एक स्वप्न है निर्धूम अग्नि भ० ऋषभदेव के दादा का नाम था अग्निंध्र—यह अग्नि + निर्धूम या अग्नि ध्रूम उनके दादा के नाम को बताता है। नाभि बिना मात्रा के नभ—आकाश है स्वर्ग विमान स्वप्न आकाश को इंगित करता है। अतः वह है नाभि भगवान् ऋषभदेव के पिता। बाकी दो स्वप्न—धरणीन्द्र महल व समुद्र का अर्थ स्पष्ट नहीं परन्तु ये अन्य पूर्वजों के नाम बताते होगे।

हो सकता है धरणीन्द्र महल व समुद्र—आसमुद्रा उनके समस्त धरणी (पृथ्वी) पर व्याप्त विशाल साम्राज्य को, अथवा उनके ज्ञान सागर साम्राज्य को उपलक्षित करते हों। जो भी हो—श्री गुप्ता महोदय ने आगे यह निष्कर्ष दिया है—

इन स्वप्नों का उपरोक्त मुद्रा संदर्भ में अर्थ निम्न होगा

श्री ऋषभ शद्रि, व्याघ्र, खग, महिष परिवेष्ठित पद्मासन मलः सम्राटे व आराध्य देवे पुत्राः नाभि मेरु अग्निध्र इत्यादि। अर्थात् भगवान् ऋषभदेव हाथी सिंह गैंडा भैंसे से घिरे हुए पद्मासन मुद्रा में बैठे हुए मलः के आराध्य देव व नाभिराय मेरु अग्निध्र इत्यादि के पुत्र। सही रूप इस वाक्य का प्राचीन वैदिक संस्कृत में मिलेगा।"

जैन महा पुराण के अनुसार पूर्व जन्म में ऋषभदेव राजा वज्रजंघ थे तब चार जानवर नकुल सिंह वानर व शूकर उनके साथ थे। (महा पुराण अष्टम पर्व श्लोक २४५)—ऋषभदेव जी की मुद्रा में भी चार पशुओं को दिखाया गया है। इनके अभिप्राय स्पष्ट नहीं है और इनके अर्थ उस काल की सभी मुद्राएं पढ़ ली जायेंगी तब स्पष्ट होगे—ऐसा श्री गुप्ता ने आगे प्रकट किया है। सब ही तीर्थंकर माताओं के ये ही स्वप्न होते हैं। इस पर यह स्पष्ट किया है कि तीर्थंकरों की माताओं ने प्रत्येक ने भगवान् ऋषभदेव को ही स्वप्न में देखा व उनका वही रूप देखा जो सिंधु घाटी में लोगों द्वारा जाना था व जो चित्र कदाचित् प्रत्येक घर में होगा।

इस प्रकार श्री गुप्ता का निष्कर्ष है कि सोलह स्वप्न-सोलह वस्तुओं का समूह सिंधु घाटी लिपि का एक लेख है जो सिंधु घाटी से प्राप्त मुद्रा पर अंकित भगवान् ऋषभदेव के चित्र का विस्तृत विवरण देता है, उनकी वंशावलि भी बताता है व उनके राज्य व राजधानी भी बताता है। इस बात को मानने के कारण उपलब्ध है कि मल का ही नाम बाद में बदल कर अयोध्या कर दिया गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त चिन्ह किसी कारण से बाद में मौखिक रूप बनाये गए व याद कराये गए व किसी समय किसी उद्वेलित कल्पना शक्ति वाले व्यक्ति ने संस्कृत के दो अर्थ निकलने वाले शब्दों के ऐसे उच्चारण रख दिये जो कल्पना को सुन्दर लगें व इस कारण उनसे पूर्ण अर्थ भुलाया जाकर गलत अर्थ लगाया जाने लगा। गैंडे के लिये खंग शब्द का मतलब भूल कर खग कहा जाने लगा व बाद में चन्द्रमा हो गया। इसी प्रकार महिष का महिषि हुआ व बाद में लक्ष्मी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि में जब राज लक्ष्मी की कल्पना उठी तब इसे भी राज लक्ष्मी रूप दे दिया गया। इसी प्रकार कलश को स्वर्ण कलश या अमृत कलश कहने में यह भुला दिया गया कि उसका 'मखन' से अभिप्राय है या पुत्र से। इसके बावजूद यह जैन गाथाएं ही हैं जो सिंधु सभ्यता की लिपि व उसके मूल तत्त्व अपने में संजोये हुए हैं। जैन गाथाओं में ऐसे अनेक वस्तुओं का समूह है। अगर उन्हें सिन्धु लिपि का लेख मान कर अध्ययन किया जावे तो जैन धर्म के अन्य रहस्य प्रकट हो जायेंगे। इन समूह में १०८ वस्तुओं का वर्णन है जो ऋषमदेव के शरीर पर चिन्हों के रूप में दिखायी गई हैं। (महापुराण पंच दश पर्व श्लोक ३७–४४)। इसी प्रकार उनके समवशरण में विभिन्न चिन्ह वाली पताकाओं का समूह व विभिन्न जैन विशिष्ट पुरुषों के जन्म के पूर्व उनकी माताओं के स्वप्न इत्यादि हैं। इन गाथाओं को वास्तविक रूप से देखें व अध्ययन करें तो हमें सिन्धु घाटी सभ्यता की असलियत भी पता चल जावेगी जो जैन सभ्यता ही प्रतीत होती है।"

श्री गुप्ता ने इस प्रकार जैन धर्म व सभ्यता को सिन्धु घाटी से सम्बन्धित होने को तथा सिन्धु सभ्यता की लिपि को सोलह स्वप्नों में खोज बताकर उत्खनन से प्राप्त मुद्रा को भ० ऋशभ-का ही विवरण बताया है। श्री गुप्ता का चिन्तन एक नई दिशा की खोज को बताता है उस सभ्यता की कि जो भारत की ही नहीं सारे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। श्री गुप्ता महोदय ने अपने लेख में जिस मुद्रा का उल्लेख किया है— उसमें चित्रित बैल के शृंगों से उनका ऋषभनाथ नाम व शृंगों से उनके अनन्त चतुष्टय, मुकट से उनके सम्राट होने तथा दिगम्बर होने से उनके तथ्यों मय दिगम्बर स्वरूप तथा पशुओं के घेरों से समवशरण की रचना जिसमें पशु व देव भी उपस्थित होकर भगवान् की वाणी सुनते हैं संकेतित हुए हैं। वेदों में 'चत्वारि शृंगा' कह कर भगवान् ऋषभ पूर्ण पुरुष के अनन्त चतुष्टय बताये गये हैं। चतुर्मुख से उनके ब्रह्मा रूपा स्वरूप को बताया गया है।

डा० दामोदर शास्त्री की जैन संस्कृति की प्राचीनता तथ्य देन पर अभिमत

केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ (नई दिल्ली) के विद्वान डा० दामोदर शास्त्री के विचार हैं—

"हडप्पा व मोहन जोदडो की सभ्यता के अवशेषों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पूजक, वीतराग धर्म के अनुयायी तथा योगिक ध्यानादि क्रियाओं के द्वारा आत्म साधना के उपासक थे। इस संस्कृति के समानान्तर दूसरी संस्कृति थी वैदिक। वेद में स्थान स्थान पर वैदिक देवताओं के प्रति की गई प्रार्थनाओं में यह तथ्य स्पष्ट

होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये देव-शक्तियों पर आश्रित रहने वाले थे, इनके द्वारा यज्ञ में पशु-बलि दी जाती थी। इनका जीवन संघर्ष मय व असुरक्षा की भावना से ग्रस्त था और अपने दैनिक जीवन में अपने शत्रुओं के प्रति व्यवहार में पूर्णतः अहिंसक नहीं कहे जा सकते। कहीं कही तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते हैं।"

"ठीक इसके विपरीत देश में पर्यटन शील "व्रात्य" लोगों की परम्परा थी जो व्रत-निष्ठ एवं अहिंसक धर्म के आराधक थे जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म शुद्धि में था। यह परम्परा भी बहुत सम्भवतः सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओं की तरह श्रमण-संस्कृत की अनुयायी थी।

"देवों और असुरों के मध्य संघर्ष भी एक प्रकार से दो संस्कृतियों या जातियों के मध्य था। विद्वानों का अनुमान है कि असुर राजा प्रायः अहिंसक जैन संस्कृति से सम्बद्ध थे। यह बात और है कि द्वेष के कारण "असुर" शब्द को हिंसक का पर्यायवाची बना दिया गया। विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे। उनका अहिंसा में पूर्ण विश्वास था। यज्ञ व पशु बलि में उनकी अनास्था थी। श्राद्ध व कर्मकाण्ड के विरोधी थे। महाभारत में असुर राजा बलि स्वमुख से आत्म साधना का जो वर्णन करता है वह जैन धर्म के सर्वथा अनुकूल है।

"जैन संस्कृति के तीर्थंकरों की परम्परा ने भारतीय समाज को समय समय पर जो सद्ज्ञान दिया उसका प्रभाव यह हुआ कि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए। सम्भवतः प्रारम्भ में उन अनुयायियों के प्रति वैदिक संस्कृति के लोगों के मन में अनादर का भाव रहा हो, किन्तु कालान्तर में समन्वय का रास्ता अपना कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया। दोनों ही संस्कृतियों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढ़ता रहा। फलस्वरूप व्यवहारिक जीवन के आचार-विचारों की दृष्टि से दोनों संस्कृतियों में मौलिक फर्क पाना मुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग द्वेषादि सांसारिक दुःख के हेतु हैं। मनोविकारों पर विजय तथा शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि से मुक्ति प्राप्त हो सकती है—इत्यादि बातें दोनों संस्कृतियों में लगभग समान आदर के साथ स्वीकारी गई हैं और यही कारण है कि उपनिषद, रामायण, महा भारत, गीता, पुराण आदि वैदिक परवर्ती ग्रंथों में जैन संस्कृति के तत्व-स्थल-स्थल पर ढूंढे जा सकते हैं।

आगे डा० दामोदर शास्त्री स्पष्ट करते है—"वैदिक संस्कृति का प्रारम्भ में लक्ष्य जिस स्वर्ग की प्राप्ति था, उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, काम-सुख, भोग लिप्सा का प्रतीक होते हुए भी वासना-अतृप्ति, अशान्ति तथा विनश्वरता से मुक्त नहीं समझा गया और परवर्ती कल में वैदिक संस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पाप-पुण्य से परे "मुक्त" स्थिति हो गया। इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमशः अहिंसक होता गया और द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ को प्रमुखता मिल गई। यह सब जैन संस्कृतिं का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव था।"

—डा० दामोदर शास्त्री—"ग्रा० कुंदकुंद ग्रौर उनका प्रवचन सार" लेख —महावीर स्मारिका १९८० ।

भ. ऋषभदेव की प्राचीनता के उल्लेख वेदों में सर्वाधिक स्थल स्थल पर प्राप्त हैं । कुछ ग्राख्यायिकाग्रों में भी संकेत हैं ।

प्रसिद्ध ग्राख्यायिकाग्रों के संकेत

(१) प्रजापति ग्रौर इन्द्र विरोचन का ग्राख्यान

यह ग्राख्यान पर्याप्त रूप से प्रकट करता है कि ग्रादि-ब्रह्मा ऋषभदेव ने सम्पूर्ण मानव जाति को ग्रात्म-तत्व का ज्ञान दिया था । ऋषभदेव का वर्णन राजर्षि ऋषभ के नाम से भी जाना गया था । प्रजापति के रूप में उन्होंने सारी मानव जाति—जो सुर ग्रौर ग्रसुर द्विभागों में विभक्त थी इन के प्रतिनिधि, इन्द्र तथा विरोचन को उनकी प्रार्थना पर प्रबोधित किया था । कहा जाता है कि विरोचन तो स्व-प्रतिबिम्ब को ही ग्रात्मा का स्वरूप समझकर ग्रौर सन्तुष्ट होकर चला गया । ग्रपनी स्थूल बुद्धि से ग्रात्मा को देह मात्र रूप मानने के कारण उसने ग्रपनी जाति में भोग ग्रौर इन्द्रिय-तृप्ति का धर्म के रूप प्रचार किया । सूक्ष्मप्रज्ञान्वित इन्द्र उतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुग्रा । वह बराबर पृच्छना, मनन साधना ग्रौर ब्रह्मचर्य को लम्बे काल तक जारी रखकर स्वप्न, सुषुप्ति, फिर तुरीय के उत्तरोत्तर स्वरूपों के ज्ञान व ग्रनुभव को प्राप्त करता रहा । उसके द्वारा देव-लोक के ग्रार्यजन ग्रात्म-तत्व के ज्ञान को जान सके ।

(२) यक्ष (ग्रक्षय) पुरुष से इन्द्र को ज्ञान

इन्द्र को पहले ग्रात्म ज्ञान प्राप्त न था—देवों में इस ज्ञान के लिए जिज्ञासा हुई । उन्होंने इन्द्र को ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरित किया । देवगण व इन्द्र इससे पूर्व देहाभिमानी थे । यह देहाभिमान यक्ष पुरुष ने किस प्रकार निवृत्त किया, इसका भी मनोरंजक ग्राख्यान है । यक्ष यक्षिणी तीर्थंकर के शासन-पुरुष होते हैं । यक्ष पुरुष ग्रौर उमा हेमवती का ग्राख्यान इस पर प्रकाश डालता है । यक्ष पुरुष से ग्रभिप्रेत है, 'क्षय' के विपरीत 'ग्रक्षर' पुरुष जो ग्रात्मा के ग्रमृत स्वरूप में प्रतिष्ठित या दीक्षित हुग्रा हो—ग्रौर हेमवती से ग्रभिप्रत है वह शक्ति-मूर्ति, साक्षात् स्वर्णमयी ज्ञान-चेतना जो भगवान् के प्रवचन (ग्रक्षर दिव्यवाणी) के रूप है । ग्रग्नि, सूर्य, वायु, वरूण ग्रादि को जो मिथ्या देह-भाव ग्रौर देह-बल का मद था उस यक्ष पुरुष के समक्ष-चूर्ण विचूर्ण हो गया । तब उनमें वह भूमिका ग्राई जिसमें ग्रात्म ज्ञान का प्रकाश किया जा सकता था । इसलिए भगवान की वाणी ग्रोंकार ध्वनि उमा सरस्वती से उन्हें प्रबोधन हुग्रा । ऐसे देव ग्रार्यों में ग्रध्यात्म-ज्ञान का उदय हुग्रा तथा इसी से वैदिक जनो में उन मन्त्र-दृष्टा ऋषियों का ग्राविर्भाव हुग्रा जिनका परिचय वेद ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में मिलता

है । अंगिरस, शौनक, श्वेताश्वतर आदि महत्वपूर्ण नाम हैं । इनमें वास्तव में आध्यामिक काष्ठा के प्रस्फुटन के दर्शन होते हैं । वेद ऋचाओं के जन्म से पूर्व सचमुच योग-विद्या जो हिरण्यगर्भ आदिनाथ से उद्घाटित व प्रवर्तित हुई थी, काफी तरुण हो चुकी थी । वेद-ऋचाओं में अपरा विद्या के साथ साथ जिस परा विद्या मय ज्ञान के संकेतस्वर हैं, इस हैरण्यगर्भ योग की ही देन है, जो अहिंसक देव-आर्यों में याज्ञिक आर्यों से पूर्व परिपक्व हो चुकी थी ।

तपोयोग और वरुण भृगु संवाद

कहा जाता है ज्ञानी वरुण ने भृगु को "तप" का उपदेश दिया । तप की यह उद्भावना भी वह ही है जो ऋषभदेव हिरण्यगर्भ से प्रसूत हुई थी । भृगु ने वरुण से प्रार्थना की "भगवान् ! मुझे बोध दीजिये ।" वरुण ने कहा—"अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञास्व । तद् ब्रह्ममेति ।" अर्थात् अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी तथा यह सब प्राणी मात्र जिसके आश्रय (निमित्त) से उत्पन्न होते है–और उत्पन्न होकर ज्ञान से जीवन्त होते हैं, और फिर प्रयाण करते हुए अन्त में विलीन होते है, उस विशेष तत्व को ही जानो; जानने की इच्छा करो, वह ही ब्रह्म है । इस पर उस ब्रह्म को जानने की उत्कृष्ट इच्छा भृगु ने की । वरुण ने कहा "तप से ब्रह्म को जानो-तप ही ब्रह्म है । तब भृगु तपोरत हुए और उन्होंने प्राण मन बुद्धि से परे आत्म-विज्ञान प्राप्त किया और अन्त में क्रमशः आनन्द की प्राप्ति हुई । ऐसे उस भृगु ऋषि ने "तप" द्वारा जाना कि आनन्द ब्रह्म है । और प्राणी-मात्र इस अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान करके आनन्द में ही तल्लीन होकर ब्रह्म हो जाता है ।

"सैषा भार्गवो वारुणी विद्या, परमे व्योम्नि प्रतिष्ठिता ।
स य एवं वेद प्रतिष्ठिति महान् भवति ।"

यह ही वह विद्या है जो वरुण ऋषि से भृगु ऋषि को प्राप्त हुई थी । यह विद्या परम चिदाकाश में प्रतिष्ठित है–ऐसा जो जानता है वह ब्रह्म में स्थित होता है, महान् होता है । साधक इस योग मय परा विद्या "तप" के आश्रय से परम व्योम चिदाकाश में पहुंचकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, और ब्रह्मानन्द को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे भृगु ऋषि ने प्राप्त किया ।

तपोयोग और श्वेताश्वतर

"तप" के प्रभाव का एक और ज्वलंत उदाहरण उपनिषदों में महर्षि श्वेताश्वतर का है । स्वयं महर्षि श्वेताश्वतर अपनी सम्प्रदाय परम्परा का वर्णन अध्याय ६/२१ में इस प्रकार करते है—

"तपः प्रभ वाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ।। (६–२१)

अर्थात्—महर्षि श्वेताश्वतर ने "तप" के प्रभाव से तथा "देव" के प्रसाद से उस ब्रह्म को जाना और ऋषि समुदाय से सेवित परम ब्रह्म तत्व का सम्यक् प्रकार से वीतराग परम हंस ऋषियों को उपदेश दिया। यहां इस चर्चा में "तप" और "देव" शब्द विशेष महत्व के है। इन शब्दों का प्रयोग इन्हीं महर्षि ने अन्यत्र भी किया है—

"एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौं, सत्येनेनं तपसा योऽनुपश्यति।"' (१/१५)

तथा—

"आत्म विद्या तपोमूलं तद् ब्रह्मोषनिषत् परम। तद् ब्रह्मोपनिषत्परम्॥" (१/१६)

इसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे बारंबार देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही दिखाई देता है। तथा, वह आत्म-विद्या तपोमूल है और यह ही उत्कृष्ट ब्रह्मोपनिषद् है।

यज्ञादि कर्म प्रधान अपरा विद्या के साथ परा आत्म विद्या का समन्वय

आत्मा ही स्वयं परम ब्रह्म है। यज्ञ पुरुष के रूप में उस परम पुरुष का ही दर्शन था। वह ही अमृत पुरुष है, अविनाशी है। उसी की प्रभा से ज्ञान सूर्य चमकता है, अतः वही शरण्य है। देवों के समक्ष इस परा वाणी जिन वाणी भगवती उमा सरस्वती के माध्यम से ज्ञान का उद्घाटन हुआ। देव-आर्यों में इस प्रकार अक्षर-मन्त्राकार-उद्गीथ विद्या का महत्व प्रकट हुआ और उसका प्रचार हुआ। कहा जाता है कि इन्द्र को वह बोध बसन्त पंचमी को ध्यानलीन अवस्था में चिदाकाश में स्फुरित हुआ। तब से ही यह दिवस प्रणवरूपिणी उमा हेमवती और सरस्वती रूपा परा शक्ति के प्रसाद-दिवस के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और अब भी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी इस दिन को विद्यारम्भ के लिए शुभ दिन मानते हैं। इस प्रकार देव-आर्य जनों में यज्ञादि कर्म प्रधान स्थूल अपरा विद्या के साथ परा-विद्या का भी सुमेल हुआ।

हैरण्यगर्भीय अक्षर तप विद्या ब्राह्मण वर्ग के पास कैसे पहुंची

भ० ऋषभदेव की "तप" अक्षरों की, यानी अक्षर मय विद्या की उदभावना किस प्रकार हुई इसका वर्णन मुण्डकोपनिषद् व श्री मदभागवत ने जिस प्रकार किया है वह पहले बताया जा चुका है। अक्षर विद्या "तप" प्रसाद के रूप में प्रसूत भ. ऋषभदेव को हुई थी, वह ही निरक्षर भूमिका पर पहुंचकर परा-वाणी व दिव्य ध्वनि के रूप में विकसित हुई। और यह ही आत्म-ज्ञान के उद्घाटन में निमित्त हुई। अर्थात् योग-विद्या उस परावाणी के आश्रय से ही विकसित हुई। देव-आर्यों में आत्म-विद्या के इस रहस्य के भ. ऋषभदेव के योग शासन से प्राप्त होने पर ऐसा विकास, योग-सामर्थ्य तथा महात्म्य प्रकट हुआ कि इससे अनेक मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुए।

"तप" महिमा की मान्यता

"तप" की ही महिमा तैतरीय-उपनिषद् में इस प्रकार स्वीकृत हुई—

"तपसा ब्रह्म जिज्ञासस्व"—तप के द्वारा ब्रह्म का अनुसंधान करो।

छान्दोग्योपनिषत् में यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि यह अक्षर तथा तपोमयी परा-विद्या क्षत्रियों के शासन की थी तथा वह बहुत काल तक क्षत्रियों में ही प्रचलित रही और फिर उनसे यह विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त हुई।

इसी प्रसंग में हम श्रद्धेय उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द के प्रवचन का एक उद्धरण देते हैं जो उक्त कथन को प्रमाणित करता है। भ० आदिनाथ और उनके पिता नाभि मनु व माता मरुदेवी की तपस्थल तथा भ० पार्श्वनाथ के विहार-स्थल हिमाचल में स्थित बद्री विशाल तीर्थ धाम में आयोजित ज्ञान संवर्द्धिनी सभा में वहां के विद्वज्जनों के समक्ष उन्होंने यह प्रवचन दिया था—

अध्यात्म विद्या क्षत्रियों की

"शास्त्रों में अध्यात्म-विद्या का महात्म्य गाया गया है। यह विद्या हमें क्षत्रियों से प्राप्त हुई—इसके मूल में क्षत्रिय रहे। बाद को यही ब्राह्मणों द्वारा प्रचार में आई। अर्थात् अध्यात्मा विद्या के जनक क्षत्रिय रहे और प्रचारक ब्राह्मण। तीर्थंकर ऋषभदेव क्षत्रिय थे, तीर्थंकर महावीर क्षत्रिय थे, श्री भगवान राम और नारायण श्री कृष्ण भी क्षत्रिय थे, महाराजा जनक भी क्षत्रिय थे—जिन्होंने अध्यात्म का उपदेश दिया। इनके उपदेशों को प्रसारित करने वाले-गौतम गणधर ब्राह्मण थे। इससे सिद्ध है कि अध्यात्म विद्या आत्म-बल प्रधान विद्या है।"

छान्दोग्य की साक्षी

श्रद्धेय मुनि श्री ने आगे कहा—"छान्दोग्योपनिषत् में उल्लेख है कि—

यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्॥[1]

भाष्य है—तत्रास्ति वक्तव्यं-तथा येन प्रकारेण इयं विद्या। प्राक्त्वत्तो ब्राह्णानून गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः ~~अनय~~ एतत् प्रसिद्धं लोके यतः। तस्माद् पुरा मया पूर्वंसर्वेषु लोकेपु क्षत्त्रस्यैव क्षत्त्रजातेरेव ~~यथा~~ अनया विद्यया प्रशासनं प्रशास्तृत्वं शिष्याणामभूत् बभूव। क्षत्रिय

---

[1] (छान्दोंग्योपनिषत् ५/३/७)

परंपरयैवेयं विद्या एतावन्तं कालमागता । तथाप्येतां अहं तुभ्यं वक्ष्यामि । त्वत् संप्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति । अतो मया यदुक्तं तद् क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै ह उवाच विद्यां राजा ।"

"क्षत्रियों से पूर्व आध्यात्मिक विद्या ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई थी, अतएव यह मान्यता युक्ति-संगत है कि संपूर्ण लोक पर क्षत्रियों का प्रशासन था । ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्—(ब्रह्माण्ड पुराण २/१४) । गौतम के ब्रह्म-विद्या सम्बन्ध प्रश्न सुनकर उस क्षत्रिय नृपति ने कहा (उसी का व्यक्तव्य कहते हैं) —जिस प्रकार यह विद्या तुम से पूर्व ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई और न ब्राह्मण इस विद्या में अनुशासित हुए ऐसी ही बात लोक प्रसिद्ध है । अतः पूर्व सब लोक पर क्षत्रिय जाति का ही इस विद्या द्वारा प्रशासन हुआ । क्षत्रिय परम्परा में ही यह विद्या इतने काल पर्यन्त प्रवृत रही तथा अब मैं तुम्हें बताउंगा । आज से तुम्हारे पश्चात् यह ब्राह्मणों में प्रसारित होगी । अतः मैंने जो कहा क्षमा करना । तत्पश्चात् राजा ने विद्योपदेश किया ।"[1]

ऐसे यह कर्मठ क्षत्रिय योगीन्द्रो की उद्गीथ व त्रित्वकरण आदि विद्या, योगशासन की आत्म-विद्या जो भ० हिरण्यगर्भ-ऋषभदेव की परम्परा व परिपाटी की थी ब्राह्मणों को प्राप्त हुई । छान्दोग्योपनिषत् ने इसी उद्गीथ विद्या का त्रित्वकरण आदि रूपों से बड़ा विशद पुनः कथन किया है । यह भारत की गौरवमयी प्राचीनतम अक्षर व निरक्षर मय अध्यात्मयोग विद्या है । इस उद्गीथ अक्षर-विद्या की स्तुति व साधना सब उपनिषदों में फिर आई तथा गाई गई है तथा, भारत के सब संतों में नाम-विद्या इसी का रूप है ।

जैन योग में इसी विद्या का दर्शन है । यह योग उसी प्राचीनतम योग की ही एक कड़ी है ।

आ० श्री पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण में इसे "शंकरी जिन विद्या" के नाम से अभिहित किया क्योंकि यह शं-सुख को ही करने वाली जिन-विद्या है ।

भगवान् राम के भावनोद्गार

नाहं रामो न मे वांछा भावेषु न मे मनः ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ।।[1]

यह मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के अन्तिम दिनों के उद्गार है जो योग वाशिष्ठकार ने प्रकट किये हैं—

---

1. (छान्दोग्योषनिषत्शंकर भाष्य—५/७ हिमाचल में दिगम्बर मुनि में उद्धृन)
2. योगवासिष्ठ—वैराग्य प्रकरण सर्ग १५

"मैं राम (स्थूल देहधारी) नहीं हूं, मेरा मन जागतिक भावों में (पदार्थ-कामनाओं में) नहीं है। मैं तो केवल वैसी शांति में स्थित होना चाहता हूँ—जैसी शान्ति में भगवान् जिनेन्द्र स्थित हैं।" इससे प्रकट है कि श्री राम के समय में तीर्थंकर जिन देव थे और वे परम श्रद्धेय तथा आराध्य माने जाते थे। श्री राम की उक्त उक्ति भगवान् ऋषभदेव की शंकरी आत्मा-विद्या की महिमा को प्रकट करती है। जैन तो मानते है कि राम ने जैन-दीक्षा ग्रहण करके जिनेश्वर रूप व सिद्धात्मा रूप मुक्ति की प्राप्त की थी। उनकी निर्वाण भूमि, गिरी मांतीतुंगी की तथा केवल ज्ञानी केवल प्राप्त श्री राम आर्हत् परमेश्वर की वंदना के लिए जैन लोग अब भी तीर्थाटन करते हैं। मान्यता चली आ रही है कि इस पवित्र गिरि से नल नील हनुमान आदि भी केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये।

तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत के समकालीन मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हुए। भगवान् ऋषभदेव की परम्परा में श्री मुनिसुव्रत बीसवें तीर्थंकर थे।

बौद्ध साहित्य और भ० ऋषभदेव

"द डिक्शनरी आंफ चाइनीज बुद्धिस्ट टर्मस" पुस्तक पृ. १९४ में उल्लेख है कि बौद्ध साहित्य में आदिनाथ ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है।

हिन्दू पुराणों के भांति बौद्ध आगम ग्रन्थों में प्रत्येक बुद्ध के अन्तर्गत अजित, सुप्पि, पदम, चन्द, विमल और धम्म—इन छः तीर्थंकरों का बुद्ध के रूप में उल्लेख किया गया है—(अंगुतर निकास ३,373)

वस्तुतः जैन तीर्थंकर कहीं कृषि के देवता, कहीं वर्षा के देवता, कहीं सूर्य देव, कही आद्य प्रजापति, कहीं वनस्पति के देवता, शंकर देव के अवतार के रूप में माने और पूजे जाते हैं।

पारस वंशी नाथ संप्रदाय और कबीर पंथी संप्रदाय

डा० धर्मचन्द्र ने "प्रागैतिहासिक परम्परा" में कहा है—ऐतिहासिक तथ्यों और पुरा-प्रमाणों से यह निश्चित है कि महावीर के २५० वर्ष पूर्व तीर्थंकर पाश्र्वनाथ हुए थे और उनके अनुयायी पार्श्वापत्य कहे जाते थे। महावीर के माता पिता भी पार्श्वापत्य ही थे। आगम ग्रन्थों में वर्णित पालि साहित्य का चातुर्याम संवर पार्श्व-परम्परा ही तो है। पार्श्वनाथ ने जिस पर्वत पर तप कर मोक्ष प्राप्त किया उसे पार्श्वपर्वत-सम्मेद शिखर कहा जाता है। पूर्वी भारत में पारसवंशी नाथ सम्प्रदाय है जो सदियों बाद विकृत होकर कबीर पंथी सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

महात्मा बुद्ध और पार्श्व परम्परा

महात्मा बुद्ध का जन्म शाक्य क्षत्रिय वंश में हुआ था। यह वंश भी पार्श्वनाथ के शासन को मानने

वाला था। इस प्रकार महात्मा बुद्ध पार्श्व परम्परा में ही जन्मे, और बड़े हुए। उन्हें बचपन में जिस अजित नाम के मुनि से आशीर्वाद मिला था वह पार्श्व परम्परा के ही जैन मुनि थे। महात्मा बुद्ध बहुत काल तक इसी पार्श्व जैन परम्परा में प्रव्रजित रह कर विहार करते रहे और पार्श्व परम्परा के जैन साधुजनों में उपदेश भी करते रहे थे। महात्मा बुद्ध के उपदेशों में अतः तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की आध्यात्मिक साधनाओं का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। पार्श्वनाथ भ० ऋषभदेव आदि-तीर्थंकर की परम्परा में तीर्थंकर हुए थे, और भ० ऋषभदेव ही इस युग में श्रमण संस्कृति के आदि पुरस्कर्ता थे। भ. बुद्ध ने इसी पार्श्वनाथ निग्रन्थ श्रमण परम्परा के शासन से फिर बाद में अलग होकर बौद्ध धर्म को जन्म दिया। आदि तीर्थंकर भ. ऋषभदेव की आदि श्रमण संस्कृति से अलग होने पर भी बौद्ध श्रमण संस्कृति में इस प्राचीन जैन श्रमण संस्कृति के मूल तत्वों की जड़ें मौजूद रही हैं, और इसी कारण बौद्ध श्रमण संस्कृति में जैन श्रमण संस्कृति से अत्यधिक समानता है जो विशेष कर ध्यानादि प्रक्रियाओं की पद्धति में है।

अपनी ऐतिहासिक अज्ञानता के कारण कई पाश्चात्य तथाकथित विद्वानों में अभी तक यह भ्रम है, और इसी का वे बराबर प्रचार की करते रहने हैं कि जैन भारत में बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं जैसे पड़ौसी देश लंका वर्मा चीन आदि के लोग अनुयायी है। (The kalpe sutra & New Tatva) पुस्तक के अनुवादक लेखक जे. स्टीवेन्सन, डी. डी. ने इसी प्रकार का मत अनुवादक के (Peface) (प्राक्कथन) में प्रकट किया है, यह पुस्तक भारत-भारती वाराणसी १९७२ में छपी है। यह मत नितांत भ्रमक है। वस्तु स्थिति यह है कि बौद्ध धर्म ऋणी है,—जैन पार्श्व धर्म परम्परा तथा संस्कृति का—[illegible]. बुद्ध बौद्ध धर्म प्रचार से पूर्ण पार्श्व नाथ प्रभु की परम्परा में बुद्ध कीर्ति नाम से जैन मुनि भी रहे थे—उनका सारा लालन पालन पार्श्व जैन परम्परा में हुआ था। कल्प सूत्र श्वेताम्बर जैन साहित्य है—श्वे० जैन इस असत्य मत का निराकरण कराएं।

स्वयं

धम्मपद और मंजुश्री मूलकल्प में भ० ऋषभदेव का वर्णन

धम्मपद और मंजु श्री मूल कल्प में ऋषभदेवं का वर्णन मिलता है—

उसन्नं पवरं वीरं महेसिं विजिता विनं।
अनेजं महातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।[1]

यहां धम्मपद में भ. ऋषभ और महावीर के नाम एक साथ आये हैं।

बौद्ध ग्रन्थ मंजुश्री मूल कल्प में भारत के आदि सम्राटों में नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है कि उन्होंने हिमालय से सिद्धि प्राप्त की। इसे देवेन्द्र मुनि ने (बौद्ध

---

[1] (धम्मपद–४२२)

साहित्य में ऋषभदेव) शीर्षक से ऋषभदेव-एक परिशीलन पृ. ४७२ में प्रकट करते हुए "मंजु-श्री" कल्प के श्लोक ३९०-३९२ भी उद्धृत किये है—जिसमे "नाभितः ऋषभ पुत्रों वै सिद्ध कर्म दृढव्रतः" तथा "निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्था रूपि" आदि रूप से वर्णन आया है। तैशो त्रिपिटक (३४/१६८) में भी श्री ऋषभदेव का उल्लेख प्रकट हुआ है।

त्रिशास्त्र संप्रदाय के चित्संग द्वारा श्री ऋषभ का वर्णन

त्रिशास्त्र-संप्रदाय के संस्थापक श्री चि-त्संग ने उपर्युक्त कथन का विश्लेषण करते हुए कहा है, ऋषभदेव तपस्वी ऋषि थे—उनका सदुपदेश है कि "हमारे देह को सुख दुःख का अनुभव होता है। दुःख पूर्व संचित कर्म-फल होने से इस जन्म में तप-समाधि द्वारा नष्ट किया जा सकता है, दुःख का नाश होने से सुख तत्क्षण प्रकट हो जाता है। ऋषभदेव का धर्म ग्रन्थ "निर्ग्रन्थ सूत्र" के नाम से विश्रुत है उसमें सहस्त्रों कारिकाएं है।"

श्री चित्संग ने स्व रचित "उपाय हृदय शास्त्र" में ऋषभदेव के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि ऋषभदेव के मूल सिद्धान्त में पंच विधा-ज्ञान, छः आवरण और चार कषाय हैं। पांच प्रकार का ज्ञान-श्रुत मति केवल मनः पर्याय और अवधि है। छः आवरण है—दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, गोत्र और नाम। इनकी विपक्षी शक्तियां छः ऐश्वर्य है। चार कषाय क्रोध-मान लोभ और माया है। इस प्रकार ये ऋषभदेव के मूलभूत सिद्धान्त हैं—इसी कारण वे भगवत् कहे जाते हैं। (षट् शास्त्र १,२ त्रैषोत्रि भा. ४२ पृ. २४४)। वह वर्णन जैन दर्शन सम्मत ही है यद्यपि इसमें क्रम तथा संख्या अपेक्षा कुछ त्रुटि है। श्री चित्संग ने षट् शास्त्र में उल्लखित उलूक, कपिल आदि ऋषियों के वारे में कहा है—"इन सब ऋषियों के मत ऋषभदेव के धर्म की ही शाखाएं हैं। ये सब ऋषि ऋषभदेव के सम्मत ही उपवासादि करते थे। परन्तु इसमें कुछ ऋषि फल के तीन टुकड़े दिन भर में ग्रहण करते थे, कुछ ऋषि वायु का आसेवन करते थे और तृण घास आदि का आहार करते थे—तथा मौन वृत्ति को धारण करते थे।" (वही पृ. ४२७)

यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौदगलायन भी बुद्ध धर्म में दीक्षित होने से पूर्व पार्श्व परम्परा के ही अनुयायी थे। कहा जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ का तिब्बत चीन आदि में भी विहार हुआ था और वे वहां बुद्ध कहे जाते थे।

यजुर्वेद में अजितनाथ और अरिष्ट नेमि

यजुर्वेद में ऋषभ अजितनाथ और अरिष्ट नेमी तीर्थंकरों के नाम आये हैं। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर प्रथम (ई. पू. ११४०) ने अपने देश की उस आय को जो विदेशी नात्रिकों से कर के रूप में प्राप्त होती थी जूनागढ़ के गिरनार पर्वत स्थित अरिष्ट नेमी की पूजा के लिए प्रदान किया था।

इसका उल्लेख प्रभास पट्टन के एक प्राचीन ताम्रपत्र के अभिलेख में है—जिसे इतिहासज्ञ प्राणनाथ विद्यालंकार ने प्रकट किया और इसका उल्लेख डा. ज्योतिप्रसाद ने अपनी पुस्तक (Jainism, The oldest Religion) में पृ. २३ पर उल्लेख किया है तथा डा. भागचन्द भास्कर ने अपने लेख "प्राचीन परम्परा और इतिवृत" (महावीर स्मारिका–१९७४) में उल्लेख किया है। शौरीपुर नरेश अंधकवृष्णि के दस पुत्रों में ज्येष्ठ समुद्र विजय के पुत्र नेमिनाथ और कनिष्ठ वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण हुए हैं। इस प्रकार भ० नेमिनाथ श्री कृष्ण के चचेरे भाई समकालीन थे।

भ० नेमिनाथ का जन्म और निर्वाण

"यह तो इतिहास प्रमाणित है कि २८ सदी पूर्व से इस देश में जैन मत प्रचलित रहा है। किन्तु ईसा पूर्व आठवीं सदी के पूर्व इतिहास की भी पहुंच नहीं हो पाई है और इसलिए इस काल में जैन धर्म का भी प्रागैतिहासिक अध्ययन ही सम्भव हो सकता है। भारतीय संस्कृति से अभिन्न पौराणिक परम्पराओं के अनुसार द्वारिका के पास यादवों की एक शाखा में नेमिनाथ का जन्म हुआ था। पशु-हिंसा के दृश्य से व्याकुल होकर वे संसार से विरक्त हुए और गिरनार पर्वत "ऊर्जयन्त गिरि" पर तपस्या करके निर्वाण प्राप्त हुए।"

नीमनाथ संप्रदाय

नाथ पंथी संप्रदाय में पारस संप्रदाय के समान नीमनाथी संप्रदाय भी सोरथ में प्रचलित रहा है, जिसका दाय भी सन्त कबीर को मिला था। पौराणिक वंशावलियों पर नेमिनाथ का काल १००० वर्ष ई. पू. सिद्ध होता है। ये ही नेमिनाथ बाईसवें जैन तीर्थंकर हैं।

महा भारत और वेदों में नेमिनाथ

महाभारत और वेदों में नेमिनाव का उल्लेख है।

ज्योतिष के आधार पर महाभारत युद्ध का समय ई. पू. ३१०२ है और वेदों का संकलन ब्रूक व प्रो. सीटनी के अनुसार क्रमशः ई. पू. १४१० व १३३० है। डा. धर्मचन्द आगे लिखते हैं—"इक्कीसवें तीर्थंकर निमि या नेमिनाथ हुए। निमि या नेमिनाथ का काल १२०० ई. पू. तथा तीर्थंकर मुनि सुव्रत का काल १५०० ई. पू. अनुमानित है। यह कथन ऐतिहासिक काल गणना के अनुसार है। प्राचीन जैन परम्परा का मत भिन्न है। यही काल वेदों की रचना काल है। इस काल के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के पूर्व तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पश्चात् अठारह तीर्थंकरों के काल और घटनायें रही है उनके अनुमान तथा अध्ययन के साधन उपलब्ध नहीं है। किन्तु जैन धर्म तथा संस्कृति का वैशिष्टय तीर्थंकरों व उनके सम्बद्ध अन्य त्रेषट् शलाका महापुरुषों के नाम व जीवन वृतान्तों से भी भरा पड़ा है—तथा इतना मात्र ही नहीं, जैन धर्म आध्यात्मिक और नैतिक जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है—जो उसे वैदिक जीवन की पद्धति से पृथक सिद्ध करती है। इन भिन्न 2 जीवन पद्धतियों की

---

1. प्रागैतिहासिक परम्परा—डा० धर्मचन्द

परम्परा युग युगान्तरों कल्पों और मन्वन्तरों से चली आ रही है और उनका विवरण वेदों में संकेत रूप से तथा उनका उपबृहण करने वाले पुराणों में थोड़े विस्तार से प्राप्त होता है।" एपीग्राफिया इंडिका (Vol I. Page ३८६) में डां. फुहररे तथा डां. रामसर्जन ने "मैडिवल क्षत्रिय क्लांस ग्राफ इंडिया।" की भूमिका में श्री नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष प्रमाणित किया है—इसका समर्थन डा. हरिसत्य भट्टाचार्य ने भी किया है।

अब तो इतिहासवेता विद्वानों का भी यह मत है कि परम सन्त अंगीरस जिनसे नारायण श्री कृष्ण ने आत्म विद्या का शिक्षण लिया-भ. नेमिनाथ के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं थे। तथा गीता में इस शिक्षण का प्रभाव स्पष्ट झलकता भी है। भ. नेमिनाथ के ही चचेरे भाई योगीश्वर श्री कृष्ण थे। भगवद्गीता में श्री कृष्ण के ही मुखारविन्द से अर्जुन को ज्ञान और प्रबोधन दिया गया है।

श्री मद्गीता का ज्ञान क्षत्रिय परम्परा का

श्री कृष्ण ने भ. ऋषभदेव से प्रवर्तित क्षत्रिय तीर्थंकर परम्परा की अध्यात्म विद्या की ही देन को गीता में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। श्री कृष्ण यदु वंश में हुए है और यदुवशी जैन थे। उन्होंने गीता में कहा है—

इदं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

मैंने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को यह योग विद्या कही। ध्यान रहे श्री कृष्ण, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु—ये सब क्षत्रिय थे और जैन तीर्थंकर सब ही क्षत्रिय सर्वज्ञ श्रमण परम्परा में हुए हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने इस अध्यात्म विद्या की क्षत्रिय श्रमण परम्परा और प्राचीनता, प्रामाणिकता को अर्जुन को बताया। उन्होंने कहा सर्वज्ञ तत्त्वदर्शियों का परम्परा से जो ज्ञान आया है—वही मैंने तुझे कहा है–मैं तुझे अब यह अपनी तरफ से-नया नही कहता हूँ। आगे उन्होंने कहा यह ज्ञान काल प्रवाह से नष्ट हो गया था, अब मैंने फिर तुझे इसका उपदेश किया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार सर्वज्ञ क्षत्रिय श्रमण अध्यात्म परम्परा का ही ज्ञान गीता में है। अब यह अलग बात है कि उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से होने लगी है। यह पुनः स्मरणीय है कि स्वयं श्री कृष्ण क्षत्रिय थे और तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे।

श्री विनोबा भारत में वैष्णव भक्त-शिरोमणियों में विशिष्ट स्थान रखते ही हैं। "उपनिषद का अध्ययन" पुस्तक उनके ज्ञान मंथन का परिचायक है। वे "समण-सूक्त" के प्रेरणा स्रोत भी रहे हैं। ये जैन धर्म के सर्व धर्म सम भाव व भ. महावीर के प्रति श्रद्धा भी रखते है। और अपनी इस श्रद्धा

का स्पष्टता से उल्लेख भी करते है। पर फिर भी उनकी उक्त पुस्तक के पृ. १४ पर यह मत कि "कुछ उग्रवादियों ने बाद में जैन धर्म को प्रकट किया" कुछ अटपटा ही है। यह जैन धर्म तो, जैसा कि स्पष्ट है, किन्हीं उग्र वादियों के द्वारा नहीं परम शान्त वीतरागी तात्त्विक परम हंस ऋषियों-तीर्थंकरों के शीतल प्रवचनों से अनादिकाल से चला आ रहा है। तथा यह धर्म गीता एवं उपनिषदों के बाद में नहीं-वेदों तथा उपनिषदों से भी पूर्व से चला आ रहा है। पवनार के यह सन्त सम्भवतया यह नहीं जान पाये कि इस धर्म की परम्परा की जड़ें वेदों से भी पूर्व सूर्य वंशी स्वयं भ. हिरण्यगर्भ वृषभनाथ व विवस्वान् तक भी पहुंची पाई जाती है।

श्री विनोबा ने अपनी उक्त पुस्तक में यह भी प्रकट किया है कि वेदों के प्रति पूज्य बुद्धि स्वयं ऋषियों को कम हो गई थी। यह बात उन्होंने ऋषियों की प्रणव ओंकार के प्रति विशेष पूज्य बुद्धि को लक्ष्य करके कहा है—और यह प्रणव-ओंकार उद्गीथ विद्या भगवान वृषभ से प्रसूत हुई थी। जिस ऋचा को लक्ष करके श्री विनोबा यह कहते हैं—वह इस तरह है—

ऋचौ अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वेनिषेदुः।
यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥

यह मन्त्र है महर्षि दीर्घ-तमस का और ऋग्वेद के पहले ही मण्डल में आया है। यह इतना महत्त्वपूर्ण भी है कि इसे महर्षि श्वेताश्वतर ने भी अपने श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/८) में भी समाविष्ट किया है।

इसका अर्थ है—यह अक्षर-विज्ञान (ओंकार उद्गीथ), दिव्य शक्तियों का अधिष्ठान है और इसी पर, ये ऋचाएँ बनी हैं (१) यदि किसी को अक्षर विज्ञान (अक्षर-विद्या) मालुम नहीं तो वह ऋग्वेद को भी लेकर क्या करेगा ? जो इसे (अक्षर--उद्गीथ विद्या) को जानते है, वे समवस्थित हुए कृतार्थ हुए स्थित रहते हैं।

स्पष्ट है कि मन्त्रद्रष्टा महर्षि यहां ~~की~~ ऋग्वेद ~~की~~ ने ऋचाओं के उद्भव के रहस्य को प्रकट करते हुए यह कह रहे है कि ऋचाएं इस अक्षर-विद्या उद्गीथ-ओंकार से ही सम्भूत है, अतः यदि कोई अक्षर विज्ञान रूप योग-विद्या को न जाने तो उसका वेद का जानना भी निष्फल है। ऋषि की प्राण चेतना अक्षर योग विद्या के अभ्यास काल में विहार करती करती दिव्य अध्यात्म शक्तियों के अधिष्ठान परम-व्योम चिदाकाश में अक्षर मय मन्त्र तथा ऋचाओं को अन्तर में आविर्भाव कर सकी। इसी कारण वे उन मन्त्रों एवं ऋचाओं के द्दष्टा ऋषि बने। यह सत्य है कि यह अर्हंत् अक्षरात्मक योग-विद्या ही वैदिक मन्त्रों की मूल जननी तथा कारण है, इस लिए यह विद्या वेद-माता है। वेद का प्रकाश योग-विद्या ही से सम्भव हुआ है इसी कारण उस विद्या के प्रति भी महर्षि का (दीर्घ तमस का) पूज्यभाव उचित ही प्रकट हुआ है। अतः महर्षि को वेदों के प्रति निरादर भाव का होना मानना निराधार है। महर्षि का

अक्षर योग विद्या और वेद दोनों के प्रति पूज्य भाव ही है।

इसी प्रसंग में भी विनोबा के एक और कथन की ओर भी ध्यान जाता है। उन्होंने अपने अध्ययन की प्रस्तावना में कहा है कि गीता मेरी मां है और उपनिषद् मेरी मां की मां है। अतः वे गीता से भी अधिक उपनिषद् पर अपनी पूज्यता का भाव प्रकट करते हैं। पर वेद उपनिषदों की मां है तो वेदों की भी मां अक्षर-योग विद्या है। अतः इस अक्षर योग-विद्या के प्रति महर्षि दीर्घ तमस से महर्षि द्वारा पूज्य भाव प्रदर्शित करना-वेद के प्रति आदर भाव या पूज्य भाव की कमी होना कैसे कहा जा सकता है? वास्तव में तो इससे वेद के प्रति पूज्यता का भाव बढ़ता ही जाना कहा जायगा। उस पूज्यता के विवर्धमान भाव में न वेद के प्रति और न गीता के प्रति किसी का पूज्य भाव कम हो सकता है। उपनिषद् तथा गीता पर किसे आदर नहीं है? श्री विनोबा ने उपानिषदों को गीता की मां बताया पर गीता में स्वयं भगवान श्री कृष्ण की तो यह घोषणा है कि मैं जो यह ज्ञान दे रहा हूं, वह ही है जो क्षत्रिय परम्परा में था और जो काल-प्रवाह से छिन्न हुआ है। यदि उपनिषद् परम्परा में गीता होती तो भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा इसे उपनिषद् का ज्ञान कह देने में क्या रूकावट थी? मगर उन्होंने नहीं कहा है। योगीश्वर श्री कृष्ण के इन वचनों से अधिक कोई अन्य सम्माननीय तथा अधिकारिक प्रमाण की अपेक्षा रहती है क्या? गीता उपनिषद् की सन्तति सीधे तौर पर है ही नहीं। वह है सूर्य वंशी क्षत्रिय मनुओं का ही ज्ञान जैसे कि स्वयं भगवान श्री कृष्ण गीता में इस ज्ञान को बता रहे हैं। अतः क्षत्रिय परम्परा का गीता का ज्ञान क्षत्रिय (श्रमण) संस्कृति व उसके ज्ञान से ही सम्बन्धित है। वेदों की मां-अक्षर योग विज्ञान, ओंकार उद्गीथ विद्या है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद ने रहस्योद्घाटन किया है कि वह पूर्व में एक मात्र क्षत्रिय परम्परा में ही प्रचलित थी और यह बाद में यज्ञ-याग क्रिया-काण्ड वाले आर्य जनों में उसी क्षत्रिय परम्परा के क्षत्रिय राजाओं से प्राप्त हुई है। उपनिषदों की परा विद्या क्षत्रिय श्रमण परम्पराओं की ऋणी है। वेदों तो मुख्यतः अपरा विद्या हैं ही।

सूक्त और उपनिषदों के रूप में अन्तरंग साक्षियां

नासदीय सूक्त की अन्तरंग साक्षी,—उनमें जैन नय शैली, अनेकांत, अंग-शास्त्र तथा केवल ज्ञान अवस्था के उल्लेख

वेदों में सर्वज्ञ योग धर्म के तत्वों के तथा उसके प्रवक्ता आदि के संकेत प्राप्त हुए हैं। वह सर्वज्ञ योगधर्म वर्तमान जैन धर्म का मूल रूप है। हम यहां ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त को अपने कथन की पुष्टि में प्रस्तुत करते हैं। यह असम्भव ही था कि वेद साहित्य रचनाओं में तत्समय की व उनसे पूर्व की धर्म संस्कृतियों के उल्लेख न आते—क्योंकि साहित्य देश व काल का दर्पण होता है। यह अब दूसरी बात है कि मत विद्वेषों के कारण इनमें से बहुत से उल्लेखों को बाद के संस्करणों में से चुन चुन कर निकाल दिया गया।

नासादासीन्नोसदासीत्तदानीं, नासीद्रजो न व्योमापरोयत् ।

किमावरीवःकुह कस्य शर्मन्तम्भः ।
किमासीद् गहनं गम्भीरम् ।।[1]

अर्थ—वहां (तब, गहन गंभीर आत्मलीन अवस्था में) न सत् था, न असत् था, तब न रज थी, न व्योम थे जो यहां से परे है। किससे यह सब अवतरित (प्रकट) हुआ? कुह सा क्या था? किसका प्रभाव था? क्या वह अम्भः (जल) था? तब वह एक गहन और गम्भीर जैसा तत्त्व आखिर क्या था?

महर्षि केवल ज्ञानमय प्रभु-आत्मा की परमोत्कृष्ट कैवल्य अवस्था पर विचार करते हुए कहते हैं और आश्चर्य प्रकट कर रहे है कि वह महान गम्भीर दशा कैसी थी और कैसे आविर्भूत हुई। उस दशा में न सत् का भाव था, न असत् का भाव था,—अर्थात् वह अनिर्वचनीय निर्विकल्प अवस्था थी। तब उसमें कर्मरज प्रत्ययों (कर्मा-वरण) का भी अभाव था। वह दशा हमारे से परे जो परम व्योम है, आकाश है, उससे भी अतीत अर्थात् परे थी। वह दशा किस प्रकार अवतरित हुई? वह वरुण (कुबेर) के जल-मण्डल (चिद्-महासागर) से उत्थान पाकर हुई थी?

वैदिक जन नासदीय सूक्त को सृष्टि-रचना से सम्बन्धित करते हैं। यदि यह अर्थ लें, तो यह स्पष्टतः ही वेदान्त के विवर्तवाद के विरुद्ध ही है। यहां जल (कुह या अम्भस्) से परिणमन रूप में न कि विवर्त से, सृष्टि रचना का संकेत है। जल सृष्टि रचना का मूलभूत तत्व नहीं है। पर हाड्रोजन जल (H_2 °) का मुख्य तत्व जिसे प्रोटोन कहा जाता है, उसके पुद्गल अणु का धनात्मक वैद्युतिक न्यूक्लियस भूतात्मक सृष्टि (फीजिकल यूनीवर्स) की मूलभूत ईकाई (यूनिट) है। इस तत्व-विचार में तत्व परिणमनों द्वारा सृष्टि का प्रवाह अनादि ही सिद्ध होता है, किसी बाहरी रचयिता द्वारा रचित सिद्ध नहीं होता, न वह किसी वाह्य स्थित ब्रह्म का विवर्त ही सिद्ध होता है।

इस मन्त्र में स्पष्ट ही है ऋषि परम ज्ञान-चेतना की अवस्था पर ही विमर्ष कर रहे है। उस पुरुष की उस चेतना में रज कण (कर्म रज) विद्यमान न थे, न चित्त के व्योम (चिद् विकार अवस्थाएं) ही थी। वह तो निष्कम्प गम्भीर-स्व-द्रव्य अन्तस्तल केन्द्र में अभिन्न हुई अवस्था थी।

वहां उस अवस्था में न स्थूल जगत् के अन्तरीक्ष थे, न जागतिक रागात्मक स्फुरण के ही अस्तित्व थे। वह जगत् से परे था, जगत् उसके लिए असत् (अव्यक्त) था। पर साथ ही उस ज्ञान-चेतना में जगत् प्रतिबिम्बित भी था अतः वह जगत् सत् (व्यक्त व वर्तमान) भी था यानी ज्ञेयाकार रूप में व्यक्त भी था। केवल ज्ञानात्मा की वह अवस्था निश्चित ही गहन, गम्भीर, अमर्याद, असीम ही थी।

---

[1] ऋग्वेद मं. १० अष्टक ८ अध्याय ७ सूक्त १२९ मन्त्र १६

5424

ज्ञान-चेतना का वह चरमोत्कर्ष कब हुआ है ? यह हुआ जब कि जीवात्मा ने अपने में सम्यक् श्रद्धा,—आत्म श्रद्धा अटल स्थापित की। श्रद्धा ही सलिल है, तरल भावापन्न-तत्त्व है, जो यहां कुवेर और वरुण के जल-मण्डल के संकेत से संकेतित हुआ है। यहाँ ऋषि का यह विमर्ष भी प्रकट है कि उस केवल ज्ञान की गहन अवस्था का पूर्व क्या वह श्रद्धा सलिल ही था जो केवल स्वरूप की प्रतीति में परिणमित हुआ। सलिल-जल से ऋषि का संकेत ब्रह्मानन्द आत्मा के घन ज्ञायक आनन्द रूप रस की ओर भी हुआ प्रतीत होता है। शब्दार्णव में कहा है—

नारं घनरसः—इसी के नॄ धातु से जल वाचक शब्द "नीर" की व्युत्पत्ति होती है।

दर्शन दृष्टि से इस सूक्त का प्रथम पद-सत्, असत् और ध्रौव्य की स्थिति को' अनेकान्त व सप्त भंगी नय स्थापना को, जो जैन दर्शन में स्पष्ट व विशद प्रस्तुत हुई हैं,— यहां संकेतित करता है। वरुण के जल मण्डल का अर्थ महासागर भी है और आत्मा को एक चिद् महासागर के रूप में भी संकेतित करता है क्योंकि जैन परिभाषा में आत्मा चिदात्मक है। आत्मा वस्तुतः असीम चिद् समुद्र है।

द्रव्य द्रव्य नय से मात्र सत् हो—ऐसा नहीं तथा वह पर्याय नय से मात्र असत् हो—ऐसा भी नहीं। पर्याय रूप से मात्र असत् हो तो पर्याय न उत्पन्न हो, न व्यय हो। द्रव्य मात्र सत् ही हो तो पर्याय न उत्पन्न होगी न व्यय होगी—पर्याय ही तब न होगी। और पर्याय द्रवित न हो तो द्रव्य भी न होगा। द्रव्य है अतः उसकी पर्याय भी है। पर्याय न होगी तो न द्रव्य का विकार होगा, न सत्कार्य होगा। उसका सद्भाव या असत् भाव कुछ भी न रहेगा, स्वयं द्रव्य ही तब असत् (नास्ति) हो जायेगा। अतः जैन दर्शन में अंत में मात्र असत् या सत् ही शेष रहे ऐसा नहीं,—परिणामी और अपरिणामी दोनों को लेकर सत् (ध्रौव्य) है। "गुण पर्यय वत् द्रव्यम्।" तथा उत्पाद व्ययशील ध्रौव्य ऐसा सिद्धान्त है।

अतः केवली पर्याय में पर्याय अपेक्षा मात्र असत् ही ध्वनित हो ऐसा नहीं है। वास्तव में वहाँ सत् की भी ध्वनि है, पर्याय रूप से भी और द्रव्य रूप से भी। द्रव्य का कथन दृष्टि भेद को ही लेकर हो सकने के कारण दृष्टि भेद (नय भेद) व अनेकांत की स्थापना को सम्यक् ग्रहण न कर सकने वाले मात्र अद्वैतवादी यहां उलझन में पड़ जाते हैं। इस सूक्त में—उस अनेकांत स्थिति ही का संकेत है जो जैन दर्शन का हार्द है। निर्मल आत्मा अनेकांत मय है। इस अनेकांत की ही ध्वनि यहां है।

योगाभ्यास दृष्टि से— यहां यह प्रकट होता है कि प्राण-चेतना मूलाधार के संघात मय घन को तरल करके स्वाधिष्ठान के तरल मण्डल में पहुंचकर वडवाग्नि के सहारे उत्पन्न हुए गैसेज (प्रोटोन का) वायु-तत्वों का आश्रय लेती हुई मस्तिष्कीय अंतरिक्ष लोक में पहुंचती है तथा फिर वहां परम व्योम के

आगे अनात्म प्रत्ययों से मुक्त स्व-आत्म-लोक में ही विहार करने लगती है। अतः प्राण का प्रथम घन जड़ भाव से तरल जल भाव में परिणमन ही उस प्रक्रिया का आरम्भ है जो द्रव्य कर्मरज को प्राण द्रव्य से विमुक्त करने के लिए आरम्भ होता है। अतः पर्यायान्तर रूप परिणमन के प्रथम तत्व श्रद्धा जल तत्व की तरफ सहज ही ऋषि का ध्यान आकृष्ट हुआ है कि अहो! क्या उस जल मण्डल से ही उस प्राणात्मा ने ज्ञानात्मक परिणमन होने में प्रथम यात्राचरण आरम्भ किया। यहां से ही आरम्भ कर क्या वह प्राणात्मा ज्ञानात्मा के रूप में अवतरित हुआ। आत्मा को जैन उर्ध्वगमनशील तत्व मानते हैं। यह तत्व जब तक अज्ञान व प्रमाद से जड़ रहता है—तब तक उसका उर्ध्वगमनशीलता का गुण भी निष्क्रिय रहता है। कर्मरज प्रत्ययों के विकर्षण होकर विरल होने पर, क्षायोपशमिक भावों में क्षायिक भावों के आविर्भाव पूर्वक उर्ध्वगमन की क्रिया सक्रिय हो जाती है। और तब परम व्योम से भी ऊपर आत्म-प्रदेशों का विस्तार विहार होने लगता है। फिर वहीं से आगे लोक के अन्य भाग में जैन धर्म प्ररूपित सिद्धालय, सिद्ध लोक भी है जहां अशरीरी अवस्था होने पर केवली आत्माएं प्रतिष्ठित रहती है। केवल दर्शन (श्रद्धा) के साथ ही केवल ज्ञान युगपत ही परिणमता है। अतः सम्यक् श्रद्धा रूप तरल भाव भूमिका ही उस केवल दर्शन के लिए आधारभूत है। इस आधार भूत श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) तत्त्व पर ही ऋषि अपना विस्मय प्रकट करते हुए यहाँ विमर्ष कर रहे हैं।

दूसरा मन्त्र है

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरःकिंच-नाऽऽस ।। (मन्त्र १७)

अर्थ—

(तब) न मृत्यु थी, न (जाग्रत) अमृत ही था, न रात्रि थी, न दिन था, वह बिना वायु प्राण लिये था, वह स्वज्ञान से एकात्मक अपनी परिपूर्ण महिमा में था और निश्चय ही उससे अन्य दूसरा कुछ न था।

यहां उसी केवल ज्ञान पुरुष का मनोहर विमर्ष ऋषि का चल रहा है।

उस तल्लीन केवल ज्ञान या कैवल्यावस्था में वह पुरुष न सामान्य प्राणी की तरह जीवित था न जागृत ही प्रतीत होता था और न वह मृत ही था। उसके लिये बाह्य जगत् के दिन रात के प्रकाश भी नहीं थे। वह दिन और रात्रि के प्रकाश आलोक से विलक्षण ही स्व प्रकाश आलोक में था। वह रात दिन की काल गणना से अतीत कालातीत अवस्था में था। वह सुषुम्ना गत प्राणों की स्थिति लिये होने के कारण श्वासोच्छ्वास क्रिया के क्षोभ बिना जीवन धारण किये हुए था। अतः ही वह बाह्य वायु के बिना था। वह अपनी सम्पूर्ण ज्ञान महिमा से एकात्म हुआ यानी केवल ज्ञान से ही मण्डित था। वह "पर" (पुद्गल अनात्म-कर्मरज) प्रत्ययों से भिन्न तथा असम्पृक्त स्व आत्म द्रव्य से

अद्वैत व अभिन्न था और उसके अतः अपने अन्तर में कोई भी अन्य (पर) द्रव्य का मेल न था। वह पर–द्रव्य और पर–भाव से विमुक्त था। उसका एकत्व हुआ स्व सम्पूर्ण निर्मल रूप प्रकट हो गया था।

तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतमसलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छे येश्नाभ्व पिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥ (मन्त्र १८)

अर्थ—पहले तम था, तम में वह छिपा था। वह सब लिंग रहित था, वह यह सम्पूर्ण असलिल भी न था। जो था वह तुच्छ से ढ़का गया था। उसने तप किया, तप की महिमा से एक (निर्मल) पुरुष (आत्मा) आविर्भूत हुआ।

यहां ऋषि यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह निर्मल आत्मा पूर्व में तो यानी तप करने के (योगाभ्यास में ध्यानादि रूप तप के) पूर्व तो तम-अज्ञान,—अंधकार में था, तमो-भाव, मिथ्या ज्ञान से ही आच्छादित था तथा उसी में उसका स्व-तत्व रूप निर्मल ज्ञान तत्व छिपा हुआ था, जो अलिंग स्वरूप था, अतीन्द्रिय स्वरूप था। तब जो भी था वह तुच्छ यानी अनात्मा कर्म-पुद्गल द्रव्य से आवृत्त था। तब वह सलिल नहीं था—श्रद्धा मय व ब्रह्मघनरस नहीं था। इसके अनन्तर जव उसने तपश्चर्या की तब उस तप की महिमा से एक (विशुद्ध अद्वैत परम) स्वरूपाभिन्न पुरुष (परम-आत्मा) रूप ही प्रकाशित हो गया।

यहां तप का संकेत भी वस्तुतः बड़ा महत्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत में भी इसी "तप" अक्षर का भ. आदिनाथ ऋषभदेव को अपनी ध्यान-चिन्तनात्मक स्थिति में अन्तः प्रकाश रूप से उल्लसित होने का वर्णन है जिसे हम पूर्व में कह चुके हैं। तीर्थंकर भगवान् का तपः कल्याण-पंच कल्याणों में महत्वपूर्ण मध्यवर्ती कड़ी है, गर्भ तथा जन्म कल्याणों के बाद तथा ज्ञान और मोक्ष कल्याणों के पूर्व इसी तपकल्याण की महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती है। तप के बाद ही ज्ञानात्मा का आविर्भाव होता है। जैनों का सारा योग विज्ञान तपश्चरण, तपोयोग ही है। ध्यान भी तप का ही प्रधान अङ्ग है। संवर तथा निर्जरा तत्व भी तप में ही है। जैन योग विज्ञान में तप की ऐसी महिमामय अपरिहार्य भूमिका है।

मन्त्र में आगे ऋषि उस कर्मरज सृष्टि के विषय में ही जिससे यह केवल आत्मा-पुरुष तपश्चर्या से पूर्व आच्छादित था, कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषाः (मन्त्र १९)

अर्थ—उसने पहले संवर्तन की कामना की। प्रथम जो हुआ वह उसके मन की रेतस् (चंचल)

शक्ति हुई। असत् में सत् ने बन्धुत्व किया। यह बात बुद्धिमान सर्वज्ञ ऋषियों ने जिज्ञासा पूर्वक जानी।

प्रवृत्ति रूप संसार में वर्तन या व्यवहार को संवर्तन कहा गया है। संसार में व्यवहार के लिए उसने कामना की। उस कामनामय राग संकल्पना की चंचल स्फुरणा से उस पुरुष के सत्-स्वरूप निर्मल सम चित्त स्वरूप में क्षोभ हुआ और असत् (अज्ञान) की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उसने असत् दशा को अपने संसर्ग, बन्धुरूप में साथ लेकर कर्मावरण की सृष्टि की थी। यह तथ्य उन सर्वज्ञ ऋषियों ने जाना। अर्थात् उस जीवात्मा ने अपने केवल ज्ञान से पूर्व की अज्ञान अवस्था में रागात्मक चंचल विकल्पों को जगत् के व्यवहार (संवर्तन) में ले करके अपने ऊपर कर्मास्रव व कर्मबन्ध को कर लिया यह उन ऋषियों ने जाना।

कामना (राग) द्वारा संसार प्रवृत्ति में संवर्तित उस जीव ने चंचल मनो दशा के साथ बंधुत्व (संसर्ग) करके-यानी विभाव भावमय होकर असत् दशा व कर्मबन्ध को कर लिया। क्योंकि मन वचन काय के परिस्पन्दन जब रागात्मक चंचल मनोभावों रूप अध्यवसायों रूप होते हैं, तो कर्म प्रत्यय आकर्षित तथा बद्ध होते हैं। तब ही कर्म-रजों की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग का आस्रव तथा बन्धरूप निर्माण होता है। कामना के उदय तथा मन की रजोमय चंचल दशा में जो ज्ञान से च्युत अज्ञान मय दशा होती है—उसको ही यहां ऋषि ने कहा है और वह ही कर्म सृष्टि की हेतु है तथा उसी से असत् की सृष्टि होती है।

कर्मरजों के आस्रव तथा बन्ध रूप असत् को बताकर आगे ऋषि तप के द्वारा जो केवल ज्ञान दशा प्रकटी है उसका वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

तिरश्चीनो विततो रश्मेरषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान् आसीन्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥ (२०)

अर्थ—उस (केवल ज्ञान) की किरणें तिरछी फैलती हुई नीचे की ओर फैली, या ऊपर की ओर वे शक्ति धारण किये हुए थी, बड़े विस्तार वाली थी और अपने ही आधार पर दूर तक फैली हुई थी।

और बड़े विस्तार वाली हुई

उस केवल ज्ञानी की केवल किरणें, तिरछी फैलती हुई नीचे व ऊपर, सर्वत्र ही विस्तृत ~~होती~~ हुई वे किरणें (ज्ञान) शक्ति को धारण किये हुए थी। अर्थात् उसका ज्ञान-चेतनात्मक आत्म-द्रव्य सर्व दिशा विस्तृत केवल किरणों, सर्व ज्ञान-शक्तियों का प्रकाश प्रकाशित ~~हुआ~~ करते, सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो गया तथा वे किरणों सम्पूर्ण तत्व में अभिन्न विस्तृत व व्याप्त ही थी। तथा वे अपने ही आधार, स्वयोग्यता (स्व उपादान शक्ति) आधार पर फैली हुई थी। यानी वह ज्ञान चेतना-सूर्य स्वयं स्व-प्रकाशित था, निरालम्ब स्वाश्रित था।

[illegible] पूर्वक

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में आचार्य श्री अमृतचन्द्र के एक वर्णन से तुलना करें।

"तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।"

वह परम ज्योति सम तथा समस्त अनन्त पर्यायों सहित जयमान होती है प्रकाशित होती है।

"तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा।"

उसी के अचल ज्ञान-सूर्य आत्मा प्रकाशित होती है।

यहां ऋषि का भी ऐसा ही वर्णन है। केवल भास्कर परम विशुद्ध आत्मा के केवल किरणों के उदय तथा विस्तार के वर्णन यहां तुलनीय ही हैं।

को अद्धा वेदक इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग-देवा अस्य विसर्जनों नाथ को वेद यत्र आब भूव ॥२०॥

अर्थ—

किसने यह जाना? किसने कहा कि कहां से यह आई, कैसे यह विशेष रूप सृष्टि हुई? इसके विशिष्ट सर्जन से आदि में (पूर्व में) इसका क्या अथ (आरम्भ) था, कौन जानता है? दिव्य शक्तियां तो उससे बाद हैं। कौन जानता है वे कहां से आविर्भूत हुई?

ऋषि यहां आत्मा स्वरूप की जो प्रचण्ड केवल किरणों सहित (विशेष,—केवल ज्ञान पर्याय) सृष्टि हुई है, उसी पर आश्चर्य भाव प्रकट कर रहे हैं। इस सृष्टि से पूर्व कौन जानता था कि ऐसी अपूर्व ज्ञान-दशा की सृष्टि भी होगी। और कौन कह सकता है कि यह स्वयं उद्भूत पर्याय कहां से आई, कैसे इसकी सृष्टि हुई, क्या किसी ने पहले ऐसी सृष्टि की बात—इससे पूर्व कही थी? इस सृष्टि का आरंभ क्या कोई कह सकता है? अर्थात् वह आत्म-द्रव्य ऐसा प्रकट हुआ जिसका न आदि था न मध्य था—न अन्त था। देवता भी–दिव्य शक्तियां भी उसे नहीं जानती, क्योंकि वह उनसे भी परे है, प्राप्त नहीं है। कोई नहीं जानता कि वह विशेष सृष्टि कैसे उद्भासित हुई। आत्मा की यह केवल-पर्याय स्व प्रकाशित स्वाधार होने से अनिर्वचनीय ही है। वह तो स्वप्रसाद से स्व शक्ति से स्वतः आप ही सकृत् उद्भासित हुआ करती है किसी भी दिव्य शक्ति या साधना के यह वश में नहीं है, इन सब से वह परे ही है।

धे
इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा द[illegible]यविवान।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥२२॥

अर्थ—

जहां से यह विशेष सृष्टि आई (उसने) इसे धारण किया या नहीं किया? अथवा—उसको

आधार है या नहीं है ? परम व्योमों (अंतरिक्षों) में कौन इसका अध्यक्ष है ? अहो ! अङ्ग (जैन शास्त्र-विशेष) में ही इसे कहा है या नहीं कहा है ।

"अङ्ग" शब्द—जो जैन पूर्वांगों की ओर संकेत कर रहा है—विशेष रूप से यहां द्रष्टव्य है । जिस केवल ज्ञानी परम-आत्मा, समाधि-प्राप्त पूर्ण आत्मा का यहां वर्णन चल रहा है, इस संदर्भ में जैन अङ्ग शास्त्र का उल्लेख बड़ा संगति मय और महत्त्वपूर्ण है ।

पूर्व मन्त्रों में असत् की उत्पत्ति द्वारा कर्मास्रव व कर्म-बन्ध तत्वों को इंगित करके—फिर तप द्वारा कर्म निर्जरा तत्त्व को कह कर केवल किरणों के प्रकाश में मोक्षकरी जिन अवस्था का वर्णन यहां हुआ है । तप से निर्जरा के बाद ज्ञान और मोक्ष—ये क्रम-विकास जैन तत्व-ज्ञान का ही है । कामना तथा चंचल मन की क्रिया से विभाव भाव कहा गया है जो कर्मास्रव व कर्मबन्ध के हेतु है ।

ऋषि का यहां तत्व-विमर्ष चल ही रहा है कि यह विशेष अनुपम अपूर्व विशेष ज्ञान पर्याय की सृष्टि कहां से आई ? तथा इस पर्याय को उस जीवात्मा ने धारण किया या नहीं किया । परम व्योम चिदाकाश अंतरिक्षों में इस विसृष्टि को किसने धारण किया था अथवा नहीं धारण किया ?

यहां ऋषि की विचारधारा पर्याय तथा द्रव्य के स्वरूप पर चल रही है । वे यह कहना चाह रहे है कि पर्याय उस आत्म-द्रव्य से प्रवाहित हुई, पर फिर कौन कह सकता है कि उस आत्मा ने उसे धारण किया था या कि वह उसका अध्यक्ष था । प्रत्येक पर्याय चाहे वह केवल ज्ञान पर्याय ही क्यों न हो आत्मा के गुण-भण्डार में से अपनी योग्यता से अपने ही आधार पर उदय में आती है और व्यय हो जाती है । और यह क्रम प्रत्येक क्षण चलता रहता है तथा कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता कि कोई पर्याय न रहे । वह आत्मा केवल-ज्ञान गुण के परिपूर्ण विकास प्रकाश को प्राप्त हुआ है, और साथ ही उस केवल ज्ञान गुण की गुणांश पर्यायें प्रवाह रूप प्रवाहित हैं । उनका उदय व व्यय होता रहता है । अतः "व्यय" को विचार में लें तो बड़ी मुश्किल है यह कहना कि आत्मा ने उन्हें धारण किया—तथा "उदय" को विचार में लें तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे आत्मा-द्रव्य से नहीं हैं । तथा वे स्वाधार निज उपादान शक्ति से प्रवाहित होने के कारण द्रव्य-गुण के आश्रय भी नहीं है । पर्याय कैसे—कहां से आती हैं, उदित होती हैं, और कैसे बिना धारण (स्थित रहे) व्यय भी होती है ? तथा ऐसा भी नहीं कि ये आत्मा की गुण (शक्ति) न हों । जब पर्याय परिणतियां परम व्योमों में पहुंचकर निर्मल रूप से प्रवाहित होती हैं—उनका कौन अध्यक्ष है ? वे तो गुणांश रूप से द्रव्य से कथंचित् भिन्न ही हैं । वे नित्यानित्य है । वे प्रवाह रूप से नित्य है तथा उदय और व्यय रूप अनित्य हैं । यह सब तथ्य अहो—उस अङ्ग-शास्त्र में ही सम्भवतः है ।

इस सृष्टि का आदि क्या ? यह अनादि प्रवाह है । द्रव्य रूप से आत्मा सदा ही निर्मल है और पर्याय में ही—विभाव रहने से परिणतियों की अशुद्धि रहती आई है । अतः आत्मा-द्रव्य तम से

आच्छन्न (मिथ्या ज्ञान आवृत्त) रहा है। पर्याय की शुद्धि कर्मरज की निवृत्ति होने पर होती है। पर्याय जब विभाव भाव से दिशा पलट कर अपने ही स्वभाव स्वरूप की तरफ प्रवाहित होती है तो वह ही स्वभाव धारा है, शुद्धपरिणतियों का प्रवाह है। निर्मल तम पर्याय की विशेष सृष्टि होना ही मुख्य तत्त्व है। इसी तत्व पर ऋषि ने यहां अपना ऊहापोह प्रकट किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस सूक्त में ऋषि का सत्, असत्, नित्य-अनित्य आदि के रूप से स्याद्वाद नय का संकेत है, जो एक मात्र तीर्थंकर प्रणाली में तथा तीर्थंकर प्रणाली से ही है। तथा अङ्ग शास्त्र का संकेत तो बहुत ही स्पष्ट है, वह जैन आगम शास्त्रों को ही प्रकट करता है। अङ्ग शास्त्र तो जैनों के प्रसिद्ध ही हैं।

ऋग्वेद के इस सूक्त में इस प्रकार केवल ज्ञान से पूर्व का तमोमय मिथ्या ज्ञान, आत्मा के साथ असत् से रागमय प्रवृत्ति कर्मास्रव व कर्मबन्ध तथा तप से निर्जरा व केवल ज्ञान किरणों का विस्तार तथा स्याद्वाद अनेकांत प्ररूपणा की प्रणाली तथा जैन अङ्ग शास्त्र का उल्लेख,—ये इतने सारे सब ऐसे स्पष्ट साक्षी व संकेत हैं जो जैन परम्परा को व ज्ञान को ऋग्वेद से भी पूर्व पूर्ण विकास को प्राप्त होने को प्रकट करते हैं।

आचार्य श्री शुभचन्द्र का इस नासदीय ऋचा से मिलता जुलता श्लोक "ज्ञानार्णव में है। यह "ज्ञानर्णव" के अन्तिम प्रकरण में श्लोक संख्या ८० पर है। वहां यह आत्मा के सिद्ध परमेष्ठी रूप में परिणमित होने के प्रसंग में कहा गया है। वहां नासत्, सत् नहीं— अनूठे शब्दों का भी प्रयोग है। इस शब्द व भाव साम्य से निष्कर्ष होता है कि ये उक्त सूक्त के मन्त्र सर्वज्ञ ज्ञान का ही कथन करने के लिए प्रकट हुए हैं। ज्ञानार्णव का यह श्लोक शुक्ल ध्यान के प्रसंग में तो कहा ही गया है, इससे पूर्व प्रकरण ३१ सवीर्य ध्यान में श्लोक नं १० पर भी प्रकट हुआ है। यह श्लोक इस प्रकार अति महत्वपूर्ण है।

श्लोक यह है

नासत् पूर्वाश्च पूर्वा नो, निर्विशेष विकारजाः।
स्वाभाविक विशेषा ह्य भूत पूर्वाश्च तद्गुणाः ।।

इसका अर्थ टीका में इस प्रकार दिया हुआ है—

"तद्गुण'' कहिये जो आत्मा के गुण हैं—वे जिनके विशेष नहीं है, और विकार से उत्पन्न हुए मति ज्ञानादि हैं, वे संसारी जीवों के साधारण हैं। सो ये गुण तो असतपूर्व कहिये, अपूर्व नहीं है, विद्यमान ही है। तथा पूर्व में नहीं भी थे। नवीन भी उत्पन्न होते हैं और स्वाभाविक हैं। ये विशेष अनन्त ज्ञानादिक है,—सो ये अभूतपूर्व हैं,—पूर्व में कभी प्रकट नहीं हुए ऐसे नवीन हैं।"

टीकाकार ने इसके पश्चात् भावार्थ में इसे स्पष्ट किया है।

शुक्ल ध्यान के सिद्ध परमेष्ठी प्रकरण में इस प्रकार कहा है—

"सिद्ध परमेष्टी के गुण पूर्व में नहीं थे—ऐसे नहीं है। यानी पूर्व में भी शक्ति रूप से विद्यमान थे,—क्योंकि असत् का प्रादुर्भाव नहीं होता, यह नियम है। यदि असत् का भी प्रादुर्भाव माना जाये तो शशशृंग का भी प्रादुर्भाव होना चाहिये—किन्तु होता नहीं है। यही इस नियम में प्रमाण है। और पूर्व में व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकारज उत्पन्न नहीं किन्तु स्वाभाविक है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध द्वारा निषेध मुख करके, इसी विषय को पुनः उत्तरार्ध द्वारा विधि-मुख से कहते हैं कि सिद्ध परमेठी के गुण स्वाभाविक व विशेष हैं अर्थात् पूर्व में भी शक्ति की अपेक्षा स्वभाव ही विद्यमान थे, और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्व में व्यक्त नहीं हुए ऐसे हैं।" भावार्थ—आत्मा के जो स्वाभाविक गुण पूर्वावस्था में अव्यक्त रहते हैं, वे ही सिद्धावस्था में व्यक्त हो जाते हैं। इसी से शक्ति की अपेक्षा से पूर्व में विद्यमान होने के कारण उन गुणों को, पूर्ग में नहीं थे, ऐसा नहीं कह सकते। और पूर्व में व्यक्त नहीं थे—इससे पूर्ग में थे, ऐसा भी नहीं कह सकते। और स्वाभाविक होने के कारण उनको विकारज भी नहीं कह सकते। किन्तु वे (गुण) शक्ति की अपेक्षा से स्वाभाविक और व्यक्ति की अपेक्षा से अभूतपूर्व ही कहे जाते हैं।

अर्थात्

ऐसे सामान्य, विशेष, शक्ति, सत् (व्यक्त), असत् (अव्यक्त), पूर्व, अपूर्व, कथन पूर्वक वस्तुतत्व का निरूपण तीर्थंकर प्रणाली में ही चलता है। और यह ही भाव तथा इस प्रकार की भाषा जो नासदीय सूक्त में आई है—यह सर्वज्ञ ज्ञान प्रणाली से स्पष्ट ही उपलब्ध हुई निर्णीत होती है।

इस सूक्त में बीज-मन्त्रों का उद्धार क्रम भी है। मन्त्र सं. १७ के "तस्माद्धन्यन्न" से "अन्यत् न" का अर्थ —एक अकेले (शुद्ध) परमेष्ठी आत्म प्रभु के वाचक ओम् का स्वरूप प्रकट होना माना गया है। मन्त्र सं. १८ में "तप-रूप" में छिपा था इससे ढ़कने वाली माया-शक्ति का संकेत लेकर "ह्रीं" माया बीज निकाला गया है तथा तप-महिमा से,—एक ज्ञान श्री संपन्न पुरुष उत्पन्न हुआ,—ऐसा जो इसी मन्त्र में है, उससे "श्रीं" बीज की निष्पत्ति ली गई है। तथा ज्ञान पुरुष से ज्ञान-बीज "ऐं" को ग्रहण किया गया है। फिर मन्त्र सं. १९ में प्रथम "कामः" से "क्लीं"—काम-बीज ग्रहण करके "ॐ ह्रीं, श्रीं, ऐं क्लीं"—इस प्रकार मंत्राम्नाय की सृष्टि ली गई है। अन्य प्रकार में इस ही मंत्र की सृष्टि इस प्रकार भी ली गई है—"ॐ ऐं श्रीं क्लीं सौं"। इसमें और पूर्व में दो बातों की भिन्नता है,—एक तो यह कि श्रीं और ऐं के क्रम आपस में बदल गये हैं—तथा दूसरी भिन्नता यह है कि इसमें सौं बीज का और ग्रहण हुआ है जो सत् और असत् रूप शक्ति के परिणमन के लक्ष्य से है। ये दो मंत्र क्रमशः निवृत्ति तथा प्रवृत्ति परक उद्धरित होते हैं।

इस प्रकार इस सूक्त से मंत्रोद्धार के द्वारा मंत्र भी लिए जा सकते हैं। पर इस सम्पूर्ण सूक्त की यथार्थ विलक्षणता तो केवल ज्ञानी पुरुष के वर्णन की ही है।

सृष्टि रचना का नहीं,—कर्मा वरण की रचना का कथन

वेदान्त ग्राम्नायों में नासदीय सूक्तों के साथ ही सृष्टि-रचना के संदर्भ में गीता के दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। वे है—ग्रध्याय सं. ८ श्लोक ३ ग्रौर २१। ये भी ग्रनादि जगत् की सृष्टि को नहीं, मानव प्राणी के साथ कर्मरज के बन्ध रूप सृष्टि को ही यर्थाथतः प्रकट करते हैं। क्योंकि न जगत् कभी सृष्ट हुग्रा, न इसका कोई सृष्टा ही है—यह ग्रनादि उत्पन्न ही है—यह कब नहीं था ? यह सत् रूप है ग्रौर सत् का कभी नाश नहीं होता। पर्याय मात्र ही बदलती रहती है।

स्वभाव व विभाव रचना

ग्रक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः ॥[1]

ग्रव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥[2]

ग्रर्थ—जो ग्रक्षर है, वह ब्रह्म है। जो परम है वह ही (ग्रात्मा का) स्वभाव है ये ही ग्रध्यात्म है। जो भूत (पंच भौतिक ग्रनात्म तत्त्व रूप) भाव हैं, वे भव को संसार को, उत्पन्न करने वाले है। ग्रौर वे उस विशेष सृष्टि को करते हैं, जो "कर्म" यानी कर्मावरण के नाम से कही जाती है। ८/३

जो ग्रव्यक्त (ग्रशरीरी) ग्रौर ग्रक्षर (ग्रक्षय) है—वह ही परम गति कही जाती है। उस ग्रवस्था को प्राप्त करके कोई संसार में निर्वतित नहीं होता। यह ही मेरा (प्रभु का) परम धाम है, ८/२१

दोनों श्लोकों के ये सरल ग्रौर सीधे ग्रर्थ हैं। यह ही जैन तत्त्व भी है। इनमें स्वभाव (ज्ञान), विभाव (ग्रज्ञान) का वर्णन है, परम स्थिति का वर्णन है,—ग्रक्षर रूप गुण का कथन है तथा ग्रशरीरी रूप देहातीत भगवान सिद्ध के धाम की चर्चा है। तथा साथ ही विभाव भाव (रागादि भाव को जो ग्रनात्म भौतिक पदार्थों के राग से होते हैं) को भवकारी विसर्ग (विशेष रचना) का हेतु बताया है। ग्रौर इस विशेष सृष्टि (विसर्ग) को कर्म के नाम से भी कहा गया है। जीव ग्रपने संसार-बंधन को जिससे सृष्ट करता है उसे ही भौतिक भावों से (जड रागात्मक विभावों से) कहा गया है। यह विसर्ग का विशेष प्रकार की कर्म सृष्टि का हेतु है। परम धाम जहां से प्रत्यावर्तन संसार में न हो की संकल्पना यहां ग्रवतार बाद का निषेध करने वाले जैन मोक्ष तत्त्व को ही निरूपित करती है।

---

1. (गीता ८/३) 2. (गीता –८/२१)

जैन योग का भेद विज्ञान

जैन योग में भेद-विज्ञान का कथन विशेष स्थान रखता है। जैन योग में अध्यात्म पुरुष का सारा निर्माण आत्मा और अनात्मा दो भिन्न तत्त्वों के भेद-विज्ञान होने पर ही होता है। यह दो भिन्न तत्त्वों की प्ररूपणा ही जैन तत्त्व ज्ञान है। चेतन द्रव्य अपने को आगन्तुक अचेतन द्रव्य के निमित्त से जो कि उसके विभाव भाव व मिथ्या ज्ञान या अज्ञान के कारण संयोगी होकर आया है, अचेतन वत् मानने लगा है, देह से ही अपने को बंधा समझता है। अचेतन द्रव्य से चेतन आत्मा जब अपने को भिन्न व विशिष्ट कर लेता है तो यह ही मुक्ति का स्वरूप है। एक ब्रह्म: तत्त्व—निरूपण में ऐसा भेद विज्ञान सम्भव नहीं होता। कठोपनिषद् में जैन तत्त्व, ज्ञान दर्शन इस प्रकार आया है—

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदयसन्निविष्टः ।
धै
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवैषीकांधैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृत, तं विद्याच्छुक्रम मृतमिति ।। —(कठो. २/६/१७)

सब प्राणियों के हृदय में जो अंगुष्ठ प्रमाण आकार में अन्तरात्मा स्थित है, वह ही पुरुष (आत्मा) है। उस पुरुष को शरीर से धैर्य पूर्वक उसी तरह भिन्न कर लेना चाहिये जिस तरह की मूंज (तृण-विशेष) के तार को उसके आवरक से भिन्न किया जाता है—उसे ही शुक्ल (शुद्ध) तथा अमृत जानो।

यहाँ पुरुष (आत्मा) और देह (अनात्मा) दो तत्त्वों की विलक्षणता को बताकर तथा उनको अलग-अलग करके शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने रूप भेद विज्ञान की विधि का उपदेश है तथा अन्तरात्मा ही शुद्धात्मा परमात्मा—अमृत स्वरूप परिणमित होता है, यह भी स्वीकार किया गया है।

"ईश्वरः सर्व भूताना हृद्देशे अर्जुन ! तिष्ठति—

सब प्राणियों के अन्तर-हृदय में वह ईश्वर (आत्मा-प्रभु) ही विराजमान है। यह गीता में ही नहीं अन्य श्रुति में भी है—

एको देवो सर्वभूतेषु गूढ़ः, सर्व व्यापी भूतान्तारात्मा कर्माध्यक्षः, सर्व कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां,
एकं बीजं बहूधा यः करोति,

तत्रात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तैषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।

अर्थात्--सर्व प्राणियों के हृदय में एक (निर्मल) देव (चैतन्य आत्मा) प्रतिष्ठित है, जो देह में सर्व व्यापी है और सब प्राणियों में अन्तरात्मा रूप है। वह स्वकर्म का अध्यक्ष है। सब प्राण स्तरों—आधारों का वह अधिष्ठान है। वह साक्षी है, चेता (ज्ञायक) है, केवल (शुद्ध) है, और निर्गुण (गुणत्रय से रहित) है।

वह एक (निर्मल) होकर भी (अज्ञान अशुद्ध दशा में) अनेक निष्क्रिय जड़ पदार्थों के वश में हो जाता है तथा वह एक ही बीज रूप देह (भवयोनि अवस्था) को बार-बार प्राप्त कर लेता है। उस अन्तरात्मा ज्ञायक दृष्टा को जो आत्मस्थ होकर अपने अन्तर में देख लेते हैं, उन्हें ही शाश्वत् शान्ति की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं।

यहाँ अन्तरात्मा के द्वारा परम स्थिति, शाश्वत्-स्थिति की प्राप्ति को कहा है। यह वही प्राप्ति है जो जैन योग-विज्ञान की अन्तरात्मा से परमात्मा की प्राप्ति है। ऐसे गीता में व श्रुति-उपनिषद् में भी जैन तत्त्वों की प्रतिध्वनियाँ आई है।

वेदों का पुरुष है भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभ देव)

प्राचीन साहित्य व वेदों आदि में जिसको पुरुष नाम से स्थापित किया गया वह आदि पुरुष व युग-सृष्टा भ. ऋषभदेव हिरण्यगर्भ ही रहा है। बाद में यह शब्द उसी शुद्धात्मा पुरुष के शुद्ध परम स्वरूप का वाचक होकर निर्मल परम आत्मा का वाचक भी हो गया है। भगवान ऋषभदेव ने ही सर्व प्रथम धर्म शासन तथा योग शासन प्रवाहित किया। अतः ही सब विश्व ने उन्हें पूर्ण पुरुष तथा निर्मल आत्मा के रूप में स्वीकार किया। तथा देव, असुर, नाग आदि सब ही मानव जातियों ने उनके चरणों में श्रद्धा सुमन चढ़ाकर अपने को धन्य किया था। अतः आज तक तीर्थंकरों के वर्णन में "देवासुरार्चितांध्रिपद" व "भक्तामरप्रणतमौलिमणि प्रभाणां" आदि पदों से उनके पूजनीय चरणों का वन्दन होता है,—जो अन्य किसी भी भारतीय पुरुष के लिए प्रचलित नहीं है। इसी पुरुष के लिए पुरुष-सूक्त का वर्णन वेदों में आया है और यह सूक्त इतना मंगलकारी माना गया कि आज दिन वेद पाठी ब्राह्मण वर्ग में ही नहीं, समस्त हिन्दु समाज में इसका बड़ा मान व महत्त्व है। तथा विवाहादि में सात्विक अनुष्ठान आदि के बाद के समापन व यज्ञादि कार्य के समय भी इस पुरुष सूक्त में उसे ही गाया जाता है। इसे अति पवित्र व मंगलकारी माना जाता है।

पुरुष प्रतीक और अयोध्या का प्रतीक

जैन समाज में अब भी दीपावलि व दशलक्षण पर्व आदि से पूर्व दिन मिट्टी के नए घड़ों को पानी से भरा जाता है जिसे कोरण्डा डालना कहते हैं और फिर घर के आंगन व रसोई में फूल मांडे जाते हैं और एक प्रतीक भी लिखा जाता है जो अष्ट चक्र तथा नव द्वारों से मिलता जुलता है। यह प्रतीक अयोध्या तथा भ. आदिनाथ की स्मृति है। सिन्धु-घाटी में जो उत्खनित मिट्टी की मुद्राएं

मिली हैं—उनके बीच में एक ऐसे ही प्रतीक का लेख मिला है जिसमें दाहिनी तरफ एक पूजनीय "पुरुष" के प्रतीक वृक्ष की एक व्यक्ति पूजा कर रहा है और बाईं तरफ जो प्रतीक है उसमें चारों दिशाओं में दो दो वृत्त चक्र है तथा उनके चारों कोनों के छोटे त्रिकोणों को छोड़ दें तो अन्दर नौ भाग हैं, जो नौ द्वार कहे गये हैं। यह ही मूल अयोध्या का प्रतीक है और यह मूल अयोध्या वही है जो सिन्धु-घाटी सभ्यता का आदि केन्द्र रही और वर्तमान में हड़प्पा के नाम से परिचय में आई है। यह प्रतीक अजैनों में भी प्रचलित है और लोग भारतीय पर्व दिनों में दिवाली आदि पर भारत के करोड़ों स्त्री पुरुष आटे आदि की आकृति बनाकर इसका पूजन करते हैं यद्यपि वे नहीं जानते कि इस प्रतीक का किससे सम्बन्ध है और वे क्यों इसे पूजते चले आ रहे हैं। कुछ मत यह भी मानना चाह रहे हैं कि यह भगवान् राम से संबन्धित प्रतीक है—मगर उत्खननों के द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि यह मूल अध्योया भगवान् राम से सम्बन्धित नहीं है। भगवान् राम की अयोध्या तो सरयू किनारे रही है और सरयू नाम से ही उसका वर्णन मिलता है।

पर यह भी संभव है कि वर्तमान अयोध्या भी बाद में बसी हो और इसी कारण वहाँ राम से सम्बन्धित कोई सामग्री न मिल पाई हो। काल का बीच में इतना लम्बा प्रवाह रहने से सम्भव है कि श्रीराम वाली अयोध्या भी मूल रूप में अन्यत्र रही हो और बाद में उस नाम पर इस वर्तमान अयोध्या की स्थापना की गई हो। बहरहाल यह निश्चित है कि भ. ऋषभदेव, आदिनाथ तथा मनु भरतों से सम्बन्धित और भ. ऋषभदेव द्वारा इन्द्र की सहायता से बसाई गई अध्योया जिसे वेदों में अष्ट चक्रो व नव द्वारों तथा स्वर्ण-मण्डप से विभूषित कहा है, वह हड़प्पा सिन्धु-घाटी में ही कहीं होनी चाहिये।

चैत्य वृक्ष—वृक्षों की श्रमण मान्यता

उत्खनित मिट्टी की उक्त मुद्रा जो हड़प्पा संस्कृति की मिली है, उसमें जिस वृक्ष की पूजा व्यक्ति कर रहा है—वह चैत्य वृक्ष है, और यह चैत्य वृक्ष उस ही पूर्ण पुरुष का प्रतीक है जिसे जैन आदि पुरुष आदीश्वर कहते हैं और पुरुष सूक्त में पुरुष नाम से व हिरण्यगर्भ नाम से कहा गया है। जिस प्रकार बीज अपनी खोल को छिन्न करके एक नन्हें स्वरूप से विकास करता हुआ परिपूर्ण वृक्ष बनकर पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है, उसी प्रकार जीवात्मा—पुरुष वृक्ष के समान अपने कर्मावरण को तोड़कर क्षुद्र भाव से विकास करके एक महान् विराट् पूर्ण-पुरुष के रूप में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है। इस वृक्ष के ज्ञान-पुष्प और मोक्ष फल लगते हैं। यह पूर्ण चैत्य पुरुष वृक्ष मोक्षार्थियों के ध्यान का ध्येय व आराधना का आराध्य होता है। यह ध्यान का कल्पतरु है। तब ही योग प्रदीप में भी कहा है—

> ध्यानकल्पतरु लोके ज्ञान पुष्पैः स पुष्पितः।
> मोक्षामृतफलैर्नित्यं फलितोऽयं सुखप्रदः ॥ १०८ ॥

यह पुरुष अर्हन्त है। अर का अर्थ है क्षुद्र, तुच्छ और हन् का अर्थ है नष्ट करना। तुच्छता एवं क्षुद्रता के खोल को यह नष्ट करके विराट् अर्हन्त होता है। यह ही अर्थ ब्रह्म का भी है—यानी वह पुरुष जो अपने विराट् स्व "स्वरूप" की निर्मलता प्राप्त कर लेता है। अत. उक्त मुद्रा में चैत्य वृक्ष के प्रतीक से उस आदि निर्मल पूर्ण पुरुष भ० ऋषभदेव को निरूपित किया गया है। यह पुरुष तो सत्य-युग कालीन है। भ० राम तो बहुत बाद में त्रेता युग के महापुरुष हुए हैं, अतः यह पुरुष तो अग्रज पुरुष हिरण्यगर्भ भगवान् आदिनाथ ऋषभनाथ ही है। यह पूर्ण पुरुष ही सर्व प्रथम केवली व केवल-ज्ञान-भास्कर कहलाये। वृक्ष रूप इस प्रतीक को सूर्य भी इसी कारण कहा जाता है,—क्योंकि वह पुरुष केवल-ज्ञान सूर्य ही परिणमित हुआ था। यह प्रतीक ही उस आदि प्रभु के विराट् आत्मा के स्वरूप को दिखाता है। वृक्ष की उपमा प्राचीन काल में निर्ग्रन्थ अध्यात्म क्षेत्र में प्रचलित थी। गीता में भी "अश्वत्थः सर्व-वृक्षाणां"—ऐसा कहा है।[1] जैन तीर्थंकरों से अशोक वृक्ष, कल्प वृक्ष आदि सम्बन्धित रहे हैं। भ. शीतल नाथ का चिह्न कल्पवृक्ष है। ऐसे ही महात्माबुद्ध का पीपल वृक्ष से सम्बन्ध है। सब ही तीर्थंकरों के उनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न वृक्ष रहे हैं। इस प्रकार वृक्ष प्रतीक से वर्णन की परम्परा विशेष कर श्रमण परम्परा में चलती ही आई है। अतः यह स्पष्ट है कि अयोध्या के प्रतीक से, उस अयोध्या से, जो देवों के देव (देवेन्द्र) द्वारा निर्माण को प्राप्त हुई, सम्बन्धित उक्त मुद्रा पर उत्कीर्ण वृक्ष भी योगी जनों व जैनों के आराध्य तथा वेद वर्णित अयोध्या के स्वामी,—आदि-पुरुष का ही प्रतीक है जो हिरण्यगर्भ आदीश्वर, हरिः, भ. ऋषभदेव, वृषभनाथ आदि नामों से विभूषित है तथा जो देवेन्द्र पूजित होने से देवाधिदेव कहा गया है।

परोक्ष प्रिय ऋषि देवों के वर्णन संकेत रूप में

पुरुष सूक्त में इसी पुरुष का वर्णन है। तथा ऋषिगण "परोक्ष प्रिया हि देवाः" होने से अनेक वर्णनों के रूपक तथा संकेतों को समझना तथा स्पष्ट करना चाहिए। उस पुरुष सूक्त के वर्णन देने से पूर्व हम थोड़ा अन्य और विवेचन यहां देते है।

ऋषभदेव, अग्नि देव और अग्नि पूजा

"ऋग्वेद-आदि में अग्निदेव की स्तुति की गई है। उस अग्निदेव की स्तुति मेंप्रयुक्त विशेषणों से ऐसा प्रतिबोध होता है कि वह स्तुति अग्निदेव के रूप में भ. ऋषभदेव की ही की गई है—जैसे जातवेदस्-शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त किया है, वह जन्म से ज्ञान संपन्न ज्योति स्वरूप भगवान् ऋषभ-देव के लिए ही है। "रत्नधरत्त" अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करने वाला, "विश्व वेदस—" विश्व तत्व के ज्ञाता, मोक्ष नेता, "ऋत्विज" धर्म के संस्थापक, आदि से ज्ञात होता है कि यह अग्नि भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति ऋषभदेव भगवान् है। इस कथन की पुष्टि अथर्ववेद के एक सूक्त से होती है जिसने ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें "जातवेदस्" बताया है। वहां कहा है रक्षा करने वाला, सब को अपने भीतर रखने वाला स्थिर, स्वभावी, अन्नवान्, ऋषभ संसार के उदर

---

[1] भगवद्गीता १०/२६

का परिपोषण करता है। उस दाता ऋषभ को परम ऐश्वर्य के लिए विद्वानों के योग्य, मार्गों से बड़े ज्ञान वाला, अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष प्राप्त करें।" (अथर्ववेद–९/४/३)

"अग्नि देव के रूप में ऋषभदेव की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है कि जब भ. ऋषभदेव स्थूल सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए उस समय उनके प्रशांत रूप को आत्म सात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन-मानस के लिए संस्मृति का विषय रह गई। जनता अग्नि-दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। इसलिए वेदों में स्थान-स्थान पर "देवा अग्निम् धारयन् द्रविणोदाम्" शब्द द्वारा अग्नि देव की स्तुति की गई है। इसका अर्थ है—अपने को देव संज्ञा से अभिहित करने वाले आर्य जनों ने धन-ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि (प्रजापति-ऋषभ) को अपना आराध्य देव धारण कर लिया।

"इससे यह स्पष्ट होता है कि भ. ऋषभदेव के निर्वाण के समय से ही अग्नि के द्वारा पूजा-विधि की परम्परा शुरू हो गई थी।" —(श्री देवेन्द्र मुनि-ऋषभदेव एक परिशीलन)

अथर्ववेद में ऋषभदेव की परमेश्वर के रूप में स्तुति

"अथर्ववेद के नवम् खण्ड में ऋषभदेव शब्द से परमेश्वर का ही अभिप्राय ग्रहण किया है। और उनकी स्तुति परमेश्वर के रूप में उत्पन्न भक्ति के साथ की गई है—"इस परमेश्वर का प्रकाश युक्त सामर्थ्य सर्व उपायों को धारण करता है, वह सहस्त्रों पराक्रम युक्त पोषक है, उसको ही यज्ञ कहते हैं। हे विद्वान लोगों! ऐश्वर्य रूप का धारक, हृदय में अवस्थित मंगल धारी, वह ऋषभ सर्वदर्शक परमेश्वर हमको अच्छी तरह से प्राप्त हो (अथर्ववेद–९/४/७)

जो ब्राह्मण, ऋषभ को अच्छी तरह प्रसन्न करता है उसको दिव्य गुण तृप्त करते हैं। (अथर्ववेद—९/४/८)

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मन्त्रों में भ. ऋषभदेव का जीवन वृत्त उसी प्रकार उल्लेखित है—जैसा जैन परम्परा विधान करती है। उन मंत्रों (ऋग्वेद १०/४५/१) में कहा गया है कि अग्नि प्रजापति प्रथम देव लोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे मध्य जन्म से ही ज्ञान-संपन्न होकर प्रकट हुए, तृतीय रूप इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है—जब उन्होंने भव-समुद्र में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्म बन्धनों को जला दिया। तथा हे अग्रनेता! हम तेरे इन तीन रूपों को जानते है, इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व में धारण किये हुए रूपों को भी जानते है, तथा तेरा जो निगूढ परम धाम है वह भी हमें ज्ञात है और जिसमें तू हमें प्राप्त होता है, उस उच्च मार्ग से भी अनभिज्ञ नहीं है।—ऋग्वेद १०/४५/२)।

गायत्री मन्त्र और केवल ज्ञान सूर्य

गायत्री मन्त्र (ऋग्वेद ३/६२/१०) की व्याख्या देवेन्द्र मुनि ने प्रकट करते हुए कहा है कि सूर्य पूजा के रूप में भ. वृषभदेव की पूजा सिद्ध होती है,—यथा "ऊं" पंच-परमेष्टी,—"भू:" सर्वश्रेष्ठ, "भुव:" —जन्म मरण आदि दु:खों से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय मार्ग के उपदेष्टा, "स्व:" शुद्धोपयोग में स्थित, "तत्"—उस ऊं वाचक परमेष्ठी को "सवितु:" हिताहित का मार्ग बललाने के कारण त्रिलोक के लिए सुखदायक है। वह "वरेण्यम्"—उपासना मार्ग को, "देवस्य" तीर्थंकर को "धीमहि" धारण करते हैं "धी यो न:", उन तीर्थंकर ऋषभदेव के उपदेश से, हमारी बुद्धि "प्रचोदयात्" सत्कार्यों में प्रवृत्त हो। अर्थात् पंच परमेष्टी के स्वरूप आदि ब्रह्म श्री ऋषभदेव के प्रसाद से हमारी बुद्धि राग-द्वेष से रहित होकर शुद्धोपयोग में लगे—(ऋषभदेव-एक परिशीलन-पृ. ५२)

पुरुष सूक्त में भगवान आदिनाथ वृषभेश्वर की स्तुति विराट् सर्व रचयिता उपास्य पुरुष के रूप में स्तुति

सूक्त कार ने सम्पूर्ण सूक्त में उस भ. आदिनाथ वृषभदेव की ही स्तुति कही है—

ऊं सहस्त्रशीर्षा पुरुष: सहस्त्राक्ष: सहस्त्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।१।।

अर्थ—इस परम पुरुष के अनन्त शीर्ष (अनन्त बुद्धि, अनन्त ज्ञान) अनन्त नेत्र (अनन्त दर्शन) और अनन्त ही चरण (चारित्र) है। वे ज्ञान स्वरूप सम्पूर्ण विश्व स्थान को व्याप्त करके दश अंगुल भूमि पर स्थित है।

यहां सहस्त्र शब्द अनन्त का बोधक है। दश अंगुल भूमि पर अवस्थित होते हुए भी वह सर्व विश्व को अपने सर्वगत सर्वज्ञ ज्ञान से व्याप्त करके, विराट् आत्म स्वरूप में है। तथा यह विराट् स्वरूप उसके अनन्त चतुष्टय,—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त चारित्र, अनन्त सुख में परिलक्षित हुआ है। इस रूप में वह साकार मोक्ष स्वरूप हुआ है; क्योंकि "सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग:" (तत्वार्थ सूत्र) कहा गया है। इन तीन अनन्तों को ही लेकर वह चतुर्थ अनन्त, अनन्त सुख रूप है—ऐसे वह अनन्त चतुष्टय का स्वरूप है। दशांगुलस्थिति, उनका खड्गासनस्थ होना प्रकट करती है।

ऊं पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।२।।

यह जो इस समय वर्तमान है, बीत गया है, आगे होने वाला है, वह सब (त्रिकाल पर्याय-परिणमन सहित) परम पुरुष ही है। यह अमृतमय गुणों के, तथा अन्न से जीवित (प्राणों) के वा देह

के, स्तर के भी अतीत ईश्वर है, अर्थात् यह प्रभु अपने गुणों का राशि या भण्डार मात्र ही नहीं है, यह अन्न से जीवित (पोषित) देह या प्राण मात्र भी नहीं है,—यह तो इन सबसे विलक्षण तथा अतीत है तथा कालातिवर्ती है। अर्थात् वह तो अक्षर अनन्त-गुण, तथा क्षर-देह या पर्याय मात्र से परे परम स्वरूप परम पुरुषही है—

न
ऊं एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादौऽस्य बिश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

यह समस्त भूत विषय वर्तमान से सम्बद्ध पर्याय जगत् इस परम पुरुष का वैभव (महिमा) प्रकाशित करता है। वह पुरुष अपने इस गुण-विभूति प्रकाश-विकास (विस्तार) से महान् है। इस प्रभु का एक पाद (चतुर्थांश) ही पंचभूतात्मक देह ब्रह्माण्ड है, शेष त्रिपाद में अन्तरीक्ष द्यु लोक तथा नित्य, शाश्वत् सिद्ध अलोक आदि है।

यहां देह स्तर की लघुता तथा उस स्तर से परे परम पुरुष की महत्ता का विलास कथित हुआ है। नित्य लोक उनके मुक्त स्वरूप को बतलाता है। सृष्टि के चार पाद-अधःलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक तथा सिद्ध लोक का यहां संकेत है तथा देह लोक में इन चार लोकों की स्थापना से—यह प्रकट किया गया है कि उस प्रभु की चेतना सम्पूर्ण रूपेण जागृत प्रकाशित होकर शीर्ष भाग सिद्धलोक तक प्रकाशित हो गई थी।

ऊं त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभिः ॥४॥

वह पुरुष मायिक (अनात्म) जगत् से परे, त्रिपाद विभूति (दिव्य प्रकाश) से भी उर्ध्वं (ज्ञान में) प्रकाशमान है। वह दिव्य शक्तियों के प्रकाश से भी ऊँचे स्वज्ञान से प्रकाशित है। त्रिपाद का अर्थ पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। उनसे एक पाद "पृथ्वी" के ज्ञान में वनस्पति विज्ञान का आविर्भाव हुआ। वनस्पतियों के साशन (खाद्य) और निरशन (अखाद्य) दो भेद प्रकट हुए। ये दोनों भेद-उसी खाद्य अखाद्य विचार के मूल हैं जो जैनों में अब भी प्रचलित हैं। अन्तरिक्ष के ज्ञान में उन्होंने चिदाकाश और आत्म अन्तरीक्ष का ज्ञान तथा स्वर्ग से परे सिद्ध लोक के ज्ञान में प्रकाशित किया। उन्होंने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप, जिसके त्रिपाद हैं,—ऐसे आत्म-धर्म का प्रकाश किया।

ऊं तस्माद् विराड् जायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्वाद् भूमिमथोपुरः ॥५॥
चा

इस आदि पुरुष के निमित्त से विराट् (ज्ञान) उत्पन्न हुआ। विराट् रूप परम पुरुष ही

अधिपुरुष हिरण्यगर्भ हुआ। हिरण्यगर्भ होकर वह अत्यन्त प्रकाशित, ज्ञानवान हुआ। पीछे भूमि, पुर, नगर, आदि की उसने रचना की।

यहां सूक्तकार ने भगवान् आदिनाथ के द्वारा अपने राज्यकाल में विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो जो रचनाएं हुई, पुर, नगर, आदि बसाये गये, उनका संकेत किया है तथा उन्हें विराट् ज्ञान से द्युतिमान होना प्रकट किया है।

ॐ यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत:।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्हविः ॥६॥

देव पुरुष आर्य-जनों ने उस पुरुष के माध्यम (निमित्त) से यज्ञ की सामग्री (हविष्य) से यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञ में बसंत ऋतु आज्य (घृत), ग्रीष्म ऋतु ईंधन तथा शरद ऋतु हविष्य बना। इस प्रकार देवों ने यज्ञ के लिए भावना की। अर्थात् उन देव-पुरुषों ने तीनों ऋतु-कालों को ही उस पुरुष की आराधना रूप यज्ञ में सुनियोजित किया। यहां यज्ञ से लोक-पावन तथा आत्म-पावन आत्म-यज्ञ का निर्देश हुआ है।

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षत् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

सब से अग्रज-आदि-पुरुष हिरण्यगर्भ, उस पुरुष को ही यज्ञ में देव-पुरुषों ने, साधकों ने, ऋषियों ने कुश के द्वारा प्रोक्षण करके यज्ञ को सम्पूर्ण किया। कु का अर्थ होता है पृथ्वी, श का अर्थ है शयन, इसमें पृथ्वी को शयन या स्थिति मात्र भाव से ग्रहण करके-सर्व परिग्रह का त्याग करके उस यज्ञ को सम्पूर्ण किया—यह भाव प्राप्त है। तथा यह भी भाव है, कि साधकों ने पृथ्वी रूप देह में शयन करने वाले पुरुष (आत्म) की भावना द्वारा यज्ञ को (आराधना को) सम्पूर्ण किया। "पुरि शेते इति पुरुषः" ऐसी व्युत्पत्ति से "आत्मा", अर्थ गृहीत होता है। तथा योग विज्ञान के विचार से यह अर्थ भी सम्भव है कि पृथ्वी-तत्त्व से आरम्भ करके, क्रमशः जल, अग्नि आकाश आदि अनात्मभूत तत्त्वों को शयन कराते यानी उन तत्त्वों की भेद-भावना करते हुए, तत्त्वों से अतीत उस आत्म पुरुष की आराधना की। भेद विज्ञान आत्म विज्ञान का अभिन्न अङ्ग है ही।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥

उस यज्ञ से—जिसमें सब कुछ (पर-स्वरूप) आहुत कर दिया गया था, प्रशस्त आज्य (घृत,—दया व करुणा का स्नेह) उत्पन्न हुए। उससे ग्राम में, अरण्य में, वायु में रहने वाले अन्य पशु-वृद्धि व समृद्धि को प्राप्त हुए। यहां आत्म शोधन रूप यज्ञ से दया और करुण मय अहिंसा धर्म और

उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त समृद्धि संकेतित की गई है। सर्वत्र अहिंसा तथा शान्ति की स्थापना से सब प्रकार के जीव प्राणियों को सुख समृद्धि प्राप्त हुई।

यज्ञ-कर्म से सूक्तकार ने भ. आदिनाथ के लौकिक तथा पारलौकिक कर्मों (कृत्यों) का संकेत दिया है। उनके द्वारा यज्ञार्थ व अन्न के लिए पशु-पालन तथा कृषि कर्म की शिक्षा तथा प्रेरणा दी गई। नगर पुरों की रचना से अपने कुलों, (मानवों) को तथा पशुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर चराते हुए, चरवाहों के (घुमक्कड़ जीवन के स्थान पर) स्थिर सभ्य नागरिक जीवन का, कृषि प्रधान जीवन तथा नगर रचना के द्वारा आरम्भ कराया, तथा अपने इन लौकिक कर्मों से सर्वत्र समृद्धि को पुरस्कृत किया। ऐसा भी भाव यहां गृहीत होता है।

आत्म-शोधन रूप अलौकिक यज्ञ-कर्म (साधना) को स्वयं किया, साधक-जनों, ऋषियों, देव पुरुषों से भी, उन्हें प्रशिक्षित करके कराया-जैसा कि सूक्त ७ में संकेत है। उस आत्म-यज्ञ से आत्मा के शुद्ध स्वरूपों का ज्ञान ऋषिगणों को प्राप्त हुआ। वह आदिनाथ इस प्रकार मानव-संस्कृति तथा अध्यात्म योग-विज्ञान का पुरस्कर्ता हुआ। तथा "योग का प्रथम वक्ता" होने की गरिमा उसे प्राप्त हुई। इस योग-विद्या से ही ऋषिगण मन्त्र-द्रष्टा रूप में अन्तः स्फुरित हुए और इससे ही तदनन्तर ऋचाएं बनी व ऋग्वेदादि के संकलन हुए।

ऊं तस्माद्‌यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

यहां सूक्त कार ने वेदों के प्रादुर्भाव होने की रहस्य को उद्‌घाटित किया है।

उस पुरुष की आराधना यज्ञ से, जिसमें सब कुछ ही आहुत कर दिया गया था, फिर ऋग्वेद, सामवेद प्रकट हुए। इसी से छन्द प्रकट हुए। इसी में यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई। ऋषियों ने उस पूर्ण पुरुष को निमित्त पाकर सर्व परिग्रह से रहित होकर आत्म-शोधन एवं आत्म-साधना का यज्ञ किया, तथा इस तपो मय यज्ञ से जो उस अग्रज हिरण्यगर्भ के वेदों का माध्यम से किया गया, ज्ञान विद्याओं का आविर्भाव हुआ। गीता में भ. श्रीकृष्ण ने भी भ. प्रजापति हिरण्यगर्भ द्वारा अध्यात्म साधना रूप यज्ञ व प्रजा-सृष्टि की रचना करने का उल्लेख स्पष्ट तौर पर किया है—कहा है—"सहयज्ञाः प्रजा- सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः" (गीता ३/१०)। यह रचना कल्प के आदि में की गई—ये कहा है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुरुष वेद-रचना से बहुत पूर्व में हुए। इसी से भगवान् ऋषभदेव को पूर्व-गामी व पूर्व-ज्ञान के पुरस्कर्ता कहा गया है। वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से है—विद् "ज्ञाने" अर्थ होने से वेद का वास्तविक अर्थ ज्ञान है। वेद का अर्थ वस्तुतः किसी पुस्तक का भी नाम नहीं है, यद्यपि इनसे ऋक्, यजु, साम नाम की पुस्तक ग्रन्थों का भी अर्थ अब रूढ़ हो गया है। वैदिक परम्परा वेद को अपौरुषेय मानती है परन्तु यहां पुरुष सूक्त कार ने इन वेद ग्रन्थों की उत्पत्ति भ० हिरण्यगर्भ आदि पुरुष ऋषभनाथ से होना कहा है। इनके ही अक्षर-तपोयोग मय यज्ञ का अनुष्ठान

करने से वे ऋषि गण मन्त्र द्रष्टा हुए और उन्हें मन्त्रों की प्राप्ति हुई—जिनसे वेद ग्रन्थ संकलित हुए। इस प्रकार वेद साक्षात् मानव पुरुष भ. ऋषभदेव से अनुगृहीत ऋषियों द्वारा प्रणीत होने से यहां उन वेदों को उस प्रभु के यज्ञ से ऋक् यजु साम तथा छन्द प्रकट हुए कहा है। वेद किसी अव्यक्त निराकार ईश्वर कृत नहीं हैं। वे मनुष्यों की (ऋषियों) की कृति हैं, जो भ० हिरण्यगर्भ आदि पुरुष वृषभ के माध्यम से सम्भव हुई हैं।

सूक्तकार उस अग्रज पुरुष के द्वारा पशुपालन को भी सिखाने की बात को कहने के बाद उसका वर्णन एक वर्ण-पुरुष, एक समष्टि (समाज) के ही प्रतीक के रूप में प्रकट करता हुआ कहता है—

ॐ तस्मादश्वा अजयन्त ये के चोभयादंतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।।१०।।

उस पुरुष द्वारा घोड़े उत्पन्न किये गये, इनके अतिरिक्त नीचे ऊपर दांतों वाले (गर्दभादि) पशु भी उत्पन्न किये गये, गायें उत्पन्न की गई, तथा उन्हीं के द्वारा बकरियों और भेडें भी उत्पन्न की गई। पशु-पालन का एक विशाल अभियान-यज्ञ ही इस प्रकार उनके द्वारा किया गया।

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते।।११।।

जिस पुरुष का संकल्प (विधान) हुआ, उसको कितने प्रकार से कल्पित किया गया, उसका मुख कैसा था, बाहु क्या था? जंघाएं क्या थी, और चरण क्या थे? वो ही आगे इस प्रकार बताया गया है—

ॐ ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीदाद्वाहूराजन्य कृतः।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।१२।।

उनका मुख ब्रह्मविद्या को कथन करने वाला ब्राह्मण रूप था, दोनों भुजाएं कर्मठ पराक्रम को धारण करने वाली क्षत्रिय रूप थी। दोनों जंघाएं धैर्य-शक्ति से धृत होने से संभरण करने वाले वैश्य रूप थी, तथा उनके पैर सदा प्रगति के लिए सन्नद्ध व सेवक "शूद्र" रूप थे। इस प्रकार वे समस्त चार वर्णमय जन-समाज के ही प्रतिक रूप थे। वे अकेले ही सब वर्णों के धर्म ज्ञान, पराक्रम, पोषण तथा सेवा को प्रतीयमान करने वाले थे। वे इस प्रकार सर्व वर्ण मय साक्षात् समिष्टि रूप हुए। सूक्तकार ने सर्व वर्णों को भगवत् स्वरूप में स्थापित करके चारों वर्णों की समान पवित्रता को सूचित किया है।

सूक्तकार उनके इस प्रकार एक विराट् समष्टि पुरुष के वर्णन से ही संतुष्ट नहीं हुए, वह आगे और भी कहते हैं—

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्च चक्षोः सूर्यों अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।१३।।

ॐ नाभ्यां आसीदन्तरीक्षं शीर्ष्णों द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकान् अकल्पयत् ।।१४।।

उस पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए । (१३)

उस पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक, मस्तक से स्वर्ग लोक, पैरों से पृथ्वी, कानों से दिशाएं हुई । इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुष से ही कल्पित हुए ।

सूक्तकार ने इन दो मंत्रों में भ. आदिनाथ आदिपुरुष ऋषभदेव का बड़ा मनोहर वर्णन एक विश्व-पुरुष के रूप में किया हैं । इसनें सारे विश्व के महान तत्त्वों को सूक्तकार मानव स्तर पर ले आये हैं तथा मानव पुरुष में उनकी स्थापना करके उस पूर्ण मानव पुरुष की अलौकिक विराट्ता का दिग्दर्शन कराया हैं । विश्व के सारे काव्य या साहित्य का भी अन्वेषण करने पर ऐसा अलौकिक रूपक वर्णन अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है । यह भारतीय कल्पना तथा काव्य–प्रतिभा का अनूठा उदाहरण है । भगवद् गीता में भी विराट स्वरूप का वर्णन हुआ है, उसमें भी इसी सूक्त का प्रभाव स्पष्ट ही झलकता है । यहां तो जो यह वर्णन है, अपूर्व ही है ।

उस महान् पुरुष का मन (निर्मल व शीतल, ज्योति पूर्ण) चन्द्र था, नेत्र (सर्वत्र प्रकाश को विकीर्ण करने वाले व सदा साक्षी, सूर्य थे, मुख (पालक तथा पावक) इन्द्र तथा अग्नि था, तथा प्राण (सर्वगत अबाध संचार करने वाला) वायु ही था । उनकी नाभि अन्तरिक्ष-लोक, मस्तक दिव्य स्वर्ग लोक तथा चरण पृथ्वी तथा कान दिशायें हुई—ऐसे समस्त लोकमय वह पुरुष हुआ ।

वास्तव में यह उस पुरुष का विराट् ध्यान हैं । तथा जैन धर्मध्यान के उप भेद लोक-संस्थान विषय ध्यान में जो अनुप्रेक्षा की जाती हैं, वह भी इस प्रकार कही गई है—

"इस पुरुषाकार लोक का ऊरू जंघादि देश अधोलोक है, कटि प्रदेश मध्य लोक है, उदर प्रदेश महेन्द्र स्वर्गान्त है, हृदय-प्रदेश ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है, स्कन्ध प्रदेश आरण-च्युत स्वर्ग है । महा भुजाएं दोनों ओर की मर्यादा है, कण्ठदेश नव ग्रैवयक हैं, दाढ़ी देश अनुदिश हैं, ललाट देश सिद्ध क्षेत्र हैं, और मस्तक सिद्ध स्थान है ।" (पुरुषार्थ–सिद्ध युपाय लोकानुप्रेक्षा पृष्ठ — १०१)

सूक्तकार के तथा लोकानुप्रेक्षा के उक्त वर्णनों में एक मौलिक भेद है। सूक्तकार ने जहाँ मानव को ही दिव्य विश्वाकार रूप में वर्णित करके उसका अद्भुत विराट् तथा दिव्य स्वरूप व्यक्त किया है, वहां लोकानुप्रेक्षा में विश्व का मानवीकरण करके लोक भागों को मानवाकार अङ्गों में वर्णित किया है। कल्पना दोनों में ही अति उच्च है। परंतु सूक्तकार ने पूर्ण मानव पुरुष में विश्व के लोक-भागों के दिव्य पदार्थों को स्थापित करके उनके दिव्याकार स्वरूप की कल्पना की है, वह अपूर्व है।

सूक्तकार के विराट् भाव के समान ही एक भाव ऋग्वेद में और भी आया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमा प्रदेशो यस्य बाहुः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

बर्फ से ढ़की पृथ्वी, पर्वत व समुद्र जिसकी महिमा का गान करते हैं, चारों दिशाएं ही जिसकी विशाल भुजाएं है, उस विराट् पुरुष-हिरण्यगर्भ का ही हम ध्यान करते हैं, और किस देव के लिए ध्यान-यज्ञ करें।

इस ऋग्वेद के मंत्र में ऋषि ने भ. हिरण्यगर्भ पूर्ण पुरुष के सम्पूर्ण देश हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त तथा चारों दिशाओं में व्याप्त होने की विराटता, के रूप में कल्पना की है। ऐसे पुरुष को उस गौरवशालिनी अयोध्या नगरी का स्वामी कहा गया है। उसे अपना आराध्य घोषित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्ण पुरुष भगवान् हिरण्यगर्भ कितनी विशाल लोकप्रियता. संपूज्यता और श्रेष्ठता को प्राप्त हुए थे। ऋषभ का अर्थ ही श्रेष्ठ है और उनका यह पावन नाम सार्थक ही था। लौकिकरूप में प्रभु के राज्य काल की राज्य विस्तार सीमा का भी यहां संकेत है जो बर्फ से ढ़के हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त विस्तृत रहा।

ऊँ सप्तास्यासन् परिधय स्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

जब यज्ञ करते समय (संकल्प से) पशु (बाह्यात्मा) का बंधन किया। उस समय सप्त समुद्र उसकी परिधि (मेखलाएं) थीं। इक्कीस प्रकार के छन्दों की (गायत्री, अति जगती और कृति में से प्रत्येक के सात-सात प्रकार से) समिधा बनी।

देवों ने अपने संकल्प से बाह्यात्मा मन-पशु का निरोध किया। उस समय वह मन सात समुद्रों के आवरण से बाधित था। निरोध द्वारा वे देव पुरुष उस बाह्यात्मा को सात समुद्रों से भी

अतीत करके अन्तः प्राण,—अन्तरात्मा तक ले गये। और उन्होंने इक्कीस प्रकार के छन्दों की रचना से उस प्रभु की स्तुति की।

उल्लेखनीय है—देहस्थ सूक्ष्म चैतन्य प्राण-चक्रों को ही विभिन्न नामों से कहा जाता रहा है, कहीं उन्हें सप्त चक्र, सप्त पद्म, सप्त ताल, सप्त बन और कहीं सप्त घाटी या सप्त गुहा सप्त मंजिल सप्त सोपान आदि नाम से संकेतित किया गया है। यहां उन्हें सप्त समुद्र से कहा है।

इस वर्णन से यह भी अर्थ निकलता है कि तब वे देव-पुरुष (ऋषिगण) उस पशु-बंधन रूप निरोध-क्रिया को सप्त समुद्र पार भी ले गये और सर्वत्र इसका प्रवचन तथा प्रचार किया और इक्कीस प्रकार के छन्दों से उस पूर्ण पुरुष की स्तुतियां प्रचारित की।

ॐ वेदाहम् तं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः स्तुपार।
सर्वाणिरूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वा भिरन्यदास्ते ।।१६।।

मैने उस महान् दैदीप्यमान सूर्य सम विशिष्ट पुरुष ऋषभ को जो अंधकार से अतीत ज्ञान लोक का बिहारी था जाना। संस्कृति के आरम्भ में—सब की बुद्धि में रमण करने यानी बुद्धि को प्रेरित करने वाले (उस परमेश्वर ने समस्त रूपों) दृश्य व ज्ञेय वस्तुओं की रचना में उसके नाम स्थिर किये, उन ही नामों से व्यवहार चलता हुआ वह स्थित था। ऐसे उस लोकोपकारक लोक पावन परम देव पुरुष ऋषभदेव के अलौकिक तथा लौकिक ज्ञान के विकास तथा प्रवर्तना का वर्णन यहां दिया गया है।

यहाँ भ० आदिनाथ के द्वारा भाषा तथा लिपि, वाणी के आविर्भाव करने का संकेत है। प्रसिद्ध है कि ब्राह्मी-लिपि जो विश्व की समस्त लिपियों की जन्मदात्री तथा प्राचीनतम लिपि है—उनसे ही प्रसूत हुई। प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम एवं समृद्ध भाषाओं में है। इस विषय पर द्रष्टव्य है। एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी का लेख "प्राकृत भाषा और लिपि"—महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर १९६८। यह लेख साधिकारी विद्वानों के अभिमतों सहित इस विषय में पर्याप्त ज्ञान वर्धक है।

इस सूक्त के शब्द तथा भावों की ध्वनि भक्तामर स्तोत्र-आदिनाथ काव्य में भी स्पष्ट है—

"त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसं।
आदित्यवर्णममलं तमसः पर स्तात् ।।"[1]

वास्तव में भ. आदिनाथ ही—"आदित्य वर्ण" तथा "परम पुरुष" सर्वत्र ही वर्णित किये गये है। इस मंत्र के प्रथम भाग-दो पदों को श्वेताश्वतरोपनिषद (३/८) में भी इस तरह अविकल लिया

---

[1] भक्तामर स्तोत्र–

गया है "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" तम (अज्ञान) से अतीत प्रकाश रूप महान इस पुरुष को मैं जानता हूं। आगे कहा है कि उसे ही जानकर पुरुष मृत्यु को पार करता है, परमात्मा-प्राप्ति का इसके सिवाय अन्य मार्ग नहीं है।

ऊं धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार, शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्च तस्त्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पंथा विद्यते अयनाय ।।१७।।

पुरा काल में जिसकी स्तुति धाता (ब्रह्मा) ने की, देव के अध्यक्ष इन्द्र ने जिसे चारों दिशा-प्रदेशों में ही विशेष जाना, उस परम पुरुष को जो सर्व रूप से इस प्रकार जानता है, वह यहीं (संसार में रहते हुए ही) अमृतपद प्राप्त कर लेता है, उसके ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई अमृत-मार्ग नहीं है।

ऊं यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाके महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।१८।।

देव पुरुषों ने (पूर्वोक्त प्रकार से) यज्ञ (आत्म-यज्ञ) के द्वारा यज्ञ स्वरूप (परम पवित्र) परम पुरुष का यजन-आराधन किया। इस यज्ञ—आत्म-साधना से सर्व प्रथम तो सर्व धर्म (सिद्धान्त) उत्पन्न हुए, उन धर्म-सिद्धान्तों के आचरण से वे देवता देव पुरुष महान् महिमा वाले होकर उस दिव्य (प्रकाश) लोक का सेवन करते हैं, जहां प्राचीन साध्य (सिद्ध) देव पुरुष निवास करते हैं।

यहां सूक्तकार ने उस पूर्ण पुरुष आदिनाथ अग्रज प्रभु से ही धर्म की संस्थापना, सिद्धान्त तथा चारित्र (आचरण) के तत्वों की उत्पत्ति कही है। तथा इस आत्म-साधना से आरम्भ करके मोक्ष साधना तक को वर्णित किया है। ऐसे यह पुरुष-सूक्त इस भगवान् आदिनाथ-हिरण्यगर्भ को विश्व का सर्व प्रथम धर्म-व्यवस्थापक तथा संस्थापक घोषित करता है। सूक्तकार ने स्पष्ट किया है इन परम पुरुष के आराधन से सिद्धात्माओं का निवास स्थल-यानी सिद्धालय की ही प्राप्ति होती है।

वास्तव में यह पुरुष-सूक्त अनुपम है। यह उन प्रथम योग-वक्ता तथा धर्म-संस्थापक की लोक-कृति, धर्म-कृति, तथा मोक्ष-कृति आदि सब ही कृतियों का अनूठे रूप में वर्णन करता है। इस सूक्त में उन्हें समस्त वेदों का जनक, मानव संस्कृति का आविर्भाव-कर्ता, भाषा, वाणी, तथा लिपि के देने वाले तथा अध्यात्म-ज्योति को देने वाले रूप में बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया गया है। विश्व में सभ्यता के दीप उनसे ही उनके द्वारा इस भारत से ही जले। उनके द्वारा संसार को तथा भारत को जो विभूति प्राप्त हुई, वह अवर्णनीय और अतुलनीय ही है। और ये ही कारण है कि मंत्र वेत्ता, आराधक तथा ज्ञानी सब ही उन्हें नमन व वन्दन करते हुए स्तोत्रों में उनका उद्गान करते हैं, और अपने को धन्य मानते है, और धन्य होते हैं।

अष्ट चक्र नव द्वारा आयोध्या और उसके स्वामी

ऐसे पुरुष को उस गौरवशालिनी अयोध्या नगरी का स्वामी कहा गया है जिसके वर्णन को अथर्ववेद में उल्लास के साथ गाया गया है। अयोध्या नगरी की उत्कृष्टता के लक्ष से ही मानव देह को भी योग में उस ही के नाम से निरूपित करके कहा जाता रहा है। इस देह-नगरी का स्वामी भी उसी पुरातन अयोध्या नगरी के परम पुरुष हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर के समान निर्मल है। वह नगरी अयोध्या थी—अपराजिता थी, शांति का ही केन्द्र थी। इस देह नगरी में रहने वाला स्वामी आत्मा जब वैसी ही अयोध्या का पति हो जावे, शत्रु विहीन (कर्म रिपु विहीन) हो जाय, परम शांत तथा उद्वेग तथा आयुध रहित प्रशम व सम परिणामों वाला हो जाये, तो यह देह नगरी भी उसी अयोध्या नगरी की ही प्रतिकृति हो जाय। वह प्राचीन नगरी अष्ट चक्र, नव द्वारा तथा स्वर्ण मण्डप विभूषित कही गई,—तो यह देह—नगरी भी अष्ट चक्रमय, नवद्वार सहित तथा हिरण्य—प्रकाश के ज्योतिषपिण्ड सहित ही होती है, शर्त इतनी ही हैं कि प्राचीन अयोध्या नगरी के स्वामी के तुल्य ही आत्मा पूर्ण पुरुष रूप में अपने को परिणमित कर ले।

अष्ट चक्र नव द्वार तथा स्वर्ण मण्डप मय अयोध्या नगरी—

(ये अष्ट चक्र तथा नव द्वार तथा दिव्य ज्योतिष्मान स्वर्ण मण्डप इस देह अयोध्या नगरी में कौन से हैं ?)

कर्म कांडी ऋषिगण योग रहस्य के लिये लालयित रहते थे

अष्ट चक्रों आदि का विज्ञान योग-विज्ञान में है। उनके योग रहस्य को जानने के लिए मंत्र दृष्टा ऋषिगण भी उस पूर्व काल में कितने लालायित रहते थे, यह निम्न मंत्र से विदित होता है। उन वैदिक आर्यों में यज्ञादि का प्रचलन ही अधिक था। उनमें आरम्भ में अध्यात्म—विद्या का प्रादुर्भाव था ही नहीं। वे सव यज्ञादि को काम्य भाव से तथा पशुओं—आदि से करते थे, अतः उन यज्ञ-विधानी ऋषि-गणों को क्षत्रिय तीर्थंकर प्रणाली के अध्यात्म योग-विज्ञान एवं रहस्यों का ज्ञान अविदित था। यह तो बाद में वैदिक ब्राह्मणों को क्षत्रिय परम्परा द्वारा ही मिला है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

नव त्रिचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्वत्रयोबन्धुरो ये सनीडाः।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथ ।।[1]

अर्थ—

शरीररथ के त्रिचक्र कहां हैं ? त्रिवृत्त कौन से हैं ? बंधूक पुष्प के समान रक्त वर्ण के कंदर्प-वायु नामक, संकल्प व कामना से वासित जीव का वास कहां है ? ऊपर के तीन चक्र सहित नीड कहां हैं ? आनन्द घन रसाधार परमात्मा स्व शक्ति अभिन्न कहां शोभित है ? तथा वह शक्ति कव परमात्मा में अभिन्न-लय को प्राप्त होती है ?—इसका भी हमें पता नहीं है। आपकी कृपा से ये योग सम्बन्धी वातें मुझे ज्ञात हों और मैं इन्हें जानकर योग का अभ्यास करूं।

---

[1] (ऋक्- सं १ सूक्त ३४ मन्त्र ९)

यज्ञादि बाह्य कर्मकाण्ड में ही रत ऋषिगणों को कहां से पता होता कि नीचे के तीन चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपुर, जो क्रमशः सूक्ष्म देह में आधार, कंद तथा नाभि प्रदेश में लक्षित होते हैं) तथा ऊपर के तीन चक्र (अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा) जो सूक्ष्म देह में हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य में लक्षित होते हैं, तथा इनके ऊपर दो नीड—ब्रह्मरन्ध्र तथा उसके भी ऊतर सहसदल पद्म, तथा प्राण-शक्ति तथा शक्ति से अभिन्न शक्तिमान जीव पुरुष का—जो कि योग विषय के संकेत मात्र हैं,—कहां हैं ?

प

अष्ट चक्रों का निरूपण

सूक्ष्म देहस्थ चक्र-ज्ञान तो देह को जिनालय में परिणत करके जिनोपासना,—परम पुरुष भ० हिरण्यगर्भ जिनेन्द्र रूप निजोपासना करने वाले कर्मठ योगीन्द्र क्षत्रिय तीर्थंकर की प्रणाली में तब प्रचलित था। उपनिषदों में भी वह ज्ञान बाद में ही आया। ये योग के ज्ञेय विषय हैं। वर्तमान योग प्रणालियों में भी आठ चक्रों का कथन है। प्राचीन प्रणाली जो अब उपनिषदों में आई है—उसमें आठ चक्र इस प्रकार बताये हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपुर (४) सूर्यचक्र (५) चन्द्रचक्र (६) हृदय या अनाहत चक्र (७) विशुद्धि चक्र और (८) आज्ञा चक्र। पुरातन में योग के चक्रों की क्या संज्ञाएं थीं—यह उपलब्ध जैन साहित्य में भी अभी अज्ञात है। परंतु आ० श्री शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में इन अष्ट चक्रों का ज्ञान इस प्रकार संकलित है—(१) नाभि (मणिपुर), (२) हृदय (अनाहत), (३) मुख (विशुद्धि या कण्ठ), (४) तालु (ललना), (५) दो नयन, (६) भ्रूकुटी (आज्ञाचक्र), (७) ब्रह्मरन्ध्र तथा (८) सहस्त्रार। यह सहस्त्रार ही देह—अयोध्या का स्वर्ण मण्डप—ज्योतिष मण्डल है। ब्रह्मरन्ध्र में निर्मल परम ब्रह्मचक्र है। देह के नव द्वार,—दो कर्ण, दो चक्षु, दो नासापुट, एक मुख, एक मूल द्वार (गुदा-द्वार) तथा एक मूत्रद्वार (लिंग) है।

ऐसी दिव्य देह रूपी अयोध्या नगरी में रहने वाला जीवात्मा पुरुष है। यह जीवात्मा आरंभ में तो बाह्यात्मा मिथ्यादृष्टि होता है, वह अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर के अन्तरात्मा के दर्शन में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द-रस को चखकर सम्यक्-दृष्टि परिणमित होता है। तथा इसके अनन्तर वह अन्तरात्मा जब उर्ध्वदृष्टि होकर तन्मयता से परम पुरुष की आराधना करता है, तो यह ही परम पुरुष स्वरूप में परिणत हो जाता है। यह ही हैरण्यगर्भ अध्यात्म योग की समस्त इति-वृत्ति है। इस अभ्यास के मध्य ही अन्तर्मुखी दृष्टि के उन्मीलन काल में जब सूक्ष्म देह का स्तर उद्घाटित होता है तो उन अष्ट चक्रों का भी स्वतः साक्षात्कार होता है। इसके अनन्तर ही भाव-लोक चित्त की निर्मलता होकर चित् स्वरूप,—ज्ञानस्वभाव की प्रसिद्धि होते होते सम्यक्-ज्ञान तथा अनन्तर आत्म-कृपा प्रसाद से केवल ज्ञान-भास्कर प्रकट हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा स्वरूप में देहस्थ रहता हुआ भी देहातीत हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति की स्थापना तथा उपयोग की निर्मल स्थिरता रूप अभ्यास ही चारित्र हैं। इनका सम्यक् स्वरूप आत्म-लक्ष से, आत्म-चिन्तना से, आत्म ध्यान से, विशुद्ध होता जाता

है। ऐसे आत्म-स्वरूप के उद्घाटन के अर्थ ही इस अध्यात्म योग का कथन है और यह भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ की जैन परम्परा में वर्तमान में भी प्राप्त है।

भगवान् की बावन गजा मूर्ति

योग के इन प्रथम प्रवक्ता भ० ऋषभनाथ की ८९ फुट ऊंची विशाल मनोज्ञ प्रतिमा बडवानी के समीप त्रिपुरा पर्वत पर वर्तमान है, और आज भी वह अपनी मनोज्ञ प्रशांत ध्यान मुद्रा से उसी वीतराग योग धर्म का बराबर संदेश दे रही है।

भगवान् बाहु बलि की प्रतिमा

उनके पुत्र बाहुबलि की ५७ फुट ऊंची भव्य मूर्ति श्रवण बेलगोला (कर्नाटक मैसूर) में भी उसी अनुपम संदेश को दे रही है।

योग धर्म प्राचीनतम और भ० हिरण्यगर्भ द्वारा शिक्षण

यह आर्हत् योग-धर्म प्राचीनतम युग से है। यह भगवान आदिनाथ हिरण्यगर्भ का ही शिक्षण है। उन्होंने ही "तप" ध्यान एवं अक्षर उद्‌गीथ-विद्या का संचार किया। उनके इस धर्म में किसी भी धर्म को हीनाधिक या प्राचीन या सनातन कहने का प्रश्न ही नहीं है। उस परम पुरुष ने योग धर्म में ऐसी उदार तथा विशाल तात्विक दृष्टि दी है कि सब धर्म, सब मत, सब नय उनके अनेकांत के ही अङ्ग हैं। प्रत्येक दृष्टि तथा नय संपूर्ण को ही प्रकट करने के लिए है, सब विभिन्न मत तथा नय खण्ड खण्ड होकर भी अखण्ड के ही प्रकाश का उद्योत करते हैं, उनका इस अनेकांत में यथास्थान समादर है। योग धर्म के विश्व धर्म होने की यही विशेषता है। यह धर्म आत्म विज्ञान है। अतः यह समस्त विश्व मानव आत्माओंको समान कह कर आपस में जोडता है। सामंजस्य, समन्वय, समादर तथा संपूर्ण तत्व का आग्रह—यह सब इसकी विश्व धर्म होने की योग्यता है। संपूर्ण सत्य रूप निर्मल आत्मा, स्व स्वान्तमुंखता से ध्यान का विषय है, अतः यह प्रत्येक के लिए चिर नवीन आत्मा रस लिये हुए है।

प्रशांत स्थिर आत्मा का ज्ञान

ऋग्वेद (५२/३८) में उनका यह आत्म ज्ञान इस प्रकार प्रशंसित हुआ है—

"असूत पूर्व वृषभो ज्यायनिमः अरय शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे।"

जैसे जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् है, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा

से प्राप्त पूर्वज्ञान ग्रात्मा के शत्रुग्रों क्रोधादि का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी ग्रौर मुक्त) ग्रात्माएं ग्रपने ही ग्रात्मा के गुणों से चमकती हैं। ग्रतः वे राजा हैं। वे पूर्ण ज्ञान के ग्रागार हैं। ग्रौर ग्रात्म पतन नहीं होने देते, (ग्रात्मा को चंचल नहीं होने देते)।

स्वाश्रित साधना

स्वाश्रित साधना की उद्घोषणा तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्व प्रथम की कि मानव ग्रपनी शक्ति का विकास कर ग्रात्मा से परमात्मा बन सकता है। ऋग्वेद ने उनकी उस ग्रात्म साधना के स्वरूप का भी विवेचन किया है।

ग्रलौकिक रूपक में योग धर्म का स्वरूप वर्णन

चत्वारि श्रृंगास्त्रयो ग्रस्य पादा द्वे शीर्षा सप्त हस्ता सो ग्रस्य।
त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश ॥

जिसके चार शृंग-ग्रनन्त दर्शन, ग्रनन्त ज्ञान, ग्रनन्त सुख, ग्रौर ग्रनन्त वीर्य हैं। तीन पाद हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ग्रौर सम्यक् चारित्र हैं। दो शीर्ष केवलज्ञान ग्रौर मुक्ति है। तथा जो मन वचन ग्रौर काय इन त्रय-योगों से बद्ध है, संयत है, उस वृषभ ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही ग्रावास करता है।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास-प्रथम भाग तीर्थंकर खण्ड में भगवान ऋषभदेव का विस्तार से चारित्र का वर्णन किया गया है। ग्रौर यह पठनीय व मननीय है। इस ग्रन्थ की भूमिका देवेन्द्र मुनि ने लिखी है ग्रौर उसमें शोधपूर्ण तथ्यों का संग्रह किया गया है।

उपनिषदों में तीर्थंकर के तत्वों का प्रभाव

उपनिषदों में श्वेताश्वतर उपनिषद बड़ा बहुमूल्य माना जाता है। हम उसके उद्धरणों को प्रस्तुत करके भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की मान्यता ग्रौर ग्रात्म साधना किस प्रकार ग्राई हैं यह यहां स्पष्ट करेंगे। योग शासन या तपोयोग रूप भगवान् ऋषभदेव की विशिष्ट ग्रात्म साधना के संदर्भ में इसका यहां ग्रध्ययन ग्रन्तरंग साक्षी के रूप में ही हम दे रहे हैं।

डा० राधाकृष्णन ने प्राचीनतम उपनिषदों का कालमान ईसा पूर्व ग्राठवीं सदी से ईसा पूर्व की तीसरी सदी तक माना है। तथा जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ ग्रौर निर्वाण ईसा पूर्व ७७७ एच. सी. राय चौधरी ने पोलीटिकल हिस्ट्री ग्राफ एंशियंट इण्डिया पृ. ५२ पर माना है। ग्रतः प्राचीनतम उपनिषद भगवान् पार्श्व के बाद के हैं। भ० पार्श्वनाथ ने यज्ञ ग्रादि का ग्रत्यधिक विरोध किया था ग्रौर ग्राध्यामिक साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियों पर भी

पड़ा और उन्होंने उपनिषदों में यज्ञों का विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा—यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ हैं, इनको श्रेय मानते है, वे बार बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं—मुण्डकोपनिषद १/२/१७ (श्री देवेन्द्र मुनि की भूमिका पृ. ६३१)

वेदों को गीता में अपरा विद्या कहा गया है जो मोक्षमूलक नहीं हैं। इनमें देव स्तुतियां व इतिहास आदि हैं। वेद साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना नहीं है। उपनिषद काल में आने पर वेदों का ध्यान इस तरफ गया। क्योंकि तब भ० पार्श्वनाथ का तीर्थ चल रहा था और आत्मा और मोक्ष की चर्चा व योग व आत्म साधनाओं की चर्चा उनके शासन में होती थी। तब उपनिषदों का अध्यात्म-विद्या के अर्थ निर्माण आरम्भ हुआ।

वर्णन साम्यता

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्त द्वायुस्तदुचन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥[1]

वे (परमात्मा तत्व) अग्नि हैं, केवल ज्ञान (सूर्य) हैं, सर्वंग ज्ञान (वायु) हैं, वे ही योगीजन के हृदय कुमुदों का विकास करने वाले ज्योतिष्मान्) चन्द्रमा हैं। वे ही निर्मल शुक्ल ज्योति से दैदीप्यमान शुक्र नक्षत्र हैं, वे ही ब्रह्म आत्मा तत्व हैं, वे ही जीवन जल हैं और वे ही प्रजाओं (प्रजा जन ज्ञान व पर्यायों) के पालन हार प्रजापति हैं।

इस श्लोक के भाष्य में श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म तथा प्रजापति का अर्थ यह दिया है—

"तद ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा, तदापः, सः प्रजापतिः विराडात्मा।"

अर्थात्—वही ब्रह्म भगवान, हिरण्यगर्भ, वही जल और वही विराट् आत्मा, परम आत्मा है।

भगवान् हिरण्यगर्भ का यह वर्णन जिस प्रकार ज्योतिष्मान् आदि रूपो में हुआ है, वह जैनों के ध्यान के वर्णन के अनुरूप ही है। आचार्य सोमदेव ने अर्हन्तध्यान में वर्णन किया है—

भुवमानन्द सस्यानामम्भ स्तृष्णानलार्चिषाम् ।
पवनं दोषरेणू नामाग्निर्लेनोवनीरुहाम् ॥
यजमानं सदर्थानां व्योमालेपादि संपदाम् ।
भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥[2]

वे आनन्द रूपी धान्य की उत्पत्ति के लिए पृथ्वी, तृष्णा रूपी अग्नि की लपटों को शान्त करने के लिए जल, दोष रूपी धूलि को हटाने के लिए वायु, पाप रूपी वृक्षों को जलाने के लिए अग्नि, भव्य रूपी कमलों के विकास के लिए अर्चि (सूर्य) मोक्ष रूपी अमृत के लिए चन्द्रमा हैं।

---

[1] (श्वेता० उप ४/२)

[2] (उपासकाध्ययन६८३–६८४)

ब्रह्मा तथा प्रजापति के लिए उन्होंने स्पष्ट किया है—

"आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतस्य राजस्य ।
ब्रह्मेति गोः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ।।"[1]

अर्थात्—आत्मा, मोक्ष, ज्ञान, चारित्र के प्रसंग में जिनका ब्रह्मा के रूप में प्रकृष्ट गान किया गया है, स्तुतियां की गई है, वे चक्रवर्ती महाराज भरत के पिता आदि-तीर्थंकर, आदिनाथ ऋषभनाथ ही हैं, अन्य कोई ब्रह्मा नहीं है ।

महर्षि श्वेताश्वतर ने इन ही भगवान् हिरण्यगर्भ की इस प्रकार स्तुति की है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भः जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।

वे जो शिव स्वरूप, देव शक्तियों के कारण हैं तथा देव-शक्तियों के उद्भव के भी कारण हैं, जो विश्व के सम्राट (पूज्य) रुद्र, (महान्) तथा महर्षि (सर्वज्ञ) हैं, जो पूर्व (आदिकाल) में हिरण्यगर्भ हुए, अग्रज हुए,—वे हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करें । यह मंत्र इसी उपनिषद में अध्याय ४ मंत्र १२ पर इस साधारण बदल के साथ पुनरुक्त हुआ है—पंक्ति तीन में "हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं" कहा गया है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद में हिरण्यगर्भ ऋषभदेव तथा उनकी सकल ध्यान के रूप में मान्यता तथा उनके तपोयोग का वर्णन

महर्षि श्वेताश्वर ने कहा है "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वं पाशैः" (अध्याय मंत्र ८) तथा "ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानिः"—अर्थात्—परमात्मा दिव्य हिरण्यगर्भ भगवान् का ज्ञान होने पर साधक के सर्व पाश, कर्म-बंधन से मुक्ति हो जाती है । इस देव के साक्षात्कार के लिये ही उन्होंने ध्यान का विधान किया है । इस परमात्मा-ब्रह्म को उन्होंने आत्म-संस्थ माना है ।

एतज्ज्ञेतं नित्यमेवात्मस्थः नातः परं वेदितव्यं हिकिञ्चित् ।। (अ० १ मंत्र १२)

अर्थात्—अपने आत्मा में नित्य स्थित इस आत्म-ब्रह्म को जानना चाहिये, और इससे बढ़ कर और कोई ज्ञातव्य पदार्थ नहीं है । इस ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये मन्त्र १३ में प्रणव-चिन्तन को साधन कहा गया है और भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर द्वारा अक्षर-विद्या उद्गीथ की ही परम्परा में ही यह प्रणव चिन्तन का उपदेश है और उसे ही उन्होंने कहा है ।

---

[1] उपा० अध्य १८२

[2] श्वेता०उप० ३/४

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्यान निर्मथनाभ्याद्देवं पश्येन्निगूढ़वत् ।। (अ० १ मन्त्र १४)

अपने देह को अरणि और प्रणव को उत्तर-अरणि करके ध्यान रूप मंथन के अभ्यास से देव-स्वरूप परमात्मा को निगूढ़वत्-छिपा हुआ देखें। जैसे काष्ठ में अग्नि का सूक्ष्म रूप छिपा है, वैसे ही ध्यान के अभ्यास से हिरण्यगर्भ प्रभु आत्मा स्वरूप को छिपे हुए अग्नि के समान देखें, अनुभव करें।

इस प्रकार हैरण्यगर्भ अक्षर विद्या द्वारा ध्यान का विधान करके महर्षि ने आगे ध्यान की सिद्धि के लिये मन्त्र १५ में भेद विज्ञान की विधि कही है— तिल में तैल, दही में घी, स्रोतों में जल और काष्ठ में अग्नि जिस प्रकार अलग देखी जाती है वैसे ही सत्य (सम्यक्) तप से जो पुरुष आत्मा को देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा में ही दिखाई देता है। उसके बाद द्वितीय अध्याय में जो कुछ भी कहा है, वह तो अनुपमरीत्या ही सर्वज्ञ योग-रहस्य को प्रतिध्वनित करता है।

इस द्वितीय अध्याय में महर्षि ने बहुत स्पष्ट शब्द में सविता देव से प्रार्थना करने का उपदेश किया है। योग के रहस्य के ज्ञाता तथा आत्म-संस्थ देव को जानने की प्रेरणा करने वाले महर्षि एक बाह्य प्राकृत सूर्य की प्रार्थना के लिए उपदेश करते हों—यह तो युक्ति-संगत भी नहीं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने सूर्य, चन्द्र, वृक्ष आदि के प्रतीक से किये गये भगवान् हिरण्यगर्भ के वर्णन को न समझकर योगीश्वर आर्य जनों को अनात्म प्राकृत देवों (Elemental gods) के पूजा करने वाला प्रकट करके एक बहुत बड़ी भ्रांति को ही फैलाया है। वेद, उपनिषद्, व अध्यात्मा-विद्या के प्रतीकात्मक वर्णनों को न समझने के कारण ही ऐसे मत प्रकट हुए हैं।

इस उपनिषद् में जिस सविता देव की प्रार्थना की प्रेरणा से अध्याय का प्रारम्भ हुआ है— वह प्राकृत सूर्य नहीं है, यह ज्ञान-सविता, केवल ज्ञान भास्कर स्वयं प्रथम व आदि भगवान ही है— जिनके लिये यह प्रेरणा की गई है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।। (२/१)

अर्थ—अग्नि आदि ज्योतियों को अवलोकन कर तत्व ज्ञान के लिये, केवल ज्ञान भास्कर प्रभु पृथ्वी के ऊपर, यानी पार्थिव तत्व से ऊपर के तत्व ज्ञान के लिये हमारे मन व बुद्धियों को संयुक्त करते हुये स्थापित करें अर्थात् वह केवल ज्ञान सविता हमारे मन, प्राण (बुद्धियों) को अलौकिक अध्यात्म तत्व ज्ञान के लिए सुस्थिर करें। इस प्रकार लोकोत्तर ज्ञान के अर्थ ज्ञान-सविता हिरण्यगर्भ देव से अनुज्ञा, प्रार्थना की गई है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ।। (२/२)

अर्थ–तत्व-ज्ञान के लिये मन को जगाने के लिये उस देव का सब (अनुज्ञा) मिलने पर, सुवर्गेय (मोक्ष रूप स्वर्ग प्राप्ति के हेतु भूत) ध्यान-कर्म के लिये हम यथा शक्ति प्रयत्न करेंगे । स्वर्ग शब्द की व्याख्या भी शंकर भाष्य में यह कह दी गई है "परमात्मवचनो अत्र स्वर्ग शब्दः" यहाँ स्वर्ग शब्द परमात्मा वाची है । परमात्म-प्राप्ति रूप मोक्ष के हेतु भूत ध्यान-कर्म के लिए इस प्रकार ज्ञान सविता-देव की अनुज्ञा, अनुमति को आवश्यक कहा गया है ।

मुक्त्वाय मनसा देवान् सुवयंतो धियादिवम् ।
वृहद्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवातितान् ।। (२/३)

सुव (स्वर्ग) अर्थात् पूर्णानन्द आत्मा के प्रति यतः, जाती हुई देवान् (मन आदि इन्द्रिय शक्तियों के) तथा जो धिया (सम्यग्दर्शन) के द्वारा दिवम्-द्योतन स्वभाव चेतन्यैकरस वृहद् ज्योति, महत् आत्मा-ज्योति को प्रकाशित करेगी (अनुभव करेगी), उन मन व इन्द्रियों को वह केवल-ज्ञान-भास्कर अनुज्ञा (सामर्थ्य) प्रदान करता है । अर्थात् मन व इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त होकर आत्माभिमुखी होकर जिस प्रकार आत्मा को ही प्रकाशित करें, वैसी अनुज्ञा (सामर्थ्य) उन्हें वह ज्ञान-सविता प्रदान करें ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो,विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक, इन्मही देवस्व सवितुः परिष्टुतिः ।। (२/४)

जो साधक गण मन व अन्य इन्द्रियों को परमात्मा में लगाते हैं, उनको चाहिए कि जिस एक प्रज्ञावित् (सर्वज्ञ प्रभु) ने होतृ-साध्य–(आत्म-यज्ञ के क्रियाओं का विधान किया, प्रथम धर्म-शासन का विधान किया)—उस महान्, सर्वज्ञ और विप्र (विशेष रूप से व्यापक-सर्वगत) केवल ज्ञान भास्कर देव, भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर की ही महती स्तुति करें ।

"वि होत्रा दधे"—जिसने होत्रा यानी यज्ञ-क्रिआओं का विधान किया और जो वयुनावित्,-प्रज्ञावित् सब कुछ जानने वाला है, वह एक अर्थात् जिसने इन आत्म-यज्ञ क्रियाओं का विधान किया, वह प्रज्ञानवान सविता एक ही है । यहाँ केवल ज्ञान भास्कर भगवान् हिरण्यगर्भ पुरुष द्वारा यज्ञ (आत्म यज्ञ) क्रियाओं के विधान होने का उल्लेख वैसा ही हुआ है जैसा पुरुष सूक्त में हुआ है, जिसे हम पूर्व में बतला चुके हैं ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक येतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा, आये धामानि दिव्यानि तस्थुः । (२/५)

हे मन व इन्द्रियों की अधिष्ठात्री शक्तियों ! तुम दोनों के द्वारा प्रकाशनीय (अनुभवनीय) होने के कारण, तुम से सम्बन्ध रखने वाले चिरकालीन ब्रह्म में, आत्मा में, मैं मन को नमस्कार (चित्त-प्रणिधान आदि) द्वारा नियुक्त, समाहित करता हूँ । सन्मार्ग में विद्यमान विद्वान की भांति मेरा यह कीर्तनीय श्लोक (स्तुति पाठ) लोक में विस्तार को प्राप्त हो । जिन्होंने सब ओर से सम्पूर्ण दिव्य द्युलोकान्तर्गत धामों पर अधिकार कर रखा है, वे अमृत (हिरण्यगर्भ) के पुत्र श्रवण करें ।

"विश्वे अमृतस्य पुत्राः" का शंकर भाष्य है—"विश्वेऽमृतस्य ब्रह्मणः पुत्राः सूरात्मनो हिरण्यगर्भस्य"–अर्थात् अमृत-ब्रह्मा हिरण्यगर्भ के सूर्य रूप समस्त पुत्र ।

भगवान् हिरण्यगर्भ के ज्ञान पुत्र यानी अनुगामी तेजस्वी ज्ञानी जन इस प्रार्थना रूप वाक्य को सुनें, यह तात्पर्य है ।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते :
सोमोयत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मनः ।। (२/६)

जहाँ अग्नि का मंथन होता है, (अग्निः परमात्मा अविद्या तत्कार्यस्य दाहकत्वात्-(शंकर भाष्य) अग्नि परमात्मा को कहते हैं । क्योंकि वह अविद्या को दग्ध करने वाला है) अर्थात् जहाँ ध्यान रूप निर्मन्थन द्वारा परमात्मा-अग्नि का पुरुष में मन्थन होता है, तथा जहाँ वायु-प्राणवायु उस ध्यान द्वारा अवरुद्ध होता है, तथा जहाँ सोमरस-समरस, समाधि रस की अधिकता होती है, वहाँ मन सुष्ठु प्रकार से उदय होता है यानी आत्माकार वृत्ति को लेकर ही मन रूपांतरित होकर प्रवृत्ति करता है ।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनि कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ।। (२/७)

केवल ज्ञान भास्कर हिरण्यगर्भ प्रभु की ही अनुज्ञा लेकर इस चिरन्तन आत्म-ब्रह्म का सेवन करना चाहिये । तब, उस सविता में (योनि) निष्ठा को (कृणव से) करो, सम्यक्-प्रतीति (श्रद्धा) को करो । इससे तुम्हारा पूर्त (इष्ट) कर्म पुनः भोग के लिए बंधन नहीं करेगा ।

आगे महर्षि ने ध्यान के लिये ध्यानी का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह जैनों के जिनालय में प्रतिष्ठित भगवान् आदि-जिनेश की प्रतिमा के तुल्य ही है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं, हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।२/८।।

शिर, ग्रीवा और वक्षः-स्थल तीनों को ऊंचे रखते हुए शरीर को सीधा रखकर मन के द्वारा

इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर विद्वान् ब्रह्म-नौका के द्वारा संपूर्ण भयानक जल-प्रवाहों, संसार नदी-प्रवाहों को पार कर जाता है।

ब्रह्मैवोडुप स्तरणसाधनं तेन ब्रह्मोडुपेन। ब्रह्म शब्दं प्रणवं वर्णयन्ति। तेनोडुप स्थानीयेन प्रणवेन, काकक्षिवदुभयत्र संबध्यते। तेनोपमंहृत्य तेन प्रतरेतातिक्रामेद्विद्वान् स्रोतांसि संसार सरित: स्वाभाविकाविद्याकामकर्म प्रवर्तितानि भयावहानि प्रेत तिर्यगूर्ध्व प्राप्तिकराणि पुनरावृत्ति भञ्जि' (शंकर भाष्य) अर्थात्-ब्रह्म ही उडुप-तरण का साधन है—उस ब्रह्म रूप उडुप के द्वारा। "ब्रह्म" शब्द का अर्थ प्रणव, उस उडुप स्थानीय प्रणव द्वारा काकाक्षिन्याय से इस प्रणव का संनिवेश और तरण दोनों के साथ सम्बन्ध है अर्थात् प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियमित कर प्रणव ही से विद्वान संसार सरिता के स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मों द्वारा प्रवर्तित भयावह-प्रेत तिर्यक् एवं उर्ध्व योनियों को कराने वाले पुनरावृत्ति के हेतु-भूत स्रोतों को पार कर लेना है।

प्राणायाम का क्रम, उसकी महत्ता का वर्णन ध्यान के लिये उपयुक्त स्थानों का निर्देश, योगसिद्धि के पूर्व लक्षण योगाग्निमय देह की प्राप्ति व उसके लक्षण आदि को बताकर महर्षि ने योग सिद्धि या तत्त्व ज्ञान का प्रभाव इसके बाद इस प्रकार कहा है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं, तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोक: ।। (२/१४)

जिस प्रकार मृत्तिका से मलीन हुआ बिम्ब (सोने चांदी) का टुकड़ा, शोधन किये जाने पर तेजो मय होकर चमकने लगता है उसी प्रकार देहधारी जीव आत्म तत्व का शोधन करके, व उनका साक्षात्कार करके अद्वितीय, कृतकृत्य और शोक रहित हो जाता है। कर्म-रज से आवृत्त आत्म तत्त्व जब कर्म-रज से शोधित व मुक्त हो जाता है तब वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित हो जाता है।

यदात्मतत्वेन तु, ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेनेह युक्त: प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: ।। (२/१५)

जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश स्वरूप ब्रह्मतत्व का,—आत्म भाव से साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा निश्चल और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह (योगी) संपूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में स्वयं दीपक व दीपक के पास के अन्य पदार्थ देखे जाते हैं—वैसे ही ज्ञायक आत्मा के प्रकाश में स्व तथा पर दोनों ही तत्त्व प्रकाशित होते हैं। हृदय में सर्व प्रथम दीपकाकार ज्योति ही अनुभव होती है—उसी में ज्ञायक पूर्णांश आत्म भाव किया जाता है।

पूर्णांश

दीप के समान प्रकाश स्वरूप का यहां वर्णन हुआ, वह जैनों के एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान को इंगित करता है।

जं पुण सुणिप्पकंपं निवाय सरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पाय ठिइ-भंगा इयाणमेगंमि पज्जाए ।।[1]

वायु से रहित घर में धरे दीपक के समान जो चित्त (अन्तःकरण) उत्पाद स्थिति और भंग (व्यय) के किसी एक ही पर्याय में अतिशय स्थिर होता है, वह एकत्व-वितर्क-अविचार नाम का शुक्ल ध्यान है अर्थात् जिस प्रकार गृह-स्थित दीपक वायु के अभाव में कम्पन से सर्वथा रहित हुआ स्थिर रूप में जलता है, उसकी लौ इधर-उधर नहीं घूमती, उसी प्रकार ध्यान की अस्थिरता के कारणभूत राग द्वेष व मोह के न रहने से एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान स्थिर रहता है।

इस निर्वात स्थानीय दीप की उपमा से उपनिषद्कार ने भी सर्व तत्त्व विशुद्ध आत्म-तत्त्व का ही दर्शन होना कहा है। दीप उपमा से ब्रह्म-तत्त्व को कहकर बताया है कि यह ही आत्म तत्त्व का साक्षात्कार है। ऐसे आत्म-स्वरूप देव हिरण्यगर्भ को जान कर जीव कर्म-बंधन से रहित हो जाता है। निज स्वरूप व जिन स्वरूप की समानता ही है।

एषः ह देवः प्रदिशो ऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।। (२/१६)

यह देव ही सम्पूर्ण दिशा विदिशा है. यही (हिरण्यगर्भ रूप से) पहले उत्पन्न हुआ था। यहीं गर्भ के अन्तर्गत रहा। यही उत्पन्न हुआ, और यही उत्पन्न होने वाला है। यह समस्त जीवों में प्रतिष्ठित और सर्वतोमुख है—

"पूर्वाहजातः"—का शंकर भाष्य है - सर्वाः पूर्वो ह जातः सर्वस्माद् हिरण्यगर्भात्मना स उ गर्भेऽन्तर्वर्तमानः, स एव जातः शिशुः"—यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ था। अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ ही सर्व प्रथम योग पुरुष, परम पुरुष हुए थे। उन्होंने सर्व प्रथम आत्म-साक्षात्कार किया, और परमात्मा बने। यह ही शिशु, निर्मल पर्याय रूप से उत्पन्न हुआ है। यह उत्पन्न होने वाला भी है, यानी द्रव्य रूप से भी यही प्रकट होने वाला है।

हिरण्यगर्भ प्रभु के समान ही सब ही प्राणियों में वह आत्मा परमात्मा स्थित है, गर्भ (अव्यक्त) अवस्था में वह ही चैतन्य प्रभु है। वही शिशु रूप से व्यक्त (उत्पन्न) होने वाला है, और वह ही सब प्राणियों का मुख (स्वरूप) है, यानी सब प्राणियों के स्वरूप उसी के समान हैं। इसलिये

---

[1] (ध्यानशतक ७९)

वह ही सर्वतोमुख है। गर्भ और शिशु संज्ञाओं से शक्ति रूप (अव्यक्त) और व्यक्ति रूप जीव अवस्थाएं इंगित की गई है।

योो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ।। (२/१७)

उस देव रूप आत्मा देव ही अग्नि कायिक जीवों में है, जल-कायिक जीवों में है, वह चैतन्य तत्त्व ही समस्त लोकों में,—संसार मण्डल में सर्व आपूर्ण व्याप्त है, वह ही सब औषधियां और वनस्पतियों में भी वनस्पति-कायिक जीव रूप से विद्यमान है। उस देव को नमस्कार है, नमस्कार है।

इस प्रकार देव-हिरण्यगर्भ को चैतन्य आत्म-पुरुष विराट् रूप में बताकर महर्षि ने तृतीय अध्याय में उसके शासक व शासनीय भाव का समर्थन किया है।

य एकोजालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। (३-१)

यः एको-जो एक-निर्मल परम आत्मा भगवान् हिरण्यगर्भ है, वह जालवान् है। "जालं माया", जाल का अर्थ है—माया, ऐश्वर्य। भगवान् हिरण्यगर्भ को केवल ज्ञान होने के अनन्तर तीर्थंकर नाम-कर्म के प्रभाव से समवशरण का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। वह परमात्मा इस प्रकार उस ऐश्वर्य-जाल से जालवान् हुआ। उस ऐश्वर्य-सृष्टि के उपरांत भगवान् का बिहार हुआ,—धर्म देशना का प्रवाह प्रकाशित हुआ, और इस तरह उसने धर्म शासक, धर्म संस्थापक रूप से (धर्म) शासन किया। उसने किसके द्वारा शासन किया है? (ईशनीभि, अपनी दिव्य (परम) शक्तियों के द्वारा, शासन किया है। किनका शासन किया है? उसने उन शक्तियों द्वारों सम्पूर्ण तीनों लोकों को योग से शासित किया है। किस समय? उद्भव-अर्थात् विभूतियों (ऐश्वर्य) से योग होने पर और (जगत् के) सम्भव, प्रादुर्भाव के समय,—यानी बहुत प्राचीतम काल में ही शासन किया है। जो इसे जानते हैं, वे अमृत, (अमरण धर्मा) अमर हो जाते हैं। शंकर भाष्य में जाल का अर्थ—माया (प्रपंच) किया है। इससे उन्होंने भगवान् के लौकिक शासन को ही इंगित किया है। मगर इस अध्यात्म-प्रकरण में यह ही अर्थ युक्ति-संगत है जो यहां हम ने प्रकट किया है। भगवान् ने समस्त विश्व, तीनों लोकों के प्राणियों को धर्म देशना द्वारा धर्म में,—आत्म-योग में शासित किया। इस शासन की विशिष्टता थी कि इसमें शासक और शासन का भेद समाप्त था—और शासन की "नीति" आत्मानुशासन थी। ऐसे आत्मानुशासन को भगवान् हिरण्यगर्भ आदि-जिनेश ने प्रवर्तित किया था। इन्द्र द्वारा निर्मित दिव्य-समवशरण में विराजमान रह कर निरक्षरी दिव्य-ध्वनि द्वारा योग शासन (आत्मानुशासन) प्रवाहित किया था।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले, संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।। (३-२)

वह एक ही रुद्र (महान) है, इसलिए (ज्ञानी साधक जन) उससे भिन्न किसी अन्य ध्येय वस्तु के लिए अपेक्षा नहीं करते। वह अपनी दिव्य-देव शक्तियों द्वारा इन (त्रय) लोकों का (धर्म) शासन करता है। वह समस्त जीवों के भीतर स्थित है अर्थात् उनका आराध्य है। और ऐसे वह सम्पूर्ण लोकों की रचना (व्यवस्था) करके, उन्हें अपने धर्म शासन से अनुरंजित व प्राणवान् करके, जीवों का धर्म-रक्षक होकर प्रलय काल में देह-संसार के अन्तकाल में उन्हें (दिव्य शक्तियों को) संकुचित कर लेता है, परित्यक्त कर देता है। यहां इस प्रकार इस हिरण्यगर्भ को ध्यान का ध्येय तथा आराध्य बताकर उसे ही ध्येय व आराध्य रूप से स्वीकार करने की प्रेरणा की है।

वह तीर्थंकर देव नाम-कर्म के निमित्त से उत्पन्न समवशरणादि ऐश्वर्य को परित्याग करके अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता हैं। अघाती नाम-कर्म के नाश के साथ ही वह समवशरणादि ऐश्वर्य समाप्त हो जाता है और सिद्ध पद में सिद्धालय में आरोहण हो जाता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।। (३-३)

वह सब ओर नेत्रों वाला है, सब ओर मुखों वाला है, सब ओर भुजाओं और सब ओर पैर वाला है। वह एक मात्र देव (प्रकाशमय परमात्मा) द्युलोक और पृथ्वी रूप यानी विराट् स्वरूप की रचना करता हुआ,—दो पैरों वाले मनुष्यों को (पतत्र, पतन से बचाने वाले) पैरों से युक्त करता है। धमति का अर्थ है संयोजन करता है—युक्त करता है। पैरों से चरण को चारित्र-आचरण को कहा गया है।

महर्षि ने यहां उस परम पुरुष के विराट् स्वरूप का कथन किया है। इस विराट् स्वरूप वर्णन की तुलना करें—पुरुष सूक्त १३ व १४ से जिसे ऊपर बतला आये हैं। नेत्र मुख व पैरों के सम्बन्ध में भी उस पुरुष—सूक्त में आये वर्णन से तुलना करें। महर्षि ने भी तत्समान ही यहां उस भगवान् परम पुरुष के अनन्त (मुख) ज्ञान, अनन्त (नेत्र) दर्शन, और अनन्त (चरण), चारित्र का ही बखान किया है।

पुरुष सूक्त के मन्त्र को महर्षि श्वेताश्वतर ने अपने अध्याय ३ में मन्त्र संख्या १४ के रूप ज्यों का त्यों लिया है। विष्णु-सहस्त्र-नाम स्तोत्र में भी "अग्रणी ग्रामणीः श्रीमान्न्यायोनेता समीरणः। सहस्त्र-मूर्धा विश्वात्मा सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" ऐसा वर्णन हुआ है।

महर्षि श्वेताश्वतर ने सर्गादि के पूर्व उत्पन्न भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की प्रार्थना की है कि हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करें।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च ।
विश्वाधिपो रूद्रो महर्षिः ॥
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं ।
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ (३-४)

इसका पूरा अर्थ ऊपर में दे आये हैं।

या ते रूद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ (३-५)

हे महान् पूज्य ! आपकी जो, शिवा रूप (मंगल रूप), प्रशांत (प्रशमरस मय), अघोर (चन्द्र-मण्डल सदृश्य आह्लाद-कारिणी) व अपापकाशिनी—स्मरण मात्र से ही पापों का,—विकारों का नाश करने वाली मूर्ति है—, हे गिरिशन्त (गिरी-कैलास गिरी में स्थित रह कर शं-सुख का विस्तार करने वाले)—उस प्रशान्त प्रशम करने वाली मुख-मुद्रा के द्वारा हमारी ओर दृष्टिपात करो, हमें श्रेयस्-पथ से युक्त करो।

गिरिशंत पद यहां बड़ा महत्वपूर्ण है। गिरि गुहाओं में रह कर निर्ग्रन्थ मुनि जन प्राचीन काल में तपस्या करके आत्म-साक्षात्कार करते थे, तथा नदियों के किनारे आश्रम बना कर ऋषिगण उनसे आत्म-विद्या प्राप्त करके, उस विद्या का प्रसार करते थे। ऐसे उस प्राचीन काल में दो धाराएं प्रवाहित थी—यह प्रकट होता है।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ (३-६)

हे गिरि कैलाश में विहार करने वाले ! तुम जीवों की ओर छोड़ने के लिए जो (शब्द) बाण धारण करते हो,—हे गिरित्र,—गिरि की रक्षा करने वाले उसे शिव (मंगल मय) करो। हमारे किसी पुरुष और जगत् की हिंसा मत करो,—अर्थात् उनकी कुशल क्षेम रहे। आपकी अहिंसक वाणी रूप बाण हमारे शिव व कल्याण करने वाला हो। महर्षि नें भगवान् की धर्म—देशना रूप वाणी ~~के~~ [illegible] श्रवण करने की कामना प्रकट की हैं। शंकर भाष्य है—"साकारँ ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेत-अर्थं प्रार्थितवान्" अर्थात् यहां इस अभिप्रेत अर्थ की प्रार्थना की है कि हमें साकार ब्रंह्म के दर्शन कराओं। प्रकट ही है कि साकार से अर्थ सकल स्वरूप से है सकल जिन स्वरूप का दर्शन होकर ही निष्कल परमातमा स्वरूप की प्राप्ति का क्रम है। सकल अर्हंत् व निष्कल सिद्ध ये ही दो ध्यान ध्येय हैं।

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं, यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।। (३–७)

उस हिरण्यगर्भ प्रभु पर्याय से उत्कृष्ट एवं महान् जो द्रव्य ब्रह्म-आत्मा चैतन्य प्रभु है, जो समस्त प्राणियों में उनके शरीर के अनुसार परिछिन्न है, तथा विश्व का एक मात्र परिवेष्टा है, उस परमेश्वर को जानकर प्राणी गण अमर हो जाते हैं।

वह हिरण्यगर्भ प्रभु चैतन्य परम आत्म-प्रभु रूप निष्कल स्वरूप का ही अग्रणी सकल जिनेश्वर अर्हत् स्वरूप है। केवल ज्ञान मय सकल अर्हत् पर्याय से भी परे, जो स्वयं परम स्वरूप नित्य भगवान सिद्ध आत्मा है, उस परम सिद्ध आत्मा के साक्षात्कार से अमृतत्व की प्राप्ति को महर्षि ने यहां कहा हैं। वह आत्म-तत्व सब में (प्राणीमात्र में) अवगाहित हो कर स्थित है, अर्थात् द्रव्य रूप से चैतन्य निर्मल सिद्ध परम आत्मा रूप ही सब प्राणी मात्र हैं। वही निर्मल स्वरूप सब में द्रव्य रूप से स्थित है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्येमेति, नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।। (३–८)

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व में पुरुष सूक्त के अर्थ के साथ बता चुके है। यह मन्त्रदृष्टा-ऋषि के अनुभव को दिखाता हुआ बताता है कि उस महान् आदित्य वर्ण और तमसे अतीत परम ज्ञान मय पुरुष को मैं जानता हूं। इसे जानकर जीव मृत्यु के पार चला जाता है, परम पद की प्राप्ति के लिये उस पुरुष से भिन्न कोई मार्ग नहीं है। आदित्य वर्ण पद केवल ज्ञान भास्कर अर्हत् जिन स्वरूप को बताता है। महर्षि की यहां स्पष्ट घोषणा है कि मैंने उस देव-स्वरूप को जान लिया है, अनुभव कर लिया है। भक्तामर स्तोत्र में भी आदित्य-वर्ण पद भ० वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ के लिये कहा गया है। वेदांत और उपनिषद ने आत्मा को अनिर्वचनीय माना है अतः इस पुरुष विशिष्ट आदित्य वर्ण हिरण्यगर्भ सकल जिनेश्वर को ही जान लेने, अनुभव कर लेने की यहां घोषणा की है। आदित्य वर्ण पद से साकार ब्रह्म के केवल ज्ञान भास्कर सकल स्वरूप के ही अनुभव कर लेने की यहां घोषणा है और वह प्रथम योग वक्ता आदि जिनेश्वर हिरण्यगर्भ प्रभु ही है।

यस्मात्परंनापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयोन ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवितिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।। (३–९)

जिससे उत्कृष्ट अन्य नहीं है, तथा जिससे सूक्ष्म या विराट् भी अन्य कोई नहीं है, वह चरमतम परम आत्मा दिवि में,–अपनी द्योतनात्मक महिमा में वृक्ष के समान निश्चल भाव से प्रतिष्ठित है, उस पुरुष ने (अपने ज्ञान से) इस सब जगत् को आपूर्ण व्याप्त कर रखा है। वृक्ष के समान

निश्चल भाव से प्रतिष्ठित वर्णन से भ० हिरण्यगर्भ आदिनाथ के खड्गासन् में स्थिर अडोल भाव से तपलीन मुद्रा को व्यक्त किया गया है।

ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् य एतद्विदुर-
मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ।। (३-१०)

जगत् से उत्तरतर, उत्कृष्ट है वह ज्ञान,—वह रूपादि व त्रिविध तापादि से रहित होने से अनामय (दुःख हीन) है,—जो इसे जानते हैं, अर्थात् अपने अमूर्त स्वरूप से "मैं" यही हूं"—ऐसा जो अनुभव करते हैं वे अमृत,—अमरण धर्मा हो जाते हैं, और अन्य जो ऐसा नहीं जानते, दुःख को ही प्राप्त होते हैं। यहां प्रकट किया गया है कि जो पुद्गल के रूप रसादि से विलक्षण तथा दुःख हीन ज्ञान-आत्मा को अनुभव करके—मैं यही अमृत स्वरूप हूं—ऐसे अनुभव स्थिर रहते हैं वे ही अमृत हो जाते हैं, अन्य नहीं।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशय ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ।।३-११।।

आत्म पुरुष की सर्वात्मकता (अनन्त चतुष्टयता) को दिखाते हुये, यहां फिर से कहा गया है कि यह भगवान् सब मुखों वाला, सब शिरों वाला, सब ग्रीवावाला, सब प्राणियों के हृदय में स्थित और सर्व व्यापी है, इसलिये वह सर्वगत है, शिव (मंगल) रूप है। मुख, शिर, ग्रीवा आदि से उसके ज्ञान, दर्शन, शक्ति का परिचय दिया गया है, तथा हृदय स्थित कह कर उसे ध्येय—स्वरूप बताया गया है।

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ।।३-१२।।

वह पुरुष (देह रूप पुर में शयन करने वाला) महान् हैं, वह सत्वं (प्रकाश) का, इसी (स्वरूप-स्थिति रूप) निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवर्तक (प्रकाश करने वाला) है, तथा वह ईशान,—धर्म शासक,—ज्योतिः स्वरूप विशुद्ध विज्ञान प्रकाश स्वरूप और अव्यय अविनाशी है।

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।३-१३

वह (हृदयाकाश के परिणाम की अपेक्षा से) अंगुष्ठ मात्र पुरुष है, अन्तरात्मा है सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित है। ज्ञानाधिपति एवं हृदय-स्थित-मन के द्वारा सुरक्षित है। जो इसे जानते है वे अमर हो जाते है। यहां देव हिरण्यगर्भ प्रभु को अन्तरात्मा में स्थित करके आराधना करने का वर्णन किया गया है। अतः कहा है कि वह हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर प्रभु जब अन्तरात्मा और हृदय-स्थित रूप में जान लिया जाता है, तो ऐसा जानने वाले अमर हो जाते हैं। भ. ऋषभदेव को यहां ऋषि ने स्पष्ट रूप से ध्यान के लिए ध्येय ही स्वीकार नहीं किया है, बल्कि प्रेरणा की है कि उसे हृदय में विराजमान करें और अमर पद प्राप्त करें।

इसके आगे मंत्र १४ व १५ जो कहे गये है वे पुरुष सूक्त के ही क्रमशः १ व २ मन्त्र हैं और उन्हें तथा उनके अर्थ हम पहले दे चुके हैं। इन दो मंत्रों में उस परम पुरुष का अनन्त चतुष्टय स्वरूप तथा अक्षर रूप गुण व क्षर रूप देह व पर्याय से परे परम स्वरूप को दिखलाया गया। इसी स्वरूप को आगे फिर दिखलाया है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥३-१६॥

उसके सब ओर हाथ पाव हैं—अर्थात् उसकी सामर्थ्य व गति सब ओर है, सब ओर आंख है, वह सर्व द्रष्टा है। सब ओर शिर है, सर्व ज्ञाता है, सब ओर मुख है, वह चतुर्मुख है, उसकी वाणी का प्रसार सब ही दिशाओं में है, वह सर्वत्र कर्णों वाला है, सर्वत श्रुति मान है। अर्थात् उसका स्वरूप भौतिक ऐन्द्रिक रूप ही नहीं है, वह अतीन्द्रिय रूप भी है, वह लोक में सब को (अपने ज्ञान से) व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं वृहत् ॥

वह समस्त इन्द्रियों के गुणों से अवभासित होता हुआ भी, सकल (सशरीर) स्वरूप होता हुआ भी वह इन्द्रियों से रहित है, तथा सब का प्रभु, शासक और सब का महान् शरण-स्थल है। सकल साकार स्वरूप में वह इन्द्रियों-सहित है तथा आत्म स्वरूप में वह अतीन्द्रिय है—प्रभु, और एक मात्र शरण है, आराधनीय है।

नवद्वारे पूरे देही हंसोलेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्थ चरस्य च ॥३-१८॥

चैतन्य आत्मा पुरुष सपूर्ण स्थावर और तिर्यंत्र जगत् का अधिष्ठाता है, तथा हंस

(अविद्या जनित कार्य का हनन करने वाला) निर्मल जीवात्मा ही देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले (देह रूप) पुर में बाह्य विषयों का ग्रहण करने के लिये लालायित हो जाता है।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

वह हाथ-पांव से रहित होकर भी वेग व क्षमता वाला है, नेत्र हीन होकर भी देखता है, कर्ण रहित होकर भी सुनता है, वह सम्पूर्ण ज्ञेय का ज्ञाता है किन्तु उसे अन्य कोई नहीं जानता, वह आप ही स्वयं अपने को जानता है। इसे ही अग्रय पुरुष अग्रणी-सर्व प्रथम परम पुरुष होने वाला एवं महान् पुरुष कहा गया है। इस मन्त्र में महर्षि ने उस हिरण्यगर्भ पुरुष के निर्मल आत्मा स्वरूप का यहां दर्शन कराया है और बताया है कि वह अलिंग ग्रहण इन्द्रिय-रहित होकर भी सर्वज्ञान सम्पूर्ण है, उसका अतीन्द्रिय स्वरूप है, उसका ज्ञान इन्द्रिय–रहितता से बाधित नहीं होता, वह आत्मा–रूप से ज्ञान स्वरूप ही है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा, गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥३-२०॥

वह परम स्वरूप जीवात्मा के हृदय में (अन्तकरण) में अणु से अणु और महान् से महान् रूप से स्थित है, स्थित हुआ अनुभूत होता है। जो जीवात्मा अक्रतु,—विषय भोग संकल्प से रहित महिमा मय आत्मा को, धातु ईश्वर की अन्तरात्मा की कृपा से, प्रसन्नता व निर्मलता से अथवा देह को धारण करने के कारण इन्द्रियां ही धातु हैं उनके प्रसाद से, उनकी निर्मलता होने पर प्रभु रूप को देखता है, वह शोक रहित हो जाता है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य, ब्रह्मबादिनोहि प्रवदन्ति नित्यम् ॥३/२१॥

जन्म (उत्पत्ति) और निरोध—(नाश)—इन्हें मूढ लोग आत्मा के बलताते हैं, और ब्रह्मवादी,—जिन्हें तत्व-साक्षात्कार हो गया है, उसे नित्य प्रतिपादन करते हैं। उस जरा (वृद्धावस्था) से शून्य, पुरातन सर्व (सम्पूर्ण अखण्ड) आत्म—स्वरूप को,—जो ज्ञान विभु होने के कारण सर्वगत है,—मैं जानता हूं।

इस प्रकार अपने साध्य व आराध्य की अनुभूति का महर्षि श्वेताश्वतर ने तृतीय अध्याय में सगुण सविशेष स्वरूप से—श्री हिरण्यगर्भ रूप सकल प्रभु का तथा निर्विशेष रूप से परम—निर्मल ज्ञानात्म निष्कल स्वरूप का वर्णन किया है। उन्होंने उस देव प्रभु को प्रथम तो साकार ब्रह्म सगुण सकल जिन हिरण्यगर्भ प्रभु रूप से, अन्तर्यामी व विराट् रूप से, तथा अन्त में शुद्ध आत्मा-रूप से अनुभव किया और अपनी इस अनुभूति का निरूपण किया।

चतुर्थ अध्याय में उस देव हिरण्यगर्भ—प्रभु की स्तुति की गई है और अनेक प्रकार से उसके स्वरूप व महत्व का वर्णन किया है। इस चौथे अध्याय के मंत्र २ का अर्थ हम पहले कह आये है। इसी अध्याय में मंत्र ५ में प्रधानवाद, सांख्यवाद का भी निषेध हुआ है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां ।
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ (४/५)

सांख्यवादी इस मंत्र से सांख्य की प्राचीनता सिद्ध करते हैं, वे लोहित शुक्ल कृष्ण अजा को रजः सत्त्व तमो मयी प्रकृति कहते हैं, किन्तु शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में इसका अर्थ त्रिगुण मयी प्रकृति न लेकर छान्दोग्योपनिषद् के छटे अध्याय में वर्णित पृथ्वी अप और तेज—ये तीन सूक्ष्म भूत किये हैं। उनमें पृथ्वी कृष्ण वर्ण, अप शुक्ल वर्ण, और तेज लोहित वर्ण है। एक जीव तो तेज, अप और अन्न रूप प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझ कर सेवन करता भोगता है, दूसरा जीव इसे अपने से अन्य जानकर छोड देता है। यहां वस्तुतः यह कहा गया है कि एक जीव जो अज्ञानी है, वह लेश्या का सेवन करता है, दूसरा जो ज्ञानी है वह अलेश्य, आत्म स्वरूप का ही सेवन करता है (१) कृष्ण, रक्त, व शुक्ल वर्ण लेश्या वर्ण हैं जो जैन आगम में कथित हैं।

सांख्य सिद्धांत का दूसरा मंत्र इस उपनिषद में यह कहा जाता है—

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको, विश्वानिरूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे, ज्ञानैर्बिभर्ति [illegible]मानं च पश्येत् ॥ ॥५/२॥
जाय

इस मंत्र के शंकर भाष्य में कपिल शब्द को कनकवर्ण हिरण्यगर्भ का वाचक बताया है तथा इसी उपनिषद् का ॥६-१८॥ प्रमाण प्रस्तुत किया है,—यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति पूर्वं" के भाष्य में कहा गया है—"यो ब्रह्माणं हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान् पूर्वं सर्गादौ" तथा "यो वैवेदांश्च प्रहिणोति तस्मै"—जिसने सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा हिरण्यगर्भ को रचा और जो उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है। इस उपनिषद्—वचन से कपिल शब्द से हिरण्यगर्भ का ही निर्देश किया गया है। "कपिलोऽग्रजः इति पुराण वचनात्कपिलो हिरण्यगर्भो निर्दिश्यते"।

अखण्डज्ञान की सिद्धि के लिये उस हिरण्यगर्भ देव की प्रार्थना अध्याय ४ मंत्र १२ में की गई है जो "यो देवांना प्रभवश्चोद्भवश्च"—आदि रूप से है। इसका भी अर्थ हम पहले कह आये हैं। आगे कहा है—

योो देवानामधियो यस्मिाँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईंशे अस्यद्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम ।। ।।४-१३।।

जो देवेन्द्र है, जिस पर संपूर्ण लोक आश्रित है, अर्थात् समस्त लोक ही जिसका आश्रय लेता है, और जो द्विपद एवं चतुष्पद प्राणि मात्र वर्ग गों का शासन करता है, उस आनन्द स्वरूप देव की हम हवि के द्वारा पूजा करें ~~हैं~~।

इसी भगवान् हिरण्यगर्भ के लिये आगे—मंत्र १५ में ~~म~~कहा—"स एव काले भुवनस्य गोप्ता" वही अतीत कल्पों में विश्व का रक्षक था ।

इस अध्याय के मंत्र १८ में उस हिरण्यगर्भ प्रभु के कैवल्य स्वरूप का वर्णन हुआ है जिसका अर्थ भी हम पहले बतला चुके हैं—इसमें उन्हे अक्षर व वरेण्य सविता,—ज्ञान भास्कर कहा गया है ।।

अध्याय ५ के मंत्र २ में जिसका ऊपर उल्लेख किया है उसी के भाष्य में इस प्रकार कहा गया है—

ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन्प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् सषोडशास्त्रो पुरूषश्च विष्णो विराजमानं तमसः परस्तात्—इति श्रूयते मुण्डकोपनिषदि । स एव वा कपिल प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले । यो ज्ञानैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योर्विभर्ति बभार जायमानं च पश्येदपश्यादित्यर्थ,: अर्थात् अथवा ततस्तदानीं तु भुवनमिस्मन् प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोडशास्त्रः पुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात्—इस मुण्डकोपनिषद् की श्रुति के अनुसार वह हिरण्यगर्भ ही पूर्वकाल में सृष्टि के समय कपिल नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे परम आत्मा ने अपने ज्ञानों से धर्मज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य से युक्त किया और उत्पन्न होते देखा । शंकर भाष्य में उल्लिखित यह श्रुति अब मुण्डकोपनिषद् में नहीं मिलती, अन्यत्र भी उसका पता नहीं चलता—ऐसा पाद टिप्पणी में गीताप्रेस संस्करण में प्रकट किया गया है । और कहा है कि परम्परा से जैसा पाठ मिला वैसा रहने दिया है और अर्थ संगति न लगने के कारण इसका अनुवाद नहीं किया गया है ।

इस पंचम अध्याय में क्षर (विनाशशील) पर्याय का व अक्षर (गुणस्वरूप) का व इन दोनों के प्रेरक या कारक परमात्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे
क्षरंत्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।।—(५/१)

हिरण्यगर्भ सकल देव से उत्कृष्ट अविनाशी निष्कल और अनन्तर (निर्विशेष) पर—ब्रह्म में जहाँ विद्या और अविद्या दोनो ही परिच्छिन्न (गौण) हो जाती हैं, उनमें क्षर पर्याय रूप तो अविद्या है और अक्षर (गुण) रूप अमृत विद्या है तथा जो इन दोनों विद्या और अविद्या को वा क्षर-पर्याय और अक्षर-गुणमय विद्या को,—इनके ज्ञान को शासन करता है, धारण करता है, वह इन क्षर व अक्षर से अन्य "विलक्षण" है—अर्थात् वह न मात्र क्षर रूप पर्याय का धारण करने वाला है, न अक्षर गुण रूप मात्र ही है, वह इन दोनो सहित विलक्षण है, वह ऐसा निर्मल आत्म द्रव्य है जिसमें निर्मल गुण पर्याय व निर्मल गुण, एक क्रम रूप से व दूसरा अक्रम (निश्चल रूप से) विद्यमान है, और वह निरक्षर निःशब्द रूप है। इसे ही जैन परिभाषा में—गुण पर्याय सहित द्रव्य कहा गया है। क्षर सविशेष है, अक्षर निर्विशेष है—सामान्य है—अतः आत्माद्रव्य सामान्यविशेषात्मक है।

आगे इसी अध्याय में प्रदर्शित किया गया है कि जीव अपने संकल्प के अनुसार,—विभाव भाव के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त होता है, और परम आत्म स्वरूप के निर्मल ज्ञान को प्राप्त करके वह सब प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

छठे अध्याय में परम आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अन्त में उसी के ज्ञान से सारे दुःखो की निवृत्ति का कथन हुआ है और कहा है कि उस देव हिरण्यगर्भ प्रभु या परम आत्म स्वरूप को जाने बिना दुःखों का अंत होना असंभव है।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥—(६/२०)

जिस समय मानव चर्मवत् आकाश को लपेट लेंगे, उस समय देव को न जानकर भी दुःख का अन्त हो जायेगा।

गीता प्रेस के संस्करण में इस मंत्र का पाद-टिप्पणी में यह भावार्थ दिया गया है—

"तात्पर्य यह है कि परमात्मा केबिना जाने दुःख का अन्त होना ऐसा ही असम्भव है जैसे कि विभु और अमूर्त आकाशको परिच्छिन्न एवं मूर्त-स्वरूप चर्म के समान लपेटना।"

इस मंत्र के उक्त अर्थ में परमात्मा-ज्ञान के बिना दुःख निवृत्ति की असंभावना को प्रकट किया गया है। ऐसा इस मंत्र का प्रचलित अर्थ किया जाता है।

परंतु इस मंत्र की यथार्थ गूढ़ महत्ता इस अर्थ में अप्रकट ही रह जाती है। यह मंत्र इस उपनिषद के अन्त भाग में बडे ही महत्वपूर्ण भाव को लेकर प्रकट किया गया है। यह इस उपनिषद् के

समाहार में वैसे ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जैसे भगवद्गीता में यह श्लोक "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया" (गीता १८/१६) श्री कृष्ण ने अपनी समस्त शिक्षा का सार जैसे इस श्लोक में दिया, वैसे ही उपनिषदकार ने भी इस मंत्र में अपनी ध्यान-अनुभूति का सार प्रकट किया है।

इस मंत्र में आकाश को चर्मवत् लपेटने की बात कह कर प्रकट किया है कि मानवों की स्थूल देह को चर्म जिस प्रकार लपेटे रहता है, वैसे ही जब आत्म-प्रदेशों को आकाश लपेट लेगा-अर्थात् जब आत्मा निरावरण पूर्ण दिगम्बर और निर्ग्रन्थ हो जायेगा और आत्म-प्रदेश मात्र आकाश से आवृत्त, रह जायेगें—समस्त कर्म कलंक रूप आवरण नष्ट हो जायेगें तब उस जीवात्मा के समस्त भाव-दुखों का अन्त होकर उसे अमरत्व प्राप्त हो जायेगा। तब उसे-उस हिरण्यगर्भ ऋषभदेव प्रभु का ध्यान भी नहीं रहेगा—वह स्वयं उस प्रभु रूप परिणमित हो जायेगा, अतः उस प्रभु के स्वरूप रूप द्रव्य तथा भाव लिंग को प्राप्त होकर उसे उस प्रभु का भिन्न ज्ञान या ध्यान भी न रहेगा। ऐसे वह आत्मा त्रिपुटी का वेध करके आत्मलीन स्थित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाएगा। त्रिपुटी वेध पर ध्येय का ज्ञान नहीं रहता। ध्येय रूप स्वयं होकर आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हो जाता है। तब ध्येय का ज्ञान क्या रहता है? अतः कहा है कि उस निरावरण दिगम्बर निर्ग्रन्थ निर्मल अवस्था में उसे उस ध्येय का ज्ञान न रह कर सिद्धत्व प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार उपनिषद कार ने भ. हिरण्यगर्भ ऋषभदेव के सकल ध्येय स्वरूप में आरोहण करके निष्कल ध्येय स्वरूप में साधक-जीवात्मा के आरोहण की बात को कहा है। सकल जिनेश्वर की ध्यान उपासना करते करते जीव भिन्न ज्ञान से छूट कर अभिन्न ज्ञान में आरोहण करके अक्षय अव्याबाध सुख को ही प्राप्त कर लेता है। यहां इस प्रकार उपनिषद कार ने जैन योग के सकल तथा निष्कल ध्येय का द्रव्य व भाव लिंग का और अक्षय सुख रूप में समस्त दुःख की निवृत्ति आदि का वर्णन कर दिया है। आकाश मात्र ही वस्त्र लपेटने का वर्णन यहां जैन मान्यता के असंख्यात निज अवगाहना प्रमाण आत्मा के क्षेत्र को तथा साथ ही वातरशना दिगम्बर मुनि परम्परा की महत्ता व संपूज्यता, प्राचीनता और प्रमाणीकता को भी यहां संकेतित किया है। यह मंत्र बडा अलौकिक ही है। पहले तो भ. हिरण्यगर्भ देव को जानने की प्रेरणा करते हुए कहा गया कि उस देव को जानकर सब आवरणों, पाशों से मुक्ति हो जाती है—(ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः), अब यहां कहा है कि जब मानव आकाशमात्र परिधान यानी दिगम्बर रूप हो जायेगें तो उस देव को न जानकर भी उसके दिगम्वर भाव व दिगम्बर मुद्रा को धारण करलेंगे-तब ही उनके सब भव दुःखों का अन्त हो जायेगा। जैन दिगम्बरत्व की इससे अधिक महिमा और क्या की जा सकती थी!

आ. अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में इसी प्रकार का वर्णन है:—

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपावस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशदतमः॥ —(२२३)

सदा ही अलिप्त बिना कर्मों के आलेप के, स्वरूप मात्र में स्थित, संपूर्ण जागतिक विषयों से रहित, अत्यन्त निर्मल, वह परम पद में आकाश सदृश, निर्लिप्त तथा निर्मल स्फुरायमान (प्रकाशमान) होता है। "गगनपरिधान"—पद से श्रीमद्भागवत में भी भ. ऋषभदेव की दिगम्बरी प्रवृज्या को कहा है। देखें स्कंध अ. ५/७६

धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय और उसके प्रसारक ब्राह्मण

वस्तुतः यह आत्मा दिगम्बर होकर ऐसा ही स्फुरायमान होता है मानों समस्त आकाश को ही उसने धारण कर लिया हो, लपेट लिया हो। ध्यान की सर्वज्ञ परम्परा ही उपनिषदकार के वर्णन में भी प्रकट हुई है। इसका कारण है कि इस देश की अद्भुत परम्परा रही है कि यहां धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय रहे, और इसके प्रसारक ब्राह्मण-ऋषिगण रहे। सब ही तीर्थंकर प्रभुओं के गणधर ब्राह्मण रहे हैं। उन पर ही दायित्व था कि वे सर्वज्ञ प्रभुओं के प्रवचनों को ग्रहण करें और धर्म तत्वों का प्रसार प्रचार करें। क्षत्रिय तीर्थंकर प्रभु अर्हत्पुरुष और सर्व साधु मुनिजन गिरि-कन्दराओं में तपोरत तथा योगरत रह कर धर्म तथा अध्यात्म तत्व का उद्घाटन व दर्शन करते थे। उन्होंने कभी तब 'ग्रन्थ निर्माण नहीं किये थे, वे निग्रन्थ थे, दिगम्बर व निष्परिग्रही थे और वैदिक आर्यगण नदी-किनारों पर आश्रम बनाकर रहते थे, प्रायः वानप्रस्थ होते थे और अपनी गृहीणियों तथा शिष्य मंडली के साथ निवास करते थे तथा क्षत्रिय परम्परा के ज्ञान को प्राप्त करके उसका प्रसार करते थे, और अध्यापन कराते थे। गिरि-कन्दराओं में वास के ही कारण वे वीतरागी निर्ग्रन्थ अर्हत्पुरुष गिरीक्षत तथा गिरिष्ठा आदि उपाधियों द्वारा वेदों में वर्णित हुए है। उनकी जितेन्द्रियता का वर्णन करते हुए कहा गया कि वे अपने न फिसलने वाले (इन्द्रिय) अश्वों के साथ पर्वत शिखर पर खडे हैं। कर्म-पर्वतों को चूर्ण करने के कारण वे गिरिक्षत ही थे। इन वीतरागी अर्हत्पुरुषों में अग्रज तीर्थंकर हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर ही हुए हैं तथा उन्हें ही अग्रज, आदि-शिव, आदि-ब्रह्मा, प्रजापति, विष्णु, व अग्नि, व्योम, सूर्य, उषस् की विशिष्टता से, विविध प्रतीक बिम्बों से शब्दायित किया गया।

तीर्थंकरों का सत्समागम का वरदान

वस्तुतः इन्हीं अर्हत् पुरुषों तथा तीर्थंकरों का सत्समागम पाकर वैदिक आर्य-ऋषिगण जो कर्मकाण्डवादी, यज्ञ-प्रधानी तथा हिंसा-प्रधानी तथा स्वर्ग को ही चरम अभ्युदय मानने वाले थे, योग और ज्ञान में दीक्षित हुए और उपनिषदकार ज्ञान–शिखरों को स्पर्श कर सके। इस सत्समागम के ही कारण वेदों में इन अर्हत्पुरुषों की स्तुतियां आई हैं। इनमें से बहुत सी स्तुतियां ऋषि देवों की परोक्ष-प्रियता के कारण परोक्ष तथा प्रतीक व संकेत रूपों में है। इनके सत्समागम के ही वरदान-स्वरूप लोकिक-अभ्युदय के साथ इन वैदिकजनों ने अलौकिक निःश्रेयस् को भी धर्म-लक्षण में जोड़ा, मोक्ष की अवधारणा पाई। तब ही इन्होंने चिदात्म पुरुष आत्मा और ज्ञान के आलोक पाए, अहिंसा, तप, तथा अक्षर और शब्द-साधनाएं, मंत्र और प्रणव की महिमा को जाना और उपनिषदों का निर्माण किया।

वीतरागी श्रमरणं-संस्कृति के वरदान स्वरूप वैदिक ग्रार्य-ऋषिगणों ने मूर्ति-पूजा, व्यक्ति गरिमा, अवतार रूप में व्यक्ति पूजा, सर्वकालिक दश धर्मों के स्वरूप ग्रादि की उपलब्धि की ग्रोर ग्रहिंसा को स्वीकार किग्रा । ग्रनासक्ति तथा निवृत्ति के नये ग्रर्थ पाये ।

त्रिविक्रम ग्रोर त्रिरत्न

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में जिस त्रिविक्रम का वर्णन है, वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, ग्रौर सम्यक् चारित्र त्रय रत्नमय मोक्ष मार्ग के ही विशेष क्रम का संकेत है ग्रोर वह विष्णु का तथा उस रूप भ. हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर का ही विशेषरण है । समस्त भूमि, स्वर्ग ग्रौर ग्राकाश को ग्रपने पराक्रम के पुरुषार्थ से ज्ञानगत कर लेने, माप लेने के ही कारण सारा त्रिलोकी उस त्रिविक्रम के ही चरणों में ग्रवस्थित कहा गया है, जीवन को उरुक्राय गा बनाने के लिये त्रिलोक की यह परिक्रमा की गई ।

> "प्रत विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
> प्रविष्णवे शूषमेनु मन्म गिरिक्षत उरुगायाय वृष्णे ।।—(ऋक्. १/१५४/२–३)–"

श्री देवेन्द्र मुनि ने जैन धर्म के मौलिक इतिहास की भूमिका में भ. ऋषभदेव की सार्व भौम मान्यता का इस प्रकार उल्लेख किया है—

भ. ऋषभ का नाम ग्रौर उनकी कृति विश्वव्यापक

"चीन ग्रौर जापान भी उनके नाम ग्रौर काम से परिचत रहे हैं । चीनी त्रिपिटको में उनका उल्लेख मिलता है । जापानी उनको "रोकशब" (Rokshab) कह कर पुकारते हैं ।

मध्यऐशिया, मिश्र ग्रौर यूनान तथा फोनेशिया एवं फरिणक लोगों की भाषा में वे "रेशफ" कहलाये, जिसका ग्रर्थ सींगों वाला देवता है, जो ऋषभ का ग्रपभ्रंश है ।

ग्रौर सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनियां की संस्कृति ग्रौर सभ्यता बहुत प्राचीन मानी गई है। उनके विजयी राजा हम्मूरावी (२१२३–२०८१ ई. पू.) के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग ग्रौर पृथ्वी का देवता वृषभ था ।

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप में ग्रर्चना करते थें, जिसे ग्राबू या तामूज कहते थे । वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे, सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र में ',ग्रर्हशम्म" का उल्लेख मिलता है । ग्रर्हशब्द ग्रर्हत् का संक्षिप्त रूप जान पडता है ।

हित्ती जाति पर भी भ. ऋषभदेव का प्रभाव जान पडता है । उसका मुख्य देवता ऋतुदेव था । उसका बाहन बैल था—जिसे "तेशुव" कहा जाता था, जो तित्थयर उसभ (ऋषभ) का अपभ्रंश ज्ञात होता है ।

वेदो में ऋषभ देव की भावविभोर स्तुतियां

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है । किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिकता के कारण अर्थ में परिवर्तन कर दिया है जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये हैं । जब हम उन ऋचाओं का साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर अध्ययन करते हैं, तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान् ऋषभदेव के संबंध में ही कहा गया है ।"

श्री देवेन्द्रमुनि ने फुट नोट में ऋग्वेद के मंडल १,२,५,६ और १० के अध्याय २५,४,२१,१२ के सूत्र १६,३३,१८,१,१६ और २६ के मंत्र १,१५,४,८,११,१ आदि का उल्लेख किया है, जो ऋषभदेव के सम्बन्ध में कही गई हैं ।

उन्होंने आगे यह ऋचा भी उद्धृत की है—

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियभि वाचमृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीयामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयाभा ।—(ऋग्वेद २/३८/२)—

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता है—

"हे आत्म दृष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण आना चाहता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है, उनको मैं अवधारण करता हूँ । हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वगामी (पूर्वगत ज्ञान के प्रति पादक) हो ।"—पूर्वगत ज्ञान वेद पूर्व ज्ञान को प्रकट करता है ।

केशी प्रभु ऋषभदेव

"ऋग्वेद में भ. ऋषभदेव के लिए केशी शब्द का प्रयोग हुआ है, वातरशन-मुनि-प्रकाश में केशी की स्तुति की गई है, जो स्पष्ट रूप से भगवान् ऋषभदेव से संबंधित है । कहा है—

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उन की वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वो नियुक्त होकर मोद्गलानी (मुद्गल की स्वात्म-वृत्ति)

की ओर लौट पडी।" सारांश यह है वि मुदगल-ऋषि की जो इन्द्रियां परङ्-मुखी थी, वे उनके योग-युक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुन कर अन्तर्मुखी हो गईं।

ऋक् तथा यजुर्वेदो में जैन तीर्थंकर

ऋग्वेद में भगवान ऋषभ हिरण्यगर्भ का "छन्दांसिस्तुत:," "सूर्य रश्मि:," "हरिकेश:" "हरिश्मश्रु" रूप में वर्णन :—

ऋग्वेद के दशम मंडल में भगवान् ऋषभ हिरण्मगर्भ की बहुत-बहुत स्तुतियाँ की गई है, वह स्तुतियों से भरा है—इसीलिए उस प्रभु ऋषभ को छन्दांसिस्तुत:—ऐसा कहा गया है। उन्हें "सूर्य-रश्मि:" और "हरि: केश:" भी कहा गया है। वहीं उन्हें 'हरिश्मश्रु' भी कहा है। ये वर्णन उस प्रभु के केवल-ज्ञान-किरणों सहित तथा प्रकाशमान जटाओं तथा दाढी मूंछ सहित होने का वर्णन है। इससे प्रकट है कि वह प्रभु अत्यन्त दीप्तिवान प्रकाशवान ज्ञानवान और नर-देही स्वरूप में इस जगतीतल में प्रागैतिहासिककाल में साक्षात् पुरुष ही हुआ था।

ऋग्वेद में अनंत चतुष्टय और सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) का वर्णन

जैन योग विज्ञान में सकल जिन-प्रभु को चार-गुणों, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (बल) मय वर्णित किया जाता है और इन ही गुणों का वर्णन तथा इन गुणों ही की याचना ऋग्वेद में उस हिरण्यगर्भ प्रभु से की गई है। अमृतत्व को निश्चय से प्राप्त करा देने वाली आत्मा की तत्त्वश्रद्धा रूप सम्यक्त्व का और उसकी महिमा का जैनो में वर्णन है। इसी का स्वर ऋग्वेदमें भी उल्लेखनीय हुआ है। श्रद्धा का स्वर सम्मान से अधिक वृहत्तर एवं गहन तर है, वह पूजा और अर्चना के भाव तक जाता है क्योंकि सम्मान तो लौकिक वस्तु व व्यक्ति को भी दिया जा सकता है और कभी निरादर में भी बदला जा सकता है—पर अर्चनीय इष्ट में श्रद्धा अचल होती है।

श्रद्धयाग्नि समिध्यते, श्रद्धया हूयतेहवि:।
श्रद्धां भगर्स्व स्य मूर्धानि, वचसा वेदयामसि ॥—(१७/१/११)

आत्म श्रद्धा से ही आत्म ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है और उसे श्रद्धा से ही आत्म यज्ञ में हविष्य (आचरण) की आहूति दी जाती है। हम अपने मूर्धा (मस्तक) में भग,-परम ऐश्वर्य की (वचसा) वाणी द्वारा स्थापना करें।

श्रद्धां देवा यजमाना वायु गोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥—(१५/४/११)

आर्य देव पुरुष, वायुवत् असंग विचरण करने वाले, और बलवान पुरुष को अपना रक्षक मानने वाले, आत्म-यज्ञ कर्ता जन सत्य-धारणा मयी श्रद्धा की उपासना करते हैं। हृदय-गत मनों-

भाव से श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा से ही, वसु, परम ऐश्वर्यमय अष्ट गुणों को प्राप्त करते हैं।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापमेह नः ॥—(१५/५/११)

हम प्रातः काल श्रद्धा का आह्वान करते हैं, दिन के मध्यकाल में तथा सूर्य के अस्तकाल में श्रद्धा का आह्वान करते हैं। हे श्रद्धे ! तू हमें इस जगत् में आत्म-श्रद्धा को धारण करा। आ. जिनसेन ने आदि पुराण में भ. हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ को "सप्रलम्भ जटाभार" रूप ही वर्णित किया है—दृष्टव्य है अध्याय १, श्लोक २०४। इसी प्रकारका उनका वर्णन ऋग्वेद में भी दृष्टव्य है।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुर्मदिन्तमः ॥—(१३६/६/२४)

(अप्सरसां) अप्स अर्थात् रूपों में विचरण करने वाली चक्षु (गन्धर्वाणां) गंध आदि में विचरने वाली नासिकादि, और (मृगाणां) नाना विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों के (चरणे) संचरण व्यापार में (चरन्) आत्म चारित्र का आचरण करता हुआ, (केतस्य विद्वान्) ज्ञान का दाता होकर (सखा) उसके ही समान नाम तथा स्वरूप का धारण होकर (स्वादुः) सुख का भोक्ता और (मन्दितमः) सबसे अधिक आनन्द-युक्त होता है। वह केशी तेजो मय केश-जटाधारी प्रभु हिरण्यगर्भ है।

चत्वारि ते असुर्याणि नामादम्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवन् चकर्थ ॥—(५४/४/१५)

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् (तेमहिषस्य) तुझ महान् प्रभु के (चत्वारि) चार गुण—अनन्त चतुष्टय, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (बल), (अदम्यानि) कभी नाश न होने वाले अर्थात् न अन्त होने वाले अनन्त हैं। (त्वमङ्ग – तानि विश्वानि वित्से) तू अंग सहित (भेद सहित) उन सब अनन्त गुणों को जानता है, (ये भिः) जिनसे तूने (कर्माणि चकर्थ) आत्म कर्मों को किया।

त्वं विश्वादधि षे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
कामानिन्मे मधवन्मा वि तारी स्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ॥—(५४/५/१५)

हे ऐश्वर्यवान् प्रभो ! तूने समस्त (केवलानि) केवल गुणों—केवल दर्शन, केवल ज्ञान, केवल सुख और केवल वीर्य और (वसूनि) अष्ट गुणों को धारण किया है, जो हृदय-गुहा में प्रकट हुए हैं।

हे ऐश्वर्यवान् ! तुम मेरी आत्म-कामना को कभी विनष्ट न होने दो, तुम ही आज्ञा देने वाले शास्ता हो, तुम ही आत्म-दाता हो, आत्म-स्वरूप को प्रकट कराने वाले हो।

सूर्य रश्मिः, हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरूदयाँ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवेयाति विद्वान्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ।।—(१३६/१/२७)

वह जो (सूर्य रश्मि:) केवल ज्ञान किरणों वाला तथा (हरिकेश:) प्रकाशमान जटाधारी ऋषभ हिरण्यगर्भ है, अजस्त्र ज्योतियों (ज्ञान प्रवाह) को उत्पन्न करता है। (तस्य प्रसवे) उसके उत्तम शासन में (विद्वान् पूषा) ज्ञानवान्, ज्ञान-तुष्ट जन और (विश्वा भुवनानि गोपा:) समस्त विश्व और लोकों की रक्षा करने वाला भी केवल ज्ञान सूर्य के समान (सम्पश्यनुयाति) सम्यक् रीति से ज्ञान दर्शन कराता हुआ प्रयाण करता है।

समुद्रादूर्मिमुदियाति वेनो नभोजाः पृष्ठं हर्यतस्य दर्शि ।
ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनियभ्यनूषत व्राः ।।—(१२३/२/८)

विचारवान पुरुष समुद्र के समान अपार ज्ञान भण्डार प्रभु से उत्तम ज्ञान की उर्मि (लहर) को प्राप्त करते हैं। (नभोजा:) आकाश वत् निर्मल उस प्रभु के बीच में उत्पन्न ब्रह्मज्ञ पुरुष (हर्यतस्य) कान्तिमान् प्रभु के (पृष्ठम्) स्वरूप को (दर्शि) साक्षात् करता है वह (ऋतस्य सानौ) ज्ञान के देने वाले (विष्टपि अधि) संताप रहित लोक में (भ्राट्) भाज्नमान देदी-प्यमान है। (समानं योनिं अनु) एक समान गृहवत् शरणप्रद उस प्रभु को लक्ष्य करके, (व्रा: अभिअनूषत) वरण करने वाली वेद-वाणियां उसकी साक्षात् स्तुति करती हैं।

इसी हिरण्यगर्भ वृषभ प्रभु को अग्नि-सूर्य आदि नामों से निरूपित करके प्रार्थनाएँ की गई हैं और उसका ही अनुकरण अनुगमन करने के लिए प्रेरणा की गई है—

जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान् वयुनानि सुक्रतो ।
धृतर्निणिग्ब्रह्मणे गातुमेरय तव देवा अजनयन्ननु व्रतम् ।।—(१२२/२/६)

हे (अग्ने) ज्ञान के प्रकाशक हिरण्यगर्भ प्रभो ! तुम (जुषाण) सब को प्रेम करते हुये (मे वचः प्रति हर्य) मेरे वचन को—स्तुति को प्रेम से स्वीकार करो। (सुक्रतो) हे उत्तम-सम्यक् चरित्र, कर्म वाले ! तुम (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त ज्ञानों के जानने वाले हो—अर्थात् सर्वज्ञ हो। (घृत निर्णिक) हे ! घृत रूप श्रद्धा से पवित्र करने वाले ! (ब्रह्मणे गातुम्) ब्रह्म-ज्ञान के मार्ग का (आईरय) उपदेश करो। (तव अनु) तेरा अनुकरण करके (देवा: ऋतम् अजनयन्) सब देव-आर्य-पुरुष आत्म-व्रत को करें।

यही नहीं । ऋग्वेद का दशम मंडल हिरण्यगर्भ प्रभु के नाम पर दश ऋचामय पूरे एक हिरण्यगर्भ-सुक्त को भी प्रस्तुत करता है जिसमें उस निर्मल अद्वितीय आत्म वेत्ता केवल ज्ञानी ऋषभ हिरण्यगर्भ प्रभु पुरुष की स्तुति की कई है । यह सूक्त ऋग्वेद दशम मंडल में सूक्त १२१ है । इसमें दस मंत्र-ऋचाएं दी गई हैं ।

हिरण्यगर्भ सूक्त में भगवान हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की उपास्य रूप में स्तुति

(१)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

हिरण्यगर्भ पुरुष ही सृष्टि-युग के अग्र समय में हुए थे । वह समस्त प्राणियों के एक मात्र अधिपति, पालन करने वाले थे । उन्होंने पृथ्वी और देव लोक को धारण किया । उन अति अर्चनीय देव पुरुष की ही हम हवि से, भक्ति विशेष से उपासना का विधान करते हैं । हम किस देव के लिए उपासना करें ? कस्मै देवाय (किस देव के लिए, अर्थ के अतिरिक्त—यह भी अर्थ है—"कि ज्ञानी उस आत्म सुख स्वरूप देव-पुरुष (हिरण्यगर्भ) के लिए ही हम उपासना करते हैं ।

(२)

य आत्मदा बल दा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवा ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हतिषा विधेम ।।

जो आत्मा को प्रदान कराने वाला, साक्षात्कार कराने वाला और आत्म शक्ति प्रदान कराने वाला है, जिसकी सारा विश्व ही उपासना करता है, जिसके प्रकृष्ट शासन को (योग शासन को) सब देव-आर्य पुरुष मानते है, और जिसकी शरण छाया अमृत स्वरूप है, और जिसकी शरण न लेना मृत्यु के समान है, उस अति अर्चनीय सुख स्वरूप हिरण्यगर्भ प्रभु की ही हम पूजा करते है । अन्य किस की पूजा करें ।

(३)

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपद श्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जो अपनी महान महिमा से निमेष-उन्मेष मय चक्षु-धारी प्राणिजनों का (एकः इन् राजा बभूव) एक मात्र अद्वितीय राजा हुआ, और जो दो पैर और चार पैर वाले प्राणि वर्ग का भी स्वामी

हुआ, उस अद्वितीय अर्चनीय सुख स्वरूप हिरण्यगर्भ देव पुरुष की ही हम उपासना करते हैं, अन्य किस की उपासना करें ?

(४)

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रादेशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

बर्फ से ढ़की पृथ्वी, पर्वत और सागर जिसकी महिमा का गान करते हैं, चारों दिशाएँ ही जिसकी भुजाए हैं—अर्थात् चारों दिशाओं में जिसका शौर्य व्याप्त है, उस शक्ति-धर सुख-स्वरूप अति अर्चनीय देव-पुरुष हिरण्यगर्भ की हम उपासना करते हैं, अन्य किसकी पूजा करें ?

(५)

येव द्योरुग्रा पृथिवी च दृढ़हा मेन स्वः स्तभितं येननाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिससे तारक-मंडल सहित आकाश और पृथ्वी में दृढ़ स्थिरता (शांति) है, जिसने स्व आत्मा को स्तंभित (स्थिर-प्रशांत) किया है, और जिसने रजसो, कर्म-रज-कणों को अंतरिक्ष में, अर्थात् शून्य रूप शुक्ल ध्यान में विचूर्ण कर दिया है, उस सुख-स्वरूप अति अर्चनीय निर्मल देव पुरुष हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते है, अन्य किसकी पूजा करें ?

(६)

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेज माने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिसको स्वाधीन और दृढ़ स्थिर हुए दोनों गतिशील आकाश और पृथ्वी (आकाश और पृथ्वी पर संचरण करने वाले) मानो मन के द्वारा साक्षात् देखते हैं, जिसके आश्रय केवल ज्ञान का सूर्य उदित होकर चमकता है, उस सुखमय अति अर्चनीय देव-पुरुष केवलज्ञानी हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासता करें ?

(७)

आपो ह यद् वृहती विश्वमायतोर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरैकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिस विश्व (विराट) प्रभु को, निश्चय से (वृहति आपः) वृहद् श्रद्धा-सलिल प्राप्त हुआ और जिसने गर्भ में,—अन्तर हृदय में धारण की हुई ज्ञानाग्नि को प्रकट किया और उसके बाद वह देव आर्य जनों का निर्मल अद्वितीय एक मात्र प्राण (जीवन-संचालक, प्रिय उपास्य) हुआ, उस अति अर्चनीय सुख-स्वरूप धर्म-विधाता की ही उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासना करें ?

(८)

यश्चिदापो महिम्ना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्ती यंज्ञम् ।
नो देवेषु अधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिसने महान् महिमा से दक्षता पूर्वक धारण की हुई, और आत्म-यज्ञ को उत्पन्न करती हुई चिदाप (चैतन्य आत्म-श्रद्धा सलिल) का परिपूर्ण साक्षात्कार किया, और जो देव आर्य-जनो में एक मात्र देवाधिदेव था, उस अति अर्चनीय, सुख-स्वरूप केवल-दर्शन विभूषित देव-पुरुष हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासना करें ?

(९)

मानो हिंसीज्जनिताय: पृथिव्यायो वा दिवं सत्यधर्माजिजान ।
यश्चापचन्द्रा वृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जो वह पृथ्वी का जनक (पालन करने वाला) है, हमें हिंसा से पीडित न होने दें, अर्थात् हम अहिंसा धर्म में ही दृढ़ रहें । जिसने दिव्य सत्य धर्म, सत्यज्ञान को उत्पन्न किया, और जिसने (चन्द्रा) सर्वाह्लाद कारक व्यापक श्रद्धा,-केवल दर्शन को उत्पन्न किया, उस सुख स्वरूप अति अर्चनीय देव पुरुष हिरण्यगर्भ की ही उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासना करें ?

(१०)

प्रजापते न त्वदेतान्ययो विश्व जातानि परिता बभूव ।।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।

हे प्रजापति ब्रह्मा हिरण्यगर्भ ! इन व उन,—निकटस्थ और दूरस्थ वा अतीत और वर्तमान के सब विश्व पदार्थों का तुम सा, अन्य कोई भी पारगामी नहीं हुआ । जिस कामना से हम उपासना करें, वह हमें पूर्ण हो, और हम आत्म-गुणैश्वर्यों के स्वामी होंवे ।

यहाँ इस प्रार्थना के साथ उस अलोकिक हिरण्यगर्भ पुरुष की, जो इस भूमि पर युग सर्ग के आदि में हुआ और इस भूमि पर आत्म-प्राप्त पुरुष रूप में साक्षात् विचरा, केवल ज्ञानी होकर देव पुरुषों का योग-शास्ता हुआ, स्तुति का उपसंहार किया गया है ।

ग्रीस देश का परमेथियस,–परमेष्ठी पुरुष

जैनों ने भगवान् ऋषभदेव हिरण्यगर्भ को परम पद में प्रतिष्ठित आदि प्रभु ~~तथा~~ परमेष्ठी कहा है। ग्रीक माइथोलाजी में परमेष्ठी पद से ही मिलता जुलता नाम है—प्रोमेथि~~स्य~~यस Prometheus। यह परमेथियस (परमेस्थित) परमेष्ठी की ही ध्वनि, रूप और कृतित्व रखता है। जैनों के अनुसार इस अग्रज परमेष्ठी ने ही सर्वप्रथम मानवों को अग्नि का प्रयोग सिखाया, पुरुष-सूक्त में भी कहा गया कि उसने ही अग्नि से यज्ञ करना सिखाया तथा जैन व वेद वाङ्मय दोनों ही यह मानते है कि मानवों को लिपि दी, कृषि असि मसि और सारे कला कौशल सिखाये-नगरों के निर्माण कराये। इस परमेष्ठी पुरुष की यशोगाथा ऐसा मालुम होता है उस अति प्राचीन काल में ग्रीक देश तक पहुंची और उन्होने अपनी माइथोलाजी में वर्णन किया कि उस परमेथियस ने ही सर्वप्रथम मानवों को अग्नि का प्रयोग करना सिखाया और कला कौशल भी सिखाये। उन्होंने बाद में संभवत: अन्य धर्म के आने पर यह जोडा कि उस परमेथियस को Zeus देवता ने अग्नि स्वर्ग से पृथ्वी पर ले जाने के अपराध पर सारी पृथ्वी के भार को वहन करने की सजा दी। पृथ्वी को अपने मस्तक पर वहन करने की बात हिरण्यगर्भ सूक्त के मंत्र १ के इन पदों के ही अर्थ को प्रकाश करती है—"स दधार पृथ्वीं"। हिरण्-गर्भ सूक्त का यह वर्णन अलंकारिक है और इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि पृथ्वी और स्वर्ग के लोगों ने उन्हें अपना इष्ट आराधनीय स्वीकार किया। इस तरह उसने पृथ्वी तथा स्वर्ग को धारण किया। पृथ्वी और स्वर्ग के लोगों को धारण करने की अलंकारिक बात को ग्रीक माइथोलाजी में स्पष्टत. ही विकृत रूप में कहा गया लगता है। कुछ भी हो—यह आश्चर्यजनक है कि इस अति प्राचीन भारतीय महापुरुष की मानवों के प्रति अनन्त उपकार की यशोगाथा ग्रीक प्रदेश की माइथोलाजी में भी स्वीकृत है। वस्तुत: अखिल विश्व का संपूर्ण मानव समाज सदाकाल इस पुरुष की अप्रतिम सेवा और देन के लिए सदा ऋणी ही रहेगा और यह भारतीय जनों के लिए कम गरिमा तथा गौरव की बात नहीं है।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के और भी स्थल

"ॐ" त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकरान्।
ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये॥

ॐ पवित्रं नग्नमुपवि प्रसामहे एषां नग्ना (नग्नये) ज्योतिर्वेषां वीरा इत्यादि भी ऋग्वेद में कहा है तथा यजुर्वेद में ऐसा कहा है—

ॐ नमो अर्हंतो ऋषभो ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माह संस्तुतं वरं शत्रुं जयन्तं पशुरिंद्रमाहुतिरिति स्वाहा।

ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदन्ति अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे शक्रमजितं तद्वर्द्धमान पुरुहूतमिंद्रमाहुरिति स्वाहा ।

ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससंब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हन्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा ।

ॐ स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः, स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु । दीर्घायुः स्नायुबलायुर्वा शुभजातायु ।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्ठनेमिः स्वाहा । वामदेव शान्त्यमर्थमनु विधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा ।[1]

इसके अतिरिक्त—

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वं भवभुवं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥[2]

अर्थात्–(अर्हन्) हे अरहन्त देव आप अज्ञाननाशार्थं (सायकानि) वस्तुस्वरूप धर्म रूपी वाणों को तथा (धन्व) उपदेश रूप धनुष को तथा (निष्कं) आत्म चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप आभूषणों को (विभर्षि) धारण किए हो तथा (अर्हन्) हे अरंहतदेव आप (विश्वरूपं) विश्व स्वरूप अर्थात् जिसमें समस्त विश्व प्रतिभासित होता है (तं) उस केवल ज्ञान को यजन किए अर्थात् प्राप्त किए हो। (अर्हन्)—हे अरहंत देव आप (इदं) इस (विश्व) संसार के (भव भुवं) समस्त जीवों की (दयसे) रक्षा करते हो (रुद्र !) हे, काम, क्रोधादि बड़े-बड़े प्रवल शत्रुओं को रुलाने वाले (त्वद्) आपके समान और कोई भी (ओजीयो) बलवान् (नवा अस्ति) नहीं है ।

अर्हन् या अर्हत् व निग्गठं या निर्ग्रन्थ जैनों के ही निगूढ़ शब्द हैं और जैन धर्म बहुत काल तक अर्हत् धर्म के ही नाम से जाना जाता रहा था ।

बाजस्य नु प्रसव आवभुवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः ।
सनेम राजा परियाति विद्वान प्रजां पुष्टि वर्धयमानो ॥
—अस्मै स्वाहा ।[3]

---

1. मोक्ष मार्ग प्रकाशक—(नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रकाशित पृ० २०१/२०२)
2. (ऋग्वेद अष्टक २ अ. ७ वर्ग १७)
3. (यजुर्वेद अध्याय ९ मंत्र २५)

अर्थात्—

(बाजस्य) भावयज्ञ अर्थात् आत्म स्वरूप को (प्रसवः) प्रकट कर देने वाले ध्यान को (इमा) इस (विश्व) संसार के (भुवनानि) सर्वभूत जीवों को (सर्वतः) सर्व प्रकार से (आवभूव) यथार्थ रूप कथन करके (स) जो (नेमि) श्री नेमिनाथजी बाईसवें तीर्थंकर (राजा) अपने केवल ज्ञानादि आत्म चतुष्टय के स्वामी (च) और (विद्वान) सर्वज्ञ (परियाति) प्रकट करते है जिनके दयामय उपदेश से (प्रजां) जीवों को (पुष्टि) आत्म-स्वरूप की पुष्टता (तु) शीघ्र (वर्धयमानो) बढती है (अस्मै) उस नेमि नाथ जी को (स्वाहा) आहुति प्रदान हो ।

आतिथ्य रूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपासदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ।।[1]

अर्थात्—

"(आतिथ्यरूपं) अतिथि स्वरूप पूज्य (मासरं) महिना आदि के उपवास करने वाले (महावीरस्य) कामादिक प्रबल शत्रुओं के जीतने वाले वीर अर्थात् महावीर तीर्थंकर देव के (नग्नहुः) नग्न (रूपम्) स्वरूप की (उपासदाम्) उपासना करो जिससे (एतत्) ये (तिस्रो) तीनों (रात्रीः) अज्ञान अर्थात् संशय विपर्यय और अनध्यवसाय और (सुराः) मद-अर्थात् धनमद, शरीरमद, और विद्यामद (असुता) उत्पत्ति नहीं होती है ।

ये उद्धरण श्री नाथूराम जी द्वारा ढूंढारी भाषा में प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक के परिशिष्ट १ पृष्ठ ४८९–४९० पर हैं और वहीं से साभार उद्धृत किए हैं । धार्मिक विद्वेष से बाद के संकलित वेदों में इस प्रकार के बहुत से संकेत विलुप्त कर दिये है । यह कितने दुर्भाग्य पूर्ण बात रही है ।

ऋग्वेद अ. २९ अ. ४ व २०४ में अरिष्ट नेमिका आह्वान तथा यजुर्वेद अध्याय २६ में, व अध्याय ९ के २९ वें मंत्र में तथा सामवेद प्रपा. ९ अ. ३ में भी अरिष्टनेमि की स्तुति हैं ।

वेदों को ब्रह्मवाणी माना जाता हे इन वाणियों में वस्तुतः ऋषिगणों ने अपने नाना प्रकार के उद्गार भाव, स्तुतियां तथा ऐतिहासिक पुरुषों व घटना तथ्यों के संकेत दिये है । यही नहीं, इनका ऐतिहासिक मूल्य भी है, इसको वेदांत दर्शन में स्वीकार भी किया गया है—

वेदों का ऐतिहासिक मूल्य

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ।।[2]

---

1. (यजुर्वेद, अध्याय १९ मंत्र १४)
2. (वेदांत दर्शन, शांकरभाष्य १/३/२९)

अर्थात्—"युग के अन्त में लुप्त इतिहास युक्त वेदों को महर्षियों ने स्वयंभू भगवान की अनुज्ञा से तप द्वारा पूर्वकाल में प्राप्त किया ।

यहां स्वयंभू भगवान वृषभदेव का नाम है और "तप" उनके "तपोयोग"—विशिष्ट योग आत्म-साधना को प्रकट करता है ।

इस श्लोक को श्री शंकराचार्य ने महर्षि वेदव्यास कृत माना है । इससे भी स्पष्ट है कि वेदव्यास वेदों में इतिहास मानते थे ।

महर्षि दयानन्द ने वेदों को ईश्वर प्रणीत तथा सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट माना है । वैदिक काल से ईशरचित मानने की जो बात चली आ रही थी, उसे नकारना महर्षि दयानन्द को सरल नहीं हुआ ।

वेदों में इतिहास

श्री राम स्वरूप शास्त्री "रसिकेश" ने "वेदों में इतिहास" पर अपनाविमर्श अपने एक लेख (सरिता) अंक (५५) जुलाई (प्रथम)—१९७८—पृ. (३७-४४) में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"अब स्वामी दयानन्द के सामने एक समस्या खड़ी हो गई वह यह कि यदि वेद सृष्टि के आरंभ में प्रकट किए गए तब उनमें ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं होने चाहिए । परन्तु जैसा कि उपर दिखाया जा चुका है वेदों में च्यवन, विमद, तुग्र, भुज्य आदि सेकड़ों व्यक्तियों के नाम विद्यमान है । पुराने भाष्यकारो ने इस शंका का समाधान यों किया कि च्यवन, विमद आदि व्यक्ति प्रत्येक कल्प में होते है । इस प्रकार वेदों में इतिहास है तो सही, परंतु वह नित्य इतिहास है, जो प्रत्येक सृष्टि में दोहराया जाता है । इस प्रकार वेदों को ईश्वरकृत भी मान लिया गया और नित्य इतिहास से युक्त भी । पर स्वामी दयानन्द को यह युक्ति नहीं जंची, इसलिए उन्होंने तुग्र, भुज्य आदि व्यक्तिवाचक नामों के अर्थ धातुओं के आधार पर और के और कर दिए। उदाहरणार्थ उन्होंने "तुग्र" का अर्थ "शत्रु हिंसक सेनापति" कर दिया और उसके पुत्र "भुज्य" का अर्थ "राज्यपालक व सुख भोक्ता" । यह बात ऐसी ही हास्यापद है जैसे कोई कहे कि रामायण में "दशरथ" का अर्थ कोई भी "दस रथों वाला" व्यक्ति तथा राम का अर्थ कोई भी "रमने वाला मनुष्य है ।"—यहाँ यह भी कह दें कि व्यक्ति वाचक ऋषभ या वृषभ के अर्थ श्रेष्ठ या बैल तथा अरिष्टनेमिका अर्थ रथ का पहिया,—ऐसे अर्थ भी इसी प्रकार हास्यास्पद है और ऐसे अर्थ वस्तुतः मत विद्वेष से ही किये जाते हैं ।

"कठिनाई यही नहीं थी, एक और भी थी—साहित्य में अतीत की घटनाओं का प्रायः भूतकालिक क्रियाओं द्वारा प्रकट किया जाता है, यह स्वाभाविक ही है । वैदिक ऋषियों ने भी इसी

प्रकार अश्विनी आदि के अनुग्रह पूर्ण कार्यों का वर्णन प्रायः भूतकाल में किया है । इन क्रियाओं से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि पुराने इतिहास का वर्णन कर रहें है । स्वा. दयानन्द ने भूनकालिक क्रियाओं का अर्थ वर्तमान काल विधि लिंग काल आदि में कर किया है ।"

सत्य अर्थ न कर अभीष्ट अर्थ किये गये है

आगे लेखक ने मत प्रकट किया है—"पर सचाई यह है कि जहां सत्य अर्थ को छोड़ कर अभीष्ट अर्थ किये जाते है वहां पाठकों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता ? यही कारण है कि स्वा. दयानन्द तथा अन्य आर्य समाजी विद्वानों के वेद-भाष्य न एक दूसरे के अनुकूल है, न परम्परागत वेद भाष्यों के ।"

ऋग्वेद का एक यह मंत्र है ।

"युवं परास्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं द दथु विश्वकाम ।
घोषायै चित् पितृपदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विवायदत्तम् ।।[1]

यह एक घटना को वर्णित करता है—हे नेता अश्विनी कुमारों । तुम दोनों ने कृष्ण के पुत्र स्तुतिकर्ता विश्वक को उसका पुत्र विष्णायु दे दिया था । तुमने पिता ही के घर बूढ़ी होती हुई घोषा को पति प्रदान किया था ।

इस मंत्र के अर्थ स्वा. दयागन्द पं. वेद्यनाथ शास्त्री, तथा पं. जयदेव शर्मा ने जिस तरह भिन्न भिन्न रूप में दिए है उनका उल्लेख करते हुए अन्त में श्री रसिकेशने प्रकट किया है—"सचाई यह है कि अश्विनी कुमार दो देवता हैं, और अश्विनी के पुत्र है । परन्तु स्वा. दयानन्द ने (स्वा. दयानन्द—ऋग्वेद भाष्य तृतीय वृत्ति में) इनका अर्थ सभापति और सेनापति दिया है, तथा पं. वैद्यनाथ ने (वैदिक इतिहास विमर्ष पृ. २१८ में) राजा और पुरोहित कर दिया है, तथा पं. जयदेव शर्मा ने (ऋग्वेद भाष्य पंचमावृत्ति पृ. ७०७ में) विद्वान् स्त्री और पुरुष कर दिया है । घोषा काशीवान की पुत्री थी परन्तु स्वा. दयानग्द ने उसका अर्थ खेती, पं. वैद्यनाथ ने विधवा स्त्री और पं. जयदेव ने वेद-विदुषी कर दिया है ।"

"इसी प्रकार द द थु व अदत्तम—दोनों क्रियायें भूतकाल की वाचक हैं । उक्त महानुभावों ने इनके अर्थ "दो, देते हैं, प्रदान करो" रूप से क्रमशः कर दिये हैं । यह सब उलट फेर इस कारण करना पड़ा कि वेदों में इतिहास सिद्ध न हो जाये । "अन्त में विद्वान् लेखक ने कहा है—" निष्पक्ष वेदाध्ययन से यही सिद्ध होता है कि वेद प्राचीन ऋषियों द्वारा प्रणीत ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रार्थनाओं,

---

1. (ऋग्वेद १/११७/७)

उपदेशों के अतिरिक्त ऋषि-मुनियों, राजाओं आदि का इतिहास पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। जब तक हम उन्हें ऐसा न मानेगें, तब तक उनका वास्तविक अर्थ समझने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे।"

ऋ. १०/९०/९. यजु. ३१/७, अथर्व., १९/६/१३—तीनों वेदों में एक साथ कथन में आये इस मंत्र काउल्लेख कर लेखक ने प्रकट किया है कि इसके रचयिता ऋषि नारायण हैं, और देवता "पुरुष"। यह नारायण ऋषि नारायण देवता से सर्वथा भिन्न है। नारायण व देवता की एकता का भ्रम रहा होगा, इसी कारण फिर वेदों में भी ऐसे मंत्र डाल दिये गये जिनमें वेदों को नारायण ईश यानी ईश्वर द्वारा रचित कहा गया।"

विद्वान् लेखक ने अपने विवेचन द्वारा ये निष्कर्ष प्रकट किये हैं—

(१) स्वा. दयानन्द तथा उनके अनुगत विद्वानों का वेदाध्ययन निष्पक्ष नहीं है, उनके द्वारा काल वाचक क्रियाओं के अर्थ नहीं, अनर्थ किये गये हैं। और ये अनधिकार पूर्ण हैं।

(२) वेदों में इतिहास है। सैकड़ों मंत्रों से सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषि प्राचीन घटनाओं को ऐतिहासिक सत्य ही मानते थे। इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिए कि सायण आदि प्राचीन वेद-भाष्यकार भी वेदों में इतिहास होना स्वीकार करते हैं।

(३) वेद ईश (ईश्वर) द्वारा विरचित नहीं है, इनको ईश्वर द्वारा रचित कहना मात्र भेडियाधसान है।

यही नहीं हम तो यह मानते है कि प्राचीन इतिहास को विलुप्त करते की चेष्टा देश, जाति उसके व्यक्तित्व संस्कृति गौरव और सम्मान के साथ द्रोह है। ऐतिहासिक व्यक्तियों की गौरवपूर्ण गाथाओं को विलुप्त कर कर देने के प्रयास, उपदेश परक अर्थ देकर भी कभी प्रशंसनीय नहीं हो सकते। इससे तो देश की ओजस्विना गौरवपूर्ण इतिहास, संस्कृति तथा सम्मान ही नष्ट हुये हैं। यह तो देश के चारित्र-हननकरने का अपराध है। ऋषभादि प्राचीन तीर्थंकरों, प्राग्-ऐतिहासिक सत्य-पुरुषों के वेदों में उल्लेखों के अर्थ भी इसी प्रकार अनर्थ करके प्रस्तुत किये गये हैं।

अखिल धर्म संप्रदायों का एक आदि धर्म प्रवर्तक

इस विश्व में जितने भी धार्मिक संप्रदाय हैं उनके मूल में एक आदि धर्म प्रवर्तक एक ही है—ऐसा हमारा निष्कर्ष है और वह आधार हीन नहीं है। ऐसा ही एक निष्कर्ष "मनीषी की लोक-यात्रा" में पृ. १४४ पर अध्याय १८ में वृद्ध महाशय की प्ररूपणाओं का सारांश देते हुए महा महोयाधाय कवि-रत्न पं. गोपीनाथ द्वारा भी दिया गया है—

"संसार में जितने धार्मिक संप्रदाय है, सब के मूल में प्रवर्तक एक ही है, दिशा,

काल तथा अधिकारी भेद से विभिन्न मार्ग प्रवृत्त हुए हैं।"

"गोवत्स" ऋषभ प्रभु की प्राण विद्या जो सुरों को प्रथम प्राप्त हुई

अति प्राचीन काल में यह मनुष्य जाति एक ही थी। मनु की संतान होने से मानव नाम हुआ और ये ही आर्य कहलाये थे। इनमें ही सुर तथा असुर थे और असुर सुरों के ज्येष्ठ भ्राता थे। सुरों ने समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत का पान किया, असुर वंचित रहे। इसका अर्थ यह ही है कि सुरों को अध्यात्म विद्या असुरों से पहले प्राप्त हुई थी, तथा कथा यह भी है कि असुरों ने सुरों पर विजय पाकर, सुरों का पीछा किया तब देवों ने गो-वत्स वृषभ के नाद (अर्थात् वृषभदेव का अनक्षर, अस्वर, दिव्य ध्वनिमय प्रवचन) सुना और असुर उसमें गति नहीं कर सके। इस कथा से पता चलता है कि भ० वृषभदेव ने अमृत मयी प्राणविद्या को अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्रवर्तित किया था और यह विद्या आर्यों में देव (सुर) पुरुषों को प्रथम प्राप्त हुई थी। गोवत्स वृषभ की और भी कथाएं है। असुर भी भ० वृषभेश्वर द्वारा दीक्षित हुए—यह इन्द्र और वैरोचन के आख्यान से पता चलता है।

पूर्व देवाः तथा पूर्व ऋषि : वैदिक आर्यों से भी पूर्व थे

देव आर्य वैदिक आर्यों से भी पूर्व भारत में थे। इनमें से ही प्राचीन सुर (देव) आर्यों को ही वेदों में अतः "पूर्व देवाः" कहा गया है। परंतु कालान्तर में याज्ञिक वैदिक आर्यो का जब प्रभाव तथा सत्ता बढी तो इन्हें देव कहना भी छोड दिया गया क्योंकि ये आर्हत्-धर्म में थे। सुर (देव) आर्य भी वशिष्ठ आदि याज्ञिक ऋषियों के प्रभाव में होने लग गये थे। पूर्व देवों के उपासकों को ऋग्वेद में "पूर्व ऋषिः" कहा गया-"अग्निः पूर्वेभि : ऋषि भिरीजयो नूतने सत"-ऋग्वेद (१,१,२)।

असुर (अहुर) आर्हत् और वार्हत्

असुर शब्द ईरानी "अहुर" यानी पारसियों का अहुर था और इसी से अहुरमाज्दा शब्द बना प्रतीत होता है। आर्हत्-आर्य अर्हत् तीर्थंकर द्वारा प्रचलित धर्म को मानते थे, तथा वार्हत् आर्य यज्ञ-प्रधानी. कर्म-कांडी वेद धर्म के उपासक थे। आत्म-प्रधानी अहिंसक और तपोमय धर्म सहज मानव धर्म के रूप में सनातन धर्म ही चला आ रहा था। इसी परम्परा में सोलह कुलकर मनु हुए और ऋषभदेव के पिता महाराजा नाभि व माता श्री मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव को राज्य संभला कर हिमालय के बदरिका प्रदेश में दिगम्बरी प्रव्रज्या लेकर तप करने चले गये थे।

अनादि धर्म प्रवाह

ऋषभदेव ने भी जब दिगम्बरी दीक्षा लेकर तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया, तो उन्होंने इसी अनादि सद् आत्म धर्म का प्रवचन दिया। इस प्रकार वे वर्त्तमान युग में योग-शासन के प्रथम प्रवक्ता प्रथम तीर्थंकर हुए। उनसे पूर्व अतीत युग में भी २४ तीर्थंकर हुए, भविष्यत् युग में भी २४ तीर्थंकर होंगे-इस प्रकार अनादि काल के भूत वर्त्तमान व भविष्यत युग में तीर्थंकरों का धर्म शासन प्रवाह

अबाध ही रहता है, सनातन ही रहता है। इस धर्म का कभी लोप नहीं होता-क्योंकि आत्मा द्रव्य अव्यय वशाश्वत् है और उसके धर्म का कथन करने वाला धर्म भी शाश्वत् ही है। उनके समवशरण में सब ही मनुष्य जाति,—आर्य, अनार्य, देव, व असुर आदि ने धर्म प्रवचन श्रवण किया।

ऋषभदेव और द्राविड़

अनेक मानव जातियाँ,—ऋक्ष, रक्ष, यक्ष, राक्षस किन्नर नाग आदि इस धर्म में दीक्षित हुई, और इसी में द्रविड़ जाति भी थी। तथा इन द्राविड़ों में हीं विद्याधर भी थे, जो नाना विद्याओं तथा कला कौशल और सभ्यता में बहुत अग्रसर रहे। द्रविड़ ऋषभदेव के अनेक पुत्रों में एक पुत्र भी कहा जाता है और द्राविड़ उसकी ही संतति भी बताई जाती है।

ऋषभ के पुत्र भरत, राज्य भारत, राजधानी हस्तिनापुर

ऋषभदेव ने राज्य भरत को दिया जो ज्येष्ठ पुत्र थे, और वे विश्व-विजेता हुए। उनके नाम से ही यह देश भारत वर्ष कहलाया। वे इस भारतवर्ष के प्रथम आदि-सम्राट व प्रथम चक्रवर्ती महाराजा हुए। ऋषभदेव के राज्य काल में राजधानी अयोध्या थी। भरत ने गजपुर अर्थात् हस्तिनापुर को राजधानी बनाया।

लिपि और ज्ञान विज्ञान के पुरस्कर्ता महाराजा ऋषभ

ऋषभ महाराजा ने ही सर्वप्रथम देव लिपि व ब्राह्मी लिपि इस विश्व को दी। पशु पालन कृषि पालन आदि रूप में कृषि मसि असि आदि लोगों को उन्होंने सिखाया। उन्होंने ही अक्षर मय उद्गीथ विद्या, और फिर निरक्षर (ध्यान-समाधि) की विद्याएं सिखाई।

इनसे ही परम पद परमेष्ठी की मूल उद्भावना

इनसे ही "परमेष्ठी पद की मूल उद्भावना प्रकट हुई। सायण ने परमेष्ठिन् का लक्षण 'परमे-निरतिशय स्थाने वर्तमानः" दिया है। अथर्ववेद में इस परमेष्ठी पद को प्रजापति, ब्रह्मा चतुर्मुख ब्रह्मा आदि शब्दों से पहचाना गया (अथर्व. ९/३/११ तथा १०/२/२०,२१) वे सब संज्ञाएं भ० ऋषभदेव की ही हैं। तथा अब तो परमेष्ठी संज्ञा जैनों में पंचपरमेष्ठियों के लिए भी है। वेद में ऋषभ देव ही अज, विरंचि, चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में स्तुत हुए हैं।

ऋषभ पुत्र भरत, भारत और भारत देश

"भारतीय संस्कृति का इतिहास" पुस्तक में अध्याय २ पृष्ठ ३१ अनुच्छेद "भारतवर्ष" में श्री चतुरसेन शास्त्री ने इस प्रकार प्रकट किया हैं—"भारतवर्ष—इस भूखंड का प्राचीन नाम भारतवर्ष है। यह नाम स्वायंभुवमनु के वंशज ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर पडा था! विष्णु पुराण और

वायु पुराण के कथनानुसार समुद्र के उत्तर और हिमालय का दक्षिण देश भारतवर्ष कहलाता है-क्योंकि वहां भारतीय प्रजा रहती थी जो भरत के ही अंश में थी।" इस प्राचीन महापुरुष "भरत" से ही भारतीय प्रजा व उनके वंशज भरतजन कहलाये और समग्र भारत भरत-जनों का। श्री ऋषभदेव पुत्र भरत महाराज के नाम पर ही इस देश का "भारतबर्ष" नाम करण हुआ है-यह निर्विवाद है। यह नामकरण व्यक्ति-निष्ठ नामकरण ही है-और इस देश में, नगरों, प्रदेशों आदि के व्यक्ति निष्ठ नाम करण करने की परंपरा चली आई लक्षित ही है।

इसी पुस्तक में पृ० १०१ में यह वर्णन दिया है—

भरत वंश वेद पूर्व अतः भारतों का ही उल्लेख

"ऋग्वेद में भरतों का कहीं नामोल्लेख नहीं है,—क्योंकि भरतवंश वेद पूर्व का वंश है। इस वंश के उत्तर में वेदोदय हुआ।" इसी में आगे कहा गया है— "मनु-भरतों के प्रसिद्ध सर्व विजयी नेताओं ने भारत से बाहर अपने प्रबल राज्य स्थापित कर लिए थे। भरतों का भारतीय राजवंश दक्ष प्रजापति के बाद समाप्त हो गया। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि दक्ष प्रजापति का यज्ञ-काल में उसके जामाता रुद्र ने वध किया था। यह घटना किसी हद तक सही हो सकती है। परन्तु रुद्र दक्ष का जामाता नहीं, प्रदोहित्र प्रतीत होता है। वह दक्ष पुत्री वसु और सूर्य पुत्र यम के पुत्र 'धर' का पुत्र है। जो भी हो। दक्ष भरत वंश का अन्तिम प्रजापति था, परन्तु उसके बाद भी भरत-वंशियों के राज्य भारत की पश्चिमी सीमाओं पर कायम रहे। ऋग्वेद में भरतवंशी किसी प्रजापति का नामोल्लेख तो नहीं है, परन्तु "भारतों" का उल्लेख बहुत है। ये भारत वही मनुभरत थे और इनसे आर्यों के बड़े-बड़े निर्णायक युद्ध हुए थे।" यहां "आर्यों" से अभिप्राय वैदिक यज्ञ-प्रधानी आर्यों से है।

तृत्सु सुदास भरतों के कुल में

श्री शास्त्री ने आगे बताया है—"ऋग्वेद में "भरताः" नाम वार बार आया है। यह नाम विशेषतः तीसरे या चौथे मंडलों में तृत्सु सुदास के नाम के साथ आया है। सातवें मंडल में जो वशिष्ठ-सूक्त है उस से प्रकट होता है कि वशिष्ठ कुछ दिन तक भरतों के कुल गुरु रहे थे। तथा तृत्सु भी भरतों ही के कुल में थे। इसी प्रकार विश्वामित्र के सूक्तों में भी भरतों का बहुत उल्लेख है। ये सूक्त ऋग्वेद के तीसरे मंडल में है। भरतों के राजा सुदास से वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ही का सम्बन्ध था। एक सूक्त में विश्वामित्र "भारत जन" का प्रयोग करते हैं। छठे मंडल में भारद्वाज के सूक्त हैं, वे भी उनमें भारतों का व भरतों का उल्लेख करते हैं।" पृ० ३६७, १०१-१०२।

महाभारत के कौरव पांडव-भारत प्राचीन भारतों से भिन्न हैं

"ब्राह्मण ग्रन्थों में भारत का अर्थ क्षत्रिय योद्धा या पुरोहित के अर्थ में किया गया है। निरुक्तकार "भारत" शब्द का अर्थ सूर्य वंश से सम्बन्धित कहता है। परन्तु महाभारत में कौरव और

पांडव दोनों ही को भारत कहा गया है। यह बात महाभारत ही में स्पष्ट कर दी गई है कि प्राचीन भारत प्रसिद्ध हैं–वे अपरे अर्थात् और हैं–महा० १३१/आ. अ. ७४।"

आर्यावर्त की स्थापना का वर्णन करते हुए आगे लिखा है कि भारत में आकर मनु ने सरयू तट पर अयोध्या बसाई और अपने पिता सूर्य के नाम पर सूर्यवंश की गद्दी स्थापित की। बुध ने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान पुरी बसा कर अपने पिता के नाम पर चन्द्रवंश की राजधानी बनाई–पृ० १५५

चक्रवर्ती भरत ने चन्द्रवंशी पुरूरवा को परास्त किया

इसी चन्द्र वंश में पुरूरवा को भरत चक्रवर्ती ने विश्व-विजय के समय परास्त किया था तथा इसी के साथ सूर्य व चन्द्र वंशियों में विग्रह का बीज पड़ा। तथा इस चन्द्र वंश के पुरू से सूर्यवंशी सुदास के साथ "दास राज्य युद्ध" हुआ। देव और असुर संग्राम के नाम से बारह युद्ध-संग्राम तीन सौ बरसों तक बराबर चलते रहने के उल्लेख हैं। इन्हीं घटनाओं से आग्नेय, द्राविड़ और याज्ञिक आर्य सम्बन्धित थे। कहा गया है कि ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरू को चन्द्र वंश की प्रधान गद्दी का अधिकारी बना शेष चार पुत्रों को सीमांत राज्य देकर उन्हें आर्य-जाति से बहिष्कृत कर दिया था तथा आर्यावर्त क्षेत्र में उनका विस्तार नहीं हो सकता था। इसी कारण उन्होंने अन्य अनार्य राजाओं को मिलाकर पंजाब के प्राचीन भारतों के राज्य को विध्वंस कर, अपने राज्यों के विस्तार की चेष्टा की थी-जो सम्पन्न नहीं हुई।

इन्द्र अर्हन्न् अग्नि

ऋग्वेद में ३/५३/१२ में सुदास को "भारत"-अर्थात् भरतवंशी कहा है। ऋग्वेद में ७१/८/२३ में इन्द्र को अर्हन्न्–अग्नि कहा है—"अर्हन्नग्ने पैंजवनस्य दानम्" और सुदास को पिजवन (दिवोदास) का पुत्र बताया है। अर्हत् जैन तीर्थंकर के लिए प्रसिद्ध है। प्रकट होता है कि तब इन्द्र अर्हंतों, आत्म-अग्नि उपासकों का भक्त था और भारतों, सूर्य वंशियों का सखा था। ये भी उल्लेखनीय है कि भ० वृषभेश्वर (ऋषभनाथ) से लेकर प्रायः सब ही तीर्थंकर (सूर्यवंशी) है।

नहुष का भारतों द्वारा पराभव

पुरूरवा कौरववंश के प्रणेता सोम (चन्द्र) का पौत्र था और असीरिया (असुर-प्रदेश) का था। परन्तु अपनी माता इला से प्रतिष्ठान पुर (प्रयाग) के राज्य को प्राप्त किया था तथा उसने इन्द्र को प्रसन्न करके उस देश की उर्वशी को भी पाया था, पर वह चक्रवर्ती सूर्यवंशी भरत सम्राट से परास्त होकर असीरिया चला गया था और उसकी संतान ने भरतों को कर देना स्वीकार कर लिया था। महाभारत कार ने उसका पराभव ब्राह्मण द्वारा काल्पनिक रूप में इसलिए दिखला दिया कि वह

इन प्राचीन भारतों की विजय यशो गाथा को प्रकट नहीं करना चाहता था। इसी प्रकार महाभारतकार ने नहुष की उदण्डता का तो उल्लेख किया मगर अन्तिम परिणाम क्या और किसके द्वारा हुआ वर्णित ही नहीं किया। परन्तु ऋग्वेद से पता चलता है कि सूर्यवंशी भारतों ने नहुष को वश में करके कर दाता कर लिया था—"सन्निरुध्या नहुषो यह्वो अग्नि विश्चक्रे बलि हृतः सहीभिः" (ऋग्वेद ७/६/५)।

असुर और देवों के संघर्ष की लहर

"जैन धर्म—प्रागैतिहासिक परम्परा" पुस्तक में पृ० २५/२६ में प्रकट किया गया है "असुर और देव संघर्ष की लहर ईरान से भारत तक फैली पाई जाती है। जिस प्रकार भारत में असुरों के दमन वेद और पुराणों में भरे पड़े हैं, उसी वेद-यज्ञ के दमन की सूचना अरब मोनियन सम्राट असर्सस के ई० पू० पांचवी शती के शिलालेख से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि भारत में सुर–असुर संग्राम के समय असुरों द्वारा पशु–यज्ञ विरोधी मुनि या जैन-धर्म स्वीकार किये जाने का सूचक पौराणिक वृत्तान्त अपनी ऐतिहासिकता रखता है। विष्णु पुराण (३-१८-१२) के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे अन्य २ पुराण मत्स्य पुराण (२४/४८-४६), पद्म पुराण सृष्टि खंड (१३/१७०-४१३) व देवी भाग० ४-१३-५४-५६) से भी इसकी पुष्टि होती है। असुर राजा प्रायः जैन संस्कृति व धर्म से सम्बन्धित हो गये थे और याज्ञिक सुर लोगों से उनका बाद में संघर्ष बराबर होता रहता था। याज्ञिक सुर (देवों) ने पूर्व सुर आर्यो को पराभव कर दिया था तब आर्हत धर्म असुर राजाओं में तो फलता ही रहा। विद्वेष के कारण ही असुर को हिंसक का पर्यायवाची बना दिया गया, वरना वे अहिंसा में विश्वास रखते थे।

राम का रावण के विरुद्ध अभियान भी यज्ञ रक्षा का ही मूलतः प्रयोजन रखे हुए था। रावण महा विद्वान था और उसने प्राचीन आष्टिक जातियों आग्नेय सूर्य-वंशियों और यज्ञ-प्रधानी वैदिकों की संस्कृतियों को मिलाकर एक समन्वित संस्कृति के अर्थ वेदों का नया संस्करण बनाया था। उसकी माता सुमाली राक्षस की पुत्री थी और उसका पिता वेदज्ञ आर्य था और मातृ सत्तात्मक रुप से उसने नाना की सहायता करके स्वयं को लंकाधिपति बनाया था।

वेदों में बेद पूर्व महापुरुषों के संकेत प्रमाणिक हैं

वस्तुतः वेदों में वेद पूर्व महापुरुषों के संकेत बड़े प्रमाणीक हैं-यद्यपि वेदों के कई-२ बार संस्करण हुए और साम्प्रदायिक पक्षपात से उन संकेतों को वेदों से निकाल देने के भी प्रयास हुए हैं। यही कारण है कि पं० टोडरमल जी ने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" में जिन ऋग्वेद आदि के उदाहरणों को दिया है, वे आज के संस्करणों में से निकाले हुए हैं, और वे वहाँ नहीं मिलते। मगर फिर भी जो भी संकेत अवशिष्ट हैं, मूल्यवान हैं। जैनो को अपनी प्राचीनतम योग संस्कृति से वंचित रखने के ही अर्थ वेदों के पठन से जैनों को निषिद्ध भी रखा गया है।

वेदों में कर्म कांडी आर्यों के ही छन्द नहीं, अति प्राचीन पूर्व आर्यों के भी छन्द भी आये हैं

यह प्रकट ही है कि याज्ञिक छन्दों के अतिरिक्त अति प्राचीन पूर्व आर्यों से सम्बन्धित छदों का भी संकलन ऋग्वेद में आया है। जो प्राचीन सूर्यवंशी पूर्व आर्य भारतों से-न कि वैदिक याज्ञिक कर्मकांडी आर्यो से संबधित है। आर्यों के ही छन्द "जेन्द" रूप में पारसियों में "जेन्दा वस्ता" प्रसिद्ध हुए। ये जेन्द अंगिरा ऋषि से प्रभावित हुए माने गये हैं। ये अंगिरा ऋषि प्रजापति (भ० ऋषभदेव) के मानस पुत्र कहे जाते हैं। अर्थात् ये प्रजापति ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) की ही परम्परा में हुए हैं। ऋषि अंगिरस ही तीर्थंकर नेमिनाथ थे ये भी संकेत होना माना गया है जिनसे कि श्री कृष्ण ने उपदेश पाया। अंगिरा अग्नि शब्द का पर्यायवाची है। इस प्रकार अंगिरा-ऋषि की परम्परा प्राचीन भारतों के ही धर्म से जुड़ी है। ये निर्विवाद है कि "जेन्द" से यहूदी धर्म प्रभावित हुआ और यहुदी धर्म ने इस्लाम और ईसाई धर्म को प्रभावित किया। इस प्रकार परम्परा से आर्हत् धर्म ने विश्व के सारे ही महान् धर्मो को प्रभावित किया है।

सूर्य बंशी इन्द्र "इन्क" एक उपाधि; विष्णु पूजन सूर्य पूजन ही थी

"अनाम की खुदाई में जो लेख मिले हैं, उनसे प्रकट होता है कि इनके राजाओं की उपाधि सूर्यवंशी इन्द्र थी-जो "इन्क" के नाम से प्रसिद्ध थी। यहाँ मिश्र से मिलती जुलती सूर्यपूजा भी प्रचलित थी। वैष्णव धर्म में प्रथम विष्णु ही की पूजा प्रवलित हुई जो सूर्य-पूजन ही थी। कुछ लोगों का कहना था कि वैदिक विष्णु ही द्राविड़ों के एक आराध्य देवता हैं"-आ. चतुरसेन भारतीय संस्कृति का इतिहास पृ. 152। इससे सहज निष्कर्ष होता है कि वैदिक विष्णु सूर्य ही था, अन्य नहीं।

इससे भी प्रकट होता है कि सूर्य-बंशियों में केवल ज्ञान सूर्य भ. ऋषदेव की पूजा सूर्य रूप में की जाती थी। वे ही आदित्य वर्ण भी कहे जाते थे और आदित्य भी तथा उनही का नाम वैवस्वत भी था। इन्हें ही भागवतादि शास्त्रों में विष्णु का विशेष अंश व नर नारायण हरि आदि रूप से स्वीकार किया गया।

अब भी तीर्थंकर अर्हंतपरमेश्वर का ध्यान सूर्य सम प्रभा भास्वर ज्ञान मंडल मध्यस्थ स्थापित करके किया जाता है। गायत्री मंत्र भी इन्हीं से संबन्धित है तथा भक्तामर में जहा इन्हें आदित्य-वर्ण कहा गया वहाँ यजुर्वेद में आदित्य तथा वेद व पुराणों में महाद्युतिमान भी।

सूर्य और अग्नि समानार्थक और भरत का अग्नि रूप में तथा देवों का अग्नि धारण के वर्णन

"स्वामी कर्मानन्द ने अपनी पुस्तक" भारत का आदि सम्राट" में लिखा है --

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है --"भरतः एषः सूर्यः-अर्थात् भरत ही सूर्य है, तथा च "अग्नि वैं भरतः" (शत पथ १/४/२/२) अर्थात् अम्नि ही भरत है। अम्नि और सूर्य एकार्थं वाचक भी

हैं। ऋग्वेद मंडल सूक्त ९६ में इसका सुन्दर वर्णन है-"ऊर्ज पुत्रं भरतं सुप्रदानुं देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्" (३) इस मंत्र का अर्थ करते हुए श्री सायणाचार्य लिखते हैं कि "प्राण रूपेण सर्वासां प्रजानां भर्तारम्। अर्थात् प्राण रूप होकर सम्पूर्ण प्रजा का पालन करने वाले भरत—यह हुआ ऊर्ज पुत्र का अर्थ। आगे लिखते हैं कि सुप्रदानुं "अविच्छेदेनधनानि प्रयच्छन्तम्"—अर्थात् बिना बाधा के निरन्तर दान देने वाला। ऐसे दानी भरत को देवों ने धारण किया। इस मंत्र में अग्नि शब्द भरत का विशेषण है—इसलिए "देवा अग्निं धारयन्"—अर्थात् देवों ने अग्नि को धारण किया यह अर्थ है। सायणाचार्य जी का अर्थ यद्यपि सुन्दर है, फिर भी हम उससे सहमत नहीं—क्योंकि ऊर्ज शब्द है, जिसके अन्न, बल आदि अनेक अर्थ है।……ऊर्ज शब्द का अर्थ बल उत्साह होता है —वही अर्थ अभिप्रेत है। इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में इसको स्पष्ट कर दिया है —"स: प्रत्नथा सहसा जायमान: काव्यानि बलधत्त विश्वानि आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।" अर्थात् सहसा बल से उत्पन्न अग्नि (भरत) ने उत्पन्न होते ही अर्थात् जन्मते ही पुराने सम्पूर्ण काव्यों को सद्य: शीघ्र ही धारण कर लिया—अर्थात् वह जन्मते ही ज्ञानी हो गया तथा शील स्वभाव रूप वाणी उसका मित्र रूप से कार्य सिद्ध करने लगी। ऐसे दानी अग्नि को देवों ने धारण किया। आगे लिखा है—

"स पूर्वं या निविदा कव्यतायोरिमा: प्रजा अजनयन्मनूनाम् विवस्वता चक्षसा द्याम पश्चादेवा धारयन्द्रविणोदाम्"—अर्थात् उस अग्नि से पूर्व कवियों की कविता अर्थात् उपदेशानुसार मनुष्यों की प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् शिक्षित करके उस सांचे में ढ़ाल दिया। इसके पश्चात् अपने तेज से द्युलोक और अन्तरीक्ष लोक का स्वामी हो गया। अप: का अर्थ समुद्र है और द्याम का अर्थ पार्वतीय देश है। यह अग्नि कौन है? यह मंत्र जिन पर लिखा है—जिसको हम लिख चुके हैं। यह सम्राट् भरत है। इस मंत्र में कई शब्द बड़े महत्व के हैं। एक तो मनुनां प्रजा-यहां मनु शब्द के बहुवचन होने से सिद्ध हो गया कि भरत सब मनुओं के बाद हुआ, तथा यह भी सिद्ध हो गया कि मनु और भरत एक नहीं, पृथक पृथक हैं। दूसरा शब्द "पूर्व या निविदा" अर्थात् पूर्व उपदेश इन भरत महाराज को पिता जी से मिला था जिसका नांम यहाँ "सहसा" अर्थात् बल है। वेदों में ऊर्ज शब्द भी है—जिसके पुत्र भरत बतलाये गये हैं। यह सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं, जिसको हम ऋषभदेव के नाम से जानते हैं। ताण्डव ब्राह्मण में जो कि सामवेद का ब्राह्मण है, स्पष्ट लिखा है—"वीर्यं वा ऋषभ:।"

"अर्थात् वीर्य बल ऋषभ है। अत: सिद्ध हो गया कि ऊर्ज, सहस, ऋषभ आदि शब्द एकार्थक हैं। अत: इस पुण्य भूमि के प्रथम चक्रवर्ती का नाम भरत तथा सूर्य है। इसी से भारतवर्ष नाम इस देश का हुआ। पहले इस देश का नाम अंजनाभ था। यह भागवत में लिखा है। अब से यह भारत कहलाने लगा और इन्हीं के नाम से सूर्यवंश चला। इस चक्रवर्ती ने समुद्रों पर तथा पहाडी देशों पर भी अपनी वैजयंती फहराई थी, यह वेद भगवान ने सिद्ध कर दिया। भगवान् ऋषभदेव का वर्णन हम

---

1. (ताण्डव ब्रा. ८/९/१४)

अपने दूसरे ग्रन्थ में करेंगे—उनकी स्तुति में वेदों का बहुत बड़ा भाग रचा गया है। इसी प्रकार भरत महाराज और भारतों के लिए भी बहुत कुछ स्पष्ट किया है। हम लोग वैदिक शैली को भूल गये हैं—इसलिए यह सब विवाद है—परन्तु अब तो प्रकाश का समय है। इसलिए अवश्य ही प्रकाश होगा।"

भरत से भारत

जिस प्रकार निरुक्त में (भरतः आदित्यस्तस्य भा भारती) भारती को सूर्य की शोभा कहा है। उसी प्रकार ऋग्वेद में ३/६२/३ में भी भारती को सूर्य की पत्नी लिखा है—इससे भी भारत भूमि ही अभिप्रेत है।

भरत के पुत्र

स्वा. कर्मानन्द ने लिखा है—

"आमन्थिष्टां भारत रेवदग्निय: देवाश्रवा देववातः सुदक्षम्।"[1]

अर्थात् भरत के तीन पुत्रों ने अग्नि को मंथन द्वारा उत्पन्न किया। इन पुत्रों का नाम था (१) देवश्रवा (२) देववात और (३) सुदक्ष। जैन साहित्य में भरत के सबसे बड़े पुत्र का नाम अर्ककीर्ति अथवा आदित्ययशः है। देवश्रवा अर्ककीर्ति आदित्ययशः आदि नाम समानार्थक हैं। इसलिए जैन साहित्य और वेद का कथन परस्पर मिल जाता है। इस वैदिक प्रमाण से भी मनु तथा दौष्यन्ति भरत की मान्यता का स्पष्ट खण्डन को जाता है, क्योंकि दौष्यन्ति भरत के तो कोई संतान ही नहीं थी। अन्त में उसने एक पुत्र गोद लिया था। इस प्रकार किसी भी मनु के तीन पुत्रों का कथन भारतीय साहित्य में नहीं है। इसलिए भी ऋषभदेव जी के पुत्र भरत के कारण ही इस देश का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ था—यह वेद से भी सिद्ध है।

पूर्व भरत दौष्यन्ति भरत से अति प्राचीन

अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुता।
भरतस्यान्वाये हि देवकल्पा महोजसाः॥[2]

अर्थात् इनसे पृथक (यानी दौष्यन्ति भरत के चन्द्र वंशियों से पृथक) पहले के भारत हमने सुने हैं—वे सब देवों के समान तेजस्वी है। इससे स्पष्ट हो गया कि जिन भारतों का वर्णन महाभारत में सौति ने किया है, उससे बहुत पहले इस भारतवर्ष में भरतवंश था, और वह देवों के समान बड़ा

---

[1] (ऋ० ३/२३/२)

[2] (आदिपर्व अ० ७४/१३५)

तेजस्वी और महापराक्रमी था। ये प्राचीन भारत इस अंतिम (दौष्यन्ति) भरत के पहले हुए भरत के वंशज थे,—भारत नाम से विख्यात हो चुके थे—यह पूर्व भरत स्वयं सूर्य थे तथा ऋषभदेव के पुत्र थे।

निविद शास्त्र जो आज उपलब्ध नहीं

महाराज भरत के एक अन्य नाम अनंग होने का भी स्वा. कर्मानन्द ने जिक्र किया है। महाभारत शांति पर्व में युधिष्ठिर के राजन् शब्द की व्युत्पत्ति के पूछने पर भीष्म ने उत्तर में कहा—प्रथम कृतयुग में राजा थे ही नहीं। उस समय सब लोग स्वतन्त्र थे। परन्तु आगे चल कर काम क्रोध लोभ आदि के कारण ज्ञान का लोप हो गया और धर्म का नाश होने लगा। उस समय ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्याय का एक ग्रंथ बनाया। उसमें धर्म, अर्थ, काम का वर्णन किया। तथा उसमें राजनीति भी विस्तार से बताई। यह ग्रन्थ ब्रह्मा ने शंकर को सिखाया। तथा आगे लिखा है कि शंकर ने इन्द्र को, इन्द्र ने वृहस्पति को सिखलाया। तथा आगे लिखा है कि ब्रह्मा ने यह ग्रन्थ पृथ्वी के प्रथम राजा अनंग को दिया और उससे कहा कि इस शास्त्र के अनुसार राजकार्य करो। जब उसके पौत्र वेन ने इन नियमों का उल्लंघन किया, और यह अपनी प्रजा को कष्ट देने लगा, तब ऋषियों ने उसे मार डाला तथा उसकी जंघा से पृथु नाम का राजा उत्पन्न किया। उसे ब्राह्मणों और देवताओं ने कहा कि राग और द्वेष त्याग कर सब लोगों के साथ समानता का व्यवहार कर। —"ऐसे यहां भरत का नाम अनंग भी मिलता है। स्वामी कर्मानन्द ने आगे यह भी प्रकट किया है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति थे। तथा एक लाख अध्याय का ग्रन्थ या तो काल प्रभाव से नष्ट हो गया अथवा जानकर नष्ट कर दिया गया। यदि आज यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो भारतीय कीर्ति का सूर्य आज मेघाच्छन्न न होता। वेदों में उस मूल ग्रन्थ के मन्त्रों का नाम "निविद" लिखा है—(देखो ऋग्वेद १/८९/१२) तथा (ऋग्वेद १/९६/१२)। राज्य प्रथा प्रचलित होने का यह वर्णन जैन पुराणों के अनुकूल ही है।

प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी

"ऋग्वेद में सूर्य या चन्द्र वंश के नाम नहीं है क्योंकि ये नाम बाद में प्रसिद्ध हुए। जब सूर्यवंशी भारतों का सूर्य अस्त हुआ तो चन्द्र वंशियों ने भारतवर्ष का राज्य भोगा और उनमें ही कौरव वंशी हुए। ये चन्द्र वंशी आर्य हिंसामय यज्ञ प्रधानी थे और सूर्य वंशी प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी थे। ये भी कहा जाता है कि इनके संग्राम राज्य सत्ता तथा संस्कृतियों के ही संग्राम थे।"

अन्तिम मनु सम्राट् भरत

जैन आदि-पुराण में सोलह मनु बताये गये है—इसमें अन्तिम मनु सूर्यवंशी भरत सम्राट को कहा गया है—

नाभिश्च तन्नापि निकत्तंनेन प्रजासंमाश्वासन हेतुरासीत् ।
सोऽजीजनत् तं वृषभं महात्मा सोऽप्यग्र सुनुं मनुमादिराजम् ।।[1]

अर्थात्—नाभि राय के प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ नाथ उत्पन्न हुए, तथा ऋषभनाथ के आदि-सम्राट सोलहवें मनु महाराज भरत उत्पन्न हुए । तथा च इसी पुराण के पर्व ३९ के प्रारम्भ में ही भरत महाराज को सोलहवां मनु तथा प्रथम सम्राट कहा गया है । अभिप्राय यह है कि इन्हीं भरत महाराज का नाम मनु भी था । परन्तु यह नाम नहीं था । अपितु यह उनकी उपाधि थी । वास्तव में आपके दो नाम थे,—एक भरत दूसरा सूर्य । भरत नाम से भारत वंश तथा भारत देश प्रचलित हुआ और सूर्य नाम से सूर्यवंश चला ।

भरत नाम की सार्थकता

अब इससे इस अनुश्रुति की भी संगति लग गई । उस अन्तिम मनु भरत के द्वारा भरण पोषण प्राप्त होने से यह वर्ष (देश) भारत कहलाया यह निरुक्त अर्थ यही है ।

भरणात् प्रजन्नाच्चैव मनुः भरत उच्यते ।
निरुक्तवचनश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् ।।[2]

तथा च, वायु पुराण में भी इसका समर्थन है । कहा है कि प्रजाओं के भरण करने के कारण ही वह मनु-भरत ही कहलाया—

"भरणाच्च प्रजानां वै मनु र्भरत उच्यते ।"[3]

वायु पुराण में जहां उनका नाम मनु भरत बताया, वहां यह भी बताया है कि यह भरत श्री ऋषभदेव के पुत्र थे और उन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है । वायु पुराण में यह उल्लेख पर्व अ. ३३ पृष्ठ ५१ पर है—जो इस प्रकार है—

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्र शताग्रजः ।
तस्माद् भारतं वर्षं, तस्यनाम्ना विदुः बुधाः ।।

ऋषभदेव और हिरण्यगर्भ एक हो है, यह हम देवी भागवत के उद्धरण आदि से पूर्व में ही बता चुके हैं ।

---

[1] (जैन आ० पु० पर्व० ३/२३६)

[2] (मत्स्य पुराण १४/५)

[3] प्रथम खण्ड अ. ४५/७६

ऋषभदेव और भरत से ही इक्ष्वाकु तथा सूर्यवंश

वैवस्वतो मनुर्नामा माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीत् मही भृतामाद्यः प्रणव३छन्दसामिव ।।

रघुबंश में कालीदास कहते हैं कि वैवस्वत मनु इस भारत में आदि—राजा हुए ।

अकनाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम् ।
इक्षवाकु इत्यभूद् देवो जगतामपि सम्मतः ।

आपने सर्व प्रथम मनुष्यों को इक्षु—गन्ने का रस निकालने की विधि बताई—अतः जनता ने आपका (ऋषभदेव का) नाम इक्ष्वाकु रख दिया । अतः यह सिद्ध होता है कि ऋषभदेव के जहां प्रजापति, हिरण्यगर्भ, मनु, आदि पुरुष, अग्नि, ब्रह्म आदि अनेक औपाधिक व सार्थक नाम थे—वहां उनकानाम इक्ष्वाकु भी था। इक्ष्वाकु से भारत का प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश चला । तथा भरत महाराज से सूर्यवंश और भरत बंश चला — यथा —

इक्ष्वाकुः प्रथमं प्रधान मुद्‌गादादित्य वंश स्ततः ।
तस्मादेव च सोमवंश यस्त्वन्ये कुरुप्रादयः ।।

अर्थात्—प्रथम इक्ष्वाकु बंश प्रचलित हुआ, तत्पश्चात् सूर्यबंश व चन्द्र वंश आदि चले । इन्ही महाराज इक्षवाकु ऋषभदेव का वर्णन वेद में निम्न प्रकार से किया है—

यस्येक्ष्वाकु रूपव्रते रेवान् मराप्ये धत्ते।
दिवीव पञ्च कृषयः ।।

अर्थात्—इक्षवाकु राजा की संरक्षकता में पांचों मनुष्यों के कुल तथा आर्य और अनार्य आदि सब स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हुए अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर रहे थे ।

किसी भी राजा की प्रशंसा में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता । इनकी प्रशंसा में इसी प्रकार का वर्णन अन्य स्थानों के वेद मंत्रों में भी किया गया है ।

औषधि ज्ञान के प्रणेता

तथा च अथर्ववेद मं. १६/६६ में एक औषधि का उल्लेख है । वहां लिखा है—" य त्वां

---

1. (आ. पु. प. १६/६४)
2. (जैन हरिवंश पुराण १३/३०)
3. (ऋग०) म० १०/६०/४)

पूर्वं वेद इक्ष्वाकीयं दात्वा कुष्ट काम्यः ।।" अर्थात् हे औषधे ! सब से प्रथम तेरे को इक्ष्वाकु ने जाना । इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि इक्ष्वाकु (ऋषभदेव) जहाँ आदर्श राजा थे, वे अनुपम अन्वेषक तथा आविष्कारक भी थे ।"

अयोध्या की संगति

इस प्रकार वर्णन करते हुए स्वा. कर्मानन्द ने अयोध्या के लिए इस प्रकार उल्लेख किया है— भारत की प्रथम राजधानी अयोध्या के लिए वाल्मीकि रामायण बालकांड में लिखा है—

अयोध्या नाग नगरी तत्रासी ल्लोका श्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण सापुरी निर्मिता स्वयम् ।।

अर्थात् लोक में प्रसिद्ध अयोध्या नाम की नगरी है उसको नरेन्द्र मनु ने स्वयं बनाया था । यही बात जैन पुराण में आई है—

तस्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पांध्रिपात्यये ।
तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः। पुरुहूत पूरीं दधान ।।

कल्प व्रक्षों के नष्ट हो जाने पर जिस देश को महाराज नाभि और उनकी धर्मपत्नी मरू देवी ने अलंकृत किया था, उन्ही के पुण्य से प्रेरित होकर एक पुरी रची । तथा आगे श्लोक ७६ में लिखा है—

"अयोध्या न परं नाम्ना गुणैनाप्यरिभिः सुराः ।"

यह अयोध्या केवल नाम की ही अयोध्या नहीं थी—अपितु शत्रुओं से भी अजेय थी ।

ऋषभपुत्र भरत के राज्य की सीमा

विष्णु पुराण (अंश २/अ. ३) में भरत के राज्य सीमा इस प्रकार कही है—

"उत्तरे यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।
नव योजन सहस्रो विस्तारोऽस्य महामुनेः ।।

---

1. (आ० पु० पर्व १२/६९)

समुद्र के उत्तर से हिमालय के दक्षिण तक के देश का नाम भारतवर्ष है, वहां के लोग भरत की सन्तान है। इस देश का विस्तार ३६ हजार कोस है। जितनी पृथ्वी पर भरत ने राज्य किया, वही भारत वर्ष कहलाती थी। इस प्रकार यह निर्णय है कि दौष्यन्ति भरत से बहुत पहले यह देश भारत वर्ष रहा है। तथा भरत वंश इक्ष्वाकुवंश वृषभवंश सूर्यकुल आदि बहुत नाम से उनका ही वंश रहा और इस वंश ने भारतवर्ष में राज सहस्त्रों वर्ष तक भोगा था। वैदिक चन्द्र वंशी आर्यों के पहले उस वंश ~~में~~ ने ही राज भोग किया था।

महा महोपाध्याय पं० गंगानाथ झा का मत

स्वामी कर्मानन्द के निष्कर्ष उनके विस्तृत व गहरे वैदिक साहित्य के अध्ययन पर आधारित हैं। उन्होंने वैदिक ऋषिवाद, सृष्टिवाद, भारत के आदि सम्राट, धर्म के आदि प्रवर्तक, आदि पुस्तकों का प्रणयन किया है। भारत के आदि सम्राट की प्रस्तावना में श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, संपादक "विकास" ने प्रकट किया है—खोज के कार्य में मत भेद होना स्वाभाविक है, पर संस्कृत के प्रकांड पंडत श्री गंगानाथ झा एम. डी. लिट (वायस–चान्सलर) प्रयाग विश्वविद्यालय के शब्दों में वैदिक ऋषिवाद एक निष्पक्ष गवेषणात्मक पुस्तक है। दूसरी पुस्तकों के भी सम्बन्ध में भी इसी तरह की सम्मति दी जा सकती है। आगे प्रस्तावना–लेखक ने "भारत के आदि–सम्राट्" पर कहा है। कि "मैं" इतना कह सकता हुं कि स्वामी ने आज तक की इस विषय में प्रचलित परंपराओं की दीवारों को लांघकर अनुसंधान के दूरवीक्षण से बहुत दूर तक झांका है और एक नई सृष्टि खड़ी की है। दूसरे शब्दों में भारतीय इतिहास के पंडितों और विद्यार्थियों को एक नये दृष्टि कोण पर विचार करने का आमन्त्रण है, ऐसा आमन्त्रण जिसमें अपनी भारत माता के प्रति श्रद्धा है, अनुसंधान की उत्कण्ठा है, और विचार विनिमय की तत्परता है"

डा. ज्योतिप्रसाद के शोधपूर्ण निष्कर्ष; प्रागैतिहासिककाल से ही प्रवाहमय यह धर्म

"जैनिज्म दी ओल्डेष्ट लिविंग रिलीजन" पुस्तक भी स्वामी कर्मानन्द के अनुसंधानों को ही आगे बढाती हुई है। इस महत्वपूर्ण पुस्तक के विस्तारमय विवेचन तथा साधिकारी मनीषी शोध कर्ताओं के बहु उद्धरणों से भरपूर भाग को संपूर्ण यहां देना संभव नहीं है, फिर भीं हम इसके अन्तिम २-३ अनुच्छेदों का हिन्दी रूपान्तर देते हैं—

"भारत के प्राचीनतम रहस्य–चिन्हों यथा स्वस्तिक त्रिदण्ड या त्रिशूल (जो रत्न त्रय को उपलक्षित करते हैं) धर्मचक्र (धर्म संस्थापना का चक्र तथा काल चक्र). नन्द्यावर्त और वर्धमानक्य (अथवा नन्दी पद) वृक्ष, स्तूप, नवचन्द्र, कमल, वृषभ, हस्ति, सिंह, कच्छप, अहि आदि का जैनों द्वारा आदितम कालों से ही प्रयोग में लाना पाया जाता है और यह इनके ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के द्वारा अपनाये जाने से भी बहुत पूर्व तथा मूर्ति (प्रतिमा) पूजन को रिवाज (fashion) बनाए जाने

से भी पूर्व जैनों में इनका प्रयोग प्रचलित रहा था। कतिपय प्राग्-ऐतिहासिक चित्र भी नियो लिथिक काल (नव प्रस्तर-अस्त्र प्रयोग काल) की गुफाओं में जो दसियों सहस्र वर्षो पुरानी है, अब उपलब्ध हुए हैं यथा सिंगनपुर (रायगढ स्टेट) की गुफायें हैं। ये जैनों के उन प्रथम कालीन काल में प्रभाव के अमिट चिह्नों को लिए हुए हैं। पेलियोलेथिक और निओलेथिक भारतीय मानवों के धार्मिक विश्वास,-जितने भी वे ज्ञात हुए है,-जैन दर्शन के मूल भूत तत्व (Cardinal features) यथा-आत्मवाद (animism). मृत्यूपरांत जीवन, आत्मा की सत्ता और शाश्वत् प्रकृति, जैन कर्मवाद से मिलता जुलता कार्य-कारण मनोविषयक सिद्धांत आदि आदि-से अतिसन्निकट की समानता रखते है। इस बात को भी प्रकट करने वाली पर्याप्त साक्षियां है कि सदा से ही हिंसा प्रधानी उग्रस्वभावी मांसाहारी जनो की विद्यमानता के साथ साथ ही अहिंसक शांत जन भी रहे हैं जो शाकाहार पर जीवन यापन करते थे। अति प्राचीन राजवंश प्रथा से पूर्व के मिश्रदेश का धर्म भी,-जो लक्ष लक्ष वर्ष प्राचीन अनुमान किया गया है, जैन धर्म से संपूर्णतः सगोत्रीय (Akin) प्रतीत होता है। यथार्थतः फर्लाग महोदय के शब्दों में "जैन धर्म के आदि का पता पाना असंभव है।" स्वयं जैनों की मान्यतानुसार उनका धर्म सनातन है, यह धर्म तो ऋषभदेव से भी पहले विद्यमान ही था, और ऋषभदेव की भी जो काल अवधि वे बताते है, गणनातीत है।

"लेकिन वैज्ञानिक इतिहास के ठोस तथ्यों पर पहुंचने हेतु भूगर्भ शास्त्रियों, एन्थ्रायो-भौगोलिको तथा अन्य प्राग् इतिहास वेत्ताओं के अनुसार अन्तिम आदि हिम युग आठ से दस हजार ई. पू. समाप्त हुआ और इसके साथ ही उत्तर हिमकाल आरंभ हुआ। क्वार्टरी कालावधि के निओलेथिक युग के समाप्ति की भी यही समयावधि कही जाती है। इसी समय के आसपास उन तथा कथित आर्य-जनों का भी अपने ध्रुवीप्रदेश के निवासों से निष्क्रमण का आरंभ कहा जाता है। इस समय के तुरंतबाद स्वयं भारत में क्लैकोलिथिक (ताम्र-प्रस्तर) युग आरंभ होना था जिसने उस सभ्यता का जिसे आज हम समझ रहे है-प्रारंभ चिह्नित किया। ऋषभ प्रभु के लिए एक अतिमनोरंजक साक्षी यही समयावधि विलक्षण रुप से प्रदान करती है। सम्राट् चन्द्र गुप्त मौर्य-जिन्हें इतिहासज्ञों ने अब जैन होना माना है, के राज-दरबार में कुछ काल तक प्रवासी रहे सेल्यूकसीय दूत मेगस्थनीज ने ई. पू. ३०५ वर्ष पूर्व उल्लेख किया है कि तब स्थानीय रूढ़ परम्परा (Tradition) भारत के इतिहास के आरंभ को उस समय से ६४६२ वर्षो पूर्व से होने की मान्यता स्थिर रुप से प्रचलित थी। जब कि महान् भारतीय डाइओनिसस को वह मेरू पर्वत और कैलास (Hamodos) से भी संबंधित बताता है। और उससे ही विभिन्न नाना प्रकार की कला-कौशल, उद्योग के आविष्कार और खोज नगरनिर्माण, राज्य स्थापनाएं आदि का भी सम्बन्ध ठहराता है। वह उन्हें लेनाइस (Lenaios) कहता है क्योंकि उन्होंने फल-पैदावर को संग्रह करने तथा उनके रस निकालने की प्रक्रिया को भी खोजा था। इससे पूर्व समय में तो वहां के निवासी स्वतः पृथ्वी पर पड़े व मिल जाने वाले फलों पर आश्रित थे। उनका पुत्र हरकुलीश बड़ा योद्धा और विजेता था, उसके बहु पत्नियां थी, अनेक संताने थी। उस डाइयोनिसस (Dionysus) ने ढाई सौ वर्षो की दीर्घ आयु पाई थी।

"यह सब वर्णन किसी अन्य और को नहीं, एक मात्र ऋषभदेव या आदिनाथ को ही निर्देश करता है, जो धर्म-तत्व के प्रथम प्रवक्ता. व्यवस्थाओं के प्रथम संस्थापक और कला-कौशल उद्योग और सामाजिक संगठन के आदि पुरस्कर्ता थे, जिन्होंने भोग-भूमि (प्रकृति पर निर्भर करने वाले आदि जीवन) के काल के अवसान पर कर्म भूमि व्यवस्था, बुद्धि और श्रम (कर्म) के युग का उद्घाटन किया। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती के जो प्रथम सर्वभौम विश्व सम्राट थे अनेक रानियां और बहुसंख्या में संताने थी। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि दो सहस्त्र वर्षों से प्राचीन वह परम्परा निश्चय रूप से ऋषभदेव प्रभु को ही प्रमाणित करती थी जिनके काल की अवधि इस परम्परा के अनुसार ई. पू. ६७६५ वर्ष या १०००० वर्ष निर्दिष्ट हो जाती है। कम से कम यह वह काल अवधि है जो उस चली आती परम्परा में तृतीय व चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व की होना विश्वस्त समझी जाती थी। लेकिन यही काल अवधि प्रसंग-वश पूर्वोक्त भूगर्भीय निर्दिष्ट सिद्धान्त की काल अवधि सेभी मेल खाती है। और यह प्राचीनतम सिंधुघाटी (C. ६००० B.C.) की प्राचीनतम सभ्यता से, मिश्र देशीय आदि पूर्व सभ्यता (C. ५००० B. C.) से तथा आर्य-आगमन (C. ३००० B. C.) से पर्याप्त पूर्वकालिक है। और इस प्रकार जैन धर्म Pre historic प्राग् ऐतिहासिक तथा Proto historic इतिहास लेखन के आदि से तथा Historical ऐतिहासिक समयों से बराबर वर्तमान चला आना पाया जाता है।

"मानव का यह प्राचीन तम धर्म मूलतः (Primarily) मात्र धम्म (धर्म) या मानव धर्म या मग्ग (मार्ग, पथ) कहा जाता था,—यह सिंधु घाटी सभ्यता के काल में ऋषभधर्म सम्प्रदाय या जैन धर्म, वैदिक जनों द्वारा व्रात्य या अहिंसा धर्म, उपनिषदों के काल में अर्हंत्-धर्म या आत्म-धर्म, भ. बुद्ध के समय निग्गंथ धर्म, इण्डो-ग्रीक व इण्डो-सीथियन काल में श्रमण धर्म, तथा जैन धर्म तथा कथित हिन्दू काल में स्याद्वादमत या अनेकांत मत, भक्ति आन्दोलन के काल में विशेष कर दक्षिण में भव्य धर्म, राजपूताना में श्रावक धर्म, पंजाब में भावदास आदि रूप से कहा जाता रहा है। सभ्यमानव का यह विशुद्धतः स्वस्थानोत्पन्न तथा पूर्वतम कालिक धार्मिक रीति प्रबन्ध रूप होने के अतिरिक्त यही एक मात्र धर्म है—जिसने इतने दीर्घ काल तक भी अपनी पूर्ण पवित्र यर्थाथता को चमात्कारिक रूप से स्थिर सुरक्षित रखा है। यह अपने पूर्व प्राचीन काल से ही तमाम अन्य धार्मिक पद्धतियों को जिनके यह सम्पर्क में आया अपने वाद संवाद तथा प्रतिवाद द्वारा प्रभावित करता रहा है और इस प्रकार यह मानव-चिंतन और संस्कृति पर अपना सुप्रभाव देता रहा है। इसकी भूमिका और देन मानव संस्कृति के बहु क्षेत्रों में किसी भी प्रकार से क्षुद्र या अल्प नहीं रही है। इसमें शांति सद्भावना के, वैश्विक बंधुत्व के, प्रकृष्ट और स्वस्थ आनन्द और सुख के, प्रकृष्टतम और उत्कृष्टतम रूप से व्यवहार्य संदेश—न केवल अपने स्व देश के लिए बल्कि समूची अखंड मानव जाति के लिए निहित रहे हैं। डा. नाग ने कहा "जैन सिद्धांत (Jainism) किसी एक विशिष्ट जाति या समुदाय का धर्म नहीं,—यह अन्तर्राष्ट्रीय और वैश्विक है।" रे. जे. डूबोय के शब्दों में" ओह! उस (जिनेश्वर) का धर्म ही एक मात्र समूची मानव जाति का समीचीन धर्म और आदिकालिक धर्म निष्ठा है।" (पृ. ५८ से ६२)

ईसा से चार शतक पूर्व दक्षिण में दिगम्बराचार्य भद्रबाहु प्रथम बारह हजार दिगम्बर मुनियों के साथ सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ पहुंचे थे। चन्द्रगुप्त स्वयं ने दिगम्बर प्रवृज्या ग्रहण की और वह दिगम्बर जैन मुनि विशाखाचार्य के नाम से विख्यात हुए हैं। उनके राज्य मन्त्री राजनीतिज्ञ चाणक्य भी जैन थे और वे दिगम्बर मुनि हुए तथा उस अवस्था में उपसर्ग होने पर भी से ध्यान समाधि से विचलित नहीं हुए। चीन जापान लंका बेबीलोन आस्ट्रेलिया आदि में भी दिगम्बर जैन मूर्तियों की उपलब्धि होने से इस धर्म का कभी विश्व व्यापी प्रचार रहा यह प्रकट होता है।

यह आत्म धर्म के रूप में सदा सनातन

यह सनातन योग शासन रूप जैन धर्म वस्तुतः भ. वृषभदेव के प्रागैतिहासिक काल से पूर्व ही बराबर प्रवाहित चला आ रहा है। यह ऐसा महान् नद-स्रोत रहा है जिसके अनेकांत ज्ञान प्रवाह में से अलग-अलग नय दृष्टियां लेकर विभिन्न दर्शन तथा धर्म की सरिताएं भी निकली है। विशिष्ट प्रमाणिकता प्राग् व आदि नृ-इतिहास के आलोक के साथ जुड़े होने के अतिरिक्त एक अन्य गहनतम तथ्य पर भी यही एक मात्र स्वावलम्बी, ज्ञान-परक, विशुद्ध चारित्र-परक, तथा अद्वद य अपूर्व आत्म परक, निर्मल जीवन का एवं उसकी कर्म कालिमा से निर्जरा-मुक्ति, निर्वाण, और अक्षय अव्याबाध आनन्द का सुनिश्चित मार्ग है, जिसे एक नहीं, चौबीस अर्हत्पुरुषों तीर्थंकर पुरुषों ने कोटिशः जनों के साथ आत्म-चारित्र में उतार कर और स्वयं चल कर प्रशस्त किया है।

यह शुद्ध आत्मा के निज स्वभाव के ही परिष्कृत स्वरूप को उपनीत करता है जो एक मात्र अनादि सार्वकालिक और सर्वोपरि सत्य है और रहेगा। चैतन्य निर्मल आत्मा का वह सहज स्वाभाविक सनातन ज्ञान स्वरूप जो मात्र उसका ही है—जो भ. वृषभेश्वर का यह शासन संस्थापित करता है। जब तक चैतन आत्माएं-प्राणी जगत् इस पृथ्वीतल पर विद्यमान रहेंगे,—यह उनका निजी सहज आत्म-धर्म उन्हें अनुप्राणित करता अजस्र प्रकाश ही करता रहेगा। इस गहन और उदार दृष्टि में यह सनातन है, प्रमाणिक है, प्राचीनतम है और मानव के प्रकृत रूप से निकटतम है। यह मानव के ही स्व स्वातन्त्र्य स्वभाव का स्वाधीन विवेचन करता है और इसका यह अनुपम वैशिस्ट्य ही रहने वाला है।

सर्व धर्म और संस्कृतियों के एक आदि प्रवर्तक की स्थापना में समन्वय सामञ्जस्य की ही अन्तर्दृष्टि

सर्व धर्म संस्कृतियों के एक आदि प्रवर्तक की प्रस्थापना

इस ही मूल हैरण्यगर्भ-स्रोत को निर्देशित करती है। उपनिषद्, पुरुष सूक्त और नासदीय सूक्त के अर्थ जो इस अध्याय में पूर्व में दिए गए हैं किसी सम्प्रदाय दृष्टि से नहीं,-एक गहन महत्तम समन्वय और सामंजस्य की अन्तर्दृष्टि पूर्वक ही दिए गए हैं। समन्वय और सामंजस्य ही एक उत्कृष्ट ज्ञान दृष्टि है। ज्ञानीजन तो,—यह कहना व्यर्थ ही है कि समानता ही देखते है, विभिन्नता को प्रधानता नहीं देते, न प्रधनता

करते। ज्ञान का कार्य प्राणी जनों को उन्हें विभिन्न प्रवृत्तियों, क्षेत्रों, विचारों, चिन्तनों तथा संस्कृतियों में भी एक समान धरातल पर लाकर जोड़ना है, समता सौहार्द और सद्भावका के स्तर पर लाना है, न कि उन्हें विखण्डित या विशृंखलित करना है। यही देन (Contribution) इस योग-शासन की तथा इसके अनेकान्त की है।

नव निर्माण की आधार भूमि

आज का जातीय समाज भारत में ऐतिहासिक मोडों पर खडा है। वीर कर्मठ क्षत्रिय श्रमण परम्परा के स्वतन्त्य और पुरुषार्थी दर्शन और आचार को दलित करने वाले आक्रान्ता विजेताओं की सत्ता और स्वार्थो की रक्षा-हेतु प्रसारित तथा प्रचलित अंध-जीवन मूल्य तेजी से वैज्ञानिक बुद्धिवाद के दबाब में, यान्त्रिक जीवन के प्रवाह में, आर्थिक विषमताओं और अभावों के कारण गिरते जा रहे हैं। नव निर्माण के लिए विध्वंस आवश्यक भी है। पर नव-निर्माण को सहज स्वाभाविक आधार-भूमि न मिली तो क्या हम एक अभिनव विराट् देश तथा समाज का निर्माण कर सकेगें यह विचारणीय ही है।

हम कब तक भटकेंगे

आज के चिन्तकों के लिए यह विचारणीय क्या नहीं है कि हम कितनी सदियों से हैरण्य गर्भीय उत्कृष्टतम व्यवहार्य योग-परक जीवन दर्शन से जीवन आस्थाओं, स्वावलम्बी कर्मठ क्षत्रिय श्रमण संस्कृति तथा शुद्ध चारित्र से भटके हुए चारित्र संकट से त्रस्त हैं। भ. हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ ने आत्म स्वतन्त्य स्वावलम्वन का, तपोमय जीवन का, अमर आत्मा की आस्था का जीवन दर्शन दिया। क्या हम उस दर्शन की निष्ठा ज्ञान और चारित्र से—ऐतिहासिक घटनाओं चक्रों तथा प्रवाह में में पड़ कर विमुख होते नहीं चले गये है। यद्यपि काल-काल पर विभिन्नवाद, प्रतिवाद आए-अर्हत्पुरुष बुद्ध और संतजन भी बरावा आते रहे और संवाद भी दिये मगर क्या हमने मानव के सहज आत्म धर्म को स्वीकार करके सरल व अंध विश्वास, मुक्त कर्मठ और त्याग तपस्या का जीवन अपनाया? राष्ट्रीय जीवन में नाना मत मतांतर सम्प्रदायों के झमेले ने ज्ञान क्षितिज को इन्द्र धनुष के से नाना वर्णो से चित्रित करके साधारण व वौद्धिक पुरुषों के लिए एक रूप प्रखर ज्ञानालोक को अस्पष्ट सा कर दिया है। पर क्या नाना नयों के समीकरण रूप अनेकांत के संकेत हमारे जीवन दर्शन की समृद्धि के, और जीवन की व्यवहार्य साधना की एकता के भी हेतु नहीं बन सकते? पर दुख तो यह है स्वयं जैन भी विमुख हुए पड़े हुए हैं।

निष्पक्ष चिन्तनशील दृष्टि की अपेक्षा

ज्ञान की सत्य खोज के लिए निष्पक्ष और निरपेक्ष शोध सामर्थ्य पूर्ण सामजंस्य तथा साम्य रस प्रपूरित मानसिक स्थितियों तथा चिन्तन शील दृष्टियों की महती अपेक्षा है। चिन्तन के लिए समदृष्टि तथा सम्यक् दृष्टि ही वहुमूल्य व अनुकूल है वही ऐसा नेत्र है जो सत्य का आलोक निर्भय होकर देख व बता सकती हैं। वेद, उपनिषद् आगम-शास्त्र में ऋषियों अर्हत्पुरुषों की वाणी ऋषियों की परोक्ष-

प्रियता आदि कई हेतुओं से इस प्रतीक्षा में है कि उनसे न केवल गौरवमय इतिहास का प्रफाश ही प्राप्त किया जाए बल्कि उनसे इस योग शासन के चरम प्राप्तव्य के अर्थ अन्तर्ज्ञान और योग के प्रत्यक्ष अनुभवों से ही अनावृत किया जाएं, न केवल व्याकरण के धातु-प्रधान अर्थों या साम्प्रदायिक उपदेश व शिक्षा की खींचतान से। हमारी ये प्राचीन ज्ञान-निधि मय पुस्तकें अमूल्य राष्ट्रीय थातियां हैं।

नई पीढी क्षमा नहीं करेगी

इतिहास को उपदेशात्मक अर्थ से आवृत कर देने की प्रवृत्ति तथा दुष्कृति को आगे आने वाली निष्पक्ष ज्ञान मयी पीढियां कभी क्षमा नहीं करेगी, क्योंकि देश या समाज, अपने गौरवमय इतिहास से भ्रष्ट किये जाने पर दिग्भ्रांत तथा मृत-प्रायः हो जाते हैं, जैसे कि हम आज वर्तमान में है। वर्तमान में हम नाना दर्शन या धर्मों का अपना पृथक् सह अस्तित्व रख कर भी वेद व उपनिषद पूर्व की उनमूल आस्थाओं, प्रस्थापनाओं एवं अवधारणाओं को स्थापित करें जिन्होंने प्राचीन प्रागैतिहासिक समृद्ध वैज्ञानिक विद्याधरी एवं अध्यात्म योग मय आर्हत्-श्रमण संस्कृतियों को जन्म दिया और जिन्होंने औपनिषदीय ज्ञान को विकसित होने में महत्वपूर्ण योग दान यिया।

आत्मा कीआलौकिक चैतन्य प्रकाश की धारा अपेक्षणीय

आत्मा की आलौकिक चैतन्य प्रकाश की धारा पाई ही जानी चाहिए और यह पाई भी जा सकती है। वर्तमान जन-युग की स्वातन्त्र्य विचार-धारा ने तथा प्राचीन उत्खननों ने मौलिक चिन्तन के द्वार खोले हैं,—बड़ा अनुकूल समय है, नये चिन्तन और उदार निरपेक्ष मनोवृत्तियों के लिए, जो हमें अनुदार कूपमूण्डूकता तथा जड स्तब्धता (Rut) से उन्मुक्त कर दे। हमारी यह प्राचीन कर्मठ क्षत्रिय संस्कृति, शिक्षा का, शोध का, जीवन का, एक उच्चतर उदार जीवन के लिये अभिन्न अंग बन जाना चाहिए।

प्राचीन वाङ्मय राष्ट्रीय निधियां है जीवन निमांण के प्रकाश और करुणा के ये स्रोत है

इसी संदर्भ में अध्यात्म-शास्त्र, वे चाहे वैदिक हों, चाहे बौद्ध या जैन हों अमूल्य राष्ट्रीय निधियां है, इनका समादर पूर्वक अध्ययन करके हम सोच पायेंगे कि इनमें परम सत्य तथा ज्ञान के साक्षात्कार तथा विकास के, प्राचीन इतिहासवृत्त के ज्ञान के हेतु इनमें कहां-कहां तक तत्त्व तथा आलोक प्रकट हैं और वर्तमान के लिए हैं, भारतीय दर्शन, धर्म तथा संस्कृति के यथार्थ समन्वयार्थ इनके द्वारा कहां तक कर्तृत्व एवं अंश-दान हुआ व सम्भव है। और भविष्य के लिए निर्मल आत्मा की, मानवता की वे प्राचीन आस्थाएं तथा अवधारणायें हमें कितना उज्ज्वल आलोक हमारे जीवन के परिवेश, साधना, चारित्र-गठन तथा आध्यात्मिकता, संस्कृति प्रवाह तथा आर्थिक नव जीवन निर्माण के लिए दे सकती है, तथा अल्प जीव स्वरूप को विराट् प्रभु रूप परिणत करने के लिए परमपुरुषार्थ परम दिव्य बीतराग केवल ज्ञान प्रकाश की किरणों तथा जीवन में करूणा रस को देने वाले प्रवाह, कहां से आ रहे हैं या आना सम्भव हैं।

अतीत से आता यह प्रकाश पुंज और आस्था का शंखनाद—

निश्चय ही भ० हिरण्यगर्भ आदि तीर्थंकर एक महान् ज्योति पुंज हुए हैं, वे अब भी हैं और रहेंगे। उनका योग विज्ञान, ज्ञान परक, आत्मा के अहिंसा मय तथा पर-पीडा को जानने वाली करुणा के प्रवचन, एवं श्रुत-वचन रूप अक्षर विद्या, तप तथा ध्यान-समाधि रूप वचनातीत निरक्षरी दिव्य ध्वनि (ध्यान) मय आत्मविद्या, जो सक्रिय तथा निष्क्रिय तत्वों के सामरस्यों को प्रकट करती, व अभिव्यक्ति से भी परे, स्वयं केन्द्रभूत परमज्ञान-आत्म तत्त्व को ही प्रकट करती हैं, वे सब प्रत्येक मानव-प्राणी को निर्मल चारित्र पुरुष बनने के लिए एक सार्वकालिक, सार्वभौम, महान् प्रेरणा. आदर्श, तथा आलोक-स्त्रोत हैं। वस्तुतः अतीतकाल से आता उनका प्रकाश दिव्य एवं अनुपम है। उनमें निश्चय ही निर्माण और निर्वाण की अटूट विकास संभावनाओं की उज्ज्वल रेखाएं भरी हैं।

अतीत के प्रकाश के वरण व अवतरण की कामना तथा उसकी आरती से जीवन में नई बहार तथा संवार देने के आज के अपेक्षणीय संकल्प तथा ललक मनीषी कवि "मयूख" के इन शब्दों में रेखांकित हैं–

"छू सके जो भूतकाल के प्रकाश-चरण
आस्था की आरती को बाँट दूं मैं वो किरण।
एक तार मीड दो, अनन्त काल तक बजे,
वह नवीन वीण दूं, मैं वो नया सितार दूं।
वह नवीन वीण दूं, मैं वो नया सितार दूं।"

काश ! भूतकाल के उस महान् प्रकाश के वरण को हम अपने अंतर में तथा जन-जन के जीवन के बीच में अवतीर्ण कर सकें, तथा उसके लिए अटूट आस्था की आरती को संजो सके। आइए ! अक्षय ज्ञान आस्थाओं के हम निर्धूम प्रकाशमय दीप जलायें कि हमारी वर्तमान शून्यता उस सुखद अक्षय आलोक से ही भर जाये ! आइए ! आत्म-आस्था को नया शंख नाद दें, नये प्रकार से आस्था को एक नया शंखनाद दें !

• •

बोधि, सिद्धि और मुक्ति का यह अणुत्तर मार्ग
और
योग शास्ता प्रभु ऋषभ के जीवन तथा तत्वों के संक्षिप्त रेखा-चित्र

- निग्गन्थं पावयणं अणुत्तरं मग्गं
- योग विज्ञान एक "मग्ग" एक तीर्थ
- "मग्ग" का स्वरूप
- त्रयी मार्ग (संयम मार्ग)
- त्रयी मार्ग के त्रित्व तथा त्रय रत्न या रत्न त्रय
- त्रयी मार्ग के अष्टांग आठ परम आर्य सत्य
- त्रयी मार्ग की अलौकिकता
- परमपद प्राप्ति का यह त्रिवित् मार्ग
- अप्पाणं धम्म
- व्यवहार से धर्म का स्वरूप।
- आत्मा के स्वभाव के शाश्वत तत्वों मय योग मार्ग की परम्परा
- भ० ऋषभदेव का प्रवचन एवं क्रांति रूप शाश्वत् ज्योति मार्ग
- तप और तपश्चर्या
- एक मात्र योग शासन और योग शास्ता
- योग मार्ग के प्रवचन का प्रसंग
- योग का प्रथम प्रवचन और तत्वोपदेश
- योग मार्ग के संस्थापक भ० हिरण्य गर्भ ऋषभदेव का संक्षिप्त में जीवन चरित्र
- भ० ऋषभदेव की दिगम्बरी प्रव्रज्या का श्रीमद् भागवत में उल्लेख
- भगवान् ऋषभदेव के प्रसिद्ध नाम और सार्थकता
- भगवान् का तपोयोग संधारण
- भगवान् की महा भागवद् प्रकाश सत्ता
- भगवान् के प्रथम गणधर
- भगवान् की उत्तारवादी परम्परा
- भगवान् द्वारा योग निरूपण
- षडंग योग और तपोयोग
- मन वचन काय की क्रिया रूप योग के शुभ एवं अशुभ भेद

- समाधि लक्षण
- प्राणायाम और धारणा के लक्षण
- योग लक्षण
- प्रत्याहार के लक्षण
- स्मृति का लक्षण
- दुःख क्षय कारक अर्हं मंत्र
- ब्रह्म तत्व विद् होने की विधि
- योग का ऐश्वर्य
- योग से कर्म-विमुक्ति
- मंत्रार्थ भावना की श्रेष्ठता
- ध्यान संदर्भ में पदार्थ बोध, नित्य अनित्य आदि अवधारणाएं
- ध्यान सिद्धि में सम्यक् पदार्थ निरूपण तथा बोध आवश्यक
- जिनेश्वर के कुछ विशेष लाक्षणिक नाम
- आ० जिनसेन द्वारा वर्णन में प्राचीन परम्परा से चले आये भगवान् ऋषभदेव का ही योग मार्ग
- योग परम्परा में ध्यानाध्ययन; एक संक्षिप्त विषय विवेचन
- धर्म ध्यान की प्ररूपणाएं
- शुक्ल ध्यान की प्ररूपणाएं
- ध्यान से जीव की शुद्धि
- भगवान के मार्ग के अन्य तत्व—उपासना भक्ति
- दश प्रकार के तप और उनके स्वरूप
- योग के षडंग
- पटलोपम अज्ञान-आवरण का क्रिया द्वारा ही छेदन संभव
- क्रिया-योग
- प्रणिधान
- संयम का स्वरूप
- यम-नियम की सार्थकता
- जीवन उर्ध्वगामी तेज
- सम्यक्त्व का उदय
- विष-पाचन और अमृतीकरण
- वस्तु-व्यवस्था की ज्ञान-रश्मियां और गुरुचरणों का अंकन
- ध्यान प्रकाश के चरण
- भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) के मार्ग में मानव भी देव बंद्य

निग्गन्थं पावयणं अणुत्तरं मग्गं

> "इणमेव निग्गन्थं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पणि पुण्णं
> सुसिद्धं णेया उयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुक्ति मग्गं
> विज्जाण मग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं
> सब्ब दुक्खप्प हीण मग्गं एन्था णिया जीवा सिज्झन्ति
> बुज्झन्ति मुच्चन्ति परिणिव्वायन्ति सब्ब दुक्खामन्तं करेन्ति ।"

यह निग्रन्थों का ज्ञान तथा योग का प्रवचन सत्य है

यह अणुत्तर है
यह केवलि भाषित है
यह पूर्ण है
यह अत्यन्त शुद्ध है
यह न्याय सम्पन्न है
यह मन-शल्यों को काट देने को कैंची तुल्य है
यह सिद्धि का मार्ग है
यह मुक्ति का मार्ग है
यह आवागमन निवारण के लिए विज्ञान मार्ग है
यह निर्वाण मार्ग है
यह सत्य है
यह असंदिग्ध है
यह दुःखों को क्षय करने का मार्ग है

इस मार्ग के पथिक

जीव सिद्धि को पाते हैं
बोध को पाते हैं
सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं
निर्वाण पाते है, और
सर्व दुःखों का अन्तकर लेते हैं ।

योग विज्ञान एक "मग्ग", एक तीर्थ

यह योग विद्या "मग्ग"—एक "मार्ग" के रूप में–संसार सागर के दुखों से पार होने के लिए

एक मार्ग के रूप में—एक तीर्थ के रूप में,–अव्याबाध निज परमानन्द अक्षय धाम के, सिद्धालय के मार्ग के रूप में, भगवान श्री वृषभेश्वर-हिरण्यगर्भ, आद्यतीर्थंकर के प्रवचनों द्वारा वेदों से भी पूर्व प्रागैतिहासिक काल में ही प्रचलित हुई। यह भगवान का धर्म शासन था,—योग का शासन था, आत्म शासन था। यह भारत वर्ष की प्राचीन ज्ञान थाति है, अमूल्य ज्ञान- निधि है। सारा मानव समाज ही नहीं, समस्त प्राणीलोक, मानव देव दनुज पशु पक्षी प्राणि मात्र इस ज्ञान से अनुप्राणित हुए, इसके अहिंसक करुणामय स्पंदनों से, शान्ति संदेशों से सुखी, आनंदित तथा कृतज्ञ और धन्य हुए हैं।

अध्यात्म-जगत् के परम देदीप्यामान नक्षत्र आ. श्री कुंदकुंद ने "नियमसार" में इसी "मग्ग" का परिचय इस प्रकार दिया है—

मग्गो मग्ग फलंति या दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।[1]

मार्गो मार्ग फलमिति द्विविधं जिनशासने समाख्यातम्।।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम्।।

जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल—इस प्रकार द्विविध रूप से "मार्ग" समाख्यात हुआ है। यह मार्ग मोक्षोपाय है, और इस मार्ग का फल निर्वाण है।

त्रयी मार्ग

यह मार्ग "नियम" अर्थात् संयम द्वारा अनुष्टित होता है और उस संयम का स्वरूप ज्ञान दर्शन चारित्र रूप है।

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणम्।।

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो, ज्ञान दर्शन चारित्रम्।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम्।।

अर्थात्—जो करणीय कार्य है वह नियम (संयम) है, और वह नियम ज्ञान दर्शन चारित्र है। मार्ग से विपरीतता न हो अर्थात् मार्ग से स्खलन न हो इसलिये इस नियम को ही "सार" शब्द से कहा गया है। ऐसे ज्ञान दर्शन चारित्र रूप यह मार्ग ही संसार में एक मात्र सार है।

---

1. निःसार १/२ 2. निःसार१/३

दर्शन ज्ञान चारित्र रूप से वह संयम मार्ग, मार्ग त्रय के नाम से कहा जाता है।

त्रयीमार्गं, त्रयीरूपं त्रयीमुक्तं त्रयीपतिम्।
त्रयी व्याप्तं त्रयीतत्वं त्रयीचूडामणिस्थितम्॥

त्रयी मार्ग के त्रित्व तथा त्रयरत्न या रत्नत्रय

यह मार्ग त्रयी-मार्ग है, रत्नत्रय का मार्ग है। त्रयी रूप से यह स्वयं त्रिरत्न मय रूप है। यह त्रयी-मुक्त है, रागद्वेष और मोह रूप त्रयी-रहित, वा जाति (जन्म) जरा (बुढ़ापा) और मरण ऐसे त्रय भयों से मुक्त है। तथा सत्ता सुख और चैतन्य इन तीन त्रयी सहित है। त्रय लोकों के जान लेने के कारण त्रय लोकों में व्याप्त, तथा सदा बहने से त्रय कालों में व्याप्त है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप त्रय-तत्वों से युक्त है। लोक त्रय के शिखर पर विराजमान चूडीमणि रूप है। आत्मा के ही धर्म-सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप यह त्रयी मार्ग है।

त्रयी मार्ग के अष्टांग आठ परम आर्य सत्य

यह "मोक्ष" मार्ग है इसे आ. श्री कुंदकुंद ने स्पष्ट किया है। यह त्रयी मार्ग ही अष्टांगिक मार्ग है। अष्ट परम आर्य-सत्यों का मार्ग है।

सम्यक्त्व ज्ञानयुक्तं चारित्रं रागद्वेषपरिहीनं।
मोक्षस्य मार्ग मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनां॥

मोक्ष का यह मार्ग उसे मिलता है, जो भव्य (रूचिवान) तथा लब्ध-बुद्धि सम्यक्-ज्ञानी हो। रूचि और ज्ञान दो महत्वपूर्ण अर्हताएं है। इस मोक्ष के मार्ग का चरण भी दो विशेषताओं सहित है, यानी यह चारित्र, सम्यक्त्व तथा ज्ञान सहित, तथा रागद्वेष रहित है। ये चार तत्व ही साधन-चतुष्टय हैं, स्वरूपाचरण हैं।

ऐसा स्वरूपाचरण मय चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। और यह बंध का मार्ग नहीं है। अमार्ग नहीं है। प्रत्युत चरम उत्कृष्ट विज्ञान प्रक्रिया है। इसमें ध्रुव चार आर्य सत्य इस प्रकार कहे हैं—त्रिकाली आत्मा के स्वभाव में न राग है, न द्वेष है, न उत्पाद, न व्यय है। (२) एक रस चिद्—भाव में निर्विकल्प निर्विकार—स्थिरता वाले, रुचिवान (सम्यक् निष्ठवान) को ही यह प्राप्त होता है। (३) इस त्रिकाली वीतराग स्वभाव में स्थिरता से ही आत्मानुभव होकर

---

3. (उपासकाध्ययन ६८७)

मार्ग की पूर्णता होती है। (४) पूर्ण राग रहितता एवं कषाय रहितता से ही चारित्र मार्ग की पूर्णता होती है। इन चारसत्य और साधन चतुष्टय रूप आठ परम आर्य—सत्यों को ही हृदयंगम रखकर साधक प्रकाश को, ज्ञान को, और मुक्त–दशा को आविर्भाव करता है।

इनके ज्ञान—प्रकाश में त्रिकालिक स्वयं ही मैं हूं—इस प्रकार निश्चल स्थिरता, आत्म–स्वभाव में स्थिरता ही शुद्ध परिणतियों का तथा मोक्ष का हेतु होता है। स्व–आत्म-निग्रह व स्व आत्म–अनुग्रह मार्ग का भ० वृषभेश्वर द्वारा सर्व प्रथम प्रवचन किया गया। आत्मा अजन्मा अव्यय अनादि तत्व है अतः इसका प्रवचन भी तीर्थंकरपुरुषों द्वारा अनादि से चला आ रहा है। यह योग मार्ग इस प्रकार "मग्ग" रूप से अनादि धर्म ही है।

त्रयी मार्ग की अलौकिकता

यह मार्ग निर्ग्रंथ प्रवचन द्वारा आविर्भूत हुआ और वीतराग निर्ग्रन्थ, और परम निर्मल आत्म स्वरूप उद्घाटक होने से इस मार्ग की जगत् में सर्वत्र पूज्यता तथा बंदना है।

इस मार्ग के पथिक होकर जीव सिद्ध होते हैं। इसका बोध पाकर बुद्ध हो जाते हैं। वे सर्व कर्मों का अभाव कर के मुक्त हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं, तथा समस्त दुःख, क्लेशों का क्षय कर देते हैं। ऐसा यह लोकोत्तर "मग्ग" रुप से अनादि—आदि काल में सनातन रुप से प्रवाहित है। यह स्वयं आत्मा का ही आत्मा से मार्ग होने के कारण विश्व प्राणियों के हित के लिए है, और विश्वधर्म के रूप में है।

योगियों का यह परम पद प्राप्ति का त्रिवित् मार्ग

तिहितिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई॥[1]

योगी पुरुष मन वचन काय—इन त्रय योगों को साधकर वर्षा, शी,त उष्ण—इन तीन काल के योगों को धारण करके, माया मिथ्या निदान—इन त्रिक् शल्यों से रहित होकर, दर्शन ज्ञान और चारित्र—इन तीन त्रिकों से मंडित होकर, राग द्वेष—इन दो दोषों से परिपूर्ण मुक्त होकर परम (निर्मल) आतमा का ध्यान करता है। इस प्रकार योगीजनों को आत्मा के परमपद प्राप्ति का यह आश्चर्य जनक त्रिवित् मार्ग है।

---

1. (अष्ट पाहुड–६/४४)

अप्पाण धम्म

सो झायदी अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो"। जो आत्मा का ध्यान करता है, वह निश्चय ही "पर"–रूप कर्म रज–प्रत्ययों से विमुक्त होता है। आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा ही आत्मा के लिये ध्यान करके आत्मा को प्राप्त करती है, अतः यह मात्र अप्पाण धर्म है आत्मा परक धर्म है आत्मा ही धर्म है। अतः जीव मात्र, प्राणि मात्र का आत्म धर्म है। अप्पाण धम्म है।

जं जाणिऊण जोई जो अत्थो जोइऊण अणवरयं।
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥[1]

उस परम आत्मा के पद का आत्मा का अनुभव करके, उसे देख करके अव्याबाध (बाधा रहित) तथा अनुपम और अनन्त स्वरूप निर्माण किया जाता है। आत्मा परमातमा है, और परमात्मा आत्मा है, कोई स्वरूपतः भेद नही, अखंड अभेद है। आत्मा ही आराधक होकर सत्यरूप उसकी आराधना करे यह आवश्यक है।

व्यवहार से धर्म का स्वरूप

इस धर्म का प्रथम परिचय सागार—(श्रावक) धर्म के आरम्भ से तथा शास्त्र तथा गुरू प्रवचन के पठन व श्रवण तथा मनन चिन्तन से, तीन मकार (मांस मधु और मद्य) आदि के त्याग से आरम्भ होता है तत्व पठन व श्रवण से तत्व—धारणा होकर आत्मा के स्वरूप की आस्था जाग्रत हो जाती है। तथा पंच परमेष्ठी का दर्शन व श्रद्धान तथा अर्चना तथा चार लोगुत्तमा, चार मंगल, तथा चार शरण का ग्रहण होता है। इसके अनन्तर धर्म ध्यान द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर नैष्ठिक, प्रमत्त, विकल संयम चारित्र धारण होता है और इसके साथ प्रतिमा का क्रमशः धारण होता है। तदन्तर अनागार (अप्रमत्त सकल) निर्मल संयम—चारित्र का मार्ग प्राप्त करना होता है। तब शुक्ल ध्यान में चरम परिणति सकल जिन परमात्म दशा के विकास रूप होती है और मानव ही परमेश्वर बन जाता है। ऐसे यह धर्म नियम शास्त्र (व्यवहार व क्रमिक शिक्षा) तथा अध्यात्म शास्त्र (निश्चय अक्रम शिक्षा) का प्ररूपण करने वाला परमेश्वर का धर्म होता है।

योग मार्ग की परम्परा

योग मार्ग के प्रथम प्रवक्ता होने के कारण निर्ग्रन्थ भगवान् हिरण्यगर्भ, आदिनाथ–वृषभेश्वर सर्व योगाम्नायों में श्रद्धावनत भावों से भिन्न २ नामों से सर्व प्रथम स्मरण किये

1- (अष्ट पा०—६/३)

जाते हैं। इन आदि पुरूष की स्मृति तथा धारणा व इनके पुत्र बाहुबलि एवं भरत की स्मृति तथा धारणा युग—२ से बराबर जैनों में चली आ रही है। इनकी प्रतिमाएं मूर्तियां इनके चारित्र—आख्यान अभी तक विद्यमान हैं। तथा सिन्धु घाटी का हड़प्पा घाटी के उत्खननों से ध्यानस्थ निर्ग्रन्थ मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इन आदि साक्षियों के समक्षता में अब तो उनका व्यक्तित्व व चारित्र योग की प्रवृति आदि, प्राग्—ऐदिहासिक तथ्य के रूप से प्रकाशित एवं मान्य हो चुके हैं।

इस योग शासन में भ० आदिनाथ तीर्थंकर के बाद तैवीस और तीर्थंकर हुए हैं और इनमें भ० वर्धमान महावीर प्रभु अन्तिम तीर्थंकर हैं। इन सब तीर्थंकरों ने तत् समय की धार्मिक व सामाजिक आदि स्थितियों के अनुसार ही सर्व साधारण को उनकी ही साधारण भाषा में दिव्य ध्वनि सहित धर्म के मार्ग को कहा और उन्हें परमार्थ मार्ग में अग्रसर किया। इन सबके प्रवचन निश्चय ही उसी आद्य योग-मार्ग के अनुसार उसी मूलयोगधर्म की भावना, लक्ष्य और प्रक्रियाओं को लेकर हुए हैं। यद्यपि इनके प्रतिपादन की शैली निश्चय ही समयानुकूल विशेषतायें भी रही होगी। आद्य तीर्थंकर के बाद तीर्थंकरों की वाणी पूर्व तीर्थंकरों की प्रतिध्वनि मात्र रही हों ऐसा नहीं है। प्रत्येक तीर्थंकर ने स्वयं तप व योग—साधना के कठीन मार्ग से ही आत्म साक्षात्कार किया और वह उनकी निजी मूल एवं महत्पूवर्ण घटना रही। उनके प्रत्येक का एक-एक क्षण एक परमानन्द आत्म महोत्सव को ही लेकर रहा। उनकी वाणी में आत्मा के स्वभाव के वे ही शाश्वत तत्त्व रहे हैं, जो आद्य तीर्थंकर के द्वारा उद्घाटित्त किये गये और उन्होंने स्वयं उनका साक्षात्कार किया, स्व संवेदन किया। वे उनकी निजी अनुभूति में निजी अनुभूति रूप अनुभूत किये गये।

योगीश्वर श्री कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के ही समयवर्ती ही नहीं, वे तो एक ही कुटुम्ब में बहुत निकट संबंधी रहे और भगवत् गीता में उस समय के तीर्थंकर की शिक्षा का प्रभाव देखा जा सकता है। इनही तीर्थंकर श्री नेमिनाथ को अरिष्ट नेमि नाम से वेदों में भी स्मरण किया गया है। भ० पार्श्वनाथ का वर्णन बौद्ध साहित्य में भी प्रचुर रूप से है। भ० महावीर और महात्मा बुद्ध समकालीन रहे हैं। भ० बुद्ध का जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन पार्श्व—परम्परा में रहा है। ये सब हम पूर्व में बता चुके हैं।

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि ऋषभेश्वर—हिरण्यगर्भ ही योग के प्रथम प्रवक्ता तथा शास्ता है, और पुरूष सूक्त—नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त मंडल—जो अथर्ववेद व ऋग्वेद में हैं वे भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ से ही सम्बन्धित हैं। इसका हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं।

भ० ऋषभदेव के ही सहस्त्र नाम हैं और उस सहस्त्र जिन नाम को आ० श्री जिनसेन ने प्रकट किया है। भ० ऋषभदेव के प्रवचन में प्राणी मात्र की एकता का बराबरी

का पैगाम है, अमर संदेश है और इसमें मानव के अमर जीवन की कला का चरम-उत्कर्ष प्रकट हुआ है क्योंकि इसमें उस आत्मा का प्रवचन है जो प्राणी मात्र में है, और समान रूप से सब में मूल निर्मल शुद्ध स्वरूप में विकसित होने की प्रतीक्षा में है।

भगवान् ऋषभदेव का प्रवचन एवं कृति रूप शाश्वत् ज्योति मार्ग

भ० ऋषभदेव ने प्रवचन ही किया, इतना मात्र नहीं हैं। उन्होंने अपने जीवन में शाश्वत जीवन तत्वों को चरितार्थ भी किया। वे स्वयं प्रभु पद, सिद्ध-पद पर आरूढ़ हुए और मूर्तिमान परिपूर्ण योग पुरुष हुए। उनका निर्मल सर्वज्ञ वीतरागी निर्ग्रन्थ स्वरूप तथा प्रतिमा योग की एक साक्षात् स्वयं प्रेरक शिक्षा है। उनके स्वरूप तथा प्रतिमा से प्रत्यक्षतः प्रशम रस और वीतरागता की झलकती शिक्षा वस्तुतः उस संपूर्ण ज्ञान से भी विराट् और उच्चतर है, जो आज हमें उपलब्ध है। उनका वीतराग स्वरूप कोटिशः साधकों तथा अध्यात्म-योगियों को दीप-स्तम्भ रहा है, और है क्योंकि आज भी वह उसी तरह अक्षय सुख के रहस्य को, ज्योति व अनन्त ज्ञान के मार्ग को ही दिखलाता है।

तप और तपश्चर्या

इस योग मार्ग की तप प्राचीनता की अलौकिकता को श्री मद्भागवतकार ने बड़े मनोहर रूप से प्रकट किया है। भ० ऋषभदेव जब विश्व व्यवस्था के हित में चिंतना में प्रवर्त हुए तो अपने ध्यान में दो अक्षर "त" और "प" अन्तर-लक्षित हुए। "तप" सूत्र का और अक्षर-विद्या तथा ध्यान का इस प्रकार सर्व प्रथम सूत्रपात हुआ। ऐसे इस तपोमय योग विद्या का प्रथम उत्स वर्णित हुआ है। तप और तपश्चर्या योगाभ्यास के ही वर्णन में जैन आगमों का विस्तार हुआ है। द्रष्टव्य है श्रीमद् भागवत (२/९/६)।

योग शासन और शास्ता

योग का शासन भ० हिरण्यगर्भ के अलावा किसी और का रहा हो—ऐसा कहीं भी न माना जाता है, न कहीं उल्लेख है। जैन इनको हिरण्यगर्भ, आदिनाथ, वृषभेश्वर प्रभु कहते हैं, तो अजैनों ने भी उन्हें ब्रह्मा प्रजापति विष्णु, आदिनाथ और हिरण्यगर्भ कहा है। जैन इनका विस्तृत चरित्र आख्यान भी प्रस्तुत करते हैं। मगर अजैनों ने यद्यपि अन्य—अन्य कपिल आदि ऋषियों के चरित्र वर्णन किये मगर इनके सम्बन्ध में नितान्त ही मौन धारण कर लिया है। हां पुराण व स्मृतियों में संकेत है तथा ऋग्वेद में भी हिरण्यगर्भ नाम से पूरा एक मण्डल भी है। अजैन सूत्रों में हिरण्यगर्भ प्रभु वृषभेश्वर के किस प्रकार संकेत विश्व भर में फैले हुए हैं उन पर हम पूर्व अध्याय "योग-शासन' प्रागैतिहासिक व वेद पूर्व" में किंचित् प्रकाश डाल चुके हैं।

सार्वभौम रूप से यह निर्विवाद है कि योग के प्राचीन प्रवचनकार भगवान् आदिनाथ हिरण्यगर्भ प्रभु रहे हैं। हिरण्यगर्भ नाम भगवान् आदि तीर्थंकर के हां अन्य अनेक नामों में से है। तीर्थंकर शब्द की व्युत्पत्ति से यह अर्थ है कि वह पूर्ण योगीपुरुष, जिसने संसार के प्राणियों के लिए संसार—सागर से पार होने व तिर जाने के लिए घाट बनाया, तीर्थ का निर्माण किया, एक मार्ग का उपदेश दिया। तीर्थंकर वह है जो स्वयं आत्म—यात्रा को पूर्ण करके यात्रा—मार्ग को प्रशस्त कर देता है, तथा मार्ग का पूर्ण ज्ञाता होकर मार्ग को प्रस्तुत करने वाला होता है। भगवान् वृषभेश्वर ने ही प्रथम योग मार्ग का 'मग्ग' के रुप में, योग मार्ग के रूप में प्रवचन किया। आ० श्री जिनसेन ने "आदि पुराण" में ऐसे प्रसंग का संक्षेप में वर्णन दिया हैं कि कव और कैसे इस "मग्ग" का सर्व प्रथम का प्रवर्तन भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ ने किया।

योग मार्ग के प्रवचन का प्रसंग कैसे हुआ

आदिकाल के उस योग पुरूष केवल ज्ञानी भगवान् वृषभेश्वर की धर्म सभा, इन्द्र द्वारा रचित समवसरण में उपस्थित होकर पुण्य श्लोका छः खण्ड के चक्रवर्ती महा सम्राट भरत महाराज ने स्तुति पूर्वक विनम्र प्रार्थना की थी कि भगवान हमें "मार्ग" दें। बह प्रश्न सार्वभौम कल्याण की कामना से किया गया था।

> **भगवान ! बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः ।**
> **मार्गो, मार्गफलंचापि कीदृक् तत्त्वविदांवर ।।**[1]

हे भगवन् ! तत्वों का विस्तार कैसा है ? मार्ग कैसा है ? और उसका फल भी कैसा है ? तत्वविदो में श्रेष्ठ ! यह सब प्रबोधित होने की इच्छा रखता हूँ। इस प्रकार जिज्ञासा करने पर भगवान् ने दिव्य वाणी से कहा। वर्णन है—

> **तत्प्रश्नावसिता वित्थं भगवानादि तीर्थकृत् ।**
> **तत्वं प्रपञ्चयामास गंभीरतया गिरा ।।**[2]

उस प्रश्न के समाप्त होने पर प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने अतिशय गंभीर वाणी में तत्वों को सविस्तार कहा—

योग का प्रथम प्रवचनः तत्वोपदेश

> **आयुष्मन् तत्वार्थान् वक्ष्यमाणा ननु क्रमात् ।**
> **जीवादीन् काल पर्यन्तान् सप्तप्रमेदान् सपर्ययान् ।।**[3]

---

1. (आदिपुराण २४ वां पर्व श्लोक ७९) 2. (आ० प्र० २४/८०)
3- (आ० प्र० २४/८५)

जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्वमिष्यते।
सम्यग्ज्ञानाङ्गमेतद्धि विद्धि सिद्ध्यङ्गमङ्गिनाम् ।। (आ० पु० २४/८६)

भगवान् ने कहा—हे आयुष्मन्] जिनका स्वरुप आगे अनुक्रम से कहा जायेगा ऐसे भेद, प्रभेद तथा पर्यायों से सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन षट् द्रव्यों को तू सुन। जीव आदि पदार्थों का यथार्थ स्वरुप ही तत्व कहलाता है, यह तत्व ही सम्यग्ज्ञान का अंग (कारण) है और यही जीवों की सिद्धि (मुक्ति) का अंग है।

भगवान् ने फिर भेद—प्रभेद सहित इन तत्वों का निरूपण किया यह आदिपुराण में बताया गया है। जीव का लक्षण इस प्रकार बताया गया—

चेतना लक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः।
ज्ञातादृष्टा च कर्ता च भोक्ता देह प्रमाणकः ।।[1]

गुणवान् कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रजास्वभावकः।
परिणन्तो संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।।[2]

चेतना,— जानने, देखने की शक्ति वाला जीव है, वह अनादि निधन है। न उत्पन्न हुआ, न कभी नष्ट होता, वह ज्ञाता हैं, ज्ञानोपयोग मय है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोग मय है, कर्ता है द्रव्य कर्म और भाव कर्मों का करने वाला है, भोक्ता ज्ञानादि गुण तथा शुभ अशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला है, देह प्रमाण है, गुणवान है, निर्मुक्त हो पर उर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, वह परिणमन शील है, प्रदीप वान संकोच व विस्तार रूप परिणमन करने वाले प्रदेशों वाला है।

भगवान् ने फिर पदार्थों के संग्रह का निरूपण किया तथा संक्षेप से कुछ और तत्वों का भी स्वरूप कहा।

पुरुषं पुरुषार्थं व मार्गं मार्गफलं तथा।
बंधं मोक्षं तयोर्हेतुं बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ।।[3]

उन्होंने आत्मा "धर्म" अर्थ काम और मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ,, मुनि तथा श्रावकों का मार्ग, स्वर्ग और मोक्ष रूप मार्ग का फल, बंध और बंध के कारण,, मोक्ष और मोक्ष के कारण,, कर्म—रूपी

---

1. (आ० पु० २४ वां पर्व—९२) 2. (आ० पु० २४ वां पर्व—९३)

3. (आ० पु० २४/१५०)

बंधन से बंधे हुऐ संसारी जीव और कर्म—वंधन से रहित मुक्त जीव आदि विषयों का निरूपरण किया। इस प्रकार भ. वृषभ ने परमेश्वर होने के धर्म का प्रवचन किया। यह धर्मतत्व श्रद्धान से प्राप्त होता है और उन सब के लिए हैं जो विश्वास करेंगे। यह धर्म अनादि सद्धर्म रूप है। यह आमन्त्रित करता है अपने परमेश्वरत्व को प्रकट करने के लिए।

ऐसे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभेश्वर—हिरण्यगर्भ द्वारा "मार्ग" के रूप में जिसे प्राचीन काल में "मग्ग" कहा जाता रहा—सर्व प्रथम योग का उपदेश भरत चक्रवर्ती महराजा को निमित्त करके सर्व संसार के प्राणी मात्र के संबोधनार्थं इस तरह दिया गया। यही मूल योगशासन रहा है। इसी के योग धर्म मय उपदेश को आ० उमा स्वामी ने "सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्ग:"—इस प्रकार सूत्र बद्ध किया। यही आत्मा-प्रकाश के दर्शन का,, ज्ञान की दृष्टि का तथा अभय का नित्य मार्ग है, जिसे तीर्थंकंर बार—बार उद्घटित करते हैं, प्रवचन करते हैं। इस ही मार्ग को भगवत् कुंद कुंद ने समय सार, प्रवचन सार, नियम सार, अष्टपाहुड़, रयणसार से तथा आ. गुण भद्र ने आत्मानुशासन में निर्बंधित किया है और इसे ही भिन्न–२ दर्शनकारों ने अपनी–२ दृष्टि के अनुसार प्रतिपादित किया और इन दाशनिकों में प्रमुख कपिल हैं, जिनका दर्शन सांख्य-दर्शन के नाम से विदित है। भ० हिरण्यगर्भ की योग शासन परम्परा में ही म० पतंजलि ने योग का अनुशासन योग दर्शन में सूत्रबद्ध किया, जिसमें दर्शन दृष्टि सांख्य की परिलक्षित है।

जब भ० ऋषभदेव गर्भ में थे तब छः माह तक स्वर्ण-वर्षा अयोध्या में निरंनर होती रही —अत: आपका नाम ऋषभदेव के अतिरिक्त हिरण्यगर्भ भी हुआ था।

योग मार्ग के संस्थापक हिरण्यगर्भ ऋषभदेव का संक्षिप्त जीवन चरित्र

भ० ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं। जब ऐन्द्रिय सुख भोग वाली, भाव–अभाव रहित, पशु स्तर की भोग–भूमि की व्यवस्था नष्ट होने के निकट थी, और कर्म–भूमि की रचना की आवश्यकता मानव समाज को हो रही थी– तव उस संधिकाल में चौदहंवे मनु कुलकर अयोध्या के महाराज नाभि के घर उनकी महारानी महादेवी मरुदेवी से ऋषभ का जन्म हुआ। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभाशाली थे। वाल्यकाल में इन्द्र से इक्षु दण्ड को दाहिने हाथ में लेने पर उनका नाम इक्ष्वाकु हुआ और इनका वंश आगे चलकर इक्ष्वाकु तथा कश्यप कहा गया।

तब बिना बोये धान से लोगों की उदर पूर्ति होती थी। पर तब ऐसे धान का भी अभाव होने लगा था। मानव जन संख्या बढ़ने लग गई थी। अन्न के अभाव में लोग भूख से क्षुभित होने लगे। लोग सब नाभि महाराजा के पास समस्या-समाधान की पुकार लेकर पहुंचे। नाभि राजा शरणागत प्रजा को राजकुमार श्री वृषभदेव के पास ले गये। लोगों ने अपनी करुण कथा उनके

समक्ष प्रकट की। प्रजा जनों की विह्वल दशा देखकर उनका हृदय दयार्द्र हो गया। ध्यान मग्न हो कर अपने अवधि ज्ञान में कल्प वृक्षों का अवसान देखा और विदेह क्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण पाया और इस भारत क्षेत्र में तपों मय, कर्म प्रधान व्यवस्था की योजना की। उन्होंने अल्पारंभी असि (सैनिक कार्य) मसि (लेखनकारी) कृषि (खेती व पशु पालन विद्या), कला कौशल (संगीत-नृत्यगान आदि) शिल्प (विविध वस्तुओं का निर्माण) और वाणिज्य (व्यापार)—इन छः कार्यों की शिक्षण व्यवस्था की। अग्नि का प्रयोग सिखाया, और अग्नि पाक धान का उपयोग सिखाया। वायु व वातावरण शुद्धि के लिए अहिंसक यज्ञों का अग्नि द्वारा आरम्भ कराया। इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, ग्राम आदि की रचना कराई। उनके द्वारा प्रशिक्षित् छः विद्याओं से लोगों की आजीविका शिरु हुई। कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था को लेकर कर्म भूमि प्रारम्भ हो गई। तब उस युग के आरंभ में सारी लौकिक व्यवस्थाएं श्री वृषभदेव ने अपने बुद्धिबल तथा विलक्षण प्रतिभा से की। इसीलिये ये ही सभ्यता के आदि निर्माता आदि पुरुष, ब्रह्मा, विधाता, वृहस्पति ज्ञानी आदि संज्ञाओं द्वारा व्यवहुत हुये। "कृषि और ऋषि" रूप संस्कृति के ये ही मूलाधार हुए हैं।

उन्होंने कच्छ, महाकच्छ, राजाओं की बहनें यशस्वती (सुमंगला) और सुनन्दा के साथ विवाह कर ग्रहस्थाश्रम का निर्वाह किया। पिता नाभिराज के आग्रह पर राज्य भार स्वीकृत किया और प्रजापति हुए। आपके आदर्श राज्य में प्रजा सुखी एवं संतुष्ट रही। ऋषभदेव ने युगलिया परंपरा को समाप्त कर, सर्वप्रथम पवित्र संयममय विवाह प्रथा को स्वयं ने अपना विवाह करके चलाया। शक्र ने नवीन बिधि से विवाह को सम्पन्न कराया। इस प्रकार मानव समाज को व्यवस्थित करने वाले पवित्र विवाह विधान परम्परा का सूत्र पात आप से ही हुआ।

यशस्वती के गर्भ से भरत आदि १०० पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनन्दा के गर्भ से बाहुबली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री हुई। महाराजा प्रजापति वृषभदेव ने अपने पुत्र पुत्रियों को अनेक जन-कल्याणकारी विद्याएं पढ़ाई और ब्राह्मी लिपि का आविर्भाव करके लिपि-लेखन का प्रचलन किया और समस्त प्रजा में पठन पाठन की व्यवस्था का प्रारम्भ किया। उन्होंने शासन व्यवस्था, व धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था तथा कला विज्ञान का विकास किया। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों कन्याओं ने प्रभु ऋषभदेव से प्रवज्या ग्रहण की—और ये बाल ब्रह्मचारिणियां रहीं। ब्राह्मी ने भगवान ऋषभदेव के साथ ही प्रव्रज्या ली।

ऋषभदेव को जब तीर्थंकर नाम-कर्म का भोग हुआ और समवशरण धर्म-सभा का ऐश्वर्य उत्पन्न हुआ, उनकी मातु श्री मरूदेवी ने उस ऐश्वर्य मात्र के दर्शन से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति की और वे प्रथम प्रसिद्ध महिला बनी। उनके पुत्र बाहूबलि इस युग के प्रथम केवलि और सिद्ध पुरुष हुए। उन्होंने भ. ऋषभदेव से पूर्व सिद्ध पद सिद्धालय को प्राप्त किया।

भ. ऋषभदेव स्वयं बोध थे। जब नृत्यांगना नीलांजना का उनकी सभा में नृत्य करते अचानक निधन हुआ तों नृत्य आनन्द समां में मग्न ऋषभदेव उस घटना से झकजोर गये-वृत्ति अन्तर्मुख हो गई। इस नश्वरता के आगे क्या सत्य है? ~~ऐसे~~ इस उन्होंने अपने जीवन के अगले चरण पर अग्रसर होने का निश्चय किया। बड़े पुत्र भरत को राज्य तथा अन्य पुत्रों को यथायोग्य प्रदेशों का विभाजन करने के उपरांत जन कल्याण के परम करुणा भाव से आर्द्रित् उनका महानिष्क्रमण हुआ।

वे परम हंस गगन परिधान, शरीर मात्र परिग्रह अकिंचन वित्त अपरिग्रही दिगम्बर निर्ग्रन्थ हो गये। चार हजार अन्य राजा भी उनके साथ प्रवृजित हुये पर वे राजा गण क्षुधा तृषा आदि के परिग्रह न सह सकने के कारण प्रवृज्या और आत्म-साधना में स्थिर न रह सके। महामुनि वृषभदेव का प्रथम कायोत्सर्य ध्यान-योग छः माह का था जिसमें उन्होंने त्रिगुप्ति पूर्वक प्रथम तो धर्म ध्यान तदन्तर शुक्ल ध्यान का साधन किया। छः माह समाप्त होने पर वे आहार के लिये निकले। पर लोगों में मुनि आहार -विधि का ज्ञान न होने के कारण आप अपनी विशेष लब्धि प्रभाव से छः माह निराहार विहार करते रहे।

इस विहार में अयोध्या से उत्तर की ओर चलते चलते हस्तिनापुर जा पहुंचे। वहां तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे और उनके छोटे भाई श्रेयांस थे। इन श्रेंयास के जीव का श्री वृषभदेव के जीव से पूर्वभव में सम्बन्ध रहा था। वज्रजंघ की पर्याय में यह उनकी श्रीमति नाम की पत्नी थे। और उस भव में इन दोनों ने एक मुनिराज के लिये आहार दान किया था। राजा श्रेयांस को जाति-स्मरण हुआ, और उन्हें सब आहार दान की घटना तथा विधि स्मृत हो गई। इसलिये उन्होंने इस तपस्वी महामुनि ऋषभ को देख कर आहार के लिए विधि पूर्वक पड़गाह लिया और इक्षुरस का आहार दिया। यह आहार वैसाख सुदी तृतीया को हुआ और यह तिथि भी अतः पवित्र अक्षय-तृतीया नाम से प्रसिद्ध हुई चली आ रही है।

राजा सोमप्रभ, श्रेयांस तथा उनकी रानियों को तथा लोगों को इस आहार दान से बड़ा संस्कार, प्रभाव, तथा महात्म्य मिला। पंच आश्चर्य हुये। इसके बाद भगवान् वन व प्रकृति की गोद मे कैलास गिरि के वातावरण में उन्मुक्त स्वच्छ वायुमण्डल में आत्म साधना करते रहे। एक हजार वर्ष के तपश्चरण रूप तप-कल्याण को सम्पन्न करने पर उन्हें घातिया कर्मों की निर्जरा कर लेने पर दिव्य केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और वे अर्हन्त और सर्वज्ञ हो गये। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से अब वे साधक मुनि वृषभदेव से भगवान् वृषभदेव हो गये। समवशरण मय धर्म सभा की रचना इन्द्र द्वारा हुई। सब के समान स्थान तथा समभाव में वहां स्थिति के कारण इस धर्म सभा का नाम समवशरण सार्थक हुआ।

भगवान् की वह परमानन्द मय केवल ज्ञान की धारा शिव के मस्तक के नीचे बहने वाली पवित्र गंगा के समान सब के लिये समान रूप से प्रवाहित होने लगी। आत्मा का जो परमानन्द इस प्रभु ने अपने में समग्र चैतन्य से एकाकार होकर प्राप्त किया था, वही दिव्य ध्वनि में अर्थ रूप से प्रवाहित हुआ, और कोटि कोटि भक्त साधकों के हृदयों को अपने रस और ज्ञान से आलावित करने लगा। और युग पर युग बीतने के बाद भी आज भी साधकों को अंतरीक्ष में वही ध्वनि ध्वनित होती श्रुति गोचर होती है। भगवान् ऋषभदेव की जीवन घटनाएं महत्वपूर्ण हैं पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है उनकी वह अध्यात्मिक साधना जिससे वे परम सत्य को उपलब्ध हुए। उनका तत्वोपदेश युगान्तकारी है, और उनका योग शासन भी, जो कि विश्व में मानव के लिये आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिये सर्व प्रथम आदि रूप से प्रवर्तित हुआ।

उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती महा सम्राट हुये। उन्होंने चक्ररत्न के द्वारा षट् खण्ड पृथ्वी के ऐश्वर्य को भोगा और राजनीति का विस्तार कर आश्रित राजाओं को राज्य-शासन की पद्धति दिखाई। उन्होंने समाज-व्यवस्था को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र—में तीन वर्ण आजीविका-गुण भेद से निर्धारित हुए और ब्राह्मण व्रती के रूप में स्थापित हुए। सब बिना ऊंच-नीच के भेद-भाव के अपनी अपनी वृत्ति का निर्वाह करते थे और कोई दुःखी न था। इतना ऐश्वर्य भोग कर भी उन्हें न ऐश्वर्य की आसक्ति थी, न सत्ता का मोह ही था। वे परम गुरु भगवान् ऋषभदेव की धर्म सभा में धर्म-लाभ लेने जाते रहते थे, और अपनी धर्म-जिज्ञासाओं का समाधान करते थे।

भगवान् वृषभदेव के प्रवचन दिव्य ध्वनि में होते थे, जिसे प्राणी मात्र अपनी अपनी भाषा में अवधारित कर लेते थे। संसार के भूले-भटके प्राणियों को आत्म-हित और आत्म-यज्ञ साधना का उपदेश मिला। इस प्रकार इस युग के वे प्रथम (आदि) धर्म प्रवक्ता योग शासन के शास्ता आदि योग पुरुष और आदितीर्थंकर हुए। उनका समस्त आर्यखण्ड में विहार हुआ। तथा इसदेश के मुकुट तुल्य पवित्र कैलास पर्वत पर से उन्होंने निर्वाण को अशरीरी अव्याबाध आनन्द अवस्था को प्राप्त किया।

भरत चक्रवर्ती षट्-खण्ड पृथ्वी के अधिपति प्रजापति थे, फिर भी राज्य में आसक्ति नहीं थी और मोक्ष-पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए सब राज्य सत्ताओं का त्याग करके प्रव्रज्या धारण की और अन्तर्मुहूर्त में ही उन्होंने केवल ज्ञान को प्राप्त किया और केवल ज्ञानी भरत महामुनि अरिहंत हो गये। उन्होंने ने भी अन्य देशों में बिहार कर समस्त जीवों को उसी मुक्ति-मार्ग का उपदेश दिया और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया। "अन्त्य ब्रह्मा भरतो" (आ. नेमिचन्द्र) प्रतिष्ठा तिलक १८। भरत अन्तिम प्रजापति ब्रह्मा हुये।

भरत के भाई बाहु-बलि ने भी भरत के चक्रवर्तीत्व को न स्वीकार करके उन्हें दृष्टि व जल

व मल्ल युद्ध में परास्त करके भी राज्य वैभव की नश्वरता को जान कर निर्ममत्व होकर प्रवृज्या लेकर दिगम्बरी दीक्षा ले ली। उन्होंने भ. वृषभदेव और भरत से भी पूर्व अपनी लम्वी दुर्वर तप तथा ध्यान साधना से मुक्ति को प्राप्त किया। वे इस युग के प्रथम मुक्त पुरुष की प्रतिष्टा से प्रतिष्ठित हुये। लोक में निर्ग्रन्थ दिगम्वर श्रमण—मुनिजनों का, उनकी पवित्र वीतराग आत्म—साधन तपोमय जीवन के कारण बहुमान हुआ और सम्राट और श्रेष्ठ जन उनके दर्शन तथा परिचर्या में अपना अहो—भाग्य मानते थे। यद्यपि मानव जीवन की समृद्धि में १४ कुलकरों का भी प्रारंभिक लौकिक व्यवस्था स्थापित करने में बहुत योग दान रहा मगर भगवान ऋषभ ने न केवल लौकिक निर्माण के ही अपितु आध्यात्मिक निर्वाण के भी उत्कृष्ट आयाम प्रस्तुत किये। अतः उनको मानव जाति सम्मान ही नहीं, अपनी अनन्य श्रद्धा अर्पित करती है और करती रहेगी।

युग के आरम्भ में प्रागैतिहासिक काल के भगवान वृषभेदव और सम्राठ भरत इतने अधिक पुण्य तथा प्रभाव शींल भूमिका वाले पुरूष हुये हैं कि उनका जैन ग्रन्थों में तो उल्लेख है ही उसके सिवाय वेद के मंत्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषेदों आदि में भी संकेतों के रूप में उल्लेख मिलते हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। "भागवत्" में भी मरू देवी नाभिराज वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण है। यद्यपि जैन वर्णन से ये अंशो तथा विगतो में भिन्न भी हैं। 'भागवत्' आदि चाहे बाद में ही रचे गये हों—पर यह तो सत्य ही है कि इनमें जिन प्राग् ऐतिहासिक वर्णनों का समावेश है–वह इतिहास को परम्परा से आई इतिहास-स्मृतियों को संक्षिप्त रूप से जीवित रखने के अमूल्य प्रयास हैं। वे प्राचीन सांस्कृतिक घटनाओं तथा पुरुषों की झांकी देते है। इसलिए पुराण इनका सार्थक नाम है। इनमें खखोल भूगोल आदि के वर्णन आज के वैज्ञानिक तथ्यों से मेल न खाने पर भी अपने अद्भूत वर्णन से अद्‌भुत रस तथा विस्मय से हमें भर देते है और इनसे स्पष्ट है कि पुरातन काल से ही वे विषय भी मानव की रुची के रहे हैं। इस देश का नाम जैसा कि इनमें वर्णित है, महाराजा भरत के नाम से हुआ और यह तो अद्यावधि ऐसा ही चला ही रहा है।

भगवान ऋषभदेव की दिगम्बरीप्रव्रज्या श्रीमद् भागवत् में उल्लेखः—

भ० वृषभदेव के महा निष्क्रमण तथा दिगम्बर श्रमण दशा ग्रहण की घटना को श्रीमद् भागव त् (स्कन्ध प्र० अ० ५—७९) में अभिराम शब्दों से शब्दायित किया है। भागवत कार ने भ ऋषभ को आठवाँ अवतार माना है। जैन इन्हें चौदह कुलकरो के बाद मानते हैं। धर्म व योग शास्ता के रूप में ये ही सर्व प्रथम व अग्रज पुरूष माने जाते हैं।

"एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थ महानुभावः परम सुहृद भगवानृषभोदेव उपशम शीलानामुपरतकर्मणाम् महामुनीनाँ भक्ति ज्ञान वैराग्य लक्षणम् परम

हंसस्य धर्ममुपाशिक्ष्यमाणः स्वतनयशतज्येष्ठ परम भागवन्त भगवज्जनपरायण भरतं धरणीपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वंरितशरीर मात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगन परिधानः प्रकीर्णकवेश आत्मन्यारोपिता हवनीयो ब्रह्मावर्त्तात् प्रवव्राज।"

अर्थात्—महायशस्वी और सबसे सुहृद ऋषभ भगवान् ने यद्यपि उनके पुत्र सब भांति से चतुर थे, परन्तु मनुष्यों को उपदेश देने के हेतु प्रशान्त और कर्मबंधन से रहित परम हंस (दिगम्बर) आश्रम धर्म की शिक्षा देने के हेतु अपने सौ पुत्रों में ज्येष्ठ परम भागवत हरि भक्तों के सेवक भरत को पृथ्वी पालन के हेतु राज्याभिषेक कर तत्काल ही संसार को छोड़ दिया और आत्मा में होमाग्नि का आरोप कर, केश खोलकर, उन्मत्त की भांति गगनपरिधान यानी नग्न (दिगम्बर) होकर केवल शरीर मात्र परिग्रह (संग) लेकर ब्रहमावर्त से प्रव्रज्या (सन्यास) धारण कर निष्क्रमण कर गये।

श्रीमद् भागवत कार का—जो न दिगम्बर हैं, न श्वेताम्बर हैं योग के आदि-प्रवक्ता तथा जैन धर्म के आदि संस्थापक भ. वृषभेश्वर का दिगम्बर नग्म स्वरूप में प्रव्रजित होकर तपोयोग के लिए महानिष्क्रमण का यह उल्लेख ऋग्वेद के वातरशना निग्रन्थ दिगम्बर मुनियों के वर्णन के अतिरिक्त, जैन धर्म के दिगम्बर आम्नाय की प्राचीन तम आदि-स्वरूप की यानी प्राचीनतम प्राचीनता के प्रमाण की एक अति बहुमूल्य स्पष्ट व निष्पक्ष और अबाधित (Third party) की साक्षी है। श्वेताश्वतरोप निषद में "यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः" में "गगनपरिधान": रूप नग्न दिगम्बर अवस्था का ही बखान है और दिगम्बर आम्नाय की अति प्राचीनता वेदों के बातरशना मुनियः आदि उल्लेखों के अतिरिक्त भी सूचित होती है। दिगम्बर परम्परा भ० ऋषभदेव व उनसे पूर्व नाभि महाराज तथा १४ कुलकरों के एक अति दीर्घ प्राचीन काल तक से ही रही चली आई सिद्ध होती है। इसकी प्राचीनता इनकी मुख्यता से है—न कि किसी ग्रन्थ, मन्दिर, मूर्ति या तीर्थ स्थान के अर्वाचीन परिग्रहों। से ये सब तो बाद की वस्तुएं हैं।

पर हम तो यह भी कहते हैं वस्तुतः इस विज्ञान-मार्ग, धर्म या आम्नाय की मात्र प्राचीनता के आधारों पर ही प्रमाणिकता मानी जाए, यह दि० जैनों को मान्य भी नहीं रहा है। वस्तु की विशेषता ही वस्तु की प्रमाणिकता है, यह तर्क सम्मत भी है। इसकी प्राचीनता तो मात्र उस विषय में अग्रणी होने, सर्व प्रथम पुरस्कर्ता होने को ही निर्णीत करती है। तथा वह इतिहास और प्रागैतिहास का एक अंग है। इस दृष्टि से यह महत्वपूर्ण भी है।

भ० हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर (ऋषभनाथ) के योग धर्म की प्रमाणिकता न केवल प्राचीनतम होने पर आधारित है, यह तो आत्मा की विशुद्धि, पवित्रता और निर्मलता का सरल और सहज

मार्ग है और यह मार्ग तीर्थंकरों ने अनादि काल से पुरस्कृत किया है। यह जीवों की विशुद्धि तथा चिर शान्ति और आनन्द का मार्ग होने से सनातन सद् धर्म रूप रहा है। परम निर्ग्रन्थ वीतरांग आत्मा का स्वरूप अतः सर्वत्र वंदनीय सदा से रहता आया है। विश्व के निरपेक्ष रूप से सब ही प्राणी जीवात्माओं द्वारा आचरणीय चारित्र विशुद्धि रूप धर्म का सर्वोपरि निरूपण करने से यह तो न केवल प्राचीनतम, बल्कि विश्व धर्मरूप भी है। सम्यक् चारित्र की प्रासंगिकता त्रिकाल है, और रहेंगी अतः यह शाश्वत् (Eternal) धर्म मार्ग है।

प्रकांड ज्योतिषाचार्य बराहमिहिर के प्रतिष्ठाकाण्ड में भी "नग्ना जिनानां विदुः" ऐसा इस दिगम्बर जैनत्व के लिए उल्लेख है। वेद में जहां वातरशनाः मुनयः कह कर दिगम्बर मत वर्णन किया तो है भागवत में "समस्त मनसो नग्ताः" कह कर इसका वर्णन किया है। जर्नल फर्लांग का मत है कि जैन धर्म इतना प्राचीन है कि इसका आदिमूल स्रोत खोज निकालना मुश्किल है।

भगवान के प्रसिद्ध नामों की सार्थकता:—

आदि पुराण (भ० ज्ञानपीठ) की प्रस्तावना में भगवान वृषभदेव के प्रसिद्ध नामों का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

लोक में ब्रहमा नाम से प्रसिद्ध जो देव हैं—वह जैन परम्परानुसार भगवान वृषभदेव को छोड़कर नहीं है। भगवान वृषभदेव के अन्य अनेक नामों से निम्न लिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, सृष्टा, स्वयंभू।

इनकी यथार्थ संगति भी भगवान वृषभदेव के साथ ही बैठती है, जैसे—

हिरण्यगर्भ–जब भगवान माता मरुदेवी के गर्भ से आये थे उसके छः माह पहले से अयोध्या नगरी में हिरण्य तथा रत्नों की वर्षा होने लगी थी। इसलिये हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है।

हिरण्यगर्भ माह स्त्वां यतो वृष्टिहिरण्यमयी।
गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत्तदाद्भुता॥[1]

प्रजापति—कल्प वृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद असि मसि कृषि आदि छः कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी। इसलिए आप प्रजापति कहलाते थे।

---

1. (आ० पु० २४/६९)

लोकेश—समस्त लोक के स्वामी थे इसलिए लोकेश कहलाते थे ।

नाभिज—नाभिराज नाम के चौदहवें मनु से उत्पन्न हुए थे इसलिए नाभिज कहलाते थे ।

चतुरानन—समवशरण में चारों ओर से आपका दर्शन होता था इसलिए चतुरानन व चतुर्मुख कहलाते थे ।

सृष्टा—भोगभूमि नष्ट होने के बाद, देश नगर आदि के विभाग, राजा प्रजा गुरू शिष्य आदि का व्यवहार विवाह प्रथा आदि के आप आद्य प्रवर्तक थे—इसलिए सृष्टा कहे जाते थे ।

स्वयंभू—दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से अपने आत्मा के गुणों का विकास कर स्वयं ही आप तीर्थंकर हुए थे इसलिए स्वयंभू कहलाते थे ।

आ० श्री जिनसेन ने भगवान के श्रेयांस कुमार व राजा सोमप्रभ द्वारा आहार के उपरांत भगवान ने जिस ध्यान वीर्य का अलौकिक प्रकाश विस्तीर्ण किया, उसका भी वर्णन किया है ।

जिनकल्प तपोयोग का भगवान द्वारा संधारण:—

भगवानथ संजात बल वीर्यो महाधृतिः ।
भेजे परं तपोयोगं योगविज्जिनकल्पितम् ।।
मोहांधतमसध्वं सकल्पा सन्मार्गदर्शिनी ।
दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोध दीपिका ।।

आहारग्रहण करने के अनन्तर उन्होंने अपने बल बीर्य और महाधृति (निश्चल स्थिरता) की ऐसी उत्पत्ति की कि योगवित् जिनकल्प (निरामय) तपोयोग को उन्होने धारण किया । उनके मन मन्दिर में मोहांधकार को नष्ट करने वाला समीचीन मार्ग दिखलाने वाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञान रूपी दीपक ही प्रकाशमान हो गया ।

भगवान की महा भागवद प्रकाश सत्ता:--

योगानुष्ठान रूप तप कल्याणक की काष्ठा पर शुक्ल ध्यानाग्नि के चिदग्नि रूप प्रज्वलित होने पर भगवान ऋषभ को केवल ज्ञान हो गया और इस महाज्ञान के प्रकाश होते ही महामुनी ऋषभदेव भगवान ऋषभदेव हो गये । वे मानव से महाभागवत परम-आत्म प्रकाश सत्ता में परिणत हो गये । वे समग्र चैतन्य भाव रूप महामानव होकर आत्म प्राप्त हो गए । ज्ञानकल्याण भगवान ऋषभदेव का

---

1. (आदि पुराण २४/१५४/१५५)

सम्पन्न हुआ। वे भगवद् सत्ता की परिपूर्ण विकास की सम्भावना रूप भव्यता को लिए हुए जन्मे थे। तीन ज्ञान के धारी भगवान ऋषभदेव ने पंच कल्याणकों को सम्पन्न करके अनादि की भव यात्रा का अवसान किया।

गर्भ के समय हिरण्य वर्षा हुई। जन्म के समय देवों द्वारा अभिषेक हुआ। तपोमय जीवन की भावना के साथ ही ऋद्धिधारी लोकान्तिक देवों द्वारा प्रस्तुति को प्राप्त हुए। ज्ञान कल्याणक में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। तब प्रभु को अक्षय आनन्द रूप नित्य जीवन मुक्ति का धारण ही शेष था। मुक्ति-कल्याणक भी सम्पन्न करने के पूर्व उन्होंने तप और ज्ञान द्वारा जिस परमानन्द स्थितियों को पाया, उस समग्र आनन्द को भी जन-जन में अपने दिव्य प्रवचन द्वारा बांट दिया।

उन महा करुणामय प्रभु में अमित अक्षय जीवन का महा स्रोत ही प्रस्फुटित हो गया था। उन्होंने इस संसार की कंटकाकीर्ण पगडंडी पर अपने करूणामय चरण-चिन्ह ऐसे छोड़े हैं, जो पूर्ण जीवन के,—परिपूर्ण योग के स्वर्ण कलशों तक, चरमोत्कर्ष तक जाते हैं–जिनकी खोज में साधारण मानव भी महामानव परिणत होता है। तब से उन कलशों की दिव्य आभा–केवल किरणों के रूप में बराबर मानव को उस मार्ग का आमन्त्रण दे रही है। काश ! भव-ज्वाला तप्त मानव उधर उन्मुख होकर उस आमन्त्रण को स्वीकार करे ! और उनके द्वारा प्रवर्तित योग शासन के आत्मानु शासन रूप को अंगीकार करें ! इस शासन में स्वयं आत्मा ही अपना शासक है और शासक और शासित को कोई भेद भी नहीं होता। स्वयं ही नियामक, स्वयं ही नियमित और स्वयं ही नीति है। यही इस योग शासन हैरण्यगर्भ अर्हंत् योग शासन की विशिष्टता है।

भगवान के प्रथम गणधर

भ. ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। इन्हें श्वेतम्बर जैन तो सम्राट भरत के पुत्र तथा दिगम्बर जैन भ. ऋषभदेव के पुत्र बताते हैं। भ. ऋषभदेव के उत्तराधिकारी शीर्षक से विवेचन करते हुए देवेन्द्र मुनि ने इस प्रकार कहा है "हां जो प्रथम गणधर ऋषभसेन को ही भगवान ने आत्म विद्या का परिज्ञान कराया। वैदिक परम्परा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आत्म विद्या क्षत्रियों के आधीन रही है। पुराणों की दृष्टि से भी क्षत्रियों के पूर्वज भ. ऋषभदेव ही हैं। ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्द्ध धनुषंग पाद १४/६० (वे मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक अवतार हैं), वायु पुराण पूर्वार्ध ३३/५० (जैन साहित्य में ऋषभसेन को ज्येष्ठ गणधर कहा है। सम्भव है वैदिक साहित्य में उसे ही मानस पुत्र और ज्येष्ठ पुत्र अथर्वन कहा है। उन्हें ही भगवान ने समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्म विद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी (गणधर) बनाया (मुण्डकोषनिषद् १/१)

भगवान की उत्तारवादी परम्परा

भगवान् ऋषभदेव ने मानव के अन्तर्निहित तत्व आत्मा के सम्पूर्ण विकास रूप केवल ज्ञान

भास्कर के उदय की शिक्षा दी। उनकी शिक्षा प्रत्येक मानव को उत् उत्तर और उतम विकास की प्राप्त करा कर परमेश्वर स्वरूप में उत्थान करने वाली है, अतः यह परम्परा उत्तारवादी भी कही जाती है। वैदिक आम्नाय जो बाद में प्रचलित हुई वह अवतार वादी है। अवतार वादी परम्परा में ईश्वर स्वयं मानव रूप में जन्म लेकर लीला करता है, पर मानव स्वयं ईश्वर नहीं बन सकता, वह ईश्वर में लीन ही होता है। उत्तारवादी हैरण्यगर्भीय परम्परा में मानव आप स्वयं अपना ईश्वरत्व प्राप्त करता है। निगोद से निकल कर प्राणी स्वयं आप अपना ज्ञान विकास करता हुआ मानव योनि की प्राप्ति करता है और तब अपनी ज्ञान परिशुद्धि की चरमता तथा कर्म-कालिमा की निर्जरा को प्राप्त करता है और स्वयं परमेश्वर परमात्मा हो जाता है और लोक शिखर पर सिद्धालय में सिद्ध-पद पर आरूढ़ होकर अक्षय अव्याबाध आनन्द रूप विराजता है और फिर कभी इस लोक में भव भ्रमण के लिए प्रत्यावर्तित नहीं होता।

भगवान के परम्परा की विशेषताएं

तप और ध्यान इस परम्परा की दो विशेषताएं है। तप व ध्यान से ही आत्मा को चिद् तत्व प्रसिद्ध होता है। यही सर्व प्रथम "विशुद्धि-मग्ग" व "तपोयोग" के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसमें ही योग शासन का शिक्षण सार है। स्वयं ऋषभदेव ने अर्हंत् योग्यता के चरम बिन्दु रूप परम पवित्रता, शुद्धि और निर्मलता को—रागद्वेषादि रूप अरियों का हनन करके-तपोयोग द्वारा आत्म साधना को सम्पूर्ण करके स्वयं आत्म-मार्ग पर चल कर प्रथम योग शास्ता हुए, आदि गुरु हुए—प्रथम धर्म प्रवर्तक और धर्म कथाकार,-योग प्रवक्ता हुए। स्वयं के शासन रूप आत्मशासन से योग मार्ग (मग्ग) को प्रशस्त किया। पर पदार्थ के शासन की निवृत्ति करके आत्मा का आत्मा पर शासन रूप स्वतन्त्र्य स्थापना करना, यही योग शासन है। इसमें सर्व आत्माओं का हित, अणुत्तर कल्याण होने से यह सर्वोदय तीर्थ भी आ. समन्त भद्र द्वारा कहा गया है।

चोबीसवें भगवान् श्री वर्धमान महावीर के गणधर महर्षि गौतम गणधर स्वामी ने भगवान् वृषभेश्वर द्वारा प्ररूपित चतुर्भेदात्मक ध्यान तत्व के निरूपण को कहा वह महाराजा श्रेणिक तथा उनके निमित्त से समस्त ही ऋषि तथा साधक समाज के लिये कहा गया था और उसे ही आदि पुराण महापुराण में आ० जिनसेन ने संग्रथित किया है।

भगवान् द्वारा योग निरूपण

सर्वाङ्गीणं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते।
तद्वत्कर्मविषं कृतस्नं ध्यान शक्त्यापसार्यंते ।।[1]

---

1. आदि पुराण २१ पर्व २१४

जिस प्रकार मंत्र की शक्ति से समस्त देह में व्याप्त हुआ विष खींच लिया जाता है उसी प्रकार ध्यान की शक्ति से समस्त कर्म-रूपी विष दूर हटा दिया जाता है।

ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकराः मता।
ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ।।[1]

एक ध्यान के ही बाकी के तपोयोग (ग्यारह तप भेद) परिकर, सहायक माने जाते है। अतः मोक्षाभिलाषी जनों को सदा निरन्तर ध्यान का ही अभ्यास करणीय है।

इति ध्यान विधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिपः।
तदा विबुद्धमस्यात्मोऽपायान्मनोम्बुजम् ।।[2]

ध्यान की विधि को सुनकर मगधेश्वर राजा श्रेणिक आत्मतृप्त हुये। उस समय अज्ञान अंधकार के नष्ट हो जाने से उनका मन कमल प्रफुल्लित हो उठा था।

ततस्तमृषयो भक्त्या गौतमं कृत वन्दनाः।
पप्रच्छुरिति योगीन्द्रं योग द्वैधानि कानिचित् ।।[3]

तदनन्तर भक्ति पूर्वक वंदना करने वाले ऋषियों ने योगीराज गौतम गणधर से और भी ध्यान-विधाएं और भेद पूछे।

इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवान् स्माह गौतमः।
यत्स्पृष्टं योगतत्वं वः कथयिष्यामि तत्स्फुटम् ।।[4]

उन ऋषियों के वचन सुन कर भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे कि आप लोगों ने जो योग शास्त्र का तत्व या रहस्य पूछा है, मैं उसे स्पष्ट रूप से कहूंगा।

षडंग भेद और तपोयोग

षड्भेद योगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः।
योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ।।[5]

---

[1] आ. पु. २१/२१५
[2] आदि. पु. २१/२१६
[3] आ. पु. २१/२१७
[4] आ. पु २१/२२२
[5] आ. पु. २१/२२३

का धारणा किम्ध्यानं किं ध्येयं कीदृशीस्मृतिः ।
किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः ।।[1]

छः प्रकार के भेद से योग की निरूपण करने वाले योगवादी से ये पूछा जाना चाहिए—(१) योग क्या है (२) समाधान क्या है (३) प्राणायाम कैसा है (४) धारणा क्या है (५) आध्यान (चिन्तवन) क्या है (६) ध्येय क्या है (७) स्मृति कैसी है (८) ध्यान का फल क्या है (९) ध्यान के बीज क्या हैं (१०) प्रत्याहार कैसा है ?

बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक गौतम गणधर स्वामी ने फिर उस ऋषि सभा में इसे स्वयं ही निरूपण किया —

मन वचन काया के क्रिया रूप योग के शुभ और अशुभ दो भेद

कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः ।
स शुभाशुभ भेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ।।[2]

योग विदों के मत में काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं । वह योग शुभ अशुभ के भेद से दो भेदों को प्राप्त है ।

समाधि लक्षण

यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा ।
स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ।।[3]

उत्तम परिणामों में चित्त का स्थिर होना या रखना ही यर्थाथ में समाधि या समाधान है अथवा पंच परमेष्ठियों की स्मृति को भी समाधि कहते हैं ।

प्राणायाम और धारणा के लक्षण

प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभ भावनः ।
धारणा श्रुतनिर्दिष्ट बीजानामवधारणाम् ।।[4]

शुभ भावना रखना तथा मन वचन काय–इन तीनों का निग्रह (आयाम) रखना प्राणायाम है ।

---

1. आ. पु. २१/२२४
2. (आ. पु. २१/२२५)
3. (आ. पु. २१/२२६)
4. (आ० पु० २१/२२७)

श्रुत वर्णित बीजाक्षर-मन्त्रों की अवधारणा धारणा है। प्रत्याहार तथा धारणा दोनों में मन्त्र सिद्धि की गहन भूमिका रहती है।

ध्येय लक्षण

आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिंतनैः ।।
ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वमवाङ्मनसगोचरम् ।।[1]

अनित्यादि भावनाओं (बारह अनुप्रेक्षाओं) का बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचन के अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्म तत्व है, वह ध्येय है।

स्मृति का लक्षण

स्मृतिर्जीवादितत्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता।
गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम् ।।[2]

जीवादि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का स्मरण करना स्मृति कहलाती है—अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है।

प्रत्याहार का लक्षण

फलं यथोक्तं बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात्।
प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिवृत्तिः ।।[2]

ध्यान का फल यथोक्त (ऊपर कहा जा चुका) है, बीजाक्षरों को अनुक्रम से आगे कहेंगे। मन की प्रवृत्ति का संकोच करने पर जो चित्त की निवृत्ति (वृत्ति-हीनता, सन्तोष) ही प्रत्याहार है।

दुःख क्षय कारक "अर्हं" मन्त्र

अकारादि हकारान्त रेफमध्यान्त बिन्दुकम्।
ध्यायन् परममिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ।।[4]

अकार है आदि में, हकार है अन्त में, रेफ है मध्य में और बिन्दु है अन्त में, ऐसे उत्कृष्ट

---

1. (आ०पु० २१/२२८)
2. (आ० पु० २१/२२९)
3. (आ० पु० २१/२३०)
4. (आ० पु० २१/२३१)

अर्हं बीजाक्षर का ध्यान करता हुआ मुमुक्षु कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता है। वस्तुतः मन्त्र सिद्धि ही योग का आधार है।

ब्रह्मतत्व विद् होने की विधि

पंच ब्रह्मयैमन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम्।
परंतत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्म तत्त्वावित् ॥[1]

पंच ब्रह्म (परमेष्ठी) मन्त्रों से सकलीकरण करके निष्कल भाव को प्राप्त होकर जो योगी परं तत्व (परम-आत्मा) का ही ध्यान बार-बार करता है,—वही ब्रह्मतत्व विद् होता है!

योग का ऐश्वर्य

योगिनः परमानन्दो योऽस्य स्याच्चित्तनिवृतेः।
स एवैश्वर्यं पर्यन्तो योगजाः किमुतर्द्धयः ॥[2]

योगियों को चित्त की निवृत्ति से जो परमानन्द होता है—वह ही सबसे अधिक ऐश्वर्य है। योग से होने वाली ऋद्धियों का तो कहना ही क्या है।

योग से कर्म विमुक्ति

अणिमादि गुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयम्।
भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥[3]

योग वित् मुनि अणिमादि गुणों से युक्त ऐश्वर्य तथा परमोदय को प्राप्त करता है और बाद में कर्म बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

मन्त्रार्थ--भावना की श्रेष्ठता

बीजान्येतान्यजानानो नाममात्रेण मन्त्रवित्।
मिथ्याभिमानोपहतो वध्यते कर्मबन्धनैः ॥[4]

जो बीजाक्षर मन्त्रों को (अर्थ रूप से) न जानकर नाम मात्र (शब्द रूप से) ही से मंत्र वित् होता है,—वह झूठे अभिमान से दग्ध होता है और कर्मबंधनों से बंधा रहता है।

---

[1] (आ० पु० २१/२३६)

[2] आ० पु० (२१/२३७)

[3] (आ० पु० २१/२३९)

भगवान गौतम गणधर ने इसके आगे उन सब तत्समय के अन्य मतों में प्रचलित जीवादि पदार्थों की नित्य-अनित्य आदि अवधारणाओं को निराकृत करके सम्यक् पदार्थ बोध की महत्ता प्रकट की है—

ध्यान संदर्भ में पदार्थ बोध,—नित्य व अनित्य आदि अवधारणाएं

नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिनाम् ।
नित्यश्चेद विकार्यत्वान्न ध्येय ध्यान संगतिः ।।[1]

योगाभिमानियों के मत में जीव नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो विकार (परिणमन) से रहित होने से-उसके ध्येय व ध्यान की संगति भी नहीं हो सकती ।

सुखासुखननुभवन स्मरणेच्छाद्यसंभवात् ।
प्रागेवास्य न दिध्यासादूरात्तत्वानुचिंतनम् ।।[2]

नित्य जीव के सुख दुःख का अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणमनों का होना भी असंभव है,—इसलिये जब इस जीव के ध्यान करने की इच्छा ही नहीं हो सकती,—तब तत्त्व चिन्तन तो दूर ही रहा ।

तन्निवृत्तौ कुतो ध्यानं, कुतस्तस्यौ वा फलोदयः ।
बंध मोक्षाद्यधिष्ठाना प्रक्रियाप्याफला ततः ।।[3]

तत्त्व चिन्तन की निवृत्ति होने से फिर ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्यान के बिना ध्यान फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसके बिना बंध और मोक्ष के कारण भूत समस्त प्रक्रियायें ही निष्फल हो जाती हैं ।

क्षणिकानांश्च चित्तानां सन्ततौ ~~क्वा~~ कानुभावना ।
ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ।।[4]

यदि जीव क्षणिक (अनित्य) है तो क्षण-क्षण में नवीन उत्पन्न चित्त संतति में ध्यान की भावना ही नहीं हो सकेगी,—क्योंकि इस क्षणिक वृत्ति में अपने द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थों का स्मरण होना अशक्य है ।

---

1. आ० पु० २१/२४०)
2. (आ० पु० २१/२४१)
3. (आ० पु० २१/२४२)
4. आ० पु० २१/२४३)

सन्तानान्तरवत्तस्मान्न दिध्यासादि सम्भवः ।
न ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्य स्याष्टांग भावना ।।[1]

संतानान्तरत्व के कारण से अर्थात् देवदत्त चित्त-संतान के प्रति यज्ञ दत चित्त संतान के समान कारण से ध्यान करने की इच्छा नहीं हो सकती । जिस प्रकार एक पुरुष का अनुभूत पदार्थ-स्मरण दूसरे पुरुष को नहीं हो सकता—क्योंकि वह उससे सर्वथा भिन्न है, ऐसे ही अनुभव करने वाले मूलभूतजीव चित संतान के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा अनुभूत पदार्थ स्मरण उनकी संतान प्रति संतान को नहीं हो सकता । क्योंकि मूल पदार्थ का निरन्वय नाश मानने पर संतान प्रति संतान के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता । ऐसे अनुभूत पदार्थ के स्मरण के बिना ध्यान करने की इच्छा होना असम्भव हो जाता है । ध्यान की इच्छा बिना, ध्यान नहीं हो सकता और ध्यान के बिना उसके फल मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा इस मोक्ष की अष्ट भावना—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्ति, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् सहति और (८) सम्यक् समाधि–इन अष्ट अङ्गों की भावना भी नहीं हो सकती ।

तत्तः पुद्गल वादेऽपि देह पुद्गल तत्वयोः ।
तत्त्वान्य त्वाद्यवक्तव्य संगराद्ध्यातुरस्थितिः ।।

दिध्यासा पूर्विका ध्यानप्रवृतिमात्र युज्यते
न चासतः खपुष्पस्य काचिद् गंधादिकल्पना ।।

विज्ञप्ति मात्र वादे च ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः ।
ततो निर्विषयाज्ञप्तिः क्वात्मानं विभृयात् कथम् ।।[2]

इसी प्रकार जीव को पुद्गल रूप मानने के मत में भी देह और पुद्गल तत्व के भेद-अभेद और अवक्तव्य पक्षों में ध्याता की सिद्धि नहीं हो पाती । सर्वथा असत् आकाश–पुष्प में गंध आदि की कल्पना नहीं हो सकती । तात्पर्यय यह कि पुद्गल रूप आत्मा यदि देह से भिन्न है तो पृथक् आत्म तत्त्व सिद्ध हो जाता है । यदि अभिन्न है तो देहात्मवाद के दूषण आते है । यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूप का निर्णय न हो सकने से ध्यान की इच्छा प्रवृति आदि नहीं बन सकते ।

इसी प्रकार विज्ञप्ति मात्र वाद में विज्ञान का सिवा विज्ञान कुछ भी विषय शेष नहीं रहता । अतः विषय के अभाव में—ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थो के बिना विज्ञान स्व स्वरूप को,—निर्विषय विज्ञान स्वरूप को कहां धारण करेंगे,—अर्थात् विज्ञान स्वरूप का लाभ नहीं कर सकता-यानी विज्ञान का ही अभाव हो जाता है ।

---

[1] (आ० पु० २१/२४४)

[2] (आ० पु० २१/२४५–२४७)

तदभावे च न ध्यानं न ध्येयं मोक्ष एव वा ।
प्रदीपार्कहुताशादौ सत्यर्थे चार्थं भासनम् ।।[1]

और विज्ञान के अभाव होने पर न ध्यान, न ध्येय और न मोक्ष, कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि दीप सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक और घट पट आदि प्रकाश्य पदार्थों के रहते हुए ही पदार्थों का प्रकाशन हो सकता है ।

विज्ञान और विज्ञेय दोनों प्रकार के पदार्थों का सद्भाव होने पर ही ध्यान ध्येय और मोक्ष आदि की सिद्धि हो सकती है, विज्ञानाद्वैतवादी केवल प्रकाशक (विज्ञान) को ही मानते हैं, प्रकाश्य (विज्ञेय पदार्थों) को नहीं मानते और युक्ति पूर्वक विचार पर तो उनके उस विज्ञान की भी सिद्धि नहीं होती, ध्यान सिद्धि तो दूर ही रही ।

नैरात्मवाद पक्षेऽपि किं तु केन प्रमीयते ।
कच्छापांगरुहैस्तत् स्यात् खपुष्पापीड बंधनम् ।।[2]

नैरात्म्यवादी, शून्यवादी के मन में भी ध्यान सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सब कुछ शून्य है तब कौन किसको जानेगा, कौन किसका ध्यान करेगा, उनके इस मन में ध्यान की कल्पना करना कुछुए के बालों से ख-पुरुषों का शेखर (सेहरा) बांधने के समान है ।

ध्येय तत्वेऽपि नेतव्या विकल्प द्वय योजना ।
अनादेया अहेयातिशये स्थास्नौन किंचन ।।[3]

शून्य वादी मन में ध्येय तत्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती—क्योंकि ध्येय तत्व में दो प्रकार के विकल्प होते है—एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य ।

मुक्तात्मनौऽपि चैतन्य विरहाल्लक्षण क्षतेः ।
न ध्येयं कापिलानां स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ।।[4]

सांख्य मुक्तात्मा का स्वरूप चैतन्य रहित मानते है परन्तु इस मान्यता से चैतन्य रूप लक्षण का अभाव होने से आत्मा रूप लक्ष्य की भी सिद्धि भी नहीं हो पाती । जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणों के अभाव होने से आकाश कमल की सिद्धि नहीं हो सकती वैसे ही प्रकार से चैतन्य (ज्ञान) रूप विशेष गुणों के अभाव होने से मुक्तात्मा की भी सिद्धि नहीं हो सकती । ध्येय के बिना ध्यान भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

---

1. (आ० पु० २१/२४८)
2. (आ०पु० २१/२४९)
3. (आ० पु० २१/२५०)
4. (आ० पु० २१/२५१)

सुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येवं ब्रुवाणकः ।
सुषुप्तत्येष मूढ़ात्मा ध्येय तत्व विचारणे ।।[1]

कपिल मती कहते हैं कि मुक्त जीव गाढ़ निद्रा में सोए पुरुष के समान (अचेत) रहता है तो मालुम होता कि ध्येय तत्व का विचार करते समय वे स्वयं सोना चाहते है अर्थात् अज्ञानी ही बने रहना चाहते हैं ।

शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यान ध्येय निर्णयः ।
एकांत दोषदुष्टत्वाद् द्वैताद्वैतादि वादिनाम् ।।[2]

इसी प्रकार द्वैतवादी और अद्वैत लोगों के शेष मत सभी एकान्त दोष से दूषित हैं—अतः उन सब में ध्यान और ध्येय निर्णय नहीं है ।

ध्यान सिद्धि में सम्यक् पदार्थ निरूपण तथा बोध आवश्यक

नित्यानित्यात्मकं जीवतत्वमभ्युपगच्छताम् ।
ध्यान स्याद्वादिनामेव घटते नान्य वादिनाम् ।।[3]

(वस्तु विवक्षा के वश से) जीव तत्व को नित्य और अनित्य दोनों रूप से मानने वाले स्याद्वादी मत में ही ध्यान सिद्धि घटित होती है,—अन्य वादियों के मत में नहीं ।

विरुद्ध धर्म योरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् ।
इति चेन्नार्पणा भेदादविरोध प्रसिद्धितः ।।

नित्यो द्रव्यार्पणादात्मा न पर्यायभिदार्पणात् ।
अनित्यः पर्यायोत्पाद विनाशैर्द्रव्यतो न तु ।।

देवदत्तः पिता व स्यात् पुत्रश्चैवार्पणावशात् ।
विपक्षेतरयो योगः स्याद् वस्तुन्युभयात्मनि ।।[4]

यदि कोई यह कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मों का आधार नहीं बन सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नहीं हो सकता तो यह कहना ठीक नहीं—क्योंकि विवक्षा भेद से वैसा कहने से कोई विरोध नहीं हो सकता । जहां अनेक विवक्षा से अनेक धर्म कहे जाते है, वहां कोई विरोध नहीं आता । द्रव्य विवक्षा से जीव नित्य है न कि पर्यायों के भेदों की विवक्षा से भी । वही

---

1. (आ० पु० २१/२५२)
2 (आ० पु० २१/२५३)
3. (आ० पु० २१/२५४)
4. (आ० पु० २१/२५५–२५७)

जीव पर्यायों की विवक्षा से अनित्य हैं, न कि द्रव्य की अपेक्षा से भी । एक ही देवदत्त विवक्षा के वश से पिता और पुत्र दोनों ही रूप होता है अपने पुत्र अपेक्षा पिता है और अपने पिता अपेक्षा पुत्र है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु विवक्षा वश नित्य अनित्य दोनों रूप होती है, द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है । इससे सिद्ध होता है कि वस्तु में विरूद्ध धर्म पाये जाते हैं ।

जिन प्रवचनाभ्यास प्रसरद्बोधसंपदाम् ।
युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदम् ।।[1]

जिन वाणी–अभ्यास से जिनकी ज्ञान सम्पदा प्रसूत है ऐसे स्याद् वादियों को ध्यान की सिद्धि होती है अन्य दुर्दृष्टियों को नहीं ।

जिनेश्वर के विशेष लाक्षणिक नाम

जिनो मोहारि विजयादाप्तः स्याद् वीतधीमलः
वाचस्पति रसौ वाग्भिः सन्मार्गं प्रति बोधनात् ।।

स्यादर्हन्नरिधातादिगुणैरपरगोचरः ।
बुद्धस्त्रैलोक्य विश्वार्थं बोधनाद् विश्वभुद् विभुः ।।

सविष्णुश्च विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयंकरः ।
शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परमाक्षरम् ।।[2]

जिनेश्वर देव ने मोह शत्रु पर विजय प्राप्त की है, अतः वे जिन है, उनकी बुद्धि समस्त मल रहिन है, अतः वे आप्त है, अपनी वाणी द्वारा सन्मार्ग मोक्ष का प्रतिबोध (उपदेश) दिया है अतः वे वाचस्पति हैं, अन्य किसी में गोचर न हो ऐसे रागद्वेषादि कर्मशत्रुओं को नष्ट करने आदि गुणों के कारण वे अर्हत् अथवा अरिहन्त कहलाते हैं । तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानने के कारण वे बुद्ध हैं, वे सब जीवों की रक्षा करने वाले हैं इसलिये विभु हैं, वे समस्त संसार में व्याप्त होने से विष्णु, कर्मशत्रुओं को जीतने से विजिष्णु, शांति करने से शंकर, सब जीवों को अभय करने से अभयंकर, आनन्द रूप होने से शिव आदि और अन्त रहित होने से सनातन कृतकृत्य, होने से सिद्ध, केवल ज्ञान रूप होने से (ज्योति), अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सहित होने परम, और अविनाशी होने से अक्षर कहलाते हैं ।

रागाद्यशेषदोषाणां निर्जयादतिभानुषम् ।
मुखाब्जं मस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ।।

---

1. (आ०पु० २१/२५८ 2. (आ० पु०२५९-२६१

स एवाप्तो जगद् व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः ।
तदुपज्ञमतो ध्यानं श्रेयोऽर्थिनामिदम् ।।[1]

जिनका ज्ञान और वैराग्य का वैभव समस्त जगत् में फैला हुआ है—ऐसे अर्हंत् प्रभु ही आप्त हैं। यह ध्यान का स्वरूप उन्हीं के द्वारा कहा हुआ है इसलिये यह कल्याण चाहने वालों के लिये कल्याण स्वरूप है। भगवान अर्हंत् तीर्थंकर ही धर्म शास्ता, योग प्रवक्ता और विश्व गुरु हैं। वे ही योगीजनों के सकल ध्येय और परम आराध्य है। उन्होंने आत्मा स्वरूप ब्रह्मस्वरूप की ऐसी अवधारणा (Concept) प्ररूपित है कि जिससे बेहत्तर व गहनतर अन्य कोई अवधारणा न हुई और न होना सम्भव ही है। उन्होंने आत्मा का वह लोकोत्तर स्वरूप बताया है जो उत्कृष्टतम है।

आ. जिन सेन का वर्णन परम्परा से भगवान वृषभदेव का मार्ग

इस प्रकार महान् ऋद्धियों के धारी महर्षि गौतम गणधर ने मुनियों-ऋषियों की सभा मध्य ध्यान तत्व तथा ध्येय का निरूपण किया, तब वे मुनीन्द्रगण अत्यन्त प्रतुष्ट हुए और बार-बार हर्ष से रोमांचित हुए और जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल समुदाय प्रफुल्लित हो जाता है इसी प्रकार उनके भी मुख कमल हर्ष से खिल उठे। तब उनसभी योगियों ने योगी मुख्य गौतम गणधर की स्तुति की और समस्त ज्ञान के तेज को प्राप्त किया है और जो आत्म-स्वरूप में स्थित हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव की आर्हंत्य-लक्ष्मी को सुनने लिये समाधिगत समग्र ज्ञान धाम रूप होकर स्वरूपावस्थित ही हो गये।

इस प्रकार आचार्य श्री जिनसेन ने भगवान वृषभदेव प्रणीत तपोयोग मय ध्यान-विज्ञान-योग को,—परम्परा से प्राप्त करके भगवान् श्री गौतम गणधर के श्री मुख से वर्णन किया है। भगवान् वृषभदेव ने पूर्व कालीन इतिहास तीसरे काल के अन्त में कहा था—उसे वृषभसेन गणधर ने अर्थरूप से अध्ययन किया और पुराण रचना की। फिर चौथे काल के अन्त में एक समय सिद्धार्थ राजा के पुत्र सर्वज्ञ श्री महावीर स्वामी विहार करते हुये राजगृही के विपुलाचल गिरि पर विराजमान हुए—वहां राजा श्रेणिक महाराज ने उन अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर से उस पुराण वृत्त को पूछा। महाराजा श्रेणिक के प्रति महावीर स्वामी के अनुग्रह को विचार कर श्री गौतम गणधर देव ने उस समस्त पुराण (इतिहास) का वर्णन किया। बाद में उन्होंने सुधर्माचार्य को कहा और सुधर्माचार्य ने जम्बू स्वामी से कहा और उसी समय से अद्यावधि यह गुरु परम्परा से चला आ रहा है। श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न को उद्देश्य करके गौतम स्वामी ने उत्तर दिये थे—उनका अनुसंधान विचार करके मैं इस पुराण ग्रन्थ की रचना करता हूं। ऐसे इस महापुराण (आदि पुराण) के २१वें पर्व में योग विज्ञान के प्रवचन का सारा प्रसंग संक्षेप में प्राचीन परंपरा से ही आया तथा वर्णित है।

---

[1] आ० पु० २१/२६५-२६६

आदि पुराण में ध्यान की परिभाषा. ध्यान और अनुप्रेक्षा का भेद

एकाँग्रयेण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि ।
तद्धयानं वज्रकं यस्य भवेदान्तर्मुहूर्ततः ॥

स्थिरमध्यवसानं यत्तद्धयानं यच्चलाचलम् ।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥[1]

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है—उसे ध्यान कहते हैं। वह वज्रक ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही ध्यानी को रहता है। जो चित्त का परिणाम स्थित होता है उसे तो ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता-भावना अथवा चित्त कहते हैं।

"ध्यानाध्ययन" में ध्यान प्ररूपणा

जं थिरम ज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तम् ।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिन्ता ॥[2]

जो स्थिर अध्यवसाय रूप-एकाग्र चित्त परिणाम रूप है वह ध्यान है, जो अस्थिर चंचल चित्त है वह ध्यान भावना, चिन्त्ता या अनुप्रेक्षा है।

आ. कुंदकुंद ने भी उसी चतुर्भेदात्मक ध्यान का वर्णन किया है जो भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ की दिव्य वाणी द्वारा कहा गया और महापुराण में आ. श्री जिनसेन ~~के~~ द्वारा श्रद्धा लोक महर्षि गौतम गणधर के मुख से कहा गया है और परम्परा से वही ज्ञान ज्ञानार्णव आदि ग्रंथों से आया है। यहां "ध्यानाध्ययन" का विषय संक्षेप में प्रस्तुत करते है। इसी चतुर्भेदात्मक ध्यान का वर्णन हमनें "ध्यानानुचिंतन" भागों में किया है।

धर्म ध्यान की प्ररूपणाएं

धर्म ध्यान की ये प्ररूणाएं हैं—(१) ध्यान की भावनाएं, (२) देश, (३) काल, आसन विशेष, (५) आलम्बन, (६) क्रम, (७) ध्यातव्य, (८) ध्याता, (९) अनुप्रेक्षा, (१०) लेश्या, (११) लिंग और (१२) फल। इन्हें जान कर धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए।

(१) भावना—ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास "ज्ञान भावना" (१) तत्वार्थ श्रद्धान रूप

---

[1] आ० पु० २१/८/९

[2] ध्याना० २

“दर्शनभावना (२) सर्वसावद्य (पाप) योग की निवृत्ति रूप चारित्र भावना (३) तथा विषयासक्ति से रहित होने से वैराग्य भावना (४) कही गई हैं और इह व परलोक के भय व सुखाभिलाषा से विवर्जित होने पर स्थिर ध्यान होता है ।

(२/४) देश, काल, आसन विशेष के लिये इतना मात्र निर्देश है कि जैसे योगी को सुख पूर्वक ध्यान हो, प्रयत्न करना चाहिये अन्य कोई नियम विशेष नहीं है ।

(५) आलम्बन —यथा दृढ़ रस्सी आदि के आश्रय मनुष्य दुर्गम स्थान पर चढ़ जाता है वैसे ही ध्याता सूत्रादिका वाचना, पृच्छना (प्रश्न), परावर्तना अनुचिन्तन सद्धर्म देशना, सामायिक आदि आलम्बन के आश्रय उत्तम ध्यान पर आरूढ़ हो जाता है ।

(६) क्रम—सूक्ष्मता (लाघवता) पर दृष्टि रखकर धर्म ध्यान में शुक्ल ध्यान का क्रम है । धर्म ध्यान में ध्यान प्रतिपत्ति का क्रम समाधि के अनुसार है ।

(७) ध्यातव्य (ध्येय)—चार भेद पूर्वक आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान कहा है ।--फिर इनको निरूपण करते हुए इनके स्वरूप का कथन किया है । इन ही चार भेदों से चतुर्भेदात्मक ध्यान का स्वरूप बनता है ।

संसार सागर से तरने के विषय में उपमा–चित्रण से कथन किया है कि चारित्र महापोत है जो संसार समुद्र से तरने में समर्थ है सम्यग्दर्शन अमूल्य सुकारण है और सम्यग्ज्ञान कर्णधार है—उस पोत में संवरमय निश्छिद्रता है, तप-रूप पवन से बढ़ा हुआ णमोकार जाप रूप बड़ा भारी वेग है और यह पोत बराबर वैराग्य के मार्ग की ओर बढ़ रहा है–कुश्रुत की लहरों से होने वाला क्षोभ इसके मार्ग में नहीं है । अमूल्य शील रूप रत्नों को लेकर योगी मुनिराज रूप वणिक् इस पोत में आरुढ़ हैं और यह पोत निर्वाण पुरी को पहुंच जाता है । तीन रत्न (सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) और संवर तप, वैराग्य और शीलरूप सम्पदा के साथ योगी चरित्र (ध्यानाभ्यास) के आश्रय संसार से अतीत निर्वाण धाम को प्राप्त होता है ।

(८) ध्याता—धर्म ध्यान के ध्याता प्रमाद रहित गुणस्थान वर्ती–क्षपक व उप शमक निर्गन्थ होते हैं । शुक्ल ध्यानी चोदह पूर्व गामी होकर पृथकत्व व एकत्व विर्तक ध्यान के ध्याता होते है, शेष दो ध्यानों-सूक्ष्म क्रियानिर्वर्ति और समुच्छिन्न क्रिया–प्रतिपाती क्रम से सयोगी केवली व अयोग केवली होते है ।

(९) अनुप्रेक्षा—अनित्यादि १२ भावना का चिन्तन है जो ध्यान से उपरत हो जाने पर भी चिन्तनीय है । प्रेक्षकवत् स्थिर रह कर अन्तर में प्रकर्षरूप ईक्षण करना प्रेक्षा ध्यान है । तदनन्तर

यानी प्रेक्षा ध्यान के अनन्तर अनुप्रेक्षाका क्रम रखना युक्ति संगत तथा वैज्ञानिक है। वह ध्यान है, यह भावना है।

(१०) लेश्या—धर्म ध्यानी के उत्तरोत्तर पीत पद्म और शुक्ल लेश्या तीव्र मंद और मध्यम भेद युक्त है।

(११) लिंग—धर्म ध्यानी को तत्व परिचय,—आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से तत्व श्रद्धान होता है। दूसरे तत्व श्रद्धान से तथा जिनेश्वर साधु के गुण कीर्तन आदि से होता है।

(१२) फल—धर्म ध्यान का फल भी आगे शुक्ल ध्यान फल के साथ वर्णित है।

शुक्ल ध्यान की बारह प्ररूपणाएं—क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति को आलम्बन कहा है। तथा आलम्बन से पूर्व भावना, देश, काल और आसन विशेष रूप प्ररूपणाओं की धर्म-ध्यान से अधिक विशेषता शुक्ल ध्यान में नहीं है। अर्थात् इन तत्व प्ररूपणाओं की दोनों धर्म और शुक्ल ध्यानों में समनता है।

(६) क्रम—चार भेद पूर्वक है। इनमें पृथकत्व व एकत्व के क्रम तो धर्म ध्यान के क्रम में ही कह दिये हैं। शेष दो में क्रम-२ से मन को अणु–संस्थ करके, अति संक्षेप करते हुए—फिर उस मन से सर्वथा रहित होकर योगी मुनि शुक्ल ध्याता हो जाते है। यथा मान्त्रिक विष को एक स्थानीय करके-उसे फिर वहां से भी निकाल देता है वैसे ही ध्याता परमाणु रूप मन–विष को करके, फिर वहां से भी हटा देते हैं।

(७) ध्यातव्य—पृथकत्व व एकत्व में श्रुत का आश्रय होता है। प्रथम में अनेक नयों के आश्रय व पर्यायों का विचार करता है और अर्थं, व्यंजन (शब्द) और योग-से अन्य-२ में व अन्तरों में संक्रमण होता है और अतः यह सविचार व बीतरागी योगी को होता है। दूसरे में अर्थान्तर आदि के संक्रमण नहीं होते। तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग में व चौथा शुक्ल ध्यान काय योगादि के अभाव में होता है।

(८) ध्याता—धर्म ध्यान के ही समान है।

(९) अनुप्रेक्षा—शु मुक्ल ध्यानी आस्त्रव द्वारा पाप, संसार शुभानुभाव, अनन्त भव-संतति और वस्तु-विषपरिणाम—इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है।

(१०) लेश्या—पहले दो शुक्ल ध्यानों में शुक्ल लेश्या, तीसरे में परम शुक्ल लेश्या व चौथें ध्यान में लेश्या रहित ध्यान होता है।

(११) लिंग—(१) अवधा (परिषह व उपसर्ग पर अविचलित व निर्भय रहना), (२) असम्मोह (सूक्ष्म पदार्थों व देव निर्मित माया से मूढ़ न होना), (३) विवेक (देह से आत्मा को विलक्षण व सबको–संयोगी मात्र देखना), (४) व्युत्सर्ग (देह व उपाधि का त्याग)—ये चार शुक्ल ध्यान के लिंग हैं।

(१२) फल—अन्तिम दो शुक्ल स्थानों के भल निर्वाण कहे हैं और बाकी के शुभास्रव, निर्जरा व देव–सुख रूप फल हैं।

ध्यान व तप संवर निर्जरा का व मोक्ष के हेतु है। कहा है जीव रूप वस्त्र की शुद्धि जल से, जीव रूप लोह की शुद्धि अग्नि से, जीव रूप कीच की शुद्धि ~~से~~ सूर्य से होती है। वस्त्र, लोह और कीच के दृष्टान्त से जीव की निर्मलता की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। ध्यान से योगी का तपन, शोषण और भेद होता है। ध्यानी का कर्म प्रत्यय तपता है, सूखता है और खिरता है। रोग का शमन विशोषण, विरेचन और औषधि सेवन से होता है। कर्म रोग का भी शमन शोषण आदि व अनशनादि योगों से होता है। ध्यानानल कर्म-ईंधन को क्षणात् भस्म कर देता है।

ध्यान महात्म्य से कषाय बाधा नहीं देते, मानसिक दुःख या विकार (ईर्ष्या, शोक, विषाद) नहीं होते, न शीत आतप वा अन्य बाधा ही बाधित करते है। ध्यान से सर्व गुणों का आधान एवं दृष्ट और अदृष्ट सुख मिलता है। अतः प्रशस्त ध्यान के श्रद्धान, ज्ञान और चिन्तन हितकर है।

ध्यानाध्ययन का बाद के जैन योग ग्रन्थों पर बड़ा प्रभाव रहा है।

भगवान् के मार्ग के अन्य तत्त्व

ज्ञान और ध्यान के अतिरिक्त इस योग शासन में उपासना और भक्ति भी गृहीत है। वस्तुतः यहां ध्यान उपासना रूप ही गृहीत हुआ है। आत्मोपासना ही यह विज्ञान है। इस उपासना विज्ञान में दश प्रकार की भक्तियों के विधान का आ. श्री पूज्यपाद ने वर्णन किया है। भ. गौतम गणधर ने भ. महावीर की "~~ज्योति~~ जयति भगवान्" आदि रूप से स्तवन करके भक्ति का सूत्र वर्तमान धर्म-शासन में यथावत् चालू रखा है। आ. श्री पूज्यपाद ने विभिन्न भक्तियों का संकलन दस भक्तियों में किया है। अतः ये भक्तियां अति प्राचीन हैं। सिद्धि भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि- आचार्य-भक्ति पंच गुरु-भक्ति, तीर्थंकर-भक्ति, शान्ति भक्ति समाधि-भक्ति, निर्वाण-भक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति, और चैत्य-भक्ति का वर्णन दश भक्तियों में है। ये भक्ति-स्तवन छिद्र प्रतिक्रमणादि विभिन्न अवसरों में मुनि जनों के द्वारा अभी तक मूल रूप में अति प्राचीन काल से की जाती चली आ रही है। यथा कैशलोचन, दीक्षा के अवसर पर योगी-भक्ति तथा सिद्ध-भक्ति की जाती हैं। दोष दूर के निमित्त समाधि-भक्ति, प्रतिमा योगी के सामने सिद्ध भक्ति, ऋषि भक्ति और शान्ति भक्ति की जाती है। सामान्य ऋषियों के देह-पात पर

सिद्ध-भक्ति, योगि-भक्ति और शांति-भक्ति की जाती है। रात्रि योग का धारण करने तथा विसर्जन योगी-भक्ति पढ़कर किया जाता है। प्रतिक्रमण के समय प्रति क्रम-भक्ति, तीर्थंकर-भक्ति और वीर-भक्ति की जाती है। गृहस्थ के सन्यास ग्रहण के समय सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, और शांति की जाती है। इसी प्रकार वर्षा योग आदि के समय विभिन्न-२ भक्तियों की परिपाटी है। भक्तियां आत्म-शोधन तथा तन्मयता के मुख्य उपाय हैं। ये भक्तियां मुनि-चर्या से विशेष सम्बन्धित हैं। गृहस्थ-जनों का भक्तियां-तीर्थंकरों की उपासना, चैत्य-वंदना, पंच-परमेष्ठियों की वंदना आदि रूप से प्रमुख हैं। पर्व, पाक्षिक तथा अष्टान्हिका में अन्य भक्तियां यथोक्त की जाती हैं। इन भक्तियों से आत्म-प्रेरणा आत्म-भावों की उज्ज्वलता तथा धर्म-ध्यान के साधन होने हैं। इनमें ही उत्कर्ष को प्राप्त होकर गृहस्थ-जन भी समाधि की क्रिया को और व आत्म-ध्यान की योग्यता को प्रकट करते हुए निस्पृह शुद्ध आचार-विचार सहित समाज और देश को भी अपनी सेवा से समृद्ध और उन्नत करते हैं।

उक्त भक्तियों के अतिरिक्त "उपासना-योग" पर विशेष विवरण हेतु "स्वरूपनानुचिन्तन" ग्रन्थ अवलोकनीय है।

भ. वृषभेश्वर का यह ध्यान, उपासना-योग और ज्ञानालोक का मार्ग ज्ञान परक उपयोग की प्रेरणा करता है और साथ ही संयम और तप की भी महत्ता को प्रकट करता है। तप प्रधानता से इसे तपोयोग भी कहा गया है और इसी कारण मुनि-चर्या रूप निवृत्ति की श्रेष्ठता से इसे निवृत्ति प्रधान भी कहा जाता है, पर वस्तुतः यह निवृत्ति और प्रवृति से (यानी गृही श्रावक-श्राविका और यती मुनि और आर्यिका रूप चतुर्विध धर्म-संघ व्यवस्था से, सुव्यवस्थित समन्वयता को ही प्रस्तुत करता है और प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामजंस्यपूर्ण उत्तरोत्तर मार्ग से एक सहज अध्यात्मिक सोपान को ही प्रस्तुत करता है।

दस प्रकार के तप, उनका स्वरूप

तप का कथन बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद पूर्वक है। प्रत्येक भेद के छः-छः उपभेद होकर तप का स्वरूप द्वादश भेदों वाला भी हो गया है। बाह्य तप के भेद है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य या अनोदर्य, (३) वृत्ति-परिसंख्यान (४) रस परित्याग, (५) विविक्त शय्यासन, (६) काय-क्लेश। क्रम इस प्रकार भी वर्णित है (१) अवमौदर्य, (२) उपवास, (३) रस परित्याग, (४) वृत्ति परिसंख्यान (५) काय-क्लेश, (६) विविक्त शय्यासन।

(१) अवमौदर्य तप—परिमित आहार रूप है। अपने आहार में से एक दो तीन आदि ग्रासों से लेकर अन्तिम वत्तीसवें ग्रास तक योगी मुनिजन आहार को आगम-विधि अनुसार छोड़ते हैं। यह अवमोदर्य या उनोदर्य रूप है।

(२) उपवास (अनशन) तप—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, इन चार प्रकार के आहार का

मोक्षार्थी को त्याग उपवास तप है। इसके षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला) आदि अनेक भेद होते हैं।

(३) रस परित्याग तप—तेल, दूध, इक्षु, दधि और घी इनका त्याग करना रस परित्माग है। उक्त रसों में एक दो, तीन चार रसों को छोड़ते हुए यह तप पांच प्रकार का हो जाता है।

(४) वृत्ति परिसंख्यान तप—इनमें आहार-पान सम्बन्धी चित्त वृत्ति संक्षेप या तनु करने का संकल्प किया जाता है—वह वृत्ति परिसंख्यान तप है। गोचरी जाने के पूर्व अनेक प्रकार अटपटी प्रतिज्ञाएं जो भिक्षा-वृत्ति सम्बन्धी की जाती हैं वे वृत्ति-परिसंख्यान लप के रूप में की जाती है।

(५) काय क्लेश तप—अनेक प्रकार के प्रतिमा-योग धारण कर स्थित रहना, मौन धारण करना, शीत-बाधा सहना, आतप (उष्ण) बाधा सहना, अर्थात् आतापन योग धारण करना इत्यादि प्रकार से देह व चित्त को सहिष्णु तथा तितिक्षा पूर्ण करना और परिषह-सहन के योग्य रखना काय-क्लेश तप है।

(६) विवक्त शय्यासन तप—प्राणियों की पीडा से विमुक्त एकांत वसतिका में शयन, स्थान, और आसन को शुचिता पूर्वक सेवन करने वाले योगी साधु कोविविक्त शय्यासन तप होता है।

अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥[1]

यदि साधक पुरुष ने पूर्व में ही अपने को तप से तप्त न किया, तो दुःख प्राप्त होने पर उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। वह ज्ञान लुप्त होकर आकुलित एवं पतित हो जाता है। तप से प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द से ही संसार का ताप सहनीय हो जाता है।

आभ्यन्तर तप के छः भेद—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैय्यावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान है। इनके क्रम इस प्रकार भीं कहे गये हैं—

(१) स्वाध्याय (२) शोधन (प्रायश्चित्त) (३) वैय्यावृत्य (४) व्युत्सर्ग (५) विनय और (६) ध्यान।

(१) स्वाध्याय तप—वह पठन, चिन्तन, मनन, जप रूप से स्वयं योगी का अपने को शिक्षण रूप है। वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षा पंच विध हैं। वाचना में पाठन पाठन

---

1. (समाधि तन्त्र १०२)

किसी, शास्त्र सम्बन्धी संशय दूर करना, तथा जिज्ञासु पात्र को शास्त्र का मूल व अर्थ का प्रतिपादन करना है। पृच्छना में शंका समाधान तत्वार्थ-निश्चय के लिए करना है। शास्त्रवचनों तथा श्लोकों का निर्दोष उच्चारण तथा आवृत्ति करना आम्नाय स्वाध्याय है। धार्मिक कथाओं का व्याख्यान करना धर्मोपदेश है। गुरु से पठित तत्त्व का मन से चिन्तवन-अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

(२) प्रायश्चित्त तप—आत्मा की परम शुद्धि के हेतु भूल (त्रुटि) तथा प्रमादादि दोषों के लिए परिमार्जन करना है। (१) आलोचन (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय, (४) तप (५) व्युत्सर्ग (६) विवेक (७) उपस्थापना (८) परिहार और (९) छेद ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

निष्कपट भाव से गुरु सम्मुख अपने दोष निवेदन करना आलोचन है। अपने दोष जानकर हा! हा! मैंने बुरा किया, इस प्रकार अपनी निन्दा करना प्रतिक्रमण है। यह दोष से वापिस लौटना तथा भविष्य में दोष न हो इसके लिए सावचेत व संकल्पी होना है। किसी महान् दोष पर आलोचन तथा प्रतिक्रमण दोनों का साथ साथ करना तदुभय प्रायश्चित तप है। उपवासादि तपों के द्वारा आत्म-शुद्धि करना तप प्रायश्चित है। किसी दोष या अपराध पर कायोत्सर्ग करके अपने को शुद्ध करके व्युत्सर्ग प्रायश्चित है। किसी दोषपर गुरु द्वारा दिये गये दण्ड को शिरोधार्य कर आत्म-शुद्धि करना विवेक प्रायश्चित तप है। व्रत के खण्डित होने पर या किसी महान पाप लग जाने पर पुनः दीक्षित होकर पूर्ववत् स्थापित होना उपस्थापना प्रायश्चित तप है। महिने-मास आदि के विभाग से कुछ काल संघ से दूर रह कर आत्म-शुद्धि करना परिहार प्रायश्चित तप है। कुछ काल तक दीक्षा को छेद कर आत्म-शुद्धि करना छेद-प्रायश्चित है। इससे संचित दोष दूर करके कर्म-निर्जरा की जाती है।

(३) वैय्यावृत्य तप—आचार्य, उपाध्याय, साधु, नवीन दीक्षित शैक्ष्य रोगी, तपस्वी आचार्य परम्परा के साधु श्रमण मुनि वृद्ध जनों की व्याधि व उपसर्ग आदि आ जाने पर स्व-शक्ति अनुसार प्रतिकार व उपाय करना तथा सेवा सुश्रुषा करना वैय्यावृत्य तप है।

(४) व्युत्सर्ग तप—क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य उपाधि का तथा क्रोधादि कषाय रूप आभ्यन्तर उपाधि का उत्सर्ग (त्याग) करना व्युत्सर्ग तप है।

(५) विनय तप—यह ज्ञानी तथा चारित्र निष्ठों के प्रति सम्मान और वन्दना रूप है। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय रूप चार भेद इस विनय तप के हैं। सात तत्वों के श्रद्धान का जो निःशंकित आदि अङ्गों सहित हो तथा सम्यग्दृष्टि का विनय दर्शन विनयतप है, अति आदर भाव से ज्ञान का अभ्यास तथा ज्ञानी जनों की भक्ति ज्ञान विनयतप है। दर्शन ज्ञान, शील सम्यक् चारित्र के प्रति तथा संयमी के प्रति विनय चारित्र-विनयतप है। आचार्य आदि पूज्य पुरुषों के आने पर उठ खडा होना, वंदना करना, उनके पीछे चलना उपचार-विनयतप है।

(६) ध्यान तप—ध्यान के चतुर्भेदात्मक स्वरूप हैं। चार प्रकार के ध्यानों में आर्त व रौद्र हेय

है और धर्म और शुक्ल-ध्यान ही तप के अङ्गभूत है। ध्यानका सविस्तार विवेचन के लिए हमारा "ध्यानानुचिन्तन" ग्रन्थ अवलोकनीय है।

ध्यान तप तपोयोग का चरम अङ्ग है।

तेरह प्रकार की क्रियाओं का कथन किया गया है। इनमें १. प्रतिक्रमण २. प्रतिशरण ३. परिहार ४. धारणा ५. निवृति और ६, गर्हा निन्दा या आत्म-आलोचन है—तथा पंच परमेष्ठियों के पांच ध्यान तथा रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) में स्थिरता और सावद्य (पाप) क्रियाओं से मन निवृत्त करना ऐसे सात क्रियाएं और हैं। पूर्व की छः और ये सात क्रियाएं मिलाकर तेरह क्रियाएं होती हैं।

चारित्र के पांच भेद—(१) सामायिक सावद्य कर्म त्याग सहित निर्विकल्प अवस्था में नियत समय रहना (२) छेदोपस्थापना—विकल्प पूर्वक चारित्र धारण करना या व्रत छेद होने पर पुनः उस चारित्र को शुद्धि पूर्वक धारण करना (३) परिहार विशुद्धि—शरीर साधना (प्राणायाम आदि साधनों) से प्राणि घात का परिहार रूप चारित्र विशुद्धि (४) सूक्ष्म सांपराय—प्रशांत या प्रक्षीण कषाय होने पर सूक्ष्म-लोभ के रहने से जो चारित्र हो और (५) यथाख्यात चारित्र—जैसा आत्मा का स्वभाव आख्यात किया गया हैं, वैसे निर्मल स्वभाव का प्रकट रहना है। ये चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम हो जाने पर ग्यारहवें से चोदहवें गुणस्थानी का चारित्र रूप है।

प्राचीन आम्नाय में संयम इन ही पांच चारित्र के रूप था। अब अर्वाचीन आम्नाय में व्रतों के रूप में है। अब पांच व्रत, पांच समिति तथा तीन समिति के रूप में श्री महावीर वर्धमान तीर्थंकर द्वारा तेरह प्रकार का चारित्र कथन है जो मुनि जनों को सकल देश रूप और गृही श्रावकों को एक देश रूप चारित्र ग्रहण होता है।

"तपसा निर्जरा च"—यह कह कर तत्वार्थ सूत्रकार ने तप को कर्म-निर्जरा का मूल हेतु कहा है। अतः तपोयोग ही मोक्षमार्ग है। स्वरूपाचरण का भी मूल तप ही है क्योंकि शुक्ल-ध्यान रूप तप अङ्ग में ही स्वरुपाचरण प्रकट होता है। तप के फल भाव-शुद्धि, मानसिक–शुद्धि तथा चित्त–विशुद्धि है।

तप आलोचन अर्थ में तप आत्म-निरीक्षण, आत्म-ध्यान, मन वचन के संवर, कषाय तथा रागद्वेष के निग्रह आदि विस्तृत अर्थ को प्राप्त होता है। काय, इन्द्रिय, तथा मन के निग्रह के लिए ही मासी तप, बरसी तप आदि रूप से तप-साधनाएं हैं। तप के लिए कहा गया है कि शक्ति—के अनुसार तप करना चाहिए, न अपनी शक्ति (सामर्थ्य) से कम, न अधिक ही तप होना चाहिए। "शक्तितः तप"—इसीलिए सूत्र दिया गया है। "इच्छा निरोध तपः"—इस लक्षण में राग का उपशम या क्षय होने पर जो निरिच्छुकपणे का उदय होता है, वह यथार्थ तप का स्वरूप है। ज्ञान सहित तप ही असंख्यात गुणी निर्जरा रूप होता है।

तप की शोभा क्रोध का जय एवं क्षमा है, द्वन्द्वों का सहन करना तथा इन्द्रियों का जय भी तप रूप है। अशुद्धि और पापों की अपार राशि को तपाग्नि (ध्यानाग्नि) क्षणात् भस्म कर देती है।

तप से परा तथा अपरा दोनों प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती है। कफ, मल अमर्प सर्वोषधि की ऋद्धियां तथा संभिन्नश्रोत्रलब्धि आदि लब्धियां तप से प्राप्त अपरा सिद्धियां है।

तप से प्राप्त इन्द्रिय जय से ही मनोजयित्व, विकरण-भाव तथा प्रधान जय का होना महर्षि पतंजलि ने भी स्वीकार किया है। मनोजयित्व मन के समीप में व दूर कहीं भी क्षणात् से गति-शक्ति की प्राप्ति है। विकरण भाव-स्थूल देह के बिना ही दूर देश में स्थित वस्तु या व्यक्ति को प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति है प्रधान जय प्रकृति-लय है जो अस्मिता अन्वय और अर्थत्व अवस्था में फलित होता है। अस्मिता तो दसों इन्द्रियों की सूक्ष्मावस्थाहै। त्रय-गुण रूप प्रकाशित क्रिया तथा स्थिति की व्याप्ति जो मन सहित इन्द्रियों में है, वही इनकी अन्वय अवस्था है। और मन सहित इन्द्रियों की जो सार्थकता है वही इनका अर्थत्व है।

संभिन्नश्रोत्रोलब्धि रूप ऋद्धि में एक ही इन्द्रिय सभी इन्द्रियों केविषयों को ग्रहण करने लगती है। चरण-लब्धि, आशीविष/लब्धि, अवधि-ज्ञान लब्धि, मनः पर्याय लब्धि तप प्रसाद से होती हैं। जंघा-चारण लब्धि तप से, विद्या-चरण लब्धि विद्या से प्राप्त होती है। आशीविष-लब्धि अनुग्रह तथा श्राप, यानी अनुग्रह तथा निग्रह रूप होती है। अवधि ज्ञान लब्धि "रूपी" पदार्थों का नियत अवधि तक जानने वाला ज्ञान होता है और मनः पर्याय ज्ञान अढाईद्वीप में संज्ञी जीवों के मनोद्रव्यों को जानने वाला होता है। ये दोनों ज्ञान भी है और ये लब्धियों में भी गिने जाते हैं।

बौद्ध योग की षड् अभिज्ञाएं भी योग-विभूति रूप होती है। ये (१) प्रति संचित् (२) चतुर्विध ऋद्धि, वहन, अधिमोक्ष, मनोवेग रूप तीन प्रकार की आकाश-गमन ऋद्धियां तथा चौथी प्रकार की संकल्प से विषय निर्माण ऋद्धि हैं, (३) दिव्य श्रोत्र तथा पर-चित्त ज्ञान (४) पूर्व जन्म-स्मृति (५) दिव्य दृष्टि तथा (६) आस्रव क्षय-कर ज्ञान हैं। इनमें पहली पांच अपरा ऋद्धियां और अन्तिम ही मोक्ष मूलक सिद्धि है।

बौद्ध साहित्य में शून्य मार्ग यानी आकाश में चलने की सामर्थ्य को अर्हन्त-जिनेश्वर का बाह्य लक्षण माना है। यह जैनों की चारण-ऋद्धि से तुलनीय है। यह भी उल्लेखनीय है कि अर्हन्त केवली तथा तीर्थंकरों को जैन भी अन्तरीक्षस्थ ही मानते हैं। यह सब तप व ध्यान की ही महिमा है।

योग के षडंग

तपोयोग वा योग के षडंगों को आ० जिनसेन ने आदि-पुराण में कहा है। आ० सोमदेव ने भी "योगमार्ग" में योगांगों का वर्णन किया है। इनमें —(१) प्राणायाम से प्राण संयम तथा सूक्ष्म

प्राणोदय होता है। सूक्ष्म प्राण ही उर्ध्व गमनशील होते हैं। (२-३) प्रत्याहार तथा धारणा मन्त्र (पदस्थ ध्यान) साधना की सिद्धि रूप में अनुष्ठित होते हैं। (४) ध्यान में उप योग का एक तान प्रवाह आत्मा में प्रवाहित होता है। ध्यान से स्व-शक्ति विकास तथा अद्वय ज्ञान का प्रकाश होता है। (५) स्मृति में आत्म स्मृति पूर्वक शुद्धात्मा जिनेश्वर के ध्यान करते हुए सुषुम्णा के प्रभामण्डल को उद्योतित करते हुए उसमें उनके प्रभामण्डल में प्रवेश तथा वेध होता हैं। (६) समाधि में शुक्लध्यानावेश से संपूर्ण मोह, कषाय तथा राग के संस्कारों का क्षय करके सर्व कर्मावरणों से निरावरण व स्वयं प्रकाश आत्मा के ज्ञान में स्थिति की जाती है। इनका आगे और विवेचन करेंगे।

वस्तुतः तप से प्राण-शक्ति उत्थित, प्रचलित तथा उर्ध्व-गतिशील होती है। आ० समन्तभद्र ने उस तपस्वी को ही प्रशस्त कहा है, जो ज्ञान-ध्यान और तपोरत है। वह आशा, विषय, और परिग्रह से रहित होता है। विषयाशा तथा तृष्णा मोक्ष में बाधक हैं।

अज्ञान आवरण का नेत्र-जाले के समान क्रिया द्वारा ही छेदन सम्भव

आच्छादिते ज्ञान नेत्रे विषयैः पटलोपमैः।
ध्यान सिद्धि पुरीद्वारं नैव पश्यन्ति जन्तवः॥[1]

पाशयुक्त पशु यानी अज्ञानी पुरुष जिनके ज्ञान-नेत्र विषय रूप पटल (जाले) से आच्छादित हैं, ध्यान सिद्धि के पुरीरूप मोक्ष के मार्ग द्वार को नहीं देख सकते।

इस वर्णन से सिद्ध होता है अज्ञान बुद्धि-गत मात्र ही नहीं होता, वह आवरण युक्त है। जैसे नेत्रों में जाला द्रव्यगत है—वैसे ही अज्ञान के आवरण भी द्रव्यगत हैं। जैसे जाले को आप्रेशन क्रिया द्वारा अलग किया जाता है, मात्र ज्ञान से वियुक्त नहीं होता, वैसे ही आत्मगत आवरण भी तपोयोग की साधन-क्रियाओं से दूर करना होता है। इनके द्वारा जब ज्ञान निरारण हो जाए, तब मोक्ष मूलक ज्ञान-क्रिया संभव होती है।

तप की अनन्त महिमा है। कहा जाता है—"सर्व तपसा साध्यं, तपो ही दुरतिक्रमम्।" तप से अन्तर-परमात्मा भी प्रकाशता है तो ऐसा कौन सा कार्य है जो तप से साधित न हो। तप से शक्ति जागरण के उपरांत ही साक्षी-भाव तथा ज्ञान-भाव आता है। जब तक शक्ति नहीं जाग जाती, कर्म का ही भाव मानव में रहता है। और जब तक कर्म का भाव रहे—तप से विमुख भी नहीं होना चाहिए। तप से तो तीर्थंकर प्रभु ज्ञान युक्त होकर भी विरत नहीं होते।

---

[1] (योग प्रदीप ७४)

ध्यान का पहला अङ्ग चित्त-एकाग्रता है। एकाग्र चित्त लौकिक है, पर वही अणु संस्थ होने पर लोकोत्तर हो जाता है। ब्रह्म-अणुसंस्थ चित्त से जिनेश्वर तुल्य अपना ध्यान करने पर विभुत्व की प्राप्ति होती है, अद्वय ज्ञान होता है और साधक स्वयं सयोगी जिनेश्वर रूप में परिणत होता है।

मानव में ज्ञान ही व्यग्र रहता है अतः ध्यानाभ्यास से ज्ञान ही निश्चल होता है।

जो ध्यानी मन वचन काया के त्रियोग से, गर्मी वर्षा और शीत —त्रिकाल के योग को धारण करके, त्रिक् (माया, मिथ्या और निदान) से रहित होकर, सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से मण्डित होकर त्रिभेद (राग, द्वेष और इष्टानिष्ट बुद्धि) से रहित होकर निर्मल भाव से शुद्धात्मा के ध्यान रूप तपाचरण को करता है, परिषह आने पर भी विचलित नहीं होता, गहन ध्यानाग्नि को ही जलाये रखता है, निराकुल अभेद रूप से जिनेश्वर के प्रभा मण्डल में प्रवेश करके उस स्वरूप में लवलीन, समरस और तद्रूप परिणत होता है, वही ज्ञानी ध्यानी त्रय गुप्ति सहित अन्तर्मुहूर्त के ध्यान रूप लय से अनन्त कर्मों का क्षय कर देता है।

क्रिया योग

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-स्मृति (आप्त देव का ध्यान) ही क्रिया-योग है। योगांग "नियम" में ही क्रिया योग समाविष्ट है। शौच संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर स्मृति या ईश्वर प्रणिधान योग के पांच "नियम" हैं।

क्रिया योग का फल अन्तःकरण की शुद्धि, चित्ति शक्ति का उद्बोधन और निर्बीज समाधि का हेतु कहा गया है। ऐसे योगी जन जिनके देह व मन में मल व दोष-विकार घने व अधिक होते हैं, वे सीधे ही योगाभ्यास में तत्पर नहीं हो सकते, उन्हें अपने दोषों की शुद्धि के लिये क्रिया योग प्रथम ही विधेय है। यह क्रिया-योग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्या आदि क्लेशों का क्षीण करने वाला है।

प्रणिधान

प्रणिधान को "भगवती आराधना" में "सर्वं क्रियाणां परम गुरवर्पणं तत्फलं सन्यासो वा" कहा गया है अर्थात् परम गुरु-प्रभु में ही सब ही शुभाशुभ कर्मो का अर्पण कर देना या कर्म फल का त्याग कर देना कहा गया है। ईश्वर (प्रभु-जिनेश्वर) में ऐसा प्रणिधान समाधि प्राप्ति का उपाय हो जाता है।

प्रणिधान के दो भेद प्रशस्त और अप्रशस्त हैं। पांच समिति और तीन गुप्तियों में जो परिणाम है—वे शुभ हैं। शेष पंचेन्द्रिय विषयों में जो परिणाम होते हैं वे अप्रशस्त हैं। स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट प्रकार के हैं। इन से आत्मा में राग द्वेष होते हैं। ये इन्द्रिय-प्रणिधान

कहे जाते हैं। क्रोध मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा तीनों वेद—ये सब नो इन्द्रिय प्रणिधान कहे जाते हैं। राजवार्तिक में परिणाम, प्रयोग और प्रणिधान को एकार्थक कहा गया है। "सर्वार्थसिद्धि" में सम्यक् प्रणिधान को योग और समाधि कहा गया है। योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः" (६/१२/३३१/३)

स्मरण की इच्छा से मन को एक स्थान में लगाना भी प्रणिधान माना गया है। स्मरण रूप स्मृति वृत्ति की योग-विज्ञान में बहुत महत्ता है। समाधि में जब निष्क्रिय शून्य सा चित्त हो जाता है तो यह स्मृति ही चित्त की उस शून्यता में सकल जिनेश्वर के आप्त ध्येय स्वरूप को जागृति से तथा चिन्तन की सक्रियता से भरित करती रहती है।ऐसे ध्येय का प्रणिधान प्रशस्त प्रणिधान है। जैनों की यह ईश्वर स्मृति पातंजल योग के ईश्वर प्रणिधान से इसलिए भिन्न है कि पातंजल ईश्वर तो कल्पना मात्र है—वह लोक में साधक से बाह्य एक शक्ति की एक कल्पना मात्र है जिसका न कोई रूप है न ध्येयाकार है। परन्तु जैन ध्येय सकल जिनेश्वर वस्तुतः इस पृथ्वी पर विचरे हैं, और वे साक्षात् स्वरूप यथार्थतः इस जगती-तल पर हुये हैं। जैन प्रतिमाओं में वही स्वरूप साकार सकल रूप से लक्षित होता है और साधक उस के ध्यान से उस स्वरूप को अपने अंतःकरण में साक्षात् उल्लसित करके ग्रन्थि-मुक्त और कृतार्थ होते हैं और आत्म साक्षात्कार को प्राप्त होते हैं।

जिनेश्वर रूप पवित्र शुद्ध आत्मा के ध्यान से पर्याय-परिणतियाँ शुद्ध होने लगती हैं और उनकी परिपूर्ण शुद्धि पर आत्मा तथा पर्याय दोनों की समान शुद्धि ही आत्म-स्वरूप की निर्मलता है। यह निर्मलता भाव-निर्मलता तथा साथ ही द्रव्य कर्म-प्रत्यय निर्मलता रूप होती हैं। जो चित्त चलाचल रूप वृत्ति तथा आशय से रहित होता है, वही मुक्ति के लिये योग्यहोता है।

संयम का स्वरूप

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-इन तीनों की एकता को भी संयम का स्वरूप माना गया है। इनमें स्वाध्याय रूप निज आत्मा का ही शुद्धोपयोग मय ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। वह ही उत्कृष्ट तप है तथा साथ ही वह ही परम शुद्ध स्व आत्म प्रभु आत्म देव की स्मृति है, स्मरण है, चिंतन है। स्वात्मा जिनोपम है अतः जिनस्वरूप ध्यान में भी जिन शुद्धात्मा के स्वरूप की स्मृति तथा भावना रहनी चाहिए। ऐसा होने पर इसकी सतत् स्मृति में तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर स्मृति रूप प्रणिधान सब ही अनुष्ठित हो जाते हैं। पंच व्रत जो अणु तथा महाव्रत रूप हैं-जो क्रमशः गृही श्रावक तथा मुनि के होंते हैं—का पालन संयमपालन है। इस रूप में संयमाचरण और स्वरूपाचरण दो भेद रूप चारित्र का आचरण होता है।

चित्त के विचार में ही चित्त के स्वरूप, चित्त की एकाग्रता, चित्त की प्रशस्तता, चित के निरोध-यानी चित्त के एकाग्र परिणाम, चित्त के निरोध-परिणाम, तथा चित्त के समाधि-परिणाम तथा प्रतिप्रसव-संस्कार-शेष की चर्चा की जाती है तथा इनके ही विचार-विवेचन में सवितंक, सविचार,

सविकल्प, साकार, सगुण, संप्रज्ञात तथा निर्वितर्क, निर्विचार, निर्विकल्प, निराकार, निर्गुण, असंम्प्रज्ञात समाधियाँ भी स्पष्ट की जाती है। इनमें चित्त सापेक्ष सबीज समाधि तथा निर्मल आत्म-सापेक्ष तथा चित्त-निरपेक्ष निर्बीज समाधि के भी वर्णन होते हैं। ध्यान विचार से अर्हंत्-योग में इन सबका अन्तर्भाव धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान में हो जाता है। जीव का—"चित्त भावोऽहं" से निकल कर "चिद्भावोऽहं" में आना ही अध्यात्म का आरम्भ है, वह ही ब्रह्म-विद्या है । यानी स्व आत्मा के ज्ञान स्वरूप का अध्ययन तथा आराधना ही ब्रह्म-विद्या है । इस योग परम्परा में वीतरागता से मोक्ष होता है।

यम नियम की सार्थकता

अर्हंत् योग-विज्ञान में पंच व्रत रूप यम हैं। ये पंच व्रत तथा पंच नियम रूप संयम धर्म योग साधना की आधार भित्ति है। इन यम व नियम रूप स्तम्भों पर योग विज्ञान का प्रासाद प्रतिष्ठित है। चिन्तन पक्ष में तो अनेकांत आधार शिला है ही, मगर योग महल के सतत चोकीदार संयम, तप, त्याग, तथा स्वाध्याय ही हैं। इस योग के भवन के वे अधिकारी हैं जो संयम साधना; तप-तेज, और त्याग-तृप्ति से संवलित है। इस योग परम्परा में श्रावक तथा श्राविका, श्रमण तथा आर्यिका, सब के लिये समान रूप से साधना का सम मूल्य उद्घोषित और निनादित है। कहीं पर भी पक्षपात या भेद नहीं किया गया है तथा समता के संधारण पर जीवन में सर्वांगीण विकास को लक्षित किया गया है। इस समता में मानवीय तथा आध्यात्मिक उच्चता की पराकाष्ठा है तो त्याग के समर्पण में तर्कातीत आनन्द का सागर उमड़ता है। साधक आप अपने पथ का निर्माण करता है। स्वयं की अकेला उस पथ का पथिक होता है तथा उससे आत्म-तेज ही आत्म परिपूर्णता के विकास को लेकर प्रस्फुटित हो जाता है।

जीवन उर्ध्वगामी तेज

जीवन उर्ध्वगामी तेज है। आत्मा को उर्ध्वगतिशील इसी कारण से कहा गया है। तेज है अतः वह अग्नि के समान उर्ध्व परिणमन भी करता है। आत्मा परिणमन मुक्त तथा परिणमन युक्त और परिणमनकारी है, अतएव वह संसारी दशा में आसपास के वातावरण के अनुकूल होकर उसे अपने अनुकूल बनाकर ग्रहण (अडाप्ट) करता है। वह इस जीवन में सदृश्यता (अनुकूलता) में सहयोग और साथ ही विसदृश्यता (प्रतिकूलता) से संघर्ष में रत होता है। इसे ही जीवन-संघर्ष (स्ट्रगल आफ लाइफ) कहतेहैं। इसी में जीवन पचता है। अब या तो वह बाह्य-मुखी होकर अधिकाधिक भव-भ्रमण के कारणों में फंसता, डूबता और क्लेश-भोग करता रहता है अथवा अपने विषय-विकारों को जानकर, आत्मनिर्णय करके अपने को अन्तर्मुख करके अन्तर्शोधन द्वारा उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करलेता है।

अतः कहा गया है

बंध बंधावे अंध ह्वै ते आलसी जनजान ।
मुक्ति हेतु करनी करैं, ते नर उद्यमवान ।।

सम्यक्त्व ~~म्रा~~ का उदय

कर्तव्य भाव से अपने को युक्त व्यवहार में दृष्टा भाव तथा ज्ञान भाव की स्थिरता से जीवन के विषों को पचा लेना होता है। पचाने का ऐसा कार्य ही स्वजीव संरक्षण है। इसी पाचन क्रिया से द्वैत मय संघर्ष और आकुलता से विमुक्ति मिलती है। इस पाचन क्रिया में बाहर से अंदर की ओर तथा अंदर से फिर बाहर की ओर—इस प्रकार द्वि–मुखी दिशा बराबर रहती है। इह पाचन क्रिया में द्वैतके भाव, अनुभाव तथा अनुभवों तथा ताप अनुताप आदि में से गुजरना होता है। इनसे ही जीवन में विष और अमृत की प्राप्ति भी है। विषों को पीना पड़ता है और पीकर भी अनासक्त तथा अडोल रहना होता है। जीवन की सर्वांगीण दृष्टि को सद्दृष्टि या सम्यक् दृष्टि कहते हैं। उसमें जीवन में अनुभूत जो ऊंच व नीच, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ सब का अनुभव द्वारा विवेक व हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त होता है। जीवन की सब अनुकूलताओं को तो सहज स्वभाव से लेना ही होता है, प्रतिकूलताओं को भी न केवल अनुद्विग्न रह कर प्रत्युत अनुकूलता में परिणत कर लेने के लिये प्रत्येक घटना को आसक्ति वीतराग असंग भाव से लेना आवश्यक होता है। कहा है "जहां न रागादिक दशा, सो सम्यक् परिणाम।" तब ही सम्यक्त्व के प्रभाव से अबंध दशा का उदय है। तब सम्यत्क्व तत्वश्रद्धा मात्र ही नहीं होता सम्यक्त्व में ज्ञान मगन रहने की भी चेष्टा होती है।

विष-पाचन और अमृतीकरण

जीवन यहां मोक्ष के अवसर को लेकर है। यहां पर यह मोक्ष सरलता से प्राप्तव्य भी नहीं है। अनादि काल की अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न परिस्थितियों में प्राप्त एवं व्याप्त विष को वापिस उगलने की प्रक्रिया सरल नहीं होती। जीवन में जैसा भी विष- व्याप्त है, यह भी सामर्थ्य (शक्ति) जीवन मेंमौजूद ही है कि वह इस विष को पचा भी जाए। अतः अमृतीकरण की प्रत्येक जीव में सामर्थ्य (शक्ति) मोजूद है। सुर-असुर रूप वृत्तियों के मंथन में पहले तो विष तथा बाद में अमृत की प्राप्ति होती है। तप त्याग आरम्भ में कठिन और विषसम प्रतीत होते है, पर अंत में अमृतीकरण कर देते है। अतः यदि जीवको अमृत की आकांक्षा है तो विष को शिव की भांति पीना पड़ेगा। पर शिवकी ही भांति इस विष को अपने में व्याप्त भी नहीं करना होगा, वह गले से नीचे न उतरे। विष से कण्ठ के नीचे के आंतर प्रदेश अप्रभावित ही रहने चाहिये। "करै न नूतन बंध, महिमा ज्ञान विराग की।" वैराग्यमय ज्ञान दशा में ही अबंध दशा है और वही वस्तुतः अमृतीकरण है। असंग दृष्टाभाव में अमृत का ही उद्भव रहता है।

चित्त के चांचल्य व दुर्बलता को चित्त के एकाग्र तथा निरोध परिणामों द्वारा हटाना होता है। हीट प्रूफ कांच के बर्तन के निर्माण के लिये जैसे पहले उसे ऊंचे तापक्रमों में ही पकाया जाता है, तब

है तबही वह विद्युत् को रोक रखने के योग्य होता है। संसार के ताप से भी अधिक ताप वाले तप के ताप को सह्य कर लेने पर अव्यक्त अलिंगग्रहण आत्म-तत्त्व को व्यक्त करने की क्षमता का उदय होता है। वह क्षमता ही शक्ति-प्रकाश को प्रकट रूप से ग्रहण रखने तथा अभिव्यक्त करने की निमित्त होती है। संसार के ताप रूप विष से ही उस शक्ति का अमृत प्रकट होता है। तब ही जीवन का, आत्मा का यथार्थ आनन्द समझ में आता है। अमृत चित्त में ही परिणमता है। आत्मा तो अमृत स्वरूप ही है। अमृत से चित्त का प्रागाट्य नहीं, अमृत ही चित्त को निर्विकार और रस मय कर देता है।

संसार का ताप अनुताप जब असंग निर्लिप्त भाव से सहनीय होता है तब ही अमृत परिणमित होता है। इन्द्रियाँ, और विषयों का सुखाभिलाषी तो अपना बंधन ही दृढ़ करता है—सुखादि की कामना से अमृत की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा स्वयं चिन्तामणि है, सब अभावों की उसी में पूर्ति है। आत्मा ही स्वयं आप अपना चिन्तन, शोधन, मंथन करके अमृत स्वरूप को घटित करके अमृत की प्राप्ति करता है। विभाव से प्रतिक्रमण होने पर स्वभाव धारा में आना ही अक्षय जीवन का मोड़ है।

मानव जीवन प्रभु परिणति के लिए महान सुखद अवसर रूप है अतः अमूल्य है और दुर्लभ है। स्वर्ग, नरक तथा पशु गति में तप योग संयम नहीं हो सकते। नारकी इतने दुःखी व आकुल व्याकुल रहते हैं कि संयम साधना ग्रहण व धारण ही नहीं कर सकते। देव गति में देवों के कण्ठ में सदा अमृत झरता है—वे अनशनादि तप कैसे करें? पशु पक्षी न विवेकी हैं न स्वतन्त्र। यह तो मात्र मानव जीवन का गौरवमय अवसर है। मानव ही मोक्ष का पथिक बन सकता है—वही संयम तप तथा ध्यानादि का अनुष्ठान कर सकता है। ध्यान रूपी दीपक राग रूपी पवन से रहित रहने पर निश्चल प्रज्ज्वलित होकर आत्मा के परम स्वरूप को प्रकाशता है। स्व और पर पदार्थ के भेद ज्ञान कराने वाले निर्विकल्प ध्यान और ज्ञान के दीप जलाए बिना शीतल शान्ति की किरणें प्राप्त नहीं होती।

वस्तु व्यवस्था की ज्ञान रश्मियाँ तथा गुरु चरणों का अंकन

यह विश्व अनादि है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है। सब पदार्थ अपनी-२ निजी उपादन शक्ति से परिणमन करते हैं। निजी योग्यता से स्वतः संचालित विश्व व्यवस्था की आकाशीय (निर्मल) ज्ञान रश्मियों को जब मानव अपनी चिन्तामणि रत्न द्वारा आकर्षित करके ग्रहण व एकाग्र करता है तो जीवन में सब क्षोभ विक्षोभ आकुलता व्याकुलता रूप विष समाप्त हो जाते है, स्व में तन्मय और पर में निस्पृह भाव उदय होता है। ऐसे ज्ञान के प्रकाश में वह अपनी ज्ञान प्रकृति की निर्मल अभिव्यक्ति तथा पूर्णत्व के प्रकाश की चाहना करता है। तब उसे ध्यान में अपनी चिन्तामणि में परम गुरु के चारित्र-चरण प्रकाशकिरणमालाओं के मध्य वैश्विक ज्ञान धाराओं को लेकर आविर्भूत होते अनुभूत होते हैं और उस स्थिति में स्व की मर्यादा, स्व के उपयोग, एवं स्व की स्थिरता और अनन्त विराट्ता के रहस्य व मन के बोध अधिगत होते हैं। वह पाता है कि स्व की प्राप्ति की विभिन्न भूमिकाओं में गुरु चरणों के अंकन ही निरालम्ब एवं एकाकी निर्विकल्प शून्य अनन्त पथ में एक मात्र मार्ग प्रदर्शक प्रकाश स्तम्भ हैं।

अनादि भव–भ्रमण की भीषण व्याधि जीव प्राणी को लगी है। अतः जिस प्राणी-महा करुणा से अभिभूत महा प्राण व्यक्तित्व के धनी आदि गुरु भ० ऋषभनाथ ने महान् ऐश्वर्य–जगत को विसर्जित कर दिया था और जिस निर्लेप वीतराग भाव स्थिति में महानिष्क्रमण किया था, वह अभूत पूर्व और अतिदिव्य था। उन्होंने बन के उन्मुक्त आकाश के नीचे भव-व्याधि पर, एक अनोखे गुणी विशेषज्ञ के समान अन्त-खोंज आरम्भ की, और वे चिन्तन के परदों को एक के बाद एक खोलते चले गये और उन्होंने भव-व्याधि की आमूल विध्वंसकारिणी औषधि योग मय "अप्पाण धम्म" को प्राणी मात्र के हित के लिए प्रस्तुत किया। उनके तप त्याग और आत्म साधना की विनम्र ((प्रशांत) दीप्ति का कैसा दिव्य आलोक रहा होगा? अलबर्ट श्वाइत्जर की ये पंक्तियाँ भी उनके लिए छोटी लगती हैं—

"अनन्त गहरा चिन्तन अत्यन्त विनम्र होता है। उसे केवल यह चिन्तना रहती है कि वह जिस "लौ की रक्षा कर रहा है, वह तीव्र ऊष्मा और शुद्धता से शुद्ध आलोक के साथ जलती रहे। वह इस चिन्ता में नहीं पड़ता है कि उसकी लौ का प्रकाश कितनी दूर तक पहुंच रहा है।"

पर आज तो हम हजारों वर्ष के अन्तराल के बाद भी उस प्रकाश की लौ को देख रहे हैं। और यह भी देख रहे हैं कि इस लौ ने किस प्रकार समस्त विश्व के अनन्त चिन्तकों तथा धर्म प्रवर्तकों को भी प्रभावित किया है।

ध्यान प्रकाश के चरण

वस्तुतः उन्होंने गहरे आत्म-तत्व में उतर कर यह सिद्ध कर दिया कि मानव प्राणी के अनादि से साथ लगे कर्म कलंक के वज्र कणों से निर्मित कर्म-संस्थान को जर्जरित तथा अदृश्य किया जा सकता है। कर्म संस्थान सूक्ष्म पुद्गल के रूपक कणों से निर्मित आवरण है जिसमें आत्मा अनादि से बन्धन में है। ध्यान की गहरी स्थिति में काल और क्षेत्र से उत्तीर्ण होकर समस्त वासना तथा राग के टूट जाने पर आत्मा के चुम्बकीय (Magnetic) क्षेत्र में पहुंच कर ऐसा एक शून्य क्षेत्र का निर्माण हो जाता है कि जिसके स्पर्श से अनात्म संस्थान छिन्न-भिन्न हो जाता है। तब ध्यान में जीवात्मा काल जयी क्षणों को स्पर्श कर लेता है। उसमें काल प्रभाव नहीं होता। ऐसे क्षण के साथ जब क्षेत्र का भी एकत्व हो जाता है तो कालव क्षेत्र (Time and Space) से अबाधित होते ही जीवात्मा अपनी त्रय देहों के पाशों को शिथिल करके देहातीत दशा का अनुभव करता है। उसी में स्व एकत्व की निर्माण प्रक्रिया में होकर लेश्याओं का क्रमशः घनत्व निर्जरित होता है और हरी व नील लेश्याएं उन्मुक्त होने लगती हैं। निर्जरा के कार्य का आरंभ भी अनुभूत होने लगता है। हरित् वर्ण और नीलवर्ण ज्योतियों में जब साधक अपने को आवृत्त देखता है और अङ्ग-अङ्ग से तद्रूप-वर्ण ज्योतियाँ प्रवाहित होने लगती हैं—उस काल ही साधक देहातीत होकर और स्व में एकाग्र हुआ अनन्त गगन में अपने को अदृश्य हुआ प्रतीत करता है। पर आयुष्य कर्म का बन्धन रहता है अतः वह वापिस अपने देह में जागृत हो जाता है पर संसार की वासना से रहित होकर हरित् और नील वर्ण का ज्योति प्रवाह अन्तर्बाह्य प्रवाहित

हुआ ध्यानाग्नि से पीत पद्म और शुक्ल लेश्याएं रूप परिशुद्धहोकर श्वेतिमा में परिणत होने लगता है तब परिपूर्ण शुक्ल वर्ण होकर आत्मा रूपक वर्णों से रिक्त हो जाता है और अन्तर्बाह्य सूर्य सा शुद्ध शुक्ल प्रकाश छा जाता है। जीवात्मा तब सर्व दुःखों से अतीत तथा संपूर्ण घातियां कर्मों से विर्वजित, प्रभु तुल्य निर्मल स्व दशा को प्राप्त हो जाता है, वही सकल जिन अर्हंतपरमेश्वर केवल ज्ञान अवस्था है। तब वह प्रभु आत्मा इस स्थूल देह में रहते भी इससे परिपूर्ण परे और अस्पृष्ट ही रहता है यद्यपि वो इस देह में क्रियाशील यानी सयोग अवस्था में होता है। वह तव संपूर्ण नराकार चैतन्य धन परम ज्योति रूप ही होता है और उस निर्मल घन स्वरूप में ही आयुष्यादि अघातिया कर्मों को भी विशीर्ण करके सिद्धालय में जा विराजता है।

भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) के मार्ग में मानव भी देववन्द्य हो जाता है

ऐसी ध्यान समाधि की प्रक्रिया को और वीतराग ज्ञान को प्रवर्तित करने वाले उस आदि प्रभु हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ को, जिन्होंने अपना सारा जीवन प्राणियों के अक्षय आनन्द की, केवल ज्ञान की खोज में समर्पित कर दिया था,—उस विनम्र निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ वीतरागी परम करुणा मय निर्मल चारित्र पुरुष को–जो अब सिद्धालय में अमर विराजमान है—हम श्रद्धा सुमन चढाते हुए उनके प्रति श्रद्धावनत है और कृतज्ञता से आत्म विभोर हैं। हम उनकी स्मृति से अपने प्राणों की निःश्वास वायु को स्निग्ध और सुमधुर बनाते हैं। उनका जीवन, ज्ञान, और चारित्र अभात्र व भव-प्रताडित मानव मात्र के लिए एक नव आशा, एक दीप्त ज्योति-शिखा है। वे विश्व के सब ज्ञानियों व संत पुरुषों में अग्रज व अग्रगण्य हैं और वंदनीय हैं।

जब तक जीवात्मा प्राणी विश्व रंग स्थली पर रहेगा—उनका आत्मानुशासन रूप योग प्रवचन जीवात्माओं को शुद्ध और निर्मल जीवन जीने और समस्त चैतन्य संभावनाओं को विकसित करने की प्रेरणा देता रहेगा। इस विज्ञान में सर्व जागतिक वस्तु तथा भाव के राग के त्याग पूर्वक चैतन्य ज्ञान वस्तु की दृष्टि लेकर आत्म चिन्तन को अनन्त चरम विकास पर ले जाने की शिक्षा है जिसमें आत्म-ध्यान और आत्म-ज्ञान एकाकार हो जाते हैं। जीवन उर्ध्वगामी तेज है—निर्मल और अखण्ड रूप है, अतः जीवन की दृष्टि एकांगिक नहीं–अनेकांत मय दृष्टि ही पूर्ण दृष्टि है जिसमें जीव को समता, शांति, निर्मलता, और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। विश्व के सब प्राण अपनी सब सम्भावित समस्याओं का समाधान इस पूर्ण दृष्टि से प्राप्त करें। दश वैकालिक सूत्र गाथा में कहा है—

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवादि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणा॥

अर्थात्—यह आत्म धर्म उत्कृष्ट मंगल रूप है। अहिंसा संयम और तप रूप है ऐसा धर्म जिसने मन में धारण कर रक्खा है, उसे देव गण भी नमस्कार करते हैं।

फरिश्ते सर झुकाएं, ताजीम और तबाजो के लिए।
अय आदमी! आदमियत हो तो ऐसी हो॥

• • •

६. योग संदृष्टियाँ आदि; अष्ट विध विष कुंभ और अष्ट विध अमृत कुंभ; योग-मार्ग और अष्टांग

(१)

- आ० हरिभद्र की योग-संदृष्टियां आदि
- योग बिन्दु
- योग दृष्टि समुच्चय
- संदृष्टियों की समीक्षा
- योग शतक

(२)

- अष्ट विध विष कुंभ और अष्ट विध अमृत-कुंभ
- पडिकम्मण क्रिया में योग के अष्टांग
- तीन भूमिकाएं
- जीव की तीन कोटियां
- मोक्ष होने में अनुक्रम

(३)

- योग मार्ग और योग के अष्टांग
- प्राणायाम
- प्रत्याहार, धारणा, चतुर्भेदात्मक ध्यान
- स्वाध्याय
- समाधि
- यम
- नियम
- ध्यान
- भगवान ऋषभदेव द्वारा कायोत्सर्ग विधान (काय निरोध) और खड्गासन
- भगवान् ऋषभदेव द्वारा कषाय निरोध
- भगवान् ऋषभदेव का मन वचन काय निरोध रूप ध्यान
- ध्यान करने की पात्रता
- बाईस परिषह और दृष्टांत
- आत्म स्वरूप ध्यान की सिद्धि
- योग–मुद्रा

- ध्यान–ऋद्धियाँ
- देह और मन की शून्य निश्चल स्थिति में ज्ञान-बोधक शुक्ल ध्यान
- अमनस्क योग का संकेत
- धर्मध्यान चैतन्य चक्रों का ध्यान
- निर्मनस्क योग रूप शुक्ल ध्यान तथा धर्म ध्यान के फल
- देव सरिता–ध्यान गंगा में अवगाहन
- चतुर्भेदात्मक ध्यान प्रत्यय और चतुर्गति
- शुक्ल ध्यान में आरोहण, सामर्थ्य का स्वरूप
- मुक्ति का स्वरूप

(४)

- इस सर्वत्र अन्तरंग-योग विज्ञान की कुछ विशेषताएं और उपनिषद ज्ञान से समानताएं और असमानताएं
- आत्मा का एकत्व स्वरूप
- आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, और काल
- दिव्य मणि,—आत्मा
- तीर्थंकरों की विशिष्ट ध्यान प्रक्रिया
- वर्तमान क्षण का केवल किरणों वाले निर्मल स्वरूप में सतत् समर्पण
- वर्तमान क्षण का पुरुषार्थं आत्मा में
- आत्म शक्ति निःसीम
- आत्मा का भाव
- आत्मा का भव
- आत्मा भव-बाधा से विवर्जित
- एक ज्ञान मात्र-भाव में सम्बोधित सिद्धि और मुक्ति का मार्ग
- रत्न त्रयात्मक आलोक की शिखा निर्वाण तक जलती जाती है।
- धर्मों में जिन प्रणीत अप्पाण धम्म ही उत्कृष्ट
- करुणा रस मय योग-शासन एवं धर्म तीर्थ की वन्दना
- चार मंगल
- चार लोकोत्तर तत्व
- चार शरण
- "अप्पाण शरणं पव्वज्जामि"--ही इसका उदघोष
- तीर्थंकर पुरुषों के अमिट चरण चिन्ह और अमृत घट बनने की भावना

अर्हत् शासन के ध्यान और समाधि के संदर्भ में ध्यान पर अनूठे ग्रन्थ "ध्यानाध्ययन" अपर नाम "ध्यान शतक" के टीकाकार आचार्य श्री हरिभद्र का यहाँ उल्लेख आवश्यक है। वे वैदिक संप्रदाय में से निकल कर जैन महा साध्वी याकिनी महत्तरा के शिष्य हुए। उनकी कृतियों का यहाँ सक्षिप्त वर्णन देते हैं। ये श्वेताम्बर आचार्य हुए हैं।

आ० श्री हरिभद्र की योग संदृष्टियां आदि

आ० श्री हरिभद्र योग साहित्य में अपना अलग ही स्थान रखते हैं। उन्होंने परम्परागत वर्णन शैली को अपनी नई संज्ञाओं तथा परिभाषा से मोड देने का प्रयास किया। इनकी योग विषयक चार रचनाएं प्रमुख हैं–(१) योगविन्दु (२) योग–दृष्टि समुच्चय (३) योग शतक और योग–विंशिका। इनमें प्रथम दो संस्कृत तथा अन्तिम दो प्राकृत भाषा की रचनाएं है। इनकी एक वृत्ति "ध्यानाध्ययन" पर भी है।

(१) योग बिन्दु :– में मुक्ति से योग कराने वाले व्यापार को योग का अर्थ कहा है।

योग के अधिकारियों को दो वर्गो में लक्षित किया हैं–(१) चरमावर्ती और (२) अचरमावर्ती। मिथ्या दर्शन की ग्रन्थि का वेध कर लेने वाले योगी चरमावर्ती हैं –उनका संसार–काल मर्यादित हो गया है। अचरमावर्ती वे हैं–जो विषयी व काम–सेवी है, जिनके मोह कर्म की प्रबलता है। ये योग के अनधिकारी हैं। चरमावर्तियों को पुनः चार विभाग में कहा है (१) अपुनर्वन्धक (२) सम्यग्दृष्टि (३) देश विरति और (४) सर्व विरति। ये विभाग जैन गुणस्थान उत्क्रान्ति की श्रेणियों के ही विभाग हैं। चारित्र विकास को ५ भूमिकाओं में लक्षित किया है–(१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता और (५) वृत्ति –संक्षय। अध्यात्म के क्षेत्र में व्रत–ग्रहण, मैत्री आदि चतुर्विध भावना तथा आत्म चिन्तन साधना का समावेश है। भावना में बार–बार चिन्तन द्वारा अशुभ भावों की निवृति तथा शुभ भावों की स्थापना की अभ्यास- साधना है है। ध्यान में–दो बातों के अभ्यास को साधन कहा है (१) तत्व चिन्तन की भावना का विकास तथा (२) एक पदार्थ या तत्व पर चित्त की एकाग्रता यह भव–भ्रमण के नाश का हेतु है। समता में वस्तु तथा व्यक्ति के सम्बन्ध पर माध्यस्थ (तटस्थ) वृत्ति रखने की अभ्यास–साधना है। वृत्ति–संक्षय में विसदृश द्रव्य के निमित्त से होने वाली चित्त वृत्तियों का समूलतः नष्ट करने का अभ्यास रूप साधना है। इस प्रकार पाँचो भूमिकाओं का स्वरूप पृथक–२ कहा है।

समाधिरेष एवान्यैःसंम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्ष रूपेण वृत्त्यर्थ—ज्ञानतस्तथा ॥[1]

---

1. योग बिन्दु–४१८

असंम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधि र्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेष वृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ।।[1]

इस प्रकार अशेष वृत्तियों के निरुद्ध स्वरूप असंम्प्रज्ञात समाधि को ही वृति-संक्षय साधना के नाम से कहा है। इस वृत्ति संक्षय साधना में ही घाती व अघाती कर्मो का क्षय बताया है। वृति संक्षय की साधना से पूर्व की चार साधनायें सम्प्रज्ञात समाधि अभ्यास की ही कोटि में है । आ० श्री हरिभद्र साधना को देश विरति से आरम्भ कराकर सर्व विरति —१४वें गुण स्थान पर्यन्त ले गये हैं।

(२) योग दृष्टि समुच्चयः– इसमें योग बिन्दु से भिन्न प्रकार से योग पर विचार हुआ है ।

यहाँ आ० श्री० हरिभद्र ने अध्यात्म विकास के आठ विभाग किये है,—इन विकास क्रमों को ही आठ दृष्टियाँ कह कर स्पष्ट किया है । सत् श्रद्धा युक्त श्रुत बोध को दृष्टि कहा है। उपाध्याय श्री अमर मुनि का मत है "ये आठ विभाग पातंजल योव—सूत्र में क्रमशः यम, नियम, प्रत्याहार आदि के तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि, अष्ट पृथक जनर्चित दोष परिहार और उद्वेग, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणों के प्रकट करने के आधार पर किये गये है" (योग शास्त्र—एक परिशीलन)। श्री हरि भद्रसूरी ने इन दृष्टियों का अध्यात्म रूप से संस्कृत में वर्णन किया है और उसके ऊपर से श्री यशोविजयजी ने उन्हें ढ़ाल रूप से गुजराती में लिखा है।

इस आठ दृष्टियों के नाम है (१) मित्रा दृष्टि (२) तारा दृष्टि-(३) बला दृष्टि (४) दीप्रा दृष्टि (५) स्थिर दृष्टि (६) कान्तादृष्टि (७) प्रभा दृष्टि तथा (८) परा दृष्टि । महर्षि पतंजलि ने जहाँ योग का अर्थ चित्त वृत्ति निरोध में किया, वहीं आ० श्री हरिभद्र ने इसे आत्ममूलक आध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त किया है।

जन साधारण व्यक्तियों की सामान्यतः ओघ दृष्टि रहती है। वह संसारोन्मुख सामान्य दर्शन की दृष्टि हैं। उसमें विचार और विवेक का सद्भाव कम होता है । योग दृष्टियों का आरम्भ विवेकशीलता से होता है अतः ये बोध दृष्टि से विलक्षण है । इनमें प्रथम चार आरम्भिक है। इनमें सम्यग्दर्शन प्राप्ति के अभिमुख जीवों को मिथ्यात्व का अंश वर्तमान रह सकता है। यानी ये चारों दृष्टियाँ तो मिथ्या दृष्टि जीवों को भी हो सकती हैं अतः इनमें पतन की आशंका है। अन्तिम चार दृष्टियाँ नियम से सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त रहती है। इनमें पतन न होने से ये अप्रतिपाती कही जाती हैं । ओघ दृष्टि से निकल कर योग दृष्टियों में आना अध्यात्म जीवन का विकास चरण है। जीवन के क्रिया—कलाप का आधार तो दृष्टि ही होती है। योग दृष्टियों में जीवन की धारा अध्यात्म दिशा की ओर बहती है ।

---

[1] योग बिन्दु–४२०

(१) मित्रा दृष्टि—इसमें ५ यम यानी पाँच व्रत सामान्यतया आते हैं। इस दृष्टि की भूमिका में साधक का प्राप्त बोध तृण की अग्नि सदृश है जो जलता तो है परन्तु तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। इसे अखेद लक्षण कहा है, सद्—प्रवृति करते साधक को खेद या दुःख नहीं होता, पर असद्वृति प्रवृति वालों के साथ भी सहिष्णु यानी अद्वेष भाव रखता है। यह सामान्य तथा अस्थायी बोध भूमि है। यह "यम" योगांग से समता रखती हैं।

(२) तारा दृष्टि—ये योगांग "नियम" भूमि के तुल्य है। इसमें शौच संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रहते है। शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि शौच है। जीवनोपयोगी पदार्थों के स्तर पर वस्तुओं की स्पृहा न रखना संतोष है। परिषहों के कष्ट आदि का बिना खेद सहन करना तप है। आगमादि शास्त्रों का पठन व मनन स्वाध्याय है। परम तत्व आत्मा का चिन्तन ईश्वर—प्रणिधान है। इस तारा दृष्टि में बोध को कण्डे की अग्नि तुल्य कहा है। यानी इसमें थोड़ा स्थायित्व है। इस दृष्टि में आकर "जिज्ञासा" वृत्ति का जन्म होता है। इससे पूर्व की दो वृत्तियाँ अखेद तथा अद्वेषमय हैं। इस अभिनव वृति के कारण तत्वज्ञान—अभिमाषा आती है, योग रुचि होती है, साधकों के प्रति मान की वृद्धि हो जाती है तथा शुभ कार्य की प्रवृति विशेष प्रबल हो जाती है।

(३) बलादृष्टि--इस दृष्टि में यथा नाम साधक को विशेष बल का जो पहले कभी नहीं हुआ अनुभव होता है। जागतिक पदार्थों की तृष्णा शांत होने लगती है, सौम्यता का स्वभाव में प्रादुर्भाव होता है अतः स्थिरता भी होने लगी है। ये ही आसन—दृढ़ता या आसन—सिद्धि के सदृश है और इसी कारण यह दृष्टि योगांगों में "आसन" भूमिका है। इस दृष्टि में तत्व श्रवण में विशेष आनन्द रहता है। इस दृष्टि में बोध को काष्ठाग्नि तुल्य कहा गया है। इस दृष्टि की विशेषता है कि सद्-प्रवृत्ति अविघ्न होती है, यदि विघ्न हो भी तो निवारण कुशलता रहती है और वे बाधक नहीं हो सकते।

(४) दीप्रा-दृष्टि —यहां आध्यात्मिक प्राणायाम की प्राप्ति होती है, ब्रह्मभाव नियन्त्रण रूप रेचक, आन्तरिक भाव नियन्त्रण रूप पूरक तथा स्थिरता रूप कुंभक होता है यानी वि-सदृश अनात्मभाव का रेचन, सदृशभाव आत्मभावों का पूरक तथा ब्रह्म भाव की स्थिरता मय कुंभक का अभ्यास होता है। यह अध्यात्म प्राणायाम भूमिका है। यह श्वास नियन्त्रण रूप प्राणायाम की भूमिका है। यहां प्राप्त बोध दीपक की ज्योति के समान स्थिर होता है। बला दृष्टि में तत्व-श्रवण इच्छा रहती है। यहां वह इच्छा श्रवण रूप में परिणत होती है। यहां बोध की स्पष्टता तो होती है तथापि सूक्ष्म बोध का ही अभाव रहता हैं। इसी कारण से इस चौथी दृष्टि को पाकर भी साधक वापिस नीचे चला जा सकता है।

(५) स्थिरा-दृष्टि—ये वेद्य संवेद्य पद है यहां सत्यासत्य की निश्चित प्रतीति, तत्वातत्व का

निश्चित ज्ञान—अतः सूक्ष्म बोध की प्राप्ति होती है। अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इससे पूर्व की दीप्रा दृष्टि तो अवेद्य-संवेद्य पद ही था तथा वहां मिथ्यात्व का भी कुछ अंश वर्तमान था जहां साधक अपनी ही मान्यता को लेकर अथवा बिना परीक्षा जिस किसी का अनुसरण किया करता है। दीप्रा में सम्यक्त्व की केवल भजना है—सम्यक्त्व रहता भी है और नहीं भी। यहां इस स्थिरा दृष्टि में वह निश्चित रूप से रहता है। ग्रंथि भेद हो जाने से सम्यक्त्व का निश्चित आविर्भाव हो जाता है। यहां से साधक बिना पतन की आशंका के आगे विकास करता ही चला जाता है। यहां का बोध "रत्न प्रभा" के सदृश स्थिर होता है। यह योग की "प्रत्याहार" भूमिका है। यहां आत्मा इन्द्रिय विषयों की ओर आकृष्ट न होकर स्वरूप की ओर झुकता है—वह इन्द्रिय-जय की प्राप्ति करता है। जितेन्द्रियता के कारण चारित्र में शिथिलता दूर होने लगती है—दोष निवारण होने लगते हैं—निर्मलता तथा विशुद्धि की उपस्थिति से सूक्ष्म बोध गुण की उपलब्धि होती है। स्थिरता, निरोगता, मृदुता, मलों—विषयक अल्पता, स्वर सुन्दरता, मन-प्रियता आदि कई योगिक गुणों की प्राप्ति होती है। तथा सामान्यतया अतिचार दोष निर्मुक्त रहने लगती है।

(६) **कान्ता दृष्टि**—किसी पदार्थ के एक भाग पर चित्त की स्थिरता यानी एक-चित्तता की प्राप्ति इस दृष्टि में होती है। यह योग की "धारणा" भूमिका है। सदसद् विवेकिनी यानी तत्व-परीक्षण बुद्धि-शक्ति की,—मीमांसा गुण की विशेषता होती है। इस दृष्टि में प्राप्त बोध "तारा" की प्रभा के समान स्थिर, स्पष्ट तथा एकसा होता है। यहां साधक, जित-मोह" व अंतःकरण-विरक्ति से पूर्ण होता है। आचरण में प्रमाद का विवर्जन, आशय उदार एवं गंभीर होते हैं। मन श्रुत व साधना में आसक्त तथा व्यवहार की प्रचुरता शनैः शनैः लुप्त होती जाती है। इस दृष्टि में वीतराग स्वरूप के सिवा अन्य सब आडम्बर रूप लगता है। वीतराग स्वरूप के बिना कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती।

(७) **प्रभा-दृष्टि**—यह महत्वपूर्ण दृष्टि है। इसमें प्राप्त बोध सूर्य की प्रभा के समान होता है जो दीर्घ काल तक स्पष्ट व वर्तमान रहता है। कान्ता दृष्टि में जहां विचारित, परीक्षित तथा मीमांसित तत्व का ग्रहण रहता है यहां प्रति-पत्ति गुण की प्राप्ति है। अपूर्व शांति, शम, गुण व सर्व-व्याधि उच्छेद की प्राप्ति होती है। कर्म-मल प्रायः क्षीण हो जाता है। यही योगांगों में ध्यान भूमि तथा "प्रशान्त वाहिता" भूमि है। यहां एक आत्म-तत्व पर अन्तर्मुहुर्त पर्यन्त चित्त की एकाग्रता, एकाकार चित्त-वृति का प्रवाह रहता है। कान्ता की धारणा भूमि में चित्त वृत्ति एक देशीय तथा अल्प कालीन ही विद्यमान रहती है। यहां वह प्रवाह रूप तथा दीर्घ कालीन हो जाती है। इस दृष्टि में वीतराग सुख प्रीतिकर लगता है।

(८) **परा-दृष्टि**—यह प्रभा दृष्टि की ही उच्चतर भूमि है। प्रभा दृष्टि में चित्त वृत्ति प्रवाह धारा रूप नहीं रहती, अन्तर्मुहुर्त में ही उच्छेद हो जाता है। परा-दृष्टि में अवच्छिन्न धारा रूप चित्त वृत्ति प्रवाह रहता है। यही योग की समाधि भूमि है। यहाँ बोध चन्द्र-प्रभा के समान शान्त व स्थिर होता है। स्वरूप में प्रवृत्ति होती है। प्रभा-दृष्टि में प्राप्त प्रतिपत्ति गुण यहां विकास को प्राप्त हो

जाता है। यथाख्यात चारित्र होने लगता है। इसी की दृष्टि में सम्यक् दृष्टि व सम्यक् ज्ञान का पर्यवसान केवल दर्शन व केवल ज्ञान में तथा सम्यक् चारित्र का पर्यवसान अखण्ड आनन्द व अनन्त सुख प्राप्ति में होता है। अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति ही आत्म स्वरूप की प्राप्ति है—मोक्ष या निर्वाण है। श्री यशो विजय ने योग दृष्टि ग्रन्थ में इस आठवीं दृष्टि में बताया है कि परभावगाढ़ सम्यकत्व होता है, केवल ज्ञान होता है।

संदृष्टियों की समीक्षा

इन दृष्टियों पर तनिक ही विचार करने पर लक्षित होता है कि आ. श्री हरिभद्र ने गुण स्थान के रूप में आध्यात्मिक विकास क्रम को योग की शैली पर एक नये रूप में विवेचित किया है। उन्होंने सम्यक् बोध को अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र अथवा तारे की उपमा से वर्णित किया है। तृण, कण्डा और काष्ठ के समान बोध को कहकर दीपक बोध की प्राप्ति दीप्रा दृष्टि में कही है। इन चार तृण, कण्डा, काष्ठ तथा दीप रूप बोध मय दृष्टि भूमिकाओं में मिथ्यात्व की विद्यमानता की आशंका कही है। इसके अनन्तर पांचवी स्थिरता मय स्थिर दृष्टि में "रत्न प्रभा" व छठी कान्ता दृष्टि में नक्षत्र व तारे के समान बोध दृष्टि कहकर स्वयं-प्रभा बोधदृष्टि की तरफ साधक की गति होना कहा है। वास्तव में सम्यकत्व गुण की प्राप्ति जब पांचवी रत्न प्रभा दृष्टि में हो जाती है, तो स्वयं प्रकाश आत्मा की ही तरफ साधक ढलने लगता है। यह ही आत्म-साधना का प्रारम्भ है। तारे के समान प्रकाश-बोध को पतंजलि ने "प्रातिभ" का ही उदय कहा है। नक्षत्र सम प्रत्यय रूप प्रातिभ के उदय होने पर सम्यक्-ज्ञान भूमिका हो जाती है, तब स्वतः सम्यक्-ज्ञान हो जाता है। प्रकट होता है कि "अग्नि" रूप से जो प्रकाश बोध कहा गया है वह सुषुम्णा के उन्मुक्त होने पर अग्नि मण्डलमय नाभि पद्म के विकास की सूचना है। दीपक के प्रकाश का उद्योत होना अनाहत-पद्म के विकास की सूचना है। तारे प्रकाश बोध से आज्ञा पद्म का विकास सूचित होता है। सूर्य सम प्रखर प्रकाश का उदय त्रिकुटी वेध, या प्रणव भूमि का विकास है तथा वही प्रखर प्रकाश चन्द्रसम सुशीतल प्रकाश रूप जब लक्षित होता है तब वह सहस्त्रार पद्म का साक्षात्कार है। इस प्रकार अग्नि दीप, तारक, सूर्य तथा चन्द्र सम प्रत्ययों के उदय से तथा अन्तर्पद्मों के विकास से आ० हरिभद्र ने प्रकाश तथा कमल स्वभावी आत्मा के क्रमशः साक्षात्कार को कहा है।

यहाँ तक सब भूमियां सम्प्रज्ञात-धर्म ~~व~~ ध्यान भूमियां है। फिर परा-दृष्टि के उत्कर्षकाल में जब वृत्तियां एक ही तत्व आत्मतत्व में निबद्ध होकर निरुद्ध रहने लगती है तब असंप्रज्ञात समाधि व शुक्ल ध्मान की प्राप्ति होती है। उसकी ही परिपक्वता में जब छद्मस्थ वीतराग, व "क्षीण-मोह" गुण स्थान अति क्रान्त हो जाते हैं तब सर्व वृत्तियों का संक्षेप ही नहीं-संक्षय हो जाता है और तब तेरहवें गुण स्थान की प्राप्ति होती है जो निर्वाण का द्वार है। इस विश्लेषण सहित हम इन संदृष्टियों के अध्याय का उपसंहार करते हैं।

दृष्टि-समुच्चय में तीन विभाग इच्छा, शास्त्र, तथा सामर्थ्य आचार्य द्वारा और वर्णित हुए हैं। (१) इच्छा योग इच्छा का अर्थं योग-साधना में आगे बढ़ने की आन्तरिक इच्छा, भावना, रुचि, प्रीति भक्ति रुप लिया है। निदर्भं इच्छा ही उत्तर वर्ती विकास को पृष्ठ भूमि देती है (२) शास्त्र—योग आगम के अनुसार होने वाले विशिष्ट बोध यानी श्रुत ज्ञान को शास्त्र योग कहा है। तथा (३) सामर्थ्य योग— आत्म विकास करके जो शास्त्र मर्यादा से ऊपर उठा हुआ शक्ति के उद्रेक पर हो उसे ही सामर्थ्य योग कहा है। सर्व सन्यास रूप इस सामर्थ्य-योग को ही प्रधान योग कहा है।

योग का अधिकारी कौन है" इसका चार विभाग में वर्णन किया है। इनमें (१) कुल योगी और (२) प्रवृत-चक्र-योगी योग साधना के अधिकारी कहे गये हैं। इस विभाग का पहला गोत्र-योगी साधना से पूर्व का पुरुष होने से उसे योग-साधना का अभाव कहा है तथा अन्तिम निष्पन्न योगी को साधना के सिद्ध कर चुका होने से योग की आवश्यकता ही नहीं रहती। गोत्र-योगी वे हैं जो भव्य-भूमि में जन्म पाते हैं। कुल योगी वे हैं जिनमें पूर्व जन्म के संस्कार हैं और बिना प्रेरणा व उद् बोधन योग-मार्ग में आजाते हैं। प्रकृत-चक्र योगी वे हैं जिनकी चेतना का कोई सा अंश उद्बोध का संस्पर्श पाकर जाग पड़ता है और वे योग-मार्ग में चल पड़ते हैं। निष्पन्न योगी वे हैं जो योग मार्ग में सिद्धि की स्थिति में हैं। यह विशेष चर्चा योग परंपरा के रूप की है और इस ग्रन्थ के उपसंहार में वर्णित हुई है।

(३) योग-शतकः—

आरम्भ में ही योग के दो स्वरूप निश्चय और व्यवहार कहे है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक्-चारित्र का आत्मा के साथ सम्बन्ध को निश्चय योग कहा है। उक्त तीनों के कारणों को-साधना को व्यवहार योग कहा है। ये वर्गीकरण निश्चय व व्यवहार धर्मं के ही अनुसार है तथा ये ही धर्म-ध्यान साधना तथा शुक्ल-ध्यान साधना है अर्थात् आ० श्री हरिभद्र ने आर्ष वर्गीकरण को ही स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ में अन्य वर्णन योग-बिन्दु के ही समान है। आ० श्री हरीभद्र ने साधना विकास के लिए नियमों का वर्णन किवा है (१) अपने स्वभाव की आलोचना यानी आत्म-निरीक्षण, तथा प्रवृत्ति में हेय-उपादेय (उचित-अनुचित) का विवेक (२) गुण-वृद्ध पुरुषों का सत्संग (३) आंतर दोषों के निराकरण के लिये आंतर साधना यथा लोक स्वरूप व रागादि दोषों का चिन्तन तथा कषायादि व भय शोक आदि अकुशल प्रवृत्ति के निराकरण के लिए बाह्य साधना यथा जप, तप आदि का आश्रय। इन साधनाओं की प्रेरणा उस साधक के लिये है, जो विकसित भूमिकाओं में प्रवृत्तमान होना चाहें।

प्रारम्भी साधक श्रुताध्ययन व मनन. गुरुसान्निध्य तथा शास्त्रागुसार चर्या का पालन करें। रागादि दोषों के विषय तथा परिणामों का चिन्तन किस प्रकार किया जाये—यह भी प्रकाश डाला गया

है। साथ ही यह भी कथन किया गया है कि योगी आहार-विहार को योग-अनुरूप रखकर अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कार्य का बंध करते हुए—फिर आत्म-विकास में प्रवृत्तमान होकर अबंध दिशा की प्राप्ति करें। तब उस अबंध दशा के अभ्यास में योगी कर्म-बंधन से सर्वथा मुक्त व निर्बन्ध हो जाता है।

(४) योग विंशिका

यह बीस गाथाओं में अनुबंधित योग साधना का संक्षिप्त वर्णन व आध्यात्मिक साधना तथा विचारणा का तथा विकासशील अवस्थाओं का निरूपण है। योग का लक्षण-चारित्रशील साधन की धर्म क्रिया कह कर पांच भूमिकाएं—

(१) स्थान—(आसन, पद्मासनादि आसन)
(२) ऊर्ण—(धर्म क्रिया के समय उच्चरित सूत्र के शब्द या वर्ण)
(३) अर्थ—(उक्त सूत्र के अर्थ का बोध होना)
(४) आलम्बन—(सालम्बी ध्यान)
(५) अनालम्बन—(निरालम्बी ध्यान)

कही हैं।

ऊर्ण—समन्त्र या सबीज धर्माचरण या पदस्थ ध्यान साधना का ही स्वरूप है।

स्थान, ऊर्ण और अर्थ—ये तीन भूमिकाएं बहिरंग क्रिया-प्रधान है।

आलम्बन और अनालम्बन ध्यान भूमिकाएं अन्तरंग साधन हैं। ये ज्ञान की प्रमुखता रखकर होती हैं। आलम्बन के रूपी व अरूपी दो भेद है। अरिहंत प्रतिमा का आलम्बन रूपी–आलम्बन है सिद्धों के गुणों की परिणति रूप आलम्बन अरूपी आलम्बन है और इसे सूक्ष्म होने से निरालम्ब कहा गया है। ये सालम्बन व निरालम्बन रूपस्थ व रूपातीत ध्यान के समान है।

पांचों भूमिकाओं के स्थान-ऊर्णादि को भूमिकाओं को कर्म योग तथा शेष तीन को ज्ञान योग बताया गया है—इन पांच भूमिकाओं को निम्न चार-चार उपभेदों में कहा है।

ये (१) इच्छा (२) प्रवृत्ति (३) स्थैर्य तथा (४) सिद्ध रूप से हैं।

ये चारों उपभेद—(१) आरंभ (२) घट (३) परिचय तथा (४) निष्पत्ति रूप योग भूमियों के नामान्तर मात्र हैं।

आचारांग सूत्र के अष्टांग मय योग साधन

जैन आचारांग सूत्रों के अष्टांग योग-साधन पातंजल अष्टांगों से थोड़े भिन्न प्रकार

से हैं। पातंजल अष्टांग योग जो प्रचलित है, यह उस प्राचीन जैन योग शासन से ही अनुशासित है, प्रभावित है। इसके सब अष्टांगों का उस प्राचीन परंपरा के अङ्गों में अन्तर्भाव है। योग के अष्टांगों की क्रियाएं प्राचीन पद्धति के पडिक्कमणादि क्रियाओं में अन्तर्गभित ही हैं। पडिक्कमणादि क्रियाओं को आचारांग में अष्ट विध अमृत कुंभ के नाम से कहा है। पडिक्कमणादि अष्ट विध क्रियाओं का न होना ही अष्ट विध विषकुंभ कहे गये हैं।

अष्ट विध विषकुंभ व अष्टविध अमृत कुंभ

आ० श्री अमृत चन्द्र ने समयसार टीका में आचारांग सूत्र की दो गाथायें उल्लिखित (उद्धृत) की हैं—

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
यत्ती अणि पत्तो य अणिंदो गरहा सोही य विस कुम्भो ॥ १ ॥

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमय कुम्भो दु ॥ २ ॥

अर्थ—(१) अप्रतिक्रमश (२) अप्रतिसरण (३) अपरिहार (४) अधारणा (५) अनुवृत्ति नि (६) अनिन्दा (७) अगर्हा और (८) अशुद्धि—ये आठ विषकुंभ है।

(१) प्रतिक्रमण (२) प्रतिसरण (३) परिहार (४) धारणा (५) निवृत्ति (६) निंदा (७) गर्हा और (८) शुद्धि—ये आठ अमृत कुंभ हैं।

प्रतिक्रमण का अर्थ है कृत दोषों का निराकरण। प्रतिसरण सम्यक्तादि गुणों में प्रेरणा है।

परिहार मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण है। धारणा-पांच नमस्कारादि मन्त्र, प्रतिमा इत्यादि के अवलम्बन से चित्त का स्थिर करना है। निवृत्ति विषय कषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना है। निन्दा आत्म-साक्षी पूर्वक दोषों को उचित न जानकर प्रकट करना है। गर्हा गुरु-साक्षी से अपने दोषों को वचन से प्रकट करके स्व आलोचना करना है। शुद्धि, —दोषों की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त लेना, तथा चित्त को स्वच्छ व निर्मल दर्पणवत् रखने की चेष्टा करना है।

पडिक्कमणादि क्रियाओं का योग के अष्टांगों में अन्तर्भाव

योगी व ध्याता पुरुष के लिये इन आठ क्रियाओं को आचारशास्त्र ने व्यवहार दृष्टि से अमृत कुंभ कहा है। ये सब क्रियाएं उचित आसन, काल, प्राणायाम, व धर्म ध्यान आदि रूप योग-क्रियाओं से ही विशेष सम्बन्धित होकर हो होती हैं। प्रतिक्रमण क्रिया में अशुभ लेश्या से मन को लौटाते हैं, अतः

आर्त व रौद्र ध्यान की वर्जना रूप है। दोषों के निराकरण से साधक शुद्ध होता है। प्रतिशरण क्रिया में पंचपरमेष्ठी व धर्म स्वरूपों के प्रति शरण भावना शुभ लेश्या का उद्भव करती है जो धर्म ध्यान का ही स्वरूप है। परिहार क्रिया में मानसिक विकृतियों को हटाते हैं, अतः यह योग मुद्रा को—ध्यानावस्था रूप योग भूमिका को देती है। प्रतिक्रमण प्रतिशरण तथा परिहार क्रियाओं में आत्म निरीक्षण है और प्रतिशरण क्रिया में आत्म निवेदन है अतः उपासना रूप है। इन तीनों क्रियाओं के अनुष्ठान में अवश्य कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा रूप चार योगों के स्वरूप बनते ही हैं। धारणा क्रिया रूप चौथा अङ्ग तो स्पष्टतः योगांग धारणा के ही स्वरूप को स्मरण कराता ही है। निवृत्ति में योग के यम नियम गर्भित हैं। आत्म-निन्दा व आलोचना अन्तर निरीक्षण रूप ध्यान है। धारणा में पिंडस्थ पदस्थ आदि धारणायें होती हैं—जो संस्थान विषय ध्यान से सम्बन्धित है और योग के ध्यान अङ्ग की इनमें सूचना है। आवश्यक परिकर्म में योग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, काल आदि समाविष्ट हो जाते हैं। प्रतिशरण अङ्ग में वे अन्तर भाव हैं जो लय व समाधि के अन्तर भाव हैं। इसी में ध्येय के भाव भी अन्तर्भूत है। प्रत्याहार का अन्तर्भाव निवृत्ति में भी आता है। इस प्रकार इस प्राचीन पडिक्कमणादि रूप अमृत-कुंभ मयी अष्टांग साधना में वर्तमान योग के अष्टांग विद्यमान ही रहे हैं—ऐसा निर्णीत हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि योग शासन की प्राचीतम साधना शैली प्रतिक्रमण के रूप व सामायिक के रूप में अति प्राचीनकाल से परंपरा रूप में चली ही आ रही है और वर्तमान की योग शैली थोड़ी भिन्नता से उसके ही सब भावों को ग्रहण किये हुए हैं।

अशुद्ध भूमिका

प्राचीन आगम जीव को इन आठ साधनो से रहित रहने पर अपराधी कहता है क्योंकि उसके दोषों की निवृत्ति होती नहीं,—और वह अपने आत्मा के प्रति अपराधी ही रहता है। पडिक्कमणादि से रहित जीव की भूमिका तो स्पष्टतः ही अशुद्ध व अशुभ भूमिका है—क्योंकि इस भूमिका में जीव आत्मा की तरफ उन्मुख ही नहीं हुआ है।

शुभ भूमिका

जब जीव इन आठ अङ्गों रूप प्रतिक्रमण करता है तो वह अपने अपराधों से, अशुद्धि से शुद्ध होने लगता है—अतः इन आठ अङ्गों को अमृत-स्वरूप अमृतकुंभ कहा गया है। यह व्यवहार चारित्र का आरम्भ है। यह दूसरी शुभ भूमिका है।

शुद्ध भूमिका

आ० श्री कुंदकुंद ने समयसार में मोक्ष अधिकार में इन प्रतिक्रमण रूप क्रियाओं को एक अन्य चमत्कारिक प्रकार से आठ प्रकार के विषकुंभ कहकर, अन्य तीसरी भूमिका शुद्ध-भूमिका को उद्घाटित करने की प्रेरणा की है। उन्होंने कहा है—

आचार्य कुंदकुंद

पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियन्तीय ।
णिन्दा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ।। ३०६ ।।

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियन्ती य अणिंदा गरहा सोही अमय कुम्भो ।। ३०७ ।।

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, और शुद्धि—ये आठ प्रकार का विषकुंभ है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिन्दा अगर्हा और अशुद्धि अमृत-कुम्भ है।

आ० श्री कुंदकुंद यहां इस प्रकार आचार सूत्र के उपदेश के विपरीत कहने लगते प्रतीत होते हैं। किन्तु विचार करने पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। आ० श्री अमृतचन्द्र ने इन दो गाथाओं में कहे गये, अति सूक्ष्म तत्व को स्पष्ट किया है। और यह तत्व जैन योग का हार्द है। इस स्पष्टीकरण में आचारांग सूत्र के उपदेश अपने स्थान पर यथावत् ही हैं और साथ ही इसमें योग के यथार्थ लक्ष्य पर विशेष इंगित कर दिया गया है।

जीवों की तीन कोटियां

आ० श्री अमृतचन्द्र ने जीवों की तीन कोटि बताई हैं—और इनके अर्थ को स्पष्ट किया है।

(१) वे जीव जो अज्ञानी हैं और शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले है अतः स्वमेव अपराध रूप विषकुम्भ हैं। वे प्रतिक्रमण आदि अष्ट आवश्यक क्रिया को करते ही नहीं।

(२) वे जीव जो अज्ञानी हैं, पर प्रतिक्रमणादि क्रियाओं को करते हैं, और अपने अपराध रूप विष के दोष को कम करने के हेतु प्रतिक्रमणादि अष्ट आवश्यक क्रिया करते हैं—उन्हें यह प्रतिक्रमणादि अष्ट आवश्यक क्रिया अमृत कुम्भ हैं याती निर्मलता रूप ज्ञानामृत को देने वाले हैं।

(३) तीसरे वे जीव हैं जो ज्ञानी है, वे स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि रूप है। अतः वे समस्त अपराध रूपी विष–दोषों को सर्वथा नष्ट कर चुकने वाली भूमिका पर हैं। ये तीसरी ज्ञान-भूमि साक्षात् स्वयं अमृत कुंभ हैं। इस तीसरी भूमि में आत्मा निरपराध है। इस तीसरी भूमि में अतः अपराध दूर करने वाली क्रियायें भी अनावश्यक हो गई हैं। अथवा यो भी कहा जा सकता है कि इस तीसरी भूमि की अप्राप्ति तक अपराध रहता है और तीसरी भूमि में दूसरी भूमि के मार्ग से आ पहुंचना ही निरपराधत्व है।

अर्थात् यह ज्ञान-भूमि ही साधना की इष्ट है। यह ज्ञान-भूमि प्रतिक्रमण व अप्रतिक्रमणादि से आगे की भूमि है। अप्रतिक्रमणादि से रहित प्रथम भूमि व प्रतिक्रमणादि के सहित द्वितीय भूमि-दोनों से विलक्षण तथा उच्च यह तीसरी भूमि है। और यह अप्रतिक्रमणादि रूप भूमि शुद्ध आत्मा की सिद्धि का लक्षण है।

तात्पर्यय यह है कि अज्ञानी की अप्रतिक्रमणादि रूप भूमिका अशुभ भूमिका है तथा अज्ञानी की प्रतिक्रमणादि रूप भूमिका शुभ भूमिका है तथा ज्ञानी की प्रतिक्रमणादि न होने पर भीशुद्ध भूमिका है। अशुभ भूमिका तो कर्म बंधन करने वाली है ही। शुभ भूमिका भी कर्म-बंधन करने वाली है। दोनों में भिन्नता इतनी ही है प्रथम भूमिका वाले को घोर अशुभ व असाता कर्म का बंधन है, तो द्वितीय भूमिका वाले को शुभ व साता कर्म का बंधन है। अर्थात् बंधन तो दोनों ही भूमिका में है, प्रथम में लोह बंधन सा है तो द्वितीय में स्वर्ण बंधन सा। एक दुःखमय है, पाप रूप है। दूसरा साता मय है व पुण्य रूप है। मगर तीसरी भूमिका शुद्ध व अबंध भूमिका है। इसमें मोह व कषायमय क्रिया के, योग के (आत्म-प्रदेश रूप परिस्पन्दन के) अभाव में कर्म बंधन का अभाव है।

प्रथम भूमिका वाले जन तो किसी भी मार्ग में स्थित नहीं है। द्वितीय भूमिका वाले व्यवहार मार्ग में स्थित हैं। तृतीय भूमिका वाले मार्ग को अतीत करके लक्ष्य में ही स्थित हैं,—वे व्यवहार च्युत या व्यवहार भ्रष्ट नहीं, व्यवहार के अतीत व उत्तीर्ण अन्य उत्कृष्ट भूमिका पर है। व्यवहार के अवलम्बन में शुभ रूप अनेक प्रवृत्तियों में जीव का चित्त भ्रमण करता है, अतः इस जीव को शुभ से भी छुड़ाकर शुद्ध चैतन्य मात्र अवस्थाओं में ही अपने चित्त को बांधकर रखने के लिये तथा अनेक प्रवृत्तियों में चित्त को भ्रमण न कराने के लिये इस तीसरी भूमिका में जो अमृत कुंभ रूप व मोक्ष रूप है स्थित होने के लिये आ० श्री कुंदकुंद ने प्रेरणा की है।

प्रश्न हो सकता है कि जब ज्ञानी आत्मा की प्रतिक्रमणादि भी विषकुम्भ है और मात्र अप्रतिक्रमणादि ही अमृत कुम्भ है तो क्या प्रतिक्रमणादि छोडकर जीव अप्रतिक्रमणादि रूप हो जाय? तो समाधान किया गया हे कि प्रतिक्रमणादि को ही विष कहा है, वहां अप्रतिक्रमणादि तो स्पष्टतः विष ही हैं, अमृत कहां से हो सकता है? यदि तब जीव व्यवहार भूमि में रह कर प्रतिक्रमणादि भी छोड़ देगा तो वह तो और भी नीचे गिरता हुआ प्रमादी ही हो जायेगा। प्रमाद और अहंकार से छूटने के लिए ही प्रतिक्रमणादि क्रियाएं हैं। जो प्राणी प्रमादी एवं देहाध्यासी हैं व अभिमानी हैं, उन्हें तो गिडगिडा कर, विनयी होकर आत्म-प्रभु से अपने दोषों व पापों की क्षमा याचना तथा प्रायश्चित्तादि करना चाहिए जिससे बुद्धि निर्मल होकर ज्ञान की प्राप्ति हो।

यह जीव अज्ञानी रहकर प्रमादी क्यों हो, ज्ञानी होकर निष्प्रमादी ही क्यों न रहे, ज्ञान जागरुक क्यों न रहे, निष्प्रमादी होकर ऊपर ही क्यों नहीं चढ़े तीसरी ज्ञान-भूमि को ही क्यों नही ग्रहण कर लेता? इस तीसरी भूमि में जो अप्रतिक्रमणादि है, वह अज्ञानी का अप्रतिक्रमणादि नहीं है। यह

तीसरी भूमि वाला तो निष्प्रमादी है—शुद्ध भाव में ही है, वह तो उद्यम पूर्वक स्व स्वभाव में ही प्रवृत है। अतः वह पडिक्कमणादि क्रियाएं किस योजना से करे ? ज्ञान स्वभाव में स्थित होने से वह तो शुद्ध मुक्त ही है।

मोक्ष होने में अनुक्रम

मोक्ष तत्त्व के अनुक्रम को यहां उद्घाटित किया गया है। जीव प्रथम तो अशुभ कर्म बन्ध में कर्म मलीन ही रहता है, तथा इसके उपरांत वह अशुभ कर्म से निकल कर शुभ कर्म में जब आता है तो दुःख भार कम होकर और पुण्य का संयोग होकर—सद्गुरु सद्धर्म के संयोग प्राप्त करता है, तब वह आत्मा के स्वरूप को भी समझने का सुअवसर प्राप्त करता है। इस शुभ अवस्था में उसे सद्गुरु फिर देशना देते हैं, कि वह शुभ को भी परित्याग करके शुद्ध-भाव में ही आए, तब ही सर्व सुख की जननी मुक्ति की प्राप्ति होगी। अगर इस वक्त जीव अपने प्रमाद को छोड़कर शुभ से शुद्ध में पहुंच जाये, सब ग्रन्थि भेद कर ले तो उसे फिर शुभ की भी भूमि स्वत. ही छूट जाती है, और शुद्ध आत्म-ज्ञान भूमिका में प्रवेश हो जाता है।

आचार्य श्री इस प्रकार सहज रूप में ही शुभ से शुद्ध में आने की बात बताते हैं—भूमिका बलात् न तो छोड़ी जाती, न छुड़ाई जाती है। जीव स्वयं ही अपने ही पुरुषार्थ बल से भूमिका आरोहण करता है, और जब तक भूमिका में दृढ़ स्थित न हो जाये, और जब जब वह भूमिका से नीचे खिसके, उसे स्वतः ही शुभ में ही रहना होगा, अशुभ का तो प्रश्न ही नहीं हो सकता।

कर्म बन्ध के छेदने से ही अतुल अक्षय मोक्ष सुख को उद्योत करने वाली सहज अवस्था खिल उठती है—अतः कर्म बंध का छेद करके—इस सहज शुद्ध भूमि में ही रहते अपने पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित रखना चाहिए। मोह कर्म ही सब कर्मों में बलिष्ठ है, इस मोह कर्म के बल को क्षीण करने के लिये आत्म-ज्ञान की औषधि कार्यकर है।

ज्ञान प्रथम तो श्रुत रूप से तथा अन्त में केवल रूप से उद्योतित होता है। श्रुत रूप से व केवल रूप से—के अर्थ है कि श्रुत तो परोक्ष ज्ञान है और केवल प्रत्यक्ष ज्ञान है, और दोनों ही में एक ही आत्मा निर्मल आत्मा के ज्ञान का आस्वादन है। श्रुत से प्राप्त ज्ञान की स्थिरता अल्प है पर केवल रूप प्रत्यक्ष ज्ञान शाश्वत् आत्म ज्ञान है। अतः श्रुत के परोक्ष ज्ञान का अवलम्बन लेकर केवल ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिये। यह केवल ज्ञान ध्यान में—आत्मा में एकाग्रता रूप प्रवृत्ति से ही उद्भासित तथा स्थिर होता है :

योग साधन व्यवहार चारित्र होकर भी यथाख्यात शुद्ध चारित्र के लिये पूर्व पीठिका है। आत्मा की सम्यक् श्रद्धा लेकर कम से कम धर्म ध्यान तो निरपराधी होने के लिये प्रथम में प्रथम करणीय

होता है। इस धर्म ध्यान से ही मोह की ग्रन्थि टूटती है वरना आरम्भ में बिना ध्यान क्रिया के तो ज्ञान को सुन कर व समझ कर या मनन करके भी स्थिरता न होने से ज्ञान में अवधारणा ही दृढ़ नहीं होती, ज्ञान-स्थिति की अचलता की तो बात ही क्या है! शुद्धोपयोगमय शुक्लध्यान का क्रम ध्यान साधना के उपरान्त है।

शुद्ध अवस्था की परिणति रूप सिद्धि के लिये ध्यान क्रिया के सम्बंध में आ० सोमदेव ने वडी मनोहर ही आत्म रसायन निर्माण की बात कही है। कीमिया बनाने वाले लौह से सोना बनाते हैं। यहाँ आचार्य श्री देह रूपी लौह प्रणाली में आत्म रसेन्द्र को तैयार कर देने की प्रक्रिया कह रहे हैं।

> "श्रद्धा सिद्धोपधैः स्यात्पुरुष रस रतिर्ध्यान वैश्वानरे ऽस्मिन् ।
> निःसंगमेध्म वृप्रद्धे समवगमदृढ़ा धार सम्बन्धनेन ।।
> संजायेतार्थसिद्धिः कथमिति न परा देहि लोहे जनस्य ।
> पश्चाद् व्योमोपयोगाल्लघुसमधि गते कांचनस्थां रसेन्द्रे ।।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी मजबूत आधार के सम्बन्ध से निःसंग निर्ग्रन्थता (समस्त अन्तरंग तथा बहिरंग रूप परिग्रह-मूर्च्छा के त्याग) रूपी ईंधन से जलाई गई ध्यान रूपी अग्नि में श्रद्धा-सम्यग्दर्शन रूपी सिद्धोषधि के प्रभाव से पुरुष को रस रति, आत्म रस,– आत्म स्वरूपास्वादन में प्रेम होने लगता है। इसके बाद आकाश के समान निर्मल उपयोग हो जाने के कारण शीघ्र अवर्णनीय कांचन (मनोहर) अवस्था को रसेन्द्र-आत्मा के प्राप्त हो जाने पर संसारी साधक आत्मा का, देह रूपी लौह में कैसे नहीं अर्थ-सिद्धि, अभीष्ट की प्राप्ति होगी? अर्थात् इष्ट निर्मल आत्मा की सिद्धि की प्राप्ति अवश्य अवश्य होगी।

जैसे पारद रस अग्नि और सिद्धौषधि के प्रभाव से लौहे को सुवर्ण बनाने में समर्थ हो जाता और उस शुद्ध पारद से आकाश में स्वच्छन्द गमनागमन भी किया जा सकता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी सिद्धौषधि के साथ धर्म-ध्यान रूपी अग्नि, निर्ग्रन्थता वीतरागता, निस्पृहता, असंगता रूप ईंधन के संयोग से सम्यक् ज्ञान रूप सुदृढ़ पात्र में जलाई जाएं तो अवश्य ही सिद्ध पद प्राप्त कराती है।

योग मार्ग और योग के अष्टांग

भगवान् वृषभेश्वर की परम्परा में प्रणीत अपने अलौकिक ग्रन्थ "योगमार्ग" में आ० श्री सोमदेव ने योग-मार्ग को स्पष्ट करते हुए ध्यानावस्था का वर्णन किया हैं। उन्होंने ध्यानावस्था को योग-मुद्रा संज्ञा से ही कहा है। वस्तुतः ध्यानावस्था ही योगी मुद्रा है। ध्यान क्रिया योग का उत्कृष्ट अङ्ग है, मुद्रा है।

---

1. (योग मार्ग १२)

प्राणेशो धारणायां चतुरवयवजे, संप्रयोगे धियोऽर्थे,
प्रत्याहारऽक्षवृत्तेः स्वविषयविश (स) राद्युक्त्युदर्के वितर्के ।
ध्याने तद्ध्येयलीने यमनियमयथावस्थिते क्षेत्रनाथे,
माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समाधिकधिषणो योगमुद्रामुपैति ।।[1]

अर्थात्—जो प्राणों (श्वासोच्छ्वास) का स्वामी, (सम्यक्-अभ्यासी) है, यानी **प्राणायाम** में निपुण है, धारणा में जिसकी बुद्धि अधिक निष्णांत है, चार अवयव से उत्पन्न अर्थ में बुद्धि को अच्छी तरह लगाने में, इन्द्रियों की प्रवृत्ति को अपने अपने विषय में जाने से रोकने में,—अर्थात् **प्रत्याहार** में, युक्ति-संयुक्त श्रुताध्ययन रूप **स्वाध्याय** में, योग्य ध्येय में लीन होने रूप **ध्यान** में, **यम नियम** के मार्ग में अवस्थित आत्मा में, तथा माध्यस्थ-समुद्र रूप **समाधि** में जो समाधिकधिषण,—अधिक बुद्धि के उपयोग को लगाने वाला है—वह ही योग मुद्रा को प्राप्त करता है।

इस प्रकार "योग-मार्ग" में योग के इन आठों अङ्गों का कथन आ० श्री सोमदेव ने प्रस्तुत किया है—

(१) प्राणायाम (२) धारणा (३) प्रत्याहार (४) स्वाध्याय (५) यम (६) नियम (७) ध्यान और (८) समाधि। इन आठ अङ्गों द्वारा योग की प्राप्ति होती है।

(१) प्राणायाम—में प्राणों की सम-स्थिति रूप प्राण स्वामित्व का निर्देश है। अर्थात् इसमें कुंभक प्राणायाम से प्राणों का निश्चल नियन्त्रण तथा ब्रह्माण्ड में स्थित किये गये निश्चल सम-स्थित प्राणों का निर्देश है।

(२) **प्रत्याहार,** (३) **धारणा**—कहा है कि चार अवयवों से उत्पन्न अर्थ को बुद्धि को लगाएं-इसका यह स्पष्टीकरण है कि इसमें साधक (१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय और (४) संस्थान विचय-इन चार अवयव वाले चतुर्भेदात्मक धर्म ध्यान में बुद्धि को लगाकर अक्ष-वृत्ति का प्रत्याहार करता है। यह आत्मोपयोगी वृत्ति से विसदृश वृत्ति के विकर्षण रूप है। धारणा आत्मोपयोगी सदृश वृत्ति के धारण करने, आकर्षण तथा भरित करने की चेष्टा रूप है। इसमें अस्थिर व अज्ञान प्रत्यय मय वृत्ति को रोकने व स्थिर व आत्म प्रत्यय मय चित्त वृत्ति लाने रूप प्रत्याहार अङ्ग का तथा स्थिर व ज्ञान प्रत्यय मय वृत्ति को धारण रखने रूप धारणा का अभ्यास है।

(४) **स्वाध्याय**—स्याद्वाद युक्ति संयुक्त श्रुत के अध्ययन में स्वाध्याय रूप ध्यान या समाधि का ही कथन है।

---

[1] (योगमार्ग-३)

मनोबोधीनं विनयबिनियुक्तं निज वपु:वर्चः पाठायत्तं करणगणयाधाय नियतम् ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैन वचने, करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदं ।।[1]

जिस स्वाध्याय में मन ज्ञान के ग्रहण व धारण करने में लीन रहता है, शरीर विनय युक्त होता है, वचन पाठ के उच्चारण में लगा होता है, इन्द्रिय-गण नियत रहते हैं, जिनेश्वर की वाणी की ओर ही सारी परिणति जिसमें लगी रहती है ऐसे स्वाध्याय को करने वाला या धारण करने वाला आत्मा कर्मों का क्षय करता है । यह स्वाध्याय समाधि का रूपातंर ही है । समाधि का एक अर्थ है-सम रूप बुद्धि की स्थिरता, स्थित प्रज्ञता, अतः स्वाध्याय में रमण शील व लीन बुद्धि भी समाधिस्थ व्यक्ति की बुद्धि के ही समान स्थिर रूप ज्ञान में ही स्थिर हुई आनन्दमग्नता को भोगती रहती है ।

(५) **समाधि**– माध्यस्थाब्धौं'' पद उक्त श्लोक में बहुत महत्वपूर्ण है । माध्यस्थ भाव को उदासीन या शून्य-भाव कहा जाता है । जो भाव द्वन्द्वाभिघात से परे हानि-लाभ, या इष्ट अनिष्ट से परे व शत्रु-मित्र में समान है अर्थात् वह न राग करता न द्वेष करता है, उसे माध्यस्थ भाव कहते हैं। इस माध्यस्थ भाव की ज्ञान योग में बड़ी प्रशंसा है । क्षोभविक्षोभ से परे होकर जब मन की अडोल स्थिति होती है तब ही ध्याता का ध्यान राग रहित आत्म ध्यान में ही हो जाता है, अर्थात् राजयोग समाधि का ही यही स्वरूप होता है । इस माध्यस्थ भाव को ध्यानी ध्यान से तथा ज्ञानी ज्ञान से, विचार मथंन से प्राप्त करते हैं । विचार की चरम तल्लीन अवस्था ही निर्विचार भूमि में भी उपनीत करदे तो व्यक्ति बाह्य जगत् की संज्ञा से शून्य होकर अन्तर्जगत् में चला जाता है । और जब तक फिर विसदृश विचार का स्पंदन नहीं होता वह समाधि अवस्था को ही प्राप्त रहता है । यहाँ इस प्रकार उदासीन राग द्वेष रहित भाव को प्रचुरता को माध्यस्थ रूप समाधि से तो कहा ही गया है साथ ही यह भी कहा है कि मध्य नाड़ी रूप सुषुम्णा में जो स्थित रहता है और उस सुषुम्णा नाड़ी रूप समुद्र में पहुंच कर आत्म-मग्न रहकर आत्मा के चिदानन्द में विहार करता है, ऐसी स्थिति को भी माध्यस्थाब्धि में बिहार रूप स्था समाधि कहा गया है । इडा बाईं नाडी और पिंगला दाहिनी नाडी के मध्य सुषुम्णा नाडी ही मध्य नाडी है । इस मध्य-नाडी में जब मन व प्राण पहुंचकर विहार करते हैं, तो यह ही वास्तव में योगिक माध्यस्थ अर्थात् सम भाव सम स्थिति है । सुषुम्णा नाडी में स्थिति राग और द्वेष से उदासीन तीसरी मध्यस्थ (समतामय अवस्था) होती है । त्रिगुण विचार से-इडा रजो मय, पिंगला तमो मय और सुषुम्णा सतोमय कही जाती है । साधक के जड़ व प्रमाद भाव दूर हो जाताहै तो कहा जाता है कि पिंगला का प्रचार हो गया, जब साधक चंचलता व रजो मय भावों से दूर होजाता है, तो कहा जाता है कि इडा नाडी का प्रचार हो गया । तथा जब साधक में तम और रज भावों से परे अन्तर्प्रकाश और समता आते हैं, तो कहा जाता है कि सुषुम्णा का प्रचार हो गया है । इस समता मय सुषुम्णा नाडी में ही प्रचार पाकर कुण्डलिनी का प्रकाश होता है । सुषुम्णा नाड़ी मानव के मेरूदण्ड के नीचे से होती

---

[1] (आत्म_प्रबोध५१)

हुई एक नाली है जो पिण्डदेह से मस्तकीय ब्रह्माण्ड तक गई है। अतः इस नाडी की उन्मुक्ति होने पर पिण्ड का ब्रह्माण्ड से संबंध हो जाता है। नीचे पाँव से उपर कण्ठ तक का देह-भाग पिण्ड व कण्ठ से उपर का भाग ब्रह्माण्ड तथा मस्तक का शीर्ष भाग पार-ब्रह्माण्ड है। इस पार ब्रह्माण्ड का ऊपरांश ही सिद्ध शिला, या सिद्ध पद से संत्रवित होता है। सुषुम्णा जब तेजोलब्धिमय प्राण शक्ति 'कुडलिनी' के मध्य संचरण के निमित्त से एक ज्योतिर्मण्डल या प्रभा मण्डल के रूप में भासमान हो जाती है, तब ही योगी ज्योति के आश्रय ब्रह्मांडीय ज्योतिर्मण्डल के भी पार, पार-ब्रह्माण्ड-मण्डल मेंपहुंच जाता है। ऐसा होना ही सुषुम्णा का उत्क्रमण कहा जाता है। योगी गण सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल के मध्य ही विभिन्न सूक्ष्म पंचतन्मात्रिक पद्मों की रचना का भी साक्षात्कार करता है जो अति कमनीय ज्योति स्वरूप होते हैं। इन ज्योतिपद्मो में मन को किस प्रकार भ्रमण कराया जाता है, यह आगे श्लोक (११) में आ० श्री सोमदेव ने स्पष्ट किया है, उसे भी हम आगे दे रहे हैं। यहाँ "माध्यस्थाब्धौ" से आचार्य श्री ने इस सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल या प्रकाश मण्डल के प्रकाश-समुद्र में तल्लीन होकर (शून्य वीतराग भाव में) सम भाव स्थिति होने का सकेत किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आचार्य श्री अपने इस 'योग-मार्ग' में योग मार्ग को ही स्पष्ट कर रहे है। अतः सुषुम्णा नाडी को उन्मुक्त करके योगी उसमें तेजो लब्धि मय प्राण, शक्ति सहित प्रचार व विहार करता है। तथा फिर उस सुषुम्णा नाडी को भी ऊपर ब्रह्माण्ड मण्डल में दिव्य सकल जिन परमेश्वर ध्येय के आविर्भाव पूर्वक धर्म ध्यान को करता है। —तदनन्तर शुक्ल ध्यान में आंत्मा के निर्मल ध्यान में स्वयं जिनेश्वर रूप परिणत होता है और मात्र ज्ञान मुवन रूप अशरीरी सिद्ध अवस्था की तब प्राप्ति होती है, जब ब्रह्मरन्ध्र को तोड़कर सिद्ध योगी पुनरावृति रहित सिद्धालय में प्रतिष्ठित होकर सदैव के लिये भव मुक्त हो जाता है। सुषुम्णा में व सुषुम्णा से आगे ब्रह्मांड में पंच शून्यों की परम्परा हैं। इन्हें ही शून्य, गगन व खमण्डल कहा गया है और इनमें ही स्थिति से वीतरागभावोंका अभ्यास होता है। इन शून्यों में विहार रूप निर्मनस्क राज योग का अभ्यास होता है। शून्य में वासरूप स्थिति को भी आचांर्य श्री ने आगे श्लोक १० में कहा है। जागतिक समस्त भाव तथा सम्बन्धों से शून्य हुई इस परम शून्यता को सकल जिन परमेश्वर के दिव्य-स्वरूप व गुणों की आकारता से ही फिर भरना होता है और साधक जिनेश्वर परमेश्वर सम निर्मल, सर्वज्ञ तथा वीतराग परिणत होता है। इन शून्यों में ही भावोत्क्रमण रूप (गुण श्रेणी) आरोहण होता है।

(६) **यम**—जो स्व के अनुशासन संबंधी पाँच महाव्रत जन्म पर्यन्त के लिये धारण किये जाते हैं ये पंच महाव्रत सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य है तथा पांच समिति, तीन गुप्ति आदि हैं। गृहस्थ योगी अणुव्रत रूप में तथा विरत योगी महाव्रत रूप में व्रत लेता है।

(७) **नियम**—"पर" के सम्बन्धों को लेकर स्व के अनुशासन के लिये द्रव्य क्षेत्र काल की मर्यादा लेकर व्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत धारण किये जाते हैं।

(८) ध्यान—ध्येय (ध्यान करने योग्य) सकल व निष्कल परमात्मा हैं। अर्हत्परमेश्वर व भगवान वृषभेश्वर आदि चतुर्विंशति तीर्थंकर सकल ध्येय हैं। तथा सिद्ध परमात्मा अथवा शुद्धतम स्व आत्मा,— ये निष्कल ध्येय हैं। ये दोनों ही ध्येय चैतन्य ध्येय हैं।

''योग मार्ग'' में इस प्रकार अष्टांगों का वर्णन है। इसमें आसन अंग के स्थान पर स्वाध्याय के ग्रहण की विशेषता है।

असम्पूर्ण रत्नत्रय के धारक गृहस्थ को सकल भगवान् वृषभेश्वरादि तीर्थंकरो की भक्ति, पूजा, आराधना का विकल्प रहता है इसके लिये आ० श्री अमृतचन्द्र कहते है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥[1]

रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) को सम्पूर्ण विकल रूप से भावित करने वाले पुरुष को जो शुभ कर्म बन्ध है, वह विपक्ष कृत हैं, रत्नत्रय कृत नहीं होने से हैं। वह रागकृत होने पर भी अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बंध का उपाय नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने यहां स्पष्ट किया है कि विकल रत्नत्रय में सकल तीर्थंकरादि के आराधन व ध्यान में शुभ भाव का प्रादुर्भाव पुण्य व शुभ प्रकृति के बंध का कारण होता है, वह मिथ्या-दृष्टि की तरह संसार का कारण नहीं है किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है। तथा यह भी स्पष्ट किया है कि जिस अंश में ध्याता की सुदृष्टि हैं—उस अंश में उसे बंध नहीं है तथा जिस अंश में उसे चारित्र है—उस अंश में उसे बंध नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ है कि सुदृष्टि, ज्ञान तथा चारित्र की जितने-जितने अंश में स्पष्टता होती है—उतने-उतने अंश में बंध का अभाव ही होता है तथा जितने-जितने अंश में राग का सद्भाव होता है। बंध भी उतने-उतने अंश रहता ही है। सकल ध्येय से अतः जब ध्याता अपने स्वभाव रूप परिणति को प्राप्त हो जाए तो उसे बंध का कोई हेतु भी नहीं होता। अतः सकल ध्येय में ध्याता को अभेद रूप, अद्वैत रूप से ध्यान में उत्कर्ष करना उपदिष्ट है। सकल ध्येय शुद्ध आत्म स्वरूप है, और इस ध्येय में मग्न होने पर ध्याता शुद्धात्मा को ही वस्तुतः रमण करता है, उसे तब सकल या निष्कल का भेद समाप्त होकर, स्व शुद्ध आत्मा का ही आस्वादन होता है। ऐसे सकल ध्येय से निष्कल ध्येय की तरफ गतिमान होने की प्रेरणा है। वास्तव में जागतिक राग भाव में ही बंध है और वह बंध ही भव भय का हेतु है। सकल ध्येय में निजरूप मग्नता निर्जरारूप है, न कि बंध रूप। बंध तो प्रमाद अविरति मिथ्यात्व कषाय और मन वचन काय के परिस्पंदन रूप योग से होता है।

दर्शन मात्र विनिश्चितिरात्मपरिज्ञान मिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत ऐतेभ्यो भवति बंधः॥

---

1. (पुरुषार्थ सिद्ध्-यूपाय-२११)

2. (पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय–२१६)

स्वकीय आत्मा-तत्व का विनिश्चय (प्रतीति) सम्यक् दर्शन, आत्मा का परिज्ञान (परितः ज्ञान, विशेष व परिपूर्ण ज्ञान) और आत्मा में स्थिरता सम्यक्-चारित्र कहा गया है अतः इन तीन सहित बंध कैसे संभव हो सकता है ?

वास्तव में बंध होता है भिन्न वस्तु से। परन्तु जब भिन्नता ही न रहे, स्वरूप अभेद हो जाये, पर का भाव ही नहीं रहे, तद्रूप स्व वस्तु,-स्व आत्मा में ही रमणता प्राप्त हो जाए तो फिर बंध का प्रश्न ही नहीं है।

यह योग मार्ग अन्तर्उपासना से अभेद आत्म-साधना में उत्कर्ष की योजना प्रस्तुत करता है। यह इसीलिये सकल ध्येय प्रभु वृषभेश्वर से निष्कल ध्येय विशुद्ध आत्मा में आरोहण रूप मार्ग को प्रशस्त करता है।

ध्यान का ही उत्कर्ष स्वरूप समाधि है। धि-रूप बुद्धि के अथवा प्राण के समरूप होने पर, अपनी समस्त विषमताओं से विवर्जित होने पर आत्म प्रदेश निश्चल समान, व हो जाएं वह ही समाधि है। देह में प्राणों का जब उच्चावचय नहीं होता, आकर्षण-विकर्षण नहीं होता, यानी श्वासोच्छ्वास की निरुद्धता या मंदता होती है, तो यही काय-योग का निरोध है। मन में संकल्प विकल्प की स्पंदता नहीं होती, मन सुनिश्चल स्थिर रहता है, तो वह मनोयोग का निरोध है। बुद्धि जब पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट भाव से निर्मुक्त हो जाती है, द्वन्द्वाभिघात से विवर्जित समाहित रहती है, तो वह ही उसकी स्थित-प्रज्ञता है, निरोध है। जब वाणी न बाह्य जल्प करती, न अन्तर्जल्प करती, निश्चल व सम रह कर मौन रहती है तो यह वचननिरोध है। ऐसे यह मन वचन तथा काया का निरोध ही योग का (तथा उसके परिणाम स्वरूप आत्म-प्रदेशों के स्पंदन व आंदोलन का भी) निरोध है। पांतजल योग में चित्तवृत्ति निरोध योग है, तो सर्वज्ञ योग में मन वचन और काया तीनों का निरोध योग है।

मन वचन काया की परिस्पंदन क्रिया रूप 'योग' कर्मास्त्रव के लिये निमित्त है। यहां योग शब्द का अर्थ मन वचन काय की क्रिया के अर्थ में है—"काय वाङ् मनः कर्म योग" यह सूत्र है। इस सूत्र में वर्णित परिस्पंदनात्मक योग को अपरिस्पंदनात्मक रूप अयोग-स्थिति में ले जाने का अभ्यास ही योग विज्ञान है। अतः निरोध व संवर क्रियाएं —मन, वचन, तथा काया के निरोध व संवर रूप से त्रिविध की जाती हैं और चिन्तारोध लक्षण जैन ध्यान का विशेष अङ्गीभूत हैं।

योगात्प्रदेश बंधः स्थिति बंधोभवति तु कषायात्।
दर्शन बोध चारित्रं न योग रूपं कषायरूपं च।।[1]

---

1. (पुरुषार्थ सिद्ध् युपाय—२१५)

मन वचन काय के व्यापार रूप योग से कर्म प्रत्ययों का प्रदेश बंध होता है तथा कषायों (क्रोधादि मनो विकारों) से कर्मों की स्थिति का बंध होता है, सम्यग्-दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र न योग (कर्म-स्पंदन रूप) होता, न कषाय रूप ही होता है, अतः वह अबंध रूप है। सकल ध्येय के माध्यम से अभेद आत्म रमण होने पर बंध का कारण कैसे हो सकता है? आचार्य श्री ने प्रदेश बंध के कथन से यहां प्रकृति बंध तथा प्रदेश बंध दोनों को ग्रहण किया है तथा स्थिति बंध से—स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध दोनों को ग्रहण किया है। ऐसे चारों प्रकार के बंध का निराकरण ध्यान समाधि में प्राप्त होना कहा है।

चेतना लक्षण युक्त अनन्त गुणात्मक आत्मा स्वतत्वविनिश्चय (निर्णय) रूप चेतना परिणाम सम्यक् दर्शन है। इससे दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है।

निश्चित आत्मा का सम्यक् परिचय (साक्षात्कार) रूप चेतना परिणाम सम्यग् ज्ञान है, इस परिचित आत्मा में निराकुल सम-स्थिरता रूप चेतना परिणाम सम्यक् चारित्र है। इन तीनों का जहां अभेद हो जाता है, वह अभेद स्वरूप की प्राप्ति ही सम्यक्-समाधि है। इससे चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

योग मार्ग में—(१) प्राणायाम (२) धारणा (३) प्रत्याहार (४) स्वाध्याय (५) यम (६) नियम (७) ध्यान और (८) समाधि रूप योग मुद्रा की प्राप्ति आचार्य श्री सोमदेव ने कही है। यह भेद पूर्वक योग मार्ग है और अभेद प्राप्ति के अर्थ ही कहा गया है। इस अष्टांगिक योग मार्ग में व्यवहार रत्नत्रय तथा अभेद रत्न त्रय सब कथित हो गया है।

भगवान् ऋषभदेव का काया निरोध कायोत्सर्ग विधान और खड्गासन

पूर्व के दो श्लोकों में आचार्य सोमदेव ने प्रथम तो भगवान वृषभेश्वर आदिनाथ हिरण्यगर्भ का खड्गासन धारण करके ध्यानस्थ होना कहा है। भगवान श्री आदिनाथ अतुलबल के धारक हैं, उन्होंने उत्कृष्ट ही आसन माडा और एक साथ छः मास तक कायोत्सर्ग करके धर्म-ध्यान किया। आसन का योग में विधान है—इस बात को आ० सोमदेव ने इन श्लोकों में इस प्रकार प्रकट कर दिया है, यद्यपि अपने उक्त अष्टांगों में आसन को स्थान नहीं दिया था।

अल्पबल धारक पद्मासन आदि लगा सकते हैं और अन्तर्मुहूर्त ही ध्यान कर सकते हैं पर तीर्थंकर हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर उत्कृष्ट बल तथा संकल्प धारी होने से उत्कृष्ट आसन स्थ रह कर दीर्घ-काल तक ध्यान में रहे।

काय निरोध अंग का वर्णन

आसन ग्रहण में भगवान् के काय निरोध का मनोरम वर्णन इस प्रकार किया गया है—

भगवान् इस पृथ्वी पर भार देकर चरण नहीं धरते हुए खड़े हुए। क्योंकि यह पृथ्वी नीचे पाताल तल में न धस जाए। कुलाचल पर्वत नाश को प्राप्त न हो जाए—इसलिए सूक्ष्म-सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास छोड़ते हुए स्थिर रहे तथा आकाश चारी देव विद्याधरों का प्रचार न रूक जाए इसलिए उर्ध्व बाहू न रखकर दोनों हाथों को नीचे लटकाये रखें। ऐसे वे भगवान् तुम्हारे लिए हमेशा परम लक्ष्मी मोक्ष को प्रदान करे—(प्रथम श्लोक का भावार्थ)।

मन वचन के निरोध रूप प्रत्याहार का वर्णन

भगवान् के स्थिरकाय धारण रूप काय निरोध को कह करआचार्य सोमदेवने फिर आगे भगवान् के स्थिर मनोयोग व वचन योग रूप मन व वचन के तथा कषाय के निरोध का भी वर्णन किया है—कहा है—

पवन के द्वारा उडी हुई धूलि के द्वारा शरीर के चर्चित होने पर व पाष-वृक्ष की जटाओं के समान केशों की राशि को जड़ से उखाड़ कर, केशों को (मुष्टिलुंचन करके) तथा दिशा रूपी वस्त्र को धारण करने पर,—दिगम्बर मुद्रा को लेकर तथा वीतमोह (रागद्वेष-रहित) आपके होने से दुष्ट जनों के दुर्वचन रूपी बाण बिना अपकार किये ही पाताल में समा गये तथा दुष्ट जनों ने क्रोध में आकर जो भी दुष्ट चेष्टाएं की, वे भी आपका ध्यान भंग न कर सकी, विपरीत इसके इन्होंने तो आपकी बुद्धि को मलीन न करके उसे उसी प्रकार विकसित ही किया—जिस प्रकार सूर्य की किरणें कमलिनी को संतप्त न करके प्रफुल्लित ही करती है।

आ० श्री सोमदेव ने यहां भगवान के द्वारा अपने को देह भाव से मुक्त करने, वचन भाव से मुक्त करने तथा बुद्धि को मलीन न होने देने क्रिया के वर्णन से योग का प्रत्याहार अङ्ग उपदिष्ट किया है तथा भगवान के कषाय निरोध को भी कहा है।

धारणा का वर्णन

हे प्रभो! जो मैत्री भाव का पात्र नहीं है, जिसके आशा पिशाची उपगत नहीं हुई है, जिसके चित्त में स्थिरता नहीं है, जिसके काम रूप अग्नि शांत नहीं हुई है, जो क्लेशों को सहन नहीं कर सकता, जिसकी इन्द्रियों की परिणति वशीभूत नहीं है—ऐसा आपके ध्यान को धारण करने की इच्छा वाला पुरुष सज्जन पुरुषों के हंसी के लिये कैसे नहीं है? अर्थात् हंसी का पात्र है ही। यहां योग के ध्यान धारणा अङ्ग कथित कर दिये हैं। बताया है कि ध्यान-धारणा के लिए किस-किस सामग्री (पात्रता) की आवश्यकता है।

ध्यान करने का पात्र

ध्यान करने का पात्र वही है जिसे प्राणी मात्र से मैत्री हो, जो सर्वत्र समान भाव वाला हो,

इन्द्रिय-जयी हो—अनिद्रालु हो, **बाईस परीषहों** की सेना का जय करने वाला हो—जो ध्यान के विरोधी शुभाशुभ द्रव्य के प्राप्त होने पर भी धैर्य को ही धारण करता हो। यहां ध्यान पात्रता को उपदिष्ट किया है। यह सामग्री विशिष्ट दृढ़ मानसिक तथा चैतिक संरचना रूप है। इससे सज्जित ध्याता ध्यान अर्हता को पालेता है। इस सामग्री रूप कवच से सज्जित ध्यानी आत्म-ध्यान से स्खलित नहीं होता।

बाईस परिषह और दृष्टांत

बाईस परीषह ये हैं—(१) क्षुधा परिषह (२) तृषा परिषह (३) शीत परिषह (४) उष्ण परिषह (५) नग्न-परिषह (६) याचना परिषह (७) अरति परिषह (८) अलाभ परिषह (९) दंशमसकादि परिषह (१०) आक्रोश परिषह (११) रोग परिषह (१२) मल परिषह (१३) तृणस्पर्श परिषह (१४) अज्ञान परिषह (१५) अदर्शन परिषह (१६) प्रज्ञा परिषह (१७) सत्कार पुरस्कार परिषह (१८) शय्या परिषह (१९) चर्या परिषह (२०) बंध बंधन परिषह (२१) निषिद्या परिषह (२२) स्त्री परिषह। ध्याता को ध्यान सिद्धि के लिए इन बाईस परिषहों का जय होना चारिए।

शुद्धात्मा के ध्याता चतुर्विध उपसर्ग आने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नहीं होते—इसे आचार्य श्री ने स्पष्ट किया है—

चतुर्विध उपसर्ग हैं—(१) देवकृत (२) तिर्यञ्च कृत (३) मनुष्य कृत तथा (४) अचेतनोपसर्ग।

चिलाती मुनिराज पर पूर्वभव के शत्रु ने देव पर्याय से उपसर्ग किया, सारे शरीर को कीट बनकर खा डाला। कुल भूषण मुनि तथा भगवान् पार्श्वनाथ पर देवकृत उपसर्ग हुए।

संजयंत मुनि पर विद्याधर ने घोर उपसर्ग किया। राजकुमार मुनि के शरीर पर उनके श्वसुर ने अग्नि जलादी—आदि रूप से मनुष्य कृत उपसर्ग हुये हैं।

सुकुमाल सुकौशल आदि मुनियों पर तिर्यंच कृत उपसर्ग,—ध्यान में स्थित सुकुमाल मुनि के देह को शृगाली ने दो बच्चों सहित तीन दिन तक खाया व सुकौशल मुनि को व्याघ्री ने खाया। शिवकुमारादि के ऊपर तृण पुंज काष्ठ आदि कृत अचेतनोपसर्ग हुये।

आत्मा स्वरूप ध्यान की सिद्धि का क्रम वर्णन

उक्त चार प्रकार के—चेतनोपसर्ग अचेतनोपसर्ग को सहन करते हुए,—कर्म विपाक से भिन्न आत्म-स्वरूप का विचार करते हुए ध्यान से विचलित नहीं होना चाहिये। ऐसे नौ कर्म (शरीर) द्रव्य कर्म (कर्म-विपाक) तथा भाव-कर्म से भिन्न आत्म—स्वरूप के ध्यान से सम्पूर्ण ध्यान सिद्धि का क्रम कहा है।

ध्यान सिद्धि म~~चस्य~~ हात्म्य—

ध्यान के सिद्ध होने पर ध्यान के महात्म्य से ध्यानी पुरुष के निकट मनुष्य की तो बात ही क्या, परस्पर विरोधी तिर्यंचों का समूह भी—बंधुता व स्नेह को प्राप्त हो जाता है—न्योली सर्प बच्चों को, हथिनी सिंह बच्चे को, भैंसे घोडी के बच्चे को, सिंहनी मृगशावक को, पुत्रवत् प्रेम करने लगते हैं। ध्यान सिद्ध पुरुष के अन्तर में विशुद्ध भाव-स्पंदन प्रवाह का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव होता है।

तत्त्वोपलंभ होने पर योगीश्वर पुरुषों की बहिमुद्रा कैसी होती है—उसे स्पष्ट किया गया है—

योग मुद्राः—

आनन्दस्पंदि विंदूद्गमनजटलितेलोचने निष्प्रकम्पे, ग/
यद्ध्याने नावसेयः कथमपिमरुतां' गंधवाहान्तराले।
रोमांचोदं च वृद्धिर्भवति च सरणं कोऽप्यवाक् सप्रकाशो,
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदघधुनतात् साध्वसंवः सयोगी ॥[1]

जिस ध्यान में आनन्द के बहाने वाली, परम-आत्मा के अनुभव के सुख को प्रवाहित कर देने वाली अश्रु-बिन्दुओं से चिन्हित पर निष्प्रकम्प (टिमकार रहित) नेत्र हैं, नासिका के मध्य में बहने वाले श्वासोच्छ्वासो की गति किसी भी प्रकार नहीं जानी जाती—तथा रोमांचों की अति उत्कृष्ट वृद्धि होती है, और जिस ध्यान में वचनों के अगोचर प्रकार है—वह ही अद्वितीय (अनुपम) शरण है, ऐसे ध्यान को धारण करने वाला धन्य योगी अतिशय रूप से तुम्हारे भय को नष्ट करें—अर्थात् अभय के कारण होवे। ऐसे यहाँ आनन्दाश्रुमयस्थिर नेत्र, स्थिर श्वास, रोमांचित देह तथा अमित अन्तर्प्रकाश की प्राप्ति लक्षणों रूप चिन्हों से आनन्द समाधि मय भाव समाधि प्राप्ति के चिन्हों को कहा है।

अन्यत्र भी कहा गया है—

श्वासौ येन विनिर्जितोऽर्जितरयो देहस्य खेदास्पदो।
येनोन्मेषनिमेष भाव रहिते नेत्रे स्थिरे स्थापिते।
यस्याशेष कुनीतिमार्ग विषयो व्यापारसंगो गतो।
योगी सोऽत्र मनोगतोऽद्भुतरसे प्राप्तो दशामीदृशीम् ॥

---

1. (योग मार्ग–८)

देह को खिन्न करने वाले श्वासों के प्रचण्ड वेग को जिसने जीत लिया है, उन्मेष निमेष रहित नेत्र स्थिर हो गये है कुनीति के उत्पत्तिस्थान आरम्भ तथा परिग्रह का समस्त सहवास जिसने छोड़ दिया है ऐसा पुरुष ही शांति के अद्‌भुत रस का आस्वादन करता है, वह ही योग मग्न दशा प्राप्त होने से योगी कहलाता है । अर्थात् वही योगी है जो समश्वास, स्थिर नेत्र तथा आरम्भ परिग्रह के भाव से रहित निर्मल चित्त होकर आत्मा से युक्त होता है ।

योगी को अन्तरायों विघ्नों से सावचेत रहने की अपेक्षा

जो महा पुरुष स्वयं उदय को प्राप्त होने वाली लक्ष्मी के विनोद में-देवों से प्राप्त भोगों में, ध्यान से प्राप्त ऋद्धियों के प्रभाव में–देवांगनाओं के स्वर्गीय भोगों के सेवन में, कल्प वृक्षों की प्रवृत्ति में पृथ्वी, आकाश व दिशाओं में काम–चार होने (इच्छा–नुसार विहार करने) में वीतेच्छा हैं,—इनके प्राप्त होने पर भीं इनमें इच्छा नहीं रखते—वे योगीश्वर तुम्हारे उस अद्वितीय ऐश्वर्य वाले तेज को वृद्धिगत करें–(योग मार्ग–पद्य ९वें का भावार्थ)।

यहाँ योगी को योग-साधन के विघ्नों से, प्रलोभनों से, ऋद्धि सिद्धियों से सावचेत किया है जो योगी को लक्ष्य भ्रष्ट कर देते हैं।

ध्यान ऋद्धियां—

ध्यान की सात ऋद्धियां है— (१) बुद्धि ऋद्धि-(२) तप ऋद्धि-(३) वैक्रियक ऋद्धि (४) सर्वौषधि ऋद्धि–(५) बल ऋद्धि–(६) रस ऋद्धि तथा–(७) अक्षर्यद्धि

बुद्धि ऋद्धि—मति श्रुति सर्वावधि परमावधि देशावधि ऋजुमति विपुलमति कोष्ठबुद्धि आदि बुद्धि की अतिशयता है ।

तप ऋद्धि—से महाघोर तप करने की शक्ति होना है ।

वैक्रियक ऋद्धि—छोटे बड़े अनेक प्रकार के देह की रचना कर सकना है ।

सर्वोषधि ऋद्धि—सब रोगों को नष्ट करने वाली शक्ति है ।

बल ऋद्धि—अन्तर्मुहुर्त में सारे श्रुत के विचार करने रूप मनोबल । अन्तर्मुहुर्त में द्वादशांग के पाठ करने की शक्ति आदि वचन–बल । काय बल से जंघा बल से चलना, आकाश में चलना, तंतु पर चलना, आदि रूपबलर्द्धि से प्राप्त होते है ।

रसर्द्धि—जिसके प्रभाव से योगी के हाथ में अनेक प्रकार के रूखे सूखे भोजन भी रस रूप परिणत हो जाएं ।

अक्षयर्द्धि–प्राप्त योगी जिसके घर जो आहार करें, उसके वह वस्तु अक्षय हो जाए। एक हाथ जगह में चक्रवर्ती की कटक समा जाए—ये अक्षयमहानस संवासर्द्धि है। कल्पवृक्ष जनित दशांग –(१) भोजनांग–अनेक प्रकार के खाद्य वस्तु देना–(२) भाजनांग–अनेक प्रकार के वर्तन देना (३) वस्त्रांग–अनेक प्रकार के वस्त्र देना–(४) भूषणांग–अनेक प्रकार के आभूषण देना–(५) गृहांग–अनेक प्रकार के प्रासाद–गृह आदि देना (६) माल्यांग–अनेक प्रकार की माला देना–(७) वादित्रांग–अनेक प्रकार के वाद्यों के देना–(८) ज्योतिरंग (९) मद्यांग–(१०) प्रदीपांग है। ये दश प्रकार के कल्प वृक्ष है।

देह और मन की शून्य निश्चल स्थिति में ज्ञान बोधक शुक्ल ध्यान

लौकिक—अलौकिक विषय भोगों तथा ऋद्धियों से उपरत व विरक्त हो जाने से तत्व ज्ञान के बोधक ध्यान के सन्मुख किस प्रकार हुआ जाता है—उस उत्कृष्ट तत्व के रहस्य को ही आगे प्रथम में प्रथम आ० श्री सोमदेव ने प्रकट किया है।

आत्म–व्योम प्रकामभ्रमभिदुर तनुं यो मनोराजहंसं,
योगोद्योग प्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वाद मंद प्रचारं।
निःसंज्ञीकृत्य सर्वेन्द्रियविधि विगमादुद्वसे देह गेहे,
सानाथ्यं संविधत्ते प्रशमयतु स वो निर्ममः कर्मधर्मम् ।।

आत्मा रूपी आकाश, (चिदाकाश) में अतिवेग से भ्रमण करने से भिन्न हुआ है देह जिसका, ध्यान के प्रभाव से उत्पन्न अमृत के रस के आस्वाद से मन्द हो गया है फैलाव (प्रचार) जिसका—ऐसे मन रूपी राजहंस को पांचों इन्द्रियों के विषय से निर्ममत्व कर, हटाकर, उद्व से शून्य देह गृह में ले जाकर जो उस पर प्रभुत्व को धारण करते हैं,— वह योगीश्वर तुम्हारे कर्म रूपी ताप को दूर करें।

निर्मनस्क (अमनस्क) योग

यहां आ० श्री ने इन्द्रिय जय को कह कर शून्य ध्यान की प्ररूपणा की है, मनोरूप राजहंस को शून्य गृह में ले जाकर–अर्थात् संकल्प विकल्पों से रहित देह–अंतरीक्ष में ले जाकर उस मन पर प्रभुत्व को प्राप्त करने का उपदेश किया है। यहां इन्द्रिय जय के उपरान्त मनोजय का अनुक्रम कहा है तथा इस मनोजय के हेतु–भूत ध्यान को प्ररूपित किया है। तथा यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहां इस शून्य रूप हुए मन के द्वारा ध्यान में अति उत्कृष्ट निर्मनस्क (अमनस्क) योग का कथन किया है।

---

1. (योग–मार्ग–१०)

जैन परंपरा में प्रथम में प्रथम उत्कृष्ट तत्व के ही कथन की परंपरा होने से शून्य ध्यान रूप अमनस्क योग का ही संकेत प्रथम में प्रथम आचार्य श्री सोमदेव द्वारा किया गया है। इसके अनन्तर उन्होंने धर्म ध्यान का वर्णन किया है।

इसके उपरान्त आचार्य श्री सोमदेव ने इस शून्य (शुक्ल) ध्यान का निर्मनस्क निर्विकल्प योग की सिद्धि के हेतु-भूत सविकल्प ध्यान—अभ्यास का वर्णन आगे श्लोक में इस तरह किया है। यह सविकल्प ध्यान ही विशिष्ट धर्म ध्यान है।

धर्म ध्यान; चैतन्य चक्रों का ध्यान

ब्रह्मग्रन्थे रुदीर्णं तदनु च सुचिरं नाभिपद्मेऽवतीर्णं,
हृत्पंकजे प्रकीर्णं परिचितरसने तालुरन्ध्रे विशीर्णं।
चक्षुर्भ्रूभालमूर्द्धान्तर परिसरणोपास्ति निस्तीर्णं विघ्नम्,
यस्यासीत्स्वान्तमित्थं प्रथयतु पृथुतां प्रार्थितैवः समान्यः ॥

जिसका स्वान्त (मन) ब्रह्मग्रंथि से उदीर्ण हो गया है यानी ब्रह्मग्रन्थि के स्थान मूलाधार व स्वाधिष्ठान पद्मों से जिसका मन विहार करके उत्तीर्ण हो गया है,—और इसके बाद नाभि-कमल में अवतीर्ण हुआ है, तथा इसके बाद सुचिर (बहुत काल) तक हृदय-कमल में प्रकीर्ण (विस्तृत) हुआ है। और फिर रसना से अति परिचित—मुख कमल (विशुद्धि-कण्ठ पद्म) में विशीर्ण (सूक्ष्म) हुआ फिर तालुरन्ध्र (ललना पद्म) में विशीर्ण हुआ—और फिर चक्षु, भ्रू भाग (आज्ञापद्म), ललाट (त्रिकुटी पद्म तथा मूर्धा (मस्तिष्कस्थ सहस्र दल पद्म) तथा मूर्धान्तर (ब्रह्मरन्ध्र) में निर्विघ्न परिवर्तित (प्रवर्तित) हुआ करता है—इस प्रकार मन जिसका हो,—ऐसा वह ध्याता पुरुष प्रार्थियों द्वारा पूज्य भगवान् योगीश्वर तुम्हारे लिये उत्कृष्ट लक्ष्मी को प्रदान करे।

देह-गेह में विभिन्न ज्योतिमर्य पद्मो—व चक्रों में मन को विहार कराने रूप योगाभ्यास के ही रहस्य को तथा इसके साथ ही देह में शून्य-अन्तरीक्षस्थ आत्मा को प्रतिष्ठित करने के रहस्य को भी आ० श्री सोमदेव ने संकेतित करके प्रकट किया है। सुषुम्णा रूप शून्य में उपनीत होकर, सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल में पिण्ड के पद्मो का, तथा सुषुम्णा का उत्क्रमण कर ब्रह्माण्डीय पदमो का साक्षात्कार होता है, तब ब्रह्मरन्ध्र में परम शून्य अन्तरीक्ष की प्राप्ति होती है।

इसी योग परंपरा में आ० श्री शुभचन्द्र ने भी चक्रोन्मीलन का यही रहस्य कहा है। यह आगे हमारे "ध्यानानुचिन्तन" ग्रंथ के पदस्थ ध्यान प्रकरण में स्पष्ट किया है। सुषुम्णा में प्राणों का विहार, शक्ति का उत्क्रमण तथा शून्यों के स्तर-भेद आदि के सब वर्णन "ध्यानानुचिन्तन" नामक ग्रंथ में विस्तार से दिये हैं।

---

1. (योग मार्ग ११)

शून्य ध्यान (निर्मनस्क योग) से आ० सोमदेव ने शुक्ल ध्यान तथा देह–वीथी के कमल बनों में मन को विहार कराने रूप ध्यान से धर्म ध्यान का वर्णन किया है तथा इन दोनों के संकेत करने के तुरन्त बाद आचार्य श्री ने इन ध्यानों के फल को इस तरह कहा है कि लौह धातु जैसे स्वर्ण बन जाता है वैसे संसारी आत्मा भी परमात्मा बन जाता है। इस बाहरवें श्लोक को हम ऊपर पूर्व में दे चुके हैं। इसका भाषा पद्यान्तर इस प्रकार दिया है—

"सम्यग्दर्शन सिद्ध औषधी,, इसका मेल मिलाने से।
सम्यग्ज्ञान पात्र है (मूसी) दृढ़तर इसमें, जीव रमाने थे।
सकल परिग्रह त्याग काठ से, सद्ध्यान की अग्नि जलाने से।
होता जीव शुद्ध है जैसे लोहा सुवर्ण पारे से।।

सद् ध्यान की ही अग्नि जीव को वैसे ही परिशुद्ध कर देती है जैसे अग्नि लोहे को स्वर्ण रूप शुद्ध कर देती है। लोहा पारे के संग से स्वर्ण बन जाता है। तो जीव भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, परिग्रह-त्याग और सद्ध्यान से परमात्मा बन जाता है। आ० सोमदेव ने यहाँयोग-क्रिया की अनिवार्यता को प्रकट किया हैं।

देव सरिता ध्यान गंगा में अवगाहन

इस योग मार्ग में उद्घोष किया गया है कि जो ध्यान रूप देव–सरिता में स्नान करते हैं। उनके जन्म मरण का अवश्य उच्छेद हो जाता है। वैराग्य रूपी अगाध जल जिसमें भरा है, समता भाव, इन्द्रिय–दमन, और प्रशम भाव रूप अपार करुणा दया व अहिंसा के रूप–तीन धाराओं का जिनमें त्रिवेणी संगम है सम्यक्-ज्ञान की वृहत्-तरंगे जिसमें बढ़ रही हैं–तथा-बुद्धि रूपी जिसके तट हैं—ऐसी यह देव सरिता, ध्यान गंगा है।

इसके अनन्तर आ० सोमदेव ने धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यानों का सभेद वर्णन इस योग-मार्ग" में किये है। इनका ही हम अन्यत्र ग्रन्थमें विमर्ष प्रस्तुत करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होंगा कि आचार्य श्री ने आर्त व रौद्र ध्यान को धुंआ तथा अंधकार के समान कह कर उनका फल क्रम से तिर्यंच तथा नरक गति में ले जाने वाला कहा है। धर्म ध्यान को अग्नि ध्यान के समान देदीप्यमान कह कर स्वर्ग में ले जाने वाला, तथा शुक्ल-ध्यान को सूर्य-किरणों के समान देदीप्यमान कह कर मोक्ष में ले जाने वाला प्रकट किया है। सूर्य-किरणों के समान भास्वर स्वरूप का प्रकट होना ही केवल-ज्ञान-भास्कर सकल निज दर्शन होता है—और उस स्वरूप का नित्योदय ही मोक्ष का हेतु है। महामहिमा-शाली उत्कृष्टतम आत्म स्वरूप के उत्कृष्ट ध्यान तत्वों का उद्घाटन इस "योग मार्ग" में किया गया है। पश्चिम द्वार के उन्मुक्त होने पर ही भास्वर सूर्यसम स्वरूप उद्दीप्त होकर देदीप्यमान होता है।

धर्म ध्यान से पापों का क्षय होता है। इनके नाश न होने तक शुक्ल ध्यान की

अर्हंता भी नहीं होती। विकारों के क्षय न होने तक पश्चिम द्वार भी उन्मुक्त नहीं होता। प्राण पवन उलटकर षट् चक्रों का वेध करके मेरुदंण्ड में प्रव्रतित होता गगन में विस्तार पाता है। उसी मध्य प्राणों की गरजना में मन शून्य हो जाता है।

शुक्ल ध्यान के लिये योग कब समर्थ होता है—इसे यों प्रकट किया है, धारावाही धर्म ध्यान, प्राणायाम, आसन-जय आदि अंगों पर अपना ध्यान केन्द्रित करके योगी को आत्म ध्यान में आरोहण करना चाहिये। उस आरोहण में प्राण शक्ति की विशेषता है। प्राणायाम से प्राणों का वशीकार होकर उर्ध्ववाही प्राण ब्रह्माण्ड में स्थिर होते हैं तब आत्मभावना पूर्वक निश्चल स्थिरता में आत्म ध्यान होता है।

धर्म-ध्याने प्रबंधाभ्यसन समधिक स्थैर्यलब्धावतारे,
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसन जयहृदय स्थान विज्ञान सारे।
द्विः श्रोतोवाहि सर्वासो ऽऽशय शमन समासन्न संसारपारे,
सिद्धश्चित्त प्रचारे भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥ (योग मार्ग) ॥

धर्म ध्यान के धारावाही निरन्तर अभ्यास से उत्कृष्ट स्थिरता (निश्चलता) को धारण करने वाले, प्राणायाम से प्राण-अपान रूपी श्वासोच्छ्वास रूप लहरों के खेद की बाधा से जो रहित हो गया है, आसन-जय से प्राप्त कर लिया है हृदय में संशय रहित विशिष्ट विज्ञान-सार जिसने, तथा शुभ और अशुभ—पुण्य और पाप रूप द्विश्रोतवाही—दो प्रकार के कर्म रूपी आस्रवजल को प्रवाहित करने वाली मन प्रवृत्ति के शांत हो जाने से संसार के तट को पा लिया है जिसने ऐसी चित्त अवस्था प्राप्त कर लेने पर, शुक्ल ध्यान करने में कृतमति (कृत-संकल्प, या कृत--बुद्धि) योगी समर्थ व सिद्ध होते हैं।

अर्थात् धर्म ध्यान की दीर्घ काल तक अभ्यास परिपक्वता के बाद जब प्राण मंद, आसन-जय, हृदय संशय रहित व विशिष्ट आनन्द व ज्ञान से भरित, शुभ अशुभ कर्मास्रव द्वारों का निरोध होने तथा प्रशांत मन की अवस्था होने—आदि रूप अवस्था प्राप्त हो जाए—~~तथा~~ तब दृढ़ संकल्पी योगी को शुक्ल ~~ध्दान~~ ध्यान की सामर्थ्य होती है। धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान का आधार तैयार करता है।

बहुत स्पष्ट कर दिया गया है कि भेद पूर्वक "योग-मार्ग" के अनुष्ठान-यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के ही सम्यक् अनुष्ठान पूर्वक प्रथम धर्म ध्यान तथा ततः शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है।

मुक्ति का स्वरूप :-

मुक्तौ ना पूर्वमाप्यं किमपिसुकृतिभिश्चेति तामात्मरूप
प्राप्तिं प्राहु प्रणीताखिल निगमनया: केवल ज्ञान भाज: ।
सूक्ष्मा तेषां जिनेन्द्रोदितम तमहितज्ञान साम्राज्यसंपत्-,
संपन्ना: सर्वसौत्वोत्पल विपिनमुदे सोमेदेवाश्च साक्षात् ।।

भाग्यशाली पुरुषों को मुक्ति में कुछ भी नवीन गुण आत्मां में प्राप्त नहीं होते, आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति है । इस प्रकार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों का कथन करने वाले केवल ज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु कहते हैं ।

जो भगवान् जिनेन्द्र के उपदेश से महिमा वाले ज्ञान-साम्राज्य की संपदा से संयुक्त है, जो समस्त प्राणी रूप कमल वन को प्रपुल्लित करने के लिये साक्षात् चन्द्रमां है—उनको सूक्ष्म अमूर्तिक मुक्ति के स्वरुप की प्राप्ति होती है । स्व स्वभाव मयी दर्शन ज्ञान आदि अनन्तानन्त गुण सम्पदा का, अनादि काल से उसके आच्छादक ज्ञानावरणादि कर्मो के आवरण के हट जाने से, इनसे मुक्त हो जाने पर, प्रकट हो जाना, यह ही मुक्ति का स्वरुप है ।

ऐसे भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ प्रभु के "योग - मार्ग" का वर्णन "योग - मार्ग" में गुण गरिमा से व योगेश्वर्य से विभूषित अगाध विद्वता के धारी आ० सोमदेव ने वर्णन किया है ।

सर्वज्ञ अन्तरंग योग विज्ञान की कुछ विशेषताएं और उपनिषद् ज्ञान से समानता तथा असमानताएं—

इस योग अनुशीलन में हमने भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ व हरिस्वरुप प्रभु ("वृषभो हरि:"—श्रीमद्भागवत) के "योग - मार्ग" में योग के उत्स, प्रमाणिकता, प्राचीनता, उपनिषदो में उसका अंगीकार करने व महर्षि श्वेताश्वतर द्वारा भगवान हिरण्यगर्भ के सकल व निष्कल स्वरुपों का ध्येय रूप को ग्रहण करने व इन हिरण्यगर्भ ईश्वर व देव के वाचक ओंकार प्रणव के उपदेश देने आदि का अध्ययन दिया है । उपनिषदों में ऋषियों ने उस हिरण्यगर्भ प्रभु (देव) को रूपक प्रतीकों से सजाया है । इन ही प्रतीकों में सूर्य भी एक प्रतीक है । यह सूर्य परमब्रह्म, परम - आतमा का ही प्रतीक है । इसे ही केवल-ज्ञान - भास्कर जैनो ने कहा है । इसे ही गायत्री मंत्र में सविता रूप से लिया गया है । सूर्य का रथ उषा काल में उदित होता क्षितिज में ऊँचा और ऊँचा मध्यान्हकाल तक चलता चला जाता है — उसकी किरण प्रखरता (अभिव्यक्ति) उत्तरोत्तर विवर्धमान रहती है । जैन योग में केवल स्वरुप आतम - सूर्य ज्ञान - क्षितिज में उत्तरोतर ऊँचे आरोहण की प्रेरणाए हैं ।

जैन योग और उपनिषद् योग में मूलभूत एकता अभिव्यक्ति की ही है । उपनिषद् ने प्राचीन योग धर्मसे अभिव्यक्ति को तो प्राप्त किया — मगर फिर भी भिन्नता जोरही है वह है अभिव्यक्तियों के

पार केन्द्रस्थ अपरिणामी नित्य शाश्वत् तत्व पर प्रमुखता तथा गौणता प्रदान करने की । पर्याय को अस्वीकार करके भी औपनिषदीक (वैदिक) ऋषिगण अभिव्यक्तियों पर आकर रुक गये । पर्याय को स्वीकार करके भी जैन-योग में अर्हंत् पुरुष अभिव्यक्तियों के पार नित्य अपरिणामी तत्व को प्रमुखता दे रहे है । यथार्थ में यह एक अनुपम चमत्कारिक ही बात है ।

सत्य दर्शन की विद्या ही मूल बात है । अनेकांत रूप से सत्ता को देखकर जैन न पर्याय पर रुके हैं, न पर्याय को उन्होंने अस्वीकार किया, वे तो उसे लेते हुए केन्द्रस्थ सत्य पर ही पहुँच गये हैं । तमाम अनुभव पर्याय स्तर पर पर्याय से ही हैं—पर पर्याय पर लक्ष्य से नहीं, पूर्ण द्रव्य (आत्मा) पर ही लक्ष से वे आत्मा-केन्द्रस्थ हुए और केन्द्र-सत्य का ही अनुभव किया है ।

जैसे दिन के प्रकाश में आंख ही सब कुछ देखती है और इस प्रकाश का मूल सूर्य है-वैसा ही ज्ञान-जगत् में आत्मा स्वयं ज्ञान-सूर्य है और वह स्वयं ही वास्तविक सत्य रूप स्वस्वरूप देखती है । वह विभ्रम से ही विपरीत निकृष्ट ज्ञान स्थिति को प्राप्त होती है । आत्मा न मात्र ज्ञान है, न ज्ञेय मात्र ही, यद्यपि वह इन दोनों का नाथ है—वह ज्ञायक, ज्ञान और ज्ञेय की अखंड त्रिपुटी है । आत्मा ही वास्तविक चैतन्य अस्तित्व (प्राण या जीवन) सत्ता और सार का कारण है । यद्यपि वह मात्र अस्तित्व नहीं है वह उस अस्तित्व से परे भी बहुत कुछ है, वह है ऐसा रूप जो स्वयं प्रकाश है, स्वतः प्रकाश है और उसका रूप ही प्रकाश है, अनन्त गुण व पर्याय है । इसीलिये छान्दोग्योपनिषद ने" आदित्यों ब्रहम" कहा । जैन इसें आदित्य वर्ण कह कर स्मरण करते है, ज्ञान-सूर्य, ज्ञाता. ज्ञान व ज्ञेय का अभिन्न अखण्ड स्वरुप—ऐसा ज्ञान रूप कहते हैं ।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ।।

वह परम ज्योति —परम ज्ञान रूप शुद्ध चेतना तत्व जयवंत है— जिसमें दर्पण तल के समान संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों का समूह त्रिकाल अनन्त पर्यायों सहित प्रतिबिम्बित हो जाता है ।

स्व क्या है ? इस चिन्तन से ही जीव आत्माभिमुख होता है । ये ही जैनों का मार्ग है—योग का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है । आत्मा ही स्वयं का निवास है, स्वयं ही अपना धाम है, तत्व है । मानव को आत्म-दर्शन (ब्रहम-दर्शन) होना आवश्यक है । क्योंकि यह उस प्रकाश का ज्ञान है जिससे सब ही ज्ञेय प्रकाशित होते हैं और स्वयं भी प्रकाशित होता है ।

सब प्राणियों में वही "एक"—निर्मल आत्मा है । सत्य ही वही सब में निवास करता है । वह स्थूल में वाह्यात्मा है, सूक्ष्म में अन्तरात्मा (ईश्वर) है और परम स्वरूप में वही परम (विशुद्ध-तम) परम-आत्मा है । आत्मा ही सिद्ध व प्रभु है—वह ही जैनों का तत्त्वमसि ज्ञान है ।

---

1. (पुरुषार्थ सि०-१)

तत् का यह ही स्वरूप है जो अर्हंत् होकर प्रकट होता है। आत्मा में आत्मा ही सर्वत्र, सर्व प्रदेश गत व सर्व-गुणगत वही है अर्थात् एक मात्र वही आप अपने में परम शुद्ध, शिव व सुन्दर है।

यह आत्मा अनन्त रूपों में भी वह ही है। ज्ञान स्वरुपा "धी" (बुद्धि) स्वयं आत्मा की ही ज्ञान-पर्याय है, वह आत्मा से भिन्न नहीं है। वह निर्विकार गुण रुप से आत्मा ही है। गुण और गुणी की अभिन्नता है। यह ज्ञान पर्याय अप्रतिहत प्रवाहित रहता है। यह अलग बात हैं कि इसका प्रकाश मंदतम भी दृष्टिगत होता है और इस तारतमत्ता का कारण कर्मावरण है। पर वह चाहे कितनी ही मंद रहे, यह रहता ही है, कभी उसका पूर्ण अभाव या क्षय नहीं होता—यह नष्ट नहीं होता। यह सब प्राणियों में ही है। यह ज्ञान पर्याय या ज्ञान का प्रकाश प्रत्येक ही आत्मा (ब्रह्म) में है। इसके "एक" निर्मल स्वरूप में सब ही विभिन्नताएँ, अनेकताएँ – गुणस्थान व मार्गणा स्थान – समाहित हैं अथवा वहाँ तिरोहित है। इस दर्शन में आत्मायें किसी अमानवीय कल्पित शक्ति से नहीं आई। प्रत्येक आत्मा स्वाधीन अस्तित्व मय व अलग–अलग है, अनादि है, अव्यय है। देहस्थ जीव की तात्कालिक पर्याय अपने परम स्वरूप से अनादि काल से विमुख रही है अतः दुःखी है। उस स्वरूप से मिल कर ही निराकुल रह सकती है—क्योंकि वह विशुद्ध स्वरुप ही उसका विश्राम स्थल है—निज धाम है। प्रत्येक जीवात्मा में यही अटूट स्व निष्ठा एवं आस्था होनी है। मानव का स्वरूप उसी परम सत्ता स्वरूप से, जो अपने से भिन्न नहीं, जुड कर नित्य निश्चल हो जाता है। ग्रीक द्रदेश के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने भी इसी प्रकार स्वतंत्र व अलग – अलग आत्माओं में विश्वास प्रकट किया है और अतः यह उसे सर्वज्ञ जैन सिद्धान्त से ही जोडता है। जैन आत्मा को अपने अज्ञान से मोह संसार का भव – भ्रमण का कर्ता (सृजक) मानते है — और इस बाह्य संसार लोक की स्थिति को स्वतंत्र व स्वाधीन तथा अनादि कहते हैं। कोई भिन्नात्मा ईश्वर या ब्रह्म इसका रचयिता या नियामक नहीं है। जीव या जीवन आदि से अजन्मा है और उसके उत्पन्न होने की बात तो मात्र उसके देह — पर्याय के उत्पन्न होने की बात है। पर्यायों के रहते भी वह आत्मा पर्यायों से परे अभिव्यक्तियों से परे — स्वयं संवेद्य है। यहाँ स्रष्टा की कल्पना नहीं, अस्तित्व की, अस्मिता की ही मान्यता है—क्योंकि स्वयं जीवन स्वयं-भू है और परम आत्मा उसका चरम विकास। और निर्मल-अस्तित्व का भोग ही परम समाधि – मुक्ति का हेतु है।

इस योग में जो अग्नि, ज्योति, सविता की चर्चा है, यह मात्र अभिव्यक्ति या पर्याय की ही चर्चा है। ये सब उस ही परम सत्ता की ही विविध उत्तरोत्तर अभिव्यक्तियाँ है। जो विभावमय नहीं, स्वभाव मय केवल ज्ञान सूर्य मात्र है, वो ही विशेष परम चैतन्य सत्ता है और प्रत्येक आत्मा की सत् - सत्ता तथा विशेष (केवल ज्ञान) अभिव्यक्ति ही परम चरम उच्च सत्ता है। प्रत्येक आत्मा इसी को प्रकाशने की, इसकी ही अभिव्यक्ति करने की प्रतीक्षा में है। इस परम सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय- स्तर से नहीं अन्तर प्रज्ञा से होता है। मनन मन की क्रिया है – वह शुद्ध रूप में आत्मा की ही क्रिया है। विचार

मंथन व मनन चितंन क्रिया (व्यवहार) से आवरण क्षीण होता है। परा विद्या विचार-ज्ञान की विद्या है उससे आत्मा विभावमन से अतीत होता है। मन से अतीत निर्विकल्प होते ही सहज स्वभाव ज्ञान का प्रकाश होता है, प्रकाश अभिव्यक्ति के शुद्ध होने पर, उसमें अभेद का भाव स्थिर होना भी ज्ञान की ही क्रिया है अर्थात् ज्ञान ही व्यग्रता से एकाग्रता की ओर गतिमान्न होकर अभेद हो जाता है, च्युति रहित निश्चय हो जाता है।

इस परम आत्म – स्वरूप की प्राप्ति बाणी या भाषा या प्रतीकों से नहीं होती। वचन पुद्गल है, पुद्गल की रुचि से स्वरूप की प्राप्ति नहीं, परन्तु भाव वचन के द्वारा जो उपादेय वस्तु है, उसका अनुभव करने पर ही उसकी प्राप्ति होती है। उस परम की प्राप्ति के लिए ज्ञान की, शब्द व अर्थ (अभिव्यक्ति) से परे बोध की, पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है। अस्तित्व के ज्ञान से आस्था पर आस्था से स्व-अनुरक्ति पर, स्व-अनुरक्ति से चारित्र एवं ज्ञान पर जीवात्मा पहुँचता है। ऐसे ही अनुक्रम से उस ज्ञान में पूर्ण स्थिरता व रमण होता है। अतः यह दर्शन ज्ञान और चारित्र का मार्ग है। इसे ही मोक्ष का मार्ग कहा है, योग का मार्ग कहा है।

मोह व ममता मय अहं को जैन विभाव कहते हैं। यह अस्मिता आत्मा से भिन्न नहीं है, विभाव व स्वभाव आत्मा में ही है। उपनिषद् इस अहं को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं– जैन इसे निर्मल भाव रूप नहीं मानते। आत्मा का वर्णन जैनो व उपनिषद् में समान ही है— दोनो ही उसको अज, अव्यय, अनश्वर अमरणशील मानते हैं। आत्मा की विशुद्धि तथा उत्थान के लिये उपनिषद् ने भी जैनो के समान ही साधन माने हैं। उपनिषद् में आत्मा के तीन गुणों, इच्छा, वासना और विवेक को प्रकृति की संज्ञा दी है, और उन्हें सत्, रज और तम कहा है। पर जैनो ने इस अर्थ में गुण को नहीं लिया है। गुण को आत्मिक गुण (Qualities) अर्थ में ग्रहण किया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप गुणों को ग्रहण किया है। जैनो की सम्पूर्ण मान्यता, विशुद्ध–चैतन्य सत्ता की अनात्म सत्ता से भिन्न होने की है। वस्तुऐं चाहे चैतन्य हो या अनात्म, उनकी पर्यायें उनकी ही अंश है। और जो अंश अंशी के निर्मल अभेद रूप से कालातित प्रवाहित है, वही केन्द्र रूप में नित्य शाश्वत् अपरिणामी है, परम सत्ता है, परम सत्य है। चैतन्य परम सत्ता शब्द स्थितियों से, संसार की सब उपाधियों से, परिच्छिन्नताओं से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व भव से परे है। इस प्रकार चैतन्य व अनात्म—दो परम सत्ताएं विश्व में हैं।

यह परम चैतन्य आत्मा सत्ता परम शान्ति में, निःशब्द शून्य चित्त होने पर व प्राकृत तत्वों की शून्यता मय निर्मल परा-स्थिति में ही जाना जाता है। यह सब लौकिक तत्वों से अतीत निर्मल गगन वत् स्थिति हैं। यह ही जैनों का शून्य है, अन्तरिक्ष है। यह ही बौद्धों का ख-मण्डल है। सर्व श्रमण संस्कृति में यह ही ख (शून्य, अन्तरिक्ष) मण्डल परम प्राप्तव्य का द्वार है।

धर्म और शुक्ल ध्यानों में क्रमशः सकल जिन अर्हंतपरमेश्वर स्वरूप व निष्कल शुद्ध आत्मा स्वरूप ध्येय हैं। ये ही आत्मा के साक्षात्कार के सोपान हैं, क्योंकि इनमें जिन स्वरूप व निज आत्मा

के ही साक्षात्कार हैं। महर्षि श्वेताश्वतर ने अपने उपनिषद् में हिरण्यगर्भ-प्रभु को सगुण ध्येय रूप स्वीकार किया है—इस की पूर्व में विस्तार से विवेचना कर चुके हैं। ध्यान के विशेष २ चिंतन अध्ययन व अनुशीलन के लिए हमारा "ध्यानानुचिंतन" दृष्टव्य है।

धर्म ध्यान के भेदों में "पिण्ड", "पद" व "रूप" ध्यानों में आत्मा के भावों की त्रिविध निर्मलता से, निर्मल पर्याय—अभिव्यक्तियों का उद्भव संभव होता है। मूर्ति व मंत्र समान तत्व हैं। मूर्ति भी मंत्र–अभिषिक्त एवं मंत्र से प्राण-संजीवित या प्रतिष्ठित होकर ही पूज्य होती है। मंत्र स्वयं मानव के मनन का विचार का, घन–स्वरूप है। अतः मानव अपने ही निर्मल पवित्र भाव का आराधक है, यानी शुद्धतम विचार का अतः अपने शुद्धतम चिदंश का ध्याता है और यह उसके भावानुसार तथा विचारानुसार ही अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है। इसीलिये भगवान् आत्मा ज्ञान-भावग्राही है और ज्ञान भाव से अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी दृष्टि में जो आत्मा की विष्णु, शिव, सीताराम या राधाकृष्ण या पार्वती आदि विविध रूप सज्जित करके आराधना करता है वह अपने ही कल्पित भावों की आराधना करता है। इनमें एक-एक कल्पना—दृष्टि को लेकर तत्प्रकार के भाव की सिद्धि का प्रयोजन है। मगर यह विचारणीय है कि आत्म-योग या योग-विज्ञान साधनाओं में एक-एक भाव-दृष्टियों का कितना योगदान संभव है। योग दर्शन में पतंजलि ने भी योग के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में पर-वैराग्य की ही वहुत ऊंची भूमिका मानी है। उसी पर-वैराग्य से मोक्ष मूलक, कैवल्य मूलक असम्प्रज्ञात की प्राप्ति कही है। योग दर्शनकार की इस योगदृष्टि से समीचीन अन्त-मूल्यांकन करें कि इन देवी-देव-प्रतिमाओं के दर्शन-पूजन से अलौकिक वैराग्य तथा मोक्ष-मूलक अर्थ तथा भाव गृहीत होता है या नहीं। ऐसे अनेक रूप-मय देवों की पृष्ठ भूमि में जो एक परम-तत्व, परम आत्मा की सत्ता है, निश्चित भावना है, वही यदि गृहीत की जा सके तो ही परमार्थ के, आत्म-चारित्र के इच्छुक साधक को कुछ परमार्थ ग्रहण हो। अतः प्रशम रसमय वीतराग निराकुल प्रशांत निर्विकार जो आत्मा का स्वरूप है वह ही मानव के परमार्थ कैवल्य के निकट से निकट ही ऐसा है जो साधक की सिद्धि के अर्थ का अभिव्यंजक है। अतः ही ऐसे प्रत्यक्ष-स्वरूप के साक्षात्कार के लिये ही श्वेताश्वतरोपनिषद् ने भी वीतराग सकल देव भगवान् हिरण्यगर्भ (आदिनाथ) को व निकल स्वरूप आत्मा को परग ध्येयनिर्णीत किया है, जिसे हम पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। यह साधकों को विशेष कर अजैन व वैदिक साधकों के लिये परम विचारणीय ही है। योग साधना में सुदृष्टि ही वड़ी बात है। गलत दृष्टि से संसार के भव में उद्भव है, और सम्यक् दृष्टि से संसार व भव का संहार है। स्वभाव प्राप्ति तथा विभाव त्याग के प्रयोजन से दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः कहकर एक दार्शनिक दृष्टि दी गई है। इसी का सार यह है कि मात्र वीतरागता ही शिव–स्वरूप है और शिव–स्वरूप को उद्घाटित कर देने में हेतु है। वीतरागता मात्र ज्ञायक रहने में ही है—अतः ज्ञायक मात्र रहना ही शिवत्व है।

तीन भुवन में सार वीतराम विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग संभारि के ।।

मोह के सर्वथा स्थायी रूप से नष्ट हो जाने पर ही संपूर्ण सहज केवल ज्ञान प्रतिफलित होता है। वह ज्ञान ही निर्मल अक्षय ज्ञान है। इसी से सर्वज्ञता है। वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से स्वरूप में समवस्थिति हो जाती है और वही मोक्ष का स्वरूप है। भगवान् वृषभेश्वर की इस मोक्ष मार्ग प्रणाली में निश्चय और व्यवहार रूप दो कथन शैली हैं। निश्चय रूप से आत्मा अनादि से ही मुक्त द्रव्य ही है। बंधन का भोग व कथन व्यवहार से है। अतः मोक्ष भी व्यवहार से ही है। व्यवहार रूप साधना अभ्यासों के माध्यम से वह संसार स्थिति से, संकुचित अल्प भावों से ऊपर उठकर निश्चय में सुस्थिर होता है। जीव तभी आत्मिक सुख को प्राप्त कर लेता हैं। व्यवहार सक्रियता है, तो निश्चय निष्क्रियता है। व्यवहार ध्यान एवं एकाग्रता की क्रिया है, तो निश्चय ज्ञान और समाधि की प्रशान्ति है। ऐसे सक्रिय और निष्क्रिय तत्व जब एक केन्द्र बिन्दु पर सुस्थिर हो जाएं, तो परम समता के आलोक को उदित करता भगवान् अर्हत् परमेश्वर स्वरूप आत्मा ही परिपूर्ण निर्मलता को लिए जगमगा जाता है। शुद्ध अर्हत् स्वरूप आत्मा से ही आत्मा का अनन्त अवर्णनीय आनन्द रूप अनुभूत होता हैं। इसीलिए भगवान् अर्हत् तीर्थंकर के उपदेश तथा सर्वज्ञोक्त तत्त्व-मनन से जीव को आत्मा का निश्चय और निर्णय प्राप्त होता है। तत्पश्चात् पुरुषार्थ जागृत होकर श्रद्धा गुण के प्रसार सहित योगानुष्ठान या धर्माचरण रूप चारित्र का साधन होता है। कैवल्य तत्त्व रूप आत्म-तत्त्व का चिन्तन, मनन, स्मरण, ध्यान, उपासना और रमण आवश्यक है। पहले होती है स्वरूप-प्रतीति। इसके बाद ही ध्यान द्वारा निर्मलता में संक्रमण तथा आत्म-स्थिरता क्रमशः होते हैं। ध्यान समाधि के द्वारा अथवा ज्ञान धारणा द्वारा व उपासना द्वारा स्वरूपानुभूति होने से क्षीण-मोह व क्षीण-कषाय होकर वीतराम सर्वज्ञता का उद्घाटन होता है, जो कैवल्य में पूर्ण सर्वगुणाकीर्ण अवस्था में प्रस्थापित करती है। कहा है—

"गुण अनन्त के रस सबै, अनुभव रस के मांहि।"

तथा—

"जैसो शिव खेत बसै, तैसो ब्रह्म यहां बसै।
यहाँ वहाँ फेर नाही, देखिए विचार के ।।

इसीलिये उद्बोधन है—

चिद् राय गुण सुनो, सुनो प्रशस्त गिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीय में थिरा ।।

हे चिद्राय जीवात्मा ! सुनो। इस बोधि, मुक्ति और आनन्द के मार्ग की प्रशस्त गुरु गिरा (वाणी) को सुनो। सब विकल्पों को छोड़कर अपने निज महान् तत्व-स्वरूप में ही आकर सुस्थिर हो जाओ।

सब के पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं ।
याते भयो कंगाल, गांठ खोल देखी नहीं ।।

सार सर्वस्व तत्त्व यह है कि जीवात्मा आप अपने में अपने शुद्ध निर्मल अखण्ड स्वभाव में सुस्थिर हो जाए । इस सार-ज्ञान में जीवात्मा को अनादि काल से अपने पंच परावर्तन रूप भव-भ्रमण, अनात्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की अनंत अभिव्यक्तियों में इनके अनन्त खण्ड भावों में घूमते रहने के दुश्चक्रों से छुटकारा मिलता है और निज प्रशान्त ज्ञानरस का पान होता है । पर से भिन्नता करके निर्मल स्व में ही स्थिरता करनी होगी । स्व की प्रतीति, स्व का ज्ञान, तथा स्व में ही रमण—ये ही यथार्थ मुक्ति एवं स्वातन्त्र्य का मार्ग है ।

आत्मा का द्रव्य. क्षेत्र, काल, भाव

(१) द्रव्य :—

आत्मा का निजी द्रव्य सत् चित् आनन्द रूप, अनन्त-अनन्त गुणों का एकत्व, व राशि-पिंड है और इनमें निर्मल ज्ञान और चैतन्यता ही प्रमुख गुण है, जो अनन्त और अखण्ड हैं ।

जीव अपने द्रव्य में अभिन्न न रह कर जब अपने से बाहर,—पर, द्रव्य (अनात्म प्रकृति व उसके जड़ भावों) में रागाक्रान्त होकर संक्रमण करता है, तो वह अपने ही चैतन्य व ज्ञानस्वरूप द्रव्य को आवृत्त करके अपेक्षतया जड़, प्रमादी और अज्ञानी होता जाता है । पर-द्रव्य से इस प्रकार एकत्व भाव से खंडित होकर जीव कर्म-कालिमा से आच्छन्न हो जाता है । तो जीव अपने ही अखण्ड द्रव्य में निश्चल रहे तो उसे पर-द्रव्य में परावर्तन का दुःख क्यों कर होगा ? स्व द्रव्य में ही जीव में आनन्द का नृत्य है । पर-स्वांग को लेकर रहना ही जीव का दुःख है । मैं तो एक हूँ, असंग हूँ, सर्व पर भाव से मुक्त हुँ । ऐसा इस जीवात्मा का स्व द्रव्य है ।

(2) क्षेत्र :—

कुल क्षेत्र रूप विश्व का माप त्रिलोक है । यह अधो लोक रूप नरक भूमियां, मध्य लोक रूप पृथ्वी के प्रदेश, उर्ध्वलोक रूप स्वर्ग भूमियां तथा इनसे उत्तर सिद्ध शुद्ध क्षेत्र है । वस्तु मात्र की लौकिक कल्पना,—अच्छी, बुरी या मिश्र है तथा इनसे परे अलौकिक ही होती है । ऐसे ही नरक स्वर्ग और पृथ्वी रूप से लौकिक क्षेत्र है और इनसे परे अलौकिक सिद्ध क्षेत्र है । लौकिक क्षेत्र शुभ, अशुभ और मिश्र रूप हैं—इन्हें ही पुण्य के लोक स्वर्ग, पाप के लोक नरक तथा पुण्य व पाप के मिश्र लोक पृथ्वी कहा गया है । पृथ्वी का क्षेत्र मध्यवर्ती क्षेत्र होने से लौकिक क्षेत्र में अपनी कुछ ऐसी संभावना रखता है कि यहां से अलौकिक क्षेत्र के साथ संबंध जुड़ता है । जब मानव स्वर्ग के अति भौतिक सुखों से, पृथ्वी के भौतिक सुखों से विरक्त होकर तथा नरक के अति दुःखों से तथा पृथ्वी के

दु:खों से त्रस्त व भयभीत होकर, अक्षय सुख के क्षेत्र की तलाश करता है, उसका खोजी होता है, तब ही वह भौतिक व अतिभौतिक सुखों व स्थितियों के तथा पार्थिव सुख दु:खों के आकर्षण-विकर्षणों के जाल को तोड़कर पार्थिव राग व मोह के क्षेत्रों से उन्मुक्त होकर शुद्ध सिद्ध क्षेत्र के ज्ञान व अक्षय सुख के महा-भाव-क्षेत्र का वासी बनता है जो स्वयं उसका ही क्षेत्र है। ऐसे वह पर-क्षेत्र के आकर्षण से उन्मुक्त होकर, फिर पर-क्षेत्र में संक्रमण करने के दोष का दण्ड भागी नहीं बनता।

इस पृथ्वी का स्वरूप गोलाकार है, और समस्त विश्व की तुलना में एक बिन्दु रूप है। इस गोल बिन्दु का आकर्षण टूटता है बिन्दु का ही वेध करके। प्राण चेतना पिंड शरीर में पार्थिव मध्याकर्षण को तोड़कर – और वहाँ से अपनी रागात्मक प्रधानता को समेट कर मस्तिष्क रूपी ब्रह्माण्ड मे प्रवेश करने के लिये अपार ज्योतिर्बिन्दु रूप में अपने को परिणत कर लेती है और फिर उस ज्योतिर्बिन्दु के स्वरूप - क्षेत्र का आज्ञा - पद्म में वेध कर देती है, तब वह ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डातिवर्त्ती क्षेत्रों में स्व असीम गति तथा ज्ञान को प्राप्त कर सकने में योग्य हो जाती है, तब पार्थिव अनात्म - तत्वों के कारागृह से मुक्ति भी हो जाती है।

पिंड में ससीम स्थूल रूप प्राण पिंड बिन्दु का वेध करके सूक्ष्म व विभु रूप होने के योग्य होता है। व्यष्टि प्राण समष्टि प्राण में अपना रूपान्तरण करके ही ऐसा होता है। जब पिंड से निकलकर मस्तिष्क के समष्टि (ब्रह्माण्ड) में प्राण एकाग्र होते हैं तभी साधक के प्राण भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ के ही नाम पर हिरण्यगर्भ प्राण-संज्ञा प्राप्त करते हैं क्योंकि मस्तिष्कीय ब्रह्माण्ड के ब्रह्म-समष्टि में ऐसा एकाग्र हुआ प्राण ही परमेश्वर माना गया है।

नाभिस्कंधाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ।।[1]

अर्थ:— नाभि-प्रदेश से निकला हुआ तथा हृदय-कमल में से होकर तालुरन्ध्र से गया हुआ प्राण पवन परमेश्वर है। तालुरन्ध्र में ही जाने पर वह प्राण फिर स्वत: ही या तो आज्ञा पद्म में होकर अथवा सीधे ही सहस्त्रार के महा कमल में चला जाता है। पिंड कारागार से मुक्त हुआ ऐसा प्राण ही फिर विश्वाकार पुरुषाकार स्वरूप में उस सहस्त्रार महाकमल पर अपना साक्षात्कार करता है। विश्व का स्वरूप भी खडे हुए पुरुषाकृति का है। ब्रह्मांड में पहुँचा प्राण पुरुषाकार रूप में हो जाता है। वह पुरुषाकार-प्राण विभु विराट अनन्त ज्ञान मय पुरुषकारता को ही स्व तन्मयता में प्राप्त होकर, पर-क्षेत्र से कालांतर में मुक्त होकर विश्वोत्तीर्ण व अलौकिक हो जाता है। अब वह कभी पर-क्षेत्र से व उसके भावों से खंडित नहीं होगा क्योंकि वह स्व क्षेत्र में निश्चल प्रतिष्ठित हो गया है। उसका पर-क्षेत्र परावर्तन समाप्त हो जाता है। असंख्यात निज-अवगाहना प्रमाण ही इस सिद्ध जीवात्मा का स्व क्षेत्र हो जाता है।

---

1. **(ज्ञानार्णव –29/7)**

(3) कालः—

काल-अनन्त है। समस्त द्रव्य व वस्तु इसी में वर्तना करते हैं। अतः यह अनन्त और ध्रुव है। इसमें ही उत्पाद व व्यय है। और यह काल उत्पाद व्यय को लेकर भी ध्रुव व अनन्त है। जो उत्पाद है वह वर्तमान तात्कालिक है। जो व्यय है वह भूत है, अतीत है। भविष्यत् तो सदा ही अनुत्पन्न हैं। जो ध्रुत्र समय में से उत्पन्न है, वही वर्तमान है, पर प्रतिक्षण वह वर्तमान भी अतीव् में चला जाता है। समय अनन्त ध्रुत्र है, और उसी में वर्तमान अतीत होकर सिमटता रहता है और उसी में से वर्तमान उत्पन्न होता रहता है। पर अतीत व्यय होकर भी अपने संस्कार वर्तमान के लिए छोड़ जाता है। ऐसे उत्पाद (वर्तमान) और व्यय (अतीत) रूप पर्यायों सहित अनन्त ध्रौव्य काल,—आत्मा एक एवं अखण्ड अनादि से ही है।

जैसा भी हमने अपना जीवन अतीत में जिया है, उससे वर्तमान प्रभावित है और वर्तमान में जैसा जीयेंगे, वह जब अतीत होगा तो वह भी आने वाले वर्तमान में जीवन की अच्छाई या बुराई को बनायेगा या बिगाड़ेगा। आज का अच्छा जीवन आगे भी अपना फल अच्छा ही देगा। कारण से कार्य और कार्य से कार्य-फल इस प्रकार अनादि कार्य कारण प्रवाह है। जीवात्मा व अध्यवसाय कर्मावरण को बनाते हैं और कर्मावरण की प्रकृति और अनुभागादि कर्म-विपाक के रूप में जीव की अभिव्यक्ति रूप पर्याय प्रवाह को बराबर प्रभावित करते हैं। जीवन इस प्रकार वर्तमान और अतीत, अतीत और वर्तमान—इन ही दो सिरों पर अनादि से घूमता रहा है, पर इस जीव ने कभी अपने ध्रौव्य अनन्त समय का परिचय नहीं किया। इसने कभी अपने अखण्ड काल का स्मरण भी नहीं किया। तीर्थंकर प्रभु जीवों को उनके अतीत जीवन की कुछ झांकिया दिखा कर उन्हें समझाते रहे हैं कि तुम अतीत व वर्तमान में रहकर भी वस्तुतः तुम तो एक अमर व अखण्ड ज्ञान मात्र वस्तु हो, न वस्तुतः उत्पन्न होते—न व्यय होते—मात्र देह पर्याय ही बदलती रही है और तुम्हारे भाव-परिणमन ही होते रहे हैं। पर-द्रव्यों के परिणमन—विलास में,—प्रतिक्षण नाम और रूप को लेकर जो सृष्टि बनती व बिगड़ती हैं, उसमें ही एकत्व करने से तुम खण्ड काल में, वर्तमान व अतीत रूप पर्यायों में बंधे अपने को अनित्य प्रतीत करते रहे हो। पर अपने ध्रुव स्वरूप में अब स्थिरता करो तो तुम न उत्पाद (वर्तमान), न व्यय (अतीत) रूप अभिव्यक्ति मात्र हो, तुम तो इनसे तटस्थ नित्य स्व स्वरूप शुद्ध निर्मल और सुन्दर ध्रुव समय के सार ही हो। अनित्य से दृष्टि हटाकर स्व नित्य में स्थिर हो जाओ।

आत्मा का एकत्व स्वरूप

जीवो चरित्त दंसण णाण ट्ठि उ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्म देस सट्ठियं च तं जाण पर समयं ॥[1]

---

1. (समयसार–२)

जो जीव अपने दर्शनज्ञान चारित्र गुणों में स्थिर हुआ है, उसे ही स्व समय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म-प्रदेश में वर्तन कर रहा है उसे पर–समय जानो ।

पौद्गलिक नो कर्म (देह) और द्रव्य-कर्म (कर्मावरण) और भाव-कर्म (सुख-दुःखादि) जो कर्म-विपाक के निमित्त से हैं. इनसे अपने को भिन्न जानकर जो अपने दर्शन ज्ञान चारित्र रूप सहज चैतन्य ध्रुव स्वरूप में स्थिति करता है, वही स्व समय है यानी वही ध्रुव अनन्त अखण्ड स्वरूप के केन्द्र में विराजमान है । वही अपने निश्चय निर्मल एकत्व में सुस्थिर है । इस एकत्व के लिए वर्तमान को ध्रुव के प्रति समर्पित कर दो । इस समर्पण में ध्रुव के लक्ष्य से विशुद्धि का परिणमन स्वतः होता जाता है और सत्ता में वर्तमान कर्मावरण भी निर्जरित होता जाता है ।

अपने अनन्त विराट् अनादि चैतन्य स्वभाव को अखण्ड रूप से विचारने तथा लक्ष में लेने से यह जीवात्मा स्वभाव से ज्ञान-वस्तु मात्र स्वरूप को प्राप्ति हो जाता है । ज्ञान-ज्ञेय और ज्ञाता का अखण्ड वस्तु-मात्र ही यह आत्मा वस्तु है । यह खण्ड खंड ज्ञायक, या ज्ञान या ज्ञेय,—ऐसा नहीं । यह तो मात्र वचन-भेद ही हुआ । "ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमद्वस्तु मात्र" ऐसा है, एक और अखण्ड है । अखण्ड है, अतः ही यह "परस्पर सुसंहत प्रकट शक्ति-चक्र" है और सर्वकाल उद्योतमान है । अखण्ड होने से ही परस्पर घन-ज्ञान प्रदेशमय है । प्रत्येक प्रदेश सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा है । सदाकाल ज्ञान वस्तु रहने से यही ध्रुव वस्तु है । अनात्म प्रत्ययों से,—रूप रस गंध स्पर्श और शब्द से भी परे तथा सूक्ष्म तथा इनसे भिन्न और विशिष्ट, व इन अनात्म वस्तु सम्बन्ध से होने वाले रागात्मक, मोहात्मक भेद-भावों से व कषायरूप भेदभावों से विवर्जित और पवित्र यह वस्तु है और ऐसी ही पवित्र यह वस्तु साक्षात्कार भी होती है । सर्व विकल्पों से रहित, सर्वनय पक्षों से रहित स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञान घन स्वभाव रूप होकर समयसार होता है । और वह समयसार रूप अनुभव ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है । आत्मा इनका ही एकत्व स्वरूप है ।

दिव्य मणि आत्मा

ऐसी वस्तु को अन्य किस से जाना जाएं ? किसी अन्य वस्तु के क्या यह आश्रय है ? यह आप अपने आश्रय है । यह आप अपने से जानी जाती है । अपना ही यह तत्व है । अपनी ही यह वस्तु है, निधि है । इसमें ही स्वयं अपना बोध है, मार्ग है, सिद्धि है और मुक्ति है । प्रत्येक आत्मा स्वयं आत्म-मणि है, अनुपम और दिव्य मणि है । इस अपूर्व मणि रत्न के दिव्य अक्षय सदोदित प्रकाश की खोज में जीवन का समस्त सार,—अमृत रस पाया जाता है और जीव स्वयं अमृत घट बन जाता है । "लालन देखन में गई, मैं भी हो गई लाल" विराट् निर्मल स्वरूप के ध्यान और चिंतन में यह जीवात्मा स्वयं आप अपने को अपने अन्तर में अक्षय सुख धाम के रूप उल्लिसित कर लेता है । यह शुद्ध स्वरूप आत्मा निश्चल आत्मलीन पुरुषों द्वारा स्वयं एक रस स्वरूप अनुभव में आता है ।

तीर्थंकरों की विशिष्टध्यान प्रक्रिया

तीर्थंकर पुरुषों की यही टैक्नीक है कि आप अपने को अपने में देखो। वहीं परम स्वरूप लुका छुपा है। ज्ञायक ज्ञान स्वरूप आत्मा को, ज्ञान पर्याय को जागृत करके ज्ञान पर्याय द्वारा अन्तर में आपमें अचल दृष्टि को अग्रसर करके खोजो, और निरीक्षण करो। अचल श्रद्धा से निर्मल दृष्टि को चलाओ। और मात्र देखो ही। अन्तर्दृष्टि को यात्रा कराओ। अपने अन्तर में निरीक्षण करो। आप अपने को देखो मात्र ही, राग-द्वेष रहित होकर देखो। वीतराग परिणति की यह प्रक्रिया है।

"धीर ! स्वात्मानमत्मनि निरूपय"—(ज्ञानार्णव) यह अर्हंतों का उद्घोष है। इसमें अपने को अपने में देखने की विशेष प्रक्रिया है। आप अपना अपने मे निरीक्षण, अपने को अपने में मात्र देखना। इस ध्यान-रहस्य को बौद्धों ने भी स्वीकारा। वे इसे विपस्सना कहते हैं। पर फिर भी तीर्थंकरों के इस संप्रेक्षा (अन्तः त्राटक) ध्यान में कुछ विशेषताएं हैं। वे नासिका-अग्र प्राण वायु की गति तथा स्पर्श का अनुभव करते हैं और प्राण वायु को सूक्ष्म और सम करके मन को स्थिर और वशी बनाते हैं। उसे फिर देह व देह के बाहर स्वेच्छानुसार भ्रमण तथा विश्राम कराते-कराते लय करते हैं। दृश्य की अनित्यता को देखकर अनित्य के बोध को प्राप्त करते हैं। मन की वर्तनशीलता से या दृश्य के प्रत्येक क्षण परिणमन या रूपांतरण से वस्तु-मात्र की वर्तनशीलता और अनित्यता को को पहचानने का प्रयत्न करते हैं, और मात्र दृष्टा रहकर वर्तमान को ही जानने और देखने के प्रयत्न में मन के राग-द्वेष मोहादि विकारों से शून्य रहने की स्थिति में आनन्द प्राप्ति से मन की शुद्धि का रहस्य हस्तगत कर लेते हैं। पर सर्वज्ञ प्रक्रिया में इनके अतिरिक्त जो विशेषता है—वह यह है कि मन से मन को विस्मरण करके, अमन अवस्था प्राप्त करके आत्मा से आत्मा को, यानी ज्ञायक स्वभाव आत्मा से ज्ञान स्वभाव आत्मा को ही देखते हैं, प्रसिद्ध करते हैं और स्थिरता करते हैं; वहां बौद्धों में आत्म वस्तु की विचारणा ही नहीं है। यहां पुरुषाकार व पुरुषकार स्वरूप को प्राप्त किया जाता है और अन्य सब को गौण रखते हैं।

केवल किरणों मय पवित्र स्वरूप में वर्तमान क्षण का सतत समर्पण

वस्तुतः तीर्थंकरों का वस्तु स्वरूप का यह उद्घोष कि वस्तु-उत्पाद व्यय सहित ध्रौव्य है बड़ा गहन और महत्वपूर्ण और सार्थक है। अतीत रूप स्मृति शृंखलायें और अनागत रूप स्वप्न या वासनायें,—इनसे अपने को बचाकर ही साधक वर्तमान को आत्म ध्यान में, आत्मा चिंतन में स्थिर करे। अतीत व्यय हो चुका और अनागत (भविष्य) अनुत्पन्न है। अतः नर्तमान ही मानव के लिये स्थिरता का क्षण है। इस क्षण के ही ध्यान तथा चिंतन में अधिकतम और प्रकृष्टतम उपयोग करना मानव के हाथ में हैं। जीवन के प्राप्तव्य को प्राप्त करने का रहस्य इसी में हैं। वर्तमान क्षण में पलायन को प्रश्रय मत दो, जीवन से भागो नहीं। इसी क्षण को लेकर अपने में जगे रहो।

वर्तमान क्षण को अपने आप में पूर्णतः समर्पित करते रहो। सर्व विषमताएं व विकारों को, जो मात्र संयोगी हैं विस्मरण करके, अपने अन्तर में अपने को समर्पित कर दो और सम रूप से,—समता और शीतल भाव से, अनुद्विग्न और अडोल भाव से स्थिर रहो। यह मात्र अपने मन को निर्मल और अचल करने या अपने बुद्धि को स्थिर और सम करने की ही प्रविधि नहीं है। आत्मा को सहज ज्ञान भाव, चैतन्य स्वभाव को जगाओ। दृश्यों से हटकर अपने दृष्टा और ज्ञायक स्वभाव पर ही जमे रहो। कालान्तर में जीवात्मा सब अनात्म वस्तु और अचिद् अपरम भावों कों उल्लंघन करता हुआ, स्व आत्म-प्रकाश, परम चैतन्य ज्योति, व तेजो पिंड केवल ज्ञान भास्कर को, जो अन्तर सर्व दिशाओं को प्रकाशित करने वाला है अपनी केवल किरणों सहित निर्मल पवित्र स्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हो जाएगा। अचिद् वस्तु और भावों से लौटने के, अतिक्रमण करने के काल में नाना दृश्यों तथा भावों की समक्षता साधक को ध्यान में होती है। इसी काल में अन्तः स्थित अनादिकाल की विभाव ग्रन्थियां भी खुलती हैं, और कर्म-निर्जरा होती जाती है। ज्ञायक भाव ही क्षायिकभाव है और यही अन्त में पारिणामिक भाव, ज्ञान मात्र भाव, ज्ञान-भुवन होने के भाव में केन्द्रस्थ करता है। ज्ञायक भाव में नया कर्म-बंध होता नहीं, शुद्ध ज्ञान भाव ही अधिक प्रसिद्ध और प्रखर होता जाता है। अन्तर में देखने का अर्थ न प्राण वायु को, न मन को न इनकी गति को या पौद्गालिक रूप रस, गंध, शब्द व स्पर्श को देखने की आवश्यकता है। अन्तर में प्रवेश लेकर अपने केवल ज्ञान स्वरूप की केवल किरणों को ही खोलने, देखने और जानने में समर्पित रहो। उसी में नित्य स्वरूप ध्रुवकाल भी साक्षात् होगा। उस ध्रुव में अपने को केन्द्रित करो, वर्तमान क्षण की यही सार्थकता है। यही निश्चय से अपने आप में एकत्व का, स्व समय सार अनुभव का रहस्य है। जैन लक्ष्य वेधी प्रेक्षाध्यान और बौद्ध विपस्सना का अतः भेद भी है।

वर्तमान क्षण का पुरुषार्थ आत्मा में ही

मानव की चिरकाल से असफलता व अशुद्धि का सूत्र यही रहा है कि वह वर्तमान क्षणों में निज से पलायन करता रहा है। अखण्ड ध्रुव जीवन धारा वर्तमान क्षण को ही लेकर व्यक्त व उल्लसित हुई है। वर्तमान क्षण बीतकर भी अपने स्थान पर अमिट संस्कार छोड़ते हैं अपनी प्रकृति का। और फिर उसी स्थान पर अन्य वर्तमान क्षण उदित होता है, ऐसे परम्परा का प्रवाह अजस्र है। अतीत की सुख दुःख की यादें निष्फल हैं। वहाँ आप वापिस नहीं जा सकते हैं। भविष्य के लिए स्वप्न या दिवा स्वप्न भी निरर्थक हैं। वे वर्तमान क्षण में हैं ही नहीं। मानव का पुरूषार्थ केवल वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। इस क्षण में यदि सारा पुरूषार्थ सिमट जाए तो……। सारा अस्तित्व अपने ज्ञान तत्व में सिमट जाएगा— केन्द्रस्थ हो जायेंगे, अनात्म व जड़-वस्तु और भावों से परिशुद्ध होकर – आप अपने में समग्र हो जायेंगे। यही तो भगवान वृषभेश्वर आदिनाथ का योग विज्ञान का आह्वान है आमंत्रण है। यह आमंत्रण स्वंय आप अपने को पूरे तौर पर समझने, परिचय करने, अन्तर्मुख होने तथा वहीं स्थिर रम जाने का है और अपने आपको प्राप्त कर लेने का है–उस अपने आप को जो सर्व काल ध्रुव, अमर, अमृत तथा ज्ञानानन्दी है।

आत्म शक्ति निःसीम

आत्मा की शक्ति मन बुद्धि इन्द्रियों की अनात्म शक्ति जितनी नहीं हैं। इसकी अबाध शक्ति – निःसीम शून्य गगन के समान है। वह निर्लेप हैं, कोई बंधन ही स्वीकार नहीं करती। मन बुद्धि आदि की भी शक्ति है, पर वह सब ससीम और मर्यादा पूर्ण हैं। पर यह इस मानव का दुर्भाग्य ही रहा है कि इन ससीम शक्तियों का भी उसने सही उपयोग नहीं किया—न विस्तार ही किया। इनकी भी सही दिशा उसे प्राप्त नहीं रही है। आत्म-शक्ति का रहस्य उसकी प्रसिद्धि में है, निर्मलता में हैं, कर्म के आच्छादन व आवरण से विशुद्धि में हैं रागद्वेष व कषाय विभावों से विशुद्धि में हैं। वह तो अनादि से अबाध ही है। पर जो मन बुद्धि आदि की भी निर्मलता से परिचित न हुआ हो वह कैसे जीवात्मा की भी निर्मलता से परिचित हो पायेगा? जो गुरु-मुख से आत्मा की विशुद्धि और सहज ज्ञान शक्ति की वार्ता सुन कर—उस शक्ति की तदाकारता और निर्मलता की धुन लेकर अपने अन्तःकरण के ज्ञान-महासागर में अवगाहन व गोता लेगें, वे ही तो उसके विशाल अनन्त तल में धरी अपनी निधि-मुक्ताओं का दर्शन भी कर लेंगे, तब वे सतह पर उपलब्ध सीपियों के मोह का विसर्जन भी कर देंगे—-अनात्म वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्धित राग मोह वा कषायों के तीव्र अंश आत्मा के स्व चिद् सरोवर में एक बारगी ही गोते लेने में नष्ट हो जाते हैं।

चिद् महासागर में जो एकत्व को प्राप्त हो गए, वे तो निश्चय ही विश्व से परली पार ही हो जाते हैं। वे अपने मौलिक शिवं सत्यं सुन्दरं स्वरूप अपूर्व चिन्मय स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते हैं। सत्यं शिवं सुन्दरं—का क्रम है। आत्मा ही परम सत्य है। यह सत्य शिव स्वरूप है—कल्याण मय है और इसीलिए अन्तिम परिणति में सुन्दर भी है अर्थात् वही क्रम निर्मल और पवित्र है। निर्मलता और पवित्रता—ये ही अच्छाई है और ये ही शक्ति है। ये सदाचरण और सम्यक्-आचरण आत्म रमण के ध्रुव नक्षत्र ही है। विकार व कर्म-कालिमा दुर्भावना व दुराचरण से प्राप्त होती है। इनसे आत्मा की पर्याय अर्थात् अभिव्यक्ति भ्रष्ट होती है। जीव अपने अध्यवसाय के अनुसार पर्याय अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वही उसका व्यक्त रूप है। इस पर्याय ही को अपने निर्मल आत्मा स्वरूप के अनुरूप पवित्र और शुचि होना होता है। यह व्यक्त पर्याय ही वर्तमान क्षण है, इसे अव्यक्त ध्रुव आत्मा को समर्पित करते रहो, संपूर्ण समर्पण कर दो। तब देखोगे कि यह भी अपनी विषमता से शुद्ध होकर तद्रूप ही सम और प्रशांत परमानन्द मय परिणत हो गया है, सुन्दर पवित्र कमल के समान निर्मल निर्लेप उद्भासित हो गया है।

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बन्ध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई॥[1]

एकत्व व निश्चय (ध्रुव) को प्राप्त जो समय (आत्मा) है, वही लोक में सर्वत्र सुन्दर है। अतः अपनी एकत्व (निर्मलता) में अन्य द्रव्य के साथ बंधने रूप वर्तन क्षण तो विरोध करने वाला, संकर

---

1. (समयसार–३)

और व्यक्ति के दोषों से पूर्ण है। अनात्म वस्तु या भाव के काल परिणमन में न बंध कर अपने ध्रुव शाश्वत् ज्ञान स्वरूप में ही निर्मल आत्मा बंधकर अपने ही स्व काल में स्थिर हो जाता है। समय की गणना आत्मा से है। आत्मा की पर्याय–अभिव्यक्ति से जो है, वह गणना ही समय का खंडन है। आत्मा इस समय में नहीं, समय ही इस आत्मा में जीता है और आत्मा तब स्वयं काल जयी अखंड रहता है, और काल के परावर्तन से मुक्त रहता है। एक-एक अनुभव-क्रम रूप पर्याय की प्रधानता से ही जीव खण्ड काल है। इनसे अतीत निर्विकल्प, नयोत्तीर्ण गुण-राशि मय, दर्शन ज्ञानादि भाव-अखण्डता में जीना ही और वहीं स्थिर रहना ही कालजयी अमर जीवन को पा लेना है। अन्तर्निरीक्षण ध्यान ज्ञान में अतः संपूर्ण अपने में अपना समर्पण करके उस अपने वर्तनशील वर्तमान क्षण को भी परिधि में रखते हुए अपनी नित्य अपरिणामी स्वरूपाकारता में बैठ रहो। मैं तो अजर अमर शाश्वत् हूं। स्व पर्याय-परिणामी समयात्मक हूं ये आत्म भाव ही जीवात्मा का स्व काल है।

(४) भाव

चैतन्य ज्ञानादि अनन्त गुणों रूप यह आत्मा एक सत्-भाव-द्रव्य अनादि से है, अव्यय और ध्रुव ही है। पर-द्रव्यों तथा अनात्म जड़ रागादि भावों के उन्मुख होकर यह अपने शुद्ध-भाव से भ्रष्ट होता है। यह तब पौद्गलिक जड़ प्राकृत अज्ञान भावों से बंध कर जड़-संसार में भव-भ्रमण के लिए बंधन में ही रहता है। पर स्व-द्रव्य के भाव में संवृत योगी इस प्रकार कैसे बांधा जा सकता है ? नहीं बांधा जा सकता। भाव रूप से यह शुद्ध ज्ञायक ज्ञान रूप सदा ही है।

(५) भव

जीवात्मा का चार गतियों में भ्रमण ही भव-भ्रमण है। यही इस जीव का क्लेश है कि यह अनादि काल से जन्म और मरण के चक्र में है और इस जन्मने व मरने के चक्र में कायिक तथा मानसिक अनन्त दुःखों, वेदनाओं और यातनाओं को ही भोगता आ रहा हैं। यह इसी प्रकार से भोगता भी रहेगा जब तक कि यह स्व-द्रव्य के अभिमुख न होगा। द्रव्य क्षेत्र काल और भावों में इसने बराबर अपराध ही अपराध किये हैं। स्व द्रध्य स्व क्षेत्र, स्व काल और स्व भाव की अखण्डता में निश्चल न रह कर, यह पर-द्रव्यों में, पर-द्रव्यों के काल, क्षेत्र और भावों में एकत्व करके अतिक्रमण करता रहा है। अतः ही इन पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, और पर-भावों में इच्छा राग तथा वासना के निमित्त से, उनमें उन्मुखता करके तथा एकत्व बुद्धि करके अनात्म आस्रव, बंध संवर निर्जीव कर्म व भाव सृष्टि रचना में रहता हुआ, यह जीवात्मा उस सृष्टि की संसृति में ही रुलता रहता है। प्रज्ञा-भेद करके जब स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्वभाव का लक्षी हो जाएगा और वहीं स्थिरता करेगा तो यह अनादि के भव-परावर्तन से भी मुक्त हो जायेगा। भेद-ज्ञान करने वाली प्रज्ञा आत्म ध्यान में प्रत्यक्ष ज्ञान रूप उदित होती है। भाव से मैं तो चेतन मात्र निर्विकल्प व दृष्टा हूँ, अखंड ज्ञान स्वरूप हूँ। उसी अचल भाव-स्थिति में भव बाधा से विवर्जित हूं।

एक ज्ञान मात्र भाव ही संबोधि, सिद्धि और मुक्ति का मार्ग

अलमलमति जल्पैर्दु विकल्पैरनल्पै रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरस विसर पूर्णज्ञान विस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।[1]

बहुत कहने या विकल्पों से क्या ? यहां मात्र इतना ही कहना है कि इस एक मात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि निज रस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समय सार शुद्ध परम आत्म स्वरूप से उच्च वास्तव में अन्य कुछ भी नहीं है ।

वस्तुतः निज रस-प्रसार से पूर्ण ज्ञान मात्र भाव में ही संबोधि है सिद्धि है और मुक्ति भी है । आत्म स्वरूप की अचल निर्मल स्थिरता ही मुक्ति है । यह आत्म स्वरूप निर्मल ज्ञान मात्र ही है— इस निर्मल ज्ञान मात्र भाव में ही अनंत2 गुणैश्वर्य का निवास है ।

"न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञान-मात्र भावोऽस्मि ।"

मैं तो अखण्ड वस्तु माल हूँ, चेतना-ज्ञान मात्र है सर्वस्व जिसका ऐसा हूं । एक-यानी विकल्प रहित हूँ, सुविशुद्ध हूँ । जीव स्व द्रव्य रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखण्डित हूँ । जीव स्व क्षेत्र रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखंडित हूँ । जीव स्व-काल रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखंडित हूँ । अर्थात् जीव द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चार भेद से कहे जाने पर भी एक व अखण्ड ही है, और इसी अखण्ड अनन्त स्वभाव में निमग्न रहना ही पवित्रता, निर्मलता और आनन्द की प्राप्ति का प्रयोग है । इसी में स्व स्वातन्त्र्य का आनन्द है । यही स्व संवेदन है । स्वभाव का साक्षित्व तथा ज्ञायकपना ही परमात्म-तत्त्व है । तथा परम आत्म-स्वरूप में परिणमन से उत्कृष्टतर तथा निर्मलतर आज तक न कुछ हुआ, न है, और न होना ही है । यही सबसे ऊंचा चरम कलश रूप, अमृत कलश रूप होना ही श्रेष्ठ तत्त्व है । इसी की इयत्ता में केवल ज्ञान दिवाकर रूप प्रभु है । यही है—संबोधि, सिद्ध और मुक्ति का मार्ग ।

एको मोक्ष पथो य एव नियतो दृग्ज्ञप्ति वृत्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्ययेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्—
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं बिन्दति ।।[2]

---

1. (समयसार–आ० अमृतचन्द्र—सर्व विशुद्धि अधि०–२४४)
2. (वही—२४०)

यह मोक्ष मार्ग दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है, एक (निर्विकल्प) ग्रौर नियत (सुनिश्चित) है। जो पुरुष इस मार्ग को ग्रहण करता है, इसमें स्थिति करता है, इसका निरन्तर ध्यान करता है, अनुभव करता है ग्रौर ग्रन्य किसी का स्पर्श नही करता हुग्रा निरन्तर इसी में विहार करता है, वही ग्रल्पकाल में नित्योदय समयसार शुद्ध परमात्म स्वरूप को ग्रवश्य प्राप्त करता है। उत्कृष्ठ परमावस्था का एक ही ग्रव्यर्थ हेतु है तो यह है कि चित् धातुमय परम शांत ग्रडिग, एकाग्र एक स्वभाव मय ग्रसंख्यात प्रदेशात्मक चिदानन्द ग्रात्मिक स्वरूप का ध्यान करो।

रत्नत्रयात्मक ग्रालोक शिखा निर्वाणतक

वस्तुतः रत्नत्रयात्मक ग्रालोक की शिखा निर्वाण तक जलती चली जाती है ग्रौर ग्रात्मा सिद्ध भूमि में स्थित हो जाती है। तप (सम्यक्-चारित्र) तैल से प्रपूरित करके ज्ञान-दीप को ग्रात्मा की संपूर्ण निष्ठा (सम्यक्-दर्शन) से प्रज्वलित कर देने पर प्राप्त रत्नत्रात्मक ग्रालोक निरन्तर उर्ध्व शिखाग्रों में उत्तरोत्तर श्रेणीगत होकर नित्योदित नित्य-प्रज्वलित रहता है। यही संसार-ग्रंधकार सागर में से तिरने का हेतु रूप परम धर्म है।

ग्रपने ग्रात्मा का ग्रपने ग्रात्मा में रत होने रूप यही परम धर्म है, "ग्रप्पाणो धम्म" है—इसके ही निरंजन शुद्ध निर्विकल्प रस पीजिए।

सब धर्मों में ग्रप्पाण धम्म; जिन प्रणीत धर्म उत्कृष्ट

जह रयणाणं पवरं बज्जं जह तरुगणाणंगोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभव महणं।।

जैसे रत्नों में प्रवर हीरा, तरुग्रों में गोक्षीर चंदन, वैसे ही धर्मों में उत्तम व भवका, संसार प्रपंच का मंथन (क्षय) करने वाला, यह जिन प्रणीत धर्म है।

यह धर्म नोकर्म (शरीरादि), द्रव्य कर्म (कर्मावरण) ग्रौर भाव कर्म (सुख दुःखादि रूप कर्म विपाक) से रहित ग्रात्मा को ग्रात्मा के ज्ञान-ग्रन्तरिक्ष (गगन) में ही उर्ध्व होने को प्रेरित करता है।

उड चल उड चल चेतन पंछी, जग सुध फिर क्या लेना,
चेत सयाने चेतन पंछी, निज गृह की सुध लेना।।
मोह लोक में क्यों भरमाना, ध्यान पंख उड़ लेना,
शून्य गगन से उडकर जाना, भेद ग्रनन्त पा लेना।
ज्ञान-भानु की सुध रखना, भव ग्रतीत हो लेना,
सिद्धलोक तक उडकर जाना, ग्रमृत घट हो लेना।।

करुणा रस मय योगशासन व धर्म तीर्थ की बंदना

करुणा रस प्रपूरित चिदानन्द अर्हत्परमेश्वर स्वरूप स्वयं अमृत घट बन जाना, यही सिद्धालय की अमर यात्रा है। इस अमर यात्रा को सफल कराने वाला धर्मतीर्थ-भगवान हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर, अग्रज परम प्रभु का योग शासन वस्तुतः प्रणम्य है, वंदनीय है और परम आचरणीय है।

पवित्र और निर्मल चारित्र धर्म-पुरुष को परिणमाने वाले इस अन्तरंग महायोग मय धर्म तीर्थ की इस तरह बंदना की गई है।

द्ध्रि

पवित्री क्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पांङ्घ्रिपाय ॥[1]

जो समस्त संसार के प्राणियों को पवित्र कर देता है, तथा उनका उद्धार करता है, ऐसे इस करूणार्द्र, हरे-भरे धर्म-कल्प वृक्षके लिए नमस्कार है।

संसार में प्राणियों को चार मंगल

चत्तारि मंगलं, अर्हन्ता मंगलम्।
सिद्धा मंगलं, साहू मंगलम्
केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम् ॥

संसार में चार ही लोकोत्तम तत्व

चत्तारि लोगुत्तमा, अर्हन्ता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा
केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ॥

चार शरण

भव-अटवी में दुःख दावानल से तप्त प्राणियों को यदि कोई उत्तम शरण है तो चार ही शरण है—

"चत्तारि शरणं पव्वज्जामि, अर्हन्ता शरणं पव्वज्जामि
सिद्धा शरणं पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि,
केवलि पण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि ॥

अप्पाण शरण ही इसका उद्घोष

वस्तुतः ये चार शरण आत्मा की ही शरण है—आत्म शरण के ही ये चार स्वरूप हैं, पर्याय हैं। अप्पाण शरणं पव्वज्जामि ही इसका उद्घोष है, स्वर है, मंगलमय शरण और भाव है।

---

[1] (ज्ञानार्णव)

अर्हंत् पुरुषों के अमिट चरण चिन्ह और अमृत घट होने की भावना

अमृत आत्म-रस से प्रपूरित स्वयं अमृत घट बने अर्हंत् पुरुष तीर्थंकर और स्वयं बुद्ध प्रभु भव-अटवी में अनादि से भटकते दिग्-भ्रान्त जीवों को सम्यक् संबोधि, सिद्धि और आनन्द तथा अक्षय मुक्ति के सन्मार्ग का सदा से शुद्ध सदेश देते रहे हैं। वे अन्तरंग महायोग के इस पथ को स्वयं प्रोज्ज्वलित कर तथा स्वयं चल कर उनके लिए मार्ग-दर्शन के हेतु अपने अमिट चरण-चिन्हों को भी छोड़ गए हैं।

योग योगीश्वर भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर आदि गुरु ने इस महायोग मय धर्मतीर्थ की सर्वप्रथम इस युग में इस विश्व में प्रवर्तना की, उन अग्रज प्रभु के चरण-कमलों में मुमुक्षु विश्वप्राणी सदा ही श्रद्धावनत है और रहेंगे। महायोगी गण आत्म साक्षात् से पूर्व उनके ही अमल पुरुषाकार स्वरूप दर्शन को प्राप्त करते हैं। उनका अन्तरंग महायोग विज्ञान केवल ज्ञान की केवल किरणों को उद्घाटित करता है। उनका अमृत-प्रकाश हमारे प्राण घट को अमृत-घट बनाए।

• • •

७. अर्हंत् शासन के अन्तरंग विशिष्ट बोध; सर्वोदय तीर्थ, विश्व-धर्म स्वरूप एवं उपसंहार

- "एक"—अर्थात् निर्मल आत्मा बोध में सर्व बोध
- चिद् भाव में, चिद् परिणति से जीवन-कला
- कर्म की भूमि की निर्मलता ज्ञान में
- ज्ञान संचेतना आस्तिक्य से,—आस्तिक्यता से ज्ञान संचेतना
- अध्यात्म जीवन का द्रव्य सन्यास मात्र से समीकरण के दुष्परिणाम
- मानव विकास के सूत्र
- भौतिक वाद में तृप्ति कहां
- धर्म और विज्ञान का समन्वय
- जीवन में निर्मल प्रवाह धारा का सूत्र
- परमार्थ और व्यवहार का भेद करके नहीं
- मोक्ष पथ निष्क्रिय शीलता में नहीं
- समाज परिप्रेक्ष्य में समग्र व्यक्ति विकास
- मानव को मानव से जोड़ने वाला धरातल
- ज्ञानी का अमृत अभिषेक
- चैतन्य की विराटता को समर्पित
- ऋषि और कृषि
- चित् तत्व के परिष्कार मय प्रवृत्ति और निवृत्ति की परम्परा
- चित्—तत्व स्वयं अपना अधिष्ठाता
- पांच भावों रहित आत्मा का देखना
- स्वयं प्रमाण ज्ञान मूर्ति
- दंभ त्रास एवं झूठे प्रदर्शन से टूटा व्यक्तित्व, ज्ञान और संयम से मिलता आनन्द
- शुद्ध निश्चय नय से आत्मा में देखो
- ज्ञान सर्वोत्कृष्ट दिव्य गुण

- अनादि अन्धकार—विच्छेदक स्व तत्व
- प्राणी मात्र में समता और जातीय एकसूता
- देह लिंग तथा वेष से अतीत
- योग और ज्ञान की संपूर्णता चारित्र
- भाव तथा प्रज्ञा बोध का सशक्त संवाद
- श्री महावीर प्रभु द्वारा संपूर्ण ज्ञान सत्ता का साक्षात्कार
- तपस् और चारित्र बल से ज्ञान सविता का अभियान
- चारित्तं खलु धम्मो।
- स्व अनन्त सत्ता में अन्तरंग उपयोग की प्रेरणा
- असीम संवेदनात्मक उर्ध्वं मुख प्रज्ञा दृष्टि
- सर्व धर्म मय अनेकांत
- केवल स्वयं प्रमाण अवलोकन (मात्र देखने) में समीचीन आत्म धर्म
- शुद्ध शील का सूत्र
- शाश्वत् जीवन मूल्यों का निर्माण
- अमृत मय केवल किरणों की वर्षा तथा धाराएं
- मानसिक दासता से मुक्ति
- तीन डायमैन्शन के समन्वय में चौथा डाइमैन्शन
- भोग नहीं, अनुशासन
- प्राचीन काल का ज्योतिर्मय चैप्टर
- अन्तर्तत्व एक,—मात्र निरूपण में भेद
- दर्शनों में भाव भेद से नानात्व, मोक्ष लक्ष्य में एकता
- अतीत का इतिहासः भविष्य की प्रेरणा
- प्राचीन आस्थाओं के चिंतन की अपेक्षा
- उन्मुक्त सम्यक् दृष्टि, वस्तु स्वरूप का ज्ञान और सर्वज्ञता
- सर्वोदय धर्म तीर्थं
- प्रकृत विश्व धर्म स्वरूप
- समता, सामंजस्य और सापेक्षता
- योग मार्ग—मुक्ति मार्ग

- वेदों में जैनों के योग मय धर्म रथ तथा परम तत्व "सिद्ध पद" की भावना
- अथर्व वेद में जैनों के सम्यक् चारित्र (गति शील आचरण-चरण) की प्रेरणा
- निश्चल गोपद (गोधाम)
- आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से मृत्यु-विजय
- भ० हिरण्य गर्भ के ज्ञान मय अप्राकृत देह के पुरुषकार ध्यान द्वारा अमर जीवन
- मात्र तत्व-चर्चा नहीं, ध्यान समाधि की चर्या से परमानन्द मय आत्मानुभव
- उपसंहार

- अन्तिम मंगल वाचन

"एक" आत्मा के बोध में सर्व बोध

मानव की नियति स्वबोध की दिशा में है। इसी में विश्व बोध है। "एक" आत्मा के बोध में सर्व बोध समा जाते है। "एक" निर्मल अविभक्त आत्मा स्व तथा पर के विमल बोध मय स्वयं प्रकाश हैं। एक का अर्थ है निर्मल यानी विषय कपाय एवं रागद्वेष मोह से विवर्जित शुद्ध सौ टन्व निर्मल स्वर्ण सदृश स्व स्वरूप मात्र।

स्व बोध से ही स्व प्रतीति तथा स्व का वर्तन संभव होता है। स्व निष्ठा जागृत होने पर ही मानव की अच्छाई-उसकी संपूर्ण सहज मानवता जागती है। तब मानव में निहित परम का शनैः शनैः निर्माण होता है, विकास होता है और प्रकाश ओता है।

जीवन कला, चिद्भाव, चिद् परिणति

ज्ञायक रहना वह ही चिद्भाव है, ब्रह्म भाव है, प्रभु भाव है। यह ही यथार्थ जीवन की कला है, यह ही अध्यात्म है। स्व षट्कारता इसी में है, इसी में पराश्रयता की निवृत्ति, स्व का शौर्य है। "ज्ञान भाव ज्ञानी करे" -- ऐसा इसलिए कविवर बनारसी दास ने भी कहा है। ज्ञानी को ज्ञान भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करणीय नहीं रहता। अर्थात् ज्ञान भाव के साथ ही संसार में सत्प्रवृत्ति रखनी है—उसकीं निवृति भी अनन्त प्रवृति मय होती है। और वह सब अबंध रूप होती है। पद्मपत्रमिवाम्भस्थः वह संसार में होते हुए भी संसारातीत है।

कर्म भूमि की निर्मलता ज्ञान से

मैं आत्मा हूँ, —शरीर नहीं, राग नहीं, मोह नहीं ज्ञान ही हूँ। इसमें ही वास्तविक ज्ञान और वीतरागता है। यह ही भाव-सन्यास है। यही कर्म-सन्यास को देता है। कर्म की आसक्ति को हीं नष्ट कर देता है। कर्म का निषेध नहीं करता, कर्म की भूमिका को ही निर्मल कर देता है। ज्ञान से वीतरागता स्वतः स्फुरित होती है तथा वीतराग एवं वीत मोह होने से ही ज्ञान भी प्रकृष्ट होता हैं।

ज्ञान प्रकर्षता में ही जीवन उर्ध्व प्रगति शील और समृद्ध होता है। ज्ञान जीवन से पलायन को, मात्र निवृति को प्रश्रय नहीं देता। यहाँ भगवान भी प्रव्रज्या रूप निवृति लेकर भी प्रवृति रूप धर्म देशना तथा धर्म के लिए मंगल विहार करते हैं। यह श्रमण संस्कृति है, कर्मठ क्षत्रिय परम्परा है। श्रम से ही श्रमण है। निठल्ले, प्रमादी, आलसी, इन्द्रिय-लोलुप भोगी, कायर, मोही तथा भीरू जनों का न यह ज्ञान है, न मार्ग ही है।

ज्ञान अभय करता है। यह स्वभाव विजय है। अन्तः शौर्य का जागरण है। अपने चिन्मय प्रभु स्वरूप के चिन्तन तथा आसक्ति रहित वर्तन से निश्चित निर्मलता आती है और आनी चाहिये। ज्ञान का प्रतिपक्षी मोह है— मोह से ही राग है, आसक्ति है। मोह ही प्रभु आत्मा का प्रतिपक्षी दुरा-

चार की मूर्ति शैतान है। यह ही बंधन है। राग का छेद हो जाए, मोह का मर्दन हो जाए तो यह जीव प्रभु ही है, ज्ञान रूप ही है। यथार्थ ज्ञान-भाव वीतरागता के साथ ही उदय होता है। मोह रहित होकर ही जब ज्ञान परिणमता है तब क्रिया व चेष्टा होते रहने पर भी कर्म-बंधन नहीं होता।

ज्ञान संचेतना में कर्म-बंधन का प्रश्न ही नहीं होता। ज्ञान संचेतना सब भूमियों से, कर्म और अभ्यास की सब अनुभव भूमिकाओं से उत्तीर्ण होकर वीतमोह होकर परिणमता है और समस्त स्वसत्ता, आस्तिक्य और अस्तित्व को व्याप्त कर वर्तमान होती हैं। ज्ञान संचेतना से आस्तिक्यता और आस्तिक्यता से ज्ञान संचेतना वर्तमान रहती है, ये अविनाभावी है। सर्वथा राग रहित होने से ही ज्ञान परिणमित होता है। मोह मात्र हेय है। तथा अपना राग भी हेय हैं और पर—व्यक्ति व पर—वस्तु का राग तो हेय है ही। वीतराग होना ही यथार्थ स्वतंत्रता है, मुक्ति है। ज्ञान भाव से आये सन्यास की ही उत्कृष्टता है। उसी में वीतरागता है। तब जीव अपने लिए नहीं,—किन्तु परमार्थ के लिए जीता है।

द्रव्य सन्यास से अध्यात्म के समीकरण के दुष्परिणाम

यह कैसी दुखद स्थिति हुई हैं कि कुछ सदियों से इस अध्यात्म प्रधान भारतवर्ष में अध्यात्म जीवन को मात्र द्रव्य—सन्यास के जीवन से, सन्यास आश्रम से ही समीकृत किया जाने लगा और संपूर्ण जीवन को माया मय अभूतार्थ कहा जाने लगा। सारे देश में एक पलायन वादी आत्म—विमूढ़ मान्यता व्याप्त हो गई और द्रव्य—सन्यास यानी ओढ़े हुए, आरोपित सन्यास मात्र को ही विशेष गौरव दिया गया न कि मानव के सद्चारित्र को, राग व मोह के नष्ट होने को, न मानव की मानवत्ता को, न उसके स्वतंत्र आत्म—वाद को तथा प्रभुता को। वह एक निरीह् परतंत्र असहाय भावना से ही भर दिया गया। उसे सिखाया गया कि वह एक अन्य बाह्य ईश्वर शक्ति का खिलौना मात्र है,—उसके जीवन के तार संचालित होते हैं एक अन्य अदृश्य काल्पनिक महा शक्ति से। अपने विकास, परिष्कार तथा उन्नति के लिए ऐसे में श्रम व प्रेरणा के लिए स्वतंत्रता व अवकाश ही कहां रह जाता हैं? परिणामतः जन—साधारण के विवेक और कर्मशीलता को घुन लग गया। वे अन्धविश्वासों में ही भटक गये, सामान्य जन को धर्म के व्यवसायियों ने हर प्रकार से धर्म के नाम पर खूब लूटा। अज्ञान ने प्रगति को अवरूद्ध कर दिया।

यह बदलाव आया पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों के दीर्घकालिक इतिहास में। यह दीर्घकाल ईश्वर युग रहा, मधुर यानी शृंगार भाव का ईश्वर—युग रहा है या शुष्क माया वादी विवर्त वादी भ्रम का युग रहा है।

चौदहवीं सदी में यूरोप में तो धार्मिक क्रांति हो गई। मानव अन्ध विश्वास की मृग मरीचिकाओं से उबर कर विज्ञान की ओर उन्मुक्त हो गया। बैचारिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता स्व

अनुशासन, तर्क व कर्म शीलता व ज्ञान का उदय अभी भी भारत के सामान्य जन के लिये होना बाकी है। स्वाश्रित जिस व्यक्ति-गरिमा प्राचीन अर्हंत्परंपरा के योग धर्म ने कभी उद्घोषित की थी, मानव को आप अपना ही भाग्य विधाता एवं आप स्वयं हीईश्वर—प्रभु बताया था और वैसा ही होने की प्रेरणा दी थी उसकी पुनः प्रतिष्ठा की अपेक्षा है। यहां मानव अब भी घोर अशिक्षा और अज्ञान के अंधेरों में पड़ा है। शिक्षा एवं विज्ञान के बढ़ते चरण जब मानव ज्ञान की अनन्तता, विराट्ता और महत्व को ही उद्घाटित करते जाएंगे तब इसी में मानव को अपने निरालम्ब ज्ञान का विश्वास होने लगेगा और यह होना ही चाहिये। विज्ञान पदार्थ—सत्ता को अनादि अनन्त और परिणमनशील मानता है। अतः सृष्टि मात्र को भी अनादि और अनन्त कहता है। किसी बाह्य रचियता शक्ति का इसे विश्वास नहीं। स्वयं पदार्थ में ही पदार्थ की अपनी (निजी) उपादान शक्ति है।

मानव विकास के सूत्र

मानव एक वृक्षबीज की तरह जन्म लेता है। वह अपनी ही उपादान—शक्ति से तथा उपयुक्त उन्मुक्त वातावरण से उपयुक्त साधन व पोषण के निमित्त से विकास करता है, प्रगति करता है, सारी विशाल और अनन्त प्रकृति उसके ही स्व तथा पर के अर्थ विद्यमान है। इस प्रकृति में ही सुकृति की शिक्षा मानव को मिलती है और सुकृति से संस्कृति के चरण बढ़ते हैं और उसी में स्व कृति का भी बोध होता है।

भौतिकवाद से तृप्ति नहीं

भौतिक वाद से तृप्ति मानव को हो नहीं सकती,—क्यों कि यह वाद मानव के अन्तः तत्व को उपेक्षित करता है। मानव को अपने अध्यात्म पर वापिस लौटना ही हैं। भौतिकता से जब कुंठाये बढ़ जायेगी और जड़ता छा जाने लगेगी तों जागृत शांति की खोज में, आनन्द मय लय-गीत की खोज में इधर आना ही होगा, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

धर्म और विज्ञान का कोई विरोध नहीं हैं, कोई विवाद नहीं है। क्योंकि दोनों के प्रयोग—क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान प्रकृति व ~~आत्म~~ अभौतिक जगत् का विज्ञान है, वैसे ही धर्म चेतन—आत्मा का विज्ञान है। विज्ञान में मानव—चेतना "पर"—ज्ञेय पर प्रयोग करती हैं। विज्ञान विश्व-विजेता बनाता है यानी वह समस्त विश्व-तत्वों की ज्ञान यात्रा है, पर-ज्ञेय के ज्ञान का अभियान है तो धर्म अपने आलोक में मानव को अपने चैतन्य गुण की प्रसिद्धि में सर्वज्ञ वीतरागता का कारुण्यमय परमार्थी एवं जन सेवक व क्रांत दृष्टा बनाता है। ज्ञानी का धर्म स्व ज्ञान का ही अभियान हैं। विज्ञान अनेकता कर ले जाता है—ज्ञान एकता एवं समन्वय पर खड़ा करता है। धर्म और विज्ञान का समन्वय करना ही होगा।

जीवन में निर्मल प्रवाह धारा का सूत्र

जीवन ऐसी धारा हैं जो सतत् स्व आत्म सुवासित ज्ञान मय कर्म प्रवाह से निर्मल रहती

है। मोह रहित दृष्टि से, वीतरागता निर्मलता परिणमती है। जिसमें कर्म और ज्ञान का सामंजस्य रहता है। वह गति व अगति का, परिणामी अपरिणामी का ज्ञान सामंजस्य है। तब ज्ञान के साथ निर्विकारता स्वयं उदित होती है, वह आरोपित नहीं होती। श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र अभ्यास को लेकर ही इस संसार में जीवन का निर्मल प्रवाह रह सकता है। कर्म रूप व्यवहार अर्थात् करणीय कर्तव्य एवं परमार्थ को साथ-साथ लेकर चलें, तो जीवन में न निष्क्रियता आ सकती है, न दुष्प्रवृत्ति स्थान पा सकती है।

परमार्थ और व्यवहार को अलग करके चलना गलत

जब व्यवहार परमार्थ के ज्ञान से शून्य होता है तो भौतिक वाद अपने समस्त दुर्गुणों सहित जन्म लेता है। मानव तब अपने चैतन्य स्तर पर नहीं, अपने इन्द्रिय एवं पशु स्तर पर जीने लगता है। जब परमार्थ और व्यवहार में भेद किया जाता है और मात्र परमार्थ पर ही जोर देकर व्यवहार को झुठलाया जाने लगता है तो मानव जीवन से पलायन करने वाला निष्क्रिय हो जाता है जीवन का विकास रुक जाता है। उस विकास के न होने से जीव को स्वयं परमार्थ की भी प्राप्ति असंभव हो जाती है।

केवल ज्ञान अवस्था न हो जाए तब तक संव्यवहारिक कर्म-शीलता का, सर्व निमित्त का तिरस्कार योग्य नहीं है। व्यवहार तथा परमार्थ, निमित्त तथा उपादान का समन्वय, दोनों का सामन्जस्य न कि अति, व्यक्ति और समाज के लिये आवश्यक है।

निष्क्रिय शीलता में मोक्ष नहीं

मोक्ष का आदर्श इसलिए नहीं है कि मानव की कर्मशीलता को घुन लग जाए। मोक्ष का पथ निष्क्रियता नहीं है। वह भी कर्मशीलता में ही है। व्यक्ति अपने अहं में ही केन्द्रित रहे तो वह अपनी आत्मा की उस विस्तार मय विराट्ता को विकसित नहीं कर सकता जो आगे उत्कृष्ट उच्च अध्यात्म व विराट ब्रह्माण्डीय केन्द्रों तथा अति केंन्द्रो की उन्मुक्ति के लिये आवश्यक है।

समाज परिप्रेक्ष्य में समग्र व्यक्ति का विकास

मानव एक सामाजिक प्राणी है समग्र समाज की प्रगति तथा उत्थान के परिप्रेक्ष्य में ही व्यक्ति का विकास संभव है। यदि मानव को व्यक्तित्व-विकास और स्वतंत्रता के इस परिप्रेक्ष्य में न देखा जाए तो व्यक्ति की गरिमा एवं स्वयं अपने में अपनी आस्था तथा विश्वास भी समाप्त हो जायेंगे, सारी भावनाओं तथा कर्म और श्रम के अवसर व्यक्ति को समाज में ही उपलब्ध होते हैं। इसके बिना सारे उत्प्रेरक जीवन के स्त्रोत भी सूख जायेगें।

मानव से मानव को जोडने वाला धरातल

मानव से मानव को सम्यक् निष्ठा तथा विवेक के साथ जोडने वाला–तथा व्यक्ति को समाज से जोडने वाला अध्यात्म ज्ञान का ही धरातल है। इस धरातल में व्यक्ति संकीर्ण राग से छूट कर समाज-निष्ठ, विश्व-निष्ठ, लोक-संग्राही तथा वैश्विक करुणा की गंगा का प्रवाह होता है और उसी से कर्तव्य-कर्म की भूमि परिशुद्ध और सरसज होती है।

अपना अमृत अभिषेक

मानव क्यों व कैसे शुद्ध जीवन को जिये–यह शिक्षा अध्यात्म से ही प्राप्त होती है। सच्चा अध्यात्म निठल्लेपन व जीवन पलायन को नही सिखाता। योग से शुद्ध चारित्र तथा ज्ञान चिंतना का धन मानव को प्राप्त होता है। योग उत्कृष्ठ निस्पृह जीवन के लिये ज्ञान संपन्न जीवन के लिए सोपान रूप है। योगी की करुणा दुःखी दुनिया के आंसु पोंछती है। योगी अनन्त करुणा मय स्पंदनाओं से जन जन के दिलों को रस भरित करता है। ज्ञानी का अपना अमृत-अभिषेक, अनादि संसार परिभ्रमण से दुखी जीवों में ज्ञान अमृत को प्रवाहित करने के प्रयास पर होता है। जीवों के दुःख अश्रुओं को पोंछने के भावों में ही आत्मा का ही यजन होता है, अपनी ही आत्मा निर्मल होती है व परानन्द मय होती है।

मानव व्यक्ति तथा वस्तु के संकीर्ण राग से ऊपर उठ कर अराग व अनासक्ति व शुद्ध निर्भय व्यवहार को संवारे तथा शुद्ध निर्भय व्यवहार से अपने भाव का प्रचार करें, यही वीतरागता का मार्ग है। राग, मोह तथा विषय-वासना और सामाजिक तथा आर्थिक विषमताएं ही सारे संसार में दुर्गुणों एवं सब प्रकार की खराबियों व दोषों और दुःखों का मूल है। धर्म का स्वरूप अतः मात्र व्यवहार का त्याग नहीं कराता–यह प्रमुख रूप से त्याग कराता है अपने ही विकारों व दुर्बलताओं तथा राग द्वेष मोह का, कषायों का, दुष्कृतियों का, अंध विश्वासों का। यह धर्म श्रम को प्रतिष्ठा देता है उस श्रम को जो दुराचार रहित हो, राग रहित हो, मोह रहित हो, पाप रहित हो। स्वतंत्रता, समता, लोक हित के, आदर्श के, तथा सामाजिक नैतिकता तथा व्यक्तिगत सदाचार के विकास के साथ जब मानव पूर्ण स्व वस्तु के विकास की तरफ यात्रा करता है तब ही विराट् ज्ञान-पुस्तक के पृष्ठ खुलते हैं। अपने लिये जीना तो उस पुस्तक का कोई पृष्ठ हो नहीं है। उस अनन्त पुस्तक का पढना हीं यथार्थ स्व का विकास है।

जब मानव वस्तुनिष्ठ, समाज-निष्ठ एवं विश्व-निष्ठ हो जाता हैं, मानवता वाद और आत्मवाद की यथार्थ दृष्टियां खुल जाती हैं, उदार व विस्तृत होती हैं तब अपराध पर नहीं, अपराधी आत्मा पर उसके ही सुधार तथा उसके आधार आत्मा पर दृष्टि स्थिर होती है। प्राणी मात्र पर करुणा का अहैतुकी भाव तब ही उदय होता है। विराट् आत्मा की दृष्टि में तब मानव में अपना व अपने देह व कुटुम्ब आदि का राग एवं पक्ष समाप्त हो जाता है और वह समस्त विराट् की ही महान् करुणा और समता को लेकर चैतन्यत्व की विराट्ता को समर्पित हो जाता है, विशुद्ध आत्मा के तार बज उठते हैं

और वही यथार्थ निष्पाप चारित्र का आधार बन जाता है। शुद्ध जिजिविषा विराट् अमृत पद में समर्पित हो जाती है। स्व समयसारता स्व सौंदर्य की प्राप्ति है।

ऋषि और कृषि

कुरल काव्य में कृषि की अनिवार्यता के उपलक्ष द्वारा श्रम की, शुद्ध व्यवहार की अनिवार्यता को ही उद्घोषित किया है–क्योंकि मानव या तो शुद्ध व्यवहार रूप कृषि ही करें या ऋषि सम सदा आत्म-दृष्टा ही हो अर्थात् ऋषि ही बने।

> "नरो गच्छन्त्वु कुत्रापिः सर्वत्रमन्नपेक्षते।
> तत्सिद्धश्च कृतेः तस्मात् सुग्क्षऽपिहिताय ॥"[1]

मानव कहीं भी विचरण करे, उसे अन्न भोजन की तो सदा अपेक्षा रहती है अतः उसे अन्त में भोजन के लिये हल का तो आश्रय लेना ही पडेगा। अर्थात् उसे कृषि (श्रम) का आश्रय लेना ही होगा। वस्तु की रागात्मक इच्छा को ही परिग्रह माना गया है, जब राग द्वेष से परे होकर निरीच्छुक पणे वस्तुतः ज्ञाता दृष्टा भाव से प्रवृति हो–तो मानव ऋषि ही हो जाता है। वह फिर कहीं भी हो, किसी भी आश्रम में हो प्रवृति मय रहता हुआ भी जल में कमल वत् निर्लिप्त ही रहता है।

श्रम का मूल्य कभी इस संसार में कम नही होने वाला हैं। विश्व की सारी संस्कृति को आज भी कृषि ही आधार व आश्रय देती है। कृषि तो मानव जीवन में श्रम का प्रतीक ही हैं। श्रम की उपेक्षा से यानी जीवन के संव्यवहारिक धरातल की व उसकी शुद्धी को नकारने से लोक व व्यक्ति जीवन की भूमि उर्वर न होकर मरूभूमि ही हो जाती है। स्व के ज्ञान में जब सब का ज्ञान आता है तो अपनी चिन्ता के स्थान पर सब की ही चिन्ता सब के दुखों की निवृति रूप अनुकम्पा प्रतिष्ठित होकर स्व चिन्ता का उदात्त स्वरूप बनता है, स्वार्थ का श्रम नहीं, परमार्थ का, आसक्ति रहित वीतराग श्रम का जो मानव को पशु स्तर से मनुष्य और मनुष्य से प्रभु बना दे की महत्ता हैं यही श्रमण का आदर्श है। वरना जैसे कि तिरूवल्लुवर ने भी कहा हैं–वह का पुरूष जो तपस्वी जैसी तेजस्वी आकृति बनाए फिरता है उस गधे के समान है जो शेर की खाल ओढे घास चरता है। परमार्थ की बुद्धि से ही वृत्ति-नियन्त्रण है। इस बुद्धि की प्रवृत्ति में स्वतः ~~प्र~~निवृत्ति है, अतः परमार्थ का श्रम करो।

चिद् तत्व के परिष्कार मय वृत्ति और निवृत्ति का सामञ्जस्य

अध्यात्म जीवन और आधुनिक संदर्भ पर विचार करने पर कर्मठ संव्यवहारिक एवं शुद्ध आधारों पर चलने वाली तीर्थंकरों की कर्मठ जीवन से चित्-तत्व के निरन्तर परिष्कार की प्रवृत्ति और निवृति की सामंजस्य परम्परा ही एक मात्र मानव के लिये सदुपाय व त्राण दृष्टिगत होती है। इस

---

[1] (कुरल काव्य-104-1)

परम्परा में भाव (श्रद्धा), ज्ञान,और कर्म (चारित्र) का समन्वय हुआ है। यह जीवन को अनन्त काल से, अनादि काल से एक प्रवाह (पर्याय-प्रवाह) रूप प्ररूपित करके उस प्रवाह को सतेज ज्ञान द्वारा निष्क्रिय तथा भाव-विमोहित होने से सुरक्षित रखने—निष्पक्ष निरपेक्ष असंग शुद्ध रहने एवं स्वाधीन स्वतंत्र रहने की शिक्षा देता है। यह समस्त अभिव्यक्ति के मूल स्त्रोत में स्व केन्द्र स्वभाव की खोज करता है। यह किसी बाह्य सृष्टि रचयिता को स्वीकार नहीं करता, न यह चेतना तत्व को निरीह असहाय या किसी के आश्रित ही मानता।

चिद्तत्व स्वयं अधिष्ठता

यह चित्-तत्व स्वयं अधिष्ठाता तथा प्रभु है जो इस चित् तत्व के अनुकूल है, वही चारित्र रूप है, विपरीत ही कुरूपता है, विभाव हैं, स्व-सौन्दर्य नहीं है। स्व-सौन्दर्य बोध ही ज्ञान है। यह सौन्दर्य निराश्रित सहज जात है। आप अपने में बोध और निष्ठा, न कि "पर" में यही धर्म स्वरूप है। मानव प्राणी को—चाहे वह किसी देश काल वय व लिंग का हो उसे जिन शासन ने एक शुद्ध स्वाधीन ज्ञान तत्व के रूप में ही देखा है—और उसकी प्रतीति, रुचि, ज्ञान और स्थिरता को ही जागृत किया है। मानव के स्वयं के विश्वास तथा विवेक को जगा कर ही उसे अज्ञान व अपराध से मुक्त निष्पाप शुद्ध जीवन की शुद्ध दृष्टि दी जा सकती है। स्व तत्व की निष्ठा ही उत्तम मानव का निर्मापक है और निर्वाण दायक भी हैं।

पंच भाव रहित आत्मा का देखना

"यः पश्यति आत्मानमबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं,
अविशेषमसयुक्तं तं शुद्ध नयं विजानीह।
यः पश्यति आत्मानमबद्ध स्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिन शासनं सर्वम्॥[1]

जो आत्मा को बंध रहित, पर-द्रव्य व पर-भाव के स्पर्श से रहित, अन्यपने से रहित अविशेष अन्य के संयोग रहित—ऐसे पांच भावों रहित देखता हैं, उसका ऐसा देखना ही शुद्ध ज्ञान-दृष्टि हैं। इस दृष्टि में जीवन अनादि और अनन्त ज्ञान प्रवाह लिये एक विराट् ज्ञान है जिसे मृत्यु स्पर्श तक नहीं करती। मृत्यु संयोगी देह की है न कि आत्मा की।

जो पुरुष आत्मा को अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त (उन्मुक्त) देखता है यह देखना ही सर्वजिन शासन को देखना है अर्थात् जानना है। इस जानने में ही व स्थिर रहने में ही आत्मा की मुख्य अमृत संस्थिति है—स्वाधीनता हैं।

---

[1] (समयसार गाथा १४ व १५ की संस्कृत छाया)

यह अबद्ध स्पृष्ट है क्योंकि यह सर्वथा निर्लिप्त व स्वाधीन तत्व है। आत्मा अनन्य है क्योंकि इसकी कोई अन्य तुलना या उपमा नहीं हैं। आत्मा नियत है—क्योंकि यह अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव में सदा सुरक्षित है और समान है। चिन्मयता इसका सत् सामान्य स्वरूप है, अतः चिद्-स्वरूप होने से ही सामान्य है, अविशेष है। परद्रव्य भाव से रहित होने से निर्विकार व असंयुक्त हैं। आत्मा के इन पांच भावात्मक स्वरूप की प्रतीति की स्थापना ही सतेज ज्ञान-दृष्टि है। यह दृष्टि ही शुद्ध व अक्षय अमृत जीवन का सर्वस्व है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।[1]

यह शुद्ध ज्ञान दृष्टि पर-द्रव्य से, पर-भाव से, पर-भाव से उत्पन्न विभाव से भिन्न आत्मा के ही स्वभाव को प्रकट करती उदित होती है। यह आत्म स्वभाव संपूर्ण ही पूर्ण है, आदि व अन्त से रहित है, सर्व द्वैत भावों से रहित व एकाकार हैं, समस्त संकल्प बिकल्प समूहों को विलीन करता प्रकाशित होता है।

केवलणाण सहावो केवल दंसण सहाव सुहमइयो।
केवलसत्ति सहावो सो हं इदि चिंतए णाणी ।।[2]

यह आत्मा एक मात्र केवल ज्ञान और केवल दर्शन स्वरूप है यानी लोकालोक के सर्वज्ञेय पदार्थों को, तथा स्व व पर को जानने वाला, देखने वाला है। यह स्वभावतः अनन्त शक्ति का धारक और अनन्त सुख हैं। केवल ज्ञान होने का अर्थ है परम ब्रह्म हो जाना—तब और कुछ जानने की, सीखने या करने की बात ही नहीं रह जाती। उस ज्ञान में जो कुछ भी है, केवल वही है—यही केवल ज्ञान है।

मल रहिओ कल चत्तो अणिंदिओ केवलोविसुद्धप्पाओ।
परमेट्ठी परम जिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ।।[3]

यह आत्मा ही—सर्व दोष रहित, शरीर विमुक्त, इन्द्रियों के अगोचर, सर्व अन्तरंग बहिरंग मलों से मुक्त, विशुद्ध स्वरूप का धारक है ऐसा परम निरंजन शिवंकर शाश्वत् सिद्ध आत्मा ही परमात्मा है। वस्तुतः वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही यह है, जो कुछ भी है वह आत्म-ज्ञान ही है। अतः यहां संपूर्ण अपरिग्रहता ही फलित है। एक मात्र उन्मुक्त ज्ञान ही मेरा है, वही मैं हूँ, अन्य कुछ भी नहीं इस प्रकार अन्यत्व रहित अपने को अपने में देखना, अन्तर्दृष्टि से मात्र देखना आत्मा को देखना है।

ऐसा यह आत्मा अपनी ही प्रतीति अनुभव व चिन्तन से प्राप्त होता है। चेतनता की अनुभूति की ही बात है। आत्माभिमुख होने की ही बात है। पंथ, ग्रन्थ, रूढ़ी, परम्परा और अभिव्यक्तियों के

---

[1] (समयसार कलश जीव अधि० १०)

[2] (नियमसार ९६)

[3] अष्ट पाहुड (मोक्ष० पा० ६)

राग से उत्तीर्ण होकर ही इस परमत्व की अनुभूति होती है। ब्रह्म की परम अन्तर्लीनता किंचित् भी मुखरता से शून्य है, वह तो अपने स्व के अखंड एकत्व में विराट् धर्म चैतन्य रूप हैं। उस की ज्ञान तल्लीनता अखंड अबाधित होती है, उसके प्रति क्या कुछ कहा जा सकता है।

स्वयं प्रमाण ज्ञान मूर्ति :—

तप की प्रक्रियाओं को लेकर, तथा से भी उत्तीर्ण होकर ही वह ज्ञान स्वरूप प्राप्त होता हैं, ग्रन्थ व ग्रन्थियां सब बाहरी स्तर है। ग्रन्थ प्रमाण को खोजने के स्थान पर, बाहर मूर्तियों में खोजने के स्थान पर, विश्व के किसी रचयिता को खोजने के स्थान पर, स्वयं प्रमाण अपनी ही ज्ञान-मूर्ति, अपने ही केन्द्रस्थ जिनेश्वर ईश्वर-आत्मा, परमात्मा की अनुभूति में चले जाओ। और अपनी चर्या-चारित्र को अपनी उसी अन्तः अनुभूति के प्रमाण रूप बिशुद्ध करते चलो। इसलिये उपदेश दिया गया हैं—

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥[1]

जो बडे ~~अडे~~ बड़ इन्द्र चन्द्रादि से नमस्कृत है, ध्यानियों द्वारा ध्यान किया जाता है, स्तुतिकारों द्वारा स्तुति किया जाता है, वह परम आत्मा कहीं इधर उधर बाहर नहीं हैं, वह तो अपने इसी देह में अवस्थित है। अतः हे परमार्थी जन! अपने ही अन्तर्निहित आत्मा के निर्मल स्वरूप प्रकाश को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। निर्मल स्व प्रकाश ही मानव के सब मान्य व दृष्ट वातों में एक मात्र विशिष्ट सत्य हैं। इस विशिष्ट सत्य का अपने श्रम से, अपनी शुद्ध जीवन साधना से साक्षात्कार करो। यह साक्षात्कार ही इसी जीवन में मोक्ष है, मोक्ष का अन्य कोई रूप नहीं है।

दंभ, त्रास, झूठे प्रदर्शन से टूटा व्यक्तित्वः ज्ञान और संयम से मिलता आनन्द

निश्चय ही आज का मानव भ्रष्ट, त्रस्त व मोह-ग्रस्त इसी कारण है कि वह अपनी निर्मल आत्मा से, स्व स्वरूप से, स्व व्यक्तित्व से टूटा हुआ है। आज तो उसका संपूर्ण जीवन एक प्रदर्शन, त्रास एवं दम्भ से भरा है। जो जीवन कर्म मय, अहिंसामय, सत्यमय, संयममय, व तपोमय बनना चाहिये था, देह जो देवालय एवं चैत्यालय रूप पवित्र मंदिर बनना चाहिये था, वहां तो सब कुछ उलटा ही घटित हो रहा है। आज तो मानव बाहर के मंदिर व धर्म स्थान में एक जड (रुटीन) औपचारिकता को ही निभाने जाता हैं, न कि उत्कृष्ट आत्म-शुद्धि व मंगल की प्राप्ति के लिये। धर्म जीने की कला है, यह योग आत्मा की कला हैं। लौकिक धन, सत्ता, पद, प्रतिष्ठा को इसने कब राग या महत्व दिया है? जीवन को जीवन्त ज्ञान की तरह जीना है तों निश्चय ही व्यवहार में प्रवृति व निवृति का समन्वय एवं सामन्जस्य करना ही होगा और उस सामन्जस्य की दिशा संतुलित चैतन्य आत्म-ज्ञान है, ऐसे ज्ञान में ही मानव का परम हित-साधन है—और वह परम करुण भाव के स्त्रोत के ही रूप में प्रवाहित होता हैं और वह भाव ही शुद्ध भाव है। धनादि का महत्व उपयोग मात्र के लिए ही है न कि उपभोग के लिये। जीवन

---

1. अष्ट पा० (मो० पा) १०३

का लक्ष्य भोग नही—ज्ञान और संयम से प्राप्त निजानन्द है। ज्ञान और संयम से ही मिलता हैं निज आनन्द का स्त्रोत।

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा को देखना

ज्ञानी करोति न, न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्ध स्वभाव नियतः स हि मुक्तएव ।।[1]

ज्ञानी स्वेच्छया, स्वाधीनत्ता पूर्वक कर्म का न कर्ता हैं–और न ही भोक्ता ही है, वह मात्र ज्ञाता ही है। वह तो शुद्ध स्वभाव नियत हुआ मुक्त ही है। वही शुद्ध निश्चय नय से आत्मा का देखना है। जो मात्र देखता है, ज्ञायक मात्र ही है, प्रिय–अप्रिय के क्षोभों में नहीं जाता, वह तो मुक्त ही है।

कर्म फल के उदय बंध, पाप और पुण्य को ज्ञानी मात्र जानता ही हैं। कर्म अनात्म प्रत्यय है, वह उदय में आकर ज्ञानी का कर भी क्या सकता है? जीव में जब तक पुरूषार्थ-निर्बलता का भाव है कर्म का जोर प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञानी तो क्रमशः स्व शक्ति का उद्योत करके–अन्त में सर्व कर्म को समूल नष्ट कर ही देगा। अतः ज्ञानी को तो कर्म विपाक का साक्षी व ज्ञाता होकर मात्र देखना ही हैं। यह उस ज्ञानी की चर्या है जो वीतमोह परिणत हुआ है। वस्तुतः ज्ञानी भी वही है जो वींतमोह हुआ है। वीतमोह ज्ञान दशा ध्यान समाधि अभ्यास में ज्ञाता दृष्टा अभ्यास से होती है।

तव ज्ञानी कर्म को संचेतन न करके स्वयं अकर्ता ही रहता हें, कर्म फन चेतना रहित रहने से स्वयं अभोक्ता है। वह कर्मशील होते हुए भी न कर्म का कर्ता है न भोक्ता है। एक मात्र शुद्ध भाव में ही अबंध दशा है। शुद्ध का अर्थ है जिसमें न राग हैं, न द्वेष है—न मोह है—न कषाय है पर जो सर्व व्याप्त रूप करुणा रस आद्रित है एवं वासना से रहित है।

नेत्र दृश्य पदार्थ को मात्र देखता ही है उसका कर्त्ता भोक्ता नहीं होता, यदि वह पदार्थ को करे या भोगे तो अग्नि नेत्र के द्वारा जलनी चाहिये. और नेत्र को अग्नि की उष्णता अनुभव होनी चाहिये। ज्ञान भी नेत्र के समान सबको मात्र देखता ही हैं। वस्तु मात्र के वेदन (भोगने) व करने में असमर्थ होने से ज्ञानी कर्म को न करता है और न वेदता (भोगता) ही है। अतः वह ज्ञानी कर्मबंध को, मोक्ष को, कर्म उदय को व निर्जरा को होता हुआ निरीक्षण ही करता है, जानता ही है, उनमें अपने आत्मत्व के भाव को नहीं करता। उसका आत्मत्व निज आनन्द रस में ही है। वह आनन्द रस बाहर करुणा रस रूप में ही बहता है।

ऐसे ज्ञानी को जिसे मात्र ज्ञान संचेतना ही है, संसार का अभाव ही है, उसे नये कर्म का

---

1. समयसार टीका–१९८

बंध नहीं होता। मात्र पूर्व कर्म का ही उदय उसे रहता है। इस पूर्व संचित कर्म मात्र ही ज्ञानी का संसार बचा रहता है। इस इतने मात्र संसार बंधन को भी वह अपने आत्मा के ध्यान-अभ्यास,— एकाग्रता व शुद्धोपयोग द्वारा, स्व समाधि व स्व संवेदन द्वारा शीघ्र ही काट देता है। संज्वलन कषाय भी जब ज्ञान से, ध्यान में जर्जरित हो जाता है, तब यथाख्यात आत्म-चारित्र प्रकट होता है और उसी में केवल ज्ञान भास्कर का प्रकाश हो जाता हैं। केवल ज्ञान के उपरांत उस ज्ञानी प्रभु परिणत आत्मा का मंगल विहार निरिच्छुक करुण रस का ही प्रवाह रूप है।

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि, णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा।।[1]

अर्थात् ज्ञान आत्मा है, ऐसा भगवान् का अभिमत है। ज्ञान के बिना आत्मा नहीं होता— अर्थात् आत्मा के सिवा किसी अन्य द्रव्य में ज्ञान नहीं होता, अतः ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है। अथवा अन्य गुणों के द्वारा और भी है। पद प्रमुख रूप वह ज्ञान पुंज है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी वह करता नहीं है।

वीत मोह ज्ञान का प्रकाश ही आत्म-प्रकाश है, ज्ञान प्रकाश के साथ ही अन्य अनन्त गुणों का आत्मा में प्रकाश है, केवल प्रकाश किरणें ही ज्ञान आत्मा से विकरित होती है। ये केवल किरणें करुण रस में ही आप्लावित हुई प्रवाहित होती है।

ज्ञान सर्वोत्कृष्ट गुण

इस योग धर्म का यह ही सर्वोपरि सशक्त कथन है। ज्ञान ही जीव का दिव्य गुण है—इससे ऊंचा न कोई तत्व है, न कोई अन्य देव है। इसी से प्राणी ऊंचा उठता है, इसके अभाव में गिरता हैं व बंधन पाता है। यह ज्ञान ही चिन्मय शक्ति है, यह ही स्वयं प्रकाश व स्व व पर प्रकाशक है तथा परम करुणामय है। मानव की महानता पर-पदार्थं पद सत्ता या धन वैभव आदि से नहीं,—ज्ञान गुण से ही है। ज्ञान समृद्धि से ही जीवन की,—मानव की समृद्धि है। यह ज्ञान ही अप्पा है और यह ही परमप्पा है। इसी से अमृत का भोग हैं, करुण रस का प्रवाह है सब रसों का आदि कारण है। यह सत्य ही मानव का एक मात्र दृष्ट, अनुभूत सत्य है, परम तत्व है। इससे परे अन्य कुछ भी न है, न कल्पनीय है क्योंकि यह ही मानव की शक्ति की इयत्ता रखता है—यहीं तक मानव की गति की इति है। यहीं पर मानव के वीतराग करुण रस की अनन्तता है।

अनादि अंधकार विच्छेदक स्व तत्त्व

स्व तत्त्व रूप ज्ञान की उद्घोषणा अतः सर्वोत्कृष्ट सत्य का ही संदेश है। योग इसी ज्ञान को प्रत्यक्ष करता है, प्रकाशित करता है। योग धर्म कैसी गुण-गरिमा, कैसी स्व द्रव्य-स्वतन्त्रता,

---

1. (प्रव. सार गाथा २७)

कैसी स्व स्वरूप एकता तथा निर्मलता की मानव के लिये उद्घोषणा करता है,–कैसा इसका उदात्त रस तथा उदात्त स्वर है, कितना यह पावन व आश्चर्यजनक है! इसके तत्त्व–ज्ञान में व्यक्ति–गरिमा एवं वस्तु स्वातन्त्र्य तथा स्व रस का कैसा रमण है। यह अनुशासित स्वाधीनता का समर्थक है और संयम के स्वावलम्बन मार्ग को ही—स्वैच्छिक आनन्द मार्ग को यह देता है। इस स्वावलम्बन की जागृति ही ऐसी प्रकाश–किरण है जो अनादि के अंधकार को विच्छेद करके आत्मा के सन्मार्ग को प्रकाशित करती है।

चैतन्य आत्मा के मात्र प्रकाशमान, तेजोमय, ज्ञानमय, आनन्द रस की ही वह बात कहता है, उसे ही प्राप्त करने का निमंत्रण देता है और प्राप्ति के लिये आश्वस्त भी करता है और उस स्वरूप रस को आस्वादन कराता हुआ उसी में प्रतिष्ठित भी कर देता है।

प्राणी मात्र में समत्व और जातीय एकता

यह प्राणी मात्र में—जातीय एकता और समत्व भाव को कहता है अतः चैतन्य मात्र को एक सूत्र में जोड़ता है। यह सब के लिये समान रूप से द्वार उन्मुक्त करता हैं। प्राणी मात्र एक दिव्य व पवित्र ज्योति है,–चैतन्य पिंड है, सर्व प्रभुतामय भगवान् ही है। अतः मानव की सेवा हित कार्य स्वयं प्रभु का ही कार्य एवं सेवा है। यह वस्तुतः करुणा एवं अनुकम्पा रूप ही है—स्वयं पर के प्रति अनुकंपा का भाव, दुख को दूर करने का भाव, वह ज्ञान भाव से ही निःसृत होता है, वह ही निर्मल सरल अन्तर आत्मभाव है। सब चैतन्य आत्माओं के प्रति सम दृष्टि, सम दर्शन से अपने में समता रस का प्रवाह होता है।

देह लिंग तथा वेष से अतीत

णदु होइ मोक्ख मग्गो लिंगं जं देहिणि म्ममा अरिहा।
लिंगं मुचित्तु दंसण णाण चरित्ताणि सेयंन्ति॥
न तु भवति मोक्ष मार्गों लिंगं यद् देह निर्ममा अर्हंतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञान चारित्राणि सेवन्ते॥[1]

लिंग व वेष (Appearances and Externalities) में मोक्ष का "मग्ग"–मार्ग नहीं है, अर्हंतपुरुषों ने देह से निर्मम होकर द्रव्य–लिंग को छोड करके–आत्मा के दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र मय अखण्ड गुण के सार (Essence) का ही कथन किया है और स्वयं सेवन किया है। पर्याय को–अभिव्यक्ति को गौण करके आत्मा के स्वयं सरब प्रकाश तथा ज्ञान रूप नित्य अपरिणामी केन्द्रस्थ तत्त्व का ही रमण किया है। द्रव्य-लिंग मोक्ष मार्ग नहीं है—भाव लिंग को ही आश्रय कहा है। द्रव्य-लिंग

---

1. (समयसार ४०९)

देह भाव के, आश्रयतत्व को बताता है। ऐसा यदि पर्याय को आश्रयत्व है तो यह सूक्ष्म रूप से पर-द्रव्य में एकत्व भाव को ही प्रकट करता है। यहां तो किसी स्थूलता का आश्रय ही संभव नहीं, सूक्ष्म अन्तर भाव को एक मात्र ग्राह्य किया गया है—एक मात्र सूक्ष्मतम सूक्ष्मता का ही अंगीकार हुआ है। केवल मात्र सद्-दर्शन, सद्-ज्ञान और सद्-चारित्र अपने सम्यक्, अखण्ड अन्तरतम स्वरूप में मोक्ष का मार्ग है, क्योंकि आत्मा का अखण्ड आश्रयत्व वहीं है—

दंसणणाण चरित्ताणि मोक्खम ग्गं जिणा विंति।

दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गं जिना विदन्ति ।।[1]

दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष मार्ग है—अर्हत्पुरुषों ने यह ही मोक्ष मार्ग कहा है। भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ की परम्परा की एक शती ईसा पूर्व आ० श्री कुंदकुंद ने भी आत्मा के समयसार की यही उद्घोषणा दोहराई है। उन्होंने इस प्रकार इस मोक्ष मार्ग में योग और ज्ञान के अपूर्वसमन्वय और संपूर्णता को ही स्पष्ट कर दिया है।

भाव तथा प्रज्ञा के बोधों का सशक्त संवाद

भगवान आदिनाथ ने जीवन—दर्शन भाव—बोध तथा प्रज्ञा बोध की समग्रता में एक सशक्त संवाद के रूप ये दिया था मगर वेद व उपनिषद काल में आते आते उसकी परम्परा के कई ऐतिहासिक कारणों से छिन्न होने से जीवन प्रगतिमान न रह सका। ऋषियों ने भाव-बोध की समग्रता को तो पाया मगर प्रज्ञा—बोध के समग्र स्वरूप को प्रमुख न कर सके। भावावेश में विश्व—दर्शन एक कविता के रूप में तो सामने आया और उसमें वे स्वयं—प्रकाश भास्कर तक भी पहुंचे मगर—

"देह, प्राण, मन इन्द्रियों के स्तर पर उतर कर वह भावातिरेक स्वयम्भू सविता के तेजस केन्द्र से विच्युत व विकृत हो गया। अभिव्यक्ति अपने मूल स्त्रोत आतम शक्ति से बिछुड गयी। भावावेश में सारा जोर अभिव्यक्ति पर ही आ गया। वृक्ष का मूल हाथ से निकल गया, केवल तूल पर ही निगाह अटक गयी। जड से कटकर झाड के कलेवर में हरियाली कब तक रह सकती थी। सो वह मुझाने लगा, उसका ह्रास होने लगा। ये ही वेद वेदाभ्यास हो गया। सविता के उद्गीथों का गायक ब्राह्मण पथच्युत और वेद भ्रष्ट हो गया। फलतः कर्मकाण्डी ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई।

श्री महावीर द्वारा संपूर्ण ज्ञान सत्ता का साक्षात्कार

"तब उपनिषदों के ऋषि प्रतिवादी शक्ति के रूप में उदित हुए। क्षत्रिय राजर्षियों ने प्रकट होकर अपने विजेता ज्ञान तेज और तपस् द्वारा सविता का नूतन साक्षात्कार किया। वेदों की महाभाव वाणी के केन्द्र में उन्होंने प्रज्ञान का स्वयं प्रकाश सूर्य उगाया, लेकिन उपनिषद की ब्रह्म विद्या भी दृष्टा

---

1. (समयसार)

भाव से आगे न जा सकी। कालान्तर में वह ज्ञान भी विकृत होकर स्वेच्छाचारियों के हाथों में निष्क्रियता, पलायन और स्वार्थ का औजार बना। अवसर पाकर दबे हुए कर्मकाण्डी ब्राह्मणत्व ने फिर सिर उठाया, ब्रह्म-विद्या पर, फिर छद्म वेद-विद्या हावी हो गई। उपनिषद के ब्रह्म ज्ञानियों से लगाकर श्रमण पार्श्व तक, भाव, दर्शन, ज्ञान को तपस् द्वारा जीवन के आचार व्यवहार में उतारने की जो एक महान प्रक्रिया घटित हुई थी, वह कुण्ठित हो गयी थी। तब महावीर का उदय एक अनिर्वार विप्लवी शक्ति के रूप में हुआ। दीर्घ और दारुण तपस्या द्वारा उन्होंने दर्शन और ज्ञान को जीवन में प्रतिपल के आचरण की एक शुद्ध क्रिया के रूप में परिणत कर दिखाया। इसी से दर्शन व इतिहास कारों ने उन्हें क्रियावादी कहा है—क्योंकि उन्होंने वस्तु और व्यक्ति मात्र के स्वतंत्र परिणमन का मंत्र-दर्शन जगत् को प्रदान किया था·········मनुष्य स्वयं ही अपना भाग्य विधाता है। कर्म करने, न करने, बंधने या न बंधने को स्वतंत्र है। वह स्वयं ही अपना कर्ता और विधाता है। वह स्वयं ही अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, जीवन-मृत्यु का निर्णायक और स्वामी है।

"इससे प्रकट है कि आज का मानव जिस आत्म स्वातंत्र्य की खोज कर रहा है, उसकी प्रस्थापना उपदिषद युग के ऋषि, श्रमण पार्श्व और महा श्रमण महावीर कर चुके थे। इस तरह मूलतः आधुनिक युग चेतना का सूत्रपात ईसा पूर्व की छठवीं सदी में ही हो चुका था। विचार और आचार की एकता ही इस चेतना का मूलाधार था। महावीर के ठीक अनुसरण में ही बुद्ध आये। उनके व्यक्तित्व में मैं महावीर का ही एक प्रस्तार (प्रोजेक्शन) देख पाता हूँ। वे दोनो उस वृक्ष की एक ही क्रियाशक्ति के दो परस्पर पूरक और अनिवार्य आयाम थे। महावीर को परात्पर पर-ब्राह्मी सत्ता के पूर्ण साक्षात्कार के बिना चैन न पडा। बुद्ध जगत् के तात्कालिक दुःख से इतने विचलित हुए कि दुःख मोचन के लिये संसार के समक्ष एक महाकारुणिक परित्राता के रूप में अवतरित हो गये। आत्म-तत्व और विश्व-तत्व तथा उनके बीच के मौलिक संबंध के साक्षात्कार तक जाना उन्हें अनिवार्य न लगा। पूर्ण आत्म-दर्शन नहीं, आत्म-विलोचन ही उनके निर्वाण का लक्ष्य हो गया। सो "अव्याकृत" और "प्रतीत्यसमुत्पाद" का कथन करके उन्होंने विश्व-प्रपंच से उत्पन्न होने वाले सारे प्रश्नों और समस्याओं को गौण कर दिया। मगर महावीर तत्व तक पहुंचे बिना न रह सके। सो वे तत्व के स्वभाव को ही अस्तित्व में उतार लाने को बेचैन हुए थे। ताकि जीवन की समस्याओं से जो समाधान इस तरह आये, वह केवल तात्कालिक निपट वाह्याचार का कायल न हो, वह स्वयंभू सत्य का सर्वभौमिक और सर्वकालिक प्रकाश हो। यह केवल भाविक और कारुणिक न हो, वह तात्त्विक, स्वाभाविक और स्वायत्त भी हो, स्वयं तत्व ही भाव बनकर जीवन के आचार में उतरे। उनका प्राप्तव्य चरम परम सत्ता स्वरूप था, इसी कारण उन्होंने इतिहास में अप्रतिम ऐसी दीर्घ और दुर्दान्त तपस्या की। वस्तु मात्र और प्राणी मात्र के साथ वे स्वगत व तद्गत हो गये। सर्वज्ञ अर्हंत महावीर में स्वयं विश्व तत्व मूर्तिमान होकर इस पृथ्वी पर चला।"

(श्री वीरेन्द्र कुमार जैन)

तपस् और चारित्र बल से ज्ञान–सविता का अभियान

जो मानव को उसके ही अन्तः ज्ञान सविता के केन्द्र-चरम परम तक ले जाए उससे उत्कृष्टतर

अन्य हो भीक्या सकता है ? इसी में मानव की गरिमा और स्वातंत्र्य का उद्घोष है । इस ज्ञान सविता कि अमृत वर्षा सब विकारों की भस्म को समन्ततः प्लावित करके समस्त बंधन से प्राणी मात्र को तथा विश्व को उन्मुक्त कर देती है । अक्षय आनन्द और ज्ञान की प्रतिष्ठा समस्त अस्तित्व में इसी से है । इसके ही चरम विकास के अभिमुख होकर ही सब समाधान प्राप्त हो सकते है । इसी में फिर से मानव अपनी आस्था को नये ज्ञान आलोक में देखेगा और पायेगा । वह ही पुराण पुरुष ज्ञान सविता ही बार बार नये नये रूपों, आयामों में अभिव्यक्त होगा । केवल परिवेष तथा भाषा अथवा स्वर ही तो बदलता है । और इन बदलती हुई अभिव्यक्तियों के मध्य उस एक शाश्वत् निरालम्ब स्वाधीन ज्ञान सविता को ही पाना होगा । यह तो प्राणी के हृदयस्थ अलौकिक ज्ञान भास्कर को ही प्रकाशित करने का आमन्त्रण है–वह चिर पुरातन पुरूष होते हुए भी स्वयं आप स्वयं साधक के लिये व विश्व के लिये अपूर्व ही होता है, नया ही व विस्मय कारक, आश्चर्यमय, अद्भुतादद्भुत व युगान्तर कारी होता है । वह एक दम नित्य, परन्तु फिर भी सद्यः स्नात नवीन नवीन है । साधक के स्वयं के आत्म अभियान, तपस् से प्राप्त चारित्र बल से प्राप्त उस तत्व का उन्मेष, साक्षात्कार, आस्वादन, स्व संवेदन तथा अवस्थिति विलक्षण और अभूत पूर्व आनन्द निर्भर ही होती है ।

मोह रहित ज्ञानानन्द आत्म तत्त्व को ही इस अर्हंत् परम्परा ने गाया है, (चारित्र रूप में) पाया है । और पाया है, इसीलिये गाया भी है । इन अग्रज तीर्थंकरों ने मार्ग को इतना प्रशस्त, सरल और साथ ही सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्ररूपित किया है कि उनकी उच्च मनीषापूर्ण वर्यस्विता र्च पर विश्व अब भी विस्मय व आश्चर्य ही करता है, और मस्तक सादर श्रद्धा से अवनत ही होता है ।

चारित्रं खलु धर्मः

"चारित्तं खलु धम्मो" इस प्रकार संयममय,—तपोमय, योगमय चारित्र को सर्वोपरि आचरणीय तत्त्व घोषित करके समस्त मानवीय व अतिमानवीय मूल्यों के ही ज्वलंत प्रकाश को प्रज्वलित करने का उनका आग्रह है । अतः इस सहज आत्म धर्म के निर्वाह के लिए इसकी उच्च आध्यात्मिक जीवन उत्क्रांति के लिए ही योग विज्ञान के आचरण में उतर जाना चाहिये । तब जीवन में द्वैत, हिंसा, संघर्ष की समाप्ति होकर चेतना स्वयं अद्वैत एकरूप व समग्र की उपलब्धि को प्राप्त हो जायेगी । इसी में हेयोपादेय से परे—वस्तुगत परिधि से ही परे,—ग्रहण व त्याग से अतीत–सहज स्व केन्द्रस्थ आत्म संविता की ही उपलब्धि हो सकेगी तथा रह सकेगी । योग क्रियायें सूक्ष्म क्रियाओं की तरफ अग्रसर होती हुई समग्र चिति—चेतना सविता के ही स्थिर अनुभव एवं निश्चल अवस्थिति पर पहुंचा देती हैं, जीवन को प्रशस्त स्थली पर दृढ़ करती हुई, शुद्ध के ही शिखर पर पहुंचा देती है । ये क्रियायें तपस् रूप हैं, ये योगाभ्यास रूप है । अन्तर्दर्शन के अभ्यास रूप है । अन्तर्दर्शन में प्राण की प्रकाशमय किरणों का परिचय तथा नियन्त्रण रूप परमावधिज्ञान के अनन्तर ही चेतना को वह अलौकिक सामर्थ्य खुलती है कि वह केवल ज्ञान रूप स्वभाव में निश्चल् रह सके । प्राण तत्त्व ही अन्तर सूर्य है, उसके गर्भ में ही केवल ज्ञान भास्कर विद्यमान है जो अनन्त सत्ता रूप है ।

स्व अनन्त सत्ता में अन्तरंग उपयोग की प्रेरणा

इन तीर्थंकर प्रभुओं की स्पष्ट घोषणा है स्व अनन्त परम सत्ता, परम निर्मल आत्मा में ज्ञान रूप एकाग्रीभूत तथा एकीभूत होना ही एक मात्र विश्व भर के मानवों का सहज स्वाभाविक धर्म हैं, स्वरूप है, स्वभाव है। इन महाकारुण्य वासित परम अहिंसक कैवल्य भगवानों ने ज्ञान-सूर्य के प्रकाश से अज्ञान अंधकार, संकीर्णता मतान्धता, कट्टरवादिता, एकान्त वादिता का परिहार किया हैं और प्रेरणा की है कि मानव अपने केन्द्रस्थ आत्म-सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करें—बहिरंग उपयोग को अन्तर्दृष्टि की यात्रा द्वारा अन्तरंग उपयोग में जोडें और निराकुल निर्विकार आत्म सुख व आत्म समृद्धि का उपभोग करें।

असीम संवेदनात्मक उर्ध्वमुखी प्रज्ञा-दृष्टि

यह आत्मा, अनन्त दर्शन (श्रद्धा, प्रेम) अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है। तीर्थंकर अर्हतपुरुषों ने इन चतुर्गुणों से ही आत्म द्रव्य को परिज्ञात किया और इनकी चतुः सीमा रेखा में ही रेखांकित "एक" निर्मल असीम आत्मा को परिलक्षित किया, जाना और कहा है। उन्होंने आत्मा का यानी जीव मात्र का ही अति प्रोज्जवल परम दिव्य स्वरूप ही विश्व के सामने रखा है। उन्होंने कहा है मानव स्वयं अपनी नियति है। वह एक स्वतंत्र ईकाई है, प्रत्येक जीव ही अपने अस्तित्व में विराट् व दिव्य है, स्वतंत्र स्वाधीन है। यह निरीह प्राणी नहीं है न किसी अन्य की इच्छा का स्पंदन या ज्ञप्ति मात्र है। इन कैवल्य प्रभुओं की प्रज्ञात्मक दृष्टि असीम उर्ध्वमुखी व अबाध रही हैं। उन्होंने आत्मा के स्वाधीन वर्चस्विता के आलोक को देखा है, उन्होंने जीवन-दृष्टि की सागर सी गहनता को लेकर मानवीय अद्वेष ही नहीं महाकरुण्यमय अहिंसा तथा प्रेम के परिमल को विश्व के धरातल पर प्रसारित करके उसे सुगन्ध मय बनाने का प्रयास किया है, और सर्व अनन्त को हीं आलिंगत करने वाली मानवीय चिंतना एवं विवेक विचार के सूत्र-अनेकांत के अरूणोदय को भी उदित किया। अर्न्तदर्शन के गहरे धरातल पर असीम संवेदनात्मक उर्ध्वमुखी प्रज्ञा-दृष्टि का अनावरण होता है।

सर्व धर्म मय अनेकांत

उनका परमावधि तथा केवल ज्ञान की दृष्टि का अनुपम ज्ञान ही अनुपम भेंट है इस विश्व भर के प्राणियों को व मानवों को। इसमें अनन्त सत्ता, अनन्त करुणा-प्रेम, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति का मूल स्त्रोत विद्यमान है और इन्हें वह उद्घाटित कर देता है। इन तत्वों के समन्वय तथा उद्घाटन में ही पूर्णता का विकास है जिसकी सर्वात्मक संपूर्तिमय प्रमाण ज्ञान को ही अनेकांत धर्म कहा गया है। इस सर्वधर्ममय अनेकांत में षट्-दर्शन ही क्या, सर्व-दर्शनों का ही यथा स्थान समावेश है, आदर है। "षट्-दर्शनजिन मत माँहि मणीजे" ऐसा इन सर्वदृष्टा ऋषियों का उद्घोष है। अपने अपने विषय के कथन करने में समीचीन किसीं भी नय या दृष्टि का यहां अनादर नहीं है। सब को उपयुक्त स्थान प्रदान करते हुये, संपूर्ण सत्य की सन्मूर्ति अनेकांत ज्ञान के यहां दर्शन किये

जाते हैं। यहा संपूर्ण ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी मत या नय का पक्षपात नहीं है। न द्वैत का पक्षपात है, न अद्वैत का, न इनका विरोध ही है, न आग्रह है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के साक्षात् दर्शन में अनेक दृष्टियाँ ही हो सकती है अतः सब ही दृष्टियाँ उन उन धर्मों की अपेक्षा, अपने धरातल पर सत्य दर्शन के ही प्रयास है तथा समग्र दृष्टि प्रयास में–अनेकांत का धरातल ही ऐसा है जहां अन्य सब दृष्टि–भेदों को भी साथ रखकर (क्योंकि अनेकांत रूप समय के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है, और यह नय झूंटा है, इस प्रकार का विभाग नहीं करते–जय धवला पु० 1–पृ० 8/117) संपूर्ण अनन्त ज्ञान के लिये सापेक्ष एवं यथावस्थ दृष्टि रहती है।

केवलं स्वयं प्रमाण अवलोकन (मात्र देखने) में समीचीन आत्म दर्शन

सापेक्ष यथावस्थ अवलोकन में ही सत्य के अवलोकन का मर्म है। केबल व स्वयं प्रमाण "अवलोकन" में ही केवल दर्शन केवल ज्ञान को साथ ही लेकर उदित होता है, वह ही निर्विकल्प स्वरूप का आस्वादनहै। इस यथातथ्य वा यथावस्थ दृष्टि के ही कारण यह "समीचीन" धर्म नाम पाता है। यथावस्थ-अवस्था का अर्थ तात्कालिक अशुद्ध अवस्था नहीं हैं, बल्कि वह अवस्था है जो यथार्थ है, बास्तविक है, सदा से एक सी व अक्षय है तथा राग-द्वेष रहित निर्मल है।

शुद्ध शील का सूत्र

योग धर्म का अन्तर्हृदय स्व श्रद्धा है, दर्शन है। उसका सौंदर्य जब स्व आस्था में प्रकट होता है तो अनेकांत मय सर्वात्म—दृष्टि को उद्घाटित करता ज्ञान के सौंदर्य का दर्शन कराता है। उस सतेज अन्तःस्थ ज्ञान सौंदर्य में से ही चारित्र के लिये, तपस् के लिए एक सूत्र प्रवाह निकलता है, जिसे शुद्ध "शील" कहा गया है। वह शील सद् असद् से भी शुद्ध मात्र का आग्रह करता व स्थिर होता, समता व प्रशमता में परिणत होता है, जो उन्मनी व अपरिणामी की तल्लीन अवस्था को परिपक्व करता, पचाता सहज व साम्य पर आकर स्थिर होता है। तब अन्तर्वाह्य का भी भेद समाप्त होकर, विश्व व विश्वोत्तीर्ण का भी भेद समाप्त होकर एक सहज "सत्यं-शिवं सुन्दरं"—अमृत ज्ञान-भास्कर पुरुष अर्थात् समाधि की अनन्त प्रशान्ति एवं वीतरागता का तथा कर्म निष्क्रियता का तथा करुणाभिन्न ज्ञान की अनन्त प्रवृतिमय सक्रियता का मधुर स्निग्ध गहन मूर्तिमंत समन्वित स्वरूप पूर्ण पुरुष का उद्भासन हो जाता है।

आदर्श लोक पुरुष का विकास

जब दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनों ही एक सम्यक् व समस्वरूप में मानव में परिपूर्ण प्रखर रूप से भासित हो जाते हैं, तो वह व्यक्ति ही लोक–पुरुष हो जाता है, आदर्श हो जाता है, चारित्र का प्रतीक हो जाता है, सर्व धर्म का साक्षात्–मूर्तिमान् हो जाता है। वह लोक–गत सीमाओं से परे, जड़ व निष्क्रिय मान्यताओं से परे, देश व काल की परिच्छिन्नता से परे, ऐतिहासिकता से ऊपर उठ जाता है और वह ही युग-युगान्तर तक नये प्रतीक तथा आध्यात्मिक सजीव बिम्बों को रूपायित करता है, सजीव व शाश्वत् सर्वकालिक व सार्वभौमिक जीवन–मूल्यों की व्यंजना करता है।

शाश्वत् जीवन मूल्यों का निर्माण

स्व आत्मा में निज ज्ञान सविता की ही पहचान, अपने ही उस अप्रतिम स्वतत्व की पहचान और उस ज्ञायक स्व स्वभाव में ही अडोल स्थिरता पूर्वक, दृष्टा भाव से भी अतीत मोह व राग से अतीत, मात्र ज्ञान रूप, असंग निर्विकार व निर्लिप्त रहकर लोक संग्राही निरिच्छुक वीतरागता मय परम अहिंसा के महा कारुण्य—सौरभ को विकीर्ण करते हुए विश्व के सर्व प्राणियो से निर्पेक्ष निस्पृह सम भाव से ही जुट जा सकना होता है। निश्चय ही यह उच्चतम जीवन मूल्यों का ही निवेदन होता है। इस योग विज्ञान ने निश्चय की इस प्रकार जीवन में क्रान्त जीवन-दृष्टि देकर जीवन के शाश्वत् मूल्यों को ही वाणी दी है। वह दृष्टि विश्व–धर्म की ही तदाकारता से ही फलित हुई होती है। जीवन तथा वस्तु स्थितियों का न केवल सैद्धान्तिक निरूपण ही किया गया है, अपितु उनका व्यावहारिक चारित्रिक निरूपण तथा निर्माण हुआ है। उन्होने संपूर्ण निर्वेद की स्थिति में शाश्वत् मानव-मूल्यों को, मानव प्रतिष्ठा, मानव स्वातन्त्र्य तथा मानव संयम को सशक्त व्यक्तिमयता तथा वर्चस्विता भी प्रदान की। जड़ और चेतन, ज्ञेय और ज्ञायक दोनों अनन्त तत्त्वों को निर्लेप समदृष्टि से, अनादि निधन तथा स्वतंत्र ही देखा है तथा इनकी अभिव्यक्तियों व पर्यायों को समान सम दृष्टि में उल्लसित भावोल्लास विलास पाकर तथा उन सहित भावातीत होकर केन्द्रस्थ नित्य शाश्वत् ज्ञान सूर्य को उदित किया और वहीं सम रूप से निश्चल विराजमान भी हुए, जड़ीय प्रगति को गौण करके आत्मिक आलोक के आरोहण मार्ग को ही प्रशस्त किया, जड़ीय अनात्म तत्त्व की सत्ता की स्वीकृति करते हुए, उनके द्वारा भावोल्लासों को देखकर भी मानवीय चिन्मय स्वत्व की न केवल रक्षा की, उसे ही उदात्त वनाकर ऐसी सर्वोच्चता प्रदान की, जिसके विराट् औदात्य में सब में सर्वत्र सम-आत्मिकता का संवेदन प्रकट होता है और जीवन के इस संवेदनात्मक स्तर "स्व" का ऐसा प्रचुर और गहन साक्षात्कार प्रस्तुत होता है जो एक अलौकिक, शाश्वत् मूल्य ही नहीं, साक्षात् परमार्थ के स्वरूप को प्रकट करने वाला होता है।

अमृत मय केवल किरणों की वर्षा

स्व की संवेद निर्वेद वीतराग स्थिति में स्व अहैतुकी कृपा का निर्झर सदा निरन्तर प्रस्त्रवित रहता है जो युग-युगान्तर तक इस समस्त विश्व में आलोक मय सुधा के रूप में बरसता ही रहताहै। वह "केवल" प्रकाश व ज्ञान किरणों की वर्षा है, इसे ही वीतरागी साधक जन अपने हृदय के कनक–कमल पर अमृत वर्षा व निर्झर के रूप में अनुभूत करके कृतार्थ होते हैं। वह ही वीतरागी चिन्मय घन–आत्म–रस है, जिसे पान कर योगी जन सिद्ध व अमर और मस्त हो जाते हैं और तब ही उनके अनादि आकुलता के और अभाव के भाव सब अशेष हो जाते हैं। ज्ञान सविता की ज्ञान–किरणों का निर्झर ही जिसे प्राप्त हो जाएं— उसके लिये फिर क्या प्राप्तव्य शेष रहे ? यह निर्मल परम आत्मा सूर्य सामान्य (निराधार निष्क्रिय शिव भाव) तथा विशेष (सक्रिय अभिव्यक्ति मय शक्ति भाव) का अखंड अद्वय व पूर्ण चिन्मय सत्ता के रूप सम रस में नित्य विद्यमान ही रहता है।

मानसिक दासता से मुक्ति

इस योग शासन का नित्य ज्ञान व मनन मानव को मानसिक बंधी बंधाई लकीर और वृत्त से मुक्त कर नवीन चिंतन, नवीन कल्पना और अमृत जीवन की नवीन आकांक्षाएं देता है। अर्थात् इस योग शासन का अभ्यास इसी दिशा में होना चाहिये।

तीन डाइमैन्शन से चौथा डाइमैन्शन

मानव जीवन का त्रिवर्ग इच्छा ज्ञान और कर्म का एक संपूर्ण समन्वय सम्यक् दर्शन, सम्यक्–ज्ञान और सम्यक् दर्शन में प्रस्तुत करने में यह एक संपूर्ण मानव पुरुष के निर्माण का आह्वान है, ललक, ललकार और चेलैंज है। यह मानव के विकास के मूल प्रयोजन, विश्व व्यापी ही प्रयोजन को पूरा करता है। आज के संदर्भ में गांधी मार्क्स और फ्रायड क्रमशः धर्म, अर्थ और काम रूप तीन अभिव्यंजना करते हैं। मगर तीनों का अलगाव तो मानव के बिखराव ज्ञ (टूट) का हेतु है। यही तीनों आपस में समन्वित होकर ही एक चौथे आयाम 'डायमैन्शन' के हेतु हैं, जिसमें मानव की दुःख और त्रास से मुक्ति है। जीवन का एक एक डायमैंशन उसका पूर्णत्व नहीं है। दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप एक एक डायमैन्शन भी मानव का पूर्णत्व नहीं है, मगर उनका अखण्ड समन्वय तथा एकीकरण ही चौथे डायमैन्शन "मुक्ति" का मार्ग है। फिर वह चाहे आध्यात्मिक से भी इतर एक एक सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक अथवा आर्थिक कोई भी दृष्टि कोण हो, ये सब दृष्टिकोण एक एक नय हैं, मगर प्रमाण नहीं है। संपूर्ण अनेकांत दृष्टि में ही पूर्णत्व का दर्शन होता है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति इस दृष्टि के बिना भटक रही है।

आज तो हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) और महावीर की विरासत के धनी भी अपनी विरासत की संपूर्णता को प्रमाणित न करके छोटे-छोटे स्वार्थ के दायरों में भटक रहे हैं, यह कैसी दुःख जनक विडंबना है।

भोग नहीं, अनुशासन

एक संपूर्ण जीवन का विशाल कार्य-क्षेत्र इच्छा व भोग नहीं, योग के आत्म अनुशासन की मांग करता है। प्रत्येक व्यक्ति और मानव समूह की एक मात्र उत्कट अभिलाषा रहती है कि वह निराकुल सुखी हो। भगवान आदि जिनेश का यह योग शासन इसी मूल अभिलाषा के हेतु हर पीढ़ी के विचार और आचार पर प्रभाव डालने के लिये यथेष्ट और संपूर्ण है।

प्राचीन ज्योतिर्मय चैप्टर

संपूर्ण मानवीय गुण जो मानवीय सभ्यता और संस्कृति के लिये मूलभूत रहे हैं और है और रहेंगे, उनका यह न केवल आदि उद्घोषक है, यही उनके विकास के लिये मूलतः उत्प्रेरक

सिद्धांत, दर्शन और जीवन पद्धतियां भी प्रस्तुत करता है। काश ! मानव जाति अपनी सभ्यता और अध्यात्म के पुरस्कर्ता के वचनों, आदर्शों और पद्धतियों तथा जीवन दर्शन के प्रति जागे ! इस जागने में ही एक नया मोड़ होगा भटकती मानव संस्कृति, सभ्यता और अध्यात्म के लिए। प्रज्ञावतार भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ के जीवन, चारित्र और प्रवचनों के उस प्राचीन ज्योतिर्मय चैप्टर (अध्याय) को जिसे हमने इतिहास में भुला दिया है, हम पुनः मनन करें, अनुष्ठित करें और प्रतिष्ठित करें।

अक्षुण्ण मूल तत्व की धारा आज भी है

भगवान् हिरण्यगर्भ—ऋषभदेव का योग शासन रूप "मग्ग" की धारा अनन्तर के तेईस तीर्थंकरों के शासन में प्रवाहित होती हुई आज भी जैन धर्म के रूप में वर्तमान है। काल प्रवाह तथा शासन भेदों से निरूपण पद्धति में भले ही परिवर्तन हुये हों—परन्तु इसके मूल तत्व वैसे ही अक्षुण्ण विद्यमान है।

अन्त स्तत्व एक, मात्र निरूपण के भेद

विभिन्न दर्शनों तथा धर्मों के वस्तु-निरूपण में ही भिन्नता है परन्तु उस आदिकालीन योग मग्ग से अनुप्राणित इनके अन्त स्तल का प्रवाह,-साधना प्रवाह, भी अपनी अद्भूत एक रूपता से उस मूल स्रोत को ही दृष्टिगोचर कराता है तथा अब भी यह योग मार्ग विभिन्न दर्शनों व धर्मों के सामंजस्य में एक मात्र मूल हेतु है।

भाव भेद से नानात्व, पर मोक्ष लक्ष्य में सब दर्शनों व धर्मों में एकता

"स्फटिको बहुरूपः स्याद्यथैवोपाधि भेदतः।
स तथा दर्शनैः षट्भि र्ख्यात एको ऽप्यनेकधा ॥[1]

यथा ऽप्यनेक रूपं स्याज्जलं भूवर्णं भेदतः।
तथा भाव वि भेदेन नाना रूपः स गीयते ॥[2]

उपाधि भेदों से एक ही स्फटिक यथा बहुरूप प्रतीत होता है, ऐसे यह एक योग मार्ग एक होते हुए भी षट्दर्शन भेदों से नाना विधि रूप प्रतीत हो रहा है। पृथ्वी के आधार भेद से जैसे एक निर्मल जल भी नाना वर्ण हो जाता है ऐसे ही भाव भेद से यह एक निर्मल योग तत्व मार्ग भी नाना रूप कहा जाने लगा है।

धर्म मार्गा धनाः सन्ति दर्शनानां विभेदतः।
मोक्षार्थं समतां यान्ति, समुद्रे सरितो यथा ॥[3]

---

1. (योग प्रदीप—३५)
2. योग प्रदीप—३६)
3. (योग प्रदीप—८५)

नाना दर्शनों के भेद से अब नाना ही धर्म मार्ग लक्षित हो रहे हैं मगर जैसे समुद्र में सब नदियां मिलकर सर्व समान रूप हो जाती हैं, ऐसे ही मोक्ष लक्ष्य में ये सब एक समान रूप हो जाते हैं।

अतीत का इतिहास भविष्य की प्रेरणा

आज का मानव यह जानने में इतनी रुचि शायद न ले कि उसके पूर्वजों के कैसे ज्ञान गरिमा मय वृत रहे और संभवतया उसकी रुचि इतने मात्र ही जानने में हो कि उसकी संतति आगे भविष्य में कैसी होगी। परन्तु इतिहास का मूल्य, संस्कृतियों के मूल स्रोत की खोज तथा उसका वृत्त मानव के विकास का क्रम तथा पूर्व–पुरुषों की वर्तमान पीढ़ियों को विशिष्ट देन आदि की जानकारी भविष्य के निर्माण के लिये उत्प्रेरक तथा दिशा बोधक होती है तथा कोई भी जाति एवं राष्ट्र अपने अतीत के कटकर व बेखबर होकर अपनी गरिमा मय सहजता से टूटते हैं, तो वर्तमान में व भविष्य के लिये न आस्था, न प्रेरणा, न दिशा ही रहती है। जीवन रस वहां पर सूखता ही चला जाता है। मानव–जातियों के उत्थान तथा पतन की कहानियों में एक यह भी तथ्य पूर्ण हेतु रहा है, और रहेगा। मानव जातियां अपने ज्योतिर्मय वृत्त वाले पूर्वजों के कंधों पर आरूढ़ होकर ही भविष्य के लिये सदूर प्रोज्ज्वल समृद्धि के सपनों को संजों तथा पूरा कर सकती हैं और स्व पुरुषार्थ की सक्रियता के तथा तेजस्विता के लिये सम्बल भी पा सकती है। यह ही बात व्यक्ति के भी उत्थान व पतन से सम्बन्ध रखती है।

उज्जवल अतीत की मूल आस्थाओं के गहन चिन्तन की अपेक्षा

जो अपने उज्जवल इतिहास को नही जानते उनकी भविष्य में असफलता निश्चित है। वे अवश्य कर भविष्य को भी हार जावेगें। भारतवर्ष के वासियों के लिये यह नितांत आवश्यक है कि वे अपने यहां के मूल पुरुषार्थ मय, ज्ञानमय धर्म, संस्कृति तथा इतिहास से जुड़ें, इसकी सम्यक् आस्थाओ का, आदर्शों का अन्वेषण करें। निरुपयोगी और गलत परम्पराओं तथा व्यवहारों को, मूढ़ताओं को तो अस्वीकार करना ही होगा। गर्हित व्यवहार जो यहां व्यवस्था में घुन की तरह तह तक पहुंच चुके हैं उन्हें त्याग करके प्रासंगिक नित्य मानवीय मूल्यों तथा आदर्शों से ही जीवन की सुदृढ़ नींव सुस्थिर रखनी होगी। जीवन समुद्र में बिना पतवार नाव नहीं चल सकती, न बिना सुदृढ़ नींव ही जीवन की इमारत भव्य ही बन सकती है। निर्मल तथा श्रमी जीवन के लिए जीवन पर गहन चिन्तन की आवश्यकता है, उस चिन्तन की जिसकी दिशा वीतरागी सर्वज्ञ अर्हत् तीर्थंकर प्रभुओं ने दी है। उस अनुशासन की आवश्यकता है जो आत्मानुशासन है, स्वैच्छिक अनुशासन है।

जो धर्म शाश्वत् जीवन मूल्यों को लेकर चलता है, और अक्षय अमर जीवन के हेतु स्व पर्याय को भी गौण कर देता है, वह संकीर्ण और अनुदार व कुत्सित व्यवहारों को कैसे स्वीकार कर सकता है ? धर्म ने हमें कभी धोखा नहीं दिया, उसकी ज्योति चिरन्तन प्रकाश मय है। और प्रकाश

के ही मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये आह्वान करता रहा है। वास्तव में कठोर सत्य तो यह है कि हमने ही धर्म को धोखा दिया है, धर्म ने हमें नहीं। हमने ही उसके चिरन्तन स्वरूप को सुनकर भी न समझा है, न उसके अनुरूप अपने को ढ़ाला है। हम अतः मृत व्यवहारों के जंजाल में फंसे मृत प्रायः हो रहे हैं। नई पीढ़ी की दिशा हीनता एव उखड़ेपन को जीवन की अक्षय संकल्प शीलता से तथा उज्जवल उदार प्राचीन संस्कार शीलता से भर देना होगा ताकि अपना सही मार्ग खोज सकें, बना सकें। हमें पश्चिम की अवधारणाओं, कल्पनाओं तथा जीवन आदर्शों तथा अर्थों एवं रूपों को बिना विवेक अंधेपन से ग्रहण करके या ओढ़ कर उद्वेग पूर्ण निराशा से जीवन को नहीं भर लेना चाहिए। पश्चिम का विज्ञान ग्राह्य है पर उसके जीवन मूल्य या अवधारणायें तो स्वयं पश्चिम में भी पुराने पड़ चुके हैं। गहन चिन्तन तथा श्रम मय जीवन की उन प्राचीन मूल आस्थाओं की ही आज तो हमें मांग है और यह मांग सदा ही रखनी होगी। तब ही हम अपने यथार्थ व्यक्तित्व को अभिव्यक्त कर सकेंगे। इसी में हमें आत्म संतोष तथा आत्म–अभिव्यक्ति की वृद्धि मिलेगी, सर्वतो मुख विकास भी होगा और दिशाहीनता की समाप्ति भी। अपने सहज आप को खोकर व्यक्ति मर जाता हैं, अपने सहज आप को पाकर व्यक्ति महान् हो जाता है। इसी से समता उदारता औदात्य, सामंजस्य और मानवता की प्रतिष्ठा भी होती है। उदार मानवता वाद ही आत्मवाद का व्यवहारिक स्वरूप है। इस व्यवहारिक स्वरूप से ही ऊपर चढ़कर मानव प्रभु हो जाता है। अर्हंतपुरुष व बुद्ध हो जाता है, जो परम निर्मल ज्ञानात्मा कैवल्य पुरुष होता है और उस में अगाध करुणा तथा अहिंसा का वास होता है। श्रमण संस्कृति की मूल आस्थाओं, स्वरूपों, अवधारणाओं तथा सम्यक् चारित्र की प्रतिष्ठा में भारत का उज्जवल भविष्य निहित रहा है और आगे भी निहित रहेगा।

उन्मुक्त दृष्टि, वस्तु स्वरूप का ज्ञान और सर्वज्ञता

इस विश्व में सब कुछ खेल या रहस्य दृष्टि का ही है। ज्ञान-अंध पुरुष की दृष्टि ही उन्मुक्त नहीं होती। दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को ही नेत्र होने की सार्थकता है। जो व्यक्ति सब ओर बाहर भीतर, ऊपर नीचे सब ओर चतुर्मुख होकर देख सकता है, वही सर्वदृष्टा होता हैं। तीर्थंकर पुरुष ऐसी ही अनेकांत सर्वान्तर दृष्टि का धनी होता है। यह दृष्टि खुलती है जागरुक एकाग्र चिन्तन, ध्यान व उपासना से। इसी सर्वदर्शन मय अनेकांत-दृष्टि में सर्व वादों तथा विवादों का अन्त करती सर्वज्ञता प्रस्फुटित होती है। सर्वज्ञता का अर्थ है जिसे जान लेने के बाद, जिस ज्ञान की प्राप्ति के बाद अन्य सब जानना प्रतिफलित हो जाता है, जिसमें अन्य सब ज्ञान निः शेष हो जाते हैं। यथावस्थ वस्तु स्वरूप को जान लेनें के बाद तीर्थंकर व बुद्ध-पुरुष को अन्य कुछ भी जानना आवश्यक नहीं रहता। चेतन व अचेतन, ऐसे वस्तु मात्र के स्वरूप का ज्ञान, सर्वज्ञान को अपने में समाविष्ट कर लेता है और फिर अन्य जानना क्या आवश्यक होता है? इसी वस्तु-स्वरूप में निज व पर के ज्ञान रूप सद् दृष्टि की विश्व को सत्-चारित्र के हेतु भारी अपेक्षा है और श्रमण संस्कृति की संदृष्टि इसी दिशा का निदर्शन करती है। वस्तु-स्वरूप के ज्ञान में सब ज्ञान घटित होता है, स्व व पर सब का ज्ञान घटित होता है और तीर्थंकर व बुद्ध जनों ने इसीं में आत्म-साक्षात्कार भी किया और संपूर्ण सत्य को अनावृत

हुआ देखा और वे अतः इस मुक्ति मार्ग के दृष्टा अतः सृष्टा भी हुए हैं जिसमें शाश्वत् जीवन के त्रैकालिक व मूलभूत तत्वों का ही दर्शन है। विश्व सत्ता के सारे तत्व प्राण तत्व में प्रकाश किरणों के रूप में विद्यमान हैं। प्राण के उस अन्तस्वरूप को जो अनावरण करके विश्वोत्तीर्ण आत्मा के स्वरूप को यथातथ्य रूप से जानकर उसमें नित्य केवल ज्ञान को प्राप्त करना इस सारे अध्यात्म-मार्ग का सार है।

सर्वोदय धर्मतीर्थ

दया दम त्याग समाधि निष्ठं, नय प्रमाण प्रकृताऽऽञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।।[1]

हे जिन ! आपका धर्म अद्वितीय है, क्योंकि यह दया, संयम त्याग और समाधि निष्ठ है नय, प्रमाण द्वारा "वस्तु" का प्रकाशक है और समस्त प्रवादियों द्वारा अजेय है।

विचारेऽनेकान्त श्चारित परिपाटी स्वबधिकः।
परिग्रह-ग्राहयान्मथन पटिमाऽऽचार सरणौ ।।
समर्थः स्याद्वादो वचसि ननु सापेक्ष सजुषां।
समीचीनः पन्था जयति जिन सर्वोदय कृताम् ।।

सर्वोदय धर्म के आविष्कर्ता तीर्थंकर जिनेन्द्र ने (1) विचारों में अनेकांत (२) आचार में अहिंसा, तथा (६) परिग्रह रूप ग्राह को उन्मथन करने वाले समाज की रचना करने में चतुर (४) अपेक्षा-दृष्टि से वचन (वाणी) में स्याद्वाद रूप समीचीन तीर्थ की रचना की है, उसकी जय हो। ऐसे इस सर्वोदय धर्म में वस्तुतः उन अलौकिक सचाईयों को प्रकट किया है, जो जीवन की सार्वकालिक आदर्श हैं।

आ० श्री समन्तभद्र ने इसी सर्वोदय तीर्थ को इस प्रकार कहा है —

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथो ऽनपेक्षम्।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव ।।[2]

तीर्थ का लक्षण है, —"तरितं संसार महार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमुच्यते"— जिसके निमित्त से संसार महासागर को तिरा जाए। धर्म तीर्थ का प्रवर्तन आप्त स्वरूप भगवान तीर्थंकर करते हैं। धर्म तो अनादि तत्व है। आत्मा अनादि अव्यय अजन्मा तत्व है। उसका धर्म, स्वभाव, स्वरूप भी अक्षय अनादि व ~~अलंध~~ है। आत्मा का धर्म निज स्वभाव से भिन्न हो ही नहीं सकता। अतः धर्म का निर्माण नहीं होता, उसका प्रवचन ही होता है। तीर्थंकर प्रभु उसे प्रवचन ही करते हैं। वह वाणी और वाणी

---

1. (युक्त्यनुशासन ६)

2. (युक्यनुशासन ६१)

के ही प्रकृष्ट स्वरूप प्रवचन द्वारा घोषित व कथित किया जाता हैं। कोई भी जीवात्मा उनके द्वारा कथित तीर्थ (मुक्ति-मार्ग) का अवलम्बंन लेकर परमात्मा बन सकता है। ऐसा सर्वजीव सम भाव इस तीर्थ में प्रतिपादित है। समता सर्वोदय का प्राण है और यही इस तीर्थ का मूल आधार भी है।

5424

इस तीर्थ का अनादि प्रवाह

आंचाराणां विघातेन कुदृष्टिनां च सम्पदा ।
धर्मंग्लानिं परिप्राप्तमुच्छ्यन्ते जिनोत्तमाः ।।[1]

जब जब आचार का, चारित्र का विघात होता है, कुदृष्टि लोग सम्पन्न होते है, धर्म की (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जीवात्माओं के स्वभाव की) ग्लानि (हानि) होती है, तब तब जिनोत्तम श्री तीर्थंकर-उत्पन्न होते हैं। यह ही समातन काल नियम हैं, प्रवाह है। अतः यह कोटिशः अर्हन्त एवं सिद्ध-आत्माओं का सतत प्रवाहित मार्ग है। इस मार्ग ने सर्व विश्व को निष्ठा, ज्ञान, और चारित्र की सम्यक्तो, परिष्करण रूप सार्वभौम व सार्व कालिक तीन रत्न दिये हैं। ये क्या कम इसकी अलौकिक एवं मौलिक देने हैं सारे विश्व को ?

इस सर्वोदय तीर्थ का,—परा योग विद्या रूप अध्यात्म-विज्ञान के ही देवाधिदेव भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ से लेकर श्री सन्मति वर्धमान महावीर प्रभु के चौबीस शासनों में बार बार द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार प्रवचन होते रहें हैं। ये विज्ञान ही आत्मा का मार्ग है। यह यथार्थ वादी मार्ग है. योग और ज्ञान का मार्ग है। यह सद् धर्म रूप से प्रवाहित सनातन हैं। सारे विश्व के प्राणी मात्र चेतन आत्मा, शुद्ध सिद्ध सम आत्मा है। उन सबको यह पक्षपात रहित निर्विकार "स्व" विशुद्धि का ही मार्ग दिखाता है। इसमें धर्म एवं चारित्र, धर्म और तपस्या, धर्म और ज्ञान, धर्म और स्व आस्था की यानी सचाई और अच्छाई की गति सब एक ही दिशा को सूचित करते हैं। वह दिशा है स्व निर्मल सिद्ध सम नित्य परिणामी-अपरिणामी केवल व केन्द्रस्थ अर्चि स्वरूप अनन्त आत्म तत्व की। इसके प्रवचन में समग्र सम-दर्शन व सर्व का अभ्युदय, उत्कर्ष तथा विकास है। यह धर्म सर्वोदय स्वरूप हैं, सामाजिक रूप से समान रूप से ही इसमें सब प्राणियों के समग्र हित तथा समान उदय की भावना है तथा यथार्थ निर्मल स्वरूप केन्द्रस्थ सविता के अरुणोदय की वार्ता है, संदेश एवं शुभ समाचार है। अहिंसा तथा समता इसी सर्वोदय तीर्थ के अग्र संदेश वाहक तत्त्व हैं। "दुनिया के तीर्थों से ऊंचा है अपना तीर्थ, दामाने आसमां से इसका कलश मिला है" यही इसकी शुद्ध विराट्ता का चित्रण है। आत्मा का आत्मा ही अपना पवित्र तीर्थ है उसमें परे व अन्य कुछ ऊँचा नहीं है।

प्रकृत विश्व धर्म स्वरूप

प्राणी-मात्र के लिये, जाति, कुल, देश, वर्ण, लिंग आदि से अनपेक्ष-सर्व विश्व के सर्व प्राणियों

---

[1] (पद्म पुराण—५/२०६)

के लिये इसके द्वार खुले थे और वे द्वार सदा ही उन्मुक्त ही हैं, और उन्मुक्त ही रहने चाहिये । आ० श्री विद्यानन्द ने यह उपपत्ति दी है —

> “सर्वेषामभ्युदय करणाणां सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रः भेदानां हेत्वादभ्युदय हेत्वोपपत्तेः ।”

यह विश्व धर्म या सर्वोदय तीर्थ रूप क्यों हैं, इसी की यह व्याख्या है । इसमें सब के, प्राणी मात्र के अभ्युदयों के कारणों, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि आत्म-गुणों का विकास हैं । इस हेतु से सर्वोदय है. मानव मात्र का प्रकृत विश्व धर्म है । अतः ही यही एक मात्र अनादि तथा सनातन प्रवाहित धर्म है, मार्ग है ।

तथा यह भी एक विशेष हेतु है कि इसपें विचार स्वातंत्र्य व विचार सामंजस्य तथा समन्वय के हेतु, अनेकांत निर्ग्रन्थ सिद्धान्त का प्रतिपादन हैं । इस में किसी एक नय, एक दृष्टि या किसी ग्रन्थि या किसी किताब का आग्रह नहीं है । यह मात्र एक यथातथ्य समीचीन मार्ग का, सत्य की शोध का ही आग्रह करता है ।

समता, सुख शान्ति, सेवा तथा समृद्धि के अर्थ सर्वोदय का ही एक मात्र आदर्श व लक्ष्य ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व के लिये इष्ट हो सकता है । एक वर्ग-संघर्ष ही क्या, सब ही प्रकार के हिंसक संघर्ष संसार में शांति के मार्ग नहीं है । सब ही प्राणियों की हित कामना व उनका प्रबोधन, उनका संतोष यथार्थ समतावाद का मार्ग हो सकता है जो अनेकांत तथा सापेक्षतावाद में ही है । इस में दया संयम, करुणा, अहिंसा अपरिग्रह के, ध्यान व आत्म-निग्रह व ज्ञान के कथन है, भावनाएं है जो मूल मानतीय व अति मानवीय उद्भावनाओं को जागृत करती विश्व और विश्वोत्तर धर्म के स्वरूप का ही सापेक्ष रूप निर्माण करती हैं । ऐसे तत्वों से ही समाज व संस्कृति का उत्कृष्ट निर्माण संभव होता है । इसी से मानव का भी उत्कृष्ट निर्माण होता है, सबको समान रूप से जोड देने वाली मानवता का जन्म होता है और इस का आरंभ स्व के ज्ञान तथा साक्षात्कार से ही होता है और यही सत्यं शिवं सुन्दरं से भी आगे बहुत आगे जाता है । इसके तत्व हर युग में प्रासंगिक रहेंगे । सत्य अहिंसा और स्वातन्त्र्य जैसे मौलिक तत्व-विचार कभी अप्रस्तुत नहीं हो सकते । ये काल पुरुष की कसौटी पर सदा ही खरे उतरेगें ।

इस तीर्थ का मौलिक महत्त्व

जहां जहां भी आत्मा, उसके ज्ञान स्वभाव एवं निजी वैभव व उसके प्रकाश की चर्चा तथा चर्या का प्रसंग है, वहां वहां इसी धर्म के प्रोज्जवल तत्त्वों का ही प्रकाश चमकता है । इसी ने आदि काल में उनका ही प्रवचन तथा उद्घाटन और प्रसार किया था । इस आत्म धर्म से उत्कृष्ट अन्यत् कुछ भी नहीं है—न प्राणी आत्मधर्म से अन्यत् कुछ हो सकता हैं । यह ही उसका मूल प्रकृत धर्म है । इसी के अक्षर रूप (आगम वाणी व प्रवचन रूप) व निरक्षर रूप (ध्यान, भाव-समाधि परा-विद्या रूप) तत्व तथा ज्ञान युग युगांतर तक प्राणी मात्र के अक्षय सुख के लिये विश्व धर्म के रूप में अपना प्रकाश प्रवाहित करते रहेगें ।

समता, सामंजस्य और सापेक्षता

इसमें उद्घोष किया गया है कि संसार में विरोध वस्तु-व्यवस्था में नहीं, मानव की ही दृष्टि में विरोध रहता है और इसी कारण सापेक्षता और समन्वय में ही अविरोध है विवेक और सत्य की राह है, गतिशील शान्ति की राह है। धर्म का यही स्वरूप चिर शांति देता है।

"भंते करोमि समाइयं"—इसमें प्रशांत समता, शान्ति सामन्जस्य, सापेक्षता के ही अभ्यास का वह निर्देश है, जो इस योग धर्म की सार्वकालिक उपयोगता को प्रकट करता है। आज के आधुनिक जीवन के भी नाना संदर्भों में इसकी उपयोगता निर्विवाद तथा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। तथा वर्तमान के वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक युग के विकास से उत्पन्न बौद्धिक तथा श्रमिक वर्गों के हितों के आपस के टकराव की समस्या भी सापेक्षता के,—समता के आधार पर ही हल हो सकती हैं। बुद्धि की अनिवार्यता इससे प्रकट है कि बिना बुद्धि कोई कर्म या प्रयोग नहीं संभव होता, पर यह भी उतना ही सत्य है कि बिना प्रयोग बुद्धि का चिन्तन थोथा और निष्फल हो जाता है। बुद्धि का ज्ञानात्मक पक्ष तथा प्रयोग का क्रियात्मक पक्ष दोनों ही व्यवसाय तथा उद्योग की समृद्धि के लिए परस्पर परिपूरक रूप में आवश्यक है—इसकी ऐसी सापेक्ष पहचान ही एक मात्र समस्या का हल भी है। ऐसे ही यंत्र तथा मानव के हाथ के कौशल भी सापेक्ष हैं,—दोनों की अतिवादिता वैषम्य को उत्पन्न कर देंगे। इनकी प्रधानता और गौणता का प्रश्न न रखकर इन्हें सहज मानव सेवा में सापेक्ष रूप से प्रयुक्त रखना ही होगा। पर्यावरण संतुलन (Ecological) बैलेन्स की बात भी समता और सापेक्षता की ओर ही इंगित करती है। बुद्धि को शिक्षा से जागृत करते हैं—परन्तु प्रज्ञा के ज्ञतत्व के लिए अभ्यास भी उतना ही आवश्यक है। शिक्षा जगत् में आज का अवरोध (Stalemate) ग्रहणात्मक तथा अभ्यासात्मक पक्षों के सामंजस्य की ही अपेक्षा करता है। बुद्धि जागकर भी यदि आचरण में न आई तो सब कुछ व्यर्थ है। जन शक्ति और शासन शक्ति का आपस का विरोध भी सामंजस्य, सापेक्षता और समता की मांग कर रहा है। यदि व्यक्ति केन्द्र है तो समाज परिधि; तथा यदि समाज केन्द्र है तो शासन परिधि, और विस्तार रूप परिधि और केन्द्र के सामंजस्य में न व्यक्ति, न समाज और न शासन गौण है। इनमें से न कोई एक प्रधान है। इनमें समतोलता आवश्यक ही है। पदार्थ और ज्ञान—दोनों ही सांसारिक जीवन में समान रूप से आवश्यक है, इनमें से किसी को गौण या प्रधान नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य सभ्यता ने पदार्थों की संचय तथा इच्छा की प्रधानता को उभार दिया है। इससे मानव प्रत्येक क्षेत्र में असंतोष आपाधापी,—अशांति से ही घिर गया है। पदार्थों की लक्ष्य-प्रधानता में मानव परिधि की ओर दौड़ता जा रहा है और अतः सुख एवं शान्ति के स्व केन्द्र से, आत्म ज्ञान से दूर होता जा रहा है। गुण, ज्ञान तथा वीतरागता के आदर्श तथा स्वरूप मुनि को गृही जन दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार करता है, तो साधु दोनों हाथों को गृही के सामने फैलाकर उदर-पूर्ति को करता है, तो प्रवृत्ति व निवृत्ति में कौन किससे ज्यादा प्रधान या उपयोगी है, क्या कुछ कहा जा सकता है? चिंतन और बुद्धि की कुशाग्रता नई-नई समस्याओं की समझ को समक्ष करती है जो मूढ़ या जड़ बुद्धि के परे है। पर विचार से उत्पन्न उलझनें अध्यात्म के निर्विचार क्षणों में सुलझती हैं, ऐसे

विचार और निर्विचार की सम सापेक्षता की सदा ही आवश्यकता है। मानव जीवन की सुख समृद्धि का बहुत बड़ा सूत्र अनेकांत, समता और सापेक्षवाद में प्रकट हुआ है। यही सम-सापेक्षता —साधनात्मक सक्रिय पक्ष को तथा निष्क्रिय दृष्टा एवं ज्ञायक पक्ष को साथ साथ लेकर योग की आत्म-विधा है। ऐसे ही मुक्ति भी ज्ञान श्रद्धा और आचरण के समन्वय में है। सापेक्ष समन्वय ही वस्तुतः धर्म और सत्य का ही अन्य पर्याय है।

योग मार्ग मुक्ति मग्ग

अनन्त ज्ञान के पथिकों का यह योग मार्ग निर्वाण व मुक्ति "मग्ग" के रूप में मानव के ही लौकिक तथा परलौकिक दोनों प्रकार के उद्धार के लिये, स्वरूप आस्था व प्रतिष्ठा के लिये, निर्मल शुद्ध मानवीय तत्वरूप परिणमन के लिए मानव में भगवत्–स्वरूप के प्राकट्य के ही लिए वेदों की रचना से भी पूर्व से एक मात्र मार्ग रहा है तथा वेद उपनिषद् तथा पुराणों में भी इसके तत्वों का प्रकाश आया है। आज भी इसमें वे ही नित्य व शाश्वत् तत्व है। वे अब भी मानव को अपने अतीन्द्रिय आनन्द व ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये निमंत्रित करते हैं, आमंत्रण देते हैं कि हे अमृत पुत्रों! अपने उस अलौकिक निरालम्बी स्वाधीन आनन्द व ज्ञान तत्व को पहचानो और प्राप्त करो कि जिसके परे या जिससे उत्कृष्टतर अन्य कुछ भी नहीं है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में समता, प्रशमता, अहिंसा, करुणा, निर्विकारता की सदा ही आवश्यकतायें रहेगी और यह धर्म इन गुणों के लिये भी सदा ही ज्योति—स्तम्भ की तरह स्थिर प्रकाशमान व अविस्मरणीय रहेगा। यथार्थ में यह विशुद्ध रूप से विश्व मात्र के मानवों को मानवतावाद का, समतावाद का तथा इनसे भी परे अतिमानवतावाद व स्व प्रभुता का (स्व अनन्त प्रभुता का) भी शुभ संदेश देता है। यह जीवन को उत्साहित करता है, उत्प्रेरित करता है, विकसित करता है और उसकी समस्त संभावनाओं व बुलन्दियों और संपूर्ण स्वतन्त्र्य तथा आनन्द अस्तित्व को प्रकट व व्यक्त करने का आह्वान करता है तथा इन बुलन्दियों तक ही न रुक कर इनके भी पार परम प्रभु परमात्मा बनने का निमंत्रण देता है।

जैनों के योगमय धर्म रथ की तथा केवल ज्ञान सूर्योदय की और परम् तत्व "सिद्ध पद" की वेदों में भावना

देवाधिदेव भगवान् आदिनाथ के इस योग धर्म मय रथ की तथा केवल ज्ञान सूर्य के उदय की तथा ज्ञान मय सिद्ध पद के आरोहण की भावना वेद-ऋचाओं में भी संग्रहीत हुई हैं।

सयोगी जिन प्रभु की अर्हंत् अवस्था का केवल-ज्ञान-सूर्य जब उदित होता है तो उसका चिन्ह प्रोज्ज्वलित शुक्ल आभा मंडल के विस्तार से यानी किरणों के उदय से प्रथम ही (पूर्व ही) प्रगट हो जाता है। तब वे ऐसे सुशोभित होंते है मानों उदयाचल में सूर्य उदय हो रहा है। वे "भास्वानिव पूर्व गिरिश्रृंगम्"। तथा—

तेजः पुंज-प्रसर-प्रकाशिताशेषदिक् क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्य-चक्रवर्तित्व चिन्ह मग्रे भवति चक्रम् ॥[1]

अपने तेज के समूह से समस्त दिशाओं को प्रकाशित करने वाला और तीनों लोकों के चक्रवर्तित्व (आधिपत्य) का बताने वाला चिन्ह,—(प्रभा रश्मि) चक्र प्रथम उदित हो जाता है । ऐसा ही वर्णन ऋग्वेद में है—

उदित्युं जात वेदसं देवं वहुन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

उस ज्ञातवेदस (सर्वज्ञ) सूर्य को संसार को प्रकट करने के लिये किरणें ऊपर लाती हैं । अर्थात् अब केवल ज्ञान सूर्य उदित होने वाला है, इस बात को आभा मंडल का रश्मि-विकास प्रथम ही उदित होकर प्रकट कर देता है । इस प्रकार किरणें उदय से पूर्व ही केवल-ज्ञान-सूर्य को प्रकट करने लगती है—मानों वे ही उसे ऊपर ला रही हैं । अरुण-किरणोदय के तुल्य अरुण व पीत लेश्या विशुद्धि का क्रमोदय अलेश्य निर्मल केवल ज्ञान सूर्य आत्मा को ही बाहर प्रकट कर रहा होता है ।

यह पूर्व में बता चुके हैं कि हिंसक यज्ञों व कर्म कांड तथा स्वर्ग-प्राप्ति में विश्वास करने वाले वैदिक आर्यजनों ने भारत में भ० हिरण्यगर्भ आदि तीर्थंकर के द्वारा प्रवाहित योग शासन में निष्ठ अहिंसक आत्मोपासक तथा सिद्ध पद व मोक्ष में विश्वास करने वाले वातरशन दिगम्बर अर्हत्पुरुषों के सम्पर्क में आकर—उनकी अक्षर तथा निरक्षर आत्म-साधनाओं से परिचित हुए और उन्होंने भी मोक्ष रूप श्रेयस् तत्व को जाना और उसके सम्मुख हुए—तथा उन्होंने इस आदि पुरुष व अर्हंत् पुरुषों की स्तुतियां भी गाई तथा उपनिषदों की रचनाएं की, वेदों के संकलन किये ।

वेदों की उत्पत्ति को इसी लिये पुरुष सूक्त में इस तरह कहा गया कि ऋक्, यजु, साम उस प्रभु को बताये आत्म-यज्ञ साधना से उत्पन्न हुए । उस आदि पुरुष भ० हिरण्यगर्भ की बहुत स्तुतियां नाना प्रकार नाना विशेषणों से तथा प्रतीक बिम्बों से परोक्ष रूप में की गई हैं—उसे हिरण्यगर्भ, ऋषभ द्युतिमान वृहस्पति चतुर्मुख, ब्रह्म प्रजापति, विभु ऋभु सूर्य, अग्नि, हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आदि आदि कह कर स्तुत किया है । यह भी कहा गया है कि वही पुरुष मनुष्य योनि में देवत्व को, देव-भाव को प्राप्त हुआ था । कहा गया है "उन अर्हंत् देवों ने जो रथ बनाया है, वह घोड़े आदि वाहन की और लगाम आदि उपकरण की कोई अपेक्षा नहीं रखता अतः वह ऋभु स्वरूप देव ही सर्वथा स्तुति के योग्य है । तीन पहियों का वह रथ अन्तरिक्ष लोक में भ्रमण करता है, वह आपका बहुत महान् कार्य आपके देव-भाव का प्रख्यापक है और ऐसे कार्यो से आप पृथ्वी और स्वर्ग दोनों को पुष्ट करते हैं । आपने अपने विचार से बिना प्रयत्न ही सुन्दर, गोल और अकुटिल रथ बनाया है उसको हम अपने इस यज्ञ में सोम पान के लिए निमन्त्रित करते हैं ।" इसी रथ को तीनों लोकों में

---

[1] हेम योग शास्त्र-११/४६

समान रूप से गतिशील भी बताया गया है। स्पष्ट ही है कि यह वर्णन अलंकारिक व प्रतीक रूप में उस योगीश्वर प्रभु ऋषभ देव के ही योगमय धर्म रथ का ही है जो तीनों लोकों से अबाधित उससे भी ऊपर सिद्धालय के सिद्धपद तक गति प्रदान करता है। यही वह रथ है जिसके सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप तीन पहिये है, जिसमें न कोई घोड़े न काई लगाम आदि उपकरण अपेक्षित है और वह साधकों को अन्तरिक्षस्थ कर देता है,—यह रथ उस प्रभु के दिव्य चिन्तन से निर्मित हुआ है। सोम पान रूप समामृत पान के लिए अपने आत्मोपासना यज्ञ में उस ही योग धर्म रथ की ऋषि ने अभ्यर्थना की है। मंत्र है—

अन श्वो जातो अनयी शुरुवथ्यो, रथास्त्रि चक्र परिवर्त्तते रजः।
महत्त द्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीः यच्च पुष्यथ ॥
रथ ये चक्रुः—सुव्रतं सुचेन सो-अविहवरन्नं मन सस्परिध्यया।
तां उचस्य सबनस्य पीतये आवो वाजा ऋभवो वे दयामसि ॥—ऋक्~~देव~~ वेद

अथर्व वेद की भी एक ऋचा में उस भ. ऋषभदेव प्रणीत ज्ञानमय सिद्ध पद (मोक्ष) आरोहण की भावना को इस प्रकार स्थान देकर गाया गया है—

उत्क्रामतः पुरुषामावपत्था मृत्योः।
पड्वीशमव मुंचमानः।
माच्छित्था अस्माल्लोकाग्रे।
सूर्यस्य सदृशः ॥[1]

अर्थ—गति की उत्क्रमणता करते हुये, यानी गति रूप से-आचरण रूप से धर्म सेवन करते हुये, निश्चल साम्य रूप अगति, ध्रुव पद को प्राप्त होते हुये, चारित्र की ही पराकाष्ठा को प्राप्त करते हुये, उच्चतम अवस्थाओं-परिणतियों को प्राप्त होओ। मृत्यु के बंधनों को विच्छिन्न करते हुये अमरत्व को प्राप्त होओ, कभी विच्छिन्नता को, स्व स्वभाव स्वरूप की विच्छिन्नता को न होने दो-उस स्वरूप में अभिन्न तथा अविभक्त ही रहो। लोक के अग्र भाग,—लोकाकाश के शिखर यानी सिद्धालय पर ही जाओ. अपने अन्तः स्थ केन्द्रस्थ सूर्य के प्रकाश का सम्यक् दर्शन करते हुये, प्राप्त करते हुये।

उत्थानं ते पुरुष नावयानं
जीवान्तु ते दक्षतातिं कृणोमि

(अर्थ ८/१/४)

आहिर रोहेममृतं सुखं
रथमथ जिंवि विदथमावदासि ।।[1]

अर्थ — ऊंचे जाओ, उर्ध्वंगमन शील होओ, गति रूप चारित्र-चरण को नीचे न करो, दक्षता (कुशलता) की अति (चरमता) यानी यथाख्यात चारित्र स्वरूप की प्राप्ति की ही पराकाष्ठा को प्राप्त होओ। जीवन का परम अन्त (चरमबिन्दु) पराकाष्ठा अथवा परम धर्म यह ही है। स्व केन्द्र-स्थ सविता यानी ज्ञान भास्कर के (धर्म) रथ को आरोहण करके अमृत (अव्याबाध, अक्षय) सुख को ही प्राप्त होओ, ऊंचे ही (सिद्धालय को ही) आरोहण करो।

यह सिद्ध अमृत पद अनन्त ज्ञान आत्मा का ही है। इसे ही शिव पद व इसे ही विष्णु का पद कहा गया है। यह परम कल्याण का पद है। अतः यह शिव पद भी कहा गया है। यह विभु ~~इन्द्रिय~~ परम ज्ञान का पद है, अतः विष्णु का पद हैं, गोलोक का गोचर पद है। गो का अर्थ पृथ्वी, गाय व परम आकाश, अंतरिक्ष तथा सूर्य प्रकाश भी है। परन्तु गोलोक या गोचर पद में यहां गो का लौकिक अर्थ नहीं है, यहां गो का अर्थ है ज्ञान, अलौकिक आत्म ज्ञान। ज्ञान का पूर्ण वैंभव जहां प्रकठ रहता है, ज्ञान का सदा बिहार जहां है, अथवा ज्ञान में ही सदा जहां विचरण है ऐसा वह नित्य सर्वज्ञ केवल ज्ञान मय ध्रुव अक्षय पद है। यह ही गोलोक आत्म-अंतरिक्ष स्थ केवल ज्ञान भास्कर का प्रकाश लोक है, ज्ञान लोक है। इसी ज्ञान भास्कर को निरीक्षण करते-करते लोकाकाश के अग्र-सिद्ध भूमि में, सिद्धात्मायें जा विराजती है। जैन योग की मूल संकल्पना है सिद्धालय के सम्बन्ध में। वही वेद की एक अन्य ऋचा में भी ग्रहीत होकर इस प्रकार प्रकट हुई हैं—

चरन् वै मधु विन्दति
चरन् स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यं पश्य श्रेयाणं
यः न तन्द्रयते चरैश्चरंवेति ।।

अर्थात् चरण शील, चारित्र आचरण वाले पुरुष मधु अमृत मय इष्ट) को प्राप्त होते हैं। चरण-शील (गतिशील) आचरण में आगे जाने वाले अग्र पुरुष उत्-अम्बर, उर्ध्वंतम आकाश के अग्रतम भाग को प्राप्त होते हैं। अविश्रांत गति (आचरण) को प्राप्त सूर्य, ज्ञानालोक मय केवल ज्ञान सूर्य बन्ध होता है। दृढ निश्चय के साथ अपने आचरण चरण को बढाते चलो, निरंतर अग्र गति शील (आचरण शील) रह कर गति-प्राप्त बनो।

आत्म-चारित्र चरण की गति की उत्कृष्टता-प्राप्ति की प्रेरणा में ज्ञानालोक पद की प्राप्ति की ही प्रेरणा है। लोक-सूर्य को प्रतीक करके आकाश के अग्रतम प्रदेश लोकाग्र शिखर सिद्धालय

---

1. अथर्व (८/१/६)

प्राप्ति की ही यहां प्रेरणा की गई है। यह सिद्ध पद यथार्थ अमृत अक्षय नित्य अनन्त ध्रुव पद व अपरिणामी है। इसे ही आ० कुंद कुंद ने "ध्रुवां अचलां अनोपम्यां गतिं" समयसार की अवतरणिका गाथा में कहा है और ऐसी गति को प्राप्त सिद्धों को नमस्कार किया है ।

उन सिद्धों का वह निश्चल गो (ज्ञान) लोक एवं गोचर पद है। यह सूर्य सम भास्वर अंतरिक्ष स्थ अनन्त ज्ञानी प्रभु, आत्मविजेता जिनेश्वर आत्मा का (Eternal & Infinate) पद है। वहां ज्ञान-प्रभाओं से प्रभावान की अक्षय प्रभावती यशस्वती शक्ति अभिन्न है। वह यशस्वती आद्य पुराण पुरुष की ही शक्ति है । वहां अक्षय गो (ज्ञान) का वात्सल्य सुधा रस सदा ही स्त्रवित व अभिव्यक्त है। इसी पद को आ० श्री पूज्य पाद ने समाधि-तंत्र में "अवाचां गोचर पद" कहा है। ऐसे सिद्धपद की अवधारणा एक मात्र अर्हत् तीर्थङ्कर प्रभुओं की है। गो शब्द का अर्थ सूर्य प्रकाश, अंतरिक्ष तथा आकाश भी है, इन सब की संगति अर्हत् प्रभु के साथ होती है।

यह पद वस्तुतः केवल ज्ञान भास्कर सकल जिन परिणत होने के उपरांत ही प्राप्त होता है साधारण आचरण चरण से नहीं—सौर गति से चलने चाले मूर्तीमंत प्रकाश स्वरूप व ज्ञान मूर्तिपिंड के रूप में ही जो अपने विस्तृत आचरण चरणों के द्वारा समस्त विश्व लोक व समग्र आत्म लोक को ही अतिक्रांत करते हुए सक्रिय रूप से सिद्ध परमेश्वर हुए हैं, उनका ही वह विष्णु (व्यापक ज्ञान लोक) का गोचर पद, सिद्ध लोक पद है। सर्वज्ञ विज्ञान ने आत्मा की अवधारणा तेजोमय प्रकाश पिंड ज्ञान सूर्य,-केवल ज्ञान भास्कर व आदित्य वर्ण के ही रूप में की है। अरुणोदय, प्रभात और मध्याह्न के रूप में जैसे विकास है, वैसे ही परिणमन विकास जीव को सम्यक्त्वी, क्षीण मोही और सकल जिन रूप स्वरूप का होता है। सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप का आचरण-चरण ही केवल ज्ञान, केवल दर्शन और केवल चारित्र में परिणत ज्ञान-विष्णु आत्मा के तीन पद या चरण हैं। इनसे ही चल कर, गतिशील होकर ज्ञान लोक में सूर्य के समान समस्त लोक-अलोक को देखता,— ज्ञान करता यह आत्मा अपने स्व अक्षय आनन्द ज्ञान मय पद के मार्ग "मग्ग" को पूरा करता है।

यजुर्वेद के एक सूक्त में इसी अर्हत् हैरण्यगर्भीय प्राचीन योगशासन के,-आत्मा के मूल स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ज्ञायक स्वरूप का व अक्षय आनन्द ज्ञान गुण का वर्णन इस प्रकार आया है। यह वर्णन प्रकट करता है कि वेद पूर्व ही इस परम्परा का तत्व ज्ञान कितना विकसित हो चुका था।

प्रजापति श्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा स्तस्मिन् हतस्थु र्भुवनानि विश्वाः ।

अर्थ—प्रजापतिः (प्रजा का स्वामी,—भ० ऋषभदेव ब्रह्मा जीवात्मा) गर्भे अन्तश्चरति (गर्भ के,—निज, हृदय केन्द्र के अन्तर भाग में विचरण करता है) बहुधा विजायते अनेक प्रकार व रूप से परिणमन भी करता है स्व तथा पर वस्तु के प्रति अनुभवों को प्राप्त करता है। उस प्रभु की योनि को,-यानी

उसके मूल स्वरूप के हेतु—कारण परमात्मा—ज्ञायक स्वरूप की, अपरिणामी अक्षय आनन्द ज्ञान धाम को (धीराः पश्यन्ति) धारणा, ध्यान और समाधि मे निश्चल धीर योगी जन देखतें हैं, जान लेते हैं। (हतस्थुः भुवनानि विश्वा) सभी लोक उसी में अर्थात् उसके ज्ञान में प्रकाशित हैं। ज्ञायक परमात्म स्वरूप ही वह कारण परमात्मा है, (जैन योग मान्यतानुसार) जिससे कार्य परमात्मा,—सिद्धात्मा परिणत होता है। इसी ज्ञायक परमात्मा कारण (योनि) परमात्मा को उस हिरण्यगर्भ ऋषभ प्रबु के माध्यम से योगी जन देख कर अनुभव करके सभी लोका लोक जिसमें प्रकाशित है—ऐसे ज्ञान स्वरूप आनन्द ज्ञान धाम स्वरूप को अनुभव कर लेते हैं। इसी भाव को इस वेद मंत्र में प्रकट किया गया है।

इसी सूक्त के अगले मंत्र में कहा है—

"तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यते अयनाय"—उसी ज्ञान स्वरूप प्रजापति से आत्मा के स्वरूंप को जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मृत्यु पर (जन्म मरण रूप परम्परा पर) विजय प्राप्त करता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह मन्त्र पुरुष सूक्त में भी प्रजापति भ० हिरण्यगर्भ आदिनाथ (वृषभेश्वर) की स्तुति करते हुए आया है। उस हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ प्रभु के सकल जिन स्वरूप,–ज्ञान मय अप्राकृत देह–स्वरूप को ध्यान द्वारा देखकर (सयोगी जिन गुण-संक्रांति प्राप्त करके) अमर जीवन को प्राप्त किया जाता है। अविकल पुरुष-सूक्त के अर्थ इसी "योगानुशीलन" के भाग द्वितीय के चौथे अध्याय में आ चुके हैं। यह हिरण्यगर्भ प्राचीन योग शासन ही एक मात्र प्राचीन सद्-धर्म मार्ग और मोक्ष पथ है। इस योग-शासन के प्रथम और मूल प्रवक्ता भ० हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर हैं। सारे विश्व में योग एवं अध्यात्म का प्रवचन तथा प्रसार सर्वप्रथम उनके द्वारा हुआ।

वस्तुतः योगाभ्यास में परम समाधि की उपलब्धि सकल जिन स्वरूप से होती है, वही आत्मा की अमर अक्षय पद की साक्षी होती है। यह आत्मा तत्व चर्चा से नहीं,—योग के ध्यान और समाधि अंगो की चर्या से ही साक्षात्कार होकर संप्राप्त होता है। कहा गया है कि तर्क द्वारा असत्य को भले ही सत्य करना संभव हो जाए, मगर तर्क द्वारा, चर्चा द्वारा मृत्यु पर विजय की उपलब्धि नहीं की जा सकी। आत्म-प्राप्ति में चर्चा व तर्क का अभ्यास वैसा ही बचकाना है जैसा किसी नीचे कक्षा के किसी छात्र की गणित से आईंस्टीन के सापेक्षवाद सिद्धांत को प्राप्त करने का प्रयास है, अथवा आकाशीय विज्ञान से अनभिज्ञ का चन्द्रमा के ऊपर पहुंचने के तथ्य का प्रतिपादन है। तर्क तथा चर्चा महज सतही तत्व हैं, उनसे न आत्म प्राप्ति के प्रयोग तथा अनुभव खुलते, न उनका खंडन ही हो सकता है। ध्यान समाधि की निः शब्द जिनेश्वर सम प्रशांतिमय अवस्था में ही परमानन्द मय चिदानुभव की दिशा खुलती है।

उपसंहार

सर्वज्ञ योग विज्ञान का सार यह ही है कि इस अपार चतुर्गति मय संसार में ध्यान, ज्ञान एवं चारित्र के सम्यक् समन्वित रूप देवाधिदेव अध्यात्म योग में स्थिर हो कर विभाव को नष्ट कर कर्मों के आवरणों को नष्ट करते हुए, ज्ञान स्व-भाव मय स्व स्वरूप को प्रत्यक्ष विकसित तथा स्थिर करके सदा सुखमय मुक्ति आत्म–पद को प्राप्त कर लेना चाहिए। आत्मा में स्थिरता रूप धीर आचरण से ही कर्मों का पुंज नष्ट होता है। जो अनन्त तथा मात्र ज्ञान रूप है। अन्तर्दृष्टि कर, स्थिरता करो और कर्म–आवरण आप ही नष्ट होते रहेंगे। प्राण मन वचन के स्पंदनशील अनात्म तत्वों के पाश से, राग से, विवर्जित अपनी निर्मल आत्मा को पा लेना ही मुक्ति पद है। तब ही मुक्ति पद में विराजमान, निर्मल सिद्धात्मा पुरुष के केवल दर्शन, केवल प्रकाश केवल ज्ञान व सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से तादात्म्य हुए अव्यय और अव्याबाध (बाधा रहित) आनन्द की प्राप्ति रहती है। वह मुक्ति पद ही सिद्ध पद है, अपने अनन्त स्वरूप में, अनन्त ज्ञान में निर्बन्ध स्वाधीन आनन्दलीन शाश्वत् विहार एवं सम रूप अवस्थान ही उस पद में हैं। वह स्वर्ग राज्यों से भी ऊपर तथा अलौकिक भूमि है।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परम भासुरा।
प्राग्भार नाम वसुधा लोक मूर्ध्नि व्यवस्थिता ।।
त्रिलोक तुल्य विष्कम्भा सितछत्रविभाशुभा।
उर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः ।।[1]

आचार्य अकलंक देव अलंकारिक व हृदयहारी वर्णन करते हैं—इस विश्व के शिखर पर अतिशय मनोज्ञा तन्वी (कोमल, सूक्ष्म रूप) सुरभि वासिता शुचि (सुगंधमय पवित्र व निर्मल) और परम प्रोज्ज्वला प्राग्भारा नाम की रत्नधारिणी भूमि है, जो त्रिलोक के समानान्तर विस्तृता व श्वेत छत्र के तुल्य शुभ्रा व शुभा है। उस भूमि के उर्ध्व लोक के अग्रभाग पर समवस्थित (सम-आत्म प्रदेश युक्त) सिद्ध आत्मायें, —परमेश्वर परमात्मायें विराजती हैं।

उनके अपार अक्षय सुख का ज्ञानामृत का, स्वरूपामृत का क्या कोई वर्णन हो सकता है! स्पष्ट है कि चैतन्य तत्व को पर-पदार्थों के निमित्ताश्रय से निर्मुक्ति रूप निर्मलीकरण में ही परम सत्य प्राप्त होता है। यह निर्मलीकरण राग-द्वेषादिक विकारों के प्रथम तो एक देश संवेद रूप तथा अन्त में मूलोच्छेद रूप होता है। "मूलेच्छेदे विविक्तं वियदिव विमलं ध्यायति स्व स्व रूपम्" (यो० प्रा०)।

आकाश वत् परम तत्व चैतन्य के निर्मल होने तथा करने की दृष्टि होने पर ही सम दृष्टि के साम्य रस का आविर्भाव होता है और उसी में आत्मा के प्रदेशों की यहां इसी लोक में विविक्ति समवस्थिति हो जाती है और तब आत्मा तल्लीन,—स्व रस में लवलीन परम स्वरूप में आरोहण

---

1. (तत्वार्थ. वा. उपसंहार श्लो. २६–३०)

हुआ देह–नागरी को सदा के लिये छोड़ कर लोकाग्र—प्रदेश पर अर्थात् अलौकिक परमानन्द आत्म धाम पर जा विराजता है। जो विश्व सत्ता सम्बन्धी तत्व प्राण तत्व की प्रकाश–किरणों को देखकर तथा उनसे अपने को भिन्न विशिष्ट ज्ञान मात्र ही, विविक्त ही अनुभव कर लेता है और इसी अनुभूति में नित्य सम रूप स्थिर हो जाता हैं, उसी के लिए आत्म-साम्राज्य का यह अक्षय राज–सिंहासन है।

समयसार का उपरंहार करते हुये आ० श्री कुंदकुंद ने कहा—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहिवेदयहि झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥
मोक्ष पथे आत्मानं स्थापय, वेदय ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥[1]

हे भव्य जीवात्मन्! तू मोक्ष के इस "मग्ग"—मार्ग में अपने आत्मा को स्थिर स्थापित कर, इस मार्ग का ही वेदन (अनुभव) कर, इसी का ध्यान कर, इसी का ज्ञान कर और इसी में निरन्तर विहार कर, अन्य पर–द्रव्यों में (पर–पदार्थों तथा पर–भावों) में विहार मत कर, विहार मत कर।

अन्तिम मंगल वाचन :—

भवभयमपतन्वु ज्ञान विज्ञान सारं,

निगमक्तदुयजिव्हे भृंगवद् वेद सारम्।

अमृतद्धितश्चापायद् भृत्यवर्गान्,

पुरुषमृषभमाद्यं जिनसंज्ञं नतो ऽस्मि ॥

भौंरा जैसे पुष्प के सार मधु का संग्रह कर लेता है, वैसे ही उस सर्वज्ञ प्रभु ने संसार से मुक्त करने के लिए ज्ञान का सार ज्ञान विज्ञान का रहस्य–सार निकाला है। उन्होंने क्षीरोदधि से अमृत को निकाला और भक्त–जनों को पिलाया। उन ही आद्य पुरुष श्री जिनेश ऋषभ प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

इत्थं यथा तब विभ्तिरभूज्जिनेन्द्र,
धर्मोंपदेशनविधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतांधकारा
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥

---

1. (समयसार–४१२)

हे आदिनाथ जिनेन्द्र ! आपके धर्मोपदेश करने की विधि में जैसी आपकी विभूति है वैसी अन्य किसी के नहीं हैं। तम (अन्धकार) को नाश करने वाले दिनकर (सूर्य) की जैसी प्रभा होती है, ग्रह–गणों के विकास करने पर भी वैसी प्रभा कहां होती है ?

शुद्धि र्नृणां न तु तथेऽयङ्य दुराशयानां,
विधा श्रुताध्ययनदान तपः क्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध,
सच्छ्रद्धया श्रवण संभृतया यथा स्यात् ।।

हे ऋषभ प्रभो ! राग द्वेष कलुषित जनों की विद्या (उपासना), श्रुत–अध्ययन, दान, तप और क्रियाओं आदि से भी वैसी शुद्धि नहीं होती जैसी शुद्धि सत्वगुणशील जनों को आपके (निग्रंथ–प्रवचन) के यशस् के विषय में सद् श्रद्धा पूर्वक श्रवण की संधारणा से होती हैं।

नताः स्म नाथ ! पादारविन्दं, बुद्धीन्द्रिय प्राणमनोवचोभिः
यच्चिन्त्यते ऽन्तंहृदि भावयुक्तैः मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ।

हे नाथ ! कर्म के पाश से छूटने की इच्छा वाले मुमुक्षु जन भक्ति–भाव से अपने हृदय में जिसका चिन्तन करते हैं, आपके उसी चरण कमल को अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणी से हम नमस्कार करते हैं।

तथा शतशः वंदन हैं कृत कृत्य स्व संवेद्य अव्याबाध अक्षय निज आनन्द व ज्ञान स्व स्वरूप में सुप्रतिष्ठित सिद्ध आत्माओं को भी।

वर सुख प्राप्ति के हेतु यह योग व आत्म धर्म विश्व धर्म के रूप में सदा जयवन्त रहे।

हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषभ ध्वजः
परमेष्ठी परं तत्वं परमात्मात्मभूरसि।।[1]

वंदन भगवान् आदि नाथ हिरण्यगर्भ को,—जिन्होंने इस उत्कृष्ट विश्व धर्म मय योग मार्ग को प्रवर्तित किया। भारत के आदि चक्रवर्ती महान् सम्राट् भरत महाराज ने स्तुति करते हुए कहा,—"आप हिरण्यगर्भ हैं, भगवान् हैं, वृषभ हैं, वृषभ चिन्ह से शोभित हैं, परमेष्ठी हैं, परम तत्व हैं, परमात्मा हैं और अपने आत्म स्वरूप को स्वयं प्रकट करने वाले स्वयंभू हैं।"

भगवज्जिनसेनाचार्य ने उन योग के आदि प्रवक्ता के कैलास—धाम पर विराजने का इस प्रकार स्मरण किया है—

---

1. (आदि पुराण—२४/३३)

देव प्रशान्त चरितः शनकैर्विहृत्य,
देशान् बहूनिति विबोधित भव्यसत्वः ।
भेजे जगत् त्रय गुरुर्विधुवीध्रमुच्चैः ।
कैलासमात्म यशसोऽनुकृतिं दधानम् ।।[1]

वे प्रकृष्ट शान्त चारित्र वाले देव अनेक भव्य—जीवों को तत्य-ज्ञान प्राप्त कराते, तीन लोक के परम गुरु भगवान् वृषभदेव अनेक देशों में विहार करके चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, ऊंचे और अपना अनुकरण करने वाले "कैलास" को प्राप्त हुए ।

मंगलं हि हिरण्यगर्भं स्त्वर्हत्, प्रमंगलं जिनः ।
मंगलं स्याद् यद्विज्ञानं, मंगलं योग शासनम् ।।

भगवान् हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) और अर्हत् जिनेश्वर प्रभु मंगलकारी हों, मंगलकारी हों स्याद्वाद (अनेकांत) विज्ञान और उनका योगशासन सब को मंगलकारी हो ।

कैलाश को अपने शुचि चरण कमल विहार से पवित्र बना देने वाले प्रभो ! आपके अपूर्व योग शासन के दिव्य योग और ज्ञान में सर्व जन ही तद्रूप ही परिणत होकर परम शान्ति और अक्षय श्रेयस् सुख को प्राप्त हों ।

यत्र स्याद्वाद सिद्धान्तो यत्र वीरो जिनेश्वरः ।
तत्र श्री विजयो भूतिः ध्रुवानन्दो ध्रुवादरः ।।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

समाप्तोऽयं योगानुशीलन ग्रन्थः ।

।। शुभमस्तु ।।

---

[1] (आदि पुराण—२५/२८)

परिशिष्ट—१

वंदना

(१)

श्री नाभि अरु मरुदेवी के सुतनय सुखकार,
शुचि उन्नत भाल शरद-चन्द्र-मुख शोभाकार।
वीतराग प्रशम मुद्रा में शुक्ल ध्यान धार,
धरे नासाग्र दृग् चिन्तन लीन विचार पार ॥

(२)

स्व आनन्द लीन हुए, लिए लम्ब जटा भार,
शोभे तन सहज स्वर्ण सुषमा अमल अविकार।
मान सरोवर तट हने, कर्मारि बहु प्रकार,
अतिज्ञान कैवल्य पा, बने विमल चिदाकार ॥

(३)

आदि जिन बने तेजो-पुंज परम पुरुषकार,
योग मूर्ति अति आनन्द कंद ज्ञान साकार।
दिया प्रथम वर योग शासन अरु मुक्ति विचार,
वरी शिव-सुख रमणी, हुआ त्रय-भुवन उजियार ॥

(४)

हे योग शासन-शास्ता! धर्म रूप साकार,
धन्य धरा हुई पा, केवल दर्शन विस्तार।
दीप आस्था के जल उठे हुआ ज्ञान विस्तार,
जय जय हे आदि-पुरुष, देव करें जयकार ॥

(५)

सुर असुर पूजें, वेद गायें स्तुति बार-बार,
उपनिषद् बखानें, सकल-ध्येय अरु ध्यान सार।
योगी जनों के हृद्-देव, वर ज्योति-आगार,
ध्यान के सत्य परम इष्ट ज्ञान श्री साकार ॥

(६)

हे हिरण्यगर्भ! वीतराग सर्वज्ञ अपार,
हे दिव्यमनोज्ञ! स्फटिक सम विमल ध्येयाकार ।
योग की जले अति ज्योति, जन जन में अविकार,
आलोकित करे यह जन जन में शुद्धाचार ।।

(७)

कैलास के ऋषभ जिन का जन करें जयकार,
करें जयकार नाभि पुत्र ऋषभ का जयकार ।
प्रभु हिरण्यगर्भ ऋषभ का करें जय जय कार,
जय गान महामानव ऋषभ का जय जय कार ।।

(८)

हे अमृत तत्व! दाता आत्म सिद्ध रस सार,
हे केवल-किरण! भव तरणी, अमित गुण प्रसार ।
हे शिव सत्य चैतन्य प्रकाश! ज्ञान आधार!,
प्रभु शतप्रणाम आपको, करो शान्ति विस्तार ।।

• • •

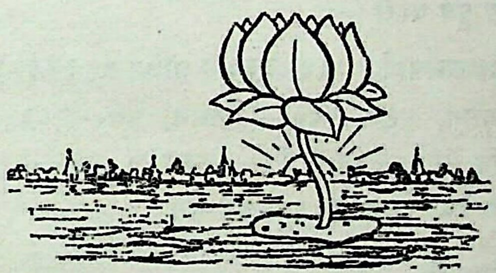

परिशिष्ट—२

भ० महावीर के पश्चात् दिगम्बर श्रमण योगीश्वरों की आचार्य परम्परा

भ० महावीर योगीश्वर चतुर्विंशति तीर्थंकरों में अन्तिम हुए है । उन्हें निर्वाण हुए लगभग २५०८ वर्ष हुए है । इस अन्तराल काल में भी आचार्यों की परम्परा चलती रही है । भ० महावीर के बाद धरसेनाचार्य तक तथा उनके बाद भी अविच्छिन्न धारा रूप से उनकी वाणी अद्यावधि हमें मिली है । प्रत्येक तीर्थंकर ने अपने-अपने शासन में योग धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया और वही भ० महावीर के बाद निर्बाध रूप से प्रवर्तित है । इसमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर महा मुनिराजों का,—आचार्यों का बड़ा योगदान है जिन्होंने आत्म-साधना के साथ-साथ आगम ग्रन्थों की समय-समय पर रचना करके श्रुत परम्परा को सुरक्षित रक्खा है । भ० महावीर के बाद ई० पूर्व ५२७ वर्ष से लेकर इस वीसवीं शती पर्यन्त के सभी प्रमुख आचार्य श्री के आलेख को प्रस्तुत करते हैं । यह आलेख नव भारत टाइम्स से हम साभार उद्धृत कर रहे हैं ।

ईसवी पूर्व शताब्दी—अनुबद्ध केवली परम्परा—

५२७–५१५—गौतम गण धर, ५१५–५०३—सुधर्माचार्य, ५०३–४६५—जम्बू स्वामी ।

ईसवी पूर्व शताब्दी—श्रुत केवली परम्परा—

४६५–४५१—विष्णुनन्दी, ४५१–४३५—नन्दिमित्र, ४३५–४१३—अपराजित,
४१३–३९४—गोवर्धन, ३९४–३६५—भद्रबाहू ।

ईंसवीं पूर्व शताब्दी—अंग दश पूर्व धारी—

३६५–३५५—विशाखाचार्य, ३५५–३३६—प्रोष्ठिल, ३३६–३१९—क्षत्रिय,
३१९–२९८—जयसेन, २९८–२८०—नागसेन, २८०–२६३—सिद्धार्थ,
२६३–२४५—धृति सेण, २४५–२३२—विजयसेन, २३२–२१२—बुद्धि लिंग
२१२–१९८—गंग देव, १९८–१८९—धर्म सेन

ईसवी पूर्व शताब्दी—११ अंगधारी—

१८९–१६४—नक्षत्र, १६४–१४४—जयपाल, १४४–१०५—पांण्डय, १०५–९१—धुवसेन,
९१–५९—कसाचार्य, ५९–४२—सुभद्र—१० अंगधारी, ५३–३५—यशोभद्र ९ अंग धारी
३५–१२—भद्राबहु द्वितीय ८ अंग धारी, १२–३८—लोहाचार्य अंगधारी ।

प्रथम ईसवीं शताब्दी—अंगधारी—

अर्हद् बलि–अंगधारी, माघनन्दी–अंगधारी, धरसेन–अंगधारी,

पुष्प दन्त–अंगधारी, पुष्प दत्त भूतबली।
गुणधर–आदि अनेक आचार्य इस शताब्दी में हुए हैं।

ईसवीं शताब्दी–२—

इसमें जिनचन्द्र, पद्मनन्दि (कुंदकुंद), उमा स्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्य हुए हैं।

ईसवीं शताब्दी–३—

शाम कुंद, यशकीर्ति, वादिराज, तुम्बुबुर आदि आचार्य

ईसवीं शताब्दी–४—

देवनन्दि, मल्लवादि, जयनन्दि आदि प्रमुख आचार्य।

ईसवीं शताब्दी–५—

पूज्यपाद, कुमारनन्दि, आर्यमंक्षु, नागहस्ती आदि प्रमुख आचार्य।

ईसवीं शताब्दी–६—

योगेन्दुदेव, यतिवृषभ, सिद्धसेन दिवाकर, इन्द्रसेन, पात्र केसरी कीर्तिधर आदि प्रमुख आचार्य।

ईसवीं शताब्दी–७—

जटासिंहनन्दि, वसुनन्दि प्रथम, वीरनन्दि प्रथम, माणिक्यनन्दि प्रथम, अकलंकदेव, रविषेण आदि प्रमुख आचार्य हुए।

ईसवीं शताब्दी–८—

वप्पदेव, विद्यानन्द प्रथम, जिनसेन, वीरसेन, विजयसेन, देवसेन प्रथम आदि अनेकों आचार्य इस शताब्दी में हुए।

ईसवीं शताब्दी–९—

गुणभद्र, महावीराचार्य, हरिषेण, देवसेन द्वितीय, वादीभसिंह, गुणनन्दि आदि आचार्य प्रमुख रूप से हुए।

ईसवीं शताब्दी–१०—

अनन्त कीर्ति प्रथम, माणिक्यनन्दि द्वितीय, अमितगति प्रथम, सोमदेव, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य प्रथम, अमृतचन्द्र, अमितगति द्वितीय, लघु शमन्तभद्र, वादी राज द्वितीय आदि प्रमुख आचार्य।

ईसवीं शताब्दी–११—

अजितसेन, अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, कननन्दि, माधवचन्द्र, शुभचन्द्र प्रथम, स्वामी कीर्तिकेय, वादीभसिंह द्वितीय, नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव, मानतुंगाचार्य, नरेन्द्रसेन, मल्लिषेण प्रथम, सोमदेव द्वितीय आदि अनेक आचार्य हुए।

ईसवीं शताब्दी–१२—

नागसेन, नयसेन, वीरनन्दि पंचम, पद्म प्रभमल्लधारी देव, रामसेन, जयसेन, पंचम, श्रुतकीर्ति आदि आचार्य प्रमुख हुए है।

ईसवीं शताब्दी–१३—

भास्करनन्दि, जयसेन नं.-६, ब्रह्मदेव आदि आचार्य प्रमुख हुए है।

ईसवीं शताब्दी–१४

अभयदेव द्वितीय, धर्मभूषण द्वितीय, प्रभाचन्द्र प्रथम, रत्न कीर्ति तृतीय, आदि प्रमुख आचार्यं हुए।

ईसवीं शताब्दी–१५—

श्रुत सागर सूरि, सकल कीर्ति, विद्यानन्द द्वितीय, सोमकीर्ति आदि।

ईसवीं शताब्दी–१६—

ज्ञान भूषण, चन्द्रकीर्ति, धर्म कीर्ति आदि अनेक आचार्य हुए।

ईसवीं शताब्दी–१७—

भट्ट अकलंक द्वितीय, सन्मति कीर्ति आदि आचार्यों की गणना है।

ईसवीं शताब्दी–१८-१९—

जिन सागर, ज्ञानचन्द्र देव चन्द्र द्वितीय आदि आचार्य प्रमुख हैं।

इसी दिगम्बर परम्परा में वर्तमान शती में आचार्य श्री शान्ति सागर प्रमुख ज्योतिर्धर व तपस्वी रत्न हुए। ये बेल गुल गांव (जिला बेल गुल–दक्षिण भारत) में १८७२ में जन्मे। आपका जन्म नाम सात गोंडा था। आरम्भ से ही मुनियों पर बड़ी भक्ति थी और ये एक मुनिराज को अपने कंधे पर बिठा कर वेद-गंगा और दूध गंगा नदियों के संयम पार ले जाया करते थे। इन्होंने यरनाल के पंच कल्याण महोत्सव पर देवेन्द्र कीर्ति स्वामी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। सन् १९२७ में सम्मेद शिखर यात्रा ससंघ की। धर्म संघ ने आपको आचार्य पद और वाद में चारित्र चक्रवर्ती पद से विभूषित किया। २६ अगस्त १९३५ को अपने प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य श्री वीर सागर जी (जन्म १८७५) को आचार्य पद दिया और कुंथल गिरि पर सल्लेखना ली। इनके समाधिकरण के पश्चात् १९५५ में ही जयपुर में ही चतुर्विध संघ के समक्ष विधिवत् वीर सागरजी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। सन् ५७ में

आपने जयपुर खानिया में ही नश्वरदेह छोड़कर सुर लोक प्रयाण कर गये। तीसरे आचार्य श्री शिव सागर जी हुए। आपका जन्म १९०१ ई० में हुआ। ११ वर्ष आचार्य पद पर रहे। आपके आचार्यत्व में खानियां–तत्व चर्चा का आयोजन हुआ। १९६८ ई० के वर्षायोग को प्रतापगढ़ में पूरा कर श्री महावीर जी (राजस्थान) आये वहां आपका फाल्गुन की अमावस्या को समाधि मरण हुआ। तब चतुर्विध संघ ने श्री धर्म सागरजी को जो आ० श्री शिव सागरजी के गुरु भाई हैं, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ये ही वर्तमान आचार्य धर्म सागरजी हैं।

ये विवरण नव भारत टाइम्स के आलेख से साभार संग्रहीत हैं।

लेखक ने स्वयं बचपन में सम्मेद शिखरजी में आचार्य शिरोमणि शान्ति सागरजी ससंघ के दर्शन किये। आपके ही अन्य शिष्य चन्द्र सागरजी के भी बचपन में दर्शन किये। बचपन में आचार्य श्री सूर्यसागरजी का दर्शन तथा सत्संग मिला। आचार्य श्री वीर सागरजी के जयपुर विहार काल में ही उनके संघ की माता श्री पार्श्वमतिजी के सान्निध्य में सपत्नी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। आचार्य वीरसागरजी के दर्शन जयपुर में व आचार्य शिव सागरजी के देवलि में तथा आचार्य धर्मसागरजी के जयपुर में ही दर्शन लाभ लेखक को हुए हैं। इन सब आचार्य गणों को सादर वंदना। आ० देशभूषण जी महाराज के दर्शन जयपुर व भीलवाड़ा में तथा ऐलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी के जयपुर में तथा आ० श्रीविमल सागरजी महाराज के जयपुर तथा सम्मेद शिखरजी में दर्शन तथा वंदना के लाभ हुए है– इन सबको भाव सहित बार-बार नमन।

परिशिष्ट—३

दिगम्बर जैन संस्कृति के वैश्विक स्वरूप प्रवाह के संदर्भ में

किसी भी संस्कृति के स्वरूप की उसमें विद्यमान आराध्य, उपास्य और ध्येय से तथा आराधना, उपासना और ध्यान पद्धति और भावना से पहचान स्पष्ट झलक जाती है। क्योंकि यह वह पक्ष हैं जो उस संस्कृति का हृदय है और आत्मा से सम्बन्धित है। इस संस्कृति के इस भारत धरा पर इस युग में आदि पुरस्कर्ता महा श्रमण वीतराग दिगम्बर सर्वज्ञ केवल ज्ञान भास्कर भगवान् ऋसभदेव हिरण्यगर्भ हैं। पर यह संस्कृति सनातन और अनादि कालीन है—वैसे ही जैसे स्वयं आत्म एक अव्यय अजन्मा अनादि निधन नित्य सनातन तत्व है—क्योंकि संबंध स्वयं आत्मा से ही है—ऐसे ही आत्मा की वास्तविकता का तथ्य ही इस संस्कृति का अटल-अचल वज्रवत् मूलाधार है। इसकी चिन्मय सत्ता अति आश्चर्य जनक है। किसी मनीषी ये भावोद्गार सही ही हैं—

"If you have near been amazed by the fact that you exist you are squandering. The greatest fact of all".

आत्मा का अस्तित्व है,—इस तथ्य से यदि तुम कभी आश्चर्याभिभूत नहीं हुए हो तो निश्चम ही तुम एक महत्तम तथ्य को दुर्व्यय (खो) कर रहे हो ।

निर्मल पवित्र रूप परिणत परम आत्मा जिनेश्वर तीर्थङ्कर अर्हंत् महामानव इस संस्कृति में वंद्य हैं—उन्होंने प्रकाश मार्ग को प्रोज्जलित किया, स्वयं चले और मुमुक्षुओं के लिए उस प्रकाश मार्ग पर चलने के लिए ज्योति-पुंज प्रकाश-गृह (Light house) बने । इन्होंने अपना मार्ग स्वयं चलने,—स्वयं ही सत्य को खोजने और आत्म पुरुषार्थ आत्म-शासन आत्म रमण को प्रशस्त करने की प्रेरणा दी । वे न केवल आत्म-शौर्य और पुरुषार्थ के धनी बने । वे तो अप्रतिम रूप से परम अहिंसक, कृपालु और करुणा के ही मूर्तिमान हुए ।

इस युग में वर्तमान काल के इस भारत क्षेत्र में ऋषभनाथ हिरण्यगर्भ से लेकर वर्धमान महावीर तक चतुर्विंशति तीर्थङ्कर परम गुरु व परम प्रभु हुए हैं । यह तो जम्बूद्वीप क्षेत्र सम्बन्धी बात है । इस जम्बू द्वीप के अन्य क्षेत्रों तथा जम्बू द्वीप के अतिरिक्त अन्य-अन्य क्षेत्रों में भी प्रत्येक युग के तीनों काल संबंधी जिनेश्वर प्रभु–यानी परम निर्मल परमात्म अवस्था प्राप्त आत्मायें हुई हैं, हैं और होती ही रहती हैं । प्रत्येक युग के तीनों कालों में चौबीस २ परमात्म दशा प्राप्ति करने वाली आत्मायें हैं । इस विश्व में दस द्वीप और तीन (वर्तमान, अतीत और भविष्यत्) काल के चतुर्विंशति चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थङ्करों की गणना सप्त शत विंशति—अर्थात् १०×३×२४=७२०, ७२०–सात सो बीस सात सो बीस प्रत्येक युग में है और यह अनादि प्रवाह है अर्थात् तीस चौबीसी का होना अनादि प्रवाह है, सत् धर्म रूप सनातन प्रवाह है । ये ही योग का शासन, धर्म का शासन, आत्मा का शासन है । यह विश्व कभी अध्यात्म से खाली नहीं होता—इसके किसी न किसी भाग में जिनेश्वर प्रभु जीवन्त रूप में वर्तमान रहते हैं—तथा कोई काल भी खाली नहीं रहता । इस ही सनातन परमात्म प्रवाह की वंदना इस संस्कृति में इस अलौकिक मंत्र से इस प्रकार है—

"ओं आं क्रों ह्रीं श्रीं अर्हं ऐं सप्त शत विशंति जिनेभ्य: नम:"

यह भाव वंदना है उन सब क्षेत्रों तथा तीन काल सम्बन्धी प्रवाह रूप होने वाले परमेश्वर प्रभुओं की यह समुच्चय वंदना है । ये वंदना क्षेत्र व काल विभागों की होकर भी प्रवाह को ही प्रमुख करके होने से अनादि अखिल लोक व अनादि शाश्वत् (तीन) काल से–यानी विराट् वैश्विक तथा कालातीत प्रवाह सम्बन्धी कालजयी अमृत अमर पवित्र आत्म तत्व की ही है और यह संकेत करती है प्रत्येक मानव के लिए उस विराट् लोकव्यापी और कालजयी अध्यात्म की "एक परिवार" की ही विराट् पवित्र भावना को भी—जो उसमें वस्तुत: है और अति अभिभूत और धन्य कर देने वाली भी है । यही भावना इस संस्कृति में आराधना के लोक पूज्य स्वरूप को प्रकट करती है । यह वेदान्त की—एको ब्रह्म से विलक्षण है । वहां का ब्रह्म लोक–बाह्य है—यहां वह लोक व्यापी और साक्षात् है । लोक व्यापी का यहां अर्थ है सारे ही लोक विभागों में अलग-अलग विद्यमान रहने वाला । यहां उक्त मंत्र का प्रयोग है भावना से मन को उस विराट् परम निर्मल आत्म तत्व से ही—मनन रूप मंत्र के प्रयोग से बांधे रखने का । यहां किसी विराट् से भीख नहीं मांगी जाती–प्रत्येक मानव में स्वयं में ही वही विराट् विद्यमान ही है ।

भावना ही प्रत्येक आराधना का प्राण है, हृदय है। उसकी उत्कृष्टता निर्मलता और विराट्ता अभिभूत करके ग्रन्थि मुक्त करती है और विराट् उत्कृष्ट और पवित्र आत्म तत्व को प्रकट करने के लिए विशेष अंगीभूत होती है, अतः ही इस संस्कृति के अनुपम त्रिरत्नों में सम्यक् श्रद्धा सर्वाग्रणी है। वही उस अलिंग ग्रहण तत्व को साकार रूप में पर्यवसित करती है और फिर निर्विशेष नित्य, परिणामी-अपरिणामी में केन्द्रस्थ भी कर देती है।

दि० जैनों मे पूजा काल में कृत्रिम और अकृत्रिम सब ही लोक तथा सर्व तीन काल में विद्यमान जिनालयों, चैत्यालयों में विराजमान जिन बिम्बों की वंदना तथा पूजार्घ प्रदान किये जाते हैं। यहां जिन बिम्बों से उन सब ही जिनेश्वर बिम्बों का ग्रहण है जो सहज रूप से तथा कृत्रिम रूप से सर्व क्षेत्रों तथा कालो में है, और होगें—यह वंदना उन ध्येय, पुरुषाकार, सकल स्वरूप-बिम्बों की भी है जो अकृत्रिम व सहज रूप से मानव-हृदय-स्थलियों में भी अनादि से अभिव्यक्त होते हैं—हुए हैं और होगें। यह वंदना इस प्रकार प्रत्येक आराधक के अपने हृदय में वर्तमान और अभी तक अव्यक्त निज सकल पुरुषकार या निष्कल पुरुषकार स्वरूप की भी है जो व्यक्त होने की प्रतीक्षा में है। यह इस प्रकार वस्तुतः और मूलतः अपनी ही तो आराथना—अपने ही परम निर्मल चिदानन्द स्वरूप की ही पूजा है।

स्व आत्मा का और सर्वत्र ही समान आत्माओं का जो समान एकत्व भाव इस संस्कृति की पूजा में निहित है वह अनोखा ही भाव है। यह इस संस्कृति के बिराट् और अनुपम भाव-विस्तार को प्रकट करता है। सम दर्शन और समता के इससे ऐसे पवित्र सूत्र प्रवाहित होते हैं जो दुनिया में शांति और अविरोध को प्रतिष्ठित करने को सक्षम है।

यहां इस संस्कृति की आराधना में आराध्यों की नाम गणना करके तथा नाम न गणना करके जो पूजा तथा वंदनाएं की जाती है—वस्तुतः व्यक्ति निष्ठ आदर्श-पुरुष-निष्ठ होकर भी भावतः और वस्तुतः व्यक्ति व पुरुष निष्ठ न होकर स्व भाव निष्ठ, गुण निष्ठ ही हैं। ये तो निस्पृही वीतरागी पवित्र स्वरूप आत्मा की ही है—जो किसी भी क्षेत्र में हों, किसी भी काल में हों।

पंच नमस्कार (णमोकार) मंत्र में परमेष्ठियों की—निर्मल पवित्र अवस्था में परम प्रतिष्ठित स्वरूपो की वंदना है—जो देश व काल निरपेक्ष है—कोई पक्षपात नहीं है सर्व अरिहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व ही साधुओं को जो परमेष्ठी हुए है, हैं और होगें—उनकी वंदना हैं—किसी एक व्यक्ति की वंदना नहीं है। किसी जाति वर्ण लिंग का कोई आग्रह नहीं हैं इसमें। अपने ही सौन्दर्य में प्रतिष्ठित गुणी पुरुषों की व उनके विशिष्ट केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों की वंदना है, पूजा है—भाव के माध्यम से भावोत्तीर्ण होने के लिये। इस संस्कृति के योग मार्ग स्वरूप के साथ-साथ जो संख्यावाद-संख्या प्रसार अतः सांख्य स्वरूप भी जो इसके ज्ञान का प्राचीन और महत्वपूर्ण अंग रहा हैं—उसके भी संकेत हम आगे प्रकट करेगें जो विद्वज्जनों के लिए विचारणीय हैं।

यहां हम प्रथम सप्त शत विंशति जिनेश्वरों के नाम दे रहे हैं—जो इस संस्कृति के अनोखे अंग हैं।

१. जंबूद्वीप भरत क्षेत्र सम्बन्धी (चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. निर्वाणजी २. सागरजी ३ महासाधुजी ४. विमल प्रभजी ५. शुद्धाभजी ६. श्रीधरजी ७ सुदत्तजी ८. अमलप्रभजी ९. उद्धरजी १०. अग्निजी ११. सन्मतिजी १२. शिवजी १३ कुसुमांजलिजी १४ शिवगणजी १५. उत्साहजी १३. ज्ञानेश्वरजी १७ परमेश्वरजी १८. विमलेश्वरजी १९. यशोधरजी २0 कृष्णमतिजी २१. ज्ञानमतिजी २२. शुद्धमतिजी २३. श्रीभद्रजी २४. शान्तिजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. आदिनाथजी २. अजितनाथजी ३. शम्भवनाथजी ४. अभिनन्दननाथजी ५. सुमतिनाथजी ६. पद्मप्रभजी ७. सुपार्श्वनाथजी ८. चन्द्रप्रभजी ९. पुष्पदन्तजी १०. शीतलनाथजी ११. श्रेयोनाथजी १२ वासुपूज्यजी १३. विमलनाथजी १४. अनन्तनाथजी १५. धर्मनाथजी १६. शांतिनाथजी १७. कुंथुनाथज १८. अरनाथजी १९. मल्लिनाथजी २०. मुनिसुव्रतनाथजी २१. नमिनाथजी २२. नेमिनाथजी २३. पार्श्वनाथजी २४. महावीरजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. महापद्मजी २. सुरदेवजी ३. सुप्रभजी ४. स्वयंप्रभजी ५. सर्वायुधजी ६. जयदेवजी ७ उदयदेवजी ८. प्रभादेवजी ९. उदंकदेवजी १०. प्रश्नकीर्तिजी ११, जयकीर्तिजी १२. पूर्णबुद्धजी १३. निकषायजी १४. विमलप्रभजी १५. बहलगुप्तजी १६. निर्मलगुप्तजी १७. चित्रगुप्तजी १८. समाधिगुप्तज १९. स्वयंभूजी २०. कंदर्पजी २१. जयनाथजी २२. विमलनाथजी २३. दिव्यवाक्जी २४. अनंतवीर्यजी

२. जंबूद्वीप ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी (चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बंधी जिनेश्वर

१. पंचरूपजी २. जिनधरजी ३. सांप्रतीकजी ४. उर्ज्जयंतजी ५. अधिज्ञायकजी ६. अभिनन्दनजी ७. रत्नेशजी ८. रामेश्वरजी ९. अंगोत्थितजी १०. विन्यासजी ११. अरोषजी १२. सुविधानजी १३ विप्रदत्तजी १४. कुमारजी १५. सर्वशैलजी १६. प्रभञ्जनजी १७. सोभाग्यजी १८. दिवाकरजी १९ व्रत बिन्दुजी २०. सिद्धकरजी २१. ज्ञानशरीरजी २२. कल्पद्रुमजी २३. तीर्थफलजी २४. वीरमप्रभजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. बालचन्द्रजी २. सुव्रतजी ३. अग्निसेनजी ४. नंदसेनजी ५. श्री दत्तजी ६. व्रतधरजी ७ शोमचन्द्रजी ८. घृतदीर्घजी ९. शतपुष्पकजी (शतायुधजी) १०. शिवशतजी (शिवशांतजी) ११. श्रेयांसज १२. श्रुतिजलजी १३. सिंहसेनजी १४. उपशांतजी १५. गुप्ताशनजी १६. अनन्तवीर्यजी १७. पार्श्वनाथज १८. अभिधानजी १९. मरुदेवजी २०. श्रीधरजी २१। श्यामकंठजी २२. अग्निप्रभजी २३. अग्निदत्तज २४. वीरसेनजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. सिद्धार्थजी २. विमल स्वामीजी ३. जयघोषजी ४. आनन्दसेनजी (नंदिसेनजी) ५. स्वर्ग मंगलजी ६, वज्र धरजी ७ निर्वाणजी ८. धर्मध्वजजी ९. सिद्धसेनजी १०. महासेनजी ११. रविमित्रजी १२ सत्यसेनजी १३. चन्द्रनाथजी १४. महीचन्द्रजी १५. श्रुतांजनजी १६. देवसेनजी १७. सुव्रतजी १८. जिनेन्द्रजी १९. सुपार्श्वजी २०. सुकोशलजी २१. अनंतजी २२. बिमलजी २३. अमृतसेनजी २४. २४. अग्निदत्तजी ।

३. धातकी खंड विजयमेरु भरत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. रत्नप्रभजी २. अमितजी ३. संभवजी ४. अकलंकजी ५. चन्द्रस्वामीजी ६. शुभंकरजी ६. तत्वनाथजी ८. सुन्दरजी ९. पुरंदरजी १०. स्वामीजी ११. देवदत्तजी १२. वासव दत्तजी १३. श्रेयसजी १४. विश्वरूपजी १५. तप्ततेजजी १६. प्रबोधदेवजी १७. सिद्धार्थजी १८ अमलप्रभजी १९. संजमजी २०. देवेन्द्रजी २१. प्रवरनाथजी २२. विश्वसेनजी २३. मेघनंदिजी २४. त्रिनेत्रजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. जुगादिदेवजी २. सिद्धान्तजी ३. महेशनाथजी ४. परमार्थजी ५. वरसेनजी ६. समुद्धरजी ७. भूधरनाथजी ८. उद्योतजी ९. आर्ज्जवजी १०. अभयजी ११. अप्रकंपजी १२. पद्मस्वामीजी १३. पद्मनन्दिजी १४. प्रियंकरजी १५. सुकृतनाथजी १६. भद्रेश्वरजी १७. मुनिचन्द्रजी १८. पंचमुष्टिजी १९. गांगयिकनाथजी २०. गणनाथजी २१. सर्वांगदेवजी २२. ब्रह्मेन्द्रनाथजी ६३. इंद्रदत्तजी २४. दयानाथजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ सिद्धनाथजी २. सम्यग्गुणजी ३. जिनेन्द्रनाथजी ४. संपन्नाथजी ५. सर्वं स्वामीजी ६. मुनिनाथजी ७. विशिष्टजी ८. अद्वितयनाथजी ९. ब्रह्मशांतिजी १०. पर्वंनाथजी ११, अकामुकजी १२. ध्याननाथजी १३. कल्पजिनजी १४. संवरजी १५. स्वच्छनावजी १६. आनन्दनाथजी १७. रविप्रभजी १८. चन्द्रप्रभजी १९. सुनन्दजी २०. सुकर्णजी २१. सुकर्मजी २२ अममजी २३ पार्श्वनाथजी २४. शाश्वतजी ।

४. धातकी खंडपूर्व विजय मेरु ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धा चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. वज्रजी २. उदयदत्तजी ३ सूर्यजी ४. पुरुषोत्तमजी ५. शरणजी ६. अवबोधजी ७. निर्घंटकजी ८. विक्रमजी ९. हरीन्द्रजी १०. परित्रेरितजी ११. निर्वाणसूरजी १२ धर्मधुरंधरजी १३. चतुर्मुखजी १४. सुकृतेन्द्रजी १५. श्रुतांबुधजी १६. विमलादित्यजी १७. देवदेवजी १८. धरणेंद्रजी १९. तीर्थनाथजी २०. उदयानन्दजी ११. सर्वार्थजी २२. धार्मिकजी २३. क्षेत्रस्वामीजी २४. हरिचन्द्रजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. अपश्चिमजी २ पुष्पदन्तजी ३, अरिहंतजी ४. सुचारित्रजी ५. शुद्धनन्दाजो ६. नंदगजी ७ पद्माकरजी ८. उदयनन्दजी ९. रुक्मइंदुजी १०. कृपालजी ११. प्रोष्ठिलजी १२ सिद्धेसुरजी १३. अमृतइन्दुजी १४. स्वामिनाथजी १५. भेनिलांगजी १६. सर्वार्थजी १७. मेघनन्दजी १८. नन्दकेशजी १९. हरिजिनजी २०. अधिष्टजी २१. शांतिकजी २१. नन्द स्वामीजी २३. कुंदपार्श्वजी २४ विरोचनजी।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१. वीरनाथजी २. विजयजी ३. सत्यप्रभजी ४. मृगेन्द्रजी ५. चिंतामणिनाथजी ६. अशोकजी ७. द्विमृगेंद्रजी ८. उपवाशिकजी ९. पद्मचन्प्रजी १०. बोधकइंदुजी ११. चिंताहिमजी १२. उत्साहकजी १३. अपासिकजी १४. जलदेवजी १५. नारिकदेवजी १६. अनिंद्यजी १७. नागेन्द्रजी १८. नीलोत्पलजी १९. अप्रकंपजी २०. पुरोहितजी २१. भिदकनाथजी २२, पार्श्वनाथजी २३. निर्वाच्यजी २४. विरोषिकजी।

५. धातुकी खंड अचल मेरु भरत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ वृषभजी २ प्रियनाथजी ३ शांतिनाथजी ४ सुमति नाथजी ५ आदिजिनजी ६ अतिव्यक्तजी ७ कलासेनजी ४ कर्मजिनजी ९ प्रवुद्धजी १० प्रवृत्ताजी ११ सौधर्मजी १२ तमोदीप्तजी १३ वज्रजी १४ प्रवुद्धनाथजी १५ प्रबधजी १६ अतीतजी १७ सुमुखजी १८ पल्योपमजी १९ अकोपजी २० विष्ठितजी २१ मृगनाथजी २२ देवेंद्रजी २३ पदस्थितजी २४ शिवनाथजी।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ विश्वचन्द्रजी २ कपिलजी ३ वृषभजी ४ प्रियतेजजी ५ विषमांकजी ६ चारित्रजी ७ प्रशमस्वामिजी ७ प्रभादित्यजी ९ मुंजकेशजी १० पीतवासजी ११ सुराधिपजी १२ दयानाथजी १३ सहस्ररश्मिनाथजी १४ जिनसिंहजी १२ रेवतजी (ऐरावत) १६ बाहुजिनजी १७ श्रीमालजी १८ अयोगजी (सुकेशजी) १९ अजोगनाथजी २० कामरिपजी २१ आरंभजी २२ नेमिनाथजी २२ गर्भनाथजी २४ इकाजितजी।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ रक्तकेशजी २ चक्रहस्तजी ३ कृतनाथजी ४ परमेश्वरजी ५ सुमूर्तजी ६ मुक्तिकान्तजी ७ [illegible] ८ प्रशस्तिकजी ९ निराहारजी १० अमूर्तजी ११ द्विजनाथजी १२ श्रेयनाथजी १३ अरुजजी १४ [illegible] १५ दयाधिकजी १६ पुष्पनाथजी १७ नरेशजी १८ प्रतिभूतजी १९ नागेंद्रजी २० तपो-[illegible] २१ [illegible] २२ अरण्यनाथजी २३ दशानीकजी २४ सात्विकजी।

६. [illegible] ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर सम्बन्धी तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

[illegible] ३ कंटभनाथजी ४ प्रशस्तजी ५ निर्दंयांगजी ६ कुलकरजी ७ वर्द्ध

मानजी ८ अमृतेंदुजी ९ संख्यानन्दजी १० कल्पकृतजी ११ हरिनाथजी १२ बाहुस्वामिजी १३ भार्गवजी १४ भद्रदेवजी १५ प्रविपातजी १६ ब्रह्मचारित्रजी १७ विपोपितजी १८ असाक्षिकजी १९ चारित्रसेनजी २० पारिणामिकजी २१ शाश्वतनाथजी २२ निघिनाथजी २३ कौशिकजी २४ धर्मेशजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ साधितजी २ जिनस्वामीजी ३ स्तिमितींद्रजी ४ अत्यानंदजी ५ पुष्पकोत्फुल्लजी ६ मुंडकजी ७ प्रहतजी ८ मदनहिंजी ९ हंशमिंद्रजी १० चन्द्रपार्श्वजी ११ अब्जबोधजी १२ जिनवल्लभजी १३ विभूतजी १४ कुकुप्सजी १५ सुवर्णांशरीरजी १६ हरिवासजी १७ प्रियमित्रजी १८ सुधर्माजी १९ प्रियारत्नजी २० नंदनाथजी २१ अश्वानीकजी २२ पर्वनाथजी २२ पार्श्वनाथजी २४ चितहृदयजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ रवींदजी २ सुकुमालिकजी ३ प्रश्रितवजी ४ कुलरत्नजी ५ धर्मनाथजी ६ शोमजिनजी ७ वरुणेन्द्रजी ८ अभिनन्दजी ९ सर्वनाथजी १० सुदिष्टनाथजी ११ शिष्टजिनजी १२ सुधन्यजी १३ सोमचन्द्रजी १४ क्षेत्राधीशजी १५ सदंतिकजी १६ जयंतजी १७ तमोरिपजी १८ निर्मलजी १९ कृतपार्श्वजी २० बोधलाभजी २१ वहुनंदजी २२ दिष्टस्वामिजी २३ कुंकुमाभजी २४ वक्षेशायजी ।

७. पुष्करार्द्ध द्वीप मन्दिर मेरु भरत सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीन काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ मदनेंद्रजी २ मूर्तस्वामिजी ३ निरागजी ४ प्रलंवितजी ५ पृथ्वीपतजी ६ चारित्रनिधिस्वामीजी ७ अपराजितजी ८ सुवोधकजी ९ बुद्धेशजी १० वेतालिकजी ११ त्रिमुष्टजी १२ मुनिवोधकजी १३ तीर्थस्वामीजी १४ धर्माधीशजी १५ धरणेशजी १६ प्रभावजी १७ अनादिदेवजी १८ अनादि प्रभजी १९ सर्वतीर्थजी २० निरूपमजी २१ कुमारजी २२ बिहारग्रहजी २३ धारणेश्वरजी २४ विकाशजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ जगन्नाथजी २ प्रभाशजी ३ सूरस्वामीजी ४ भरतेशजी ५ दीर्घाननजी ६ विजातकीर्त्तिजी ७ अवशानजी ८ प्रबोधनजी ९ तपोनिधजी १० पावकजी ११ त्रिपुरेशजी १२ सौगतजी १३ श्रीवासजी १४ मनोहरजी १५ शुभकर्मजी १६ इष्टसेवकजी १७ अमलेंद्रजी १८ धर्मवासजी १९ प्रशादजी २० प्रभामृगांकजी २१ अकलंकजी २२ स्फटिकप्रभजी २३ गनेंद्रजी २४ ध्यानजिनजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ बसंतध्वजी २ त्रिजयतजी ३ त्रिस्थंभजी ४ परमब्रह्मजी ४ अवालीशजी ६ प्रवादिकजी ७ भूमानंदजी ८ त्रिनयनजी ९ विद्वेषजी १० परमात्मप्रसंगजी ११ भूमीन्द्रजी १२ गोस्वामीजी १३ कल्याण प्रवाशितजी १४ मंडलेशजी १५ महाबासवजी १६ तेजउदयजी १७ दिव्यज्योतिषजी १८ प्रबोधितजी १९ अभयंकरजी २० प्रमितजी २१ दिव्यस्फारकजी २२ व्रतस्वामीजी २३ निधिनाथजी २४ निष्कर्मकजी ।

८. पुष्करार्द्ध द्वीप मंदराचल ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ कृतनाथजी २ उत्तबिष्टजी ४ आदितदेवजी ४ अस्थानिकजी ५ प्रचंद्रजी ६ वेणुकजी ७ त्रिभानुजी ८ ब्रह्मब्रह्मजी ९ वज्रांगजी १० अविरोधनजी ११ अपापजी १२ लोकोत्तरजी १३ जलाधिशेषजी १४ विद्योतितजी १५ सुमेरजी १६ भावितजी १७ बच्छलजी १८ जिनालयजी १९ तुषारजी २० भुवनेशजी २१ सुकामजी २२ देवाधिदेवजी २३ आकारिमजी २४ विनीतजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ शंकरजी २ अक्षवासजी ३ नग्नजी ४ नग्नाधिपजी ५ नष्टपाखंडजी ६ स्वप्नबोधजी ७ ८ पुष्पकेत ९ धार्मिकजी १० चंद्रकेतजी ११ वीतरागजी ०२ अनुरक्तजी १३ उद्योतकजी १४ तमोपेक्षजी १५ मधुनाथजी १६ मरूदेवजी १७ दममजी १८ वृषभेसुरजी १९ शिलानतजी २० विश्वनावजी २१ महेंद्रजी २२ नंदजी २३ तमोनिभजी २४ ब्रह्मधारणजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ यशोधरजी २ सुकृतजी ३ अभयघोपजी ४ निर्वाणजी ५ व्रतवासजी ६ अतिराजजी ७ अश्वजिनजी ८ अर्जुनजिनजी ९ तपश्चंद्रजी १० शारीरिकजी ११ महेश्वरजी १२ सुग्रीवजी १३ दृढ प्रहारजी १४ दयानीतजी १५ अंबरीषजी १६ तुम्वरजी १७ सर्वशीलजी १८ प्रतिजातकजी १९ जितेंद्रयजी २० तपादित्यजी २१ रत्नकिरणजी २२ दिवेशजी २३ लांछनाथजी २४ सुप्रदेशजी ।

९. पुष्करार्द्ध द्वीप विद्युन्मालि मेरु भरत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विशतिजिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ पद्मचन्द्रजी २ रत्नांगजी ३ अजोगजी ३ सिद्धार्थजी ५ कृषनाथजी ६ हरिचन्द्रजी ७ गुणाधिपजी ८ पारित्रकजी ९ ब्रह्मनाथजी १० मुनिचन्द्रजी ११ कुलदीपकजी १२ राजऋषिजी १३ यिशाखजी १४ आनंदितजी १५ रविस्वामीजी १६ सोमदत्तजी १७ जयस्वामीजी १८ मोक्षनाथजी १९ अग्रभानजी २० धनुषांगजी २१ मुक्तनाथजी २२ रोमांचजी २३ प्रसिद्धनाथजी २२ दिनेशस्वामीजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ सर्वांगस्वामिजी २ विद्युत्प्रभाजी ३ पद्मकरजी ४ वलनाथजी ५ जोगीश्वरजी ५ सूक्ष्माङ्गजी ७ चलातीतजी ८ कलंवकछी ९ परित्यागजी १० निषेधकजी ११ पापप्रहारकजी १२ मुक्तिचन्द्रजी १३ अप्रकाशजी १४ जयचन्द्रजी १५ मलधारिजी १६ सुसंजतजी १७ मलयसिन्धुजी १८ अक्षधरजी १९ धरजी २० गणाधिपजी २१ अकामिकजी २२ विनीतजी २३ वीतरागजी २४ रतानंदजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ प्रभावकजी २ विनतेंद्रजी ३ सुभावकजी ४ दिनकरजी ५ अनंगतेजजी ६ धनदत्तजी ७ पौरवजी ८ जिनदत्तजी ९ पार्श्वनाथजी १० मुनिसिंहजी ११ अस्तकजी १२ भवनिकजी १३ नृपनाथजी

१४ नारायणजी १५ प्रशमीकजी १६ भूपतजी १७ सुदिष्टजी १८ भवभीरुकजी १९ नन्दनजी २० भार्गवजी २१ वासवजी २२ परवासजी २३ वनवासिजी २४ भरतेशजी।

१०. पुष्करार्द्ध द्वीप विद्युन्माली ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ उपशांतिजी २ फाल्गुजिनजी २ पूर्वाशजी ४ सुन्दरजी ५ गौरवजी ६ त्रिविक्रमजी ७ नरसिंहजी ८ मृगवासजी ९ शोभजी १० शुद्धांवरजी ११ अपापजिनजी १२ विवाधजी १३ सांविकजी १२ मांधात्रजी १५ अश्वतेजजी १६ विद्याधरजी १७ सुलोचनजी १७ मौननिधजी १९ पुंडरीकजी २० चित्रगणजी २१ मुनींद्रजी २२ सर्वकलजी २३ भूरिश्रवजी २४ पुष्पांगजी।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ गांगेयकजी २ मल्लवासजी ३ भीमजी ४ दयानाथजी ५ भद्रनाथजी ६ स्वामिजिनजी ७ हनिकजी ८ नंदघोषजी ९ रूपवीजजी १० वज्रनाभजी ११ संतोषजी १२ सुधर्मजी १३ फनीश्वरजी १४ वीरचन्दजी १५ मेधानीकजी १६ स्वच्छनाथजी १७ कोपक्षयजी १८ अकामजी १९ धर्मधामजी २० सुक्तसेनजी २१ क्षेमंकरजी २२ दयानाथजी २३ कीर्तपायजिनजी २४ शुभकरजी।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ अदोषजी २ वृषभजी ३ विनयानंदजी ४ मुनिभारतजी ५ इंद्रकजी ६ चंद्रकेतजी ७ ध्वजादित्यजी ८ वस्तुबोधकजी ९ मुक्तगतजी १० धर्मबोधकजी ११ देवाङ्गजी १२ मारीचजी १३ जीवनाथजी १४ जशोधरजी १५ गौतमजी १६ मुनिसुद्धजी १७ प्रबोधकजी १८ सदानीकजी १९ चारित्रवाथजी २० सदानन्दजी २१ वेदार्थजी २२ सुधानीकजी २३ ज्योतिमूर्तजी २४ सुरार्घजी।

जैन परम्परा काल को एक चक्र की भांति ऊपर नीचे घूमते हुए मानते हैं। अतः काल का ऊपर उठता भाग उत्सर्पिणी और नीचे जाता भाग अवसर्पिणी होता है—अर्थात् काल गति में उत्थान भी है और पतन भी है—यानी तब प्राणी जगत् की विवर्धमान गति और हीनमान गति लक्षित होती है। इन प्रत्येक दो विभागों के ६-६ भेद लक्षित किये गये हैं। इस प्रकार अवसर्पिणी के पहले तीन काल विभागों में उत्तम मध्यम और जघन्य भोग भूमि रहती है। चौथे काल में कर्म भूमि की रचना आती है। इस काल में केवल ज्ञान उत्पन्न होता है और मुक्ति भी संभव होती है। तीर्थङ्कर जिनेश्वरों का विहार होता है। पंचम तथा छठा काल ह्रास वहीनता का समय रहता है क्योंकि इस काल में चक्र नीचे घूमता है। उत्सर्पिणी में उसी प्रकार फिरवृद्धि होती जाती है। इस प्रकार अनादि शाश्वत् ध्रुवकाल की वतंमानता इस अनादि संसार में होती रहती है। पर्यायें उदित होती है और व्यय होती है—उनका ही एक प्रवाह—एक सतत् सन्तति रहती हैं—यह सृष्टि तथा लय-प्रलय का स्वरूप है। विदेह भूमियों में सर्वथा चोथा काल वर्तमान रहने से सदा ही तीर्थङ्कर प्रभु वहां विद्यमान हैं और वर्तमान में जीवन्त सीमन्धर महाप्रभु का शासन है।

सांख्य ज्ञान के प्रणेता महर्षि कपिल कहे जाते है । सांख्य अर्थात् जिसमें संख्या विस्तार सहित ज्ञान की प्ररूपणाएं है । भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव से पूर्व इस युग में भारत धरा पर कोई भी योगीश्वर व ज्ञानी पुरुष नहीं हुआ । योगों के सम्बन्ध में वे हिरण्यगर्भ एवं ज्ञान व संख्यावाद के संवंध में वे ही कपिल वर्ण के कारण कपिल भी कहे जाते हैं—ऐसा प्रतीत होता है और संकेत भी है ।

इस में प्राचीन सांख्य ज्ञान के अतिरिक्त संख्याओं में इस परम्परा में यंत्र-तंत्र विद्या का भी आविर्भाव हुआ । इसके ही ज्ञान व तत्वों की संख्या का ऐसा महात्म्य रहा है—यथा चौतींस के तथा तीस के यंत्रों का कथन क्रमशः इस प्रकार है :—

एक नगर, चौदह कोट चार चौधरी, पन्द्रह गुवाल ।
आठ की खेती, ग्वारह का भाव, पांच पटेल, दस महान् ।।
तेरह मेहता, दो सुजान, सोलह जाजम, तीन दीवाण ।।
बारह बाजा, सात दरवाजा, नो नहिं तो छः का छः ।।

तथा—

भावना सोलह, पदार्थ नो, कषाय चार, पंच महाव्रत ।
तीन रत्न षट्काय, प्रमाद पन्द्रह छोड़िये ।
धर्म दस, तेरह चारित्र, अनुप्रेक्षा बारह ।।
एक सम्यक्त्व सिद्ध गुण आठ हिरदै मांहि धारिये ।
नय दोय, सप्त व्यसन तजि गुण स्थान चौदह प्रतिमा ग्यारह का भाव पालिये ।।

जिस प्रकार मंत्राधिकार में अक्षरों (बीजाक्षरों का प्रयोग होता है । वैसे ही यंत्राधिकार में अंकों तथा संख्याओं के प्रयोग हैं तथा दोनों ही विधाओं में प्रयोगकर्त्ता का संकल्प बल ही विशेष कार्य कर होता है । जो मनुष्य जिस प्रकार देह व्याधियों में औषधियों का तथा मानसिक वा मनोवैज्ञानिक हीनता या दुर्बलता में मंत्रादि का अथवा रत्न-मणि आदि के धारण का आश्रय लेते हैं,— वैसे ही यंत्रादि का भी प्रयोग तथा आश्रय है ।

इनके आध्यात्मिक मूल्य कम और लौकिक प्रयोजन ही अधिक हैं—मगर मानव का देह तथा मन व चित्त व्यवहार-जीवन के लिए आधार है अत. इन स्तरों को स्वस्थ, शुद्ध और स्फूर्तिमय साधनों की भी अपेक्षा संसार स्थ मानवों को सदा से रही है और इस अर्थ में यंत्रादि के प्रयोगों की भूमिका मंत्र मणि और औषधियों की तरह हैं । इसके अतिरिक्त मंदिरों व चैत्यालयों में मूर्ति प्रतिष्ठा के साथ यंत्र प्रतिष्ठा भी साथ-साथ की जाती है जो इनकी महत्ता अपेक्षा और उत्कृष्टता को बताने के लिए पर्याप्त है । बहुत से यंत्र तो मात्र अंक संख्या वाले ही होते हैं, बहुत से यंत्रों में मंत्राक्षरों को भी गर्भित किया जाता हैं । यंत्र चैत्यों में श्री जी के सामने रखे जाते हैं और बहुत से यंत्र ऐसे भी है जो मानव-

व्यक्ति देह पर विभिन्न अंगों पर धारण भी करते हैं। चैत्यों दे /यंत्र प्रतिष्ठा यंत्र होते है। वैसे राजगृहों राजकिलों पुर द्वारों पर भी यंत्रों के उत्कीर्ण करने की परम्परा रही है।

यंत्र निर्माण की विधि का श्लोक विद्यानुवाद में इस प्रकार आया है—

९ १६ ७ ८
इच्छा कृतार्द्धकृत रूप हीनं। धने गृहे, षोडश, सप्त चाष्टौ।
१५ १० १ २ ७ ६ ३ १ ४ ५
विधि दशमें प्रथमे च कोष्ठे। द्वि, सप्त षट् त्रि, कु वेद वाण।।

अर्थात्—जिस संख्या का यंत्र इच्छित हो, उस संख्या को अर्ध कर दें, उसमें से एक-एक को कम कर दें। इसे एक कोष्ठ को हीन (कम) करके अगले कोठे में लिख दें। अब प्रत्येक संख्या को एक-एक कम करके लिखना होगा और उनका क्रम धन गृह ९ वां कोठा तथा आगे २ के एक-एक कम की हुई संख्या को क्रमशः १६ वें कोष्ठे, ७ वें कोष्ठे, ८ वें कोष्ठे फिर १५ वें कोष्ठे में लिखते चले जाएं। तथा फिर १० वें कोष्ठे में लिख दें। अब जो कोष्ठे खाली रहे उनमें क्रमशः १, ७, ६, ३, ८, १, ४, ५ लिख दें। बस यंत्र पूरा हो गया। तीस चौबीस चौसठ आदि किसी भी संख्या के सोलह कोष्ठे वाले यंत्र इसी विधि से लिखे जा सकते हैं। सब सोलह कोष्ठे यंत्रों की यह एक ही विधि है। यंत्र निर्माण व लिखने या उत्कीर्ण करने की कई विधियां है।

अलग-अलग यंत्रों के धारण के फल अलग-अलग हैं। ऊपर तीस चौबीस के यंत्रों में संख्याओं से जैन तत्वों को संकेत रूप से ही कह दिया गया है। तत्व-सांकेतिक संख्याओं को धारण की ही महिमा है तो जो पुण्य शील व्यक्ति इन तत्वों को स्वयं अपने अन्तर में आचरित करते हैं और सदा धारण करते हैं वे तो अपने आपको धन्य ही कर लेते हैं। अष्ट सिद्ध गुणों को ही वे धारण करने वाले कालांतर में क्यों न हो जायेगें ?

(३) दिगम्बर श्रमण परम्परा में १६९ पुण्यात्मा पुरुष :—इस काल में इस परम्परा में १६९ पुण्यात्मा पुरुष हुए। इनमें से बहुतों ने उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति की और बहुत से शीघ्र आगे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इनमें १०६ पुरुष तो पुण्यात्मा ही हैं। बाकी ६३ पुरुष शलाका पुरुष हैं। इनमें १०६ पुरुषों के पद इस तरह बनाये गये हैं—

(१) कुल कर—१४।

(२) २४ तीर्थङ्कर देवों की २४ माता व २४ पिता—कुल मिला कर ४८ व्यक्ति।

(३) २४ काम देव।

(४) ११ रुद्र।

(५) ९ नारद।

नौ नारदों ने जिन मत का श्रद्धान कारण किया था—सम्यग्दर्शन भी प्राप्त किया था। पर वे समय पर मोक्ष को प्राप्त न कर सके।

६३ शलाका पुरुषों के पद इस प्रकार है—

(१) चौबीस तीर्थङ्कर

(२) बारह चक्रवर्ती

(३) नौ नारायण

(४) नौ प्रतिनारायण

(५) नौ बल भद्र

चौदह मनु-कुल करों के नाम ये हैं–(१) प्रतिश्रुति (२) सन्मति (३) क्षेमंकर (४) क्षेमंधर (५) सीमंकर (५) सीमंधर (७) विमल वाहन (८) चक्षुष्मान (९) यशस्वी (१०) अभिचन्द्र (११) चन्द्राभ (१२) मरुदेव (१३) प्रसेन जित (१४) नाभि।

नाभि महाराज के ऋषभ तीर्थङ्कर मनु हुए तथा अन्तिम सौलहवें मनु उनके पुत्र भरत बारह चक्रवर्ती :—

(१) भरत चक्रवर्ती (२) सागर चक्रवर्ती (३) मधवा चक्रवर्ती (४) सनत्कुमार चक्रवर्ती (५) शान्तिनाथ चक्रवर्ती (६) कुंथुनाथ चक्रवर्ती (७) अरहनाथ चक्रवर्ती (८) सुभौम चक्रवर्ती (९) महा पद्म चक्रवर्ती (१०) हरिषेण चक्रवर्ती (११) जय चक्रवर्ती (१२) ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

इनमें शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ चक्रवर्ती होने के अतिरिक्त तीर्थङ्कर भी रहे है। इन बारह चक्रवर्तियों में मधवा व सनतकुमार ने स्वर्ग गति प्राप्त की तथा शेष में सुभौम व ब्रह्मदत्त के अतिरिक्त सब ने मोक्ष प्राप्त की।

भ० ऋसभदेव के समय भरत चक्रवर्ती हुए। भ० अजितनाथ के समय सगर चक्रवर्ती हुए। भ० शांतिनाथ से पूर्व मधवा व सनत्कुमार चक्रवर्ती हुए। शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरहनाथ—ये तीनों अपने-अपने तीर्थङ्करत्व के समय के ही चक्रवर्ती सम्राट हुए। भ० मल्लिनाथ के समय सुभौम चक्रवती हुए। भ० मल्लिनाथ अ मुनिसुब्रत नाथ के बीच के समय में महापद्म चक्रवतीं हुए। भ० मुनिसुब्रत व नमिनाथ के वीच के समय में हरिषेण चक्रवर्ती हुए। नमि प्रभू और नेमनाथ प्रभु के समय के बीच में जय चक्रवर्ती हुए। भ० नेमनाथ और पार्श्वनाथ प्रभु के बीच के काल में ब्रह्मदत्त चक्री हुए।

ये सभी चक्री ६ खंड पृथ्वी के स्वामी होते हैं। एक भरत खंड व पांच ~~स्वेच्छ~~ म्लेच्छ खंड के राजा होते हैं।

म्लेच्छ

(१) बल भद्र—ये ९ हुए हैं। नाम हैं—(१) विजय (२) अचल (३) धर्म (४) सुप्रभ (५)

सुदर्शन (६) नन्दी (७) नन्दि मित्र (८) राम (९) पद्म (बलराम या बलदाऊ)। इनमें पहले ८ ने मुक्ति प्राप्त की व ९ वें ने स्वर्ग प्राप्त किया।

(२) नारायण—ये ९ हुए। नाम हैं—(१) त्रिपृष्ठ (२) द्वि पृष्ठ (३) स्वयम्भु (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुषसिंह (६) पुंडरीक (७) दत्त (८) लक्ष्मण नारायण (९) कृष्ण नारायण।

(३) प्रति नारायण—ये भी ९ हुए। नाम हैं—(१) अश्वग्रीव (२) तारक (३) मेरक (४) मधु कैटभ (५) निशुम्भ (६) बलि (७) प्रहरण (८) रावण (९) जरासिंधु।

नारायण व प्रतिनारायण भरत खंड (आर्य खंड) के व दो इसी से लगे मलेच्छ खंड के—इस प्रकार तीन खण्ड पृथ्वी के शासक होते हैं। पहले प्रतिनारायण होता है—उसका संहार कर नारायण राज्य करते हैं।

तीर्थंकर चौबीस तीर्थङ्कर ऋषभादि के नाम पहले ऊपर आ चुके हैं।

रुद्र—ये ११ हुए हैं। नाम है—(१) भीम बली (२) जितशम्भु (३) रुद्र (४) वैश्वानर (५) सुप्रतिष्ट (६) अचल (७) पुंडरीक (८) अजितंधर (९) अजित नाभि (१०) पीठ (११) सात्यकि पुत्र।

ये रुद्र तीर्थङ्करों के समय में होते हैं। ये ११ रुद्र भव्यात्मा ही होते है और कालांतर में नियम से मोक्ष जाते हैं।

नारद—ये ९ हुए हैं। इनके नाम है—(१) भीम (२) महा भीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महा काल (७) दुर्मुख (८) नरक मुख (९) अधोमुख। ये अटल ब्रह्मचर्य के धारी व भव्यात्मा होते हैं। ये भी कालांतर में मोक्ष जाते हैं।

कामदेव—ये २४ हुए हैं। (१) बाहूबलि (२) अमिततेज (३) श्रीधर (४) दश भद्र (५) प्रसेन जीत (६) चन्द्रवर्ण (७) अग्नि मुक्ति (८) सनत्कुमार चक्रवर्ती (९) वत्सराज (१०) कनकप्रभ (११) सेध वर्ण (१२) शान्तिनाथ तीर्थङ्कर (१३) कुंथुनाथ तीर्थङ्कर (१४) अहरनाथ तीर्थङ्कर (१५) विजयराज (१६) श्रीचन्द्र (१७) राजा नल (१८) हनुमान (१९) बल राजा (२०) वसुदेव (२१) प्रद्युम्न (२२) नाग कुमार (२३) श्रीपाल (२४) जम्बू स्वामी।

ये भव्य जीव थे। इनमें कई तद्भव मोक्ष गामी हुए और कई कालांतर में मोक्ष को प्राप्त करेगें। इन की सुन्दरता अनुपम थी और महान् पुण्यात्मा थे।

इस प्रकार २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्री, ९ नारायण, ९ प्रति नारायण तथा ९ बलभद्र मिलकर ६३ शलाका के पुरुष हुए है।

भ० तीर्थङ्करों के माता पिता आदि सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बातें इस प्रकार है। ये सब क्षत्रिय कुलोत्पन्न बलवान्, शूरवीर पुरुषार्थी थे तथा साथ ही अत्यन्त करुणा दया तथा अहिंसा से प्रपूरित थे।

(१) **ऋषभनाथ**—नगरी-अयोध्या नगरी। माता का नाम-मरुदेवी। पिता का नाथ-नाभि महा राजा। गर्भ तिथि-आषाढ़ बुदी २। जन्म तिथि-चैत्र कृष्ण-९। तप तिथि-चैत्र कृ-९। ज्ञान तिथि-फाल्गुन कृ-११। निर्वाण तिति-माघ कृ-१४। कुल-क्षत्रिय इक्ष्वाकु या सूर्य वंश। निर्वाण स्थान-कैलाश गिरि (हिमालय)। चिन्ह-वृषभ।

(२) **अजितनाथ**—नगरी-साकेत नगरी। माता का नाथ म-विजया। पिता का नाम-जितशत्रु। गर्भ तिथि-ज्येष्ट कृ-३०। जन्म तिथि-माघ शुक्ला १०। तप तिथि-माघ शुक्ला १०। ज्ञान तिथि-पौष शुक्ला १०। निर्वाण तिथि-चैत्र शुक्ला ५। कुल-क्षत्रिय इक्ष्वाकु सूर्य वंश। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-हाथी।

(३) **शंभव नाथ**—नगरी-श्रावस्ती नगरी। माता का नाम-सुसेना। पिता का नाम-जितारी। गर्भ तिथि-फाल्गुन शुक्ला ८। जन्म तिथि-मंगशिर शुम्ला १५। तप तिथि-मंगशिर शुक्ला १५। ज्ञान तिथि-कार्तिक कृष्ण १४। निर्वाण तिथि-चैत्र शुक्ला ८। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-अश्व।

(४) **अभिनन्दन**—नगरी-साकेत नगरी। माता का नाम-सिद्धार्था। पिता का नाम-संवर। गर्भ तिथि-वैसाख शुक्ला ८। जन्म तिथि-माघ शुक्ला १२। तप तिथि-माघ शुक्ला १२। ज्ञान तिथि-पौष शुक्ला १५। निर्वाण तिथि-वैसाख सुदी ६। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-मर्कट।

(५) **सुमत्तिनाथ**—नगरी-साकेत नगरी। माता का नाम-मंगला। पिता का नाम-मेघ प्रभ। गर्भ तिथि-श्रावण शुक्ला २। जन्म तिथि-श्रावण शुक्ला ११। तप तिथि-वैसाख शुक्ला ९। ज्ञान तिथि-चैत्र शुक्ला ११। निर्वाण तिथि-चैत्र शुक्ला ११। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-चकवा।

(६) **पद्मप्रभ**—नगरी-कौशाम्बी नगरी। माता का नाम-सुसीमा। पिता का नाम-धरण। गर्भ तिथि-माघ कृष्ण ६। जन्म तिथि-आसोज कृष्ण १३। तप तिथि-कार्तिक कृष्ण १३। ज्ञान तिथि-चैत्र शुक्ला १५। निर्वाण तिथि-फाल्गुन ४। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-कमल।

(७) **सुपार्श्वनाथ**—नगरी-बनारस नगरी। माता का नाम-पृथ्वी। पिता का नाम-सुप्रतिष्ठित। गर्भ तिथि-भाद्रपद शुक्ला ६। जन्म तिथि-जेष्ठ शुक्ला १२। तप तिथि-जेष्ठ शुक्खा १२। ज्ञान तिथि-फाल्गुन कृष्णा ६। निर्वाण तिथि-फाल्गुन कृष्णा ७। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह-स्वस्तिक।

(८) **चन्द्रप्रभ**—नगरी-चन्द्रपुरी। माता का नाग-लक्ष्मणा। पिता का नाम-महासेन। गर्भ तिथि–चैत्र कृष्ण ५। जन्म तिथि–पौष कृष्ण ११। तप तिथि–पौष कृष्ण ११। ज्ञान तिथि–फाल्गुन कृष्ण ७। निर्वाण तिथि–फाल्गुन शुक्ला ७। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–चन्द्रमा।

(९) **पुष्पदन्त स्वामी**—नगरी–काकन्दी नगरी। माता का नाम–रामा। पिता का नाम–सुग्रीव। गर्भ तिथि–फाल्गुन कृष्णा ९। जन्म तिथि–मंगशिर शुक्ला १। तप तिथि–मंगशिर शुक्ला १। ज्ञान तिथि–कार्तिक शुक्ला २। निर्वाण तिथि–भादवा शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–मगर।

(१०) **शीतलनाथ**—नगरी–भद्दलपुरी। माता का नाम–नन्दा। पिता का नाम–दृढ़रथ। गर्भ तिथि–चैत्र कृष्णा ८। जन्म तिथि–माघ कृष्णा १२। तप तिथि–माघ कृष्णा १२। ज्ञान तिथि–पौष कृष्णा १४। निर्वाण तिथि–आसोज शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–श्री वृक्ष।

(११) **श्रेयांस नाथ**—नगरी–सिंहपुरी। माता का नाम–वेणुदेवी। पिता का नाम–विष्णु गर्भ तिथि–जेष्ठ कृष्णा ६। जन्म तिथि–फाल्गुन शुक्ला ११। तप तिथि–फाल्गुन कृष्णा–११। ज्ञान तिथि–माघ कृष्णा ३०। निर्वाण तिथि–श्रावण शुक्ला १५। निर्वाण स्थल–सम्भेद शिखर। चिन्ह–गैंडा।

(१२) **वासुपूज्य**—नगरी–चम्पापुर। माता का नाम–विजिया। पिता का नाम–वसुपूज्य। गर्भ तिथि–आषाढ़ कृष्णा ६। जन्म तिथि–फाल्गुन शुक्ला १४। तप तिथि–फाल्गुन कृष्णा १४। ज्ञान तिथि–भादो कृष्णा २। निर्वाण तिथि–भादो शुक्ला १४। निर्वाण स्थल–चम्पापुर। चिन्ह–भैंसा।

(१३) **विमलनाथ**—नगरी–कम्पिला नगरी। माता का नाग–जयशामा। पिता का नाम–कृतवर्मा। गर्भ तिथि–जेष्ठ कृष्णा १०। जन्म तिथि–माघ शुक्ला १४। तप तिथि–माघ शुक्ला ४। ज्ञान तिथि–माघ शुक्ला ६। निर्बाण तिथि–आषाढ़ कृष्णा ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सूअर।

(१४) **अनन्त नाथ**—नगरी–अयोध्या नगरी। माता का नाम–शर्वयशा। पिता का नाम–सिंहसेन। गर्भ तिथि–कार्तिक कृष्णा १। जन्म तिवि–जेष्ठ कृष्णा १२। तप तिथि–जेष्ठ कृष्णा १२। ज्ञान तिथि–चैत्र कृष्णा ३०। निर्वाण तिथि–चैत्र कृष्णा ३०। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सेही।

नोट :—(१) भ० श्री ऋषभदेव से लेकर भ० श्री अमन्त नाथ तक सब तीर्थंकर प्रभु-क्षत्रिय कुल-सूर्य वंश में ही उत्पन्न हुए हैं। इनके अतिरिक्त शान्तिनाथ, मल्लिनाथ तथा नमिनाथ तीर्थंकर भी क्षत्रिय कुल–सूर्य वंश यानि इक्ष्याकु वंश में ही हुए हैं। मुनि सुव्रत तथा नेमनाथ यादव वंशी क्षत्रिय कुल में, धर्मनाथ, कुंथुनाथ व अरहनाथ क्षत्रिय कुरु वंश में, पार्श्वनाथ व महावीर प्रभु नाथ ज्ञातृ क्षत्रिय वंश में जन्मे थे।

(२) भ० ऋषभनाथ ही एक मात्र कैलास गिरि से मोक्ष गये। तथा भ० वासुपूज्य व

नेमिनाथ तथा महावीर से अन्य सब शेष तीर्थंकर,–सम्मेद शिखर गिरी यानि पार्श्वनाथ पहाड से हीं मोक्ष गये हैं। भ० वासुपूज्य चम्पापुर से भ० नेमिनाथ उर्ज्जयन्त गिरि (गिरनार पहाड़) से तथा भ० महावीर पावा नगरी या पावापुर से मोक्ष गये हैं।

(३) इन चौबीस तीर्थङ्करों में शान्तिनाथ, कुंथुनाथ तथा अरहनाथ तीनों ने तीर्थङ्करत्व मे पूर्व चक्रवर्ती राज्य पद पर शासन भी किया। बाकी सब अन्य तीर्थंङ्कर लोक-मंडलोके मंडलेश्वर-अधिपति या राजा थे। इनमें से वासुपूज्य प्रभु ने, मल्लिनाथ प्रभु ने तथा नेमनाथ प्रभु, पार्श्वनाथ प्रभु तथा महावीर प्रभु ने अपने राज्य भोग से पूर्व ही दिगम्बर प्रवृज्या ग्रहण कर ली थी।

(४) इन चौबीस तीर्थङ्करों में—भ० ऋषभदेव, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ के जीव सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग से चय कर आये थे। तथा पद्मप्रभ–उत्तम ग्रैयेवक, सुपार्श्वनाथ मध्यम ग्रैयेवक, संभवनाव–अधो ग्रैयेवक तथा अरहनाथ–उपरिम ग्रैयेवक स्वर्गो से चय कर आये थे। भ० अजितनाथ, अभिनन्दन विजय वि० से चय कर आये। सुमतिनाथ प्रभु का जीव जयन्त वि० से तथा चन्द्रप्रभु का जीव वैजयन्त से चय कर आया था। पुष्पदन्त प्रभु आरण से आये। शीतलनाथ अच्युत से, तथा श्रेयांसनाथ, अनन्तनाथ तथा महावीर प्रभु पुष्पोत्तर से आये थे। वासुपूज्य महाशुक्र से, विमलनाथ शतार से मल्लिनाथ व नमिनाथ अपराजित से तथा नेमनाथजी अपराजित से चय कर यहां उत्पन्न हुए थे। श्री मुनि सुव्रत प्रभु आनत से चय कर आये और श्री पार्श्वनाथ प्रभु ने प्राणत से आकर जन्म लिया था।

(१५) धर्मनाथ—नगरी–रत्नपुर। माता का नाम–सुव्रता। पिता का नाम–भानु नरेश। गर्भ तिथि–वैसाख शुक्ला १३। जन्म तिथि–माघ शुक्ला १३। तप तिथि–माघ शुक्ला १३। ज्ञान तिथि–पौष शुक्ला १५। निर्वाण तिथि–जेष्ठ शुक्ला ४। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–वज्र।

(१६) शांतिनाथ—नगरी–हस्तिनागपुर। माता का नाथ–ऐरा देवी। पिता का नाम–विश्वसेन। गर्भ तिथि–भाद्रपद कृष्णा ७। जन्म तिथि–जेष्ठ शुक्ला १२। तप तिथि–जेष्ठ कृष्णा १४। ज्ञान तिथि–पौष शुक्ला ११। निर्वाण तिथि–जेष्ठ कृष्णा १४। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–मृग।

(१७) कुंथुनाथ—नगरी–हस्तिनागपुर। माता का नाम–श्रीमती देवी। पिता का नाम–सूर्यसेन। गर्भ तिथि–श्रावण कृष्णा १०। जन्म तिथि–वैसाख शुक्ला १। तप तिथि–वैसाख शुक्ला ६। ज्ञान तिथि–चैत्र शुक्ला ३। निर्वाण तिथि–वैसाख शुक्ला १। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–अज (बकरा)।

(१८) अरहनाथ— नगरी–हस्तिनागपुर। माता का नाम–मित्रा। पिता का नाम–सुदर्शन। गर्भ तिथि–फाल्गुन शुक्ला ३। जन्म तिथि–मंगशिर शुक्ला १४। तप तिथि–मंगशिर शुक्ला १०। ज्ञान तिथि–कार्तिक शुक्ला १२। निर्वाण तिथि–चैत्र कृष्णा ३०। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–मत्स्य।

(११) **मल्लिनाथ**—नगरी–मिथिलापुरी। माता का नाम–प्रभावती। पिता का नाम–कुम्भ। गर्भ तिथि–चैत्र शुक्ला १। जन्म तिथि–मंगशिर शुक्ला ११। तप तिथि–मंगशिर शुक्ला ११। ज्ञान तिथि–पौष कृष्णा २। निर्वाण तिथि–फाल्गुन शुक्ला ५। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–कलश।

(२०) **मुनिसुव्रत**—नगरी–राजगृह। माता का नाम–पद्मा। पिता का नाम–सुमित्र। गर्भ तिथि–श्रावण कृष्णा २। जन्म तिथि–आसोज शुक्ला ११। तप तिथि–वैसाख कृष्णा १०। ज्ञान तिथि–वैसाख कृष्णा ९। निर्वाण तिथि- फाल्गुन कृष्णा १२। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह-कछुआ।

(२१) **नमिनाथ**—नगरी–मिथिलापुरी। माता का नाम–वप्रिला। पिता का नाम–विजय नरेन्द्र। गर्भ तिथि–आसोज शुक्ला २। जन्म तिथि–आषाढ़ शुक्ला १०। तप तिथि–आषाढ़ कृष्णा १०। ज्ञान तिथि–मंगशिर शुक्ला ११। निर्वाण तिथि–वैसाख कृष्णा १४। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह–नील कमल।

(२२) **नेमिनाथ**—नगरी–शौरीपुर। माता का नाम–शिवा देवी। पिता का नाम–समुद्र विजय। गर्भ तिथि–कार्तिक शुक्ला ६। जन्म तिथि–वैसाख शुक्ला १२। तप तिथि–श्रावण शुक्ला ७। ज्ञान तिथि–आसोज शुक्ला १। निर्वाण तिथि–आषाढ़ शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–गिरनार पहाड़। चिन्ह–शंख।

(२३) **पार्श्वनाथ**—नगरी–बनारस। माता का नाम–वामादेवी। पिता का नाम–अश्वसेन। गर्भ तिथि–वैसाख कृष्णा २। जन्म तिथि–पौष कृष्णा १२। तप तिथि–पौष कृष्णा ११। ज्ञान तिथि–चैत्र कृष्णा ४। निर्वाण तिथि–श्रावण बुदी ७। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सर्प।

(२४) **महावीर वर्धमान**—नगरी–कुंडलपुर। माता का नाम–प्रिय कारिणी। पिता का नाम–सिद्धार्थ। गर्भ तिथि–आषाढ़ शुक्ला ६। जन्म तिथि--चैत्र शुक्ला १३। तप तिथि--मंगशिर कृष्णा १०। ज्ञान तिथि--वैसाख शुक्ला १०। निर्वाण तिथि--कार्तिक कृष्णा ३० (दीपमालिका)। निर्वाण स्थल--पावापुर। चिन्ह--सिंह।

सर्वज्ञों के ज्ञान में आगे भविष्यत् काल में होने वाले १६ कुलकरों के भी नाम आये हैं। वे इस प्रकार कहे जाते हैं—(१) कनक (२) कनक प्रभ (३) कनक राज (४) कनक ध्वज (५) कनक पुंगव (६) नलिन ७) नलिन प्रभ (८) नलिन राज (९) नलिन ध्वज (१०) नलिन पुंगव ११) पद्म १२ पद्म प्रभ १२ पद्म राज १४ षद्म ध्वज १५ पद्म पुंगल १६ महाप्रभ। यह महाप्रभ कुलकर श्रेणिक राजा का जीव होगा तथा यही भविष्य का अन्तिम कुलकर ही भविष्य का प्रथम तीर्थङ्कर भी होगा।

तीर्थङ्कर अवस्था का पद षोडश कारण भावनाओं से आत्म शुद्धि तथा जीव-करुणा के भावों से जीवों को प्राप्त होता है। अन्य चक्रवर्ती आदि शेष त्रेसठ शलाका पुरुष पद तपस्यादि से प्राप्त

होते हैं। तीर्थङ्करों में भ० महावीर की आयु ७२, पार्श्वनाथ प्रभु की १०० तथा नेमिनाथ प्रभु की १००० वर्ष की हुई तथा अन्य पूर्व तीर्थङ्करों की आयु हजारों लाखों वर्ष की रही है। तथा एक तीर्थङ्कर से दूसरे तीर्थङ्कर का अन्तराल काल भी पार्श्वनाथ प्रभु से पूर्व हजारों ही वर्षों का रहा है। भ० पार्श्वनाथ के २७८ वर्ष बाद भ० महावीर का जन्म हुआ। पार्श्वनाथ प्रभु नेमीनाथ के ८४६५० वर्ष बाद हुए तथा पूर्व पूर्व के तीर्थङ्करों के तो हजारों लाखों वर्षो का अन्तराल रहा है। महावीर प्रभु के बाद अब कोई तीर्थङ्कर नहीं है।

नया तीर्थ शासन भविष्यत् काल के कर्म युग के आरम्भ काल में १६ वें कुलकर महापद्म से आरम्भ होगा और वे भविष्यत्काल के चतुर्विशति तीर्थङ्कर परम्परा में प्रथम तीर्थङ्कर होकर नई तीर्थ चौबीसी में अग्रज होंगे—वैसे ही जैसे वर्तमान चतुर्विशति जैन तीर्थङ्करों में भ० आदिनाथ ऋषभदेव प्रथम व अग्रज हुए और उनसे चौबीस जिनों की परम्परा इस वर्तमान कर्म युग के आरम्भ में चली। ये ऋषभदेव प्रभु की योग परम्परायानी दिगम्बर जैन क्षत्रिय श्रमण परम्परा जम्बू द्वीप भरत क्षेत्र से ही सम्बन्धित है। मगर अन्य-अन्य क्षेत्रों में भी वर्तमान, भविष्यत् व अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर व तीर्थङ्कर होते रहे है। इन सब क्षेत्रों के नाम इनके त्रिकाल में जिनेश्वरों के नाम ऊपर के वर्णन में ही है। ये कुल ७२० जिनेश्वर है। ऐसे ७२०-७२० जिनेश्वर इस लोक में प्रत्येक युग में—अवसर्पिणी काल के तीसरे चरण में होते हैं। तथा विदेह क्षेत्र तो तीर्थङ्करों से कभी खाली ही नहीं रहता और उसके वर्तमान तीर्थङ्कर प्रभु सीमंधर स्वामी हैं—जिनका शासन हजारों वर्षो का है और अभी भी विदेह क्षेत्र में चल रहा हैं—और उनके साक्षात् दर्शन आ० श्री कुंद कुंद ने अपने ध्यान, समाधि तथा तपोऋद्धि से सशरीर विदेह क्षेत्र में उपस्थित होकर प्राप्त किये और उनके समव शरण में उनके पाद-मूल में रह कर, उनकी दिव्य-ध्वनि को साक्षात् श्रवण किया तथा उसका अवधारण करके आत्म स्वरूप का अलौकिक परमार्थ प्राप्त किया। आ० कुंद कुंद ने भारत में वापिस आकर उस समस्त आत्म-विज्ञान के तत्वों को तथा अलौकिक ज्ञान को अपनी अध्यात्म-रचनाओं,—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार अष्ट-पाहुड आदि में ग्रन्थित किया। यही कारण है कि उन्होंने भ० ऋषभदेव प्रथम तीर्थङ्कर से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर वर्धमान तक से चली आई परम्परा में अनुष्ठित योगधम तथा तपोयोग में जीवन्त तीर्थङ्कर भगवान सीमंधर स्वामी का भी तत्वोपदेश अपनी निज की आत्मानुभूति सहित समन्वित करके साधक जनों को अलौकिक आत्म-रसानन्द का आस्वादन कराया है। आ० कुंदकुंद के वचनों में इस प्रकार भरत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र के तीर्थङ्कर—महानुभावों के अनुभव और ज्ञानामृत भरे हैं। यही वजह है कि दिगम्बर जैन आम्नाय के आध्यात्म वाङ्मय गगन के आ० श्री उज्जवलतम अनुपम नक्षत्र हैं। भ० महावीर तथा उनके प्रधान गणधर श्री गौतम स्वामी के साथ ही उनका भी स्मरण करके मंगल वाचन किया जाता है।

मंगलं ही भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदाचार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलं॥

दिगम्बर जैन धर्म आम्नाय परंपरा दिगम्बर निर्ग्रन्थ भ० ऋषभदेव हिरण्यगर्भ, उनके पुत्र

पराक्रमी आदि-सम्राट चक्रवर्ती भरत तथा बाहूबली से ही नहीं, यह तो उनके पूर्व १४ कुलकर मनुओं से भी जुड़ी है तथा इसी लिए इसकी परंपरा में ६३ शलाका महापुरुषों की मान्यता है। तथा यही नहीं,—कि यह भ० महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर से है,—यह तो भरत क्षेत्र व विदेह क्षेत्रों के धर्म ज्ञान से भी जुड़ा है, आ० कुंदकुंद के माध्यम से यह विदेह क्षेत्रीय जीवन्त तीर्थंकर सीमंधर स्वामी से भी जुड़ा ही है। अत. यह धर्म प्राचीनतम 'कल' का भी है और नवीनतम वर्तमान 'आज' का भी है। यह तो समस्त लोक क्षेत्र से जुड़ा होने से विश्वव्यापी विश्व धर्म का सनातन स्वरूप है—आत्मा के स्वरूप से जुड़ा होने से आत्मा के साथ ही अनादि तथा सनातन है। इसकी शृंखला उस सुदूर कृतयुग के आरंभ तथा अवसर्पिणी काल से ही चली आ रही है। यह इस रूप में है कि व्यवहार दृष्टि से इसका यह सादि स्वरूप है पर आत्म-परक तथा आत्म ज्ञान परक होने से आत्म तत्व के साथ ही सदा जीवन्त रहने वाला निश्चय दृष्टि से इसका अनादि स्वरूप है। प्रथम जिनेश भ० ऋषभदेव ने इसका इस युग में व्यवस्थित प्रवचन किया—अतः वे योग धर्म या योग शासन के प्रथम प्रवक्ता एवं शास्ता प्रथम तीर्थङ्कर कहलाये। संसार भव महा समुद्र को पार करने वाले घाट रूप तीर्थ का इस प्रकार उनसे निर्माण मानने से—उन्हें तीर्थङ्कर कहा गया। तथा तीर्थ अर्थ गुरु का भी है—अतः अध्यात्म गुरु परंपरा को उन्होंने ही इस युग में सर्व प्रथम जन्म दिया। इस कारण भी वे प्रथम तीर्थङ्कर कहलाये और यह धर्म उनके जिन स्वरूप परिणत होने से जैन कहलाया ऐसा यह व्यवहार दृष्टि से प्रवर्तित हुआ कहा जाता हैं।

यह धर्म ही मग्ग, तपोयोग, अर्हंत्—धर्म, व्रात्य, निर्ग्रन्थ धर्म, अरिहंतों का धर्म, अहिंसा धर्म आदि नाना संज्ञाओं से व्यवहृत हुआ है।

दिगम्बर जैन आम्नाय में ऋषभादि दिगम्बर निर्ग्रन्थ तीर्थङ्करों से लेकर भ० महावीर स्वामी तक—के चतुर्विंशति तीर्थङ्कर प्रभुओं की ही वंदना नही की जाती, इन सहित तीन काल,—वर्तमान, भविष्यत् तथा अतीत काल के सर्व क्षेत्रों द्वीपों तथा खण्डों के चतुर्विंशति जिनेश्वर—तीर्थङ्करों की भी पूजा की जाती है। तथा सामायिक काल में,—त्रियोग संभाल कर हृदय में साक्षात् सम्मुख की भावना करके वंदना की जाती है। सब जिनेश्वरों की कुल संख्या सप्तशतविंशति (७२०) है। ये सब भूत भविष्यत् तथा वर्तमान की परम गुरु परमात्मा परिणत शुद्ध बुद्ध आत्माएं है। अतः इनका वंदन भी शुद्ध निर्मल स्व आत्मा के ही वंदन तुल्य है। तथा इस वंदन में सर्व लोक गत व सर्व काल गत आत्माओं से भी भावना द्वारा संबंध जुड जाने से उनके परम निर्मल स्वरूप भावों से निःसृत अपार अक्षय प्रकाश-ज्ञान के निर्झर-धाराओं से अवगाहन होकर न केवल नित्य नवीन निर्मलता को,—साथ ही एक दिव्य विराट् सर्व गत्त भाव को भी पा लिया जाता है।

दिगम्बर जैन परंपरा की इस विराट् वंदना में—

तीन काल से—३

प्रत्येक काल के जिनेश्वरों की संख्या—२४

तथा कुल लोक गत जिनेश्वरों की संख्या—७२०

इस प्रकार,—३, २४ तथा ७२० मंख्याएं प्राप्त होती हैं। इन संख्याओं का योग होता है—९ (नव)।

३ संख्या–अंक—त्रिरत्न (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) रूप बोधि-लाभ को बताता है।

२४ संख्या-अंक--में २ अंक संख्या से सकल तथा निष्कल चैतन्य आत्म-ध्येय (अर्हंत् परमात्मा व सिद्ध परमात्मा ध्येय) तथा ४ अंक से चार प्रकार का ध्यान स्वरूप)आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल)—जिनमें दो हेय और दो उपादेय। तथा ४ अंक से चार कषाय—क्रोध, मान, माया तथा लोभ की निवृत्ति तथा चार चतुष्टय अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र तथा अनन्त वीर्य या सुख) की प्राप्ति। तथा २४ के २+४ से ६ अंक से जीव, अजीव, आकाश, काल, धर्म और अधर्म—षट् तत्वों का श्रद्धान तथा जीव, अजीब, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा में मुक्त आत्मा, २४ के अंकों का गुणन से प्राप्त अष्ट संख्या में अष्ट कर्मावरण रहित निर्मल आत्मा की निष्पत्ति का ज्ञान अन्तर्निहित है।

७२० संख्या-–अंक में अंकों का जोड़ ९ होता है जो नव केवल लब्धियों के लाभ की याद दिलाता है। अनन्त २ काल से त्रिकाल में ७२०-७२० तीर्थङ्करों का प्रवाह निरंतर शाश्वत् ही रहा है और रहेगा। इन अनंत ७२० (सात सौ बीस) का भी योग सर्वथा ही ९ ही रहेगा और ये नव केवल लब्धियों मय जिनेश्वरों की ही स्मृतियों को संजोये रखेगा। ७२० की संख्या के अंकों के गुणन से प्राप्त चौदह की सख्या चौदह गुण स्थानों को बताती है। तथा ७२० संख्या के अंकों आपस में वियोग से पांच की संख्या पंच परमेष्ठी स्वरूप को बताती है।

३, ६ और ९—ये अंक अंक-विद्या में अध्यात्म स्तर को प्रतीयमान करते हैं। अतः तीन काल का ३ अंक २ ४ जिनेश यानी २+४=६ अंक, तथा ७२० जिनेशों की संख्या जोड़ से प्राप्त ९ अंक,-की प्राप्ति इस बात को प्रमाणित करती है कि ये जिनेश्वर प्रभु त्रिकाल के ही पूर्ण अध्यात्म पुरुष है और ऐसे अध्यात्म पुरुष होते रहेंगे।

तीन रत्न—सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्म-गुण रत्नों के ही श्रद्धान, मनन तथा ज्ञान से इस अर्हंत् योग विज्ञान की अध्यात्म यात्रा आरंभ होती है तथा २४ जिनेश्वरों के ध्यान उपासना में सकल अर्हंत् परमेश्वर तथा निष्कल सिद्ध परमेश्वर रूप तो चैतन्य ध्येयों को अवलम्बन होकर

आत्म-साधक शुद्धोपयोग में चढ़कर अनन्त चतुष्टय को तथा साथ ही—नव केवल लब्धियों को प्राप्त करके सयोगी जिनेश स्वरूप की प्राप्ति होती है। ऐसे इन ३, २४ व ७२० संख्याओं में जैन अध्यात्म विज्ञान का अन्तर्रहस्य ग्रन्थित है। 'ॐ आं क्रों ह्रीं श्रीं अर्हं ऐं सप्त शत विंशति जिनेभ्यः नमः—ये मंत्र शुद्ध बुद्ध निर्मल परम स्वरूप परमात्मा परिणत होने के विज्ञान में उत्कर्ष की प्रेरणा देता है।

जैन पुराण साहित्य तथा प्रथमानुयोग-ग्रन्थों में १६९ तथा ६३ शलाका पुण्यात्मा महापुरुषों का—जिनके कि नाम हमने यहां ऊपर अंकित किये हैं वर्णन आया है। यहां तो हमने मात्र नाम संकेत ही दिये हैं। इस योगानुशीलन में—गुण स्थान वर्णन करणानुयोग से सम्बन्धित है। सात द्रव्य, सात तत्व तथा पुण्य पाप व आत्मा का निश्चय स्वरूप तथा उस स्वरूप का श्रद्धान द्रव्यानुयोग से सम्बन्धित है, तप संयम ध्यानादि के वर्णन चरणानुयोग से सम्बन्धित है। जैन ज्ञान विज्ञान के चार अनुयोग द्वार हैं। इस परिशिष्ट में प्रथमानुयोग सम्बन्धी संकेत देकर चारों अनुयोग द्वारों की ही इस ग्रन्थ में भावना पूर्ण की है।

जैन योग विज्ञान का मूल आधार अनादि णमोकार मंत्र है। इसका वाच्य निर्मल आत्मा स्वरूप है। णमोकार मंत्र अपने आप में संपूर्ण योग शास्त्र है। इस महा मंत्र का,—प्रस्तार भंग संख्या नष्ट, उद्दिष्ट आनुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी—गणित विधियों में, वर्णन में जो संख्याओं की उपलब्धि हैं उनमें सर्व द्वादशांग वाणी के अन्तर्गत के तथ्य संकेतित हो जाते हैं।

तथा इस महामंत्र के स्वर, व्यंजन, पद, अक्षर,—इनके संयोग, वियोग, गुणन आदि द्वारा जैन ज्ञान-विज्ञान के अनूठे कर्म सिद्धांत की उत्पत्ति को भी लक्षित किया जाता है।

डा. नेमिचन्द्र जैन "मंगलमय णमोकार: एक अनुचिंतन' में पृ. ३७ पर स्पष्ट करते हैं—

"अनादि निधन इस णमोकार मंत्र में आठ कर्म, कर्मों के आस्रव के प्रत्यय-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, बंध क्रिया और बंध के द्रव्य भाव भेद तथा उसके प्रभेद, कर्मों के करण, बंध के बार प्रधान भेद, सात तत्व, नव पदार्थ, बंध, उदय, सत्व, चार गति, चार कषाय, चौदह मार्गणा, चौदह गुण स्थान, पांच अस्तिकाय, छह द्रव्य, त्रैसठ शलाका पुरुष आदि निहित हैं। स्वर, व्यंजन, पद आदि इस मंत्र में निहित हैं। स्वर, व्यंजन, पद अक्षर—इनके संयोग वियोग गुणन आदि के द्वारा उक्त तथ्य सिद्ध किये जाते हैं। जिस प्रकार द्वादशांग जिन वाणी के समस्त अक्षर इस मंत्र में निहित हैं, उसी प्रकार इसमें उक्त सिद्धान्त भी। यद्यपि द्वादशांग जिन वाणी के अन्तर्गत सभी तथ्य यों ही आ जाते हैं, फिर भी इनका पृथक् विचार कर लेना आवश्यक है।

"इस मंत्र में (१) णमो अरिहंताणं (२) णमो सिद्धाणं (३) णमो आइरियाणं (४) णमो उवज्झायाणं (५) णमो लोए सव्व साहूणं—ये पांच पद है। विशेषापेक्षया (१) णमो (२) अरिहंताणं (३) णमो (४) सिद्धाणं (५) णमो (६) आइरियाणं (७) णमो (८) उवज्झायाणं (९) णमो (१०) लोए (११) सव्व साहूणं—ये ग्यारह पद हैं। अक्षर इसमें ३५, स्वर २४, व्यंजन ३० हैं।

इस आधार पर से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं। ३४ स्वर संख्या में से इकाई, दहाई के अंकों को पृथक् किया तो ३ और ४ अंक हुए। व्यंजनों में ३० की संख्या को पृथक् किया तो ३ और ० हुए। कुल स्वर ३४ और व्यंजन ३० की संख्या के योग को पृथक् किया तो ३४+३०=६४, ६ और ४ हुए। इस मंत्र के अक्षरों की संख्या का पृथक् किया तो ३ और ५ हुए। अतः—

३×५=१५ योग, ३+५=८ कर्म, ५−३=२ जीव और अजीव तत्व, ५÷३=१ लब्ध और शेष २, मूल दो तत्व, अजीव कर्म के हटने पर लब्ध रूप शुद्ध जीव एक।

स्वरों में—३×४=१२ अविरति, ३+४=७ तत्व, ४−३=१ प्रधानता की अपेक्षा जीव। पांच यह पंचास्तिकाय स्वर+व्यंजन+अक्षर=३४+३०+३५=९९,—फल, योग, ९+९=१८ इनसे योगांतर १+८=९ पदार्थ। ९९÷३४=२ लब्ध और ३१ शेष, ३+१=४ गति कषाय विकथा अपेक्षया ११ पद, सामान्यापेक्षया ५, ३४ स्वर, ३० व्यंजन, ३५ अक्षर इन पर से विस्तार किया तो ३४+३०=६४×५=३२०÷३४=९ लब्ध और १४ शेष। यह १४ संख्या गुण स्थान मार्गणा की है। अथवा ६३×११=७०४÷३०=२३ लब्ध, १४ शेष। वही शेष संख्या गुण स्थान और मार्गणा है।………छह द्रव्य व छह काय के जीवों की संख्या निकालने का नियम है कि समस्त स्वर और व्यंजनों की संख्या (६४) को व्यंजनों की संख्या से गुणाकर विशेष पद संख्या का भाग देने पर शेष तुल्य द्रव्यों की तथा जीवों के काय की संख्या अथवा समस्त स्वर और व्यंजनों की संख्या को स्वर संख्या से गुणा कर सामान्य पद संख्या का भाग देने पर शेष तुल्य द्रव्यों की तथा जीवों के काय की संख्या आती है। यथा—६४×३०=१९२०÷११= १७४ लब्ध, ६ शेष, यही शेष तुल्य द्रव्य और काय की संख्या है। अथवा ६४×३३=२१७६÷५= ४३४ लब्ध है ६। यही शेष प्रमाण द्रव्य और काय की संख्या हैं।

इस महामंत्र में कुल मात्राएं ५८ है। प्रथम पद के णमो अरिहंताणं में=१+२+१+१+२+२+२=११, द्वितीय पद 'णमो सिद्धाणं' में=१+२+१+२+२=८, तृतीय पद 'णमो आइरियाणं" में=१+२+२+१+१+२+२=११, चतुर्थ पद 'णमो उवज्झयाणं' में= १+२+१+२+२+२+२=१२, पंचम पद 'णमो लोए सव्व साहूणं' में=१+२+२+२+२ +१+२+२+२=१६ मात्राओं का योग=११+८+११+१२+१६=५८। इस विश्लेषण में समस्त कर्म प्रकृतियों का योग निकलता है। यह जीव कुल १४८ प्रकृतियों को बांधता है। मात्राएं+ स्वर+व्यंजन+विशेष पद+सामान्य पद का गुणन=५८+३४+३०+११+१४=१४८। इन १४८ प्रकृतियों में १२२ प्रकृतियां उदय योग्य है और बंध योग्य १२० प्रकृतियां है। उनका क्रम इस प्रकार है—५८+६४=१२२ ये ही उदय योग्य हैं। क्योंकि १४८ में से २६ निम्न प्रकृतियां कम हो जाती है। स्पर्शादि की जगह ४ का ग्रहण किया जाता है, इस प्रकार १६ प्रकृतियां घट जाती है और पांचों शरीरों के पांच बंधन और पांच संघातों का ग्रहण नहीं किया गया है—इस प्रकार २६ घटने से १२२ उदय में तथा बंध में दर्शन मोहनीय की एक ही प्रकृति बंधती है और उदय में यही तीन रूप में परिवर्तित हो जाती है। कहा गया है—

जंतेण कोद्दवं वा पढ़मुव सम्म जंतेण ।
मिच्छं दव्वं तु धा असंखगुण हीण दव्व कम्मा ।।[1]

अर्थात्—प्रशमोपशमसम्यक्त्व परिणाम रूप यंत्र से मिथ्यात्व रूपी कर्म रूप ग्रव्य प्रमाण में क्रम से असंख्यात गुणा–असंख्यात गुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है। अर्प्रात् बंध केवल मिथ्यात्व प्रकृति का होता है और उदय में वही मिथ्यात्व तीन रूप में बदल जाता है। जैसे घान के चावल, कण और भूसा ये तीन अंश हो जाते हैं अर्थात् केवल धान उत्पन्न होता है पर उपयोग काल में उसी धान के चावल, कण और भूसा ये तीन अंश हो जाते हैं। यही बात मिथ्यात्व के भी सम्बन्ध में हैं।

इस प्रकार णमोकार मंत्र बंध उदय और सत्व की प्रकृतियों की संख्या पर समुचित प्रकाश डालता है। कुल प्रकृति संख्या १४, बंध संख्या १२०, उदय संख्या १२२ और सत्व संख्या १४८ इसी मंत्र में निहित हैं। १२० संख्या निकालने का क्रम यह है—३४ स्वर, ३० व्यंजन बताये गये हैं। ३×४=१२, ३×०=० गुणन शक्ति के अनुसार शून्य को दस मान लेने पर गुणनफल=१२०।

३० से ३+०=३ रत्नत्रय संख्या; ३×०=० कर्माभाव रूप मोक्ष। ३०+३४=६४, ६×४=२४ तीर्थंकर, ३×४=१२ चक्रवर्ती, ६४+३५=९९, ९+९=१८, ८+१=९ नारायण, ९ प्रति नारायण ९ बलदेव इस प्रकार २४+८२+९+९+९=६३ शलाका पुरुष। ५८ मात्राएं इनके विश्लेषण द्वारा ५+८=१३ चारित्र, ५×८=४०, ४+०=४ प्रकार के बंध–प्रकृति, प्रदेश स्थिति और अनुभाग। प्रदेश के भेद-प्रभेद भी इसमें निहित हैं—प्रमाण के मूल भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ५÷३=१ लब्ध शेष २, यही दो वस्तु के व्यवस्थापक प्रमाण के भेद है। परोक्ष के पांच भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम रूप पांच पद है। नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदों के साथ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। ये सात भी ३+४=७ रूप में विद्यमान है। इस प्रकार इस महामंत्र में कर्म बंधक सामग्री–मिथ्यात्व ५, अविरति १२, प्रमाद १५, कषाय २५ और १५ की संख्या भी विद्यमान है, साथ ही कर्म बंधन से मुक्त करने वाली सामग्री ५ समिति, ३ गुप्ति, ५ महाव्रत, २२ परिषह–जय, १२ अनुप्रेक्षा और १० धर्म संख्या भी निहित है। १० धर्म की संख्या तथा १० करणों की संख्या निम्न प्रकार आती है। ३५ अक्षरों का विश्लेषण सामान्य पदों के साथ किया तो ३×५=१५–५ पद=१०। इस मंत्र के अंकों में द्वादशांग के पृथक्-पृथक् पदों की संख्या भी निहित है, आचारांग, सूत्र कृत्तांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृ धर्म कथांग, उपासकाध्ययनांग आदि अंगों की पद संख्या क्रमशः अट्ठाईस हजार, छत्तीस हजार, बियालीस हजार, एक लाख चौसठ हजार, दो लाख अठ्ठाईस हजार, पांच लाख छप्पन हजार, ग्यारह लाख सत्तर हजार, तेईस लाख अठ्ठाईस हजार, बानवे लाख चवालीस हजार, तिरानवे लाख सोलह हजार और एक करोड़ चौरासी लाख पद है। इन सब संख्याओं की उत्पत्ति इस महामंत्र से हुई है। दृष्टिवाद पदों की संख्या भी इस मंत्र में विद्यमान हैं।

इस संस्कृति का संख्यावाद ज्ञान या सांख्य स्व-रूप योग धर्म के साथ ही है

इस प्रकार से पूर्ण जैन ज्ञान संख्याओं में, जो णमोकार महामंत्र में से निःसृत होती है—कहा जाता है। संख्याओं का विलक्षण विस्तार संख्यात, अनन्त और अनन्तातन्त तक इस विज्ञान में लक्षित किया गया हैं। जैन विज्ञान इस प्रकार संख्यावाद के रूप में भी स्पष्ट है। संख्या शब्द से ही सांख्य ज्ञान भी जैन विज्ञान है और उसके आदि प्रणेता भ० ऋषभदेव हिरण्यगर्भ हैं, जो सर्व विद्याओं तथा ज्ञान के प्रथम व अग्रज गुरु व गुरुणां गुरु रहे हैं। उन्हें ही अजैनों ने विष्णु के अंश व अवतार के रूप में पूजा है। उन ही से असुर लोग भी धर्म दीक्षित हुए और सर्व विद्या तथा ज्ञान की शिक्षा पाई। ये प्रथम धर्म गुरु ही कपिल (कनक) वर्ण थे। कपिल द्वारा ही आसुरी को सर्व प्रथम सांख्य ज्ञान सिखाया गया—ऐसी जन श्रुति आधुनिक सांख्य वादियों की भी है। इस प्रथम गुरु को ही योगीश्वर तथा परमर्षि कहा गया है। यह माना गया है कि दर्शनों में कपिल के सांख्य की बड़ी महिमा है। और वहीं सब से प्राचीन आदि दर्शन है। अर्वाचीन सांख्य दर्शन में २४ तत्व हैं जिनसे जगत् रचना है—तथा एक और २५ वां तत्व आत्मा है। वर्तमान सांख्य में इन ही २४ व २५ संख्याओं की महिमा है और इससे ही सांख्य नाम प्रसिद्ध किया गया है जबकि प्राचीन कपिल 'हिरण्यगर्भ' ज्ञान में संख्याओं का प्रस्तार विस्तार कहीं अधिक है।

वर्तमान में मौजूद सांख्य दर्शन मूल व प्राचीन सांख्य दर्शन नहीं है। विज्ञान-भिक्षु ने स्पष्ट ही कहा है :—

" कालार्थभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञान सुधा करम्।
कलावशिष्टं भूयो ऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः "।

अर्थात्—ज्ञान रूपी अमृत का खजाना, वह सांख्य-शास्त्र काल ने खा लिया था, उसका थोड़ा अंश (कला-मात्र) मिलता है। उसे मैं अपने वचनामृत से पूर्ण करता हूँ। अर्थात् मूल व यथार्थ सांख्य तो लुप्त हो गया और जिसे आज कपिल का सांख्य कहते हैं वह तो बाद का भरती का सांख्य-शास्त्र है।

शास्त्र को पूर्ण करने की प्रक्रिया में ही, और ये प्रक्रिया कई भाष्यकारों—कारिका कर्त्ता द्वाराओं से होती ही रही होना संभव है,—प्राचीन सांख्य से अर्वाचीन सांख्य में भेद हो जाना व भेद पड जामा असंभव नहीं लगता है। भेद के लिए ही तो प्राचीन हैरण्य गर्भीय योग शासन को महर्षि पतंजलि ने "योग-सूत्रों" की रचना की और प्रत्येक पाद (अध्याय) के अन्त में लिखा "सांख्य प्रवचने" यद्यपि अपनी रचना को प्राचीन योगशासन का अनुशासन मात्र ही "अथ योगानुशासनं" पहले सूत्र में बताया है।

ईश्वर कृष्ण वर्तमान सांख्य कारिकाओं के रचयिता है और वे ईस्वी १०० के लगभग हुए। सांख्य का वैसे उल्लेख महाभारत व गीता में भी है। सांख्य ज्ञान उपनिषदों में भी आया है। उपनिषदों आदि में इसके उल्लेख उसी प्रकार आये है—जैसे प्राचीन हैरण्य गर्भीय योग शासन के भी उल्लेख आये हैं।

वाचस्पति मिश्र का कथन है—

"सर्गादादि विद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञान—वैराग्यैश्वर्यं सम्पन्नः प्रादुर्बभूव ।"

अर्थात् सृष्टि के आदि में आदि–विद्वान् पूजनीय महा मुनि कपिल धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न हुए ।

"सिद्धानां कपिलो मुनिः"—ऐसा भगवद् गीता (१०/२५) का उद्घोष है ।

पंच शिखाचार्य जो आसुरिमुनि के शिष्य कहे जाते हैं–का वचन है—

"आदि विद्वान् निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रवोच ।"

अर्थात् आदि ज्ञानी व दर्शनकार भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माण-चित्त (सांसारिक संस्कारों से विवर्जित चित्त) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दया भाव से (सांख्य) शास्त्र का उपदेश दिया ।

इस आसुरि को ही परंपरा में पंच शिखाचार्य, पतंजलि, पराशर (वादरी) व्यास, ईश्वर कृष्ण आर्य आदि कहे जाते हैं ।

कपिल नाम से कहे जाने वाले आदि ज्ञानी व आदि दर्शनकार क्या हिरण्यगर्भ नहीं थे ? कम से कम श्वेताश्वर महर्षि तथा पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्य के मत में तो हिरण्य-गर्भ ही वह कपिल थे ।

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ;
ज्ञान विर्भात जायमानं च पश्येत् ।।

अर्थात् जिसने सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न हुए कपिल ऋषि (हिरण्यगर्भ को ज्ञान संपन्न किया था और जन्म लेते हुए भी देखा था । (श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ५/२"—गीता प्रेस, गोरखपुर) पृ० २१६ ।

इसका शंकर भाष्य का अंश इस प्रकार उल्लखित हुआ है—

"ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थः । कपिलं कनक कपिल वर्णं प्रसूतं स्वेनै वोत्पादितं हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं मित्यस्यैव जन्म श्रवणात् । अन्य स्य चाश्रवणात् । उत्तरत्र "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै दांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे उ० ६/१८) इति वक्ष्यमाणत्वात् "कपिलोऽग्रजः" इति पुराण वचनात्कपिलो हिरण्यगर्भो वा निर्दिश्यते—

"कपिलर्षि भगवतः सर्वभूतस्यवै किल ।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय, समुपागतः ।।"

"कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादि स्वरूप धृत् ।
ददाति सबं भूतात्मा सर्वस्य जगतों हितम् ।।"
"त्वं शक्रः सवं देवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि । २।
वायुर्वलवतां देवो, योगिनां त्वं कुमारकः ।।
ऋषीणां च बसिष्ठ स्त्वं, व्यासो वेदविदामसि ।।
सांख्यानां कपिलो देवो, रुद्राणामसि शंकरः ।।"
इति परमर्षिः प्रसिद्धः ।।"

"ततस्तदानीं तु भुवनमस्मिन्प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोडशास्त्र्यो पुरुषश्च विष्णो—विराजमानं तमसः परस्तात्" इति श्रूयते मुण्डकोयनिषदि । स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टि काले यो ज्ञानैर्धर्म वैराग्यैश्वर्यैर्विभर्ति बभार जायमानं च पश्येद पश्यदित्यर्थः ।।२।।"

इसका हिन्दी भाषान्तर गीता प्रेस की ही पुस्तक में पृ॰ २१७ पर इस प्रकार आया है—

ऋषि यानी सर्वज्ञ प्रसूत—अपने ही से उत्पन्न किये हुए कपिल—सुवर्ण सदृश कपिल वर्ण हिरण्यगर्भ को पहले जन्म दिया था, क्योंकि आरंभ में हिरण्यगर्भ का ही जन्म श्रुति प्रतिपादित करती है, अन्य (महर्षि कपिल) का जन्म नहीं बतलाती । कारण, आगे यह कहा जायेगा कि "जो आरंभ में ब्रह्मा को रचता है और उसके लिए वेदों को प्रेरित करता है" "कपिल पहले उत्पन्न होने वाला है"—इस पुराण वचन से भी कपिल या हिरण्यगर्भ का ही निर्देश दिया गया है ।

"जगत् का मोह नष्ट करने के लिए सर्व भूतमय भगवान् विष्णु के ही अंश स्वरूप मुनिवर कपिल ने अवतार लिया है ।" सर्व भूतात्मा श्री हरि सत्ययुग में कपिलादि रूप धारणा कर संपूर्ण जगत् के लिये हितकर उत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करते हैं ।"

"तुम समस्त देवताओं में इन्द्र हो, ब्रह्मवेत्ताओं में ब्रह्मा हो, बलवानों में वायु देवता हो, योगियो में सनत्कुमार हो, ऋषियों में वसिष्ठ हो, वेद वेत्ताओं में व्यास हो, ज्ञान योगियों में कपिल देव हो, और रुद्रों में महादेव हो"—इत्यादि पुराण वचनों में कपिल नाम से परमर्षि (हिरण्यगर्भ) ही प्रसिद्ध है ।

अथवा ततस्तदानीं तु भुवनमिस्मिन् प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् । स षोड शास्त्रः पुरुषश्च विष्णोर्विराजमानं तमसः परस्तात्"—इस मुण्डकोपनिषद् की श्रुति के अनुसार वह हिरण्यगर्भ ही पूर्व काल में सृष्टि के समय 'कपिल' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसे परमात्मा ने अपने ज्ञानों से—धर्म ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यो से युक्त किया और उत्पन्न होते देखा ।।२।।

इस अर्थ की पाद टिप्पणी में अनुवादक ने यह कहा है—"यह श्रुति मुंडकोपनिषद में अब नहीं मिलती, अन्यत्र भी उसका पता नहीं चलता । श्रुति का पाठ सी शुद्ध भी नहीं जान पड़ता । परंपरा से जैसा पाठ मिला वैसा ही रहने दिया है और अर्थ संगति न लगने के कारण उसका अनुवाद

नहीं किया गया है ।" अतः अपूर्ण ही चाहे हो, पर शंकराचार्य द्वारा उधृत होने से इसकी महत्व कम नहीं है और टीकाकार ने व अनुवादक ने और श्री शंकराचार्य ने हिरण्यगर्भ ही अर्थ स्वीकार दिया है ।

इस सारे उद्धरण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि श्वेताश्वतरो० व मुण्डको० व शंकराचार्य आदि को कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ ही मान्य है—क्योंकि वही सृष्टि में आदि ज्ञानी व अग्रज व पूर्व है । इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व में ज्ञान वाचक सांख्य के वक्ता के रूप में हिरण्यगर्भ ही कपिल है तथा योग वक्ता के रूप में हिरण्यगर्भ ही हिरण्यगर्भ कहे जाते रहे है । इसी लिए महाभारत कार ने कहा—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः, परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता, नान्यः पुरातनः ।।(२/३४९-६५)

और भगवद्गीता ने तो स्पष्ट ही कर दिया—

"सांख्य योगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।(५/८) ।

सांख्य अर्थात् ज्ञान और योग एक ही है—केवल मूर्ख हो इन्हें अलग-अलग कहते हैं,–न कि पंडित जन ।

यह निर्विवाद है कि उस प्रथम वीतराग सर्वज्ञ को–किसी भी नाम से कहो—उसे चाहे कपिल कहो–या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा, विष्णु, प्रजापति किसी भी नाम से कहो उसका यह मार्ग आत्म परक व निर्ग्रंथ वीतरागी महामुनि व परमर्षियों का निरावरण कर्म विर्वजित परम-आत्मा की विशुद्धि का ही ज्ञान व योग का मार्ग है । यह मग्ग, योग, तपोयोग आदि नाना नामों से व्यवहृत चला आ रहा है । इसे मात्र तीर्थंकर महावीर, पार्श्वनाथ या नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) आदि से ही जोड़ने वाले अल्प दृष्टि इतिहासकार भी अपनी दृष्टि को निर्पेक्ष प्रसारित कर सुदूर प्राचीनतम काल तक,—१६ या १४ कुलकर–मनुओं के काल तक,—सृष्टि के आदि पुरा काल तक ले जाने तथा खोज करने का प्रयत्न करेंगे तो मार्ग का—ज्ञान और योग का, धर्म और संस्कृति का तथा क्षत्रिय श्रमण परंपरा की प्राचीनता और उत्कृष्टता का पता पाकर धन्य और गद्‌गद् हो जायेंगे । वह प्राचीन काल भारत व भारत जनों तथा क्षत्रिय श्रमणों के शौर्य, कृतियों,—विद्या, ज्ञान, कला कौशल, योग तथा पुरुषार्थ तथा अध्यात्म साधनाओं का उद्भव व उत्कर्ष काल रहा है । इन क्षत्रिय श्रमणों. की गाथाएं आज भी भारतियों का मस्तक गर्व से उंचा कर देने को सक्षम तथा पर्याप्त हैं ।

इन्हें पढ़ें व समझें तो सब ही आनन्द-रोमांचित हुए विना नहीं रह सकते । प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्यता का, आनन्द का, ज्ञान का, गरीमा का, अच्छाई का और मुक्ति का,—स्वरूप समृद्धि तथा आत्म-विशुद्धि का उनका उद्‌घोष आज भी गगन में ध्वनित है । यह ज्ञान-विज्ञान हम भारत जनों को, प्राणी मात्र को शुद्ध जीवन के लिए उत्प्रेरक हो । इत्यलं ।।

• • •

परिशिष्ट-४

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. ज्ञानार्णव (रायचन्द्र ग्रन्थ माला)
2. पुरुषार्थ सिद्ध्यूपाय (रायचन्द्र ग्रन्थ माला)
3. सर्वार्थ सिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ)
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भारतीय ज्ञानपीठ)
5. उपासकाध्ययन (भारतीय ज्ञानपीठ)
6. योगसार प्राभृत (भारतीय ज्ञानपीठ)
7. श्री समयसार (सोनगढ़)
8. श्री प्रवचनसार (सोनगढ़)
9. श्री समयसार कलश (सोनगढ़)
10. श्री पंचास्तिकाय संग्रह (सोनगढ़)
11. अष्ट पाहुड (सोनगढ़)
12. मोक्षमार्ग प्रकाशक व रहस्य पूर्ण चिट्ठी (सोनगढ़)
13. योग शास्त्र (प्रका० ऋषभचन्द्र जौहरी, दिल्ली)
14. योग मार्ग (ध्यान विधि)—श्री महावीरजी
15. ध्यान शतक (वीर सेवा मंदिर, दिल्ली) व ध्यानाध्ययन सं० क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी श्री महावीरजी
16. समाधि तंत्र और इष्टोपदेश (श्री महावीरजी)
17. श्री आदि पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ)
18. द्रव्य संग्रह (आचार्य नेमीचन्द्रजी)
19. हिमालय में दि० जैन मुनि (श्री वीर नि० समिति गढ़वाल)
20. मासिक "कल्याण" (योगांक)—गोरखपुर
21. मासिक "कल्याण" (उपनिषदांक)—गोरखपुर
22. पुरुष सूक्त (यजुर्वेद)

23. नासदीय सूक्त (ऋग्वेद)
24. भावद्गीता (गीता प्रेस)
25. भारतीय संस्कृति का इतिहास (आ० चतुरसेन)
26. श्री श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस)
27. श्री महावीर जयन्ती-पत्रिकाएं—(१९६८ आदि जयपुर)
28. भारत का आदि सम्राट (स्वा० कर्मानन्द)
29. मासिक "कल्याण"—(वेदांतांक)
30. योग प्रदीप (गोरखपुर—स्वामी ओमानन्द)
31. अवधूत की डायरी (पं० दरवारीलाल सत्य भक्त)
32. रहस्यों के घेरे में (नव भारत टाइम्स—१९७०)
33. जैनिज्म दी ओल्डैस्ट लिविंग रिलीजन—डा. ज्योतिप्रसाद
34. आत्म-विज्ञान (योग–निकेतन–ऋषिकेश)
35. जैन धर्मः प्रागैतिहासिक जैन परंपरा (डा० धर्मचन्द्र)
36. श्री ऋषभदेव–एक परिशीलन (श्री देवेन्द्र मुनि)
37. योग प्रदीप (सं. क्षु. सिद्धसागर)
38. ऋग्वेद संहिता–सप्तम खंड भाष्यकार पं. जयदेव, प्रकाशक आर्य साहित्य मंडल, (अजमेर)
39. योगामृत—सं आ. श्री देशमूषणजी
40. अनुभव प्रकाश—पं. दीपचन्द शाह (सोनगढ़ प्रकाशन)
41. मंगलमय णमोकार—एक अनुचिंतन (डा. नेमीचन्द्र)

• • •

परिशिष्ट-५

लेखक का संक्षिप्त परिचय

1. जन्म स्थान : जयपुर नगर (राजस्थान)

2. जन्म तिथि : १६ अक्टूबर १९१३ (कार्तिक बु० १, सं. १९७०)

3. कुल : दिगम्बर जैन बडजातियां (भाव-शाह) खंडेलवाल ।

4. परिवार : कभी भूतपूर्व जयपुर राज्य में बाढ (किलेदारी) का उपभोग रहने से एक मात्र जैन बाढ़दार परिवार के नाम से प्रसिद्ध ।

पिता : स्व श्री लाधूलालजी बाढ़दार खजांची जी के नाम से प्रसिद्ध,—सुपुत्र श्री मोहरीलालजी खजांची, मोहल्ला बाढ़दारान, चौकड़ी मोदीखाना, जयपुर शहर ।

माता : श्री भंवरी देवी सुपुत्री स्व. श्री रामसुखजी काला (घिणोई वाले) पुरानी बस्ती जयपुर ।

पत्नी : श्री उमारानी, सुपुत्री स्व. श्री कस्तूरचन्दजी लुहाडिया इमारत वाले चौकड़ी घाट दरवाजा, जयपुर ।

पुत्रादि : चि० अशोक कुमार बी. ए.—रत्न व्यवसायी (पुत्र), पुत्रबधू सुधारानी—सुपुत्री जौहरी श्री महेंद्र कुमार सेठी जयपुर ।

—चि० शैलेन्द्र, चि० आलोक तथा अर्चना (प्रपोत्र और प्रपोत्री)

—श्री माया रानी—सुपुत्री तथा दामाद श्री नेमीचंद जैन वाइंस प्रिंसीपल महाराजा कालेज, जयपुर ।

—श्री लक्ष्मीदेवी—सुपुत्री तथा दामाद प्रकाश चंदजी सिंघवी (निजी विविध उद्योग तथा व्यवसाय) ।

—तथा विमाता मौला बाई से दो भाई प्रकाशचंद तथा प्रेमचन्द और एक बहन ।

5. शिक्षा : बी. ए. (१९३३—आगरा विश्वविद्यालय) महाराजा कालेज, जयपुर से ।

—एम. ए. (१९३५)—लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में ।

—एल. एल. बी. (१९३५)—(प्रथम श्रेणी)—लखनऊ विश्वविद्यालय ।

6. अभिरूचि : (१) ध्यान पद्धतियों में रुचि । योग-अभ्यास । धर्म शास्त्र तथा योग ग्रन्थों का स्वतः अध्ययन, स्वाध्याय ।

(२) होमियोपैथी ।

(३) रमल ।

(४) लेखन ।

—वर्तमान में मात्र ध्यानाभ्यास में अभिरूचि ।

7. **कार्य प्रवृत्ति** —(१) प्लीडर जयपुर चीफ कोर्ट तथा एडवोकेट जयपुर हाइ कोर्ट । तथा आजीवन सदस्य जयपुर बार–एसोसियेशन ।

(२) सन् १९४२ में जयपुर राज्य सेवा, में नियुक्ति । मार्च १९४५ में प्रथम श्रेणी दण्ड नायक (जयपुर न्यायिक सेवा) ।

(३) राजस्थान के निर्माण पर १९४८ में राजस्थान प्रशासनिक सेवा में चयन ।

१९६८ तक राजस्थान सेवा ये विभिन्न पद—सहायक कलक्टर सब डिवीजनल आफिसर, सब डिवीजनल मैजिस्ट्रेट, डिप्टी कलक्टर, डिप्टी जिला पंचायत एवं विकास अधिकारी, डिप्टी जिला निर्वाचन अधिकारी, एडीशनल कलक्टर, आदि पदों पर कार्यरत । अक्टूबर ६८ से विश्राम वृत्ति ।

(४) विश्राम वृत्ति के अवकाश काल में—लेखन तथा ध्यानादि अभ्यास ।

8. **योग-साहित्य कृतियां**—

(१) योगानुशीलन (प्रथम तथा द्वितीय भाग) । (ये आपके हाथों में है)

(२) ध्यानानुचिंतन (यह प्रकाशन की प्रतीक्षा में है)

(३) स्वरूपानुचिंतन (यह प्रकाशन की प्रतीक्षा में है)

9. **चित्र** —लेखक और उनकी धर्म पत्नी उमारानी ।

5424

• • •

योगानुशीलन

प्रथम भाग

शुद्धि–पत्र

पृ० सं०	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
९	३	पाणी	प्राणी
१२	२०	मण्णति	मण्णंति
१२	२१	माणुआ	माणुषा
१२	२१	भणिता	भणिदा
१६	८	महाबलः	महावातः
१६	१३	मांक्षो	मोक्षो
१६	२२	तस्याजननि	तस्याजवनि
१७	१५	स्माद	स्याद्
२१	८	मार्गाविलम्बिनाम	मार्गाविलम्बिनाम्
	११	विरोध	निरोध
	१३	एष	एषः
२२	७	वात्मानि	वात्मनि
२३	७	चरित्राणि	चारित्राणि
	१४	अस्फुट	स्फुट
	१७	इस विवेचन से परिपूर्ण है	जैन आगम
	२६-२७	(भावी तीर्थंकर)	×
	२७	''न योगः	ने ''योगः
३३	१६	स्याद् जीव	स्याद्ऽजीव
३६	१३	धौव्यै	ध्रौव्य
४८	५	पंच	चतुः
	२२	कषाओं	कषायों
५०	१४	कर्तृव्य	कर्तृत्व
५७	१७	अप्रतिमाती	अप्रतिपाती
५८	८	स्व-संबंध	स्व-संवेद्य
५९	१३	नियागेन	नियोगेन

६१	२०	प्राणी	प्राणों
६२	दूसरा उप-शीर्षक	मागणाओं	मार्गणाओं
७१	५	शद्धि	शुद्धि
७४	प्रथम उपशीर्षक	नमित्ति	निमित्त
५६	३,१०,१९,२१,२२,२३,३०	कर्तव्य	कर्तृत्व
८१	१	कषाएं	कषायों
	३	अट्ट	अस्त
८२	१२	की	के
८९	१४	पेच	पंच
	१५	दोसो	दोसे
९१	१	वचार	विचार
	३	सुश्रुषा	शुश्रुषा
	४	उहो	ऊहो
	२६	अन्न	अन्त
९५	१८	अपनुर्बन्धक	अपुनर्बन्धक
९६	३०	भवेद	भवेद्ं
१०६	१०	समुचतुस्र	समचतुस्र
११६	१३	वक्रियक	वैक्रियिक
१२५	७	विर्वचना	विशेषता
१२७	१२	इन्यूटेरोन	ड्न्यूटेरोन
१३९	दूसरा उप-शीर्षक	जीवाण	जीवाणु
१५०	९	सब	स्व
१५५	उप-शीर्षक	समस्याएं	समरसतायें
१६४	२४	२	श
१६५	४	परमाणु विआणहिं	परमाणुं विआणाहिं
	१३	बघे	बंधे
१७३	३१	भारित	भरित
१८१	७	Spirittal	Spiritual
१८५	४	का	को
१८६	१७	अवरोहण	आरोहण
१९०	१४	गोम्मसार	गोम्मटसार
२०३	२३	परा-राशियाँ	परा-वाणियां

२०३/२०४	२८/२८	भावोत्क्तमण	भावोत्क्रमण
	३०	ऐसो अवेश	ऐसे आवेश
२०६	२	उद्धाम	उद्दाम
२१०	१	श्वेताश्वत	श्वेताश्वतर
२१५	२५	असमानता	असमान
२१८	१३	अपते	अपने
२२२	१३	व्यक्तिक्त	व्यक्ति
	२२	संजुक्त	संजुवत
२२५	२४	दाजख	दोजख

नोटः—इनके अतिरिक्त भी जो मात्राओं की टूट या छूट अथवा अशुद्धि हैं, उन्हें शुद्ध करके पढ़ने का पाठक गण कष्ट करें, कष्ट के लिए क्षमा करें।

———

योगानुशीलन

द्वितीय भाग

शुद्धि–पत्र

पृ० सं०	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
२३२	प्रकरण तीसरा	अन्तर्हृष्टि	अन्तर्दृष्टि
२३७	८	कल्पया	कल्पना
२३८	११	आति	आदि
२४४	३	को—की	की—को
	८	Instiinet	Instincts
	२१	हे	है
२४६	५	करोपि	करोषि
२४७	६	अत्मा	आत्मा
	२८	मे	में
२५०	२२	सोम चक	सोम चक्र
२५२	१	आत्मा का	आत्मा को
२५३	१३	पद्गल वरानि	पुद्गल वर्गणा
	२४	हृदव	हृदय
२५५	१	आत्म स्रूप	आत्म स्वरूप
	१९	कुन्दकुन्द है	कुन्द कुन्द
२५६	३०	वृषेश्वर	वृषभेश्वर
२५७	८	द्रव्य का भाव	द्रव्य व भाव
२५९	५	शक्ल	शुक्ल
	१८	Luminosty	Luminosity
	२४	समधारात्मक	संहारात्मक (निर्जरा परक)
	२७	अकृति	आकृति
२६०	१९	उसी	उसी की
२६१	प्रथम उपशीर्षक	महीमा	महिमा
	६	अध्यवसाय	अध्यवसाय है।
	१८	भाव-परमेष्ठी-भाव	भाव-परमेष्ठी-भाव

२७३	२३	नियमस्तर	नियमसार
२८०	५	निभ्रन्ति	निभ्रन्ति
२८१	१२	thougt	thought
२८२	१३	धर्म में	धर्म ध्यान में
२८३	१३	छङ्मस्थ	छद्मस्थ
२८४	१६	यह् जानता	यह् जानना
२८७	२६	गु थन	गुणस्थान
२८८	६	विचरत	विचारत
	दूसरा उपशीर्षक	यग्नता	मग्नता
	२३	ब्रह्ममानन्द	बह्मानन्द
२८६	२२	प्रमाण	प्रणाम
२६०	२	किया-वत	क्रिया-व्रत
२६१	५	में	से
	प्रथम उपशीर्षक	प्रमख	प्रमुख
	१२	स्मरमणीय	स्मरणीय
२६२	८	आभ्यासों	अभ्यासों
२६३	शीर्षक	प्रेर्यालोचन	पर्यालोचन
२६४	२७-२८	×	पंक्तियां लुप्त समझें
२६५	१८	अन्त	अन्तर
२६७	१५	अपेक्षसया	अपेक्षतया
२६८	१६	अविंद	अचिद्
२६६	उपशीर्षक	हस,, सौऽहं	हंसः सोऽहं
३००	३	दैनिक	दैहिक
	८	अनुरण	अनुरणन
	१७	वालु	तालु
३०१	१२	प्राणाप्रेक्षा	प्राणप्रेक्षा
	पाद टिप्पणि	१४–१४	१४–१५
३०२	१	पातनम्	पावनम्
	४	सूक्ष्म	सुसूक्ष्म
		मार्ग यायि	मार्गयायि
३०४	१३	निजरित	निर्जरित
३०५	उपशीर्षक	अतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय
३०६	"	प्रक्षायें	प्रेक्षायें

	१७	करके	करके।
	२२	वैध	वेध
	२७	समझोगे	समझेगें
३०७	२९	सुत्र	सुख
३१२	१	मध्म	मध्य
	५	सन्निम	सन्निभ
	१६	अराधन	आराधन
	२०	भारसता	भासता
३१४	१०	निश्चय	निश्चल
	१४	galnds	glands
३१६	६	विषम के विषय	विषय के विषम
३१८	२०	प्रबद्ध	प्रबुद्ध
	उपशीर्षक	ध्वान	ध्यान
	२२	माह	मोह
	२३	ध्यम	ध्यान
३१९	२८	अनुभवा	अनुभव
३२६	१७	Apprroach	Approach
३२७	१२	सर्व कर्म	सर्व घाती कर्म
	२४	छूटे	छूट
३३०	२३	केसे	कैसे
३३२	१०	आल्पावित	आप्लावित
	१३	का	तथा
	१५	चिर........की	फिर....को, एवं
३३५	८	कुर्यात्स	कुर्यान्स
३३६	५	वंरागय	वैराग्य
३४०	२७	निरुच्छुक	निरीच्छुक
३४१	११	यशाकाल	यथा काल
३४५	१९	नौक	नौका
३५३	२७	दर्पण	वर्णन
३५४	३३	स्तुतियों	स्तुतियां
३५६	१	निमित्त	निविद
३६०	२४	स्मृतिः	स्मृतः
३६१	३	ब्रह्म	ब्रह्मा

	१७	रामणाधिपतये	रामाधिपतये
	१९	त्रिविक्त	विविक्त
	२०	भोग निपुणं	योग नैपुणं
	२०	भगवान्न	भगवान्‌
३६२	१	पुरुष:	पूरष:
३६३	१४	जज्ञ	जज्ञे
	१५	सिंचय ग्ऽभि:	सिंच्यर्षभ:
	२४	कीर्त्यंत:	कीर्त्यंते
३६७	७	नैपुण	नैपुणं
३७३	१०	पदमचरिय	पउमचरिय
	१२	दक्षिण में जैन ब्राह्मण	दक्षिण में ही जैन ब्राह्मण
		ही वर्तमान	वर्तमान
	१४	नुध्रजि	नुध्राजि
	टिप्पणि	६१	१
३७४	४	सर्वे ऋषि	सर्वे अपि ऋषि
	२१	स्वसंरशे	स्वसंहशे
३७५	उपशीर्षक	स्वायभुव....मे	स्वायंभुव....में
३७६	१	क्राक्ति	काक्ति
३७८	८	हिमवर्ं	हिम वर्षं
	१२	स्मृति	स्मृर्ति
३८०	९	प्रध:	प्रभ:
३८१	१	स्तति	स्तुति
३८१	१३	रादित्य	रादित्ये
३८३	२	का	को
३८४	७	देवी	देव
	१५	देवी	दिव्य
३९०	५	त्मिनि	त्मनि
	६	ब्रह्मी	ब्रह्मो
	१३	उद्गीत	उद्गीथं
	दूसरा उपशीर्षक	रण्य	हैरण्य
३९१	१७	प्राक्त्वत्ता:	प्राक्त्वत्त:
	२०	अनय	यथा
	२१	पूर्वं....यथा	पूर्वं....अनया

३९२	११, १३, १४	उद्गीत	उद्गीथ
	१३	कथत	कथन
३९३	९	ऋषदेव	ऋषभदेव
३९४	१५	peface	preface
	१६–१७	मत्त निनांत	मत नितांत
	१८	श्वे	स्वयं
३९७	३	रामसज	रामसन
३९८	१०, १७, १९, २२	उद्गीत	उद्गीथ
	१६	श्वपरो	श्वतरो
	२१	यहां की ऋग्वेद	यहाँ ऋग्वेद
३९९	१७	उद्गीत	उद्गीथ
४०१	१७	नास्तिक	नास्ति
४०३	५	येमानाम्व	येनाम्व
४०४	२०	महिमान	महिमान्
४०४	२४	होती	×
४०४	२५	हुई	हुई और बड़े विस्तार वाली हुई।
	२६	किरणों	किरणों की अभिव्यक्ति पूर्वक
	२६	हुआ	करता
४०५	८	इस	इह
	९	यत्त	यत
	२३	द्रवेय	दधे
४०८	७	स्वभाव ही	स्वभाव में ही
४१०	९	प्यैर्येण	धैर्येण
	१०	ममृत	ममृतं
	२१	देवी	देवो
४१२	२३	पुष्पिम	पुष्पित
	२३	वृक्ष	वृक्ष बीज
४१३	२६	अर्थवंवेवद	अथर्ववेद
४१५	१०	शीर्षा:	शीर्षा
	२२	तिरोहति	तिरोहति
४१६	५	ज्यायांश्ज	ज्यायाँश्च
	२६	पश्वाद्	पश्चाद्

४१७	२१	अनात्मचिद्	अनात्म
४१८	१६	तस्मान्	तस्माद्
४१९	२२	ब्रह्मण	ब्राह्मण
४२०	२३	विषय	विचय
४२१	२७	अवरण	आवरण
४२५	४	ऊतर	ऊपर
४२८	२०	र्चिर्षा	र्चिषाम्
	२१	सेनो	मेनो
४३३	१	हृदव	हृदय
	४	ससार	संसार
	४	क्राम	क्रामे
	४	पूर्णंशक्त	पूर्णाशि
४३४	४	पज्जांए	पज्जाए.
	२०	गर्भेन्तर्वंर्तमानः	गर्भेऽन्तर्वर्तमानः
४३५	११	एको	य एको
४३७	१६	आश्रसे	आश्रम
	२०	हिंसी	हि ॅ॒ सीः
	२५	साकार–प्रार्तिवान्	साकार–प्रार्थितवान्
४३८	२	परिवेष्टित्तार	परिवेष्टितार
	२	ज्ञात्वान्मृता	ज्ञात्वामृता
४३९	१८	प्रभुवै	प्रभुर्वै
४४०	२७	तिर्यंव	तिर्यञ्च
४४१	१४	हृदय के	हृदय
	२०	ब्रह्मचादिनो	ब्रह्मवादिनो
४४२	१८	जयमानं	जायमानं
	२१	ब्रहमाण	ब्रह्माणं
४४३	२	चतुंस्पदः	चतुष्पदः
	४	वर्णं	वर्ग
	६	महा	कहा
	१५	वैंराग्यैश्चयो	वैराग्येश्वर्यों
४४७	८	उरुकाय	उरुगाय
४४८	१३	यात्रा	याया
४४९	२	अन्तमुर्खं	अन्तर्मुख

	१७	मगस्व	भगस्य
	२२	विन्देते	विन्दते
४५०	१०	विद्वान्त्सखा	विद्वान्सखा
४५१	४	विद्वान्त्सम्पश्य	विद्वान्संपश्य
४५३	८	मेंन	येन
	१९	उपासता	उपासना
	२०	मायनोर्भे	मायन्गर्भे
४५५	२	प्रोमेथिसय	प्रोमेथियस
	२३	ॐ पवित्र । वेंषा	ॐ पवित्रं । ज्योतिर्येषां
४५७	४	पूजां	प्रजां
४५८	११	४४१	४४
४६१	१५	पूर्वोंभिः	पूर्वेभिः
	१६	अहर	अहुर
४६२	४	जातियों	जातियां
४६३	२	अंश	वंश
४६६	प्रथम उपेशीर्षक	के छन्द	के ही छन्द
	तृतीय ,,	सूर्पं	सूर्यं
४६७	१	अर्जः	ऊर्जं
	६	घररयन्	घरयन्
	१०	विश्वा	विश्वानि
	१४	चक्षसा	च क्षमा
	१५	से	ने
	२४	वीर्यं का	वीर्यं वा
	२५	सहज	सहस
४६८	६	भूसि	भूमि
४७१	११	प्रधान मुद	प्रधानमुद्
	१२	करु	करू
	१६	कृषयः	कृष्यः
	टिप्पणि	पुराता	पुराण
४७२	१	पूर्वं……दात्वा	पूर्वं……दात्वा
	२१	सहत्रो	सहस्त्रो
४७३	६	में	ने
	१३	सम्मत्ति	सम्मति

४७६	प्रथम उपशीर्षक	धम	धर्म
	११	अद्वद	अद्वय
	१८	सहन	सहज
	२५	प्रधनता	प्रधानता
४७८	१	प्रफास	प्रकाश
	३	उषदेश	उपदेश
	तृतीय उपशीर्षक	निर्माँण	निर्माण
४८०	शीर्षक	अणुत्तर	अनुत्तर
४८२	२	उथ	उय
	३	अविएाह	अविवह
४९०	१	मिष्त	मिष्यते
४९०	६	नस्थिति	नास्थितः
४९४	२४	सता	सत्ता
४९५	२८	महामुनीर्ना	महामुनीनां
४९६	१	धर्ममुया	धर्ममुपा
४९७	१	वंदनीन	वंदनीय
	६	समस्त....नग्ता	समत्व....नग्ना
४९८	१	लोकेव	लोकेश
	१०	श्रेसांस	श्रेयांस
५०५	१८	का कानुभावनर	कानुभावना
५०६	१७	नर्ाहस्त्येव	नस्त्येव
५०९	२	उपेक्षा	अपेक्षा
५११	१	एकांग्र	एकाग्र
	६	होन्न	होइ
	१३	ने	के द्वारा
	१६	भाग	×
५१३	२३	मुक्ल	शुक्ल
५१४	७	शुद्धि से सूर्य	शुद्धि सूर्य
	२१	ज्योति	जयति
	२३	सिद्धि	सिद्ध
	२८	ऋपि	ऋषि
५१६	७	प्रविज्ञायें	प्रतिज्ञायें
५१७	१०	कलए	लिये

	१२	करका	करना
५१८	१०	छेदोपस्थाया....दहैद	छेदोपस्थापना....छेद
५१९	१४	आशीविषयलब्धि-तय	आशीविषलब्धि....तप
५२०	१३	नेव	नैव
५२४	प्रथम उपशीर्षक	मा	का
	२९	तब	×
५२५	१	है तब	तब
	१०	स्रुप	स्वरूप
५२६	२९	आदुष्य	आयुष्य
५३०	२६	सम्प्रज्ञातो अभिधीयते	सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते
५३१	१	एवो	एषो
	१२	यन	यम
५३४	२४	धर्म व ध्यान	धर्म ध्यान
५३७	९	अणि पत्ती	अणियती
	१२	अनुवृत्ति	अनिवृत्ति
५४२	५	समबंध	सम्बन्ध
	१४	पुरुष रस	पुरुष को रस
	१६	प्राप्त	प्राप्त
	२१	निर्ग्रन्धता	निग्रन्थता
५४४	१३	ध्याता ध्यान	ध्याता का ध्यान
	२०	माध्यस्थब्धि	माध्यस्थाब्धि
५४५	२२	हुई	हुई
५५०	१६	भ्रषण	भूषण
५५१	प्रथम उपशीर्षक	मद्यम्य	महात्म्य
	९	गंधवाहान्तराले	गंधवाहअन्तराले
	२१	श्वासी	श्वासो
५५३	१३	विगमादुदवेसे	विगमादुद्वसे
	२०	(अभनस्क)	(अमनस्क)
५५४	९	भ्रुं	भ्रूं
	९	विघ्रम्	विघ्नम्
	१०	पृथतां	पृथुतां
५५६	२२	तथा	तब
५५७	१	रूप,	रूपी

	४	सर्वसोत्त्वोत्पल	सर्वसत्त्वोत्पल
५६३	५	अन्नत	अनन्त
५६४	७	पार्थिय	पार्थिव
५६६	१३	सुसहत	सुसंहत
	२६	में	मैं
५६७	७	अर्हंतों उद्घोष	अर्हंतों का उद्घोष
	२०	पुरुष का	पुरुषकार
५६६	२५	निर्लेय	निर्लेप
५७१	१	रत्ननल्पै	रत्नल्पै
	११	माल	मात्र
	२१	मोंक्ष	मोक्ष
	२१	एव	एष
	२३	राएाण्य	राण्य
५७३	६	वोध्दृयते	वोद्धि्यते
५७६	२	एकसा	एकता
	८	धम्मं	धम्मो
५७८	८	भव	भाव
	६	पराश्रयना	पराश्रयता
५८०	११	शोषण	पोषण
	२०	आत्म	अनात्म
५८१	१७	अह	अहं
५८४	१७	मंविशेषम्	मविशेषम्
५८५	८	नयोम्युदेति	नयोऽम्युदेति
	२०	विसुद्धप्पाओ	विसुद्धप्पा
५८६	४	तष	तप
	६	झाइएहि	झाइएहिं
	१०	अडे	बडे
५८८	७	वट्ठदि	वट्टदि
५८६	१३	स्वयं पर	स्वयं व पर
५६०	७	मागं	मार्ग
	८	पुरुषीं	पुरुषों
५६१	१०	आने	अपने
५६२	उपशीर्षक	धर्मं	धर्म

५९३	१०	रेंखाकित	रेखाँकित
५९४	४	दृष्टियों	दृष्टियाँ
५९५	६	कीं	ही
	१०	ध्यक्तिमयता	व्यक्तिमयता
५९६	८	बिखराव ज्ञ	बिखराव
५९८	२५	अहत्	अर्हत्
	२७	घर्न	घर्म
५९९	२९	निदशन	निदर्शन
६००	३	जो	×
	१४	आवीष्कर्ता	आविष्कर्ता
	१७	अलौकीक	अलौकिक
	२४	कत्व	तत्व
	२५	अबध	अव्यय
६०१	८	समातन	सनातन
	१०	सम्यक्ता	सम्यक्त्वता
६०२	२६	नथा	तथा
६०४	२१	म्य	मय
६०५	१४	आर्यजनों ने	आर्यजन
६०६	११	ऋक्देव	ऋक्वेद
	१६	माच्छिन्था	माच्छित्था
६०७	२	विर्दथाम	विदथमा
	९	इन्द्रिय	परम
६०८	१७	सकव	सकल
	२६	हृतस्थु मुवनानि	हृतस्थु मुर्वनानि
६१०	५	में	×
	२२	निमुक्ति	निर्मुक्ति
६११	१	नागरी	नगरी
	१५	अमृतद्रधित	अमृतदधित
	१५	मृत्य	भृत्य
६१३	३	बोध्र	वीध्र
६१९	२५	near	never
	२६	.The	,the
६२०	२३	वेदना	वंदना

६२१	७	पूजार्थं	पूजार्घं
६२७	१९	उत्र्हपिणी	उत्सर्पिणी
	२१	वेद	भेद
	२७	लप	लय
६२८	३	योगी	योग
	१९	जिस प्रकार	×
	१९	ये	में
	२०	लेते	×
६२९	१	चैत्यो यंत्र	चैत्यों के यंत्र
६३०	१५, १७, २१	अहरनाथ	अरहनाथ
	२६	स्वेच्छ	मलेच्छ
६३२	१–४	नाथ	नाम
६४३	२	महामुनिर्धर्यं	महामुनिर्घर्मं
६४४	२	जगतीं	जगतो
	३	ब्रह्मविदमसि	ब्रह्मविदामसि
	८	शास्त्र्यो	शास्त्रो
सादर समर्पण	३	हिरणगर्भं	हिरण्यगर्भं
ग्रन्थ-प्रस्तुती पृष्ठ xx	१२	आन्तरों	आन्तर
,, xxi	१३	सन्तर्चया	सतत चर्या
,, ,,	१९	प्ररुपण	प्ररूपणा
,, xxii	६	में	पर
,, xxviii	२७	अविर्भाव	आविर्भाव
,, xxviii	३१	विद्या	विधा
,, xxix	६	,,	,,
,, ,,	१७	मूक्त	सूक्त
,, ,,	२१	आलीकत	आलोकित
,, xxxi	१०	१९४२	ई. सन् १९४२ में
,, ,,	२३	कौर	और
,, xxxii	६	ससंग	ससंघ
अनुक्रमणिका xxxiv	६	महा महो दयाध्याय	महा महोपाध्याय
,, ,,	७	ग्रन्थ-स्तुति	ग्रन्थ-प्रस्तुती
,, xxxv	१५	अन्तय् वाचन	अन्त्य मंगल वाचन
,, ,,	१६	वेदना	वंदना

नोटः—इनके अतिरिक्त भी जो मात्राओं की टूट या छूट या अशुद्धि पाठकगण पायें–उन्हें शुद्ध करके पढ़ने का कष्ट करें। कष्ट के लिए क्षमा करें।